तत्त्वके ज्ञाता अमरता प्राप्त करते हैं

वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं
तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्।
पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदु-
स्ते तन्मया अमृता वै बभूवु ॥
(श्वेताश्वतर० ५। ६)

वेदोंकी रहस्यविद्या-रूप उपनिषदाम छिपे हुए हैं, वेद निकले भी उन्हीं
स्थ-स्थान उन परमात्माको ब्रह्माजी जानते हैं। उनके सिवा और भी जिन
ायाने उनको जाना था, वे सब-क-सब उन्हींम तन्मय होकर आनन्दस्वरूप
ाहिये कि उन सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार सबके अधीश्वर वेदपुरुष परमात्म-
लिये तत्पर हो जाय।

आवश्यक सूचना

नका अङ्क (परिशिष्टाङ्क) विशेषाङ्कके साथ सलग्न है।

इस अङ्कका मूल्य ९० रु० (सजिल्द १०० रु०)

षक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
य विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

वार्षिक शुल्क
(विदेशमें)
समुद्री डाकसे US$11
हवाई डाकसे US$22

॥ श्रीहरि ॥

'कल्याण'के सम्मान्य ग्राहको और प्रेमी पाठकोसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण'के ७३वे वर्ष सन् १९९९ का यह विशेषाङ्क 'वेद-कथाङ्क' आप लोगोकी सेवामे प्रस्तुत है। इसमे ४७२ पृष्ठोम पाठ्य-सामग्री और ८ पृष्ठोमें विषय-सूची आदि है। कई बहुरगे चित्र भी दिये गये है। इस विशेषाङ्कमे फरवरी माहका अङ्क भी सलग्न किया गया है।

२-जिन ग्राहकोसे शुल्क-राशि अग्रिम मनीआर्डरद्वारा प्राप्त हो चुकी है, उन्हें विशेषाङ्क तथा फरवरी एव मार्च मासका अङ्क रजिस्ट्रीद्वारा भेजा जा रहा है और जिनसे शुल्क-राशि यथासमय प्राप्त नहीं होगी, उन्हें उपर्युक्त अङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार वी० पी० पी० द्वारा भेजा जायगा। रजिस्ट्रीकी अपेक्षा वी० पी० पी० के द्वारा विशेषाङ्क भेजनेमे डाकखर्च आदि अधिक लगता है, अत वार्षिक शुल्क-राशि मनीआर्डरद्वारा भेजनी चाहिये। 'कल्याण'का वर्तमान वार्षिक शुल्क डाकखर्चसहित ९० ०० (नब्बे रुपये) मात्र है, जो केवल विशेषाङ्कका ही मूल्य है। सजिल्द विशेषाङ्कके लिये १० ०० (दस रुपये) अतिरिक्त देय होगा।

३-ग्राहक सज्जन मनीआर्डर-कूपनपर अपनी ग्राहक-सख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-सख्या या पुराना ग्राहक न लिखनेस आपका नाम नये ग्राहकाम लिखा जा सकता है, जिससे आपकी सेवाम 'वेद-कथाङ्क' नयी ग्राहक-सख्याके क्रमसे रजिस्ट्रीद्वारा पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी वी० पी० पी० भी जा सकती है। वी० पी० पी० भेजनेकी प्रक्रिया प्रारम्भ होनेके बाद जिन ग्राहकोका मनीआर्डर प्राप्त होगा उनका समयसे समायोजन न हो सकनेके कारण हमारे न चाहते हुए भी विशेषाङ्क उन्ह वी० पी० पी० द्वारा जा सकता है। ऐसी परिस्थितिमे आप वी० पी० पी० छुड़ाकर किसी अन्य सज्जनको कल्याण' का नया ग्राहक बनानेकी कृपा कर। ऐसा करनेसे आप कल्याण'को आर्थिक हानिसे बचानेके साथ 'कल्याण'के पावन प्रचार-कार्यम सहयोगी हागे। ऐसे ग्राहकोंसे मनीआर्डरद्वारा प्राप्त राशि अन्य निर्देश न मिलनेतक अगले वर्षके वार्षिक शुल्कके निमित्त जमा कर ली जाती है। जिन्होंने वी० पी० पी० छुड़ाकर दूसरे सज्जनको ग्राहक बना दिया है, वे हमे तत्काल नये ग्राहकका नाम और पता, वी० पी० पी० छुड़ानकी सूचना तथा अपने मनीआर्डर भेजनेका विवरण लिखनेकी कृपा कर, जिससे उनके आये मनीआर्डरकी जाँच करवाकर रजिस्ट्रीद्वारा उनका अङ्क तथा नये ग्राहकका अङ्क नियमितरूपसे भेजा जा सके।

४-इस अङ्कके लिफाफे (कवर)-पर आपकी ग्राहक-संख्या एव पता छपा हुआ है, उसे कृपया जाँच लें तथा अपनी ग्राहक-सख्या सावधानीसे नोट कर ल। रजिस्ट्री अथवा वी० पी० पी० का नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये। पत्र-व्यवहारम ग्राहक-संख्याका उल्लेख नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना आपके पत्रपर हम समयसे कार्यवाही नहीं कर पाते हैं। डाकद्वारा अङ्कोके सुरक्षित वितरणमं सही पिन-कोड-नम्बर आवश्यक है। अत अपने लिफाफेपर छपा पता जाँच लेना चाहिये।

५-'कल्याण' एव 'गीताप्रेस-पुस्तक-विभाग'की व्यवस्था अलग-अलग है। अत पत्र तथा मनीआर्डर आदि सम्बन्धित विभागको पृथक्-पृथक् भेजन चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर) (उ० प्र०)

श्रीऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू (राजस्थान)

'गीताप्रेस गोरखपुर' (प्रधान कार्यालय—श्रीगोविन्दभवन कलकत्ता)-द्वारा सचालित राजस्थानके चूरू नगर-स्थित इस आश्रमम बालकोंके लिये प्राचीन भारतीय सस्कृति एवं वैदिक परम्परानुरूप शिक्षा-दीक्षा और आवासकी उचित व्यवस्था है। इस आश्रमकी स्थापना ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा आजसे लगभग ७५ वर्ष पूर्व इस विशेष उद्देश्यसे की गयी थी कि इसम पढनेवाले बालक अपनी सस्कृतिके अनुरूप विशुद्ध सम्कार तथा तदनुरूप शिक्षा प्राप्तकर सच्चरित्र, आध्यात्मिक दृष्टिसे सम्पन्न आदर्श भावी नागरिक बन सकें—एतदर्थ भारतीय संस्कृतिके अमूल्य स्रोत—वेद तथा श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रों एव प्राचीन आचार-विचारोंकी दीक्षाका यहाँ विशेष प्रबन्ध है। संस्कृतके मुख्य अध्ययनके साथ अन्य महत्त्वपूर्ण उपयागी विषयाकी शिक्षा भी यहाँ दी जाती है। विस्तृत जानकारीके लिये मन्त्री श्रीऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम चूरू (राजस्थान)-के पतेपर सम्पर्क करना चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस गोरखपुर—२७३००५

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस दानों विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थ-रत्न हैं। इनके पठन-पाठन एव मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोमे अपना कल्याण-साधन कर सकता है। इनके स्वाध्यायम वर्ण-आश्रम जाति अवस्था आदि कोई भी बाधक नहीं है। आजके इस कुसमयमे इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है। अत धर्मपरायण जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थामे प्रतिपादित सिद्धान्तों एव विचारासे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यस श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सघकी स्थापना की गयी है। इसके सदस्याकी सख्या इस समय लगभग ३० हजार है। इसम श्रीगीताके छ प्रकारके और श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्यप्रति इष्टदेवके नामका जप ध्यान और मूर्तिकी पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणी भी है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एव श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन तथा उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन 'परिचय-पुस्तिका' नि शुल्क मँगवाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करं एव श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याणमय पथ प्रशस्त कर।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री श्रीगीता रामायण-प्रचार-संघ, पत्रालय—स्वर्गाश्रम पिन—२४९३०४ (वाया-ऋषिकेश) जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्म-विकासपर ही अवलम्बित है। आत्म-विकासके लिये जीवनमें सत्यता सरलता निष्कपटता सदाचार भगवत्परायणता आदि दैवी गुणाका ग्रहण और असत्य क्रोध लोभ मोह द्वेष हिंसा आदि आसुरी गुणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ और सरल उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ५१ वर्ष पूर्व 'साधक-सघ'-की स्थापना की गयी थी। इसका सदस्यता-शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोको इसका सदस्य बनना चाहिये। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम बने हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनाको साधक-दैनन्दिनी' का वर्तमान मूल्य रु० २ ०० तथा डाकखर्च रु० १ ००—कुल रु० ३ ०० मात्र, डाक टिकट या मनीआर्डरद्वारा अग्रिम भेजकर उन्हे मँगवा लेना चाहिये। सघक सदस्य इस दैनन्दिनामें प्रतिदिन साधन-सम्बन्धी अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया नियमावली नि शुल्क मँगवाइये।

पता—संयोजक साधक-संघ, पत्रालय—गीताप्रेस गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—ये दोनो मङ्गलमय एव दिव्यतम ग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है तथा जीवनमे अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्राय सम्पूर्ण विश्वम इन अमूल्य ग्रन्थाका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक परिष्कृत करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाआम बैठनेवाले लगभग दस हजार परीक्षार्थियोंके लिये २०० परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता रामायण परीक्षा समिति पत्रालय—स्वर्गाश्रम पिन—२४९३०४ (वाया ऋषिकेश) जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

॥ श्रीहरि ॥

'वेद-कथाङ्क'की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

(रंगीन-चित्र)

(फरवरीके अङ्ककी विषय-सूची)

चित्र-सूची

(रंगीन)

वेद-विद्याकी अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती

वेदोद्धार (हयग्रीवरूपमें भगवान् विष्णुद्वारा वेदोंका उद्धार करके ब्रह्माजीको सौंपना)

ध्यानस्थ ब्रह्माद्वारा स्व-स्वरूपका ध्यान

वेदतत्त्व ॐकार-स्वरूप भगवान् विष्णु

ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।
तः ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश मुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये॥

वर्ष ७३ | गोरखपुर, सौर माघ, वि० स० २०५५, श्रीकृष्ण-स० ५२२४, जनवरी १९९९ ई० | सख्या १ | पूर्ण सख्या ८६६

वेदतत्त्व ॐकार-स्वरूप भगवान् विष्णु

नमोऽस्तु विष्णवे तस्मै यस्याभिन्नमिद जगत्। ध्येय स जगतामाद्य स प्रसीदतु मेऽव्यय ॥
यत्रोतमतत्प्रोत च विश्वमक्षरमव्ययम्। आधारभूत सर्वस्य स प्रसीदतु मे हरि ॥
ॐ नमा विष्णवे तस्मै नमस्तस्मै पुन पुन। यत्र सर्वं यत सर्वं य सर्वं सर्वसश्रय ॥
(विष्णुपुराण १। १९। ८२—८४)

यह जगत् जिनका अभिन्न स्वरूप है, उन श्रीविष्णुभगवान्‌को नमस्कार है, व जगत्‌के आदिकारण और योगियोंके ध्येय अव्यय हरि मुझपर प्रसन्न हों। जिनमें यह सम्पूर्ण विश्व ओतप्रोत है वे अक्षर-अव्यय और सबके आधारभूत हरि मुझपर प्रसन्न हो। ॐ जिनमे सब कुछ स्थित है जिनसे सब उत्पन्न हुआ है और जो स्वय सब कुछ तथा सबके आधार हैं उन वेदतत्त्व ॐकार-स्वरूप भगवान् श्रीविष्णुको नमस्कार है, उन्हें बारम्बार नमस्कार है।

मङ्गलाचरण

श्रीगणपति-स्तवन

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च॥

(ऋग्वेद १०। ११२। ९)

हे गणपति! आप अपने भक्तजनोंके मध्य प्रतिष्ठित हों। त्रिकालदर्शी ऋषिरूप कवियोंमें श्रेष्ठ! आप सत्कर्मोंके पूरक हैं। आपकी आराधनाके बिना दूर या समीपमें स्थित किसी भी कार्यका शुभारम्भ नहीं होता। हे सम्पत्ति एवं ऐश्वर्यके अधिपति! आप मेरी इस श्रद्धायुक्त पूजा-अर्चनाको, अभीष्ट फलको देनेवाले यज्ञके रूपमें सम्पन्न होने-हेतु वर प्रदान करें।

ॐ गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥

(ऋग्वेद २। २३। १)

वसु, रुद्र, आदित्य आदि गणदेवोंके स्वामी, ऋषिरूप कवियोंमें वन्दनीय दिव्य अन्न-सम्पत्तिके अधिपति समस्त देवोंमें अग्रगण्य तथा मन्त्र-सिद्धिके प्रदाता हे गणपति! यज्ञ, जप तथा दान आदि अनुष्ठानोंके माध्यमसे हम आपका आह्वान करते हैं। आप हमें अभय-वर प्रदान करें।

गणानां त्वा गणपति* हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपति* हवामहे निधीनां त्वा निधिपति* हवामहे वसो मम।
आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥

(शुक्लयजुर्वेद २३। १९)

गणदेवोंके सेनानी धन, पुत्र, कलत्र आदि प्रिय पदार्थोंमें अत्यन्त प्रेमास्पद (दिव्य सुख-शान्तिके प्रदाता) तथा अणिमा, गरिमा आदि नव निधियोंके अधिष्ठाता हे परमदेव! हम आपका आह्वान करते हैं। आराध्य-आराधकके मध्य 'ददाति प्रतिगृह्णाति' की उदात्त भावनाके अन्तर्गत आपके मूल शक्ति-स्रोतकी ऊर्जाको हम धारण करनेमें समर्थ हों।

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो
नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः॥

(शुक्लयजुर्वेद १६। २५)

(हे जगन्नियन्ता परमदेव!) इस सृष्टिमें देव-पितर-गन्धर्व-असुर-मनुष्यरूप प्रधान गणविभाग और उनके गणपतियों, चेतन-अचेतनरूप पदार्थोंके अनेक उपसंघों तथा संघपतियों, तत्तद् विषयगत कलानिधियों एवं उनके प्रमुख प्रवर्तकों तथा सामान्य एवं असामान्यरूप समस्त जीवाकृतियोंके रूपमें मूर्तिमान् आपको कोटिशः नमन है।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे। उप प्र यन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा॥

(ऋग्वेद १। ४०। १)

हे मन्त्र-सिद्धिके प्रदाता परमदेव! सत्य-संकल्पसे आपकी ओर अभिमुख हमें आपका अनुग्रह प्राप्त हो। शोभनदानसे युक्त वायुमण्डल हमारे अनुकूल हो। हे सुख-धनके अधिष्ठाता! भक्ति-भावसे समर्पित भोग-रागको आप अपनी कृपा-दृष्टिसे अमृतमय बना दें।

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥

(ऋग्वेद १। ४०। ३)

मन्त्र-सिद्धि-प्रदाता परमदेवकी कृपा-दृष्टिके हम भागी हों। प्रिय एवं सत्यनिष्ठ वाणीकी अधिष्ठात्री देवीकी सत्प्रेरणासे हम अभिसिंचित हों। समस्त देवगण दिव्य ऊर्जायुक्त जीवमात्रके लिये कल्याणकारी एवं भक्तिभावसे समृद्ध यज्ञ (सत्कर्म)-हेतु हमें प्रतिष्ठित करें।

स्वस्ति-वाचन

आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतो ऽदब्धासो अपरीतास उद्भिद ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयु प्र तिरन्तु जीवसे॥
तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्त्रिधम्।
अर्यमण वरुणं सोममश्विना सरस्वती न सुभगा मयस्करत्॥
तन्नो वातो मयोभु वातु भेषज तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौ ।
तद् ग्रावाण सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥
तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियजिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्ध स्वस्तये॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा ।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
पृषदश्वा मरुत पृश्निमातर शुभंयावानो विदथेषु जग्मय ।
अग्निजिह्वा मनव सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह॥
भद्रं कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायु ॥
शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तो ॥
अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र ।
विश्वे देवा अदिति पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
(ऋक्० १।८९।१—१०)

कल्याणकारक न दबनेवाले पराभूत न होनेवाले उच्चताको पहुँचानेवाले शुभ कर्म चारों ओरसे हमारे पास आयें। प्रगतिको न रोकनेवाले, प्रतिदिन सुरक्षा करनेवाले देव हमारा सदा संवर्धन करनेवाले हों। सरल मार्गसे जानेवाले देवोंकी कल्याणकारक सुबुद्धि तथा देवोकी उदारता हमे प्राप्त होती रहे। हम देवोकी मित्रता प्राप्त करे देव हमें दीर्घ आयु हमारे दीर्घ जीवनके लिये द। उन देवोंको प्राचीन मन्त्रोंसे हम बुलाते हैं। भग मित्र, अदिति दक्ष विश्वासयोग्य मरुतोंके गण अर्यमा वरुण सोम अश्विनीकुमार, भाग्ययुक्त सरस्वती हमे सुख दें। वायु उस सुखदायी औषधको हमारे पास बहायें। माता भूमि तथा पिता द्युलोक उस औषधको हमें दे। सोमरस निकालनेवाले सुखकारी पत्थर वह औषध हमें दें हे बुद्धिमान् अश्विदेवो! तुम वह हमारा भाषण सुनो। स्थावर और जंगमके अधिपति बुद्धिको प्रेरणा देनेवाले उस ईश्वरको हम अपनी सुरक्षाके लिये बुलाते हैं। इससे वह पोषणकर्ता देव हमारे ऐश्वर्यकी समृद्धि करनेवाला तथा सुरक्षा करनेवाला हो वह अपराजित देव हमारा कल्याण करे और संरक्षक हो। बहुत यशस्वी इन्द्र हमारा कल्याण करे, सर्वज्ञ पूषा हमारा कल्याण करे। जिसका रथचक्र अप्रतिहत चलता है, वह ताक्ष्र्य हमारा कल्याण करे, बृहस्पति हमारा कल्याण करे। धब्बावाले घोड़ोंसे युक्त भूमिको माता माननेवाले शुभ कर्म करनेके लिये जानेवाले युद्धोंमें पहुँचनेवाले, अग्निके समान तेजस्वी जिह्वावाले मननशील सूर्यके समान तेजस्वी मरुत्‌रूपी सब देव हमारे यहाँ अपनी सुरक्षाकी शक्तिके साथ आये। हे देवो! कानोंसे हम कल्याणकारक भाषण सुनें! हे यज्ञके योग्य देवो! आँखोंसे हम कल्याणकारक वस्तु देख। स्थिर सुदृढ अवयवोंसे युक्त शरीरोसे हम तुम्हारी स्तुति करते हुए, जितनी हमारी आयु है वहाँतक हम देवोंका हित ही करें। हे देवो! सौ वर्षतक ही हमारे आयुष्यकी मर्यादा है उसम भी हमारे शरीरोंका बुढापा तुमने किया है तथा आज जा पुत्र हैं वे ही आगे पिता होनेवाले हैं इसलिये हमारी आयु बीचमें ही न टूट जाय ऐसा करो। अदिति ही द्युलोक है अन्तरिक्ष माता पिता पुत्र सब देव पञ्चजन (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और निषाद) जो बन चुका है और जो बननेवाला है वह सब अदिति ही है। (अर्थात् यही शाश्वत सत्य है जिसके तत्त्वदर्शनसे परम कल्याण होता है।)
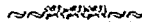
कल्याण-सूक्त

[तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु]

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गम ज्योतिषा ज्योतिरेक तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीरा ।
यदपूर्वं यक्षमन्त प्रजाना तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृत प्रजासु।
यस्मान्न ऋते कि चन कर्म क्रियते तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
येनेद भूत भुवन भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
यस्मिन्नृच साम यजूःषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा ।
यस्मिंश्चित्तः सर्वमोत प्रजाना तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठ यदजिर जविष्ठ तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(यजु० ३४। १—६)

जो जागते हुए पुरुषका [मन] दूर चला जाता है और सोते हुए पुरुषका वैसे ही निकट आ जाता है, जो परमात्माके साक्षात्कारका प्रधान साधन है जो भूत भविष्य, वर्तमान, सनिकृष्ट एव व्यवहित पदार्थोंका एकमात्र ज्ञाता है तथा जो विषयोका ज्ञान प्राप्त करनेवाले श्रोत्र आदि इन्द्रियाका एकमात्र प्रकाशक और प्रवर्तक है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पसे युक्त हो। कर्मनिष्ठ एवं धीर विद्वान् जिसके द्वारा यज्ञिय पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके यज्ञमे कर्मोंका विस्तार करते हैं, जो इन्द्रियोका पूर्वज अथवा आत्मस्वरूप है, जो पूज्य है और समस्त प्रजाके हृदयमे निवास करता है मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पसे युक्त हो। जो विशेष प्रकारके ज्ञानका कारण है, जो सामान्य ज्ञानका कारण है, जो धैर्यरूप है, जो समस्त प्रजाके हृदयम रहकर उनकी समस्त इन्द्रियोको प्रकाशित करता है, जो स्थूल शरीरकी मृत्यु होनेपर भी अमर रहता है और जिसके विना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पसे युक्त हो। जिस अमृतस्वरूप मनके द्वारा भूत वर्तमान और भविष्यत्सम्बन्धी सभी वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं तथा जिसके द्वारा सात होतावाला अग्निष्टोम यज्ञ सम्पन्न होता है मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पसे युक्त हो। जिस मनम रथचक्रकी नाभिमे अरोके समान ऋग्वद और सामवेद प्रतिष्ठित हैं तथा जिसम यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, जिसम प्रजाका सब पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनवाला सम्पूर्ण ज्ञान ओतप्रोत है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पसे युक्त हो। श्रेष्ठ सारथि जैसे घोडाका सचालन और रासके द्वारा घोडोंका नियन्त्रण करता है, वैसे ही जो प्राणियाका सचालन तथा नियन्त्रण करनेवाला है, जो हृदयमे रहता है जो कभी बूढा नहीं होता और जो अत्यन्त वेगवान् है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सकल्पस युक्त हो।

मङ्गल-चतुष्टय

(१) [ऋग्वेदका आद्य माङ्गलिक सदेश]—

अग्निमीळे पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

स्वय आगे बढकर लोगोका हित करनेवाले यज्ञके प्रकाशक, ऋतुके अनुसार यज्ञ करने तथा देवाको बुलानेवाले और रत्नोको धारण करनेवाले अग्निकी मैं स्तुति करता हूँ।

(२) [यजुर्वेदका आद्य माङ्गलिक सदेश]—

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मघ्न्या इन्द्राय भाग प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघश॰ सो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि॥

(हे मानव!) सबको उत्पन्न करनेवाला देव—सविता देव तुझे अन्न-प्राप्तिके लिये प्रेरित करे। सबको उत्पन्न करनेवाला देव तुझे बल-प्राप्तिके लिये प्रेरित करे। हे मनुष्यो! तुम प्राण हो। सबका सृजन करनेवाला देव तुम सबको श्रेष्ठतम कर्मके लिये प्ररित करे। हे मनुष्यो! बढते जाओ। तुम सभी प्रजा वध करनेके लिये अयोग्य हो। तुम इन्द्रके लिये अपना भाग बढाकर दो। तुम सतानयुक्त, रोगमुक्त और क्षयरोगरहित होओ। चोर तुम्हारा प्रभु न बने, पापी तुम्हारा स्वामी न बने, इस भूपतिके निकट स्थिर रहो। अधिक सख्यामे प्रजासम्पन्न होओ, यज्ञकर्ताके पशुओकी रक्षा करो।

(३) [सामवेदका आद्य माङ्गलिक सदेश]—

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥

हे अग्ने! हवि-भक्षण करनेक लिये तू आ, देवाको हवि देनेके लिये जिसकी स्तुति की जाती है, ऐसा तू यज्ञमे ऋत्विज् होता हुआ आसनपर बैठ।

(४) [अथर्ववेदका आद्य माङ्गलिक सदेश]—

श नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। श योरभि स्रवन्तु न ॥

दिव्य जल हमे सुख दे और इष्ट-प्राप्तिके लिये एव पीनेके लिये हो तथा हमपर शान्तिका स्रोत बहावे।
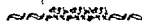
परम पुरुष (श्रीविष्णु)-स्तवन

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।
स भूमि॰ सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

उन परम पुरुषके सहस्रो (अनन्त) मस्तक, सहस्रो नेत्र और सहस्रो चरण हैं। वे इस सम्पूर्ण विश्वकी समस्त भूमि (पूरे स्थान)-को सब ओरसे व्याप्त करके इससे दस अङ्गुल (अनन्त योजन) ऊपर स्थित हैं। अर्थात् वे ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए उससे परे भी हैं।

पुरुष एवेद॰ सर्वं यद्भूत यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

यह जो इस समय वर्तमान (जगत्) है जो बीत गया और जो आगे होनेवाला है, यह सब वे परम पुरुष ही हैं। इसके अतिरिक्त वे देवताओके तथा जा अन्नसे (भोजनद्वारा) जीवित रहते हैं, उन सबके भी ईश्वर (अधीश्वर-शासक) हैं।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुष ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

यह भूत भविष्य, वर्तमानसे सम्बद्ध समस्त जगत् इन परम पुरुषका वैभव है। वे अपने इस विभूति-विस्तारसे भी महान् हैं। उन परमेश्वरकी एकपाद्विभूति (चतुर्थांश)-में ही यह पञ्चभूतात्मक विश्व है। उनकी शेष त्रिपाद्विभूतिमें शाश्वत दिव्यलोक (वैकुण्ठ गोलोक, साकेत, शिवलोक आदि) हैं।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष पादोऽस्येहाभवत् पुन ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशन अभि॥

वे परम पुरुष स्वरूपत इस मायिक जगत्से पर त्रिपाद्विभूतिमें प्रकाशमान हैं (वहाँ मायाका प्रवेश न होनसे उनका स्वरूप नित्य प्रकाशमान है) इस विश्वके रूपमें उनका एक पाद ही प्रकट हुआ है अर्थात् एक पादसे वे ही विश्वरूप भी हैं। इसलिये व ही सम्पूर्ण जड एव चेतनमय—उभयात्मक जगत्को परिव्याप्त किय हुए हैं।

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुष ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुर ॥

उन्हीं आदिपुरुषसे विराट् (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हुआ। वे परम पुरुष ही विराट्के अधिपुरुष-अधिदेवता (हिरण्यगर्भ)-रूपसे उत्पन्न होकर अत्यन्त प्रकाशित हुए। पीछे उन्हींने भूमि (लोकादि) तथा शरीर (देव, मानव तिर्यक् आदि) उत्पन्न किये।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥

जिसमें सब कुछ हवन किया गया है, उस यज्ञपुरुषसे उसीने दही, घी आदि उत्पन्न किये और वायुमे, वनमें एव ग्राममें रहने योग्य पशु उत्पन्न किये।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

उसी सर्वहुत यज्ञपुरुषसे ऋग्वेद एव सामवेदके मन्त्र उत्पन्न हुए, उसीसे यजुर्वेदके मन्त्र उत्पन्न हुए और उसीसे सभी छन्द भी उत्पन्न हुए।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादत।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय॥

उसीसे घोड़े उत्पन्न हुए, उसीसे गायें उत्पन्न हुईं और उसीसे भेड-बकरियाँ उत्पन्न हुईं। वे दोनों ओर दाँतों वाले हैं।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रत।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

देवताओ, साध्यो तथा ऋषियोंने सर्वप्रथम उत्पन्न हुए उस यज्ञ-पुरुषको कुशापर अभिषिक्त किया और उसीसे उसका यजन किया।

यत्पुरुषं व्यदधु कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥

पुरुषका जब विभाजन हुआ तो उसमें कितनी विकल्पनाएँ की गयीं? उसका मुख क्या था? उसके बाहु क्या थे? उसके जघे क्या थे? और उसके पैर क्या कहे जाते हैं।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य कृत।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत॥

ब्राह्मण इसका मुख था (मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए)। क्षत्रिय दोनों भुजाएँ बने (दोनों भुजाओंसे क्षत्रिय उत्पन्न हुए)। इस पुरुषकी जो दोनो जघाएँ थीं वे ही वैश्य हुईं अर्थात् उनसे वैश्य उत्पन्न हुए और पैरोसे शूद्र वर्ण प्रकट हुआ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥

इस परम पुरुषके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए, नेत्रोसे सूर्य प्रकट हुए, कानोसे वायु और प्राण तथा मुखसे अग्निकी उत्पत्ति हुई।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत।
पद्भ्या भूमिर्दिश श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥

उन्हीं परम पुरुषकी नाभिसे अन्तरिक्षलोक उत्पन्न हुआ मस्तकसे स्वर्ग प्रकट हुआ, पैरोसे पृथिवी, कानोंसे दिशाएँ प्रकट हुईं। इस प्रकार समस्त लोक उस पुरुषमें ही कल्पित हुए।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्म शरद्धवि॥

जिस पुरुषरूप हविष्यसे देवोने यज्ञका विस्तार किया, वसन्त उसका घी था, ग्रीष्म काष्ठ एवं शरद् हवि थी।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रि सप्त समिध कृता।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥

देवताओंने जब यज्ञ करते समय (सकल्पसे) पुरुषरूप पशुका बन्धन किया तब सात समुद्र इसकी परिधि (मेखलाएँ) थे। इक्कीस प्रकारके छन्दोकी (गायत्री, अति-जगती और कृतिमेसे प्रत्येकके सात-सात प्रकारसे) समिधाएँ बनीं।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा॥

देवताओंने (पूर्वोक्त रूपसे) यज्ञके द्वारा यज्ञस्वरूप परम पुरुषका यजन (आराधन) किया। इस यज्ञसे सर्वप्रथम धर्म उत्पन्न हुए। उन धर्मोंके आचरणसे वे देवता महान् महिमावाले होकर उस स्वर्गलोकका सेवन करते हैं जहाँ प्राचीन साध्य-देवता निवास करते हैं। [अत हम सभी सर्वव्यापी जड-चेतनात्मकरूप विराट् पुरुषकी करबद्ध स्तुति करते हैं।] (यजुर्वेद ३१। १—१६)

वैदिक शुभाशसा

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता स गमेमहि॥

(ऋग्वेद ५।५१।१५)

हम अविनाशी एव कल्याणप्रद मार्गपर चलें। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा चिरकालसे नि सदेह होकर बिना किसीका आश्रय लिये राक्षसादि दुष्टोसे रहित पथका अनुसरण कर अभिमत मार्गपर चल रह हैं, उसी प्रकार हम भी परस्पर स्नेहके साथ शास्त्रोपदिष्ट अभिमत मार्गपर चले।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥

(ऋग्वेद १।१६४।४१)

उच्चरित की जानेवाली शब्दब्रह्मात्मिका वाणी शब्दका रूप धारण कर रही है। अव्याकृत आत्मभावसे सुप्रतिष्ठित यह वाणी समस्त प्राणियोंके लिये उनक वाचक शब्दोको सार्थक बनाती हुई सुबन्त और तिङन्त-भेदोसे पादद्वयवती, नाम आख्यात उपसर्ग और निपात-भेदोंसे चतुष्पदी, आमन्त्रण आदि आठ भेदोसे अष्टपदी और अव्यय-पदसहित नवपदी अथवा नाभिसहित उर , कण्ठ, तालु आदि भेदासे नवपदी बनकर उत्कृष्ट हृदयाकाशम सहस्राक्षरा-रूपसे व्याप्त होकर अनेक ध्वनि-प्रकारोको धारण करती हुई अन्तरिक्षमे व्याप्त यह दैवी वाणी गौरीस्वरूपा है।

अपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नो अंहस ॥

(ऋग्वेद ८।१८।१०)

'हे अखण्ड नियमांके पालनेवाले देवगणो (आदित्यास)! हमारे रोगोको दूर करो हमारी दुर्मतिका दमन करो तथा पापोको दूर हटा दो।' सूर्यकी आराधना और प्राकृतिक नियमोंके पालन करनेसे रोग दूर होते हैं, स्वास्थ्य स्थिर रहता है। स्थिर स्वास्थ्यसे सुमति होती है और सुमति पापको दूर हटाती है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वय॰ स्याम पतयो रयीणाम्॥

(शुक्लयजुर्वेद २३।६५)

हे प्रजापते! तुमसे भिन्न दूसरा कोई इस पृथिव्यादि भूता तथा सब पदार्थों एव रूपासे अधिक बलवान् नहीं हुआ है अर्थात् तुम्हीं सर्वोपरि बलवान् हो। अतएव हम जिन कामनाआसे तुम्हारा यजन करते हैं वह हमें प्राप्त हा। जिससे हम सब धनोंके स्वामी बनें।

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥

(सामवेद १।३।१२)

हे स्तोताओ! यज्ञमे सत्यधर्मा क्रान्तदर्शी मेधावी तेजस्वी और रागाका शमन करनवाल शत्रुघातक अग्निकी स्तुति करो।

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयु प्राणं प्रजा पशुं कीर्तिं द्रविण ब्रह्मवर्चसम्। मह्य दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

(अथर्ववेद १९।७१।१)

पापोका शोधन करनेवाली वेदमाता हम द्विजोको प्रेरणा दे। मनारथाका परिपूर्ण करनवाली वेदमाताकी आज हमने स्तुति की है। मनोऽभिलपित वरप्रदात्री यह माता हम दीर्घायु, प्राणवान्, प्रजावान्, पशुमान्, धनवान्, तेजस्वी तथा कीर्तिशाली होनेका आशीर्वाद देकर ही ब्रह्मलोकको पधारें।

वैदिक बाल-विनय

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥
(यजु० ३०। ३)

दिव्य गुण-धारी जगके जनक दुरित-दल सकल भगा दो दूर।
किंतु जो करे आत्म-कल्याण उसीको भर दो प्रभु! भरपूर॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥
(यजु० ४०। १६)

सुपथपर प्रभु! हमको ले चलो, प्राप्त हो सतत ध्रुव कल्याण।
सकल कृतियाँ हैं तुमको विदित पाप-दलको कर दो म्रियमाण॥
पुण्यकी प्रभा चमकने लगे पापका हो न लेश भी शेष।
भक्तिमें भरकर तुमको नमें, सहस्रों बार परम प्राणेश॥

ॐ असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय॥
(शतपथब्राह्मण १४। १। १। ३०)

असत्से सत्, तमसे नव ज्योति, मृत्युसे अमृत तत्त्वकी ओर।
हमें प्रतिपल प्रभुवर! ले चलो, दिखाओ अरुणा करुणा-कोर॥

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥
(ऋक्० १। १। ७)

दिवसके प्रथम रात्रिसे पूर्व भक्तिसे स्वार्थ त्यागके साथ।
आ रहे हैं प्रतिदिन ले भेंट तुम्हारी चरण शरणमें नाथ॥

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥
(ऋक्० ८। ९८। ११)

हमारे जनक हमारी जननि तुम्हीं हो हे सुरेन्द्र सुख धाम।
तुम्हारी स्तुतिमें रत करबद्ध, करें हम बाल विनीत प्रणाम॥

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः। मान्त स्थुर्नो अरातयः॥
(ऋक्० १०। ५७। १)

चलें हम कभी न सत्पथ छोड़ विभवयुत होकर तजें न त्याग।
हमारे अंदर रहें न शत्रु, सुकृतमें रहे हमारा भाग॥

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्।
जेता शत्रून् विचर्षणिः॥
(ऋक्० २। ४१। १२)

सर्वदर्शक प्रभु खल-बल-दलन, विभव-सम्पन्न इन्द्र अधिराज।
दिशा-विदिशाओंमें सर्वत्र, हमें कर दो निर्भय निर्व्याज॥

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररभ्मा शवसस्पते। उश्मसि त्वा सधस्थ आ॥
(ऋक्० ८। ४५। २०)

निखिल बल अधिपति! मैंने आज वृद्धकी आश्रय, लकुटि समान।
तुम्हारा अवलम्बन है लिया शरणमें रखो, हे भगवान्॥

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा। मर्य इव स्व ओक्ये॥
(ऋक्० १। ९१। १३)

मनुज अपने घरमें ज्यों रहें चरें गौएँ ज्यों जौका खेत।
हृदयमें रम जाओ त्यों नाथ बना लो अपना इसे निकेत॥

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्। मिनीमसि द्यविद्यवि॥
(ऋक्० १। २५। १)

वरुण! हम अविवेकी दिन रात किया करते हैं जो व्रत भङ्ग।
समझकर अपनी संतति पिता! उबारो हमें क्षमाके संग॥

यद्वीळाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम्। वसु स्पार्हं तदा भर॥
(ऋक्० ८। ४५। ४१)

परम ऐश्वर्ययुक्त हे इन्द्र! हमें दो ऐसा धन स्पृहणीय।
वीर दृढ़ स्थिर जन चिन्तनशील बना लेते हैं जिसे स्वकीय॥

आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्। अग्ने त्वां कामया गिरा॥
(ऋक्० ८। ११। ७)

उठ रही मेरी वाणी आज पिता! पानेको तेरा धाम।
और वह ऊँचा ऊँचा धाम जहाँ है जीवनका विश्राम॥
तुम्हारे वत्सल रससे भीग हृदयकी करुण कामना कान्त।
खोजने चली विवश हो तुम्हें रहेगी कबतक भवमें भ्रान्त॥
दूर से दूर भले तुम रहो खींच लायेगी किंतु समीप।
विरत कबतक चातकसे जलद, स्वातिसे मुक्ता भरिता सीप?

वैदिकपन्थानमनुचरेम

(१)

आदर्श वैदिक शिक्षा

ऋग्वेदकी शिक्षाएँ—

१ एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। (१। १६४। ४६)
उस एक प्रभुको विद्वान् लोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं।

२ एको विश्वस्य भुवनस्य राजा॥ (६। ३६। ४)
वह सब लोकोंका एकमात्र स्वामी है।

३ यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति॥ (१। १६४। ३९)
जो उस ब्रह्मको नहीं जानता वह वेदसे क्या करेगा?

४ सं गच्छध्वं सं वदध्वम्। (१०। १९१। २)
मिलकर चलो और मिलकर बोलो।

५ शुद्धाः पूता भवत यज्ञियास ॥ (१०। १८। २)
शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवनवाले हो।

६ स्वस्ति पन्थामनु चरेम। (५। ५१। १५)
हम कल्याण-मार्गके पथिक हों।

७ देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्॥ (१। ८९। २)
हम देवों (विद्वानों)-की मैत्री करें।

८ उप सर्प मातरं भूमिम्। (१०। १८। १०)
मातृभूमिकी सेवा करो।

९ भद्रंभद्रं क्रतुमस्मासु धेहि। (१। १२३। १३)
हे प्रभो! हम लोगोंमें सुख और कल्याणमय उत्तम संकल्प ज्ञान और कर्मको धारण कराओ।

यजुर्वेदकी शिक्षाएँ—

१ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम। (२५। २१)
हम कानोंसे भद्र—मङ्गलकारी वचन ही सुनें।

२ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ (३२। ८)
वह व्यापक प्रभु सब प्रजाओंमें ओतप्रोत है।

३ मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥ (४०। १)
किसीके धनपर न ललचाओ।

४ मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ (३६। १८)
हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें।

५ तमेव विदित्वाति मृत्युमेति॥ (३१। १८)
उस ब्रह्म (प्रभु)-को जानकर ही मनुष्य मृत्युको लाँघ जाता है।

६ ऋतस्य पथा प्रेत। (७। ४५)
सत्यके मार्गपर चलो।

७ तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ (३४। १)
मेरा मन उत्तम संकल्पोंवाला हो।

सामवेदकी शिक्षाएँ—

१ अध्वरे सत्यधर्माणं कविमग्निमुप स्तुहि। (३२)
हिंसारहित यज्ञमें सत्यधर्मका प्रचार करनेवाले अग्निकी स्तुति करो।

२ ऋचा वरेण्यं अवो यामि॥ (४८)
वेदमन्त्रोंसे मैं श्रेष्ठ संरक्षण माँगता हूँ।

३ मन्त्रश्रुत्यं चरामसि॥ (१७६)
वेदमन्त्रोंमें जो कहा है वही हम करते हैं।

४ ऋषीणां सप्त वाणीः अभि अनूषत॥ (५७७)
ऋषियोंकी सात छन्दोंवाली वाणी कहो—वेदमन्त्र बोलो।

५ अमृताय आप्यायमानः दिवि उत्तमानि श्रवांसि धिष्व॥ (६०३)
मोक्षप्राप्तिके लिये तू अपनी उन्नति करते हुए द्युलोकमें उत्तम यश प्राप्त कर।

६ यज्ञस्य ज्योतिः प्रियं मधु पवते। (१०३१)
यज्ञकी ज्योति प्रिय और मधुर भाव उत्पन्न करती है।

अथर्ववेदकी शिक्षाएँ—

१ तस्य ते भक्तिवांसः स्याम॥ (६। ७९। ३)
हे प्रभो! हम तेरे भक्त हों।

२ एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। (२। २। १)
एक परमेश्वर ही पूजाके योग्य और प्रजाओंमें स्तुत्य है।

३ स नो मुञ्चत्वंहसः॥ (४। २३। १)
वह ईश्वर हमें पापसे मुक्त करे।

४ य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥ (९। १०। १)
जो उस ब्रह्मको जान लेते हैं वे मोक्षपद पाते हैं।

५ सं श्रुतेन गमेमहि॥ (१। १। ४)
हम वेदोपदेशसे युक्त हों।

६ यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः॥ (९। १०। १४)
यज्ञ ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको बाँधनेवाला नाभिस्थान है।

७ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। (११। ५। १९)
ब्रह्मचर्यरूपी तपोबलसे ही विद्वान् लोगोंने मृत्युको जीता है।

८ मधुमतीं वाचमुदेयम्॥ (१६। २। २)
मैं मीठी वाणी बोलूँ।

९ परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु। (१८। ३। ६२)
मृत्यु हमसे दूर हो और अमृत-पद हमें प्राप्त हो।

१० सर्वमेव शमस्तु नः॥ (१९। ९। १४)
हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो।

(२)
वेदोक्त मानव-प्रार्थना

मानवको अपने जीवनमे ससारयात्रार्थ जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है उन सभी वस्तुओंका वेदोंमें अगाध भंडार है।

जो मनुष्य परमेश्वरको अपना परम प्रिय, परम ध्येय और परम इष्ट मानकर भगवत्प्रार्थना करता है वही भगवान्‌का परम प्रिय और भक्त बन सकता है। प्रभुका भक्त बननेपर ही परमात्मा अपने भक्तके सर्वविध योगक्षेमका भार स्वयं वहन करते हैं। परमात्मामें विश्वास और उनके प्रति स्वार्पण करनेवाले मानव भक्तको कभी किसी वस्तुकी कमी नहीं रहती। भक्तके इच्छानुसार भगवान् उसे सब कुछ प्रदान करते हैं। प्रभुभक्त सर्वदा निर्विकार, निष्काम और निश्चिन्त रहता है। अत प्रभुभक्तको परमात्मासे अपने लिये प्रथम तो कभी किसी वस्तुकी माँग ही नहीं होती यदि कभी होती भी है तो वह अपने लिये नहीं, किंतु दूसरोंके लिये होती है। प्रभुभक्त मानवकी इस प्रकारकी विश्वकल्याणमयी 'माँग'को 'प्रार्थना' शब्दसे अभिहित किया गया है। वेदोंमें मानवतासम्पन्न भगवद्भक्त मानवद्वारा की गयी विश्वकल्याणार्थ प्रार्थनाके सम्बन्धमें अनेकानेक वैदिक सूक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनके स्वाध्याय और मननसे विश्वकल्याणकामी मानवके उच्च जीवन उच्च विचार और उच्च मानवताका सुन्दर परिचय मिलता है। अब हम चारों वेदोंकी कुछ महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

ऋग्वेदकी सूक्तियाँ

यच्छा न शर्म सप्रथ ॥ (१। २२। १५)

'हे भगवन्! आप हम अनन्त अखण्डैकरसपरिपूर्ण सुखोंको प्रदान करें।'

पुनर्ददताघ्नता जानता स गमेमहि॥ (५। ५१। १५)

'हम दानशील पुरुषसे, विश्वासघातादि न करनेवालेसे और विवेक-विचार-ज्ञानवान्‌से सत्संग करते रहें।'

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्। (१०। २५। १)

हे परमेश्वर! आप हम सबको कल्याणकारक मन, कल्याणकारक बल और कल्याणकारक कर्म प्रदान करें।'

यजुर्वेदकी सूक्तियाँ

वय॰ स्याम सुमतौ। (११। २१)

हमें सद्बुद्धि प्रदान करो।'

विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥ (१६। ४८)

'इस ग्राममें सभी प्राणी रोगरहित और हृष्ट-पुष्ट हों।'

मयि धेहि रुचा रुचम्॥ (१८। ४८)

'हे अग्निदेव! आप मुझे अपने तेजसे तेजस्वी बनायें।'

पुनन्तु मा देवजना । (१९। ३९)

'देवानुगामी मानव मुझे पवित्र करें।'

मे कामान्त्समर्धयन्तु॥ (२०। १२)

'देवगण मेरी कामनाओंको समृद्ध (पूर्ण) करें।'

वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्। (२०। २३)

'मैं परमात्माकी महिमामयी ज्योतिको प्राप्त करूँ।'

स्योना पृथिवि न । (३५। २१)

'हे पृथिवी! तुम हमारे लिये सुख देनेवाली हो।'

सामवेदकी सूक्तियाँ

भद्रा उत प्रशस्तय । (१११)

'हमें कल्याणकारिणी स्तुतियाँ प्राप्त हों।'

जीवा ज्योतिरशीमहि॥ (२५९)

'हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्योतिको प्राप्त करें।'

अस्मभ्यं चित्रं वृषण॰रयिं दा ॥ (३१७)

'हमें अनेक प्रकारके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला धन दो।'

मदेम शतहिमा सुवीरा ॥ (४५४)

'हम सुन्दर पुत्रोंके सहित सैकड़ों हेमन्त-ऋतुपर्यन्त प्रसन्न रहें।'

कृधी नो यशसो जने। (४७९)

'हमें अपने देशमें यशस्वी बनाओ।'

न सन्तु सनिषन्तु नो धिय ॥ (५५५)

'हमारी देवविषयक स्तुतियाँ देवताओंको प्राप्त हों।'

विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञम्। (६१०)

'सम्पूर्ण देवगण मेरे मान करने योग्य पूजनको स्वीकार करें।

अहं प्रवदिता स्याम्॥ (६११)

'मैं सर्वत्र प्रगल्भतासे बोलनेवाला बनूँ।'

अथर्ववेदकी सूक्तियाँ

शिवा न सन्तु वार्षिकी ॥ (१। ६। ४)

'वर्षाद्वारा प्राप्त जल हमारे लिये कल्याणकारी हो।'

पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्॥ (२। १३। १)

'हे भगवन्! जिस प्रकार पिता अपने अपराधी पुत्रकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप भी इस (हमारे) बालककी रक्षा करें।'

विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान्॥ (२। ३५। ४)

'हे विश्वकर्मन्! तुमको नमस्कार है तुम हमारी रक्षा करो।'

तस्य ते भक्तिवास स्याम॥ (६। ७९। ३)

'हे प्रभो! हम तुम्हारे भक्त बनें।'

कामानस्माक पूरय॥ (३। १०। १३)

'हे देवगण! आप अभिलषित वस्तुओंसे हमें परिपूर्ण करें।'

शत जीवेम शरद सर्ववीरा ॥ (३। १२। ६)

हम स्वाभिलषित पुत्र-पौत्रादिसे परिपूर्ण होकर सौ वर्षतक जीवित रहें।'

मा नो द्विक्षत कश्चन॥ (१२। १। २४)

'हमसे कोई भी कभी शत्रुता करनेवाला न हो।'

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्॥ (१६। २। १)

'हमारी शक्तिशालिनी मीठी वाणी कभी भी दुष्ट स्वभाववाली न हो।'

शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु॥ (१९। ९। १३)

'मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और कभी किसी प्रकारका भय मुझे न हो।'

(३)

वेदसे कामना-साधन

धर्मके आधारस्तम्भ वेदको समस्त जागतिक विद्वानाने सकल ससारका पुरातन ग्रन्थ स्वीकार किया है। प्राचीन महर्षि वेदके द्वारा ही लोकोत्तर अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त कर पाये थे, इसीलिये तो— वेदाभ्यास और वैदिक उपासनाओके अतिरिक्त ब्राह्मणके लिये धन कमानेकी कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहा गया है। 'नान्यद् ब्राह्मणस्य कदाचिद्धनार्जनक्रिया।'

मनु-सहितामे ऋषियोद्वारा प्रश्न हुआ है कि 'भगवन्! अपने धर्मपालनमें तत्पर मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसारहित वृत्तिवाले ब्राह्मणोंपर काल अपना हाथ चलानेमे कैसे समर्थ होता है'? इस प्रश्नका उत्तर क्या ही सुन्दर दिया गया है—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥

(मनु० ५। ४)

मनु भगवान्ने मृत्युके आनेका सर्वप्रथम कारण वेदोंके अनभ्यासको बताया है। पाठकोक मनमे बडा आश्चर्य होगा कि वेदमें ऐसी कौन-सी करामात है, जिससे काल भी उसका अभ्यास करनेवालेका कुछ नहीं कर पाता। पाठकोको विश्वास रखना चाहिये कि वेद ऐसी-ऐसी करामातोंका खजाना है जिनका किसी औरके द्वारा मिलना दुर्लभ है। यद्यपि वेदका मुख्य प्रयोजन अक्षय्य स्वर्ग (मोक्ष)-की प्राप्ति है, तथापि उसमे सांसारिक जनोके मनोरथ पूर्ण करनेके भी बहुत-से साधन बताये गये हैं, जिनसे ऐहिक तथा पारमार्थिक— उभयलोकसिद्धि प्राप्त होती है।

प्रसिद्ध नीलसूक्तके कतिपय मन्त्रोके कुछ साधन पाठकोके दिग्दर्शनार्थ यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं—

भूतादिनिवारण

नीचे लिखे मन्त्रसे सरसोंके दाने अभिमन्त्रित करके आविष्ट पुरुषपर डालें तो ब्रह्मराक्षस-भूत-प्रेत-पिशाचादिसे मुक्ति हो जाती है—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराची परा सुव॥

(शु० य० १६। ५)

निर्विघ्नगमन

कहीं जाता हुआ मनुष्य भी यदि उपर्युक्त (अध्यवोचदधिवक्ता०) मन्त्रको जपे तो वह (यथेष्ट स्थान पर) कुशलपूर्वक चला जाता है।

बालशान्ति

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भक मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्। मा नो वधी पितरं मोत मातर मा न प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिष ॥ (शु० य० १६। १५)

—इस मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति देनेसे बालक नीरोग रहता है तथा परिवारमे शान्ति रहती है।

रोगनाशन

नम सिकत्याय च प्रवाह्याय च नम किंशिलाय च क्षयणाय च नम कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च॥ (शु०य० १६। ४३)

—इस मन्त्रसे ८०० बार कलशस्थित जलको अभिमन्त्रित कर उससे रोगीका अभिषेक करे तो वह रोगमुक्त हो जाता है।

द्रव्यप्राप्ति

'नमो व किरिकेभ्यो०' (शु०य० १६। ४६) मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति दे तो धन मिलता है।

जलवृष्टि

'असौ यस्ताम्रो' तथा 'असौ योऽवसर्पति' (शु० य० १६। ६-७)—इन दोना मन्त्रोसे सत्तू और जलका ही सेवन करता हुआ गुड तथा दूधमें वेतस्की समिधाओंको भिगोकर हवन करे तो श्रीसूर्यनारायण-भगवान् पानी बरसाते हैं।

पाठकोके दिग्दर्शनार्थ कुछ प्रयोग बताये गये हैं। प्रयोगोंकी सिद्धि गुरुद्वारा वैदिक दीक्षासे दीक्षित होकर साधन करनेसे होती है। दीक्षाके अतिरिक्त मन्त्रोंके ऋषि, छन्द देवता एवं उच्चारण-प्रकार जानना भी अत्यावश्यक है। भगवान् कात्यायनने कहा है—

एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति। अथान्तरा श्वगर्तं वाऽऽपद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।

भाव यह है कि—'जो ऋषि-छन्द-देवतादिके ज्ञानके हुए विना पढता है, पढाता है जपता है, हवन करता-कराता है, उसका वेद निर्बल और निस्तत्त्व हो जाता है। वह पुरुष नरकमें जाता है या सूखा पेड़ होता है—अकाल अथवा मृत्युसे मरता है।'

अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवत्।

जो इन्हे जानकर कर्म करता है वह (अभीष्ट) फलको प्राप्त करता है। अत साधकजनोंके लिये वैदिक गुरूपदिष्ट मार्गसे साधन करना विशेष लाभदायक है।

(४)

वेदोमे भगवत्कृपा-प्राप्त्यर्थ प्रार्थना

भक्ति-शास्त्रोके अनुसार भगवत्कृपाके बिना मनुष्य सुख-शान्ति या सफलता नहीं प्राप्त कर सकता अत भगवत्कृपाका अनुभव करनेके लिये समस्त प्राणियामें स्थित रहनेवाले भगवान्‌को सर्वव्यापी एव सर्वान्तर्यामी जानकर जो मनुष्य सर्वत्र और सबम देखता है, वही पूर्ण भगवत्कृपाका अनुभव कर सकता है। वह ऐहलौकिक, पारलौकिक—सभी प्रकारक सुख-साधनाको प्राप्त कर अभ्युदय तथा नि श्रेयसरूपा पूर्णताको प्राप्त कर सकता है।

भगवत्कृपा और भगवान्‌म कोई भेद नहीं है, अत दोनाको अभिन्न मानकर भगवदाराधन करना चाहिये। जा मनुष्य श्रद्धा एव विश्वासके साथ सर्वव्यापी भगवान्‌की आराधना करता है, वह अवश्य भगवान्‌का कृपापात्र बन जाता है। भगवान्‌के सम्मुख हानेके कारण वह सद्धर्म, सत्कर्म और सदाचार आदिके पालनम तत्पर हो अहर्निश भगवदाराधनम सलग्न रहता है। पश्चात् वह शुद्ध-बुद्ध अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है। अत भगवत्कृपाको विशेष-रूपम प्राप्त (अनुभव) करनेके लिये भगवदाराधना आवश्यक है।

वेदोमें मन्त्रद्रष्टा ऋषियोद्वारा अनेक स्थलोपर भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये प्रार्थनाएँ की गयी हैं। ये प्रार्थनाएँ बडी ही उदात्त और सत्सकल्पित हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषि सदा भगवदनुग्रहके प्रार्थी रहे हैं परतु वे साधारण वस्तुओंके लिये भगवदनुग्रहका आह्वान नहीं करते, प्रत्युत अपने तथा मानवमात्रके सर्वाङ्गीण योगक्षेमके लिये प्रभुकृपाके प्रार्थी हैं।

मन्त्रद्रष्टा ऋषियोद्वारा वेदामें आत्म-कल्याण और लोक-कल्याणके निमित्त भगवत्कृपा-प्राप्त्यर्थ जो प्रार्थनाएँ की गयी हैं उनमेसे कुछ वेद-मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

माध्वीर्गावो भवन्तु न ॥ (ऋक्० १। ९०। ८)

हे प्रभो! हमारी गौएँ (इन्द्रियाँ) मधुरतापूर्ण अर्थात् संयम-सदाचारादिके माधुर्यसे युक्त हों।'

अप न शोशुचदघम्॥ (ऋक्० १। ९७। ३)

'भगवन्! आपकी कृपासे हमारे समस्त पाप नष्ट हा जायँ।'

भद्रभद्रं क्रतुमस्मासु धेहि॥ (ऋक्० १। १२३। १३)

'हे प्रभा! हमें सुखमय तथा मङ्गलमय और श्रेष्ठ सकल्प, ज्ञान एव सत्कर्म धारण कराइये।'

सं ज्योतिषाभूम॥ (शुक्लयजुर्वेद २। २५)

'हे दव! हम आध्यात्मिक प्रकाशसे संयुक्त हों।'

स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायत समस्मात्॥ (शुक्लयजुर्वेद ३। २६)

'हे प्रभो! आप हम सत्-ज्ञान दीजिये, हमारी प्रार्थनाको सुनिये और हमे पापी मनुष्यो (-के पापाचरण)-से बचाइये।'

अगन्म ज्योतिरमृता अभूम। (शुक्लयजुर्वेद ८। ५२)

'हे देव! हम आपकी ज्योतिको प्राप्त होकर अमरत्वको प्राप्त कर।'

देव सस्फान सहस्रापोपस्येशिषे। तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवास स्याम॥ (अथर्ववेद ६। ७९। ३)

'हे देव! आप आध्यात्मिक तथा आधिदैविक एवं आधिभौतिक आदि असंख्य शाश्वती पुष्टियोंके स्वामी हैं, इसलिये आप हम उन पुष्टियोको प्रदान करे और उन्हे हममे स्थापित करें जिससे हम आपकी भक्तिसे युक्त हो।

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽह सर्व ॥ (अथर्ववेद १९। ५१। १)

'हे परमश्वर! मैं अनिन्द्य (प्रशसित) बनूँ, मेरी आत्मा अनिन्द्य बने और मेरे चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान तथा व्यान भी अनिन्द्य बन।'

अभय मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभय पुरो य। अभयं नक्तमभयं दिवा न सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ (अथर्ववेद १९। १५। ६)

'हे प्रभो! हमें मित्रसे भय न हो, शत्रुसे भी भय न हो, परिचित व्यक्तियो एवं सभी वस्तुआसे निर्भयता प्राप्त हो। पराक्षमें भी हमें कभी कुछ भय न हो। दिनमें, रातमे और सभी समय हम निर्भय रहें। किसी भी देशमें हमारे लिये काई भयका कारण न रहे। सर्वत्र हमारे मित्र-ही-मित्र हा।'

वस्तुत भगवत्कृपाका अनुभव सर्वभावसे भगवान्‌की शरणम जानेसे तथा विनम्र होकर भगवत्प्रार्थना करनेसे ही हाता है।

~~ॐॐॐ~~

राष्ट्र-कल्याणका माङ्गलिक सदेश

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्य शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायता दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशु सप्ति पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायता निकामे-निकामे न पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधय पच्यन्ता योगक्षेमो न कल्पताम्॥

(यजु० स० २२। २२)

(अनुवाद)

भारतवर्ष हमारा प्यारा, अखिल विश्वसे न्यारा,
सब साधनसे रहे समुन्नत, भगवन्! देश हमारा।

हो ब्राह्मण विद्वान् राष्ट्रम ब्रह्मतेज-व्रत-धारी,
महारथी हो शूर धनुर्धर क्षत्रिय लक्ष्य-प्रहारी।
गौएँ भी अति मधुर दुग्धकी रहें बहाती धारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ १॥

भारतमे बलवान् वृषभ हो, बोझ उठाये भारी,
अश्व आशुगामी हो, दुर्गम पथमें विचरणकारी।
जिनकी गति अवलोक लजाकर हो समीर भी हारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ २॥

महिलाएँ हो सती सुन्दरी सद्गुणवती सयानी,
रथारूढ भारत-वीरोकी करे विजय-अगवानी।
जिनकी गुण-गाथासे गुजित दिग्-दिगन्त हो सारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ ३॥

यज्ञ-निरत भारतके सुत हो, शूर सुकृत-अवतारी,
युवक यहाँके सभ्य सुशिक्षित सौम्य सरल सुविचारी,
जो होगे इस धन्य राष्ट्रका भावी सुदृढ़ सहारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ ४॥

समय-समयपर आवश्यकतावश रस घन बरसाये,
अन्नौषधम लग प्रचुर फल और स्वयं पक जायं।
योग हमारा, क्षेम हमारा स्वत सिद्ध हो सारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ ५॥

वेद-कथाका वैशिष्ट्य—एक परिचय

'देवपितृमनुष्याणां वेदश्चक्षु सनातन '—वेदको देव, पितर एव मनुष्योका सनातन चक्षु कहा गया है। मनु महाराजके अनुसार तीनो कालमे इनका उपयोग है और सब वेदसे प्राप्त होता है—

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।

भारतीय मान्यताके अनुसार वेद ब्रह्मविद्याके ग्रन्थभाग नहीं स्वय ब्रह्म हैं—शब्द ब्रह्म हैं। ब्रह्मानुभूतिके विना वेद-ब्रह्मका ज्ञान सम्भव ही नहीं है, अर्थात् जिसने वेद-ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया है वे ही वेदकी स्तुति (अर्थात् व्याख्या)-के अधिकारी होते हैं—'अथापि प्रत्यक्षकृता स्तोतारो भवन्ति' (निरुक्त ७।१।२)। कहते हैं कि वैदिक वाङ्मयमे सम्पूर्ण देवता समाये हुए हैं, जा उन्हें जान लेता है वह उनमे समाहित हो जाता है। तात्पर्य है कि जिन्हे आर्ष-दृष्टि प्राप्त है, वे ही वेद-ब्रह्मके सत्यका दर्शन कर सकते हैं और वैदिक प्रतीको एव सकेतोको तथा वैदिक भाषाके रहस्यको समझ सकते हैं। इसीलिये वेदकी मूल चार सहिताआ—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके साथ ब्राह्मण-भाग भी सलग्न रहता है, जो इन सहिताओ (मन्त्रो)-की व्याख्या करता है। इस ब्राह्मण-भागके विना इन वेदोंके मूल मन्त्रार्थ स्पष्ट नहीं हो पाते। ब्राह्मणके ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—ये तीन विभाग हैं, जो प्रत्येक सहिताओंके अलग-अलग हैं। मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनाको वेद ही कहा गया है—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

इनमें ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक समस्त पक्षोका प्रतिपादन है। वस्तुत वेद धर्म अर्थ काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंका प्रतिपादन करते हैं। जिनकी व्याख्या वेदाङ्गोंके द्वारा स्पष्ट होती है, अत इन वेदाङ्गाका भी अतिशय महत्त्व है। ये वेदाङ्ग छ प्रकारके हैं—शिक्षा, कल्प व्याकरण निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इसके साथ ही चारा वेदाके चार उपवेद भी हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद गन्धर्ववेद और स्थापत्यवेद।

सर्वसाधारणके लिये वेदके अर्थ एव भावोको अत्यधिक स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे ऋषि-महर्षियोद्वारा इतिहास एवं पुराणोंकी रचना की गयी—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'। वेदोंका उपबृंहण इतिहास और पुराणोद्वारा ही हुआ है अर्थात् वेदार्थका विस्तार इतिहास-पुराणोद्वारा किया गया है। अत इतिहास-पुराणको पाँचवाँ वेद माना गया है—'इतिहासं पुराणं पञ्चम वेदानां वेदम्' (छान्दोग्य०)। इतिहासके अन्तर्गत रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थ आते हैं तथा पुराणोमें भगवान् वेदव्यासद्वारा रचित अठारह महापुराण एवं सभी उपपुराण समन्वित हैं।

वेदोका प्रादुर्भाव

वेदके प्रादुर्भावके सम्बन्धमे यद्यपि कुछ पाश्चात्य विद्वानो तथा पाश्चात्य दृष्टिकोणसे प्रभावित यहाँके भी कुछ विद्वानोने वेदाका समय-निर्धारण करनेका असफल प्रयास किया है, परतु वास्तवमे प्राचीन कालसे हमारे ऋषि-महर्षि, आचार्य तथा भारतीय सस्कृति एवं भारतकी परम्परामें आस्था रखनेवाले विद्वानोंने वेदको सनातन नित्य और अपौरुषेय माना है। उनकी यह मान्यता है कि वेदका प्रादुर्भाव ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें हुआ है। जिस प्रकार ईश्वर अनादि, अनन्त और अविनश्वर है उसी प्रकार वेद भी अनादि, अनन्त और अविनश्वर हैं। इसीलिये उपनिषदोंमें वेदोंको परमात्माका नि श्वास कहा गया है। वेदोंके महान् भाष्यकार श्रीसायणाचार्यजीने अपने वेदभाष्यमें लिखा है—

यस्य नि श्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥

सारांश यह कि वेद ईश्वरका नि श्वास है, अत उन्हीं परमेश्वरद्वारा निर्मित है। वेदसे ही समस्त जगत्का निर्माण हुआ है, इसीलिये वेदोंको अपौरुषेय कहा गया है। उपनिषदोंमें यह बात आती है कि सृष्टिके आदिमें परमात्म-प्रभुने ब्रह्माको प्रकट किया तथा उन्हें समस्त वेदोंका ज्ञान प्राप्त कराया—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै
(श्वेताश्वतर० ६।१८)

ब्रह्माकी ऋषि संतानोंने आगे चलकर तपस्याद्वारा इसी

शब्दराशिका साक्षात्कार किया और पठन-पाठनकी प्रणालीसे इसका सरक्षण किया। इसीलिये महर्षियोंने तथा अन्य भारतीय विद्वानोंने ऋषि-महर्षियोंको मन्त्रद्रष्टा माना है—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार '। वेदका ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें ऋषि-महर्षियोने अपनी अन्तर्दृष्टिसे प्रत्यक्ष दर्शन किया, तदनन्तर इसे सर्वसाधारणके कल्याणार्थ प्रकट किया।

सहिताके प्रत्येक सूक्तके ऋषि, देवता, छन्द एव विनियोग होते हैं। वेदार्थ जाननेके लिये इन चारोका ज्ञान रखना आवश्यक है। शौनककी अनुक्रमणी (११)-मे लिखा है कि 'जो ऋषि देवता छन्द एव विनियोगका ज्ञान प्राप्त किये बिना वेदका अध्ययन-अध्यापन, हवन एव यजन-याजन आदि करते हैं, उनका सब कुछ निष्फल हो जाता है और जो ऋष्यादिको जानकर अध्ययनादि करते हैं, उनका सब कुछ फलप्रद होता है। ऋष्यादिके ज्ञानके साथ ही जो वेदार्थ भी जानते हैं उनको अतिशय फल प्राप्त होता है।' याज्ञवल्क्य और व्यासने भी अपनी स्मृतियोमे ऐसा ही लिखा है। ऋषियोने वेदोका मनन किया, अत वे मन्त्र कहलाये, छन्दोम आच्छादित होनेसे छन्द कहलाये—'मन्त्रा मननात्, छन्दासि छादनात्' (निरुक्त ७। ३। १२)। जो मनुष्योको प्रसन्न करे और यज्ञादिकी रक्षा करे, उसे छन्द कहते हैं (निरुक्त दैवत १। १२)। जिस उद्देश्यके लिये मन्त्रका प्रयोग होता है उसे विनियोग कहा जाता है। मन्त्रमे अर्थान्तर या विषयान्तर होनेपर भी विनियोगके द्वारा अन्य कार्यमें उस मन्त्रको विनियुक्त किया जा सकता है—पूर्वाचार्योंने ऐसा माना है। इससे ज्ञात होता है कि शब्दार्थसे भी अधिक आधिपत्य मन्त्रोंपर विनियोगका है। ब्राह्मण-ग्रन्थो एव कल्पसूत्र आदिके द्वारा ऋषि देवता आदिका ज्ञान होता है।

निरुक्तकारने लिखा है—'देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा' (निरुक्त ७। ४। १५)—लोकोम भ्रमण करनेवाले प्रकाशित होनेवाले या भोज्य आदि सारे पदार्थ देनेवालेको देवता कहा जाता है।

वेदोंमें मुख्यरूपसे तीन प्रकारके देवोंका वर्णन मिलता है, जिनमें—(१) पृथ्वीस्थानीय देवता अग्नि, (२) अन्तरिक्षस्थानीय देवता वायु या इन्द्र और (३) द्यु-स्थानीय देवता सूर्य हैं। इन्हींकी अनेक नामासे स्तुतियाँ की गयी हैं। जिस सूक्त या मन्त्रके साथ जिस देवताका उल्लेख रहता है, उस सूक्त या मन्त्रके वे ही प्रतिपादनीय और स्तवनीय हैं। इसके साथ ही ये सभी जड-चेतन पदार्थोंके अधिष्ठातृ देवता भी होते हैं। जिस मन्त्रमें जिस देवताका वर्णन है, उसमें उसीकी दिव्य शक्ति अनादि कालसे निहित है। मन्त्रम ही देवत्वशक्ति मानी जाती है। देवताका रहस्य बृहद्देवतामे प्रतिपादित है। उसके प्रथमाध्यायके पाँच श्लोकों (६१—६५)-से पता चलता है कि इस ब्रह्माण्डके मूलमे एक ही शक्ति विद्यमान है जिसे ईश्वर कहा जाता है। वह 'एकमेवाद्वितीयम्' है। उस एक ब्रह्मको नाना रूपोंमे—विविध शक्तियाकी अधिष्ठातृ-रूपामे स्तुति की गयी है। नियन्ता एक ही है, इसी मूल सत्ताके विकास सारे देव हैं। इसीलिये जिस प्रकार एक ही धागेमे मालाकी सारी मणियाँ ओतप्रोत रहती हैं और उसे केवल माला ही कहा जाता है। इसी तरह सूर्य, विष्णु, गणेश, वाग्देवी अदिति या जितने देवता हैं, सबको परमात्मरूप ही माना जाता है।

भारतीय सस्कृतिकी यह मान्यता है कि वेदसे ही धर्म निकला है—'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ । एक प्रश्न उठता है कि वेदकी नित्यताको प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमान प्रमाणसे प्रमाणित किया जा सकता है क्या? परतु इस सम्बन्धमें अपने यहाँ शकराचार्य आदि महानुभावाने प्रत्यक्ष एव अनुमान-प्रमाणका खण्डन कर शब्द-प्रमाणको ही स्थापित किया है (शारीरकभाष्य २। ३। १)। मानव-बुद्धि सीमित है। क्षुद्रतम मानव-मस्तिष्क 'अज्ञेय' कालके तत्त्वोंका कैसे प्रत्यक्ष कर सकता है और अनन्त समयका वाताका अनुमान ही कैसे लगा पायेगा? इसीलिये भगवान्ने स्वय गाताम कहा—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'। कार्य एव अकार्यकी व्यवस्थिति अर्थात् कर्तव्य एव अकर्तव्यका निर्णय करनेम शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं। आर्योंके सभी शास्त्र वेदको नित्य शाश्वत और अपौरुपय मानत हैं अर्थात् वदोंको किसी पुरुपके द्वारा निर्मित नहीं मानत। इसालिय वेदके शब्दोंका हमारे धर्म-कर्म तथा जावनके मार्गदर्शनका प्रमाण माना गया है।

वदाको सार्वदेशिक कहा जाता है क्योकि वे किसी देशविशेषकी भाषाम नहीं। जैसे परमेश्वर सर्वसाधारण और सार्वदेशिक हैं, वैसे ही उसके वेद भी सार्वदशिक भाषाम ही हैं, जबकि अन्यान्य धर्मग्रन्थ भिन्न-भिन्न देशाकी भाषाआमें हैं। यह कहा जा सकता है कि वेद भी आर्योंकी सस्कृत भाषाम ही हैं, फिर वे सार्वदेशिक कैसे हैं? परतु यह कहना सगत नहीं है, क्योकि सस्कृत भाषा वास्तवम देवभाषा है और वेद इस भाषाम भी नहीं हैं। कारण, शब्दोके लौकिक तथा वैदिक दो प्रकारके सस्कार होते हैं। वैदिक मन्त्र शब्द स्वर और छन्दोंसे नियन्त्रित होते हैं लौकिक नहीं। वैदिक वाक्योका स्वरूप और अर्थ निरुक्त तथा प्रातिशाख्यसे ही नियमित है, सस्कृत वैसी नहीं है। अत वेदभाषा सस्कृत भाषासे भी विलक्षण है इसीलिये वदमे किसीके प्रति पक्षपात नहीं है। जैसे भगवान् सर्वत्र समान हैं, वैसे ही उनका वैदिक धम भी साक्षात् या परम्परया प्राणिमात्रका परम उपकारी है।

अनन्त वेद

तैत्तिरीय आरण्यकमें एक आख्यायिका आती है--भरद्वाजन तीन आयुपर्यन्त अर्थात् बाल्य यौवन और वार्धक्यम ब्रह्मचर्यका ही अनुष्ठान किया। जब व जीर्ण हो गय तब इन्द्रने उनके पास आकर कहा—'भरद्वाज, चौथी आयु तुम्ह दूँ तो तुम उस आयुम क्या करोगे?' उन्होने उत्तर दिया—'मैं वेदोका अन्त देख लेना चाहता हूँ, अत जितना भी जीवन मुझे दिया जायगा मैं उससे ब्रह्मचर्यका ही अनुष्ठान करता रहूँगा और वेदका अध्ययन करूँगा।' इन्द्रने भरद्वाजको तीन महान् पर्वत दिखलाये जिनका कहीं आर-छोर नहीं था। इन्द्रने कहा—'य ही तीन वेद हैं इनका अन्त तुम कैसे प्राप्त कर सकत हो?' आगे इन्द्रन तीनामसे एक-एक मुट्ठी भरद्वाजको देकर कहा—'मानव-समाजके लिये इतना ही पर्याप्त है वेद तो अनन्त हैं'—'अनन्ता वै वेदा।'

कहते हैं कि इन्द्रके द्वारा प्रदत्त यह तीन मुट्ठी ही वेदत्रयी (ऋक् यजु, साम)-के रूपमें प्रकट हुई। द्वापरयुगकी समाप्तिके पूर्व इन तीनों शब्द-शैलियाकी सग्रहात्मक एक विशिष्ट अध्ययनीय शब्दराशि ही वेद कहलाती थी। उस समय भी वेदका पढना और अभ्यास करना सरल कार्य नहीं था। कलियुगम मनुष्याकी शक्तिहीनता और कम आयु होनेकी बात ध्यानम रखकर वेदपुरुष भगवान् नारायणके अवतार कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यासजीने यज्ञानुष्ठान आदिके उपयोगको दृष्टिगत रखकर एक वेदके चार विभाग कर दिये। ये ही विभाग आजकल ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेदके नामसे प्रसिद्ध हैं।

प्रत्येक वेदकी अनेक शाखाएँ बतायी गयी हैं। यथा—ऋग्वेदकी २१ शाखा यजुर्वेदकी १०१ शाखा, सामवेदकी १००१ शाखा और अथर्ववेदकी ९ शाखा। इस प्रकार कुल ११३१ शाखाएँ हैं। इन ११३१ शाखाआमसे केवल १२ शाखाएँ ही मूलग्रन्थम उपलब्ध हैं जिनमें ऋग्वेदकी २ यजुर्वेदकी ६, सामवेदकी २ तथा अथर्ववेदकी २ शाखाआके ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। परतु इन १२ शाखाओंमेसे केवल ६ शाखाओंकी अध्ययन-शैली ही वर्तमानमे प्राप्त है। मुख्यरूपसे वेदकी इन प्रत्येक शाखाओंकी वैदिक शब्दराशि चार भागाम प्राप्त है—(१) 'सहिता'—वेदका मन्त्रभाग (२) 'ब्राह्मण'—जिसमें यज्ञानुष्ठानकी पद्धतिके साथ फलप्राप्ति तथा विधि आदिका निरूपण किया गया है, (३) 'आरण्यक'—यह भाग मनुष्यको आध्यात्मिक बोधकी ओर झुकाकर सासारिक बन्धनासे ऊपर उठाता है। ससार-त्यागकी भावनाके कारण वानप्रस्थ-आश्रमके लिये अरण्य (जगल)-म इसका विशेष अध्ययन तथा स्वाध्याय करनेकी विधि है इसीलिये इसे आरण्यक कहते हैं और (४) 'उपनिषद्'—इसम अध्यात्म-चिन्तनको ही प्रधानता दी गयी है। इनका प्रतिपाद्य ब्रह्म तथा आत्मतत्त्व है।

वेदोके शिक्षाप्रद आख्यान

वेदोंमें यत्र-तत्र कुछ शिक्षाप्रद आख्यान तथा आख्यानोंके कतिपय संकेत-सूत्र भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि कुछ आख्यान ऐतिहासिक-जैसे भी प्रतीत होत हैं जिनके आधारपर कुछ आधुनिक विद्वान् उन इतिहासाके अनुसार वेदके कालका निर्णय करनेका प्रयास करते हैं परतु वास्तवमें ये आख्यान इतिहासके नहीं हैं। कुछ आख्यानोंमें जगत्‌मे सदा होती रहनेवाली घटनाओंका कथाका रूप

देकर समझाया गया है। जो एक प्रकारका जगत्का नित्य इतिहास है। नित्य-वेदमे अनित्य ऐतिहासिक आख्यान नहीं हो सकते। इसी प्रकार वेदमे कुछ राजाओंके तथा भारतीय इतिहासके कुछ व्यक्तियोंके भी नाम प्राप्त होते हैं। इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वेद अपौरुषेय हैं, तब इनमें ऐतिहासिक आख्यान तथा ऐतिहासिक व्यक्तियोके नाम कैसे आते हैं? परतु वास्तवमे वेदके ये शब्द किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियाके नाम नहीं हैं, प्रत्युत वेदमे ये यौगिक अर्थमे आते हैं। मन्त्रोंके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थोंके अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं तथा कल्प-कल्पान्तरकी ऐतिहासिक कथाओंका सूत्र या बीज भी इन कथाओमे रहता है। इस प्रकार ये कथाएँ ऐतिहासिक नहीं, अपितु नित्य और शाश्वत हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियोंके माता-पिताओने वेदके इन शब्दोंके आधारपर अपनी सततियोंका वही नाम रख दिया था। वेदका इन व्यक्तियासे कोई सम्बन्ध नहीं। इन व्यक्तियोंके नामों एव वैदिक नामोंमे केवल श्रवणमात्रकी समानता है। वेदमे इतिहासका खण्डन करते हुए महर्षि जैमिनिने भी मीमासा-दर्शनमे यही बात कही है।

वास्तवमें वेदके ये आख्यान हमारे जीवनको प्रभावित करते हैं। हमारे अदर नैतिक मूल्यों—सुसस्कारोंको जन्म देते हैं। ये कथाएँ उपदेश नहीं देतीं प्रत्युत अपनी प्रस्तुतिसे हमारे अदर एक विचार उत्पन्न करती हैं अच्छे-बुरेका विवेचन करती हैं और हमे उस सत्-असत्से परिचित कराकर हमारे मन-मस्तिष्कपर अपनी छाप भी छोडती हैं। ये कथाएँ केवल देवों-दानवों ऋषियों-मुनियों एवं राजाओंकी ही नहीं हैं, अपितु समस्त जड-चेतन पशु-पक्षी आदिसे भी सम्बन्धित हैं, जो हमे कर्तव्य-कर्मोंका बोध कराती हुई शाश्वत कल्याणका मार्गदर्शन कराती हैं।

वेदोके प्रतिपाद्य विषय

यह सर्वविदित है कि मानवके ऐहिक और आमुष्मिक कल्याणके साधनरूप धर्मका साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण वेदोमे ही उपलब्ध है। धर्मके साथ-साथ अध्यात्म मर्यादा ज्ञान-विज्ञान कला-कौशल शिल्प-उद्योग आदि ऐसा कौन-सा विषय है, जिसका प्रतिपादन वेदोंमें न किया गया हो? यही कारण है कि मनीषियोंने वेदको कालातीत अक्षय ज्ञानका निधान कहा है। मनुष्य-जातिके प्राचीनतम इतिहास, सामाजिक नियम राष्ट्रधर्म, सदाचार कला त्याग, सत्य आदिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकमात्र साधन वेद ही हैं।

वेदमे जो विषय प्रतिपादित हैं, वे मानवमात्रका मार्गदर्शन करते हैं। मनुष्यको जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त प्रतिक्षण कब क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये साथ ही प्रातःकाल जागरणसे रात्रि-शयनपर्यन्त सम्पूर्ण चर्या और क्रिया-कलाप ही वेदोंके प्रतिपाद्य विषय हैं। इस प्रकार वेदका अन्तिम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति ही है। ईश्वरोपासना, योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, विद्याप्राप्ति ब्रह्मचर्य-पालन तथा सत्सग आदि मुक्तिके साधन बतलाये गये हैं। कर्मफलकी प्राप्तिके लिये पुनर्जन्मका प्रतिपादन आत्मोन्नतिके लिये सस्कारोंका निरूपण समुचित जीवनयापनके लिये वर्णाश्रमकी व्यवस्था तथा जीवनकी पवित्रताके निमित्त भक्ष्याभक्ष्यका निर्णय करना वेदोंकी मुख्य विशेषता है।

कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—इन तीन विषयोंका वर्णन मुख्यत वेदोमे मिलता है। कर्मकाण्डमें यज्ञ-यागादि विभिन्न क्रिया-कलापोंका प्रतिपादन विशेषरूपसे हुआ है। यज्ञके अन्तर्गत देवपूजा देवतुल्य ऋषि-महर्षियोंका सगतिकरण (सत्सग) और दान—ये तीनों होते हैं। वैदिक मन्त्रोद्वारा देवताओंकी तृप्तिके उद्देश्यसे किये हुए द्रव्यके दानको यज्ञ कहते हैं—

मन्त्रैर्देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दान याग ।

तैत्तिरीयसहिता (३। १०। ५)-में यह बात आती है कि द्विज जन्म लेते ही ऋषि-ऋण देव-ऋण और पितृ-ऋणोंका ऋणी बन जाता है। ब्रह्मचर्यके द्वारा ऋषि-ऋणसे यज्ञके द्वारा देव-ऋणसे और सततिके द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्ति होती है। अत इन ऋणोंसे मुक्तिहेतु तत्तत्-प्रतिपादक अवश्यानुष्ठेय यज्ञोंका सम्पादन करना चाहिये।

यज्ञ नित्य और नैमित्तिक दो प्रकारके होते हैं। जिन कर्मोंके करनेसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं होती और न करनेसे पाप लगते हैं, उन्हे नित्य (यज्ञ) कर्म कहते हैं।

जैसे—सध्या-वन्दन, पञ्चमहायज्ञादि। पञ्चमहायज्ञ करनेसे आत्मोन्नतिके साथ-साथ पूर्वजन्मके पापोंसे निवृत्ति भी होती है—

सर्वगृहस्थै पञ्चमहायज्ञा अहरह कर्तव्या।

अर्थात् गृहस्थमात्रको प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करना चाहिये। पञ्चमहायज्ञके अन्तर्गत ये हैं—(१) 'ब्रह्मयज्ञ'—वेदोंके स्वाध्यायको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। (२) 'देवयज्ञ'—अपने इष्टदेवकी उपासना परब्रह्म परमात्माके निमित्त की गयी पूजा और हवनका दवयज्ञ कहते हैं। (३) 'भूतयज्ञ'—कृमि, कीट-पतग पशु और पक्षीकी सेवाको भूतयज्ञ कहते हैं। (४) 'पितृयज्ञ'—परलोकगामी पितरोंके निमित्त पिण्डदानादि श्राद्ध एव तर्पणको पितृयज्ञ कहते हैं और (५) 'मनुष्ययज्ञ'—क्षुधा-पीड़ित मनुष्यके घर आ जानेपर उसकी भोजनादिसे की जानेवाली सेवारूप यज्ञको अर्थात् अतिथि-सेवाको मनुष्ययज्ञ कहते हैं।

नैमित्तिक कर्म मुख्यतया दो प्रकारके होते हैं—श्रौत और स्मार्त। श्रुतिप्रतिपादित यज्ञाको श्रौतयज्ञ और स्मृति-प्रतिपादित यज्ञोंको स्मार्तयज्ञ कहते हैं। श्रौतयज्ञमें केवल वैदिक मन्त्राका प्रयोग होता है तथा स्मार्तयज्ञोंम वैदिक, पौराणिक एव तान्त्रिक मन्त्रोंका भी प्रयोग होता है।

उपर्युक्त सभी प्रकारके यज्ञ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक-भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। जो यज्ञ निष्कामभावसे प्रभुकी प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं, उन्ह सात्त्विक यज्ञ कहते हैं। जो यज्ञ सकाम अर्थात् किसी फल-विशेषकी इच्छासे किये जाते हैं, उन्ह राजसिक यज्ञ कहा जाता है और जो यज्ञ शास्त्रविरुद्ध किये जाते हैं, वे तामसिक कहलाते हैं। सात्त्विक यज्ञका अनुष्ठान सर्वोत्तम कहा गया है शास्त्रोंमे इसका महान् फल बतलाया गया है।

एक प्रश्न उठता है कि यज्ञ-यागादि वैदिक कर्मोंकी फलश्रुतिमें स्वर्गप्राप्तिकी बात कही गयी है। तव जो व्यक्ति स्वर्ग न चाहता हो मोक्ष ही चाहता हो तो उसके लिये वैदिक कर्मकी आवश्यकता ही क्या हा सकती है? इसका उत्तर वृहदारण्यकापनिषद् (४।४।२२)-क वचनस मिलता है—

तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।

ब्राह्मण लोग वेदाध्ययनसे, कामनारहित यज्ञ दान और तपसे उस ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करते हैं—इस वचनम 'अनाशकेन' (कामनारहितेन)-पद विशेष अर्थपूर्ण है। इसका यही अर्थ है कि वेदोक्त यज्ञादि कर्म जब आसक्ति-सहित किये जाते हैं तव उनसे स्वर्गलाभ होता है और जब आसक्तिरहित किये जाते हैं तव काम-क्रोधादिकोसे मुक्त होकर कर्ताका चित्त शुद्ध हो जाता है तथा वह मोक्षका अधिकारी वन जाता है। यही बात गीतामें भगवान्ने कही है—

यज्ञदानतप कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
(१८।५-६)

यज्ञ, दान तप आदि कर्म त्याज्य नहीं हैं, अवश्य करणीय हैं, क्योंकि ये मनीषियाको पावन करते हैं। इन कर्मोंको भी आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके करना चाहिये यही मेरा निश्चित उत्तम मत है। यहाँ उपनिषद्क 'अनाशकेन' पदको ही गीताके 'सङ्ग त्यक्त्वा फलानि च' शब्दोंने विशद किया है।

अत जो मनुष्य अपना आत्यन्तिक कल्याण चाहता है अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहता है, उसे वैदिक कर्मकाण्डके फलरूप स्वर्गभागकी इच्छा न रखते हुए निष्कामभावसे भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही कर्म करते रहना चाहिये। यह बात मुण्डकोपनिषद् (१।२।७)-में भी आयी है।

मनुष्यका चित्त अनेक प्रकारक कुकर्मोंसे मलिन हो जानेके कारण इन सब मलाको हटानेके लिये सत्कर्मोंका किया जाना आवश्यक है। सत्कर्म कराना ही वैदिक कर्मकाण्डका उद्देश्य है। वेदोक्त कर्मोंके करनस चित्त शुद्ध होता है और तव ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञानकी बातें श्रवण करनेसे फलवती होती हैं।

वेदोक्त कर्मोंको करनेके लिये वर्णाश्रमधर्मका पालन करना भी अत्यन्त अनिवार्य है। वेदोंमे ब्राह्मण क्षत्रिय,

वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी व्यवस्था बतायी गयी है। साथ ही इन चारों वर्णोंके कर्तव्योंका भी निरूपण है। इसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आदि चार आश्रमोंका निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य-आश्रममें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—द्विज-बालकोंका उपनयन-सस्कार करानेकी विधि है, जिससे वे वेदोक्त कर्म करनेके अधिकारी बनते हैं। इस आश्रममें विद्याध्ययनके बाद गृहस्थाश्रममें अग्नि और देवताके साक्षीमें विवाह-सस्कारका प्रतिपादन किया गया है तथा गृहस्थाश्रमके नियमोंका प्रतिपादन हुआ है। तदनन्तर सासारिक प्रपञ्चोसे निवृत्त होकर एकमात्र परमात्मप्रभुकी उपासनामे सलग्न होनेके लिये वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रमकी व्यवस्थाका निरूपण हुआ है।

वेदोमे सूक्त

वेदोंमे यत्र-तत्र सूक्तरूपी अनेक मुक्तामणियाँ बिखरी पडी हैं, जिनमे व्यक्तिकी अभीष्ट-सिद्धिके अमोघ उपादान अन्तर्निहित हैं। निष्ठा एव आस्थाके द्वारा व्यक्ति अपनी विविध कामनाओंकी पूर्ति इनके माध्यमसे करनेमें समर्थ है। वेदमन्त्रोंके समूहको सूक्त कहा जाता है। जिसमें एकदैवत्य तथा एकार्थका ही प्रतिपादन रहता है। वेदवर्णित सूक्तोमे इन्द्र विष्णु, रुद्र, उषा, पर्जन्य प्रभृति देवताओंकी अत्यन्त सुन्दर और भावाभिव्यञ्जक प्रार्थनाएँ हैं। वैदिक देवताओंकी स्तुतियोंके साथ लौकिक एवं धार्मिक विषयोंसे सम्बद्ध तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण अनेक सूक्त हैं, इनमें आध्यात्मिक सूक्त दिव्य ज्ञानसे ओतप्रोत हैं जिन्हें दार्शनिक सूक्तके रूपम भी जाना जाता है। वेदके दार्शनिक सूक्तोमे पुरुषसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, वाक्सूक्त तथा नासदीयसूक्त आदि प्रसिद्ध हैं। इन सूक्तोंमें ऋषियोंकी ज्ञान-गम्भीरता तथा सर्वथा अभिनव कल्पना परिलक्षित होती है। समस्त दार्शनिक सूक्तोंके बीच नासदीयसूक्तका अपना विशेष महत्त्व है।

नासदीयसूक्तमें सृष्टिके मूल तत्त्व गूढ रहस्यका वर्णन किया गया है। सृष्टि-रचना-जैसा महान् गम्भीर विषय ऋषिके चिन्तनमें किस प्रकार प्रस्फुटित होता है—यह नासदीयसूक्तमें देखनेको मिलता है। इस सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अत्यन्त सूक्ष्मताके साथ विचार किया गया है, इसलिये यह सूक्त सृष्टि-सूक्तके नामसे भी जाना जाता है।

इस सूक्तके प्रथम भागमें सृष्टिके पूर्वकी स्थितिका वर्णन है। उस अवस्थामें सत्-असत्, मृत्यु-अमरत्व अथवा रात्रि-दिवस—यह कुछ भी नहीं था। न अन्तरिक्ष था न आकाश था, न कोई लोक था, न जल था। न कोई भोग्य था, न भोक्ता था। सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। उस समय तो केवल एक तत्त्वका ही अस्तित्व था, जो वायुके बिना भी श्वास ले रहा था।

द्वितीय भागमें कहा गया है कि जो नाम-रूपादि-विहीन एकमात्र सत्ता थी, उसीकी महिमासे ससाररूपी कार्य-प्रपञ्च प्रादुर्भूत हुआ।

तृतीय भागमें सृष्टिकी दुर्ज्ञेयताका निरूपण किया गया है। समस्त ब्रह्माण्डमे ऐसा कोई भी नहीं है, जो यह कह सके कि सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई। ससार-सृष्टिके परम गूढ रहस्यको यदि कोई जानते हैं तो केवल वे जो इस समस्त सृष्टिके अधिष्ठाता हैं। उनके अतिरिक्त इस गूढ तत्त्वको कोई नहीं जानता।

नासदीयसूक्तकी गणना विश्वके शिखर-साहित्यम होती है। सूक्तमें आध्यात्मिक धरातलपर विश्व-ब्रह्माण्डकी एकताकी भावना स्पष्ट-रूपसे अभिव्यक्त हुई है। भारतीय सस्कृतिमें यह धारणा निश्चित है कि विश्व-ब्रह्माण्डमें एक ही सत्ता विद्यमान है, जिसका नाम-रूप कुछ भी नहीं है। इस सूक्तमें इसी सत्यकी अभिव्यक्ति है।

वेदोमे आध्यात्मिक सदेश

वेद चाहते हैं कि व्यक्तिके चित्तवृत्तिरूप राज्यमें प्रतिपल पवित्र वरेण्य एव उर्वर विचार-सरिता बहती रह, जिससे अन्त करणम सद्वृत्तियाँ जाग्रत् होती रहे— तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न प्रचोदयात् (ऋक्० ३। ६२। १०)—सच्चिदानन्दरूप परमात्मन्! आपके प्राणदायी विशुद्ध तेज स्वरूपभूत दिव्यरूपका हम अपन हृदयमं नित्य ध्यान करत हैं उससे हमारी बुद्धि निरन्तर प्रेरित होती

रह। आप हमारी बुद्धिको अपमार्गसे रोककर तेजोमय शुभ मार्गकी ओर प्रेरित करे। उस प्रकाशमय पथका अनुसरण कर हम आपकी ही उपासना कर और आपको ही प्राप्त हो।

वेदोंकी भावना है कि हम ईश्वरको अनन्य एकाग्रतासे, उपासनासे प्रसन्न करे और वे हमारे योग-क्षेमादिको सर्वदा सम्पन्न करें। 'ससारको धारण करनेवाले भगवन्! हमारी अभिलाषाएँ आपको छोडकर अन्यत्र न कहीं गयी हैं, न कदापि कहीं जाती ही हैं, अत आप अपनी कृपाद्वारा हमे सब प्रकार सामर्थ्यसे सम्पन्न कर' (ऋक्० ८। २४। ११)।

ज्ञानकी पराकाष्ठापर भक्तिका उदय होकर भक्तिके सदा परिपूर्ण होनेसे वृत्तिम मुक्तिकी वासना भी नहीं उठती है—ऐसा जीवन ही वैदिक जीवन-सस्कृतिका आदर्श है—

यो व शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह न । उशतीरिव मातर ॥

(अथर्व० १। ५। २ ऋक्० १०। ९। २)

'प्रभो! जो आपका आनन्दमय भक्तिरस है, आप हमे वही प्रदान करें। जैसे शुभकामनामयी माता अपनी सतानको सतुष्ट एव पुष्ट करती है, वैसे ही आप (मुझपर) कृपा करें।'

वेदमे ईश्वरसे प्रार्थना की गयी है कि वह हमे सन्मार्गपर लाय, हमारे अन्त करणको उज्ज्वल कर आत्मश्रेयके सर्वोच्च-शिखरका प्राप्त करा दे—

भद्र मन कृणुष्व।

(सामवेद १५६०)

'हे प्रभु! आप हमारे मनको कल्याण-मार्गमें प्रेरित करें।'

वेदोंकी मान्यता है कि तप पूत जीवनसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है—

यस्मात्पक्वादमृतं सबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥

(अथर्व० ४। ३५। ६)

'जो प्रभु-गुण-गान करनवाली गायत्रीद्वारा अपने जीवनकी आत्मशुद्धि कर स्वामी बन गया है जिसने सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाले ईश्वरीय ज्ञान—वेदको पूर्णत धारण कर लिया है, वही मानव वेदज्ञानरूपा पके हुए ओदनके ग्रहण-सदृश मृत्युको पारकर मोक्ष-पद प्राप्त करता है जो मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य है।'

गायत्रीमन्त्रको वेदका सार-सर्वस्व कहा गया है। यह सम्पूर्ण मन्त्रोम सर्वोपरि मन्त्र है। इसमें परब्रह्म परमात्मासे सद्बुद्धि प्रदान करनेकी प्रार्थना की गयी है। कहते हैं कि मात्र गायत्रीमन्त्रके जपसे भी व्यक्तिको वेदके स्वाध्यायका फल प्राप्त हो जाता है, अत स्नान-सध्याके अनन्तर पवित्रावस्थाम यथासाध्य द्विजको गायत्रीमन्त्रका जप अवश्य करना चाहिये। इस मन्त्रके जपमें भगवती गायत्री अथवा अपने इष्टदेवका ध्यान करना चाहिये।

वेद भगवान्का सविधान है। इनम अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनसे शिक्षा प्राप्त कर मनुष्य अध्यात्मके सर्वोच्च शिखरपर पहुँच सकता है। वेदोम इस लोकको सुखमय तथा परलोकको कल्याणमय बनानेकी दृष्टिसे मनुष्यमात्रके लिये आचार-विचारके पालनका विधान तो किया ही गया है, साथ ही आध्यात्मिक साधनाके बाधक अनेक निन्दित कर्मोंस दूर रहनेका निर्देश भी दिया गया है। जैसे—

अक्षैर्मा दीव्य ।

(ऋक्० १०। ३४। १३)

'जूआ मत खलो।'

मा गृध कस्य स्विद्धनम्।

(यजु० ४०। १)

'पराये धनका लालच न करो।'

मा हिंसी पुरुषान्पशूंश्च।

(अथर्व० ६। २)

'मनुष्य और पशुआको मन, कर्म एवं वाणीसे (किसी भी प्रकार) कष्ट न दो।'

देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीरका प्रयोजन सकल दु ख-निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति है। वेदाके प्रति पूर्ण निष्ठा रखकर और उनके बताय गये मार्गपर चलकर ही मानव इस प्राप्त कर सकता है।

मानवमात्रके लिये अन्तिम उपदेश है—'सत्यके मार्गपर चलो —'ऋतस्य पथा प्रेत (यजु० ७। ४५)। यही है वेदका आध्यात्मिक सदेश।

—राधेश्याम खेमका

मन्त्रद्रष्टा आचार्य वसिष्ठ

अध्यात्म-ज्ञान तथा योग, वैराग्य, शम-दम, तितिक्षा, अपरिग्रह, शौच तप स्वाध्याय एव सतोष और क्षमाकी प्रतिमूर्ति आचार्य वसिष्ठके माङ्गलिक नामसे शायद ही कोई अपरिचित होगा। आपको अपनी दीर्घकालीन समाधिरूप साधनामे भगवद्विग्रहरूप वैदिक ऋचाओका साक्षात् दर्शन हुआ था इसीलिये आप 'मन्त्रद्रष्टा' कहलाते हैं। आपकी सदाचारपरायणता तथा कर्मयोगपरायणता न केवल निवृत्तिमार्गके साधकोके लिये ही, अपितु प्रवृत्तिमार्गावलम्बियोंके लिये भी सदासे अनुकरणीय रही है। आपका जीवन-दर्शन आदर्शकी पराकाष्ठाका भी अतिक्रमण कर जाता है, इसी कारण महर्षि वसिष्ठका स्थान सभी मन्त्रद्रष्टा आचार्योंमे अन्यतम स्थान ग्रहण करता है। आपको वेदोंके अनेक सूक्तो एव मन्त्रोके प्रत्यक्ष दर्शन हुए हैं। विशेषरूपसे दस मण्डलोंम विभक्त ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके आप द्रष्टा कहे जाते हैं, इसीलिये ऋग्वदका सप्तम मण्डल 'वासिष्ठमण्डल' कहलाता है।

इस वासिष्ठमण्डलकी विशेषताका वर्णन करनेसे पूर्व महर्षि वसिष्ठजीके दिव्य पावन चरित्रका आख्यान उपस्थित करना आवश्यक प्रतीत होता है। अस्तु, उसे सक्षेपमे प्रस्तुत किया जा रहा है—

महर्षि वसिष्ठजीकी महिमा सर्वोपरि है। वेदा तथा पुराणेतिहास-ग्रन्थोंम महर्षि वसिष्ठजीका मङ्गलमय चरित्र बडे ही समारोहके साथ अनुग्रथित है। कहीं-कहीं इनका आख्यान भिन्न-भिन्न-रूपसे भी वर्णित हुआ है और इन्हें अत्यन्त दीर्घजीवीके रूपमे गुम्फित किया गया है। सप्तर्षियोंम आपका परिगणन है। देवी अरुन्धती आपकी धर्मपत्नी हैं। ये पतिव्रताओकी आदर्श हैं। इनका महर्षि वसिष्ठसे कभी अलगाव नहीं होता। सप्तर्षि-मण्डलम महर्षि वसिष्ठके साथ माता अरुन्धती भी विराजमान रहती हैं। अखण्ड सौभाग्य और उच्चतम श्रेष्ठ दाम्पत्यके लिये महर्षि वसिष्ठ एव अरुन्धतीकी आराधना की जाती है।

इनक आविर्भावकी भी अनेक कथाएँ हैं। कहीं ये ब्रह्माजीके मानस-पुत्र कहीं मित्रावरुणके पुत्र कहीं आग्नेयपुत्र और कहीं प्राणतत्त्वसे उद्भूत कहे गये हैं। ब्रह्मशक्तिक मूर्तिमान्-स्वरूप तथा तप शक्तिक विग्रह महर्षि वसिष्ठजीक अतिदीर्घकालीन साधनाआके प्रतिफलमें उनका अनेक प्रकारसे आविर्भूत होना अस्वाभाविक नहीं, अपितु सहज ही प्रतीत होता है।

जब इनके पिता ब्रह्माजीने इन्ह सृष्टि करनेकी और भूमण्डलम आकर सूर्यवशी राजाओंका पौरोहित्य करनेकी आज्ञा दी, तब इन्होन उस कार्यम हिचकिचाहट प्रकट की। फिर ब्रह्माजीने समझाया कि इसी वशमे आगे चलकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका पूर्णावतार होनेवाला है तब महर्षि वसिष्ठने इस कार्यको सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके बाद इन्होंने सर्वदा अपनेको सर्वभूतहितमें लगाये रखा। जब कभी अनावृष्टि हुई, दुर्भिक्ष पडा, तब इन्हाने अपने तपोबलसे वर्षा करायी और जीवोकी अकालमृत्युसे रक्षा की। इक्ष्वाकु निमि आदि चक्रवर्ती सम्राटोसे अनेक यज्ञ करवाये। जब अपने पूर्वजोंके असफल हो जानेके कारण गङ्गाको लानेम राजा भगीरथको निराशा हुई, तब इन्हींकी कृपासे राजा भगीरथ पतितपावनी गङ्गाको पृथ्वीपर लानेमें सफल हुए और तभीसे गङ्गाका नाम 'भागीरथी' पड गया। राजा दिलीप सतान न होनेस दु खी थ। इन्हींक उपदेशस नन्दिनीकी सेवाके फलस्वरूप उन्ह महाराज रघु-जैसा प्रतापी पुत्र प्राप्त हुआ। राजा दशरथस पुत्रेष्टि-यज्ञ करवाकर इन्हाने भगवान् श्रीरामको इस धराधामपर अवतीर्ण कराया और श्रीरामको अपन शिष्यरूपमें प्राप्त कर इन्हान अपना पुरोहित-जीवन सफल किया। भगवान् श्रीरामक भी य गुरु रह हैं अत इनकी विद्या-बुद्धि योग-ज्ञान सर्वज्ञता तथा आचारनिष्ठताकी कोई सीमा नहीं है। इन्होंने भगवान् श्रीरामको जो उपदेश दिया वह ग्रन्थके रूपम 'योगवासिष्ठ'क नामस प्रसिद्ध हा गया। महर्षि वदव्यास एव महाज्ञानी शुकदेव आचार्य वसिष्ठजीकी ही पुत्र-प्रपौत्र-परम्परामें समादृत हैं।

महर्षि विश्वामित्रका क्षात्रबल इनक ब्रह्मतजक सामन अस्तित्वविहीन हा गया। इनम क्रोध लशमात्र भी नहीं है क्षमा तो इनक जीवनमें सब प्रकारस अनुस्यूत है। जिस समय विश्वामित्रन इनक सौ पुत्राका सहार कर दिया उस समय भी वे अविचल ही बन रह, सामर्थ्य रहनपर भी उन्होंने विश्वामित्रक किसी प्रकारक अनिष्टका चिन्तन नहीं किया

प्रत्युत क्षमा-धर्मका ही परिपालन किया।

एक बार बात-ही-बातमें विश्वामित्रजीसे इनका विवाद छिड़ गया कि तपस्या बड़ी है या सत्सग। वसिष्ठजीका कहना था कि सत्सग बड़ा है और विश्वामित्रजीका आग्रह था कि तपस्या बड़ी है। इस विवादका निर्णय करानेके लिये अन्तमें दोनो शेषभगवान्‌के पास पहुँचे। सब बातें सुनकर शेषभगवान्‌ने कहा—'भाई अभी तो मेरे सिरपर पृथ्वीका भार है। आप दोनामेंसे कोई एक थोडी देरके लिये इसे ले ले तो मैं निर्णय कर सकता हूँ।' विश्वामित्र अपनी तपस्याके घमडमें फूले हुए थे, उन्होने दस हजार वर्षकी तपस्याके फलका संकल्प किया और पृथ्वीको अपने सिरपर धारण करनेकी चेष्टा की। पृथ्वी काँपने लगी, सारे ससारमें तहलका मच गया। तब वसिष्ठजीने अपने सत्सगके आधे क्षणके फलका सकल्प करके पृथ्वीको धारण कर लिया और बहुत देरतक धारण किये रह। अन्तमें जब शेषभगवान् फिर पृथ्वीको लेने लगे, तब विश्वामित्र बोले—'अभी आपने निर्णय सुनाया ही नहीं।' शेषभगवान् हँस पडे। उन्होंने कहा—'निर्णय तो अपने-आप हो गया। आधे क्षणके सत्सगकी बराबरी हजारा वर्षकी तपस्या नहीं कर सकी।' इस प्रकार महर्षि वसिष्ठजीका माहात्म्य सब प्रकारसे निखर उठनेपर भी उनमें लेशमात्र अभिमान प्रविष्ट नहीं हा पाया था।

महर्षि वसिष्ठ सबके हितचिन्तन एव कल्याणकी कामनाम लगे रहते हैं। इनका अपना कोई स्वार्थ नहीं, सदा परमार्थ-ही-परमार्थ। भगवद्भक्तोंमें आपकी गणना प्रथम पंक्तिमें होती है। आपकी गोसेवा एव गाभक्ति सभी गोभक्तोंके लिये आदर्शभूत रही है। कामधेनुका पुत्री नन्दिनी नामक गौ आपके आश्रममें सदा प्रतिष्ठित रही। अरुन्धतीजोके साथ आप नित्य उसकी सेवा-शुश्रूषा किया करते थ और अनन्त शक्तिसम्पन्न हामधेनु नन्दिनाके प्रभावसे आपको दुर्लभ पदार्थ भी सदा सुलभ रहता था।

महर्षि वसिष्ठ सूर्यवंशी राजाओंके कुलपुरोहित रहे। महाराज निमिने एक यज्ञमें इन्हें वरण किया था, परतु ये इसके पहले इन्द्रके यज्ञमें वृत हो चुके थे इसलिये राजा निमिको रुकनेके लिये कहकर ये देवलोक चले गये। यहाँ यज्ञ सम्पन्न कराकर लौटे तो सुना कि अगस्त्य आदिसे निमिने यज्ञ करा डाला। इसपर क्रुद्ध होकर इन्होंने निमिको चेतनाशून्य हो जानेका शाप दे दिया। इसपर निमिन भी इन्हें ऐसा ही शाप दे डाला। अन्तम ब्रह्माके उपदेशसे ये मित्रावरुणके पुत्रके रूपमें पुन उत्पन्न हुए और महाराज इक्ष्वाकुने अपने वशके हितार्थ इन्हें पुन कुलपुरोहित बनाया। गोत्रकार ऋषियोंमें महर्षि वसिष्ठका गोत्र विशेष महत्त्व रखता है। इस प्रकार महर्षि वसिष्ठका जीवन-दर्शन तथा उनका कृतित्व सभीके लिये मङ्गलकारी है।

वेदोंमें जो उनका चरित्र प्राप्त होता है, उसमें बताया गया है कि महर्षि वसिष्ठ इन्द्रादि देवोंके महान् भक्त रहे हैं और देवताओंसे उनका नित्य साहचर्य रहा है। ये अश्विनीकुमारोंके सदा कृपापात्र बने रहे (ऋक्० १। ११२। ९)। भगवान् अग्निदेवकी स्तुतियासे इन्हे बहुत आनन्द प्राप्त होता रहा (ऋक्० ७। ७। ७)। ऋग्वेदम बताया गया है कि महर्षि वसिष्ठ हजार गायोंके अधिपति और विद्या तथा कर्ममें महान् थे—

इदं वच शतसा संसहस्रमुदग्नये जनिषीष्ट द्विबर्हा ।

(ऋक्० ७। ८। ६)

इस मन्त्रभागके सायणभाष्यम लिखा है— शतसा गवां शतस्य संभक्ता संसहस्रं गवां सहस्रेण च संयुत द्विबर्हा द्वाभ्यां विद्याकर्मभ्यां बृहन् वसिष्ठ द्वयो स्थानयोर्लोकयो महान् वा।

अग्निदेवके साथ ही इन्होंने इन्द्रदेवकी भी स्तुतियाँ की हैं। ऋग्वेद (७। ३३। २)-में बताया गया है कि भगवान् इन्द्र दूसरेका यज्ञ छोड़कर इनके यज्ञम आया करते थे। इन्द्रकी कृपासे वसिष्ठ-पुत्राने अनायास ही सिन्धु नदीको पार किया था। वसिष्ठ और पराशरके प्राणोंके शत्रु अनेक राक्षस थे किंतु इन्द्रकी उपासनाके कारण इनको कोई हानि नहीं हा सकी थी (ऋक्० ७। १८। २१)। इन्हींके मन्त्र-बलसे दाशराज-युद्धमें इन्द्रन सुदास राजाकी रक्षा की थी। तृत्सुनरेश राजा सुदासके पुरोहित महर्षि वसिष्ठ थे और दूसरे दलके नेता महर्षि विश्वामित्र थे जिसम दस राजाओंका संघ था। दस राजाओंकी सेना जो महर्षि विश्वामित्रकी शक्तिसे सम्पन्न थी इस युद्धमें पराजित हो [illegible] राजा होनेके कारण ही यह [illegible] है। इसम राजा सुदासको वि[illegible] महर्षि वसिष्ठ थे। [illegible]

सतम्[illegible]

हो अ[illegible]

अपरिग्रह और त्याग-वैराग्यके उपासक हैं, वहीं वे युद्धनीति एव अस्त्रविद्याके भी महनीय आचार्य हैं।

ऋग्वेदादिमे महर्षि वसिष्ठके बारह पुत्रोका उल्लेख है जो मन्त्रद्रष्टा भी कहे गये हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—मन्यु, उपमन्यु, व्याघ्रपात्, मृळीक वृषगण प्रथ इन्द्र-प्रमति, द्युम्नीक, चित्रमहा , कर्णश्रुत्, वसुक्र तथा शक्ति। इनके साथ ही चार प्रपौत्र हैं—वसुकृद् वासुक्र वसुकर्ण वासुक्र पराशर शाक्त्य तथा गौरवीति शाक्त्य। ये भी मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं।

महर्षि वसिष्ठके पुत्रोंने योगबलसे समाधि-दशामे वसिष्ठके जन्म-रहस्यका ज्ञान प्राप्त किया था। ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके ३३वे सूक्तके द्रष्टा ऋषि वसिष्ठके पुत्रगण हैं। इसमें महर्षि वसिष्ठके आविर्भावके विषयम उनके पुत्रगण उनकी महिमा निरूपित करते हुए कहते हैं—

हे वसिष्ठ। देह धारण करनेके लिये विद्युत्के समान अपनी ज्योतिका त्याग करते हुए तुम्हे मित्र और वरणने देखा था, उस समय तुम्हारा एक जन्म हुआ। मूल मन्त्र इस प्रकार है—

विद्युतो ज्योति परि सजिहान मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत् ते जन्मोतैक वसिष्ठाऽगस्त्यो यत् त्वा विश आजभार॥
(ऋक्० ७। ३३। १०)

इसी प्रकार आगे मन्त्रामे कहा गया है कि वसिष्ठ! तुम मित्र और वरुणके पुत्र हो। ब्रह्मन्! तुम उर्वशीके मनस उत्पन्न हुए हो। यथा—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जात ।
(ऋक्० ७। ३३। ११)

यज्ञमें दीक्षित मित्र और वरुणने स्तुतिद्वारा प्रार्थित हाकर कुम्भ (वसतीवर कलश)-में एक साथ ही शक्ति प्रदान किया था। उसी कुम्भसे वसिष्ठ और अगस्त्यका प्रादुर्भाव हुआ। मन्त्रमें कहा गया है—

सत्रे ह जाताविषिता नमोभि कुम्भे रेत सिषिचतु समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥
(ऋक्० ७। ३३। १३)

ऋग्वेदका सप्तम मण्डल और महर्षि वसिष्ठ

सम्पूर्ण ऋग्वेद दस मण्डलाम विभक्त है। मण्डलाके अन्तर्गत सूक्त हैं और सूक्ताक अन्तर्गत अनेक ऋचाएँ समाहित हैं। प्रत्यक मण्डलक द्रष्टा ऋषि भिन्न-भिन्न हैं। तदनुसार सम्पूर्ण सप्तम मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि वसिष्ठ तथा उनके पुत्रगण हैं। सप्तम मण्डलमे कुल १०४ सूक्त हैं, जिनमें देवस्तुतियाँ तथा अनेक कल्याणकारी बाताका सनिवेश हुआ है। मुख्य-रूपसे अग्नि इन्द्र, वरुण अश्विनी मित्रावरुण द्यावापृथिवी आदित्य, विश्वेदेव, वास्तोष्पति सविता भग तथा ऊषा आदि देवताआकी स्तुतियाँ की गयी हैं। इन सभी मन्त्रोंके द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ ही हैं।

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके अध्ययनसे कुछ विशेष बाते ज्ञात होती हैं, जिनसे महर्षि वसिष्ठजीके लोकोपकारी भावका परिज्ञान होता है। यहाँ कुछ प्रकरणाको दिया जा रहा है—

देवता सभीका कल्याण कर

महर्षि वसिष्ठ अत्यन्त उदारचेता मनीषी रह हैं। उन्होने अपने अभ्युदयकी प्रार्थना दवताआसे नहीं की, बल्कि वे सदा समष्टिके हितचिन्तन समष्टिके कल्याणकी कामना करते रहे। गीताका 'सर्वभूतहिते रता 'का सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शनमें परिव्याप्त रहा। महर्षि वसिष्ठद्वारा दृष्ट सप्तम मण्डलके अधिकाश सूक्ताके मन्त्रामे एक पद आवृत होता है जो इस प्रकार है—

'यूय पात स्वस्तिभि सदा न '॥

इसका तात्पर्य है कि 'हे देवताओ! आप हम लोगोका सदा कल्याण करते रहे।' आचार्य सायणने 'स्वस्ति शब्दका अर्थ शाश्वत कल्याण किया है—'अविनाशि मङ्गलम्।' ऐसा मङ्गल जो अविनाशी हो, कभी नष्ट न हानवाला हा क्षणिक न हो। अविनाशी कल्याण तो केवल पारमार्थिक अभ्युदय ही हो सकता है। इसम लौकिक कल्याणको क्षीण मानते हुए भगवत्सानिध्यकी ही अभिलाषा रखी गयी है इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महर्षि वसिष्ठ देवताआसे प्रार्थना करते हैं कि ससारके चराचर सभी प्राणा परमार्थके पथिक बने।

ऋग्वेदक सप्तम मण्डलक प्रथम सूक्तम २५ मन्त्र हैं जिनमें मैत्रावरुणि वसिष्ठद्वारा अग्निदवसे शुद्ध-बुद्धिकी कामना वाणीमें परिष्कार, योगक्षेम सुख-शान्ति आर दीर्घ आयुकी प्रार्थना की गया है। सप्तम मण्डलम प्रथम सूक्तस ही 'यूय पात स्वस्तिभि सदा न ' यह पद प्रयुक्त है। यह मन्त्र इस प्रकार है—

नू मे ब्रह्माण्यग्न उच्छशाधि त्व देव मघवद्भ्य सुषूद ।
रातौ स्यामोभयास आ त यूय पात स्वस्तिभि सदा न ॥
(ऋक्० ७। १। २०)

—इस मन्त्रमें अग्निदेवसे अखण्ड धनकी अभिलाषा की गयी है, ताकि उस धनसे हम देवपूजा, यज्ञ तथा लोकोपकारका कार्य कर सकें।

इसी प्रकार सप्तम मण्डलमे 'यूय पात स्वस्तिभि सदा न' यह ऋचाश लगभग सौंस भी अधिक बार आया है, इससे महर्षि वसिष्ठका सर्वभूत-हित-चिन्तन स्पष्ट होता है।

ऋग्वैदिक शान्ति-सूक्त (कल्याण-सूक्त)

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका ३५ वाँ सूक्त 'शान्ति-सूक्त' कहलाता है। इन वैश्वदेवी ऋचाओका महानाम्नीव्रतमें पाठ होता है। इस सूक्तके पाठसे शान्ति कल्याण—मङ्गल तथा सब प्रकारसे देवताओका अनुग्रह प्राप्त होता है। इस सूक्तमें १५ ऋचाएँ हैं, जिनम महर्षि वसिष्ठने इन्द्र अग्नि, वरुण, भग, अर्यमा, धाता अश्विनी द्यावापृथिवी, वसु, रुद्र, सोम, सूर्य, अदिति, मरुत्, विष्णु, पर्जन्य विश्वेदेव सरस्वती, गौ, ऋभु, पितर, अजैकपात् तथा अहिर्बुध्न्य आदि देवताओंसे शान्तिकी प्रार्थना की है। सूक्तका प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

श न इन्द्राग्नी भवतामवोभि श न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शमिन्द्रासोमा सुविताय श यो श न इन्द्रापूषणा वाजसातौ॥

(ऋक्० ७। ३५। १)

—इसका भाव यह है कि इन्द्राग्नि, इन्द्रावरुण इन्द्रासोम तथा इन्द्रापूषा आदि देवता हमारे लिये शान्तिकारक, मङ्गलकारक होवें, सब प्रकारसे हमारी रक्षा करें हम सुख-कल्याण प्रदान करें।

इस सूक्तकी अन्तिम ऋचा (१५)-मे भी 'यूय पात स्वस्तिभि सदा न यह पद आया है।

सप्तम मण्डलका रोग-निवारक भग-सूक्त

सप्तम मण्डलका ४१ वाँ सूक्त 'भग-सूक्त' कहलाता है। इस सूक्तमे ७ ऋचाएँ हैं। जिनमें महर्षि वसिष्ठने भगदवतासे सभी प्रकारक रोगोंस मुक्ति पानेकी प्रार्थना की है। 'ऋग्विधान' (२। २५)-म बतलाया गया है कि इस सूक्तका श्रद्धापूर्वक पाठ करनेसे असाध्यसे भी असाध्य रोगोंसे मुक्ति हो जाती है और दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। महर्षियोंकी उक्ति है—

निवेष्टकामो रोगार्तो भगसूक्त जपेत् सदा।
निवेशं विशति क्षिप्र रोगैश्च परिमुच्यते॥

भग-सूक्तका आदिम मन्त्र इस प्रकार है—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्र हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भग पूषण ब्रह्मणस्पतिं प्रात सोममुत रुद्रं हुवेम॥

(ऋक्० ७। ४१। १)

वास्तोष्पति-सूक्त

वास—निवास-स्थान, गृह आदिके अधिष्ठाता देव वास्तुदेवता अथवा वास्तोष्पति हैं। जिस भूमिपर मनुष्यादि प्राणी वास करते हैं उसे 'वास्तु' कहा जाता है। शुभ वास्तुमें रहनेसे शुभ-सौभाग्य एवं समृद्धिकी अभिवृद्धि होती है और अशुभ वास्तुमें रहनेसे इसके विपरीत फल होता है। जिस स्थानपर गृह प्रासाद, यज्ञमण्डप, ग्राम, नगर आदिकी स्थापना करनी हो उसक नैर्ऋत्यकोणमें वास्तुदेवका निर्माण करना चाहिये। वास्तुपुरुषकी प्रतिमा स्थापित कर पूजन-हवन किया जाता है। ऋग्वेदके अनुसार वास्तोष्पति साक्षात् परमात्माका नाम है, क्योंकि ये विश्वब्रह्माण्डरूपी वास्तुक स्वामी हैं। ऋग्वदके सप्तम मण्डलका ५३वाँ सूक्त (तीन मन्त्र) तथा ५४वें सूक्तका प्रथम मन्त्र वास्तुदेवतापरक है। वास्तुदेवताका मुख्य मन्त्र इस प्रकार है—

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् त्स्वावेशो अनमीवो भवा न।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व श नो भव द्विपद शं चतुष्पदे॥

(ऋक्० ७। ५४। १)

—इस ऋचाके द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ हैं। मन्त्रके भावमें वे कहते हैं—हे वास्तुदव! हम आपके सच्चे उपासक हैं, इसपर आप पूर्ण विश्वास करें। तदनन्तर हमारी स्तुति-प्रार्थनाओंको सुनकर आप हम सभी उपासकोंको आधि-व्याधिसे मुक्त कर द और जो हम अपने धन-एश्वर्यकी कामना करते है, आप उसे भी पूर्ण कर दें। साथ ही इस वास्तुक्षेत्र या गृहमें निवास करनवाल हमारे स्त्री-पुत्रादि परिवार-परिजनोंक लिये कल्याणकारक हा तथा हमारे अधीनस्थ गौ अश्वादि सभी चतुष्पद प्राणियोंका भी आप कल्याण कर।

मृत्युनिवारक त्र्यम्बक-मन्त्र

मृत्युनिवारक त्र्यम्बक-मन्त्र जो मृत्युञ्जय-मन्त्र भी कहलाता है, उस महर्षि वसिष्ठने ही हमें प्रदान किया है।

मन्त्र इस प्रकार है—

त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(ऋक्० ७। ५९। १२)

आचार्य शौनकने ऋग्विधानमें इस मन्त्रके विषयमे बतलाया है कि नियमपूर्वक व्रत तथा इस मन्त्रद्वारा पायसके हवनसे दीर्घ आयु प्राप्त होती है, मृत्यु दूर हो जाती है तथा सब प्रकारका सुख प्राप्त होता है। इस मन्त्रके अधिष्ठाता देव भगवान् शङ्कर हैं।

अनावृष्टि दूर करनेका उपाय

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका १०१वाँ सूक्त 'पर्जन्य-सूक्त' है। इसमें ६ ऋचाएँ हैं। आचार्य शौनकने बताया है कि सूर्याभिमुख हाकर इन ६ ऋचाओंके पाठसे शीघ्र अनावृष्टि दूर हो जाती है और यथेच्छ वर्षा होती है जिससे सभी वनस्पतियो तथा ओषधियोका प्रादुर्भाव होता है और सब प्रकारका दुर्भिक्ष दूर हो जाता है तथा सुख-शान्ति प्राप्त होती है—

अनश्नतैतज्जप्तव्य वृष्टिकामेन यत्नत ।
पञ्चरात्रेऽप्यतिक्रान्ते महतीं वृष्टिमाप्नुयात्॥

(ऋग्विधान २। ३२७)

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका अन्तिम १०४ वाँ सूक्त 'रक्षोघ्न-सूक्त' है जिसमें महर्षि वसिष्ठने इन्द्र देवतासे सब प्रकारसे रक्षा करनेकी प्रार्थना की है, न केवल दुष्टोंसे अपितु काम, क्रोध, लोभ आदि जो बुराइयाँ हैं उनसे भी दूर रहनेकी प्रार्थना की है (ऋग्वेद ७। १०४। २२)।

इसके साथ ही महर्षि वसिष्ठजीने सत्य अहिसा मैत्री, सदाचार, लोककल्याण, विवेकज्ञान पवित्रता, उदारता शौच, सतोष तप तथा देवताओं पितरा माता-पिता और गोभक्तिका उपदेश अनेक मन्त्रामे दिया है। ऋत (नैतिकता और सत्य)-की महिमाको महर्षिने विशेष महत्त्व दिया है, उन्होने देवताओंको ऋतके पथपर चलनेवाला तथा ऋतको जाननेवाला कहा है—

'ऋतज्ञा (ऋक्० ७। ३५। १५) तथा 'ऋतायान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विष (ऋक्० ७। ६६। १३)।

साथ ही महर्षिने अभिलाषा की है कि हम लोग सत्यके पथका अनुसरण करते हुए सौ वर्ष (दीर्घ समय)-तक जीवित रहे और सौ वर्षतक कल्याण-ही-कल्याण देखे—

पश्येम शरद शत जीवेम शरद शतम्॥

(ऋक्० ७। ६६। १६)

महर्षिका कृतित्व

इस प्रकार महर्षि वसिष्ठका दिव्य चरित्र सब प्रकारसे सन्मार्गकी प्रेरणा देता है। ऋग्वेदके अन्य मण्डलों तथा यजुर्वेद, सामवेद एव अथर्ववेदमें भी उनके द्वारा दृष्ट मन्त्र प्राप्त होते हैं। न केवल उन्होने वैदिक ऋचाओका ही दर्शन किया अपितु उन्होंने धर्माधर्म तथा कर्तव्याकर्तव्यके लिये धर्मशास्त्रीय सदाचार-मर्यादाएँ भी नियत की हैं, जो उनके द्वारा निर्मित 'वसिष्ठधर्मसूत्र' तथा 'वसिष्ठस्मृति' में सगृहीत हैं। इनके उपदेश बडे ही मार्मिक उपयोगी तथा शीघ्र कण्ठस्थ होने योग्य हैं। धर्मकी परिभाषा करते हुए महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि श्रुति (वेद) तथा स्मृति (धर्मशास्त्र)-मे जो विहित आचरण बतलाया गया है, वह धर्म है। यथा—

'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्म ' (वसिष्ठ० १। ३)

धर्माचरणकी महिमा बतलाते हुए वे कहते हैं—

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्य वदत नानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्॥

(वसिष्ठ० ३०। १)

—इसका भाव यह है कि धर्मका ही आचरण करो अधर्मका नहीं। सदा सत्य ही बोलो असत्य कभी मत बोलो। दूरदर्शी बनो, सकीर्ण न बनो उदार बनो, जो पर-परात्पर (दीर्घ) तत्त्व है उसीपर सदा दृष्टि रखो। तदतिरिक्त अर्थात् परमात्मासे भिन्न मायामय किसी भी वस्तुपर दृष्टि मत रखो। इसी प्रकार वसिष्ठ-स्मृतिके उपदेश बडे ही सुन्दर हैं और भक्ति करने तथा भक्त बननेके उपाय भी उसमें निर्देशित किये गय हैं।

आचार्य वसिष्ठका यागवासिष्ठ ग्रन्थ ता सर्वविश्रुत है ही उनका अध्यात्मज्ञान सभा ज्ञानार्म सर्वोपरि है। इससे महर्षिकी ब्रह्मनिष्ठता स्पष्ट व्यक्त होती है।

इस प्रकार महर्षि वसिष्ठन वैदिक ऋचाओंमें जिन उपदशोंका अनुभव किया उनका इतिहास-पुराणादिमें विस्तार कर उन्हें सर्वसाधारणके लिये सुलभ करा दिया। महर्षि वसिष्ठका ससारपर महान् उपकार है। एस युगद्रष्टा महर्षिको बार-बार प्रणाम है।

वैदिक सभ्यताके प्रवर्तक मनु

प्रत्येक कल्पके अन्तमें नैमित्तिक प्रलय हुआ करता है। गत कल्पके अन्तमें भी इस प्रकारका प्रलय होनेसे एक सप्ताह-पूर्व द्रविड देशके महाराज सत्यव्रत केवल जल पीकर शरीर-यात्राका निर्वाह करते हुए श्रीभगवान्‌की आराधना कर रहे थे। एक दिन कृतमाला नदीके तटपर उनके जीवसौहृदभावसे प्रसन्न होकर श्रीभगवान्‌ने उनसे कहा—'हे राजर्षे! आजसे सातवें दिन जब सम्पूर्ण त्रिलोकी प्रलय-जलमें विलीन होने लगेगी तब तुम्हारे पास एक बहुत बडा नौका उपस्थित होगी। तुम सप्तर्षियोंकी सहायतासे वनस्पतियोंके बीजोंका उसमें संग्रह कर लेना। जबतक प्रलय-निशा रहेगी, तबतक तुम उस नौकामें रहकर मत्स्यरूपधारी मेरे साथ प्रश्नोत्तरका आनन्द लेना।' राजाने ऐसा ही किया। तदनन्तर ब्राह्मी निशाके अवसानमें ब्राह्म दिनका आरम्भ हुआ। लोकपितामह ब्रह्माजीके एक दिनमें चौदह मनु हुआ करते हैं—

यत्र मन्वन्तराण्याहुश्चतुर्दश पुराविद ॥

(श्रीमद्भा० ८। १४। ११)

वर्तमान दिनका नाम है श्वेतवाराहकल्प। इसमें आजकल जिन सातवें मनुका समय चल रहा है, उनका नाम है श्राद्धदेव। ये श्राद्धदेव पूर्वकल्पवाले महाराज सत्यव्रत हैं—

स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुत ।
विष्णो प्रसादात् कल्पेऽस्मिन्नासीद् वैवस्वतो मनु ॥

(श्रीमद्भा० ८। २४। ५८)

श्राद्धदेव विवस्वान्‌के पुत्र हैं—

(अ) मनुर्विवस्वत पुत्र श्राद्धदेव इति श्रुत ।

(श्रीमद्भा० ८। १३। १)

(आ) योऽसावस्मिन् महाकल्पे तनय स विवस्वत ।
श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पित ॥

(श्रीमद्भा० ८। २४। ११)

श्राद्धदेवके दस पुत्र हुए, जिनमें ज्येष्ठका नाम था इक्ष्वाकु जो भारतीय इतिहासके प्रसिद्ध वंश-प्रवर्तक हुए हैं।

अर्जुनसे श्रीभगवान्‌ने कहा था कि प्राचीन कालमें मैंने इस योगका उपदेश विवस्वान्‌को दिया था। इन्हीं विवस्वान्‌ने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको दिया था। इस प्रकरणमें गीतामें जिन मनु महाराजका स्मरण किया गया है वे ये ही श्राद्धदेव हैं।

ये अपने समयके बहुत बड़े समाज-व्यवस्थापक हुए हैं—इतने बडे कि आजतक लाखों वर्ष बीत जानेपर भी इनकी बनायी व्यवस्था वेदानुयायी हिंदूमात्रके लिये सम्मान्य है। इनकी व्यवस्थामें यों तो सैकडों माननीय विषय हैं, तथापि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था अद्वितीय हैं। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थोंको इनकी व्यवस्थामें समुचित स्थान मिला है। मानव-जीवनको परिष्कृत करनेके उद्देश्यसे उन्होंने सोलह संस्कारोंका विधान किया और गृहस्थके लिये पञ्चमहायज्ञ (स्वाध्याय पितृतर्पण, हवन, प्राणिसेवा और अतिथि-सेवा)-का विधान तो विश्वमें सर्वत्र शान्तिप्रसारका मूलमन्त्र ही है।

भारतीय समाजको आदर्शरूप देनेके लिये मनुने एक शास्त्र (धर्मशास्त्र) उन दिनोंकी सूत्रशैलीमें बनाया जिसका एक संस्करण 'मानव-धर्मसूत्र'के नामसे अब भी प्रचलित है। उसी सूत्रराशिके उपदेशको भृगुने (नारद-स्मृतिके अनुसार सुमति भार्गवने) लगभग ढाई हजार अनुष्टुप् छन्दोंका रूप देकर बारह अध्यायोंमें विभक्त कर दिया था जो कि आजकल 'मनुस्मृति'के नामसे विदित है।

मनु आचार (सदाचार)-पर बहुत जोर देते हैं—

आचार परमो धर्म श्रुत्युक्त स्मार्त एव च।

(मनु० १। १०८)

यही 'आचार' वाल्मीकिके महाकाव्य रामायणका 'चरित्र' है और व्यासके इतिहास महाभारतका 'धर्म' है।

प्रत्येक मनुष्य [विशेषकर भारतीय]-को [illegible] कृतज्ञ होना चाहिये। मनुकी व्य[illegible] राष्ट्र अपना लें तो कितना अच्छा [illegible] विधान इतना अच्छा है [illegible] ही कहा है—'मनुक्त [illegible] है। मनुने जो कुछ

य कश्चित्
स सर्वोऽभिहितो

इस प्रकार [illegible] करनेवालोंमें मनुका

वेद और वेदव्यास

भारतीय सस्कृतिके प्राणतत्त्व वेद ही हैं, यह आर्यमेधाने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। भारतीय धर्म दर्शन अध्यात्म आचार-विचार रीति-नीति विज्ञान-कला—ये सभी वेदसे अनुप्राणित हैं। जीवन और साहित्यकी कोई विधा ऐसी नहीं है जिसका बीज वैदिक वाङ्मयम न मिले। समष्टि-रूपमें समग्र भारतीय साहित्य, जन-जीवन एव सभ्यताकी आधारभूमि यदि वेदाको ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

वेदोंका प्रादुर्भाव कब किसके द्वारा हुआ ? इस सम्बन्धमें स्मृति-वचन ही प्रमाण है—

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'

अर्थात् वेदवाणी अनादि अनन्त और सनातन है एव ब्रह्माजीद्वारा उसे लोकहितार्थ प्रकट किया गया है।

वेद कितने हैं ? इस सम्बन्धमें तैत्तिरीय (३।१०।११३)-के कथनको यदि अधिमान दिया जाय तो मानना होगा कि वेदका कोई अन्त नहीं है—'अनन्ता वै वेदा '। वस्तुत ईश्वरीय ज्ञानकी कोई सीमा हो ही नहीं सकती फिर भी अपने-अपने दृष्टिकोणसे इस सम्बन्धमें मन्थन कर कुछने वेदाकी सख्या तीन तथा कुछने चार प्रतिपादित की है। अमरकोषमे प्रथम काण्डके शब्दादिवर्गमें वेदको त्रयी कहा गया है—'श्रुति स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी' तथा 'स्त्रियामृक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी' अर्थात् ऋक्, साम और यजु—वेदके तीन नाम हैं और तीनोंका समूह वेदत्रयी कहलाता है।

उपर्युक्त त्रयीके विपरीत महाकाव्यमे वेदोकी सख्या चार बतायी गयी है—'चत्वारो वेदा साङ्गा सरहस्या । इसके अतिरिक्त चार सख्याके प्रतिपादक अन्य प्रमाण भी इस प्रकार उपलब्ध होत हैं—

१ ऋचा त्व पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्र त्वो गायति शक्करीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रा विमिमीत उ त्व ॥
(निरुक्त १। २)

२ अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस । (बृ० उ० २। ४। १०)

३ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेद ०।
(मुण्डक० १। १। ५)

४-चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवदा ब्रह्मवेद । (गो० ब्रा० १। २। १६)

५-ऋच सामानि जज्ञिरे। छन्दाꣳसि जज्ञिरे॥
तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ (यजु० ३१। ७)

इस प्रकार उक्त प्रमाणोमे चार वेदाका स्पष्ट उल्लेख है। कहा जाता है कि वद पहले एक ही था वेदव्यासजीन उसके चार भाग किये थे। महाभारतमे इस ऐतिहासिक तथ्यका उद्घाटन इस प्रकार किया गया है—

यो व्यस्य वेदाश्चतुरस्तपसा भगवानृषि ।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात् कृष्णत्वमेव च॥

अर्थात् 'जिन्होन निज तपके बलस वेदका चार भागाम विस्तार कर लोकमें व्यासत्व-सज्ञा पायी और शरीरके कृष्णवर्ण होनेके कारण कृष्ण कहलाये।' उन्हीं भगवान् वेदव्यासने ही वेदको चार भागामे विभक्त कर अपने चार प्रमुख शिष्योंको वैदिक सहिताआका अध्ययन कराया। उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य पैलका ऋग्वेद वैशम्पायनको यजुर्वेद जैमिनिको सामवद तथा सुमन्तुका अथर्ववेद-सहिताका सर्वप्रथम अध्ययन कराया था। महाभारत-युद्धके पश्चात् वेदव्यासजीने तीन वर्षके सतत परिश्रमके उपरान्त श्रेष्ठ काव्यात्मक इतिहास 'महाभारत' की रचना की थी। यह महाभारत पञ्चम वेद कहलाता है और इसे व्यासजीने अपने पञ्चम शिष्य लोमहर्षणका पढाया था, जैसा कि महाभारतके अन्त साक्ष्यभूत इन श्लोकासे विदित होता है—

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।
सुमन्तु जैमिनि पैलं शुक चैव स्वमात्मजम्।
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च।
सहितास्तै पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिता ॥
(महा० आदि० ६३। ८९-९०)

त्रिभिर्वर्षै सदोत्थायी कृष्णद्वैपायना मुनि ।
महाभारतमाख्यानं कृतयानिदमद्भुतम्॥
(महा० आदि० ६२। ५२)

भगवान् वदव्यासन वदको चार भागोंम विभक्त क्यों किया ? इसका उत्तर श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—

तत सप्तदशे जात सत्यवत्या पराशरात्।
चक्र वदतरा शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधस ॥
(१। ३। २१)

अर्थात् महर्षि पराशरद्वारा सत्यवतीसे उत्पन्न वेदव्यासजीने कलियुगमें मानवकी अल्पबुद्धि देखकर (अर्थबोधकी सुगमताकी दृष्टिसे) वेद-रूपी वृक्षकी चार शाखाएँ कर दीं। महाभारतके व्याजसे वेदव्यासजीने श्रुतिका अर्थ जन-सामान्यके लिये बोधगम्य बनाया—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शित।

महर्षि वेदव्यास भारतीय ज्ञान-गङ्गाके भगीरथ माने जाते हैं। इन्होने भगीरथकी ही भाँति भारतीय लोक-साहित्यके आदियुगमें हिमालयके बदरिकाश्रमम अखण्ड समाधि लगाकर अध्यात्म, धर्मनीति और पुराणकी त्रिपथगाका पहले स्वय साक्षात्कार कर फिर साहित्य-साधनाद्वारा देशके आर्षवाङ्मयको पावन बनाया एव लोक-साहित्यको गति प्रदान की। अनन्तके उपासक वेदव्यासजीकी साहित्य-साधनाने उन्हे भारतीय ज्ञानका अनन्त महिमान्वित प्रतीक बना दिया है। श्रीवेदव्यासजी अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष थे। विद्वानोंकी परीक्षाभूमि 'श्रीमद्भागवत', समुज्ज्वल भावरत्नाका निधि 'महाभारत' तथा 'ब्रह्मसूत्र' एवं 'अष्टादश पुराण' आदि उनकी महत्ताके प्रबल समर्थक हैं। इसीलिये व्यासजीकी प्रतिभाकी स्तुतिम कहा गया है कि जीवनके चतुर्विध पुरुषार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाला जा कुछ ज्ञान महाभारतमे है, वही अन्यत्र है, जो वहाँ नहीं है वह कहीं और भी नहीं मिलेगा—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥
(महा० आदि० ६२। ५३)

व्यासजीका जन्म भी यमुनाके ही किसी द्वीपमें हुआ था, इसीलिये इन्हे द्वैपायन कृष्णवर्ण शरीरके कारण कृष्ण या कृष्णद्वैपायन बदरीवनमे निवासके कारण बादरायण तथा वेदाका विस्तार करनेके कारण 'वेदव्यास' कहा जाता है। ये दिव्य तेज सम्पन्न तत्त्वज्ञ एव प्रतिभाशाली थे इसीलिये इनकी स्तुति करते हुए कहा गया है—

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्ण
प्रज्वालितो ज्ञानमय प्रदीप॥

अर्थात् खिले हुए कमलकी पँखुड़ीके समान बडे-बडे नेत्रावाले तथा विशाल बुद्धिवाले हे व्यासदेव! आपने अपने महाभारतरूपी तेलके द्वारा दिव्य ज्ञानमय दीपकका प्रकाशित किया है, आपको नमस्कार है।

इनकी असीम प्रभविष्णुता परिलक्षित कर इन्हें त्रिदेवाकी समकक्षता प्रदान की गया है—

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरि।
अभाललोचन शम्भुर्भगवान् बादरायण॥

अभिप्राय यह कि भगवान् बादरायण चतुर्मुख न होते हुए भी ब्रह्मा, दो (ही) भुजाओंवाले होते हुए भी दूसरे विष्णु और त्रिनेत्रधारी न होते हुए भी साक्षात् शिव ही हैं।

भागवतकारके रूपमें इनका वर्णन करते हुए जयाशीके लिये इनके अभिवादनकी अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—

नारायणं नमस्कृत्य नर चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यास ततो जयमुदीरयेत्॥
(श्रीमद्भा० १। २। ४)

इस पुराण-पुरुषकी परम्परा ब्रह्मासे प्रारम्भ होती है और फिर क्रमश वसिष्ठ, शक्ति पराशर तथा व्यासका नाम आता है—

व्यास वसिष्ठनप्तार शक्तेः पौत्रमकल्मषम्।
पराशरात्मज वन्दे शुकतात तपोनिधिम्॥

महापुरुषका व्यक्तित्व इतना महान् होता है कि उसे किसी सीमामें आबद्ध नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि व्यासजीके कार्यक्षेत्रकी सीमा समग्र भारतमें प्रसृत दृष्टिगोचर होती है।

भारतीय जनजीवनम व्यासजी अजरामर-रूपमें प्रतिष्ठित हैं। आज भी वर्षगाँठके अवसरपर हम जिन सप्त-चिरजीवियोंका स्मरण करते हैं, उनमें व्यासजीका अन्यतम स्थान है—

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषण।
कृप परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविन॥

भगवान् वेदव्यासकी स्थिति वैदिक युगके अन्तमें भी थी, महाभारतकालमें भी थी और आज भी वे नारायणभूत वेदव्यास अनन्तके अनन्त-रूपमें विश्वमें विद्यमान हैं।

व्यासजीन मनुष्यमात्रको अल्पबुद्धि अल्पायु तथा कर्म-क्रियामें लिप्त देखकर उनके सार्वकालिक कल्याणके लिये वेदोंका विभाजन चार शाखाओंमें किया था, जिसका स्पष्ट

निदर्शन श्रीमद्भागवतमे इस प्रकार प्राप्त होता है—

स कदाचित् सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचि।
विविक्तदेश आसीन उदिते रविमण्डले॥
परावरज्ञ स ऋषि कालेनाव्यक्तरहसा।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे॥
भौतिकानां च भावाना शक्तिह्रासं च तत्कृतम्।
अश्रद्दधानान्नि सत्त्वान् दुर्मेधान् ह्रसितायुष ॥
दुर्भगाश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
सर्ववर्णाश्रमाणा यद्दध्यौ हितममोघदृक्॥
चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजाना वीक्ष्य वैदिकम्।
व्यदधाद् यज्ञसन्तत्यै वेदमेक चतुर्विधम्॥
ऋग्यजु सामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृता ।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते॥
तत्रर्ग्वेदधर पैल सामगो जैमिनि कवि ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत॥
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनि ।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षण ॥
त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।
शिष्यै प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्॥
त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यास कृष्णवत्सल ॥
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढाना श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥
(श्रीमद्भा० १। ४। १५—२५)

अर्थात् एक दिन वे पुराणमुनि व्यास सूर्योदयके समय सरस्वतीके पावन जलमें स्नानादि करके एकान्त पवित्र स्थानपर बैठे हुए थे। वे महर्षि भूत और भविष्यके ज्ञाता तथा दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न थे। उन्होने उस समय देखा कि जिसका परिज्ञान लोगाको नहीं होता ऐसे समयके फेरसे प्रत्येक युगमे धर्मसकट रहा और उसके प्रभावसे भौतिक पदार्थोंकी शक्तिका ह्रास होता रहता है। सासारिक जन श्रद्धाविहीन और शक्तिहीन हो जाते हैं। उनकी बुद्धि कर्तव्य-निर्णयमें असमर्थ एव आयु अल्प हो जाती है। लोगोंकी इस भाग्यहीनताको देखकर उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टिसे समस्त वर्णों और आश्रमाका हित कैसे हो? इसपर विचार किया। उन्हाने सोचा कि वेदोक्त चातुर्होत्र (होता अध्वर्यु, उद्गाता ब्रह्मादिद्वारा सम्पादित होनेवाले अग्निष्टोमादि यज्ञ)-कर्म लोगाका हृदय शुद्ध करनेवाले हैं, अत यज्ञाका विस्तार करनेके लिये उन्होंने एक ही वेदक चार विभाग ऋक् यजु, साम तथा अथर्वके रूपमें किये। इतिहास और पुराणको पाँचवाँ वेद कहा जाता है। उनमसे प्रथम स्नातक ऋग्वेदके पैल सामवेदके जैमिनि यजुर्वेदके वैशम्पायन तथा अथर्ववेदके सुमन्तु हुए और सूतजीके पिता रोमहर्षण इतिहास-पुराणोंके स्नातक हुए। इन सब महर्षियोने अपनी-अपनी वैदिक शाखाको अनेक भागामे विभक्त कर दिया। इस प्रकार शिष्य, प्रशिष्य तथा उनके शिष्योंद्वारा वेदोंकी अनेक शाखाएँ बन गयीं। अल्प बौद्धिक शक्तिवाले पुरुषोपर कृपा करके भगवान् वेदव्यासने वेदोका यह विभाग इसलिये किया जिससे दुर्बल स्मरणशक्तिवाले तथा धारणाशक्तिहीन (व्यक्ति) भी वेदाको धारण कर सके। स्त्री, शूद्र तथा पतित वेद-श्रवणक अनधिकारी है, वे शास्त्रोक्त कर्मोके आचरणम भूल न कर बैठ, अत उनके हितसाधनार्थ महाभारतकी इस दृष्टिसे रचना की, जिससे वे भी वेदाश हृदयगम कर सके—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शित ।
(श्रीमद्भा० १। ४। २९)

अर्थात् महाभारत जिसे 'ज्ञानमय प्रदीप' कहा जाता है इतना अनुपम है कि उसके सम्बन्धम स्वय महाभारत आदिपर्व (६२। २३)-म उल्लिखित है—

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिद परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्त व्यासेनामितबुद्धिना॥

अर्थात् अमित मेधावी व्यासजीन इस पुण्यमय धर्मशास्त्र उत्तम अर्थशास्त्र तथा सर्वोत्तम मोक्षशास्त्र भी कहा है।

वेद-विभागद्वारा भगवान् व्यासने ज्ञान कर्म उपासनाकी त्रिपथगाम अवगाहन कराकर अथर्ववेदद्वारा उस भौतिक दृष्टिस भी इतना सक्षम बनानेका प्रयास किया है कि हमें एक स्वरसे इस श्लोकके द्वारा उन्ह विनम्र प्रणति करनेपर विवश हाना पडता है—

जयति पराशरसूनु सत्यवतीनन्दनो व्यास ।
यस्यास्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत् पिबति॥

(डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री एम्० ए० पी-एच्० डी०)

महर्षि वाल्मीकि एव उनके रामायणपर वेदोका प्रभाव

प्राय सभी व्याख्याताओने अपनी रामायण-व्याख्याके प्रारम्भम एक बडा सुन्दर मनोहारी श्लोक लिखा है, जो इस प्रकार है—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेद प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

भाव यह है कि परमात्मा वेदवेद्य है अर्थात् केवल वेदोक द्वारा ही जाना जा सकता है। जब वह परब्रह्म परमेश्वर लोककल्याणक लिये दशरथनन्दन रघुनन्दन आनन्दकन्द श्रीरामचन्द्रके रूपमें अवतीर्ण हुआ, तब सभी वेद भी प्रचेतामुनिके पुत्र महर्षि वाल्मीकिके मुखसे श्रीमद्रामायणके रूपमें अवतीर्ण हुए। तात्पर्य यह कि श्रीमद्रामायण विशुद्ध वेदार्थ-रूपम ही लोककल्याणके लिये प्रकट हुआ है। इन्हीं कारणोसे मूल रूपम सौ करोड श्लोकोंमें उपनिबद्ध श्रीमद्रामायणका एक-एक अक्षर सभी महापातको एव उपपातकाका प्रशमन करनेवाला और परम एव चरम पुण्यका उत्पादक बताया गया है—

चरित रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षर पुमा महापातकनाशनम्॥

वेदाका अर्थ गूढ है तथा रामायणके भाव अत्यन्त सरल हैं। अत रामायणके द्वारा ही वेदार्थ जाना जा सकता है।

महर्षि वाल्मीकिने इस रहस्यका वर्णन अपनी रामायणमे बार-बार किया है। मूल रामायणकी फलश्रुतिमें वे कहते हैं—

इद पवित्रं पापघ्न पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।
य पठेद् रामचरितं सर्वपापै प्रमुच्यते॥
(वा०रा० १। १। ९८)

'वेदोंके समान पवित्र एव पापनाशक तथा पुण्यमय इस रामचरितका जो पढेगा वह सभी पापोंसे मुक्त हो जायगा।'

अर्थात् यह सर्वाधिक परम पवित्र सभी पापोंका नाश करनेवाला अपार पुण्य प्रदान करनेवाला तथा सभी वदोके तुल्य है। इसे जो पढता है वह सभी पाप-तापोंसे मुक्त हो जाता है।

भगवान् श्रीराम चारों भाइयोंके साथ महर्षि वसिष्ठके आश्रमम जाकर वेदाध्ययन करते हैं। राजर्षि जनकके गुरु पुरोहित याज्ञवल्क्य, गौतम शतानन्द आदि सभी वेदामें निष्णात थे। यही नहीं, स्वय रावण भी वेदोका बडा भारी विद्वान् पण्डित था। उसके भाष्योंका प्रभाव सायण, उद्गीथ, वेंकट, माधव तथा मध्वादिके भाष्योपर प्रत्यक्ष दीखता है। उसके यहाँ अनेक वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण थे। हनुमान्जी जब अशोकवाटिकाम सीताजीको ढूँढते हुए पहुँचे और अशोकवृक्षपर छिपकर बैठे, तब आधी रातके बाद उन्हें लकानिवासी वेदपाठी विद्वानोकी वेदध्वनि सुनायी पड़ी—

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥
(वा०रा० ५। १८। २)

रातके उस पिछले पहरमें छहों अङ्गासहित सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान् तथा श्रेष्ठ यज्ञाद्वारा यजन करनेवाले ब्रह्म-राक्षसोंके घरमें वेदपाठकी ध्वनि होने लगी, जिसे हनुमान्जीने सुना।

अयोध्याम तो वेदज्ञ ब्राह्मणाका बाहुल्य ही था। जब भरतजी रामजीको वापस करने चित्रकूट जाते हैं तो अनेक वेदपाठी शिक्षक-छात्र भरतजीके साथ चलते हैं। महर्षि वाल्मीकिने लिखा है कि कठ कण्व, कपिष्ठल आदि शाखाओके शिक्षक, याज्ञिक भरतजीके साथ चल रहे थे और भरतजीने उनकी रुचिके अनुसार जलपान तथा भोजनादिकी पूरी व्यवस्था कर रखी थी।

इसी प्रकार वनवास-कालमें भगवान् श्रीरामजीकी आगे महर्षि अगस्त्यसे भेंट होती है। अगस्त्यजीका ऋग्वेदमें 'आगस्त्य-मण्डल' बहुत प्रसिद्ध है। अगस्त्यकी पत्नी लोपामुद्रा वेदक कई सूक्तोंकी द्रष्टा हैं।

हनुमान्जी वेदोंके प्रकाण्ड विद्वान्—निष्णात पण्डित थे। जब वे किष्किन्धामें भगवान् श्रीरामसे बातें करते हैं, तब श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिवं कपिम्।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यै स्नेहयुक्तमरिंदमम्॥
नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिण।
नासामवेदविदुष शक्यमेवं विभाषितुम्॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।

बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्॥
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोष सविदितं क्वचित्॥
(वा०रा० ४। ३। २७—३०)

लक्ष्मण! इन शत्रुदमन सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्से जो बातके मर्मको समझनेवाले हैं तुम स्नेहपूर्वक मीठी वाणीमे बातचीत करो। जिसे ऋग्वेदकी शिक्षा नहीं मिली जिसने यजुर्वेदका अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेदका विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषामे वार्तालाप नहीं कर सकता। निश्चय ही इन्हाने समूचे व्याकरणका कई बार स्वाध्याय किया है, क्योंकि बहुत-सी बाते बोल जानेपर भी इनके मुँहसे कोई अशुद्धि नहीं निकली। सम्भाषणके समय इनके मुख नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य सब अङ्गोसे भी कोई दोष प्रकट हुआ हो ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ।

भाव यह है कि जबतक कोई अनेक व्याकरणाका ज्ञाता नहीं होगा, वेदज्ञ नहीं होगा तबतक इतना सुन्दर, शान्त एव प्रसन्न-चित्तसे शुद्धातिशुद्ध सम्भाषण नहीं कर सकेगा।

हनुमान्‌जी जब लका जाते हैं और रावणसे बातचीत करते हैं तो वेदोके सारभूत ज्ञानका निरूपण करते हैं। वे रावणसे कहते हैं कि तुम पुलस्त्य-कुलमें उत्पन्न हुए हो, वेदज्ञ हो, तुमने तपस्या की है और देवलोक तकको भी जीत लिया है, इसलिये सावधान हो जाओ। तुमने वेदाध्ययन और धर्मका फल तो पा लिया अब वेदविरुद्ध दुष्कर्मोंका परिणाम भी तुम्हारे सामने उपस्थित दीखता है—

प्राप्तं धर्मफलं तावद् भवता नात्र संशय ।
फलमस्याप्यधर्मस्य क्षिप्रमेव प्रपत्स्यसे॥
ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा
रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा।
इन्द्रो महेन्द्र सुरनायको वा
स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥
(वा०रा० ५। ५१। २९ ४४)

तुमने पहले जो धर्म किया था उसका पूरा-पूरा फल तो यहाँ पा लिया अब इस सीताहरणरूपी अधर्मका फल भी तुम्हें शीघ्र ही मिलेगा। चार मुखोंवाले स्वयम्भू ब्रह्मा तीन नेत्रावाले त्रिपुरनाशक रुद्र अथवा देवताओंके स्वामी महान् ऐश्वर्यशाली इन्द्र भी समराङ्गणमे श्रीरघुनाथजाके सामने नहीं ठहर सकते।

अर्थात् जिनके तुम भक्त हो वे त्रिनेत्रधारी त्रिशूलपाणि भगवान् शकर अथवा चार मुखवाले ब्रह्मा या समस्त देवताओके स्वामी इन्द्र—सभी मिलकर भी रामके वध्य शत्रुकी रक्षा नहीं कर सकते।

इसी प्रकार हनुमान्‌जीने रावणक समक्ष तर्कोंसे—युक्तियोंसे रामको परब्रह्म परमात्मा और परब्रह्म सिद्ध किया। वे कहते हैं—

सत्य राक्षसराजेन्द्र शृणुष्व वचन मम।
रामदासस्य दूतस्य वानरस्य विशेषत ॥
सर्वाँल्लोकान् सुसहृत्य सभूतान् सचराचरान्।
पुनरेव तथा स्रष्टु शक्तो रामो महायशा ॥
(वा० रा० ५। ५१। ३८-३९)

अर्थात् हे राक्षसराज रावण! मेरी सच्ची बात सुनो—महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी चराचर प्राणियोसहित सम्पूर्ण लोकाका सहार करके फिर उनका नये सिरेसे निर्माण करनेकी शक्ति रखते हैं।

विभीषणको वेदका तत्त्वज्ञान था। उन्हाने रावणको वेदज्ञानके आधारपर परामर्श दिया किंतु उसने उनकी एक भी नहीं सुनी। इसलिये वेदको जानते हुए भी वदके विरुद्ध वह चल रहा था। गोस्वामीजीने ठाक लिखा है—

बेद बिरुद्ध मही मुनि साधु ससोक किए सुरलोकु उजारो।
और कहा कहौं तीय हरी तबहूँ करुनाकर कोपु न धारो॥
सेवक-छोह तें छाड़ी छमा तुलसी लख्यो राम! सुभाउ तिहारो।
तौलौं न दापु दल्यौ दसकंधर जौलौं बिभीषन लातु न मारो॥
(कवितावली उ० ३)

विभीषण सच्चे वेदज्ञ थ इसलिय ये वेदतत्त्व-रामको पहचान पाय। तुलसीदासने वसिष्ठके मुखसे रामके जन्मत ही यह बात कहलायी—

धरे नाम गुर हृदयँ बिचारी। बेद तत्व नृप तव सुत चारी॥
मुनि धन जन सरबस सिव प्राना। बाल केलि रस तेहिं सुख माना॥
(रा०च०मा० १। १९८। १-२)

भाव यह है कि वसिष्ठजा महाराज दशरथस कहते हैं कि महाराज! य आनन्दकन्द रघुनन्दन साक्षात् वदपुरुष—वदतत्त्व हैं और अपनी लशमात्र शक्तिस सार ससारका प्रकाशित करत हैं। समस्त मन बुद्धि हृदय

जीवात्माको भी प्रकाशित करते हैं—

जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥
(रा०च०मा० १। १९७। ५-६)

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
(रा०च०मा० १। ११७। ५-६)

अर्थात् समस्त प्राणियोंके विषय, इन्द्रिय, उनके स्वामी देवता एक-से-एक विशिष्ट चैतन्य कहे गये हैं, किंतु सबको प्रकाशित करनेवाली शक्ति एक ही है, जो अनादि ब्रह्म वेदसार श्रीरामके नामसे विज्ञेय है। स्वयं भगवान् रामने रावणको देखकर कहा था—यह रावण अत्यन्त तेजस्वी है वेदोंका ज्ञाता है, किंतु इसका आचरण वेदविरुद्ध हो गया, अन्यथा यह शाश्वत कालके लिये तीनों लोकोंका स्वामी हो सकता था। महर्षि वाल्मीकिद्वारा श्रीमद्रामायणमें भगवान्के भाव इन शब्दोंमे निरूपित हुए हैं—

यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वर।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता॥
(वा० रा० युद्धकाण्ड)

वाल्मीकिरामायणकी समाप्तिके समय प्रार्थनारूपमें कहा गया है कि सम्पूर्ण वेदोंके पाठका जितना फल होता है, उतना ही फल इसके पाठसे होता है। इससे देवताओंकी सारी शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। पृथ्वीपर ठीकसे वर्षा होती है। [रा]जाओंका शासन निर्विघ्न चलता है। गौ-ब्राह्मण आदि सभी [ख]ूब प्रसन्न रहते हैं। सम्पूर्ण विश्वमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता और भगवान् विष्णुका बल बढ़ता जाता है—

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः॥

इस प्रकार संक्षेपमें यह समझाया गया है कि बिना रामायणके जाने वेदका ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। जो रामायणको नहीं जानता वह वेदके अर्थको ठीक नहीं समझ सकता। इसीलिये अल्पश्रुतासे वेद भयभीत रहता है, कहता है कि यह अपनी अल्पश्रुततासे मेरे ऊपर प्रहार कर देगा—

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।
(महाभारत आदिपर्व १। २६८)

वाल्मीकिजीने जब प्रथम श्लोकबद्ध लौकिक साहित्यकी रचना की तब ब्रह्माजी उनकी मनःस्थिति समझकर हँसने लगे और मुनिवर वाल्मीकिसे इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! तुम्हारे मुँहसे निकला हुआ यह छन्दोबद्ध वाक्य श्लोकरूप ही होगा। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरे संकल्प अथवा मेरी प्रेरणासे ही तुम्हारे मुँहसे ऐसी वाणी निकली है। इसलिये तुम श्रीरामचन्द्रजीकी परम पवित्र एवं मनोरम कथाको श्लोकबद्ध करके लिखो। वेदार्थयुक्त रामचरितका निर्माण करो'—

तमुवाच ततो ब्रह्मा प्रहसन् मुनिपुङ्गवम्॥
श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती॥
कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्।

आगे ब्रह्माजीने पुनः कहा—जबतक पृथ्वी, पर्वत और समुद्र रहेंगे तुम्हारी रामायण भी रहेगी और इसके आधारपर अनेक रामायणोंकी रचना होगी तथा तुम्हारी तीनों लोकोंमें अबाधगति होगी और रामायणरूपी तुम्हारी यह वाणी समस्त काव्य, इतिहास, पुराणोंका आधारभूत बीजमन्त्र बनी रहेगी।

कहा जाता है कि सभी ब्राह्मण बालकोंको सर्वप्रथम महर्षि वाल्मीकिके मुखसे निकला हुआ यही श्लोक पढ़ाया जाता है, जो इस प्रकार है—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
(वा० रा० १। २। १५)

गोविन्दराज माधवगोविन्द नागेशभट्ट कतक, तीर्थ और शिवसहाय तथा राजा भोज आदि कवियोंने इस श्लोकके सैकड़ों अर्थ किये हैं। राजा भोजने इसीके आधारपर चम्पू रामायणका निर्माण किया है। सबसे अधिक अर्थ गोविन्दराजने किया है।

इस प्रकार अत्यन्त संक्षेपमें वेदसारभूत श्रीमद्रामायणका परिचय दिया गया है जो कि वैदिक साहित्यसे भिन्न सम्पूर्ण विश्वके लौकिक साहित्यका प्रथम ग्रन्थ है। सारे संसारके ग्रन्थ इसीसे प्रकाशित होते हैं। प्रथम कवि संसारमें वाल्मीकि ही हुए हैं [illegible] है—

[illegible] जगति [illegible] ध्यति।

भगवान् आदि शकराचार्य और वैदिक साहित्य

आचार्यके सम्बन्धमे वैदिक विद्वानामें एक श्लोक परम्परासे अति प्रसिद्ध रहा है, जो इस प्रकार है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी षोडशे सर्वभाष्यकृत्।
चतुर्विंशे दिग्विजयी द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

अर्थात् आचार्य शकरको आठ वर्षकी अवस्थामे ही समस्त वेद-वेदाङ्गोका सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो गया तथा सोलह वर्षकी अवस्थामें वे समस्त वेद-वेदाङ्गोंके भाष्य लिख-लिखवा चुके थे और चौबीस वर्षतककी अवस्थामें विजय-पताका फहरा दी एव वेद-विरोधियोंको परास्त कर भगा दिया और बत्तीसवें वर्षमे सम्पूर्ण विश्वमे वैदिक धर्मकी स्थापना करके चारों दिशाओमे चार विशाल मठोंकी स्थापना कर ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त हुए।

आचार्यके सभी लक्षण दिव्य थ। उनके प्रखर तर्कोंके सामने कोई विरोधी क्षणभर भी टिक नहीं सकता था। आठ वर्षमे किसी सामान्य व्यक्तिको समस्त वेद-वेदाङ्गोका पूर्वोत्तर-पक्षसहित सम्यक् ज्ञान कैसे सम्भव है? अत वे अचिन्त्य दिव्य-अद्भुत प्रतिभायुक्त लोकोत्तर लक्षणोंसे समन्वित साक्षात् भगवान् शकरके अवतार माने गये हैं—'शङ्कर शङ्कर साक्षात्।'

वेदान्त-सूत्रके प्रारम्भिक भाष्यम वे वेदोंको भगवान्से भी श्रेष्ठ यतलाते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् कैसे हैं, उनकी क्या विशेषताएँ हैं उनकी प्राप्ति कैसे होगी यह वेद ही बतलाते हैं अन्यथा कोई भी व्यक्ति अपनेको भगवान् बताकर भ्रमम डाल सकता है।

'परात्तु तच्छ्रुते (ब्रह्मसूत्र २। ३। ४१)—इस सूत्रमें वे श्रुतिको ही परतम प्रमाण मानते हैं और परमेश्वरको सर्वोपरि शक्ति मानते हैं। सभी प्राणी उनके ही अधीन हैं। कौपीतकि ब्राह्मणका उद्धरण देकर वे कहते हैं कि भगवान् अपने भक्तों एवं संतोंद्वारा श्रेष्ठ कर्मोका आचरण कराकर उन्हें सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य सालोक्य तथा सायुज्य आदि मुक्तियाँ देत हैं और आसुरी स्वभाववाले व्यक्तियोद्वारा दुष्कर्म कराकर उन्ह नरकम भेजते हैं। कौपीतकिके मूल वचन इस प्रकार हैं—

एष ह्येवैन साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति त यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वर ।

(कौपीतकिब्राह्मणोपनिषत् ३। ९)

प्राय गीताम भी आचार्य शकरका भगवान् श्रीकृष्णके—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। २०)

—इस श्लोकका भाष्य भी इसी प्रकार है।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार तो भगवान्म वैषम्य और नैर्घृण्य-दोषकी प्रसक्ति होती है तो आचार्यचरण 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति' (ब्रह्मसूत्र २। १। ३४)—इस बादरायण-सूत्रके भाष्यमे उपर्युक्त आक्षेपको दूर कर 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋक्० १०। १९०। ३)—इस वेद-वचनको उद्धृत कर क्रमिक रूपस सात्त्विक कर्मोंके द्वारा सूर्य तथा चन्द्रमाके स्वरूपको प्राप्त करनेकी बात बताते हैं तथा आसुरी प्रकृतिके व्यक्तियोंद्वारा निरन्तर कुकर्म करनेसे ही अधम गतिकी प्राप्ति बतात हैं। यही 'मूढा जन्मनि जन्मनि'-का भाव है। भगवान् तो सर्वथा पक्षपात-शून्य हैं।

अत बुभुक्षु पुरुषका निरन्तर सत्संग वेदादि-साहित्यके स्वाध्याय तथा तदनुकूल सद्धर्मका सदा आचरण कर शाघ्र-स-शाघ्र आत्मानति राष्ट्रकल्याण विश्वकल्याण करते-कराते हुए विशुद्ध भगवत्तत्त्वका प्राप्त कर लना चाहिये इसीम मानव-जीवनकी सफलता है और यही आचार्य-चरणाके वैदिक उपदशोंका सारभूत निष्कर्षात्मक सदेश है।

नानापुराणनिगमागमसम्मत यत्

[वेद और गोस्वामी तुलसीदास]

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने 'नानापुराणनिगमागमसम्मत०'का जो मञ्जुल उद्घोष प्रतिज्ञाके रूपमें किया था उसका पूर्ण निर्वाह उन्होंने मानस तथा अपने अन्य ग्रन्थोंमें आदिसे अन्ततक किया है। मानसका प्रारम्भ वाणी और विनायककी प्रार्थनासे हुआ है। अथर्ववेदके अन्तर्गत 'श्रीदेव्यथर्वशीर्ष'में कामधेनुतुल्य भक्तोंको आनन्द देनेवाली, अन्नबलसे समृद्ध करनेवाली माँ वाग्रूपिणी भगवतीकी उत्तम स्तुति है तथा वेदोंमें 'गणानां त्वा गणपतिं॰ हवामहे' से गणेशजीकी वन्दना है, जो मङ्गलमूर्ति एवं विघ्नविनाशक हैं। उसी शाश्वत दिव्य परम्पराका पालन 'वन्दे वाणीविनायकौ' से श्रीतुलसीदासजीने किया है। भगवान् शिव एवं उमा वैदिक देवता हैं। '*श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ*' के रूपमें उन्हें प्रणाम किया है, क्योंकि बिना श्रद्धा और विश्वासके भक्त हृदयमें ईश्वरका दर्शन नहीं कर सकता। श्रद्धाको धर्मकी पुत्री कहा गया है। विश्वास हमारी शुभ निश्चयात्मिका दृढ़ मनोवृत्ति है, जो हमें शिवत्व प्रदान कराती है। '*कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा*' एवं '*श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई*' तुलसीदासजीकी उक्ति है।

मानसके प्रारम्भकी चौपाई मृत्युञ्जय-मन्त्रका अनुस्मरण एवं भावानुवाद ही है—

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥
(यजुर्वेद ३।६०)

अर्थात् हम लोग भगवान् शिवकी उपासना करते हैं, वे हमारे जीवनमें सुगन्धि (यश सदाशयता) एवं पुष्टि (शक्ति समर्थता)-का प्रत्यक्ष बोध करानेवाले हैं। जिस प्रकार पका हुआ फल ककड़ी खरबूजा आदि स्वयं डंठलसे अलग हो जाता है, उसी प्रकार हम मृत्यु-भयसे सहज मुक्त हों, किंतु अमृतत्वसे दूर न हों।

इस महामन्त्रकी छाया '*बंदउँ गुरु पद पदुम परागा*' आदि चौपाइयोंमें भी द्रष्टव्य है।

'त्र्यम्बकं यजामहे' से गुरुको शंकररूप माना है—'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।' 'सुगन्धिं' से 'सुरुचि सुबास' माना है अर्थात् हमारी सुन्दर रुचि ही सुबास-सुगन्धि है। भ्रमर रुचिके कारण ही परागसे कमल-रसका पान करता है। 'पुष्टिवर्धनम्' का अर्थ '*सरस अनुरागा*' किया है अर्थात् हृदयमें श्रेष्ठ अनुराग सुरुचिके कारण ही उत्पन्न होता है जिससे हृदय पुष्ट होता है। इसकी पुष्टिमें कहा गया है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' तात्पर्य यह कि बल रहनेपर ही आत्माका बोध होता है। गुरुका चरण '*अमिअ मूरि*' (अमृत लताकी जड़ी) है, जिसमें रज लगा है वह अमृतदायिनी है। मृत्युके बन्धनको छुड़ाने-हेतु रोग-निवारणमें पूर्ण सक्षम है, ऐसे शंकररूप गुरुकी मैं वन्दना करता हूँ।

वैदिक ऋषियोंकी प्रार्थना है—'असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय।'

अर्थात् हे प्रभो! आप मुझे असत्से सत्की ओर ले चलें। अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलें मृत्युसे अमरताकी ओर ले चलें। इसका भाव-रूपान्तर गुरु-वन्दना-प्रकरणमें सुन्दर एवं मार्मिक ढंगसे किया गया है। असत् तथा तमस् एवं मृत्युसे बचनेकी तथा मुक्ति-प्राप्तिकी प्रार्थना की गयी है। असत् दूर होता है—सत्से '*सतसंगत मुद मंगल मूला*', '*बिनु सतसंग बिबेक न होई*'। तमस्—अन्धकार अर्थात् अज्ञान दूर होता है श्रीगुरुचरण-नखमणिकी ज्योतिसे, वन्दनासे प्रार्थनासे—'*अमिअ मूरिमय चूरन चारू*' गुरुके इस अमृत मूरि-चरण-रजसे अमृत-प्रकाशकी उपलब्धि भक्तको सहज ही हो जाती है। तुलसीदासजीने वेदोंकी वन्दना की है—

बंदउँ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जसु॥
(रा०च०मा० १।१४ (ङ))

अर्थात् मैं चारों वेदोंकी वन्दना करता हूँ, जो संसार-समुद्रके पार होनेके लिये जहाजके समान हैं। जिन्हें रघुनाथजीका निर्मल यश वर्णन करते स्वप्नमें भी खेद नहीं होता।

वेद ब्रह्माजीके मुखसे प्रकट हुए। श्रीवाल्मीकिजीके मुखसे रामायण प्रकट हुआ। वेदार्थ ही रामायणके रूपमें

प्रकट हुआ। श्रुतिका वचन है—'तरति शोकमात्मवित्'—अर्थात् आत्मज्ञ शोक-समुद्रसे पार हो जाता है। तुलसीदासजी अपनेको शोक-समुद्रसे पार होनेके लिये कहते हैं—

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी॥

अर्थात् मैं अपने सदेह तथा मोह एव भ्रमको दूर करने-हेतु रामकथाका वर्णन करता हूँ। अन्यत्र हनुमन्नाटकमें भी रामकथाको '**विश्रामस्थानमेकम्**' कहा गया है। तुलसीदासजीने '***बुध बिश्राम सकल जन रजनि***' कहा है। राम ससारकी आत्मा हैं। जैसे प्रणव वेदोकी आत्मा है उसी प्रकार राम भी वेदोंके आत्मारूप हैं—

बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥

(रा०च०मा० १। १९। २)

वेदोंमें निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना है। आगे चलकर मनु-शतरूपाको ज्ञानमार्गसे निर्गुण-निराकार-उपासनासे तृप्ति नहीं हुई तो उन्होने तप किया। दृढ होकर घोर तप करनेके बाद वे कल्पना करने लगे—

उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥

(रा०च०मा० १। १४४। ३—८)

मनु एवं शतरूपाकी उत्कट तपस्या निर्गुण ब्रह्मको सगुण-साकार रूपमे प्रकट करनेके उद्देश्यसे हुई थी। जिस निर्गुण ब्रह्मका निरूपण उपनिषदोमें है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारस नित्यमगन्धवच्च यत्।

(कठ० १। ३। १५)

अर्थात् ब्रह्म शब्दरहित स्पर्शरहित रूपरहित रसरहित और बिना गन्धवाला है। श्रीरामचरितमानसमे निर्गुण ब्रह्मके बारेमे वर्णन आया है—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥

(रा०च०मा० १। १३। ३—५)

मनुजीने ब्रह्मा विष्णु, महेश आदि देवताओके वर प्रदानकी उपेक्षा कर अन्तमें सबके परम कारण सर्वज्ञ ब्रह्मका साक्षात्कार किया तथा उनसे ब्रह्मके समान पुत्रकी अभिलाषा की, जिससे स्वय सर्वज्ञ ब्रह्मको रामरूपमें अवतरित होना पडा। मनु-शतरूपा ही दूसरे जन्ममे दशरथ-कौसल्याके रूपमे प्रकट हुए थे जिनके यहाँ ब्रह्मको बालकरूप धारण कर बालक्रीडा करनी पडी तथा गृहस्थ बनकर आदर्श जीवन-चरित जो वेदानुकूल था प्रस्तुत करना पडा। जिसका सुन्दर मनोहारी वर्णन श्रीतुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमे किया है। जिसका आधार वेद-पुराण है—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥

(रा०च०मा० १। ३६। ३-४)

भगवान् श्रीरामके जन्मके पूर्व वेदधर्मके विरुद्ध आचरण करनेवाले रावण तथा कुम्भकर्ण आदिका जन्म हो चुका था। रावण हिसाप्राय अत्याचारमें लिप्त था उसके सभी कार्य वेद-विरुद्ध थे—

जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥

इस प्रकार अधर्मपूर्ण कार्योंको देखकर पृथ्वी बहुत दु खित हुई। उसने कहा—

गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥

पृथ्वी गौका रूप धारण करके देवताओके यहाँ गयी फिर उसके साथ सभी देवता ब्रह्माजीके पास गये। पृथ्वीने अपना दु ख सबको सुनाया। भगवान् शिवने पृथ्वी और देवताओकी दशाको जानकर भगवान् विष्णुसे प्रार्थना करनेको कहा। भगवान् प्रेमसे पुकारनेपर भक्तोकी प्रार्थना सुनते हैं और उनके दु खको दूर करते हैं। शिवजीने एक सूत्रमे सबको समझाया—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

(रा०च०मा० १।

आकाशवाणी हुई जिसमे पूर्वमें दिये हुए कश्यप-अदितिके वरदानका स्मरण दिलाया गया और समय आनेपर प्रभुके अवतरित होनेका विश्वास दिलाया गया।

बहुत दिनोंतक कोई संतान न होनेसे दशरथ एवं कौसल्याजी अत्यन्त चिन्तित थे। उन्होंने गुरु वसिष्ठसे पुत्र-प्राप्तिकी कामना व्यक्त की। वसिष्ठजीने पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया। अग्निदेव हाथमें चरु लेकर प्रकट हुए। अग्निदेवके हविके प्रसादसे भगवान् भाइयोंसहित अवतरित हुए। अग्नि-उपासना वैदिक उपासना है। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमें अग्निदेवकी प्रार्थना मनोरथ पूर्ण करने-हेतु है। वेदके 'सं गच्छध्वम्, सं वदध्वम्' का पालन भगवान् राम भाइयों एवं अवधपुरके बालकोंके साथ क्रीडा एवं भोजन आदिके समय भी करते हैं। विश्वामित्रके साथ उनकी यज्ञ-रक्षा-हेतु जाते हैं। वहाँसे जनकपुर धनुष-यज्ञ देखने जाते हैं। वहाँ उनके रूपको देखकर जनकजी-जैसे ज्ञानी भी विमोहित हो जाते हैं। विश्वामित्रजीसे पूछते हैं—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥

(रा०च०मा० १। २१६। २)

अर्थात् जिसका वेदोंने 'नेति-नेति' कहकर वर्णन किया है, कहीं वह ब्रह्म युगलरूप धारण करके तो नहीं आया है? क्योंकि—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(रा०च०मा० १। २१६। ३-५)

—मेरा मन जो स्वभावसे ही वैराग्य-रूप है, इन्हें देखकर इस तरह मुग्ध हो रहा है, जैसे चन्द्रमाको देखकर चकोर। इनको देखते ही अत्यन्त प्रेमके वश होकर मेरे मनने हठात् ब्रह्मसुखको त्याग दिया है।

जनकजीके प्रश्नोंको सुनकर मुनिने हँसकर उत्तर दिया कि जगत्‌में जितने भी प्राणी हैं ये सभीको प्रिय हैं। 'ये सभीको प्रिय हैं'—यह कहकर मानो मुनिजीने संकेत कर दिया कि ये सबके प्रिय अर्थात् सबके आत्मा हैं। सर्वप्रियता चारुता दयालुता गुण-दोष न देखना अस्पृहा, निर्लोभता—ये सब आत्माके गुण हैं। भगवान् राम इन सद्‌गुणोंके भण्डार हैं। भगवान् राम एवं लक्ष्मण गुरुजीके साथ नियम-धर्मका पालन करते हैं। संध्याकालमें संध्या-वन्दन करते हैं—

बिगत दिवसु गुरु आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई॥

वेदोंकी आज्ञा है—'अहरहः संध्यामुपासीत।' प्रतिदिन संध्या करो। अपने मूल उत्स ईश्वरको सदा स्मरण रखो। वेद सदा ईश्वर-उपासनाके लिये बल देता है। जिसके लिये संयम-नियमका पालन आवश्यक है। श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥

(रा०च०मा० १। ३७। १४)

भक्तके लिये मनका निग्रह—यम-नियम ही फूल हैं ज्ञान फल है और श्रीहरिके चरणोंमें प्रेम ही इस ज्ञानरूपी फलका रस है। ऐसा वेदोंने कहा है।

जप तप नियम उपासना—ये सब हमारी भारतीय संस्कृतिके अङ्ग हैं। नारदजीने शिवको वरण करनेके लिये पार्वतीको तप करनेकी प्रेरणा की थी। श्रीरामचरितमानसमें कथन है—

इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें॥
जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥

पार्वतीजीने घोर तपस्या की। भगवान्‌की प्राप्ति हुई। राम-कथाके बारेमें पार्वतीजीने बीस प्रश्न किये, भगवान्‌ने सबका समाधान किया। वेद-मतका समर्थन करते हुए कहा—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥

(रा० च० मा० १। ११८। ५—७)

—यह श्वेताश्वतरोपनिषद् (३। १९)-के निम्न मन्त्रका भावानुवाद है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

अर्थात् वह परमात्मा हाथ-पैरसे रहित होकर भी समस्त वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला है। वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करनेवाला है। आँखोंके बिना सब कुछ देखता है। कानोंके बिना ही सब कुछ सुनता है। यह जो कुछ भी जाननेमें आनेवाली वस्तुएँ हैं, उन सबको जानता है परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है। ज्ञानी पुरुष उसे महान् आदि पुरुष कहते हैं।

मनु-शतरूपाजीने भी घोर तपस्या की थी। तप करनेमें शुद्ध-सात्त्विक जीवन-आचरणका विधान है—

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥

(रा०च०मा० १। १४४। १)

'ईशा वास्यमिदः सर्वं०' का बोध परम आवश्यक है। काकभुशुण्डिजीने *'ईस्वर सर्ब भूतमय अहई'* का ज्ञान तपके बाद ही प्राप्त किया जब उनकी सारी वासनाएँ निर्मूल हुईं, क्योंकि वासनाएँ हमारी शक्ति—ऊर्जा एव तेजको क्षीण कर देती हैं।

'छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी' तब भगवान्मे प्रीति हुई।

वेदोम भगवान्के विराट्-रूपका वर्णन है। पुरुषसूक्तमे वर्णन है—

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।

(ऋग्वेद १०। ९०। १)

अर्थात् यह विराट् पुरुष सहस्र सिरो, सहस्र आँखों और सहस्र चरणोवाला है।

इस विराट्-रूपका दर्शन माँ कौसल्याको हुआ था—

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥

अर्थात् वेद कहते हैं कि तुम्हारे प्रत्येक रोममें मायाके रचे हुए अनेक ब्रह्माण्डोंके समूह हैं। वे ही तुम मेरे गर्भम रहे—इस हँसीकी बात सुननेपर धीर (विवेकी) पुरुषाकी बुद्धि भी स्थिर नहीं रहती, विचलित हो जाती है।

इसी विराट्-रूपका दर्शन जनकपुरकी रगभूमिमे जनकपुरवासियों एव वहाँ पधारे हुए राजाओको हुआ—

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥
जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥

अर्थात् विद्वानोंको प्रभु विराट्-रूपमें दिखायी दिये, जिनके बहुतसे मुँह, हाथ पैर नेत्र और सिर हैं। योगियोको वे शान्त, शुद्ध सम और स्वत प्रकाश परम तत्त्वक रूपमें दीखे।

मन्दोदरीने इसी पुरुषसूक्तके विराट्-रूपका वर्णन रावणसे किया था—

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥

× × ×

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥

(रा०च०मा० ६। १४ १५ (क))

अर्थात् रघुकुलके शिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी विश्वरूप हैं। वेद जिनक अङ्ग-अङ्गम लोकोंकी कल्पना करते हैं। शिव जिनके अहकार हैं, ब्रह्मा बुद्धि हैं, चन्द्रमा मन हैं और महान् विष्णु ही चित हैं। उन्हीं चराचर-रूप भगवान् श्रीरामजीने मनुष्य-रूपमें निवास किया है।

काकभुशुण्डिजीने भी इसी विराट्-रूपका दर्शन किया था।

श्रीरामचरितमानस शिवजीका प्रसाद है। माता पार्वतीजीने शिवजीसे *'श्रुति सिद्धांत निचोरि'* कहकर रामकथा कहनेकी प्रार्थना की थी। उसी सकल लोक-हितकारी गङ्गाजीके समान सबको पवित्र करनेवाली कथाको भगवान् शिवजीने कृपा करके पार्वतीजीको सुनाया था। शिवजीने कहा था—पहले इन्द्रियोको शुद्ध करो। अन्तर्मुखी बनो। श्रवण अज्ञात-ज्ञापक हैं। श्रवणके द्वारा ही कथाका प्रवेश होता है। मन और हृदय पवित्र होता है। यदि कानसे कथा न सुनी गयी तो वह कान साँपका बिल बन जायगा। साँपकी उपमा कामसे दी जाती है। काम—भुजग यदि कानमें प्रवेश करेंगे तो आसुरी वृत्तियाँ हृदय और मनमें अपनी जडे जमा लेंगी। मनुष्यके हृदयमे दैवी एव आसुरी सम्पदाओंका निवास है। दैवी सम्पदा मोक्ष—श्रेय-मार्गका अनुसरण करती हैं। आसुरी सम्पत्तिके लाग नरकको ओर मुडत हैं। इन्द्रियाकी उपमा घोड़ोंसे दी गयी है। लकाकाण्डमें कठोपनिषद् श्रुति-समर्थित धर्मरथकी चर्चामें भगवान्ने कहा है कि—

बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥

(रा०च०मा० ६। ८०। ६)

हमारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हा बल-विवेक-दम और परहित-रूपी घोड़े क्षमा दया और समतारूपी रज्जुसे जुडे हों तब रथ सन्मार्गपर—विकासक मार्गपर आगे बढता है।

ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥

(रा०च०मा० ६। ८०। ७)

चतुर सारथीको ईश-भजनसे प्रेरणा मिलेगी । वैराग्यके ढालस संतापरूपी कृपाणके द्वारा वह शत्रुओंका सहार करता हुआ श्रेय-पथपर आगे बढता जायगा। परतु जो आसुरा चरित्रवाला है वह इन्द्रिय-सुखके कारण प्रेय-मार्गम भटक जायगा। नरकको आर मुड जायगा। अपना विनाश कर लगा। आत्मघाती बनेगा। इसीको यजुर्वेद (४०। ३)-में इस प्रकार कहा गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता ।
ता॰ स्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥

अर्थात् आत्मघाती मनुष्य चाहे कोई भी क्यों न हो, मरनेके बाद वह असुरोंके लोकोंमें निवास करता है, जो घोर अज्ञानान्धकारसे आच्छादित है। श्रीतुलसीदासजीने भी यही बात कही है—

करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मदमति आत्माहन गति जाइ॥
(रा०च०मा० ७। ४४। ८ ७। ४४)

हमारे कान भगवान्‌की कथा सुनें। जिह्वा हरिनाम रटे। नेत्रोंसे संतोंका दर्शन हो। गुरु और भगवान्‌के सामने हम शीश झुकाएँ। हम भद्र पुरुष बनें। वेद-मन्त्र इसीको ग्रहण करनेका आदेश देता है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा॰सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥
(यजु० २५। २१)

अर्थात् हम सदैव कल्याणकारी शब्द ही कानोंसे सुनें कल्याणकारी दृश्य ही आँखोंसे देखें और अपने दृढ़ अङ्गोंके द्वारा शरीरसे यावज्जीवन वही कर्म करें जिससे विद्वानोंका हित हो। इन्द्रियोंका सत्कर्मकी ओर लगानेसे मन भगवान्‌से जुड़ जाता है। हम शक्ति-सम्पन्न बनते हैं।

चित्रकूटकी सभामें वसिष्ठजीने भगवान् रामसे कहा था कि—

भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥

अर्थात् पहले भरतजीकी विनती आदरपूर्वक सुन लीजिये, फिर उसपर विचार कीजिये तब साधुमत लोकमत राजनीति और वेदोंका निचोड़ निकाल कर वैसा ही कीजिये।

भगवान् रामने अन्तमें सार-तत्त्वकी शिक्षा दी—

मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू॥
(रा० च० मा० २। ३०६। २ ३)

वेदोंकी शिक्षा 'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव' का पूर्ण पालन करनेकी आज्ञा दी।

वेदोंमें वर्णित विद्या-अविद्याकी व्याख्या लक्ष्मणजीके ज्ञान, वैराग्य एवं भक्तिके प्रसंगमें द्रष्टव्य है। भगवान् श्रीरामने श्रीलक्ष्मणजीके समक्ष अरण्यमें विद्या और अविद्याकी साङ्गोपाङ्ग व्याख्या की है। जब लक्ष्मणजीने पूछा—

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥
(रा०च०मा० ३। १४)

तब भगवान्‌ने समाधान किया—

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥
(रा०च०मा० ३। १५)

तुलसी-साहित्यमें 'मानस' एवं 'विनय-पत्रिका' विशेषरूपसे जन-जनका कण्ठहार बन गया है। वैसे उनके सभी द्वादश ग्रन्थ ज्ञान-भक्तिभाव-सम्पन्न हैं, उनका अध्ययन भी होता है। अतः—*'को बड़ छोट कहत अपराधू।'*

तुलसीदासजीने अपनी रचनाओंमें सर्वत्र वेदोंके यज्ञिय संस्कृतिकी रक्षा की है। जैसे—ऋषियोंके आश्रमोंमें जाना तथा लङ्का-विजय एवं सिंहासनारूढ होनेपर सर्वत्र ऋषियोंको पूर्ण आदरके साथ सम्मान देना आदि।

अन्तमें श्रीतुलसीदासजीकी ज्योतिष्मती प्रज्ञाको प्रणाम है जिन्होंने साधारणजनके स्वर-में-स्वर मिलाकर भगवान्‌को प्रणाम किया—

मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु बिषम भव भीर॥
(रा०च०मा० ७। १३० (क))

श्रीतुलसीदासजी वेदोंके निष्णात पारंगत विद्वान् थे। वेदके विद्वानोंको जो लाभ वेदोंके अध्ययनसे प्राप्त होता है वही फल तुलसी-साहित्यके अध्ययन करनेवालेको प्राप्त होता है। श्रीतुलसीदासजीरचित द्वादश ग्रन्थ भक्तोंके लिये कामतरु एवं कामधेनुके समान हैं। यही कारण है कि श्रीरामचरितमानस विनय-पत्रिका आदि ग्रन्थोंका पठन-पाठन झोपड़ीसे लेकर महलोंतक, साधारणजनसे लेकर विद्वान्‌तक समान श्रद्धा-भावसे करते हैं। वेदोंके (अर्थ बोधक) साथ मनोयोगपूर्वक तुलसी-साहित्यके अध्ययन एवं आचरणसे अध्येताको लोक-सुयश एवं परलोकमें सद्गति अवश्य मिलेगी ऐसा हम सबको पूर्ण विश्वास है।

(डॉ० श्रीओम्‌प्रकाशजी द्विवेदी)

वेद अनादि एव नित्य है

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणपर निर्भर होती है। प्रमाणशून्य विचारवाद, सिद्धान्त सब अप्रामाणिक, भ्रान्त, विनश्वर और हेय भी समझे जाते हैं। जैसे रूप जाननेके लिये निर्दोष चक्षु, गन्धके लिये घ्राण, शब्दके लिये श्रोत्र रसके लिये रसना, स्पर्शके लिये त्वक् और सुख-दु खके लिये मन-प्रमाण अपेक्षित है, वैसे ही अनुमेय प्रकृति, परमाणु आदिके ज्ञानके लिये हेत्वाभासोंपर अनाधृत, व्यभिचारादि-दोषशून्य व्याप्तिज्ञान या व्याप्य हेतुपर आधृत अनुमान अपेक्षित होता है। ठीक इसी प्रकार धर्म ब्रह्म आदि अतीन्द्रिय और अननुमेय पदार्थोंके ज्ञानके लिये स्वतन्त्र शब्द-प्रमाण अपेक्षित है। ससारमे सर्वत्र पिता-माताको जाननेके लिये पुत्रको शब्द-प्रमाणकी आवश्यकता होती है। न्यायालयाके लेखा एव साक्षियोके शब्दोके आधारपर ही आज भी सत्यका निर्णय किया जाता है।

फिर भी वैदिक शब्द-प्रामाण्य उनसे विलक्षण है। कारण, लोकमे शब्द कहीं भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं होते वे प्रत्यक्ष एव अनुमानपर आधृत होते हैं। उनके आधारभूत प्रत्यक्ष तथा अनुमानमें दोष होने अथवा वक्ताके भ्रम, प्रमाद विप्रलिप्सा करणपाटव आदि दोषासे दूषित होनेके कारण उनमें कहीं अप्रामाण्य भी सम्भव होता है। दोषशून्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंपर आधृत समाहित निर्दोष आप्त वक्ताके शब्दोंका ही प्रामाण्य होता है।

किंतु अपौरुषेय मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेद तो सदा प्रमाण ही होते हैं, अप्रमाण नहीं। शब्दका प्रामाण्य सर्वत्र मान्य है उसका अप्रामाण्य वक्ताके भ्रम-प्रमादादि दोषोपर ही निर्भर होता है। यदि कोई ऐसे भी शब्द हो जो किसी वक्तासे निर्मित न हो तो उनके वक्तृदोषसे दूषित न हानेके कारण अप्रामाण्यका कारण न होनेसे सुतरा उनका स्वत प्रामाण्य मान्य होता है। ऐसे ही उपमान अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण भी मान्य हैं। ऐतिह्य-चेष्टा आदि कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं क्योंकि प्रवाद या ऐतिह्य यदि आप्त-परम्परास प्राप्त हैं तो वे आप्त वाक्यमें ही आ जाते हैं और चेष्टादि आन्तर भावाके अनुमापक होनेसे अनुमानम ही निहित समझे जाते हैं।

जिन शब्दों या वाक्याका पठन-पाठन एव तदर्थानुष्ठान अविच्छिन्न अनादि सम्प्रदाय-परम्परासे प्रचलित हो और जिनका निर्माण या निर्माता प्रमाण-सिद्ध न हो, ऐस वाक्य या ग्रन्थ अनादि एव अपौरुषेय ही होते हैं। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि इसी दृष्टिकोणस अनादि एव अपौरुषेय मानी जाती है। गो घट, पट आदि बहुतसे शब्द भी जिनका निर्माण प्रमाण-सिद्ध नहीं है और जो अनादिकालसे व्यवहारमे प्रचलित हैं, नित्य माने जाते हैं।

नैयायिक, वैशेषिक आदिके मतानुसार यद्यपि वर्ण एव शब्द सभी अनित्य ही हैं, तथापि पूर्वोत्तर मीमासकाकी दृष्टिसे वर्ण नित्य ही होते हैं। क्योंकि—'अ क च ट त प' आदि वर्ण प्रत्येक उच्चारणमे एकरूपसे ही पहचाने जाते हैं। अवश्य ही कण्ठ-तालु आदिके भेदसे ध्वनियोमें भेद भासता है, अत ध्वनियाके अनित्य होनपर,भी वर्ण सर्वत्र अभिन्न एव नित्य हैं। नियत वर्णोंकी नियत आनुपूर्वीको ही 'शब्द' एव नियत शब्दोंकी नियत आनुपूर्वीको 'वाक्य' कहा जाता है। यद्यपि वर्णोके नित्य एव विभु होनेसे उनका दशकृत तथा कालकृत पौर्वापर्य असम्भव ही होता है और पौर्वापर्य न होनेसे शब्द एव वाक्य-रचना असम्भव ही है तथापि कण्ठ-ताल्वादिजनित वर्णोंकी अभिव्यक्तियाँ अनित्य ही होती हैं। अत उनका पौर्वापर्य सम्भव है और उसीके आधारपर पदत्व तथा वाक्यत्व भी बन जाता है।

यद्यपि वर्णाभिव्यक्तियाक अनित्य होनसे पदों एव वाक्योंकी भी अनित्यता ही ठहरती है, तथापि जिन पदों एव वाक्याका प्रथम उच्चारयिता या पूर्वानुपूर्वी-निरपक्ष-आनुपूर्वी निर्माता प्रमाण-सिद्ध नहीं उन पदों एव वाक्याका प्रवाहरूपसे नित्य ही माना जाता है। 'रघुवश' आदिके प्रथम आनुपूर्वी-निर्माता या उच्चारयिता कालिदास आदि हैं किंतु वेदोंका अनादि अध्ययन-अध्यापन अनादि आचार्य-परम्परास ही चलता आ रहा है। अत उनका निर्माता या प्रथमोच्चारयिता कोई नहीं है। 'रघुवश' आदिक उच्चारयिता हम-जैस भी हो सकत हैं पर प्रथम उच्चारयिता कालिदासादि ही हैं हम लाग तो पूर्वानुपूर्वीस सापक्ष होकर

उच्चारयिता हैं, निरपेक्ष नहीं। किंतु वेदोंका कोई भी निरपेक्ष उच्चारयिता या प्रथम उच्चारयिता नहीं है। सभी अध्यापक अपने पूर्व-पूर्वके अध्यापकोंसे ही वेदका अध्ययन या उच्चारण करते हैं, इसलिये वेद अनादि एवं नित्य माने जाते हैं।

गो, घट आदि शब्दोंका नित्यत्व वैयाकरण एवं पूर्वोत्तर मीमांसक भी मानते हैं और शब्दकी शक्ति भी जातिमें मानते हैं। इसीलिये शब्द और अर्थका सम्बन्ध शक्ति या संकेत भी उन्हें नित्य ही मान्य है।

यद्यपि 'डित्थ', 'डवित्थ' आदि यदृच्छा-शब्दोंके समान कुछ शब्द सादि भी होते हैं, तथापि तद्भिन्न पुण्यजनक सभी साधु-शब्द अनादि एवं नित्य ही होते हैं। हम अनादि कालसे ही गो, घट आदि शब्दों और उनके अर्थोंके सम्बन्धोंका ज्ञान वृद्ध-व्यवहार-परम्परासे प्राप्त करते हैं। इनमें शक्ति-ग्राहकहेतु व्याकरण काव्य, कोष आदिमें वृद्ध-व्यवहार ही मूर्धन्य माना जाता है। धूम-वह्निका सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध है तथा धूम-वह्निका व्याप्ति-सम्बन्ध ज्ञात होनेपर ही धूमसे वह्निका अनुमान होता है, अन्यथा नहीं। इसी तरह शब्द एवं अर्थका स्वाभाविक सम्बन्ध होनेपर भी व्यवहारादिद्वारा सम्बन्ध-ज्ञान होनेपर ही शब्द भी स्वार्थका बोधक होता है। यद्यपि नैयायिक वैशेषिक आदि शब्द एवं अर्थके सम्बन्ध ईश्वरकृत होनेसे शब्द-अर्थ और उनके सम्बन्धको अनित्य ही मानते हैं, तथापि सृष्टि-प्रलयकी परम्परा अनादि होनेसे सभी सृष्टियोंमें सम्बन्ध समानरूपसे रहते हैं। अतः उनके यहाँ भी शब्द-अर्थ और उनके सम्बन्ध प्रवाहरूपसे नित्य ही होते हैं।

पूर्वोत्तर मीमांसक वर्ण, पद एवं पद-पदार्थ-सम्बन्ध तथा वाक्य एवं वाक्य-समूह वेदको भी नित्य मानते हैं।

इतिवृत्तवेत्ता भी संसारके पुस्तकालयोंमें सर्वप्राचीन पुस्तक 'ऋग्वेद' को ही मानते हैं। लोकमान्य तिलकने 'ओरायन' में युधिष्ठिरसे भी हजारों वर्ष पूर्व वेदोंका अस्तित्व सिद्ध किया है। श्रीदीनानाथ चुलेटने कई मन्त्रोंको लाखों वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है।

मनु, व्यास, जैमिनि प्रभृति ऋषियों तथा स्वयं वेदने भी वेदवाणीको नित्य कहा है—

'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे'॥

(मनु० १। २१)

'अतएव च नित्यत्वम्' (ब्र०सू० १। ३। २९)

'वाचा विरूप नित्यया' (ऋक्० ८। ७५। ६)

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'

(जैमिनि० सूत्र १। ५)

वाक्यपदीयकारके अनुसार प्रत्येक ज्ञानके साथ सूक्ष्मरूपसे शब्दका सहकार रहता है। कोई भी विचारक किसी भाषामें ही विचार करता है—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।'

(वाक्यपदीय १। १२३)

'जानाति, इच्छति, अथ करोति' के अनुसार ज्ञानसे इच्छा एवं इच्छासे ही कर्म होते हैं—'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः।' अतः सृष्टि-निर्माणके लिये सर्वज्ञ ईश्वरको भी ज्ञान (विचार) इच्छा एवं कर्मका अवलम्बन करना पड़ता है। जिस भाषामें ईश्वर सृष्टिके अनुकूल ज्ञान या विचार करता है, वही भाषा वैदिक भाषा है। ईश्वर एवं उसका ज्ञान अनादि होता है। अतएव उसके ज्ञानके साथ होनेवाली भाषा और शब्द भी अनादि ही हो सकते हैं। वे ही अनादि वाक्य-समूह 'वेद' कहलाते हैं। बीज और अंकुरके समान ही जाग्रत्-स्वप्न, जन्म-मरण सृष्टि-प्रलय तथा कर्म एवं कर्मफलकी परम्परा भी अनादि ही होती है। अनादि प्रपञ्चका शासक परमेश्वर भी अनादि ही होता है। अनादिकालसे शिष्ट (शासित) जीव एवं जगत्पर शासन करनेवाले अनादि शासक परमेश्वरका शासन-संविधान भी अनादि ही होता है। यही शासन-संविधान 'वेद' है।*

[प्रेषक—प्रो० श्रीबिहारीलालजी टाँटिया]

---

* विशेष जानकारीके लिये लेखकद्वारा विरचित ग्रन्थ 'वेदप्रामाण्य मीमांसा' 'वेदका स्वरूप और प्रामाण्य' (भाग २) और 'वेद-स्वरूप-विमर्श' (संस्कृत) द्रष्टव्य हैं।

वेदकी उपादेयता

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

'यस्य निश्वसितं वेदा' उस परब्रह्म परमात्माके नि श्वासभूत वेदोंका प्रादुर्भाव प्रगल्भ तप और प्रखर प्रतिभापूर्ण महर्षियोके अविच्छिन्न ज्ञानद्वारा स्वत प्रस्फुटित शब्दराशिसे हुआ। मानव उसी ज्ञानसे धर्माधर्म, आवास-निवास, आचार-विचार, सभ्यता-सस्कृतिका निर्णय करता हुआ गूढ अध्यात्म-तत्त्वोंका विवेचन कर ऐहिक और आमुष्मिक अभ्युदयका भागी बना और बन सकता है। जिस प्रकार शब्दादिज्ञानके लिये चक्षु आदि इन्द्रिय-वर्ग अपेक्षित होता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोद्वारा अगम्य एव अज्ञात तत्त्वोंके ज्ञापनार्थ वेदकी आवश्यकता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

बडे-से-बडा तार्किक अपनी प्रबल शक्तिद्वारा पदार्थकी स्थितिका प्रयत्न करता हुआ अन्य प्रबल तार्किकको प्रतिभापूर्ण बुद्धिके द्वारा उपस्थापित तर्कसे स्वतर्कको निस्तत्त्व मानकर अपने प्रामाण्यार्थ वेदकी शाखामे जाते देखा गया है। इसीलिये 'स्वर्गकामो यजेत', 'कलञ्जं न भक्षयेत्' इत्यादि वेदवाक्योद्वारा प्रतिपादित विहित प्रवर्तन निषिद्ध निवर्तनमें कोई भी तर्क अग्रसर नहीं किया जा सकता। सध्योपासन धर्मजनक है, सुरापान अधर्मोत्पादक है, इसकी सिद्धि वेदवाक्यातिरिक्त अन्य किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणास गम्य नहीं इसलिये वेदकी आवश्यकता है। वेदकी प्रामाणिकतापर विश्वास करनेवाला 'आस्तिक' और वेदविरुद्ध प्रामाणिकतापर विश्वास करनेवाला 'नास्तिक' कहलाता है। इसीलिये कोपकार अमरसिहने भी 'नास्तिको वेदनिन्दक' लिखा है। आस्तिक सम्प्रदायवाले वेदनिन्दक ईश्वरावतारपर भी विश्वास नहीं करते और न वे उनको मान्यता ही देते हैं।

वेदका स्वाध्याय

इसीलिये आस्तिक-वर्गने वेदक स्वाध्यायको अपनाया। शतपथ-ब्राह्मणमें लिखा है कि—

'यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति भूयासञ्च अक्षय्यञ्च य एवं विद्वानहरह स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य ।

अर्थात् जो व्यक्ति रत्नोंस परिपूर्ण समस्त पृथिवाको दान कर देता है, उस दानसे उत्पन्न पुण्यकी अपेक्षा वेदक स्वाध्यायसे उत्पन्न हुआ पुण्य कहीं अधिक महत्त्व रखता है। इतना ही नहीं, मनु महाराजने तो यहाँतक कहा है कि—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(मनु० १२। १०२)

तात्पर्य यह कि वेदादि शास्त्रोंके अर्थ-तत्त्वको जाननेवाला ब्राह्मण जिस किसी भी स्थान और आश्रममें निवास करे, उसे ब्रह्मतुल्य समझना चाहिये। महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—

'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च,
मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते।'

(महाभाष्य १। १। १)

ब्राह्मणको बिना किसी प्रयोजनके छ अङ्गो-सहित वेदका अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार अध्ययन कर शब्दप्रयोग करनेवालेके माता-पिता इस लोक और परलोकम महत्ता प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो ब्राह्मण वेदाध्ययनमें प्रवृत्त न होकर इधर-उधर परिभ्रमण (व्यर्थ परिश्रम) करता है, उसकी निन्दा स्वय मनु महाराजने भी की है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय ॥

(मनु० २। १६८)

इस वाक्यके अनुसार जो द्विज वेदातिरिक्त अन्य पठन-पाठन (शिल्पकला आदि)-में परिश्रम करता है, वह सवश जीवित ही शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थितिम द्विजाति-मात्रको स्वधर्म समझकर वेदाध्ययनमें प्रवृत्त होना चाहिये।

अधिकार

सभी धार्मिक ग्रन्थोंमें वेदाध्ययनका अधिकार द्विजको ही दिया गया है द्विजेतरको नहीं। इसका मुख्य कारण है वेदशास्त्रकी आज्ञा—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि' अर्थात् 'विद्या ब्राह्मणके समीप जाकर बोली—मेरी रक्षा कर, मैं तेरी निधि हूँ'। यह अन्यके पास नहीं गयी क्योंकि मुख्यत ब्राह्मण ही विद्याके रक्षक हैं—वेदरूपी कोपका कोषाध्यक्ष ब्राह्मण ही है। दूसरी बात यह है कि 'उपनीय गुरु शिष्यं वेदमध्यापयेद् विधिम्' गुरु शिष्यका उपनयन-सस्कार कर विधिपूर्वक शौचाचार-शिक्षाद्वारा

वेदाध्ययन कराये। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा। एकादशवर्षं राजन्यम्। द्वादशवर्षं वैश्यम्' (पा० गृ० सू० २। २। १—३)—इन वाक्योंद्वारा त्रिवर्णका ही उपनयन-संस्कार वेदादि सत्-शास्त्रोंद्वारा हो सकता है। जब द्विजेतरोंका उपनयन-संस्कार ही नहीं, तब उनके लिये उपनयनमूलक वेदाध्ययनकी चर्चा बहुत दूर रह जाती है। चतुर्थ वर्णके व्यक्तियोंको कला कौशल दस्तकारी आदिकी शिक्षाका विधान किया गया है। शास्त्रपर विश्वास न करनेवालोंके विषयमें क्या कहें वे तो ईश्वरके दया-पात्र ही हैं।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्॥

जिस वर्ग, समाज और व्यक्तिकी रक्षा भगवान्को इष्ट होती है, उसकी बुद्धि वे शुद्ध कर देते हैं। वह व्यक्ति बुद्धिसे पदार्थका निर्णय कर प्रवृत्ति-निवृत्तिका निश्चय करनेके योग्य बन जाता है।

वैदिक धर्म और संस्कृति

वैदिक कालमें अधिकांशमें स्वाध्याय और अध्ययनमें ही समय व्यतीत होता था। समयका दुरुपयोग करनेवाले चल-चित्रादि साधन उस समय नहीं थे। कुछ लोग गृहस्थ-जीवन बनाकर इन्द्रादि देवोंकी ऋक्-सूक्तोंद्वारा उपासना करते तथा वैदिक कर्मकाण्डका आश्रय ग्रहण करते और स्वयं उत्पन्न नीवार आदिसे जीवन-निर्वाह करते थे। इनके छोटे-छोटे बालकोंको राजसूय अश्वमेध आदि यज्ञोंकी प्रक्रिया कण्ठस्थ रहती थी तथा इनका जीवन विचार-प्रधान होता था। आडम्बरका गन्ध भी नहीं था। नदियों और उपवनोंके स्वच्छ तटोंपर रहकर स्वाध्याय करते हुए आत्मचिन्तन करना ही इनका परम लक्ष्य था। आनेवाली विपत्तियोंका प्रतिकार ये दैवी उपायोंसे करते थे। वे अपने प्रतिद्वन्द्वी दस्युओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये इन्द्र आदि देवताओंकी स्तुति करते थे और अपनी रक्षामें सफल होते थे। उस समयकी प्रजा सत्त्वगुण-प्रधान थी।

वर्तमान

आज हमारा समाज वैदिक परम्पराको अनुपादेय समझ कर उसका परित्याग करता चला जा रहा है। वैदिक केवल मन्त्रोच्चारण मात्रसे ही कृतकृत्य हो जाते हैं। अङ्गोंके अध्ययनकी ओर उनकी रुचि ही नहीं है। वैयाकरण और साहित्यिकोंका थोड़ेसे सूत्रों तथा कुछ मनोरंजक पद्योंपर ही पाण्डित्य समाप्त हो जाता है। पहले विद्वानोंकी प्रतिभा और उनका परिश्रम सर्वतोमुखी होता था अतः इस सम्बन्धमें सबको सावधानी बरतनी चाहिये।

वेदकृत वामनरूपधारी विष्णुका स्तवन

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्याः सप्त धामभिः॥
इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूळ्हमस्य पांसुरे॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥
तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥
तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्॥

(ऋक्० १। २२। १६—२१)

जिस भू-प्रदेशसे अपने सातों छन्दोंद्वारा विष्णुने विविध पाद क्रम किया था उसी भू-प्रदेशमें देवता लोग हमारी रक्षा करें। विष्णुने इस जगत्की परिक्रमा की उन्होंने तीन प्रकारसे अपने पैर रखे और उनके धूलियुक्त पैरमें जगत् छिप सा गया। विष्णु जगत्के रक्षक हैं उनका आघात करनेवाला कोई नहीं है। उन्होंने समस्त धर्मोंका धारण कर तीन पगोंमें परिक्रमण किया। विष्णुके कर्मोंके बलसे ही यजमान अपने व्रतोंका अनुष्ठान करते हैं। उनके कर्मोंको देखो। वे इन्द्रके उपयुक्त सखा हैं। आकाशमें चारों ओर विचरण करनेवाली आँख जिस प्रकार दृष्टि रखती है उसी प्रकार विद्वान् भी सदा विष्णुके उस परम पदपर दृष्टि रखते हैं। स्तुतिवादी और मेधावी मनुष्य विष्णुके उस परम पदको अपने हृदयको प्रकाशित करते हैं।

वेद ही सदाचारके मुख्य निर्णायक

(शृङ्गेरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराज)

वेदाम आया है कि यदि कोई मनुष्य साङ्ग समग्र वेदाम पारगत हो पर यदि वह सदाचारसम्पन्न नहीं है तो वेद उसकी रक्षा नहीं करेंगे। वेद दुराचारी मनुष्यका वैसे ही परित्याग कर देते हैं जैसे पक्षादि सर्वाङ्गपूर्ण नवशक्तिसम्पन्न पक्षि-शावक अपने घोसलेका परित्याग कर देते हैं। प्राचीन ऋषियोने अपनी स्मृतियोंमें वेदविहित सदाचारके नियम निर्दिष्ट किये हैं और विशेष आग्रहपूर्वक यह विधान किये हैं कि जो कोई इन नियमोका यथावत् पालन करता है, उसके मन और शरीरकी शुद्धि होती है। इन नियमोक पालनसे अन्तमे अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाता है। परतु व्यवहार-जगत्म इस बातका एक विरोध-सा दीख पडता है। जो लोग सदाचारी नहीं हैं वे सुखी और समृद्ध दीखते हैं तथा जो सदाचारके नियमोका तत्परताके साथ यथावत् पालन करते हैं, वे दु खी और दरिद्र दीखते हैं, परतु थाडा विचार करने और धर्मतत्त्वको अच्छी तरहसे समझनेका प्रयत्न करनेपर यह विरोधाभास नहीं रह जाता। हिदू-धर्म पुनर्जन्म और कर्मविपाकके सिद्धान्तपर प्रतिष्ठित है। कुछ लोग जो सदाचारका पालन न करते हुए भी सुखी-समृद्ध दीख पडते हैं इसमें उनके पूर्वजन्मके पुण्यकर्म ही कारण हैं और कुछ लोग जो दु खी हैं, उसमें उनके पूर्वजन्मके पाप ही कारण हैं। इस जन्मम जो पाप या पुण्यकर्म बन पडेगे उनका फल उन्ह इसके बादके जन्मामें प्राप्त होगा।

इस समयका कुछ ऐसा विधान है कि बडे-बडे गम्भीर प्रश्नोके निर्णय उन लोगोके बहुमतसे किये-कराय जाते हैं, जिन्हें इन प्रश्नोंके विषयमे प्राय कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। औरकी बात तो अलग राजनीतिक जगत्से सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंमें भी यह पद्धति सही कसौटीपर खरी सिद्ध नहीं होती, फिर धर्म और आचारके विषयमे एसी पद्धतिसे काम लेनेका परिणाम तो सर्वथा विनाशकारी ही होगा। जो आत्मा चक्षु आदिसे अलक्षित और भौतिक शरीरसे सर्वथा भिन्न है, साथ ही अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अचिन्त्य है, उसके अस्तित्वके विषयम सदह उठे ता उसका निराकरण केवल बुद्धिका सहारा लेनेसे कैसे हो सकगा? एसी शकाका निराकरण तो वेदोद्वारा तथा उन सद्ग्रन्थो एव मत् युक्तियाद्वारा हा हो सकता है जो वदोंके आधारपर रचित हैं।

इसी प्रकार यदि अज्ञानी लोग अपने विशाल बहुमतके बलपर निर्णय कर दे कि अमुक बात धर्म है तो उनके कह देने मात्रसे कोई बात धर्म नहीं हो जाती। सदाचार वह है, जिसका वेद-शास्त्रोने विधान किया है जिसका सत्पुरुष पालन करते हैं तथा जो लोग ऐसे सदाचारका आचरण करते हैं उन्हें यह सदाचार सुखी-सौभाग्यशाली बनाता है। इसके विपरीत अनाचार वह है जो वेद-विरुद्ध है तथा जिसका सदाचारी पुरुष परित्याग कर देत हैं। जो लोग ऐसे अनाचारमे रत रहते हैं, उनका भविष्य कभी अच्छा नहीं होता।

विद्याध्ययनको सम्पन्न कर जब विद्यार्थी गुरुकुलसे विदा हाते हैं तब गुरु उन्ह यह उपदेश देते हैं—

अथ यदि त कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिन । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामा स्यु । यथा त तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथा ।

(तैत्तिरीयोपनिषद्, अनु० ११ शीक्षावल्ली)

'यदि तुम्ह अपने कर्मके विषयमें अथवा अपन आचरणके विषयमें कभी कोई शका उठ ता वहाँ जो पक्षपातरहित विचारवान् ब्राह्मण हा जा अनुभवी, स्वतन्त्र सौम्य धर्मकाम हा उनके जैसे आचार हों तुम्ह उन्हीं आचाराका पालन करना चाहिये।'

यह बहुत ही अच्छा होगा यदि बच्चोंको बचपनस ही ऐसी बुरी आदतें न लगने दी जायँ जैसे मिट्टीकी गोलियासे खेलना या दाँतोंमे अपने नख काटना। विशपत बडोंके सामन बच्चे एसा कभी न करें। मनु (३। ६३—६५)-का कथन है कि ऐम असदाचारी लोगांके कुटुम्ब नष्ट हा जात हैं। हमारे ऋषि सध्या-वन्दन और सदाचारमय जावनक कारण अमृतत्वका प्राप्त हुए। इमा प्रकार हम लाग भी अपने जीवनमें सदाचारका पालन करक सुख-समृद्धि और दीर्घजावनका लाभ प्राप्त कर सकते हैं। सदाचारके नियम मूलत वदामें हैं।

अन्तम यहाँ हिदुओंके वैदिक और लौकिक—इम प्रकार जा भेद किय जात हैं उसके विषयमं भी हम दा शब्द कहना है। वह यह कि इस प्रकारका वर्गीकरण बहुत हा भद्दा और गलत है। हिंदू-धर्ममें एसा कोइ वर्गभेद नहीं है। सभी हिंदू वैदिक हैं और सबका ही सदाचारक उन नियमोंका पालन करना चाहिये, जो वर्ण और आश्रमक अनुसार मूल सद्ग्रन्थोंमें विहित हैं।

वेदका अभेदपरत्व

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

प्रश्न—क्या वेदका तात्पर्य—प्रतिपाद्य भेद है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है। प्रमाणान्तरसे सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन करनेपर वेद अज्ञातज्ञापक प्रमाण नहीं रहेगा, दूसरे प्रमाणसे सिद्ध पदार्थका अनुवादक हो जायगा। जो वस्तु साक्षीके अनुभवसे ही सिद्ध हो रही है, उसकी सिद्धिके लिये वेदतक दौड़नेकी क्या आवश्यकता है? वेद ऐसी वस्तु बताता है, जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदिसे सिद्ध नहीं होती। वेद साक्षीमात्रका भी प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध है और सबका प्रकाशक है। वेदका वेदत्व साक्षीको ब्रह्म बतानेसे ही सफल होता है।

वस्तुतः बात यह है कि परिच्छिन्न स्थूल-सूक्ष्म पदार्थोंसे अभेद अथवा तादात्म्य होना अज्ञानका लक्षण है। दृश्य साक्ष्य अथवा भेदमात्रसे अपनेको पृथक् द्रष्टा जानना विवेक है। इस पृथक्त्वमें भिन्नत्व अनुस्यूत है। जड़से चेतन आत्मा भिन्न है। यह भिन्नत्वकी भ्रान्ति भी अज्ञानकृत है। वेद प्रमाणान्तरसे अज्ञात आत्माकी अपरिच्छिन्नता—अद्वितीयताका बोध करा देता है। आत्मा होनेसे चेतन है, ब्रह्म होनेसे अपरिच्छिन्न—अद्वितीय है। इस ऐक्यके ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, भेद बाधित हो जाता है। यह अज्ञानकी निवृत्ति और बाधित भेद भी आत्मस्वरूप ही है, क्योंकि वह अधिष्ठान आत्मासे भिन्न नहीं है। प्रमाणान्तरसे अज्ञात वस्तुका बोध करानेके कारण ही श्रुतिका वास्तविक प्रामाण्य है।

प्रश्न—तब क्या भेद सत्य नहीं है?

उत्तर—कदापि नहीं। भेद सर्वथा मिथ्या है, परिच्छिन्नके तादात्म्यसे ही वह सत्य भासता है। जिस अधिष्ठानमें भेद भास रहा है, उसीमें उसका अत्यन्ताभाव भी भास रहा है। अपने अभावके अधिष्ठानमें भासना ही मिथ्याका लक्षण है। इसलिये यह युक्ति बिलकुल ठीक है—'भेदो मिथ्या स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वात्'। यह अनुभवसिद्ध है कि अधिष्ठान-ज्ञानसे भेद मिथ्या हो जाता है। इसलिये वेदका तात्पर्य मिथ्या-भेदके प्रतिपादनमें नहीं है, प्रत्युत भेदके भाव और अभावके अनुकूल शक्ति, मायाके अधिष्ठानके प्रतिपादनमें है।

प्रश्न—तब क्या भेदके प्रतिपादनसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती?

उत्तर—भेदके प्रतिपादनसे अर्थ-धर्म-कामरूप तीनों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है, परंतु मुक्तिकी सिद्धि नहीं होती। भेदमें परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति दुःख है, अहंकार दुःख है, राग-द्वेष दुःख हैं और जन्म-मरण भी दुःख हैं। भेदमें समाधि-विक्षेप नहीं छूटते, सुख-दुःख नहीं छूटते, पाप-पुण्य नहीं छूटते और संयोग-वियोग भी नहीं छूटते। इसलिये भेदमें जन्म-मरणका चक्र अव्याहतरूपसे चलता रहता है। अतएव मुक्तिरूप पुरुषार्थकी सिद्धि भेदमें नहीं हो सकती। मुक्ति स्वयं आत्माका स्वरूप ही है। ज्ञानरूपसे उपलक्षित आत्मा ही अज्ञानकी निवृत्ति है। निवृत्ति कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, इसलिये मुक्तिमें प्राप्य-प्रापकभाव, साध्य-साधनभाव आदि भी नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि श्रुतिका तात्पर्य भेदके प्रतिपादनमें नहीं है, क्योंकि भेदकी सिद्धिसे मुक्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न—फिर भेद-प्रतिपादक श्रुतियोंका क्या होगा?

उत्तर—भेद-प्रतिपादक श्रुतियाँ अधिरक्त अधिकारीके लिये हैं। उनसे लौकिक-पारलौकिक सिद्धिकी प्राप्ति होती है, वे व्यष्टि-समष्टिका कल्याण करती हैं, अन्तःकरणको शुद्ध करती हैं, मुमुक्षुको ज्ञानोन्मुख करती हैं। इसलिये व्यवहारमें उनका बहुत ही उपयोग है, परंतु जहाँ वस्तुकी प्रधानतासे परमार्थ-तत्त्वका निरूपण है, वहाँ श्रुतियाँ भेदको ज्ञाननिवर्त्य होनेसे मिथ्या बताती हैं। जो वस्तु अज्ञानसे निवृत्त होती है, वह भी मिथ्या ही होती है। अतएव सर्वाधिष्ठान सर्वावभासक स्वयंप्रकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके अज्ञानसे तद्विषयक अज्ञानकृत सर्वभेदकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

बात यह है कि केवल इन्द्रिययन्त्रोंसे तत्त्वका अनुसंधान करनेपर मात्र एक या अनेक जड सत्ताकी ही सिद्धि होती है। चिद्वस्तु यन्त्रग्राह्य नहीं है। केवल बुद्धिसे अनुसंधान करनेपर बुद्धिकी शून्यता ही परमार्थरूपमें उपलब्ध होती है, क्योंकि विचार-विमर्शात्मक बुद्धिका अन्तिम सत्य निर्धारणपर शून्य ही है। भक्तिभावनायुक्त बुद्धिके द्वारा अनुसंधान करनेपर सर्वप्रमाण प्रमेय-व्यवहारके मूलभूत सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वरकी सिद्धि होती है। ऐसी स्थितिमें स्वतःसिद्ध साक्षीको अपरिच्छिन्न—अद्वितीय ब्रह्म बतानेके लिये कोई इन्द्रिययन्त्र या भाव-भक्ति समर्थ नहीं है। इसका ज्ञान केवल औपनिषद-ऐक्यबोधक महावाक्यसे सम्पन्न होता है।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'

(ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजी महाराजकी अमृत-वाणी)

वेद विश्वका प्राचीनतम वाङ्मय है। भारतकी सनातन मान्यताओके अनुसार वेद अपौरुषेय अथवा सर्वज्ञ स्वय भगवान्‌की लोकहिताय रचना है। शास्त्रोंमे सम्पूर्ण वेदका धर्मके मूलरूपमे आख्यान किया गया है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'। उदयनाचार्यने सम्पूर्ण वेदको परमेश्वरका निरूपक माना है। उनका कहना है—

कृत्स्न एव हि वेदोऽय परमेश्वरगोचर ।

भट्टपादने वेदकी वेदता इस बातमे माना है कि लोकहितका जो उपाय प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे नहीं जाना जा सकता उसका ज्ञान वेदसे होता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एन विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

वेदकी समस्त शिक्षाएँ सार्वभौम हैं। वेदभगवान् मानवमात्रको हिन्दू, सिख मुसलमान ईसाई बौद्ध, जैन आदि कुछ भी बननेके लिये नहीं कहते। वेदभगवान्‌की स्पष्ट आज्ञा है—'**मनुर्भव**' अर्थात् मनुष्य बनो। आज हमारी मनुष्यता पाश्चात्य धूमिल सस्कृतिके ससर्गसे सक्रमित हो गयी है। अहर्निश यह तथाकथित मानव-समाज स्वसाधनमे सलग्न है। सैकड़ों वैदिक मन्त्रोंमे भगवान् नारायणका विराट् और परम पुरुषके रूपमे चित्रण किया गया है—

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(ऋक्० १०। ९०। १)

इस विश्वके असख्य प्राणियोके असख्य सिर आँख और पैर उस विराट् पुरुषके ही सिर आँख तथा पैर हैं। विश्वमें सर्वत्र परिपूर्ण और सभी शरीरोंम प्राणिमात्रके हृदयदेशमे विराजमान वे पुरुष निखिल ब्रह्माण्डको सब ओरसे घेरकर दृश्य-प्रपञ्चसे बाहर भी सर्वत्र व्याप्त हैं।

अत सर्वभूतमय ईश्वरकी अवधारणा प्रगाढ करनके लिये ही वेदोंमें प्रार्थना की गयी है—'**सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।**' सभी दिशाएँ मरे मित्र हो जायँ। '**मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे**' हम सभी प्राणियाको मित्रकी दृष्टिसे देखें—

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि य ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्ववेद ३। ३०। १)

ईश्वरने हमें सहृदय एक मनवाला बिना द्वेषक बनाया है। हम एक-दूसरेसे ऐसे स्नेह करे जैसे गाय अपने नवजात बछडेसे करती है—

समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति॥

(ऋक्० १०। १९१। ४)

हम सबके जीवनका लक्ष्य एक हो हृदय और मन एक हो ताकि मिलकर जीवनमे उस एक लक्ष्यको प्राप्त कर सकें।

मानवधर्मका ऐसा उच्चतम, श्रेष्ठतम और वरणीय-ग्रहणीय स्वरूप अन्यत्र दुर्लभ है। वैदिक धर्म हम सुख-शान्ति समाजम समृद्धि, सवा-भावना सामञ्जस्य सहयोग सत्याचरण सदाचरण सवेदनामे परिपूर्ण हृदय और मननशील मनुष्य बननेकी ओर उत्प्रेरित करता है।

वेदमे इसी भावनाको दृढ किया गया है कि एक ही आत्मतत्त्व प्रत्येक पदार्थम प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न नाम-रूपासे अभिहित हो रहा है, अतएव समग्र ब्रह्माण्ड एक ही तत्त्वसे अधिष्ठित है। वेद-सस्कृतिको वैष्णव सस्कृति इसलिये कहा गया है कि विष्णुम ब्रह्मक सभी गुणोका समावेश हो गया है—

'पुरुष एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भाव्यम्।'

(ऋक्० १०। ९०। २)

वेद-विद्या भारतीय सस्कृतिका पहला प्रतीक है। वेद-विद्या त्रयीविद्या कहलाती है। ऋक् यजु और साम ही त्रयीविद्या हैं। त्रयीविद्याका सम्बन्ध अग्नित्रयस है। अग्नि, वायु और आदित्य—य तीन तत्त्व ही विश्वम व्याप्त हैं। पुरुष ब्रह्मक तीन पैर ऊपर हैं और एक पैर विश्व है। त्रयीविद्याक समान ज्ञान कर्म और उपासनाका त्रिक वेद-विद्याका दूसरा स्वरूप है जिसक माध्यमस वेद ब्रह्मकी सत्, चित् और आनन्द—इन तीन विभूतियाकी अभिव्यक्ति हो रही है। विश्वक सम्पूर्ण धर्मोका कन्द्रबिन्दु इस त्रिकमें ही स्थित है। यह त्रिक है और अधिक विशिष्ट रूपमें—गायत्री गङ्गा एव गौक रूपमें प्रस्फुटित हुआ है। अत गायत्री, गङ्गा और गौक तत्त्वका ठीक-ठाक समझना ही वैदिक सस्कृतिक मूल तत्त्वाका समझना है।

आत्मकल्याणक इच्छुक मानवाका धर्मक मूल स्रोत वेदाका अध्ययन मनन और यथार्थ चिन्तन आत्मनिग्रहक साथ करना चाहिये।

[प्रस्तुति—श्रीमदनजी शर्मा शास्त्री साहित्यालकार]

श्रीअरविन्दका अध्यात्मपरक वेद-भाष्य

श्रीअरविन्दके योग और दर्शनक आधार हैं वेद। व वैदिक परम्पराके द्रष्टा और चिन्तक थे। सृष्टिक विकास-क्रमम जिस अतिमानसिक चेतनाका अवतरण और अभिव्यक्ति उनके पूर्णयोगका लक्ष्य है, वह उनके वद-भाष्यकी आध्यात्मिक व्याख्यामे परिलक्षित हुआ है। श्रीअरविन्दने अपने सस्कृत काव्य 'भवानी-भारती' म कहा है कि—

पुन शृणोमीममरण्यभूमौ
वेदस्य घोषं हृदयामृतोत्सम्।
सुज्ञानिनामाश्रमगा मुनीनां
कुल्येव पुंसां वहति प्रपूर्णा॥ १३॥

भावार्थ—एक बार फिर मैं वनामें वेदके उम स्वरको गुजरित हाते हुए सुन रहा हूँ, जो हृदयमें अमृतका स्रोत है। यह मानव-नदी मुनियाके गम्भीर ज्ञानयुक्त आश्रमकी ओर बह रही है।

श्रीअरविन्दक अनुसार 'विश्वके अध्यात्म मत-पन्थ और चिन्तनका कोई भी अङ्ग आज जैसा है वैसा नहीं हाता, यदि वेद न हाते। यह विश्वके किसी अन्य वाङ्मयक लिये नहीं कहा जा सकता है। वेद ब्रह्मके सार-तत्त्वके विषयम ही नहीं प्रत्युत अभिव्यक्तिके विषयमें भी सत्य हैं।'

वदाकी अपौरुषेयता और उनम निहित ईश्वरीय ज्ञानका प्रतिपादन करते हुए भी श्रीअरविन्दने उन्ह ज्ञेय और अनुसधय स्वीकार किया है। भारतवर्ष और विश्वका विकास इसके अन्वेषण और इसमें निहित ज्ञानके प्रयोगपर निर्भर करता है। वदका उपयाग जीवनक परित्यागमें नहीं प्रत्युत ससारम जीवनयापनक लिये है। हम जो आज हैं और भविष्यम जा हाना चाहत हैं उन सभीक पीछे हमार चिन्तनके अभ्यन्तरम हमारे दर्शनोके उद्गम वद ही हैं। यह कहना उचित नहीं कि वेदका सनातन ज्ञान हमारे लिये सहज मागकी प्राप्तिके लिये अति दुरूह और अँधेरा उपत्यकाम भटकन-जैसा है।

एक बार उन्हाने अपने पूर्णयोगकी साधनाके उद्देश्यके विषयमें श्रीयुत मातीलाल रायका लिखा था—'श्रीकृष्णने मुझ वेदका वास्तविक अर्थ बताया है। इतना ही नहीं उन्हान मुझ भाषा-शास्त्रका नया विज्ञान बताया है जिसम मानव-वाणी तथा उसके विकासकी प्रक्रियाका ज्ञान हा सक और एक नवीन निरुक्त लिखा जा सके। उन्होंने मुझ उपनिषदोंमें निहित अर्थ भी बताया है जो भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानोंद्वारा समझा नहीं गया है। अत मुझे वद और सारे वदान्तकी व्याख्या इस तरह करना होगी कि कैसे सारे धर्म इनसे उद्भूत होते हैं। इस तरह प्रमाणित हो जायगा कि भारतवर्ष विश्वके धर्म-जीवनका केन्द्र है और सनातनधर्मद्वारा विश्वकी रक्षा करना भारतवर्षकी नियति है।'

वद योग और धर्मशास्त्रके प्राणप्रद बीज-मन्त्र तथा धर्मरक्षक मूलतत्त्व हानेके नाते श्रीअरविन्द वेदार्थको गुह्य मानते हैं। चेतनाक ऊर्ध्वलोकम रहस्यमय पर्देके पीछे अवस्थित वेदार्थ शब्दार्थकी सीमाओंमे कभी सीमित नहीं माने गये हैं क्योंकि वैदिक ऋषि मन्त्रद्रष्टा तथा सत्यश्रुत हानके नात उस परम ज्ञानके अधिकारी थे जहाँ साधारण मानवके मनकी गति नहीं है। अत उस गुह्य ज्ञानका गुरु-शिष्य-परम्पराम हा सरक्षित करनेका विधान था।

स्वाभाविक है कि उपर्युक्त विधानके कारण ऋचाओंके पीछ छिपा हुआ तात्पर्य दुर्ज्ञेय हो गया किंतु इतना नहीं कि वह अज्ञेय हो जाय। आध्यात्मिक साधना-पद्धति हमे सिखाती है कि यदि ऋषिकी चेतनासे तदाकार होनेका अभ्यास करके वेद-ऋचाके अर्थ-बोधकी अभीप्सा हो तो वेद स्वयका अवश्य स्पष्ट करेंगे। निरुक्तकार यास्कने भी ऐसे अनेक शब्द गिनाये हैं जिनका अर्थ उन्हें ज्ञात नहीं था। आज तो अप्रचलित भाषा-शैली और साधनाके अभावमें व्याप्त अन्धकारसे वदके अभिप्रायका उदय होना, 'दभ्रं पश्यद्भ्य उर्विया विचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥' (ऋक्० १।११३।५)-का तरह अल्पदृष्टियुतको विशाल दृष्टि दनेके लिये उषा भगवतीकी अभिव्यक्तिके समान हा कठिन है। उपनिषद्-कालमें भी आध्यात्मिक अभीप्सुओंको वेदकी उपासनाके लिये दीक्षा, ध्यान और तपस्याकी शरण लेना हाता थी। अत आज भी वदोपासकका श्रद्धा होनी चाहिये कि ऋचाएँ ऋषियोंकी कल्पनाएँ नहीं प्रत्युत सत्य दर्शन हैं। अत इनके यथार्थका केवल व्याकरण और व्युत्पत्ति-शास्त्रके मानसिक कार्यकलापोंद्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता।

श्रीअरविन्दने अपना अध्यात्मपरक व्याख्याके लिये वेदोक्त प्रमाण ही प्रस्तुत किये हैं। वे ऋषि दीर्घतमाकी ऋचाको उद्धृत करते हैं—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥
(ऋ० १।१६४।३९)

अर्थात् परमात्मा परम आकाशके समान व्यापक और ऋचाओंके अक्षरके समान अविनाशी है, जिसमे समस्त देवगण स्थित हैं, उसे जो नहीं जानता वह वेदकी ऋचाओसे क्या करेगा? जो उस परमतत्त्वको जानते हैं, वे ही उस परम लोकमे अधिष्ठित हो सकते हैं?

इस गूढार्थ-बोधक प्रथम प्रमेयकी पुष्टि श्रीअरविन्दने 'वेद-रहस्य' नामक पुस्तकमें निरुक्त, व्याकरण भाषा-विज्ञान, रूपक-रहस्य-भेदन और परम्परा-प्राप्त विभिन्न प्रणालियोंसे की है। स्वत प्रमाणके रूपमें उन्होने ऋषि वामदेव गौतमका मन्त्र-दर्शन प्रस्तुत किया है—

एता विश्वा विदुषे तुभ्य वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचासि।
निवचना कवये काव्यान्यशंसिष मतिभिर्विप्र उक्थै ॥

(ऋक्० ४। ३। १६)

अर्थात् हे अग्नि! तुम ज्ञानीके लिये मैंने ये गुह्य शब्द उच्चरित किये हैं। इन मार्ग-प्रदर्शक, आगे ले जानेवाले क्रान्तदर्शी कवि-वाक्या तथा ऋषि-ज्ञानके प्रकाशमान तत्त्वाको मैंने शब्दो और चिन्तनमें वर्णित किया है।

ऋषि दीर्घतमा औक्थ्य वाक्‌के चार स्तरोका वर्णन करते हैं। परा पश्यन्ती और मध्यमा तो गुहामें छिपी हैं केवल तुरीया वाक् अर्थात् वैखरीका प्रयोग ही मानव कर पाता है—'वैखरी कण्ठदेशगा।'

निरुक्तकार यास्कने भी वेद-भाष्यकारोंका याज्ञिक गाथा-गायक अथवा ऐतिहासिक, वैयाकरण और आध्यात्मिक सम्प्रदायोमें वर्गीकरण किया है तथा वे ज्ञानको भी अधियज्ञ अधिदैवत तथा आध्यात्मिक वर्गोंका मानते हैं।

श्रीअरविन्दका द्वितीय प्रमेय है कि वेदार्थ स्वयं प्रतीकात्मक द्व्यर्थक या अनेकार्थक हैं। सप्त सरिताओके प्रवाहको खोलना प्रकाशकी मुक्ति, पणियोसे पशुओको छुडाना—ये सदर्भ ऐसे हैं जो प्रतीकाकी स्थायी स्वाभाविक और आध्यात्मिक व्याख्यासे ही अपने गुह्य तात्पर्यका उद्घाटन कर सकते हैं। लौकिक बाह्य और गुह्य अर्थोंका पृथकीकरण ज्ञान और शिक्षणके अभ्याससे ही सम्भव है। अत वेदार्थरूपी रथके दो चक्र हैं—अध्यात्म और रहस्य। इनको साधनासे ही वेदकी ऋचाएँ अपने रूप और तात्पर्यको प्रकट करती हैं।

उदाहरण-स्वरूप ऋषि मधुच्छन्दा वैश्वामित्रकी ऋचा प्रस्तुत करते हैं—

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति॥

(ऋक्० १। ३। १२)

अभिप्राय यह कि सरस्वती अन्तर्दर्शन या प्रज्ञानक द्वारा मानव-चेतनाके सतत-प्रबोधनके माध्यमसे मानव-चेतनाके महान् प्रवाह (ऋतस्य विशाला०) साक्षात् सत्य चेतनाको अवतरित कराती है तथा हमारे सारे चिन्तनको प्रदीप्त करती है।

पूर्वकी ऋचाआमे सरस्वतीका प्रकाशमय ऐश्वर्यसे पूर्ण (वाजेभिर्वाजिनीवती) एव विचारकी सम्पत्तिसे समृद्ध (धियावसु) कहा गया है। किंतु 'महो अर्ण' को समानाधिकरण मानकर अर्थ किया जाय तो सरस्वती पजाबकी एक नदी मात्र है। अत प्रतीकको व्याख्याके अभावमे वेदार्थ ही लुप्त हो जायगा।

इसी परम्परामे ऋषि वामदेव जब समुद्रक विषयमे 'हृद्यात् समुद्रात्' कहते हैं तो प्रतीकार्थ ही स्पष्ट है—

एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्ष।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्॥

(ऋक्० ४। ५८। ५)

इसका शब्दार्थ है कि नदियाँ हृदय-समुद्रसे निकलती हैं। शत्रुद्वारा सैकडो बाडोंमे बद होनेके कारण ये दिखायी नहीं दे सकतीं। मैं घीकी धाराओंको देखता हूँ, क्योंकि उनके अदर सुनहरा बेंत रखा हुआ है।

श्रीअरविन्दके अनुसार इसका निहितार्थ यह है कि दिव्य ज्ञान हमारे विचारोंके पीछे सतत प्रवाहित हो रहा है किंतु आन्तरिक शत्रु उसे अनेक बन्धनोंसे रोके रखते हैं। अर्थात् वे मनस्तत्त्वको इन्द्रिय-ज्ञानतक ही सीमित कर देते हैं। यद्यपि हमारी सत्ताकी लहरें अतिचेतना तक पहुँचनेवाले किनारोंसे टकराती हैं, किंतु वे इन्द्रियोंकी आश्रिता मनश्चेतनाकी सीमामें सीमित हो जाती हैं। आगे यह लक्ष्य इस रूपमें वर्णित है कि वस मधु-ही-मधु है—यह लक्ष्य अर्थात् सिन्धु-अतिचेतनका पारावार है।

वेद-व्याख्याम प्रतीकाको विवेचन भाषा-विज्ञानका विरोधी सिद्धान्त नहीं है। अध्यात्मपरक भाष्य-प्रणाली वैदिक शब्दावलीके अनेकार्थ-सिद्धान्तपर आधारित होनेसे वेद दुरूह भी नहीं हुए हैं बल्कि निरुक्तमे अनुमोदित शब्दार्थके वैकल्पिक अर्थोंकी सम्भावनाएँ उन्मुक्त हो गयीं

हैं। शिक्षा, साधना तथा ध्यानके अभावसे ही ऋषि-चेतनाका स्पर्श सम्भव नहीं हो पाता है। तात्पर्य यह नहीं है कि इस सिद्धान्तके अनुशीलनसे वेदार्थ कल्पनापर आश्रित हो जायगा, बल्कि भाषा-विज्ञानको भी शब्दोंके स्थायी तात्पर्यके अन्वेषणमे सहायता मिलेगी। क्योंकि शब्द श्रीअरविन्दके अनुसार कृत्रिम नहीं, प्रत्युत ध्वनिक सजीव विस्तार हैं। बीज-ध्वनि उनका आधार है, अत बीज-मन्त्रासे उत्पन्न शब्द भी स्थायी अर्थोंकी अभिव्यञ्जनाम साधक ही है, बाधक नहीं।

श्रीअरविन्दका तृतीय प्रमेय है कि वैदिक शब्दावलीका स्वाभाविक और स्थायी अर्थ आध्यात्मिक ही होगा। जैसे 'ऋतम्'का आध्यात्मिक अर्थ है परम सत्य। जल या अन्न आदि अवान्तर अर्थ हम स्वाभाविक वेदार्थसे दूर ले जाते हैं। वेद यदि अग्निको 'क्रतु हृदि' अर्थात् हृदयका सत्य कहते हैं तो अग्निका अर्थ अधिक व्यापक और उदात्त हो जाता है। यही प्रणाली कथानकों और रूपकोंकी व्याख्याम भी प्रयुक्त हो सकती है।

अग्निका आध्यात्मिक अर्थ है 'गोपामृतस्य दीदिविं वर्धमान स्वे दमे'—स्वगृहम देदीप्यमान सत्यका प्रभासित रक्षक। मित्र और वरुण हैं 'ऋतावृधौ ऋतस्पृशौ'—सत्यके स्पर्श तथा अभिवृद्धिकारक। गो शब्द गायके अतिरिक्त प्रकाश या रश्मियोका भी वाचक है। यह ऋषियोंके नामामें भी प्रयुक्त है। यथा— गोतम और 'गविष्ठिर'। वेदोक्त गायें सूर्यके 'गोयूथ' हैं। यह व्याख्या सर्वत्र सुसगत और अर्थ-प्रदायिका है। जैसे घृत शब्द 'घृ क्षरणदीप्त्यो ' धातुसे बना है। अत वैदिक शब्दावलीमें घृतका अर्थ प्रकाश भी होगा।

वैदिक ज्ञानका केन्द्रिय चिन्तन है सत्य प्रकाश और अमरत्वकी खोज। वैदिक कथानकों और रूपकोंमें भी यही आध्यात्मिक लक्ष्य प्रत्यक्ष है। उदाहरणार्थ देवशुनी सरमाका कथानक सरमाको ज्ञानका पूर्वदर्शिका तथा ज्ञानान्वेषणमें लगी दिव्य शक्तियोंकी पथ-प्रदर्शिकाके रूपमें प्रदर्शित करता है—

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।
विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट्॥
(ऋक्० १।७२।८)

तात्पर्य यह कि विचारको यथार्थ-रूपमे धारण करती हुई सत्यकी ज्ञाता द्युलोकका सात शक्तियोंने नन्दिनी आनन्द-सम्पत्तिके द्वारोंको जान लिया सरमाने गायोंकी दृढता विस्तीर्णताको पा लिया। उसके द्वारा अब मानुषी प्रजा उच्च ऐश्वर्योंका आनन्द लेती है।

अत देवताओंकी कुतिया सरमा दस्युओंद्वारा लूटी गयी गायोको खोजनेवाली प्राणी नहीं, प्रत्युत सत्यकी शक्ति है जो प्रकाश करनेवाली गौओको खोज कर दिव्य शक्तियोंको पथ दिखाती है, ताकि वे त्रिगुणात्मक पहाड़ोंको विदीर्ण कर गौओको मुक्त करा सकें।

विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्क।
अग्रं नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात्॥
(ऋक्० ३।३१।६)

अर्थात् जब सरमाने पहाडके भग्न स्थानको ढूँढकर पा लिया तब महान् लक्ष्य खुल गया। सुन्दर पगोंसे युक्त सरमा इन्द्रको उषाकी अवध्य गौओंके सामने ले गया। वह गौओंके शब्दकी ओर गयी।

इस कथानकके आध्यात्मिक अर्थसे स्पष्ट है कि श्रीअरविन्दका वेद-भाष्य उपर्युक्त परम्परामें वैज्ञानिक प्रयास है। श्रीअरविन्दकृत वेद-भाष्यमें पूर्व-भाष्यकारोंके शुद्धाशयको भी प्रकाशमें लाया गया है और सृष्टिके 'अप्रकेतं सलिलम्'-की अचेतन-स्थितिसे जगत्को 'ज्योतिषां ज्योति की ओर विकासशील उत्क्रमणकी ऋषि-परम्पराको भी अभिव्यक्त किया गया है।

आध्यात्मिक भाष्य त्रिविध उद्देश्योंको चरितार्थ करता है। प्रथम तो उपनिषदोंके अर्थबोधमें सहायता प्राप्त होती है। द्वितीय लाभके रूपमें वेदान्त पुराण तन्त्र, दर्शन सभीके मूल स्रोतके रूपमें वेद-ज्ञानकी उपलब्धि है और तृतीय लाभ भविष्यमें आनेवाले सभी दर्शनोंका मूल चिन्तन वेद सम्मत होना है जिससे प्रज्ञाको सहज ही आध्यात्मिक आधार प्राप्त हो जायगा।—

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्॥
(ऋक्० ५।६२।१)

सत्यसे आवृत एक सत्य है जहाँ सूर्य या दिव्य ज्योति अर्थात् सत्य धाराओं अर्थात् ज्योतियोंको पञ्चका उन्मुक्त कर देते हैं। दिव्य ऐश्वर्य समृद्धि ज्ञान, बल एवं आनन्द आदिकी सहस्रों धारायें एकत्र हो जाती हैं ऐसे दिव्य सूर्यके रूपमें वह कल्याणतम रूप देव एक है।

[श्रीदेवदत्तजी]

वेदान्तकी अन्तिम स्थिति

(गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रे-
ऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्त
परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मु० उ० ३। २। ८)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमे विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महापुरुष नाम-रूपसे रहित होकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

भाव यह है कि जबतक जीवको पूर्ण ज्ञान नहीं होता तभीतक उसे इस लोकके तथा परलोकके कर्मोंकी चिन्ता रहती है, तभीतक उसे सयोगम सुख और वियोगमें दु खका अनुभव होता है। जब उसे भलीभाँति यह ज्ञात हो जाता है, यह अनुभव होने लगता है कि मैं पृथ्वी नहीं, जल नहीं तेज नहीं, आकाश नहीं तन्मात्रा नहीं, इन्द्रिय-समूह नहीं, मन-बुद्धि चित्त तथा अहकार नहीं अपितु मैं इन सबसे विलक्षण हूँ, तब उसे शरीरके रहनेसे हर्ष नहीं होता और शरीरके न रहनेसे विषाद नहीं होता। जब उसे अनुभव होन लगता है कि ये सभी सगे-सम्बन्धी गन्धर्व-नगरके समान हैं स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके सदृश हैं—इनसे मेरा कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, तब वह न सयोगमे सुखी होगा न वियोगमें दुखी होगा।

एक साधारण श्रेणीका मनुष्य था। उसके पास थोडा-सा धन था, छोटा-सा परिवार था—एक पत्नी एक पुत्र और वह स्वयं। एक दिन उसने स्वप्न देखा—वह बहुत बडा राजा बन गया है बहुत धन है, अपार वैभव है बहुत-सी रानियाँ हैं, दस पुत्र हैं, वह सबपर शासन कर रहा है सब लोग उसकी आज्ञाका पालन कर रहे हैं। निद्रा खुली तो न कहीं राज्य है न धन-वैभव है, न पुत्र तथा पत्नियाँ ही हैं। उसी टूटी खाटपर पडा है। दूसरे दिन कुछ डाकू आये उसका सब धन छीन ले गये पुत्रको मार डाले। उसकी स्त्री रोते-रोते बेहाल हो गयी। सम्पूर्ण गाँवके लोग सहानुभूति प्रकट करने आये, किंतु वह मनुष्य न रोया, न उसने किसी प्रकारका दु ख ही प्रकट किया। वैसा ही निर्विकार निर्लेप बना रहा।

इसपर उसकी पत्नी बोली—'तुम्हारा हृदय पत्थरका बना है क्या? घरका सब धन लुट गया, एकमात्र पुत्र था वह भी मर गया तुम्हारी फूटी आँखोंसे एक बूँद पानी भी नहीं निकला। मानो तुम्हे इसका तनिक भी शोक नहीं! बड़े निर्मोह निष्ठुर, वज्रहृदयवाले हो!!'

पतिने कहा—'शोक किस-किसके लिये करूँ। एकके लिये या अनेकके लिये?'

पत्नी बोली—'शोक अपनोंके लिये किया जाता है वैसे तो ससारमे नित्य ही बहुतसे आदमी मरते रहते हैं, सबके लिये कोई थोडे ही रोता है। तुम्हारा तो एक ही पुत्र था उसके वियोगका दु ख तो तुम्हे होना ही चाहिये?'

पुन उसने कहा—'तुम एकको कहती हो कल स्वप्नमें मैं दस पुत्रोंका पिता था, अपार धनका—अनन्त वैभवका स्वामी था। आज देखता हूँ, समस्त धन-वैभव और मेरे वे सब पुत्र नष्ट हो गये। जब उनके लिये मैंने शोक नहीं किया तब उस एक पुत्रके लिये अथवा तनिकसे धनके लिये दु ख-शोक क्यों करूँ?'

पत्नी बोली—'वे तो स्वप्नके धन वैभव तथा पुत्र थे यह तो आपका यथार्थ पुत्र था, सच्चा धन-वैभव था।'

पतिने कहा—'यथार्थ कुछ नहीं है यह भी एक दीर्घकालीन स्वप्न ही है। अपना तो एकमात्र परमात्मा है, जिसका इन बाह्य पदार्थोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब पदार्थ तो नाशवान् हैं ही।'

वास्तविक बात यही है। यह देह ये प्राकृतिक पदार्थ तो अन्तवान् हैं क्षणभगुर हैं विनाशशील हैं। जो शरीरी है—आत्मा है वही नित्य है अविनाशी है कभी नष्ट होनेवाला नहीं है। उसका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अत जो ज्ञान-तृप्त महात्मा हैं वे इन ससारी पदार्थोंके सयोग-वियोगमे दु खी-सुखी नहीं होते। वे एकमात्र परमात्माको

ही सत्य मानकर सदा एकरस बने रहते हैं। इस विषयमें शौनकजीने श्रीसूतजीको बतलाया कि 'सूतजी! जो ब्रह्मज्ञानी महात्मा हैं, जिन्होंने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है, वे वीतराग विशुद्ध अन्तःकरणवाले कृतात्मा ऋषिगण इस परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर ज्ञान-तृप्त प्रशान्तात्मा हो जाते हैं। उनकी किसी वस्तुमें आसक्ति नहीं रहती। वे अहंता अर्थात् देहमें अहंभाव और देह-सम्बन्धी गृह, धन, पुत्र-पौत्रादिमें ममता नहीं करते। उन्हें किसी प्रकारके अभावका बोध नहीं होता। वे युक्तात्मा, धीर पुरुष सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्माको पूर्णरीत्या प्राप्त करके उस परमात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। उनमें और परमात्मामें केवल नाममात्रका ही भेद रह जाता है, वे उन्हींमें तल्लीन तन्मय तथा तदाकार हो जाते हैं।

सूतजीने पूछा—'ब्रह्म-प्राप्त महापुरुषोंका इस भौतिक शरीरसे कुछ सम्बन्ध रहता है क्या? वे ब्रह्मलोकमें कैसे जाते हैं, संसारसे विमुक्त होनेपर उनकी स्थिति कैसी होती है?'

शौनकजीने कहा—'ब्रह्मज्ञानीका देहसे सम्बन्ध तभी तक है, जबतक देह-सम्बन्धी प्रारब्ध-कर्मोंका क्षय नहीं होता। प्रारब्ध-कर्मोंका क्षय हो जानेपर वे इस शरीरको त्याग कर ब्रह्मके लोकमें—परब्रह्मके सनातन धाममें चले जाते हैं क्योंकि उन्होंने वेदान्त शास्त्रके विज्ञानद्वारा यथार्थ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। सन्यास-योगद्वारा कर्मोंके फल और आसक्तिके त्याग-रूप योगसे उनका अन्तःकरण मल विक्षेप और आवरणसे रहित होकर विशुद्ध बन गया है। ऐसी साधनामें प्रयत्नशील साधक अन्तकालमें जब प्रारब्ध-कर्मोंकी समाप्तिके समय शरीरका परित्याग करते हैं तब उन्हें पुनः संसारमें जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। वे ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं वहाँसे उन्हें इस संसारमें पुनः आना नहीं पड़ता। वे संसारके समस्त बन्धनोंसे सदा-सदाके लिये परिमुक्त हो जाते हैं। वे संसारके आवागमनसे सर्वदाके लिये छूट जाते हैं।'

सूतजीने पूछा—'महर्षे! ऐसे महात्मागण हैं जो इस शरीरके रहते हुए ही परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं। वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष जब इस शरीरका परित्याग करते हैं, तब अन्तकालमें उनकी स्थिति कैसी होती है?'

शौनकजीने कहा—'देखो, सूतजी! भगवान् अङ्गिरा मुनिने मुझे बताया कि जो समष्टिमें है वही व्यष्टिमें है, जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें भी है। यह स्थूल पन्द्रह कलाओंसे निर्मित है। श्रद्धा आकाश वायु, तेज जल पृथ्वी इन्द्रियगण मन (अन्तःकरण) अन्न वीर्य, तप मन्त्र लोक और नाम—ये जो पन्द्रह कलाएँ हैं वे सभी इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता हैं और ये सब-के-सब अपने अपने अधिष्ठातृ देवताओंमें जाकर उसी प्रकार मिल जाते हैं, जैसे व्यष्टि पञ्चभूत समष्टि पञ्चभूतोंमें मिलकर एक हो जाते हैं। शरीरका पृथ्वी-तत्त्व पृथ्वीमें, जल-तत्त्व जलमें तेजस्तत्त्व तेजमें वायु-तत्त्व समष्टि वायुमें और देहाकाश महाकाशमें जाकर मिल जाता है। वाणी अग्निमें, प्राण वायुमें चक्षु आदित्यमें मन चन्द्रमामें और श्रोत्र दिशाओंमें मिल जाते हैं। जैसे हाथोंके अधिष्ठातृदेव इन्द्र हैं तो ज्ञानीके शरीरके अन्त होनेपर वह इन्द्रमें जाकर मिल जायगा। इसी प्रकार सभी शरीर-पदार्थ अपने-अपने कारणोंमें विलीन हो जाते हैं।'

इनके अतिरिक्त कर्म और जीवात्मा शेष रह जाते हैं। ज्ञानीके कर्म अदत्त-फलवाले होते हैं। जैसे अज्ञानी तो शुभ-अशुभ कर्मोंके फलरूप ही नाना योनियोंमें जाते हैं। अतः उनके कर्म दत्त फल कहलाते हैं परंतु ज्ञानी तो शुभ-अशुभ धर्म-अधर्म सबसे परे हो जाता है इसलिये उसके कर्म अदत्त फलवाले हो जाते हैं। अतः अदत्त-फल कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा—ये सब अव्यय ब्रह्म परमात्मामें लीन हो जाते हैं—एकीभूत हो जाते हैं।

सूतजीने पूछा—'ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्तका जीवात्मा परमात्मामें किस मार्गसे किन-किन लोकोंसे कैसे जाकर उनमें लीन होता है?'

शौनकजीने कहा—देखो जैसे अपने उद्गम-स्थानसे निकलकर बहती हुई गङ्गा यमुना सिन्धु, सरस्वती आदि नदियाँ जब जाकर समुद्रमें मिलती हैं, तब अपने-अपने नाम-रूपका परित्याग करके उसीमें विलीन हो जाती हैं एकाकार बन जाती हैं। उसी प्रकार विद्वान्

जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे विमुक्त हाकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं—उन्हींके समान हो जाते हैं। उनका फिर कभी जन्म नहीं होता वे आवागमनसे सर्वथाके लिये रहित हो जाते हैं। वे जन्म-मरण-विहीन—पुनरावृत्ति-रहित हो जाते हैं। वे किस पथसे कैसे जाते हैं इसका भी कोई चिह्न अवशेष नहीं रहता। जैसे कछुए, मछली आदि जलचर जीव जिधरसे चाह निकल जायँ, आकाशमे उडनेवाल पक्षी जिधरसे चाह उड जायँ, उनके पद-चिह्न अवशिष्ट नहीं रहत। इसी प्रकार ज्ञानियोके गमनकी गति दृष्टिगोचर नहीं होती। जैसे नदियाँ समुद्रमे विलीन हो जाती हैं, जलचर जीव जलमें विलीन हो जाते हैं, आकाशचारी जीव आकाशमें ही विलीन हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी अज्ञात मार्गसे जाकर ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं।'

सूतजीने कहा—'भगवन्! महर्षि अङ्गिराद्वारा कही हुई यह जा दिव्य उपनिषद् आपन सुनायी, इसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जान लेनेपर तो साधक परब्रह्मका विज्ञाता बन जाता हागा?'

शौनकजीने कहा—'निश्चयपूर्षक जो भी साधक इस उपनिषद्के द्वारा परब्रह्मको जान लेता है वह परब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्मके समान ही हो जाता है। यही बात नहीं कि वह अकेला ही कृतार्थ होता हा उसके कुलम भी ब्रह्मवेत्ता ही उत्पन्न हात हैं, उसक कुलम काई भी अब्रह्मवेत्ता नहीं होता। जो ब्रह्मको जान लेता है वह शोक-सागरको तरकर शोकके पार पहुँच जाता है, अर्थात् शोकरहित बन जाता है। वह पाप-पङ्कसे भी तर जाता है अर्थात् निष्पाप निर्मल बन जाता है। उसक हृदयकी ग्रन्थियाँ सर्वथा खुल जाती हैं ब्रह्म-साक्षात्कार हानपर वह अमृतत्वको प्राप्त होता है—अमर बन जाता है।'

[सकलनकर्ता—डॉ० श्रीविद्याधरजी द्विवेदी]

वेदोकी सहिताओमे भक्ति-तत्त्व

(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महामण्डलेश्वर पूज्य स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी महाराज)

मङ्गलाचरण

श नो अज एकपाद् देवो अस्तु
श नोऽहिर्बुध्न्य श समुद्र ।
श नो अपा नपात् पेरुरस्तु
शं न पृश्निर्भवतु देवगोपा॥

(ऋक्० ७। ३५। १३ अथर्व० १९। ११। ३)

विश्वरूप अविनाशी देव हमारे शम्' (शाश्वतशान्ति-सुख)-के लिये प्रसन्न हों। प्राणाके प्रेरक एव शरीराके अन्तर्यामी महादेव हमारे शम्' के लिय अनुकूल हों। समस्त विश्वके उत्पादक सरक्षक एव उपसहारक विश्वाधिष्ठान परमात्मा हमारे 'शम् के लिये सहायक हो। क्षीरसमुद्रशायी विश्वप्रणम्य भगवान् श्रीनारायणदव—जो ससारके समस्त दु खोंसे भक्तोंको पार कर देते हैं—हमारे 'शम् क लिय प्रसन्न हों। देवाकी रक्षा करनेवाली विश्वव्यापिनी भगवान्की चिति-शक्ति हमारे शम् -लाभक लिय तत्पर हा।'

वेदोका महत्त्व

यद्यपि मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् अर्थात् मन्त्रभाग एव ब्राह्मणभाग दोनाका नाम वद है या वैदिक सनातन धर्मानुयायी विद्वान् मानते हैं तथापि मन्त्रभाग एव ब्राह्मणभागका आधाराधेय-भाव तथा व्याख्येय-व्याख्यानभाव होनेक कारण अर्थात् मन्त्रभाग (सहिताएँ) आधार एव व्याख्येय तथा ब्राह्मणभाग आधेय एव व्याख्यान हानेक कारण ब्राह्मणभागका अपेक्षा मन्त्रभागमे मुख्य निरपेक्ष वदत्व है। अत उसका सहिताआम ही अभिवर्णित भक्तितत्त्वका यहाँ कल्याण-प्रेमियोंके लिय यथामति उल्लख किया जाता है। मनुमहाराजने भी कहा है—

धर्मं जिज्ञासमानाना प्रमाण परमं श्रुति ॥

(मनुस्मृति २। १३)

अर्थात् धायमाण भक्ति ज्ञान आदि धर्मकी जिज्ञासा रखनेवालोके लिय मुख्य—स्वत -प्रमाण एकमात्र श्रुति है।

करने योग्य है।

भगवान्‌की कृपालुता

श्रीभगवान्‌की भक्तवत्सलताका अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इस प्रकार वर्णन मिलता है—

> गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्
> वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
> पतिरिव जायामभि नो न्येतु
> धर्ता दिवः सविता विश्ववारः॥
>
> (ऋक्० १०। १४९। ४)

'जैसे गायें ग्रामके प्रति शीघ्र हो जाती हैं, जैसे शूरवीर योद्धा अपने प्रिय अश्वपर बैठनेके लिये जाता है, जैसे स्नेहपूरित मनवाली बहुत दूध देनेवाली 'हम्मा-रव' करती हुई गाय अपने प्रिय बछड़के प्रति शीघ्रतासे जाती है तथा जैसे पति अपनी प्रियतमा सुन्दरी पत्नीसे मिलनेके लिये शीघ्र जाता है, वैसे ही समस्त विश्वद्वारा वरण करने योग्य निरतिशय शाश्वत-आनन्दनिधि सविताभगवान् हम शरणागत भक्तोंके समीपमें आता है।' इस मन्त्रमें यह रहस्य बतलाया गया है कि गौकी भाँति मातारूप परमस्नेहामृतका भंडार श्रीभगवान् ग्रामकी तरह भक्तके गृहमें या उनके हृदयमें निवास करनेके लिये वत्सस्थानापन्न अपने स्नेह एवं कृपाके भाजन भक्तको विविध ज्ञानामृत पिलानेके लिये या योद्धा वीरकी भाँति निखिल बल-पराक्रमनिधि महाप्रभु भक्तके अन्तःकरण एवं [illegible]करणरूप अश्वोंका नियमन करनेके लिये या उन्हें अपने वशमें करनेके लिये तथा पतिकी भाँति विश्वपति सर्वेश्वर प्रभु प्रियतम जायाके स्थानापन्न भक्तका परिरम्भण (आलिङ्गन) करनेके लिये, या उसके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये या उसे सर्वप्रकारसे सन्तुष्ट करनेके लिये या अपने [illegible] अलौकिक साक्षात्कारद्वारा कृतार्थ—धन्य बनानेके लिये [illegible] [illegible] भक्तकी प्रार्थनामात्रसे आ जाता है। यह भगवान्‌की भक्तपर स्वाभाविकी कृपालुता है। ऐसे करुण भगवान्‌के प्रति भक्तिका उद्रेक स्वभावतः [illegible] हो जाता है।

एकेश्वरवाद

यह सर्वेश्वर भगवान् एक ही है [illegible] [illegible] [illegible] नामोंके द्वारा [illegible] [illegible] [illegible] द्वारा सम्पन्न [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] भावना-समुद्भावित विविध विग्रह होनेपर भी उनका एकत्व अक्षुण्ण ही रहता है। यह सिद्धान्त हमारी अतिपवित्र संहिताओंमें स्पष्टरूपसे प्रतिपादित है। जैसे—

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः ——।
>
> (ऋक्० १। १६४। ४६)
>
> एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।
>
> (ऋक्० १। १६४। ४६, अथर्व० ९। १०। २८)

अर्थात् 'तत्त्वदर्शी मेधावी विद्वान् उस एक सर्वेश्वरको ही इन्द्र, मित्र, वरुण एवं अग्नि आदि विविध नामोंसे पुकारते हैं।' एक ही सद्‌ब्रह्मको साकार-निराकारादि अनेक प्रकारसे कहते हैं।'

> सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
>
> (ऋक्० १०। ११४। ५)

'तत्त्वविद् विद्वान् शोभन—पूर्ण लक्षणोंसे युक्त उस एक सत्य ब्रह्मकी अनेक वचनोंके द्वारा बहुत प्रकारसे कल्पना करते हैं।'

सर्वदेवमय इन्द्र परमात्मा

यो देवानां नामधा एक एव॥ (ऋक्० १०। ८२। ३ शुक्लयजु० १७। २७) यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। (ऋक्० १०। ८२। ६) 'एक ही परमात्मा देवोंके अनेक नामोंको धारण करता है और उसी एक परमात्मामें सभी देव [illegible] प्राप्त हो जाते हैं।' अतएव शुक्ल यजुर्वेदसंहितामें भी एक इन्द्र-परमात्मा ही सर्वदेवमय है एवं समस्त देव एक—इन्द्रस्वरूप ही हैं [illegible] [illegible] इस प्रकार [illegible] [illegible] है—

अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ मित्रश्च म इन्द्रश्च मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे धाता च म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च म [illegible] इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ पृथिवी च म इन्द्रश्च [illegible] म इन्द्रश्च मे द्यौश्च म इन्द्रश्च मे [illegible] म इन्द्र[illegible] [illegible] च म इन्द्रश्च मे दिशश्च म इन्द्रश्च [illegible]

[illegible]

है, सरस्वती भी इन्द्र है, पूषा भी इन्द्र है, बृहस्पति भी इन्द्र है, वे सब इन्द्र-परमात्मास्वरूप अग्नि आदि देव जपादि विविध यज्ञोंके द्वारा मेरे अनुकूल—सहायक हों। मित्र भी इन्द्र है, वरुण भी इन्द्र है, धाता भी इन्द्र है त्वष्टा भी इन्द्र है, मरुत् भी इन्द्र हैं, विश्वेदेव भी इन्द्र हैं वे सब इन्द्रस्वरूप देव यज्ञके द्वारा हमपर प्रसन्न हों। पृथिवी भी इन्द्र है, अन्तरिक्ष भी इन्द्र है, द्यौ—स्वर्ग भी इन्द्र है, समा—संवत्सरके अधिष्ठाता देवता भी इन्द्र हैं, नक्षत्र भी इन्द्र हैं दिशाएँ भी इन्द्र हैं, वे सब इन्द्राभिन्न देव यज्ञके द्वारा मेरे रक्षक हों।'

समस्त देवता उस एक इन्द्र-परमात्माकी ही शक्ति एवं विभूतिविशेषरूप हैं। अत वे उससे वस्तुत पृथक् नहीं हो सकते। इसलिये इस देवसमुदायमें सर्वात्मत्व-ब्रह्मत्वरूप लक्षणवाले इन्द्रत्वका प्रतिपादन करनेके लिये अग्नि आदि प्रत्येक पदके साथ इन्द्रपदका प्रयोग किया गया है और 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्' इस न्यायसे अर्थात् जैसे घटसे अभिन्न मृत्तिकासे अभिन्न शरावका घटसे भी अभिन्नत्व हो जाता है, वैसे ही अग्निसे अभिन्न इन्द्र-परमात्मासे अभिन्न सोमका भी अग्निसे अभिन्नत्व हो जाता है—इस न्यायसे अग्नि सोम आदि देवोंमें भी परस्पर भेदका अभाव ज्ञापित होता है और इन्द्र-परमात्माका अनन्यत्व सिद्ध हो जाता है जो भक्तिका खास विशेषण है।

नामभक्ति और रूपभक्ति

यह जीव अनादिकालसे संसारके कल्पित नाम-रूपोंमें आसक्त होकर विविध प्रकारके दु खोंका भोग रहा है। अत इस दु खजनक आसक्तिसे छूटनेके लिये हमारे स्वत प्रमाण वेदोंने 'विषस्यौषधं विषम्', 'कण्टकस्य निवृत्ति कण्टकेन' की भाँति श्रीभगवान्के पावन मधुरतम मङ्गलमय नामोंकी एवं दिव्यतम साकार रूपोंकी भक्तिका उपदेश दिया है। जैसे—

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।

(ऋक्० ३। ३७। ३ अथर्व० २०। १९। ३)

'हे अनन्तज्ञाननिधि भगवन्! आपके पावन नामोंका परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी इन—चार वाणियोंके द्वारा भक्तिके साथ हम उच्चारण करते रहते हैं।'

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।

(ऋक्० ८। ११। ५)

'अमर्त्य-अविनाशी आप भगवान्के महिमाशाली नामका हम श्रद्धाके साथ जप एवं संकीर्तन करते हैं।'

इसी प्रकार उपासनाके लिये दिव्यरूपवान् साकार विग्रहोंका भी वर्णन किया गया है। जैसे—

हिरण्यरूप स हिरण्यसंदृगपां नपात् सेदु हिरण्यवर्ण ।

(ऋक्० २। ३५। १०)

'हिरण्य अर्थात् सुवर्ण-जैसा हित-रमणीय जिसका रूप है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी जिसकी हिरण्यवत् दिव्य हैं वर्ण अर्थात् वर्णनीय साकार विग्रह भी जिसका हिरण्यवत् अतिरमणीय सौन्दर्यसारसर्वस्व है, ऐसा वह क्षीरादधि-जलशायी भगवान् नारायण अतिशय भक्तिद्वारा प्रणाम करने योग्य है'—

अर्हन् बिभर्षि सायकानि
धन्वार्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं
न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥

(ऋक्० २। ३३। १०)

'हे अर्हन्—सर्व प्रकारकी योग्यताओंसे सम्पन्न! विश्वमान्य! परम पूज्य! तू दुष्टोंके निग्रहके लिये धनुष एवं बाणोंको धारण करता है। हे अर्हन्—सौन्दर्यनिधि प्रभो! भक्तोंको संतुष्ट करनेके लिये तू अपने साकार विग्रहमें दिव्य-विविधरूपवान् रत्नोंका हार धारण करता है। हे अर्हन्—विश्वस्तुत्य! तू इस अतिविस्तृत विश्वकी अपनी अगाध एवं अचिन्त्य शक्तिद्वारा रक्षा करता है। हे रुद्र—दु खद्रावक देव! तुझमें अन्य कोई भी पदार्थ अत्यन्त ओजस्वी अर्थात् अनन्त वीर्यवान् एवं अमित पराक्रमवान् नहीं है।'

अजायमानो बहुधा वि जायते।

(शुक्लयजु० ३१। १९)

'यह प्रजापति परमेश्वर निराकाररूपसे यद्यपि अजायमान है और अपनी अचिन्त्य दिव्य शक्तिद्वारा भक्तोंकी भावनाके अनुसार उपासनाकी सिद्धिके लिये दिव्य साकार विग्रहोंसे बहुधा जायमान होता है।'

पूर्वोक्त मन्त्रोंमें वर्णित हिरण्यवत् रूपवाला तथा धनुष-बाण एवं हार धारण करनेवाला हस्तपादकण्ठादिमान् साकार भगवान् ही हो सकता है, निराकार ब्रह्म नहीं, क्योंकि उसमें पूर्वोक्त वर्णन कभी संगत नहीं हो सकता। अतः सिद्धान्तरूपसे यह माना गया है कि सगुण-साकार ब्रह्म उपास्य होता है एवं निर्गुण-निराकार ब्रह्म ज्ञेय।

परम प्रेमास्पद एवं परमानन्दनिधि भगवान्

प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुहि।

(ऋक्० ८।१०३।१०)

वेदभगवान् कहते हैं कि 'यह सर्वात्मा भगवान् धन-स्त्री आदि समस्त प्रिय पदार्थोंसे भी निरतिशय प्रेमका आस्पद है, इसलिये तू उसकी स्तुति कर अर्थात् आत्मारूपसे—परमप्रियरूपसे उसका निरन्तर अनुसंधान करता रह।'

प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳहवामहे।

(शुक्लयजु० २३।१९)

'अन्यान्य समस्त प्रिय पदार्थोंके मध्यमें एकमात्र तू ही परमप्रिय पतिदेव है, यह मानकर हम सब भक्तजन तुझे ही पुकारते हैं एवं तुम्हारी ही कामना करते हुए आराधना करते रहते हैं।'

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥

(ऋक्० १०।४३।१)

'हे प्रभो! एकमात्र तू ही निरतिशय अखण्ड-आनन्दनिधि है, यह मैं जानता हूँ, इसलिये मेरी ये सभी बुद्धिवृत्तियाँ तुझ आनन्दनिधि स्वात्मभूत भगवान्से सम्बद्ध हुई तेरी ही निरन्तर अभिलाषा रखती हुई—जैसे युवती पत्नियाँ अपने प्रियतम सुन्दर पतिदेवका समालिङ्गन करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं, वैसे तेरा ही ध्यान करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं। अथवा जैसे स्वार्थलोलुप निर्धन दरिद्रजन धनवान्का आश्रयण करके दरिद्रताके दुःखसे मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही मेरी ये बुद्धिवृत्तियाँ भी तुझ नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव अनन्त-सुखनिधि सर्वात्मा भगवान्का ध्यान करती हुई समस्त दुःखोंसे विमुक्त हो जाती हैं।' इसलिये हे भगवन्! तू—

यच्छा नः शर्म सप्रथः॥

(ऋक्० १।२२।१५)

सुम्नमस्मे ते अस्तु।

(ऋक्० १।११४।१०)

—'हमें अनन्त अखण्डैकरसपूर्ण सुख प्रदान कर। हे परमात्मन्! हमारे अंदर तेरा ही महान् सुख अभिव्यक्त हो।' ('शर्म' एवं 'सुम्न' सुखके पर्याय हैं।)

इसलिये भावुक भक्त यह मङ्गलमयी प्रतीक्षा करते हुए अपने परम प्रेमास्पद भगवान्से कहते हैं—

कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि।
कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्॥

(ऋक्० ७।८६।२)

'हे विभो! कब मैं पवित्र एवं एकाग्र मनवाला होकर सत्य आनन्दमय आपका साक्षात् दर्शन करूँगा? और कब मैं सर्वजन-वरणीय अनन्तानन्दनिधिरूप आप वरुणदेवमें अन्तर्भूत—तादात्म्य-भूत हो जाऊँगा?' हे भगवन्! तेरे पावन अनुग्रहसे ही मेरी यह अभिलाषा पूर्ण सफल हो सकती है, इसलिये मैं तेरी ही भक्तिमयी प्रार्थना करता हूँ।

एकात्मभाव

यह एक ही सर्वेश्वर भगवान् समस्त विश्वके अन्तर्बहिः पूर्ण है, व्याप्त है, अतएव यह निखिल चराचर विश्वका आत्मा है, अभिन्नस्वरूप है। वेदमन्त्र इस एकात्मभावका स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं—

आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

(ऋक्० १।११५।१, शुक्लयजु० ७।४२, अथर्व० १३।२)

'स्वर्ग, पृथिवी एवं अन्तरिक्षमें यह परमात्मा निखिल विश्वमें परिपूर्ण हो रहा है। यह सम्पूर्ण जगत्का सूर्य (प्रकाशक) है और यह स्थावर-जङ्गमकी आत्मा है।'

पञ्चस्वन्त पुरुष आ विवेश
तान्यन्त पुरुषे अर्पितानि।
(शुक्लयजु० २३। ५२)

'शरीरादिरूपसे परिणत पाँच पृथिव्यादि भूतोंके भीतर पुरुष अर्थात् पूर्ण परमात्मा सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करनेके लिये प्रविष्ट हुआ है तथा उस अधिष्ठान-पुरुषके भीतर वह भूत-भौतिक जगत् अर्पित है—अध्यारोपित है।' जैसे आभूषणोंमें सुवर्ण प्रविष्ट है एव सुवर्णमें आभूषण आरोपित हैं, वैसे ही वह सर्वेश्वर भगवान् सबसे अनन्य है, सबका अभिन्नस्वरूप आत्मा है, उससे पृथक् कुछ भी नहीं है।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानत ।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥
(शुक्लयजु० ४०। ७)

'जिस ज्ञानके समय समस्त प्राणी एक आत्मा ही हो जाते हैं, अर्थात् नाम-रूपात्मक आरोपित जगत्का अधिष्ठान आत्मामें बाध हो जाता है, केवल आत्मा ही परिशिष्ट रह जाता है, ऐसे विज्ञानवाले एव सर्वत्र एक आत्मभावका ही अनुदर्शन करनेवालेको उस समय मोह क्या एव शोक क्या? अर्थात् अद्वय-आत्मज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनपर अज्ञानके शक्ति-द्वयरूप आवरणात्मक मोह एवं विक्षेपात्मक शोककी भी सुतरा निवृत्ति हो जाती है।'

ज्ञानवान् भक्तकी यही एकभक्ति है, वह उस एकको ही सर्वत्र देखता है और तदन्यभावका बाध करके उस एकम ही वह तन्मय बना रहता है। वह एक अपना अभिन्नस्वरूप आत्मा ही है। अतएव जो यथार्थमें ज्ञानवान् है वह भक्तिशून्य भी नहीं रह सकता और जो सच्चा भक्त है वह अज्ञानी भी नहीं हो सकता। ज्ञानीके हृदयमें अनन्य भक्तिकी निर्मल मधुर गङ्गा प्रवाहित रहती है तथा भक्तका हृदय अद्वय-ज्ञानके विमल प्रकाशसे देदीप्यमान रहता है। इस प्रकार ज्ञान एव भक्तिका सामञ्जस्य ही साधक—कल्याण-पथिकको नि श्रेयसके शिखरपर पहुँचा देता है।

पराभक्ति

पराभक्तिक ही पयाय हैं—अनन्यभक्ति अव्यभिचारिणी भक्ति एकान्तभक्ति एवं फलभक्ति। अतएव भजनीय भगवान्के अनन्य—अभिन्न स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत ॥
(शुक्लयजु० ४०। ५)

'वह समस्त प्राणियोंके भीतर परमप्रिय आत्मारूपसे अवस्थित है एव सबके बाहर भी अधिष्ठानरूपसे अनुगत है।'

अतएव वह मुझसे भी अन्य नहीं है—अनन्य है, अभिन्न है, इस भावको दिखानेके लिये श्रुति भावुक भक्तकी प्रार्थनाके रूपमे कहती है—

यदग्ने स्यामह त्व त्व या घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिष ॥
(ऋक्० ८। ४४। २३)

'हे अग्ने! परमात्मन्! मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय—इस प्रकार तेरा एव मेरा अभेद-भाव हो जाय तो बडा अच्छा रहे। ऐसे अनन्य प्रेम-विषयके तेरे सदुपदेश मेरे लिये सत्य अनुभवके सम्पादक हो। या तेरे शुभाशीर्वाद सत्य—इष्ट-सिद्धिके समर्पक हो यही मेरी प्रेममयी प्रार्थना है।' जीवात्माके साथ ईश्वरात्माका अभेदभाव हो जानेपर ईश्वरात्मामें परोक्षत्वकी निवृत्ति होती है और ईश्वरात्माके साथ जीवात्माका अभेदभाव हो जानेपर जीवात्मामें संसारित्वकी एव सद्वितीयत्वकी निवृत्ति होती है।

उस प्रियतम आत्मस्वरूप इष्टदेवसे भिन्न बाहर एवं भीतर अन्य कोई भी पदार्थ द्रष्टव्य एव चिन्तनीय न रहे, यही भक्तिमें अनन्यत्व है। आँख सर्वत्र उसे ही देखती रहें परमप्रेमास्पद परमानन्दस्वरूप सर्वात्मा भगवान् ही सदा आँखोंके सामने रहें। वे आँखें ही न रह जो तदन्यको देखना चाहें वह हृदय ही टूक-टूक हो जाय जिसमें तदन्यका भाव हो चिन्तन हो। अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण हृदय वह है जो भीतरसे आप-ही-आप बोल उठता है—हे आराध्यदेव! मुझे केवल तेरी ही अपेक्षा है, अन्यकी नहीं। ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर तुझसे अन्य कुछ भी तो नहीं है। अत —

विश्वरूपमुप ह्वये अव्यक्तमस्तु केवल ।

'मैं सर्वत्र विश्वरूप तुझ सर्वात्माका ही अनन्यभावसे

अनुसंधान करता रहता हूँ, हमारे लिये तू ही एकमात्र द्रष्टव्य बना रहे।' तू ही एकमात्र 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है, अन्य नहीं, इसलिये मैं तुझे ही चाहता एवं रटता हुआ तुझमें ही लीन होना चाहता हूँ। मुझमें तेरी तन्मयता इतनी अधिक बढ़ जाय कि मैं तू ही जाऊँ और तू मैं बन जाय। तुझसे मैं अन्य न रहूँ एवं तू मुझसे अन्य न रहे। तुझमें एवं मुझमें अभेदभावकी प्रतिष्ठा हो जाय। मेरा यह तुच्छ 'मैं' उस महान् 'तू' में जलमें बरफकी भाँति गल-मिल जाय। यही अनन्य पराभक्तिका स्वरूप है। अन्तमें एकमात्र यही रह जानेसे यह एकान्त-भक्ति भी कहलाती है।

अतएव उस प्रियतम परमात्माके साथ अभेदभावके बोधक इस प्रकारके अनेक वेदमन्त्र उपलब्ध हैं। जैसे—

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन।

(ऋक्० १०। ४८। ५)

'मैं स्वयं इन्द्र-परमात्मा हूँ, अतः मैं किसीसे भी पराजित नहीं हो सकता। परमानन्दनिधिरूप मेरे धनको कोई भी अभिभूत नहीं कर सकता। अतः मैं कभी भी मृत्युके समक्ष अवस्थित नहीं रह सकता, क्योंकि मैं स्वयं अमृत—अभयरूप इन्द्र हूँ।'

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।

(ऋक्० ३। २६। ७)

'मैं स्वभावसे ही अनन्तज्ञाननिधि अग्नि-परमात्मा हूँ, [illegible] चैतन्यप्रकाश सर्वत्र विभासित है, मेरे मुखमें सदा [illegible]णमय अमृत अवस्थित है।'

इस प्रकार ज्ञान अद्वैतरूप है तो भक्ति अनन्यरूपा है। [illegible]नोंका लक्ष्य एक ही है। अतएव सिद्धान्तमें दोनोंका [illegible]दात्म्य-सम्बन्ध माना गया है। अतः ज्ञानके बिना भक्तिकी [सि]द्धि नहीं और भक्तिके बिना ज्ञानकी निष्ठा नहीं। भक्ति [त]था ज्ञान एक ही कल्याण प्रमी साधकमें मिश्री और [दू]धकी भाँति घुले-मिले हैं।

भक्तिके साधन

वेदोंकी संहिताओंमें सत्संग, श्रद्धा, अद्रोह, दान, ब्रह्मचर्य, कामादि-दोष-निवारण आदि अनेक भक्तिके साधनोंका वर्णन मिलता है। उन्हें यहाँ क्रमशः संक्षेपमें प्रदर्शित किया जाता है—

(१) सत्संग

पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥

(ऋक्० ५। ५१। १५)

'दानशील—उदार स्वभाववाले, विश्वासघातादि-दोषरहित विवेक-विचारशील ज्ञानी भक्तको हम बार-बार मिलते रहें।' इस मन्त्रमें भक्तिके हेतुभूत सत्संगका स्पष्ट वर्णन है।

(२) श्रद्धा

श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(शुक्लयजु० १९। ३०)

श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

(ऋक्० १०। १५१। ५)

'श्रद्धा-विश्वासद्वारा सत्य-परमात्माकी प्राप्ति होती है।'

'हे श्रद्धादेवी! हमारे हृदयमें रहकर तू हमें श्रद्धालु—आस्तिक बना।'

(३) अद्रोह

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

(शुक्लयजु० ३६। १८)

'मित्रभावकी (हितकर, मधुर) दृष्टिसे मैं समस्त भूत-प्राणियोंको देखता हूँ, अर्थात् मैं किसीसे कभी भी द्वेष एवं द्रोह नहीं करूँगा।' तात्पर्य यह कि शक्तिके अनुसार सबकी भलाई ही करता रहूँगा, भला चाहूँगा, भला कहूँगा एवं भला ही करूँगा। (इस मन्त्रमें मानवको प्राणिमात्रके कल्याणमें तत्पर रहनेका स्पष्ट उपदेश दिया गया है।)

(४) दान—उदारता

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।

(अथर्व० ३। २४। ५)

'हे मानव! सौ हाथोंके उत्साह एवं प्रयत्नद्वारा तू धन धान्यादिका सम्पादन कर और हजार हाथोंकी उदारताद्वारा तू उसका दान कर—योग्य अधिकारियोंमें वितरण कर।'

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्।

[illegible] (१०। ११७। ५)

[illegible]

केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

'अतिथि, बन्धुवर्ग, दरिद्र आदिको न देकर जो केवल अकेला ही अन्नादि खाता है, वह अन्न नहीं मानो पाप ही खाता है।' इसलिये शक्तिके अनुसार अन्योको कुछ देकर ही पुण्यमय अन्न खाना चाहिये।

(५) ब्रह्मचर्य—सयम

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

(अथर्व० ११। ५। १९)

'ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ तप है, उसके लाभद्वारा ही मानव दैवीसम्पत्तिसम्पन्न देव हो जाते हैं और वे अनायास ब्रह्मविद्या एवं अनन्य भक्तिका सम्पादन करके अविद्यारूप मृत्युका विध्वस कर देते हैं।'

माध्वीर्गावो भवन्तु न ॥

(ऋक्० १। ९०। ८ शुक्लयजु० १३। २९)

'हे प्रभो! मेरी इन्द्रियाँ मधुर अर्थात् संयम-सदाचारद्वारा प्रसन्नतायुक्त बनी रहे'—इनमें असयमरूपी कटुता—विक्षेप न रहे ऐसी कृपा करें।

(६) मोहादि षड्दोष-निवारणका उपदेश

उलूकयातुं शुशुलूकयातु जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

(ऋक्० ७। १०४। २२ अथर्व० ८। ४। २२)

'हे इन्द्रस्वरूप जीवात्मन्! दिवान्ध उलूकके समान आचरण करनेवाले मोहरूपी राक्षसका शुशुलूक (भेडिये)-के समान आचरण करनेवाले क्रोधरूपी राक्षसका, श्वा (कुत्ता)-के समान आचरण करनेवाले मत्सररूपी राक्षसका तथा कोक (चकवा-चकवी) पक्षीके समान आचरण करनेवाले कामरूपी राक्षसका, सुपर्ण (गरुड)-के समान आचरण करनेवाले मदरूपी राक्षसका तथा गृध्र (गीध)-के समान आचरण करनेवाले लोभरूपी राक्षसका सदुपायोंके द्वारा विध्वस कर और जैसे पत्थरसे मिट्टीके ढेलेको पीस दिया जाता है, वैसे ही उन छ मोहादि दोषरूपी राक्षस शत्रुओंको पीस डाल।'

इस प्रकार वेदोंकी परम प्रामाणिक सहिताओंमें भगवद्भक्तिके अनेक साधनोका स्पष्ट वर्णन मिलता है। इन साधनोंमे सत्सग नन्दनवन है सयम कल्पवृक्ष है और श्रद्धा कामधेनु है। जब साधक इस दिव्य नन्दनवनके कल्पवृक्षकी शीतल मधुमयी छायाम बैठकर कामधेनुका अनुग्रह प्राप्त करता है, तब उसी समय आनन्दमयी अमृतमयी, शान्तिमयी भक्तिमाताका प्राकट्य हो जाता है और साधकका जीवन कल्याणमय धन्य एव कृतार्थ हो जाता है।

उपसहार

अन्तमें वैदिक स्तुति-प्रार्थना-नमस्कारादि—जो भक्तिके विशेष अङ्ग हैं—मन्त्रोद्वारा प्रदर्शित करके लेखका उपसहार किया जाता है—

यो भूत च भव्य च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवल तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥

(अथर्व० १०। ८। १)

नम साय नम प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नम ॥

(अथर्व० ११। २। १६)

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्र तन्न आ सुव॥

(ऋक्० ५। ८२। ५ शुक्लयजु० ३०। ३)

'जो भूत भविष्यत् एव वर्तमानकालिक समस्त जगत्का अधिष्ठाता—नियन्ता है एव केवल स्व (विशुद्ध अनन्त आनन्द) ही जिसका स्वरूप है उस ज्येष्ठ (अतिप्रशस्त—महान्) ब्रह्मको नमस्कार है। उसे सायकाल नमस्कार हो प्रात काल नमस्कार हो। रात्रिमें नमस्कार हो एव दिवसमें नमस्कार हो। अर्थात् सर्वदा उसीकी आर हमारी भक्ति-भावसे भरी बुद्धिवृत्तियाँ झुकी रहें उस विश्व-उत्पादक एवं विश्व-उपसहारक भगवान्को मैं दोना हाथ जोडकर नमस्कार करता हूँ। हे सवितादेव! भगवन्! हमारे समस्त दु खप्रद कश्मलोका तू दूर कर और जा कल्याणकर सुखप्रद भद्र है उसे हमें समर्पण कर।' यहाँ नास्तिकता अश्रद्धा अविवेक दारिद्र्य कार्पण्य असयम दुराचार आदि अनेक दोषोंका नाम दुरित है और तद्विपरात आस्तिकता श्रद्धा विवेक उदारता, नम्रता सयम सदाचार आदि सद्गुणोंका नाम भद्र है।

हरि ॐ तत्सत्, शिवं भूयात् सर्वेषाम्।

तपसा किं न सिध्यति!

(वेद-दर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर पू० स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज)

श्रेयोलिप्सुस्तपः कुर्यात् तपसा किं न सिध्यति।
लेभिरे तपसा भक्ता स्वर्गं चापन्निराकृतिम्॥

कल्याणका इच्छुक पुरुष तपकी साधना करे। तपसे क्या नहीं सधता? ऋषि देवता आदि श्रद्धालु साधक भक्तोंने तपके ही बलपर स्वर्ग और पावमानी ऋचाओंके माध्यमसे अपनी विपत्तिसे छुटकारा पाया। प्रस्तुत वैदिक आख्यानमें महिमान्वित तपस्याका प्रभाव अवलोकनीय एवं उसमें निहित शिक्षा ग्रहणीय-मननीय है—

एक बार ऋषियोंके निवास-प्रदेशमें अत्यन्त व्यापक सूखा पड़ा। अनावृष्टिके प्रकोपसे सर्वनाशका दृश्य उपस्थित हो गया। ऋषि अत्यन्त त्रस्त हो उठे। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी।

ऋषियोंने इससे त्राण पानेके लिये देवराज इन्द्रकी स्तुति की। फलस्वरूप देवेन्द्र वहाँ उपस्थित हुए। उन्होंने उनकी विपत्तिपर हार्दिक संवेदना व्यक्त करते हुए पूछा—'ऋषियो, इस महान् संकटके समय अबतक आप लोगोंने किस प्रकार जीवन धारण किया?'

'देवेन्द्र! हम लोगोंने गाड़ी, कृषि पशु, न बहनेवाला जल (झील-सरोवर), वन समुद्र, पर्वत और राजा—इन सबके माध्यमसे किसी तरह अबतक गुजारा किया।' इन्द्रकी स्तुति करते हुए आङ्गिरस शिशु ऋषिने अन्य ऋषियोंकी उपस्थितिमें 'नानानं०' तथा 'कारुरहं०' (ऋक्० ९।११२।१ ३) आदि ऋचाओंसे यह रहस्य बताया।

वे इन्द्रसे विपत्ति-निवारणका उपाय जाननेके लिये व्यग्र हो उठे। किंतु देवराज इन्द्र मौन ही रहे। केवल उँगलीसे उन्होंने अपनी ओर संकेतमात्र किया। ऋषिगणको उनका भाव समझते देर न लगी। उन्होंने समझ लिया कि इस तरह देवराज यह बताना चाहते हैं कि 'देखो, हम भी जो सामान्य व्यक्तिसे इन्द्र बने, वह तपस्याके कारण ही। इसलिये आप लोग भी यदि अपनी विपत्तिका निवारण चाहते हैं तो तपस्याका [illegible] उसके बिना कोई चारा नहीं।' फलस्वरूप [illegible] शुरू की। उग्र तपके प्रभाव [illegible]

सम्बन्धी ऋचाओंका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

फिर इन्द्रने आकर उनसे कहा—'ऋषियो! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप लोगोंको उग्र तपसे इन ऋचाओंका दर्शन हुआ। सचमुच ये ऋचाएँ अत्यन्त महत्त्वकी हैं। इनसे आपकी सारी आपदाएँ नष्ट हो जायँगी और आप लोग स्वर्गके भागी बनेंगे।'

पावमानी ऋचाओंकी सर्वफलदातृत्व-शक्तिपर प्रकाश डालते हुए इन्द्रने कहा—'जो ईर्ष्यालु नहीं है, जो अध्यवसायी अध्येता सेवक और तपस्वी है यदि वह इनका नित्य पाठ करता है तो अपने दस पूर्वके और दस उत्तरके वंशजोंसहित स्वयं पवित्र हो जाता है। मन वचन, शरीरसे किये सारे पाप केवल इन पावमानी ऋचाओंके पाठमात्रसे नष्ट हो जाते हैं।'

देवराजने आगे कहा—'ऋषियो! ये पावमानी गायत्रियाँ उज्ज्वल एवं सनातन ज्योतिरूप परब्रह्म हैं। जो अन्त समयमें प्राणायाम करते हुए इनका ध्यान करता है, साथ ही पावमान पितरों देवताओं और सरस्वतीका ध्यान करता है, उसके पितरोंके समीप दूध, घृत मधु और जलकी धाराएँ बहने लगती हैं। इसलिये अब आप लोग कामधेनु-सी इन ऋचाओंके बलपर अपनी सारी आपत्तियोंसे सर्वथा मुक्त होकर अन्तमें स्वर्ग प्राप्त कर कृतकृत्य हो जायँगे।'

निम्न ऋचाओंमें इस कथाका स्पष्ट संकेत किया गया है—

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

(ऋक्० ९।११२।१)

अर्थात् हम लोगोंके कर्म या आचरण [illegible] अनेक प्रकारसे चलते हैं। अन्य लोग भी अनेक प्रकारसे जीवन-यापन करते हैं। बढ़ई या शिल्पकार [illegible] काटके जीवन चलाता है। वैद्य रोगोंकी चिकित्सासे जीविका निर्वाह करता है और ब्राह्मण सोमाभिषव करनेवाले यजमानको चाहता है। इसलिये हे सोम, तुम इन्द्रके लिये [illegible] होओ।

कारुरह ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवो ऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
(ऋक्० ९।११२।३)

मैं तो कारु अर्थात् स्तुतिकर्ता हूँ। पुत्र भिषक् यानी भेषजकर्ता यज्ञका ब्रह्मा है। माता या दुहिता दाना भूँजती है या सत्तू पीसती है। नाना कर्म करते हुए धनकी कामनासे हम लोग ठीक उसी प्रकार यहाँ रह रहे हैं, जिस प्रकार गाय गोष्ठमें रहती हैं। इसलिये हे सोम, इन्द्रक लिये तुम परित क्षरित हा।

—इन दोना ऋचाओसे बृहद्देवतोक्त उपर्युक्त कथामे अकालमे ऋषियोद्वारा चलायी जानेवाली जीवनवृत्तियाका सकेत मिलता है।

उपर्युक्त वर्णित ऋचाओंके अतिरिक्त ऋग्वेद (९।८३।१, १०।१६७।१) तथा बृहद्देवता (६।१३९—१४६)-में भी इस कथाका उल्लेख हुआ है।

वेदका अध्ययन

(गोलोकवासी महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड़)

ससारमे सभी जीव यह अभिलाषा करते हैं कि मुझे सुख सदा प्राप्त हो और दु ख कभी न प्राप्त हो। सुख और दु ख दोना ही जन्य हैं। अखण्ड ब्रह्मानन्दरूप नित्य-सुखके अतिरिक्त वृत्तिरूप सुख-दु ख सभी जन्य हैं, यह वेदान्ती भी स्वीकार करते हैं। वृत्तिरूप सुख जब जन्य है, तब उसका कोई-न-कोई कारण अवश्य मानना होगा। क्योंकि ससारमे जितने जन्य पदार्थ हैं, वे किसी-न-किसी कारणकी अपेक्षा अवश्य रखते हैं। कहा भी गया है— कारणं विना कार्यस्य उत्पत्तिर्भवत्येव नहि'। इसलिय प्रस्तुत सुख और दु ख-निवृत्तिरूप कार्योंका भी कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिये। ऐसी स्थितिमें वह कारण कौन है? यो उसके अन्वेषणमें बुद्धि प्रवृत्त होती है। कारण गवेषणामे प्रवृत्त पुरुषको यह निश्चय होता है कि विविध विचित्रताओसे युक्त केवल इस चराचर जगत्का हो नहीं, अपितु तद्गत वैचित्र्यका भी कोई-न-कोई कारण होना चाहिये।

पहले वह लौकिक प्रमाणोद्वारा उक्त कारणको परखना चाहता है, किंतु प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि लौकिक प्रमाणोंमें उसे बहुधा व्यभिचार दीख पडता है और उनकी ओर प्रवृत्तिमें विफलता हो उसके हाथ लगती है। इस प्रकार लौकिक प्रमाणामें विफल-यत्न होकर वह पुरुष बुद्धिके अगोचर किसी अलौकिक प्रमाणके अन्वेषणमें प्रवृत्त होता है। अन्वेषण करते-करत उस अलौकिक अर्थकी प्रत्यायक कोई शब्दराशि जा पुरुषबुद्धिसे अछूता और सकल पुरुषार्थोंकी अवभासक है प्राप्त होती है। उस पाकर उसके मनको शान्ति मिलती है एव आशान्वित और शान्तचित्त हो उसके द्वारा उपदिष्ट मार्गसे वह विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है। उसके अनुष्ठानसे उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है एव फल-प्राप्तिसे पूर्ण सतोष होता है।

अलौकिक अर्थका प्रत्यायक जा शब्दराशिरूप प्रमाण उसे प्राप्त हुआ वही 'वेद' कहा जाता है। उससे प्रतिपाद्य जो अर्थ है वही 'धर्म' कहलाता है। वह सब पुरुषार्थोंका मूलभूत प्रथम पुरुषार्थ है। धर्मसे ही अन्य तीन पुरुषार्थ (अर्थ, काम और मोक्ष) प्राप्त होते हैं। वही सारी कल्याणपरम्पराका सम्पादक तथा दु खका निवर्तक है। उसीम सब लाक प्रतिष्ठित हैं अर्थात् सब लोकाका वही आधार है।

कहा भी है—'धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा, धर्मेण पापमपनुदति जा वेदातिरिक्त प्रमाणासे अधिगम्य नहीं हैं, उन्हीं विविध प्रकारके धर्मोका प्राणियोंके अनुग्रहार्थ अवबोधन करानेके लिये वेद प्रवृत्त हैं। इसीलिये वे 'वेद' कहलाते हैं। आर्योंने वेदके लक्षणका या उपदेश दिया है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे जिस सुख तथा दु ख-निवृत्तिके उपायका परिज्ञान नहीं हो सकता उस लोग वेदसे जानते हैं इसीलिये वेद 'वेद' कहलाते हैं।

हमारे प्राचीनतम महर्षियों तथा मनु आदि स्मृतिकारोंने जो सर्वनकल्प थ पूर्वोक्त अलौकिक श्रेयके साधन धर्मको अन्य प्रमाणोंसे जाननेकी इच्छा का। उसके लिये उन्होंने बहुत क्लेश सहे किंतु उसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई।

तपसा किं न सिध्यति।

(वेद-दर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर पू० स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज)

श्रेयोलिप्सुस्तप कुर्यात् तपसा कि न सिध्यति।
लेभिरे तपसा भक्ता स्वर्गं चापन्निराकृतिम्॥

कल्याणका इच्छुक पुरुष तपकी साधना करे। तपसे क्या नहीं सधता? ऋषि देवता आदि श्रद्धालु साधक भक्ताने तपके ही बलपर स्वर्ग और पावमानी ऋचाओंके माध्यमसे अपनी विपत्तिसे छुटकारा पाया। प्रस्तुत वैदिक आख्यानमें महिमान्वित तपस्याका प्रभाव अवलोकनीय एव उसमें निहित शिक्षा ग्रहणीय-मननीय है—

एक बार ऋषियाके निवास-प्रदेशमें अत्यन्त व्यापक सूखा पडा। अनावृष्टिके प्रकोपसे सर्वनाशका दृश्य उपस्थित हो गया। ऋषि अत्यन्त त्रस्त हो उठे। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी।

ऋषियाने इससे त्राण पानेके लिये देवराज इन्द्रकी स्तुति की। फलस्वरूप देवेन्द्र वहाँ उपस्थित हुए। उन्हाने उनकी विपत्तिपर हार्दिक सवेदना व्यक्त करते हुए पूछा—'ऋषियो इस महान् सकटके समय अबतक आप लोगाने किस प्रकार जीवन धारण किया?'

'देवेन्द्र हम लोगोने गाडी, कृषि पशु, न बहनेवाला जल (झील-सरोवर), वन समुद्र पर्वत और राजा—इन सबके माध्यमसे किसी तरह अबतक गुजारा किया।' इन्द्रकी स्तुति करते हुए आङ्गिरस शिशु ऋषिने अन्य ऋषियाकी उपस्थितिमें 'मानानं०' तथा 'कारुरहं०' (ऋक्० ९।११२।१, ३) आदि ऋचाआसे यह रहस्य बताया।

वे इन्द्रसे विपत्ति-निवारणका उपाय जाननेक लिये व्यग्र हो उठे। किंतु देवराज इन्द्र मौन हा रहे। कवल उँ[illegible] उन्होंने अपनी ओर सकेतमात्र किया। ऋषिगणक[illegible] भाव समझत देर न लगी। उन्हाने समझ लिया कि [illegible] देवराज यह बताना चाहते हैं कि 'दखा, हम [illegible] सामान्य व्यक्तिसे इन्द्र बने वह तपस्याके कारण [illegible] इसलिये आप लाग भी यदि अपनी विपत्तिका [illegible] चाहते हैं तो तपस्याका ही सहारा लें। उसके बिना [illegible] चारा नहीं।' फलस्वरूप ऋषियाने सामूहिक तप [illegible] शुरू की। उग्र तपक फलस्वरूप ऋषियाको सोम (पवमान) सम्बन्धी ऋचाओका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

फिर इन्द्रने आकर उनसे कहा—'ऋषियो, बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप लागाको उग्र तपस इन ऋचाओका दर्शन हुआ। सचमुच ये ऋचाएँ अत्यन्त महत्त्वकी हैं। इनसे आपकी सारी आपदाएँ नष्ट हो जायँगी और आप लोग स्वर्गके भागी बनगे।'

पावमानी ऋचाआकी सर्वफलदातृत्व-शक्तिपर प्रकाश डालते हुए इन्द्रने कहा—'जो ईर्ष्यालु नहीं है जो अध्यवसायी, अध्येता सेवक और तपस्वी है, यदि वह इनका नित्य पाठ करता है ता अपने दस पूर्वके और दस उत्तरके वशजासहित स्वय पवित्र हो जाता है। मन वचन, शरीरसे किये सारे पाप केवल इन पावमानी ऋचाओंके पाठमात्रसे नष्ट हो जाते हैं।'

देवराजने आगे कहा—'ऋषियो ये पावमानी गायत्रियाँ उज्ज्वल एवं सनातन ज्यातिरूप परब्रह्म हैं। जो अन्त समयमें प्राणायाम करते हुए इनका ध्यान करता है साथ ही पावमान पितरो देवताआ और सरस्वतीका ध्यान करता है, उसके पितराके समीप दूध घृत मधु और जलकी धाराएँ बहने लगती हैं। इसलिये अब आप लोग कामधेनु-सी इन ऋचाआके बलपर अपनी सारी आपत्तियांसे सर्वथा मुक्त होकर अन्तमें स्वर्ग प्राप्त कर कृतकृत्य हा जायँगे।'

निम्न ऋचाआम इस कथाका स्पष्ट सकेत किया गया है—

[illegible] धियो वि व्रतानि जनानाम्।
[illegible]॥
[illegible] ९।११२।१)

[illegible] अनेक [illegible] जीवन-

कारुरह ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवो ऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
(ऋक्० ९।११२।३)

मैं तो कारु अर्थात् स्तुतिकर्ता हूँ। पुत्र भिषक् यानी भेषजकर्ता यज्ञका ब्रह्मा है। माता या दुहिता दाना भूँजती है या सत्तू पीसती है। नाना कर्म करते हुए धनकी कामनासे हम लोग ठीक उसी प्रकार यहाँ रह रहे हैं, जिस प्रकार गायें गोष्ठमें रहती हैं। इसलिये हे सोम इन्द्रके लिये तुम परित क्षरित हो।

—इन दोनो ऋचाओसे बृहद्देवतोक्त उपर्युक्त कथामें अकालम ऋषियोद्वारा चलायी जानेवाली जीवनवृत्तियोका सकेत मिलता है।

उपर्युक्त वर्णित ऋचाओके अतिरिक्त ऋग्वेद (९।८३।१ १०।१६७।१) तथा बृहद्देवता (६।१३९—१४६)-में भी इस कथाका उल्लेख हुआ है।

वेदका अध्ययन

(गोलोकवासी महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड)

ससारम सभी जीव यह अभिलाषा करते हैं कि मुझे सुख सदा प्राप्त हो और दु ख कभी न प्राप्त हो। सुख और दु ख दोनों ही जन्य हैं। अखण्ड ब्रह्मानन्दरूप नित्य-सुखके अतिरिक्त वृत्तिरूप सुख-दु ख सभी जन्य हैं यह वेदान्ती भी स्वीकार करते हैं। वृत्तिरूप सुख जब जन्य है तब उसका कोई-न-कोई कारण अवश्य मानना होगा। क्योंकि ससारमे जितने जन्य पदार्थ हैं, वे किसी-न-किसी कारणकी अपेक्षा अवश्य रखते हैं। कहा भी गया है—'कारण विना कार्यस्य उत्पत्तिर्भवत्येव नहि'। इसलिय प्रस्तुत सुख और दु ख-निवृत्तिरूप कार्योंका भी कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिये। ऐसी स्थितिमें वह कारण कौन है? यो उसके अन्वेषणमें बुद्धि प्रवृत्त होती है। कारण गवेषणामें प्रवृत्त पुरुषका यह निश्चय होता है कि विविध विचित्रताओसे युक्त केवल इस चराचर जगत्का ही नहीं, अपितु तद्गत वैचित्र्यका भी कोई-न-कोई कारण होना चाहिये।

पहले वह लौकिक प्रमाणाद्वारा उक्त कारणको परखना चाहता है किंतु प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि लौकिक प्रमाणोमें उसे बहुधा व्यभिचार दीख पडता है और उनकी ओर प्रवृत्तिमें विफलता ही उसके हाथ लगती है। इस प्रकार लौकिक प्रमाणामें विफल-यत्न होकर वह पुरुष बुद्धिके अगोचर किसी अलौकिक प्रमाणके अन्वेषणमें प्रवृत्त होता है। अन्वेषण करते-करते उसे अलौकिक अर्थकी प्रत्यायक कोई शब्दराशि जो पुरुषबुद्धिम अछूता और सकल पुरुषार्थोंकी अवभासक है प्राप्त होती है। उसे पाकर उसके मनको शान्ति मिलती है एव आशान्वित और शान्तचित्त हो उसके द्वारा उपदिष्ट मार्गसे वह विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है। उसके अनुष्ठानसे उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है एव फल-प्राप्तिसे पूर्ण सतोष होता है।

अलौकिक अर्थका प्रत्यायक जो शब्दराशिरूप प्रमाण उसे प्राप्त हुआ वही 'वेद' कहा जाता है। उससे प्रतिपाद्य जो अर्थ है वही 'धर्म' कहलाता है। वह सब पुरुषार्थोंका मूलभूत प्रथम पुरुषार्थ है। धर्मसे ही अन्य तीन पुरुषार्थ (अर्थ काम और मोक्ष) प्राप्त होते हैं। वही सारी कल्याणपरम्पराका सम्पादक तथा दु खका निवर्तक है। उसीम सब लोक प्रतिष्ठित हैं अर्थात् सब लोकोका वही आधार है।

कहा भी है—'धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा, धर्मेण पापमपनुदति' जो वेदातिरिक्त प्रमाणासे अधिगम्य नहीं हैं उन्हीं विविध प्रकारके धर्मोंका प्राणियोंके अनुग्रहार्थ अवबोधन करानेके लिये वेद प्रवृत्त हैं। इसीलिये वे 'वेद' कहलाते हैं। आर्योंने वेदके लक्षणका यो उपदेश दिया है—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एन विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥'

अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे जिस सुख तथा दु ख-निवृत्तिके उपायका परिज्ञान नहीं हो सकता उसे लोग वेदसे जानते हैं इसीलिये वेद 'वेद' कहलाते हैं।

हमारे प्राचीनतम महर्षियों तथा मनु आदि स्मृतिकारोंने जो सवनकल्प थे पूर्वोक्त अलौकिक श्रेयस्साधन धर्मको अन्य प्रमाणोंसे जाननेकी इच्छा की। उसके लिये उन्होंने बहुत क्लेश सहे, किंतु उसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई।

अन्तमे उन्होंने धर्मके विषयमें भगवान् वेदकी ही शरण ली। उन्होंने स्पष्ट कहा है—'वेदो धर्ममूलम्' (गौ० ध० सू०) 'उपदिष्टो धर्म प्रतिवेदम्' (बौ० ध० सू०), 'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्म ' (वा० ध०), 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनु०) और एक स्वरसे सभीने वेदको प्रथम धर्ममूल बतलाया तदुपरान्त वेदका अनुगमन करनेवाली स्मृतियोंको भी वेदानुसरणसे ही धर्ममें प्रमाण बतलाया एव श्रुति-स्मृतिप्रोक्त शिष्टाचारको भी उन्होने धर्मम प्रमाण माना।

इस प्रकार स्मृति और शिष्टाचारका धर्मके विषयमें जा प्रामाण्य कहा गया है, वह वेदके अविरोधसे ही है। यदि किसी अशमें भी उनका वेदसे विरोध प्रतीत होता तो उनमें ग्राह्यता ही नहीं रहती।

इसी अभिप्रायसे महर्षियोने कहा—'धर्मज्ञसमय प्रमाणं तदलाभे शिष्टाचार. प्रमाणम्' (वा० ध०)—अर्थात् धर्मवेत्ताका आचार प्रमाण है, उसके प्राप्त न होनेपर शिष्टाचार प्रमाण है। धर्मका स्वरूप न तो प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणाद्वारा ग्राह्य है और न वह कोई मूर्ति ही रखता है। इसीलिये मीमांसकोंने भी 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म ' (जै० सू० १। १। २), 'श्रेय साधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते' इत्यादि घोषणा की है। यद्यपि याग, दान, होम आदि कर्मोको ही धर्म बतला रहे और कर्मको प्रत्यक्षका विषय मान रहे भाट्टोंके मतमें धर्ममें भी प्रत्यक्ष विषयता प्राप्त होती है, तथापि वे धर्मको कर्मरूप नहीं कहते बल्कि अलौकिक श्रेयका साधन कहते हैं। धर्मका वह स्वरूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंद्वारा वेद्य नहीं है किंतु एकमात्र वेदसे ज्ञेय है। तदनुसारिणी स्मृतियोसे भी वह ज्ञातव्य है एव श्रुति और स्मृतियाके अनुशीलनरूप एक सस्कारसे परिपक्व शिष्टबुद्धिसे भी अभिगम्य है। इनके अतिरिक्त धर्मस्वरूपका परिचायक और कुछ नहीं है।

इसी अभिप्रायका अनुसरण कर रहे भगवान् महर्षि आपस्तम्बने भी कहा है—'न धर्माधर्मौ चरत 'आवं स्व' इति, न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति॥ यं त्वार्या क्रियमाण प्रशसन्ति स धर्मो, यं गर्हन्ते सोऽधर्म ॥' (आपस्तम्ब धर्मसूत्र ७।६-७) अर्थात् धर्म और अधर्म हम हैं, हमारा आचरण करो ऐसा नहीं कहते। न देवता कहते हैं, न गन्धर्व ही कहत हैं और न पितर ही कहते हैं कि यह धर्म है तथा यह अधर्म है। जिस आचरणकी आर्य-जन (श्रेष्ठ पुरुष) श्लाघा करते हैं, वह धर्म है और जिसकी गर्हा करते हैं, वह अधर्म है।

प्रामाणिक और परीक्षक इस प्रकार अरण्यसिंह-न्यायसे प्रमाणान्तरसे अवेद्य धर्मके स्वरूपका परिचायक होनेसे ही वेदके प्रामाण्य और गौरवका बखान करते हैं। पुरुषबुद्धिके दोषलेशसे असस्पृष्ट सर्वज्ञकल्प वेदोंद्वारा अभिगम्य होनके कारण ही धर्ममें लोग अटूट और अटल गौरव रखते हैं। इस प्रकारके अतिगम्भीर वेदासे वेद्य धर्मस्वरूपको ठीक-ठीक जाननेके लिये असमर्थ मन्दबुद्धियोंपर वे भी धर्मस्वरूपको यथार्थरूपसे जानकर उसका आचरण कर विशिष्ट सुख और दु खनिवृत्ति प्राप्त कर परमानन्दभागी हो या अनुग्रह करनेके लिये लोकमें वेद प्रवृत्त हैं। वेद ही क्यों, वेदानुगृहीत सब वेदाङ्ग—शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द तथा पुराण न्याय और मीमांसारूप सब उपाङ्ग, बहुत क्या कहे, सारा-का-सारा सस्कृत वाङ्मय भगवान् वेदपुरुषका ज्ञान कराकर वेदार्थको विशद करनेके लिये वेदप्रतिपाद्य धर्मस्वरूपकी सरल रीतिसे व्याख्या करनेके लिये आख्यान-उपाख्यान आदि कहते हुए तत्तत्-धर्मोंमें उन-उन अधिकारी पुरुषाको प्रवृत्त करानेके लिये ही लोकमें प्रवृत्त हैं।

केवल सस्कृत वाङ्मयक ही नहीं भारत देशके सभी भाषामय ग्रन्थ विविध प्रकारसे उसी (पूर्वोक्त) अर्थका विवरण प्रस्तुत करते हैं।

इसलिये हमारा सारा-का-सारा शब्द-संदर्भ साक्षात् या परम्परासे भगवान् वेदपुरुषका अवयव ही है, ऐसा वस्तुत विचार करनेपर सर्वव्यापी सर्वशक्तिशाली वेदपुरुषमें अन्यून (समान) बुद्धि और अन्यून गौरव रखनेवाले हम लोग—हमारी यह मति अनुचितकारिणी नहीं है यह हृदयसे स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार धर्म ही सब प्राणियोको साक्षात् अथवा परम्परासे सम्पूर्ण पुरुषार्थ अधिकारानुसार प्रदान करता है। उक्त धर्मका वेदस ही ठीक-ठीक परिज्ञान किया जा सकता है। वेद और वेदका अनुसरण करनेवाले स्मृति आदि प्रमाणासे ज्ञान नियमत तथा विधि-विधानसे अनुष्ठित धर्म

हो अर्थ और कामरूप पुरुषार्थोंके प्रदानपूर्वक मोक्षरूप नि श्रेयस तक प्रदान करता है।

वेद यदि विधिपूर्वक गुरुमुखसे पढा जाय तभी वह अपने अर्थको अवबोधित कराता हुआ अभिलषित फल प्रदान करता है। जो नियमाका पालन नहीं करता, उसके द्वारा सविधि न पढा गया वेद नियमपूर्वक अध्ययनके बिना (यहाँ अध्ययन गुरुमुखसे उच्चारणके अनन्तर उच्चारण अभिप्रेत है।) पुस्तक देखकर कण्ठस्थ किया गया खूब अभ्यस्त भी, कर्ममें विधिपूर्वक प्रयुक्त भी कुछ फल पैदा नहीं करता। इसलिये जो लोग वेदाध्ययनके अङ्गभूत स्मृति आदि ग्रन्थामें प्रतिपादित नियमाकी कोई परवाह न कर मनमाने ढगसे रघुवशादि काव्योंके तुल्य वेदको कण्ठस्थ कर उसी शब्दराशिको कर्मोंमें प्रयुक्त करते हैं, कर्ममे प्रयुक्त उस निस्सार शब्दराशिसे अथवा उसके अनुसार किये गये कर्मका कोई फल न देख, वे वैदिक कर्मोंकी निष्फलता और वैदिक मन्त्रोकी निस्सारताका ढिढोरा पीटते फिरते हैं एवं श्रद्धालुजनोको मोहमे डालते हैं। 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'—इस न्यायके अनुसार यह सब उनके स्वकृत दोषका अज्ञान ही है।

वैदिक मार्गकी यह दुर्दशा इधर प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त हो रही है। वेदमार्गनिरत श्रद्धालु धार्मिक जनोको इसे रोकना चाहिये।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि नियमानुसार अधीत वेदसे ही अर्थज्ञान करके कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। नियमपूर्वक गुरुमुखसे अधीत सारगर्भित मन्त्रोका ही कर्मोंमें प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार किये गये कर्म ही अपना-अपना फल देनेमें समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं।

जैसे अंकुर उत्पन्न करनेमें समर्थ सारी शक्ति अपनेमें रखते हुए भी धान गेहूँ, जौ आदिके बीज उचित देश, काल और सस्कारके अभावमें अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकते वैसे ही यज्ञ आदि कर्म भी सम्पूर्ण फल-जननशक्तिसे सम्पन्न होनेपर भी यदि ठीक-ठीक अनुष्ठित न किया जाय तो कदापि फलोत्पादक नहीं होता। इसलिये धर्मानुष्ठानसे फल चाहनेवाले पुरुषोको पहले कर्मवैगुण्यसे बचनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसलिये शबरस्वामीने कहा है—'स यथावदनुष्ठित पुरुषं नि श्रेयसेन संयुनक्ति संयुनक्ति' अर्थात् धर्म यदि यथाविधि अनुष्ठित हो तो वह अनुष्ठाता पुरुषके लिये कल्याणप्रद होता है। अत धर्म पुरुषके अभिलषित सर्वविध कल्याणाका प्रापक है और वह एकमात्र वेदसे ज्ञेय है। वेद भी विधि अर्थवाद, मन्त्र, निषेध और अभिधेय-रूपसे विविध प्रकारका है। अपने सभी विध्यादि प्रकारा (भागा)-से वह धर्मका ही प्रतिपादन करता है।

विधि—यह धर्मस्वरूप, धर्मके अङ्ग, द्रव्य, देवता अथवा अन्यका विधान करती है। अर्थवाद—यह पुरुषाकी रुचि-उत्पादनद्वारा धर्मम उन्हे प्रवृत्त करनेके लिये धर्मकी स्तुति करता है। मन्त्र—यह अनुष्ठानके समय उच्चरित होकर उसीका (धर्मका ही) स्मरण कराता है। निषेध—यह अधर्मके स्वरूपका ज्ञान कराता हुआ अधर्मसे भिन्न धर्म है, इसीका प्रतिपादन करता है। अभिधेय—यह कर्मकी सज्ञा है। यह अधर्मसे धर्मको पृथक् करता हुआ सकल्प, व्यवहार आदिमें सहायता पहुँचाता है।

इसीलिये सूत्रकार भगवान् जैमिनिने विविध स्थलोमें कहा है—'तद्भूताना क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' (जै० सू० १। १। २५), 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते।' (जै० सू० १।२। १), 'उक्त समाम्नायैतदर्थं तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात्' (जै० सू० १। ४। १)।

इस प्रकार वेदका कोई एक अश भी ऐसा नहीं है, जो धर्मका प्रतिपादन न करता हो। उसके द्वारा पुरुषको श्रेय प्राप्ति होती है अत उसका कहींपर त्याग नहीं किया गया है। उसीसे मनुष्य अपनेका कृतार्थ मानता है। अतएव भगवान् मनुने यह स्पष्ट-रूपसे कहा है—'वेद एव द्विजातीनां नि श्रेयसकर पर' (अर्थात् वेद ही द्विजातियोंके लिये परम नि श्रेयसकर है)।

इसलिये सब प्रकारसे कल्याणकारी वेदका विधिपूर्वक अध्ययन कर और नियमानुसार उसका अर्थ जानकर विधि-विधानके साथ अपने अधिकारानुरूप तत्तत्-विविध कर्मोंका अनुष्ठान कर लाग अपनी अभिलषित सुख-प्राप्ति और दु ख-निवृत्तिका सम्पादन करेंगे एसी आशा है। ये सारी शुभाशसाएँ अपने मनम रखकर ही हमार प्राचीन आचार्य कहते हैं—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।

वेदोंमें भेद और अभेद-उपासना

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
(बृहदारण्यक० ५। १। १)

'वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आपसे परिपूर्ण है यह ससार भी उस परमात्मासे परिपूर्ण है, क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण (ससार) प्रकट हुआ है, पूर्ण (ससार)-के पूर्ण (पूरक परमात्मा)-को स्वीकार करके उसमे स्थित होनेसे उस साधकके लिये एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है।'

हिंदू-शास्त्रोंका मूल वेद है, वेद अनन्त ज्ञानके भण्डार हैं, वेदोंका ज्ञानकाण्ड उसका शीर्षस्थानीय या अन्त है वही उपनिषद् या वेदान्तके नामसे ख्यात हैं। उपनिषदोंमे ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ निर्णय किया गया है और साथ ही उसकी प्राप्तिके लिये विभिन्न रुचि और स्थितिके साधकोंके लिये विभिन्न उपासनाओंका प्रतिपादन किया गया है। उनमे जो प्रतीकोपासनाका वर्णन है,उसे भी एकदेशीय और सर्वदेशीय—दोनों ही प्रकारसे करनेको कहा गया है। ऐसी उपासना स्त्री पुत्र धन, अन्न, पशु आदि इस लोकके भोगोंकी तथा नन्दनवन, अप्सराएँ और अमृतपान आदि स्वर्गीय भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करनेका भी प्रतिपादन किया गया है एव साथ ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये भी अनेक प्रकारकी उपासनाएँ बतलायी गयी हैं। उनमेंसे इस लोक और परलोकके भोगोकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जानवाली उपासनाओंके सम्बन्धमे यहाँ कुछ लिखनेका अवसर नहीं है। उपनिषदोंमे परमात्माकी प्राप्तिविषयक उपासनाओंके जो विस्तृत विवेचन हैं उन्हींका यहाँ बहुत संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

उपनिषदोंमे परमात्माकी प्राप्तिके लिये दृष्टान्त, उदाहरण रूपक, सकेत तथा विधि-निषेधात्मक विविध वाक्योंके द्वारा विविध युक्तियोसे विभिन्न साधन बतलाये गये हैं उनमेंसे किसी भी एक साधनके अनुसार सलग्न होकर अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। उपनिषदुक्त सभी साधन—१-भेदोपासना और २-अभेदोपासना—इन दो उपासनाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। भेदोपासनाके भी दो प्रकार हैं। एक तो वह जिसमें साधनमें भेदभावना रहती है और फलमें भी भेदरूप ही रहता है और दूसरी वह, जिसमें साधनकालमें तो भेद रहता है, परंतु फलमें अभेद होता है। पहले क्रमश हम भेदोपासनापर ही विचार करते हैं।

भेदोपासना

भेदोपासनामें तीन पदार्थ अनादि माने जाते हैं—१-माया (प्रकृति), २-जीव और ३-मायापति परमेश्वर। इनका वर्णन उपनिषदोंमे कई जगह आता है। प्रकृति जड है और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग क्षणिक, नाशवान् और परिणामी है। जीवात्मा और परमेश्वर—दोनों ही नित्य चेतन और आनन्दस्वरूप हैं किंतु जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमेश्वर सर्वज्ञ हैं, जीव असमर्थ है और परमेश्वर सर्वसमर्थ हैं, जीव अश है और परमेश्वर अशी हैं, जीव भोक्ता है और परमेश्वर साक्षी हैं एव जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य हैं। वे परमेश्वर समय-समयपर प्रकट होकर जीवोंके कल्याणके लिये उपदेश भी देते हैं।

इस विषयमें केनोपनिषद्में एक आख्यान आता है। एक समय परमेश्वरके प्रतापसे स्वर्गके देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त की पर देवता अज्ञानसे अभिमानवश यह मानने लगे कि हमारे ही प्रभावसे यह विजय हुई है। देवताओंके इस अज्ञानपूर्ण अभिमानको दूर कर उनका हित करनेके लिये स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा उन देवताओंके निकट सगुण-साकार यक्षरूपमें प्रकट हुए। यक्षका परिचय जाननेके लिये इन्द्रादि देवताओंने पहले अग्निको भेजा। यक्षने अग्निसे पूछा—'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं जातवेदा अग्नि हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको जला सकता हूँ।' यक्षने एक तिनका रखा और उसे जलानेको कहा, किंतु अग्नि उसको नहीं जला सके एवं लौटकर देवताओंसे बोले—'मैं यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।' तदनन्तर देवताओंके भेजे हुए वायुदेव गये। उनसे भी यक्षने वही पूछा कि 'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होंने कहा—'मैं मातरिश्वा वायु हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको उड़ा सकता हूँ।' तब यक्षने उनके सामने भी एक तिनका रखा, किंतु वे उसे उड़ा नहीं सके और लौटकर उन्होंने भी देवताओंसे

यही कहा कि 'मैं इसको नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है?' तत्पश्चात् स्वय इन्द्रदेव गये, तब यक्ष अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर इन्द्रने उसी आकाशमें हैमवती उमादेवीको देखकर उनसे यक्षका परिचय पूछा। उमादेवीने बतलाया कि 'वह ब्रह्म था और उस ब्रह्मकी ही इस विजयमे तुम अपनी विजय मानने लगे थे।' इस उपदेशसे ही इन्द्रने समझ लिया कि 'यह ब्रह्म है।' फिर अग्नि और वायु भी उस ब्रह्मको जान गये। इन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना इसलिये इन्द्र अग्नि और वायुदेवता अन्य देवताओसे श्रेष्ठ माने गये।

इस कथासे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राणियोमे जो कुछ भी बल, बुद्धि तेज एव विभूति है, सब परमेश्वरसे ही है। गीता (१०। ४१)-म भी श्रीभगवान्ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

इस प्रकार उपनिषदोंमे कहीं साकाररूपसे और कहीं निराकाररूपसे, कहीं सगुणरूपसे और कहीं निर्गुणरूपसे भेद-उपासनाका वर्णन आता है। वहाँ यह भी बतलाया है कि उपासक अपने उपास्यदेवकी जिस भावसे उपासना करता है, उसके उद्देश्यके अनुसार ही उसकी कार्य-सिद्धि हो जाती है। कठोपनिषद् (१। २। १६-१७)-मे सगुण-निर्गुणरूप आकारकी उपासनाका भेदरूपसे वर्णन करत हुए यमराज नचिकेताके प्रति कहते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बन॰ श्रेष्ठमेतदालम्बन परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलाके महीयते॥

'यह अक्षर ही तो ब्रह्म है और अक्षर हा परब्रह्म है इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है उसको वही मिल जाता है। यही उत्तम आलम्बन है यही सबका अन्तिम आश्रय है। इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमे महिमान्वित हाता है।'

इसलिये कल्याणकामी मनुष्याको इस दु खरूप ससार-सागरसे सदाके लिये पार होकर परमेश्वरका प्राप्त करनके लिये ही उनकी उपासना करनी चाहिय सासारिक पदार्थोंके लिये नहीं। वे परमेश्वर इस शरीरक अदर सबके हृदयम निराकाररूपसे सदा-सर्वदा विराजमान हैं, परतु उनको न जाननेके कारण ही लोग दु खित हो रहे हैं। जो उन परमेश्वरकी उपासना करता है, वह उन्हें जान लेता है और इसलिये सम्पूर्ण दु खा और शोकसमूहासे निवृत्त होकर परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है। मुण्डकोपनिषद् (३। १। १—३)-म भी बतलाया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमान ।
जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोक ॥
यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जन परम साम्यमुपैति॥

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर)-का आश्रय लेकर रहते हैं उन दोनामसे एक तो उस वृक्षक कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है किंतु दूसरा न खाता हुआ कवल देखता रहता है। इस शरीररूपी समान वृक्षपर रहनेवाला जीवात्मा शरीरकी गहरी आसक्तिम डूबा हुआ है और असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ मोहित हाकर शाक करता रहता है किंतु जब कभी भगवान्की अहैतुकी दयास भक्ताद्वारा नित्यसेवित तथा अपनस भिन्न परमेश्वरका और उनकी महिमाको यह प्रत्यक्ष कर लता है तब सर्वथा शाकरहित हा जाता है तथा जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबक शासक ब्रह्माके भी आदिकारण सम्पूर्ण जगत्के रचयिता दिव्यप्रकाशस्वरूप परमपुरुषको प्रत्यक्ष कर लता है उस समय पुण्य-पाप—दोनोंस रहित हाकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लता है।

वह सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वर सब इन्द्रियासे रहित हाकर भी इन्द्रियोंके विषयाका जाननवाला है। वह सबकी उत्पत्ति और पालन करनवाला होकर भी अकर्ता ही है। उस सर्वज्ञ सर्वव्यापी अकारण दयालु और परम प्रेमी हृदयस्थित

निराकार परमेश्वरकी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। उस भजने-योग्य परमात्माकी शरण लेनेसे मनुष्य सारे दु:ख, क्लेश, पाप और विकारोंसे छूटकर परम शान्ति और परम गतिस्वरूप मुक्तिको प्राप्त करता है। इसलिये सबकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करनेवाले सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् उस सर्वसुहृद् परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर उसे प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे उसीकी शरण लेनी चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (३। १७)-मे परमेश्वरकी भेदरूपसे उपासनाका वर्णन विस्तारसहित आता है उसमस कुछ मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशान सर्वस्य शरण बृहत्॥

'जो परमपुरुष परमेश्वर समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियाके विषयाको जाननेवाला है तथा सबका स्वामी, सबका शासक और सबसे बडा आश्रय है, उसकी शरण जाना चाहिये।'

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मा गुहाया निहितोऽस्य जन्तो ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातु प्रसादान्महिमानमीशम्॥
(श्वेताश्वतर०३। २०)

'वह सूक्ष्मस भी अतिसूक्ष्म तथा बडेस भी बहुत बडा परमात्मा इस जीवकी हृदयरूप गुफाम छिपा हुआ है सबकी रचना करनेवाले परमेश्वरकी कृपास जो मनुष्य उस सकल्परहित परमेश्वरको और उसकी महिमाको देख लता है वह सब प्रकारके दु:खोस रहित होकर आनन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'

और भी कहा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥
(श्वेताश्वतर० ४। १०-११)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और महेश्वरको मायापति समझना चाहिये उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारण-कार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। जो अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता हो रहा है, जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें विलीन हो जाता है और सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है, उस सर्वनियन्ता वरदायक स्तुति करनेयोग्य परमदेव परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहनेवाली इस मुक्तिरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥
(श्वेताश्वतर० ४। १४)

'जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हृदयगुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, अखिल विश्वकी रचना करनेवाला, अनेक रूप धारण करनेवाला तथा समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है।'

एको देव सर्वभूतेषु गूढ
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा य करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
(श्वेताश्वतर० ६। ११-१२)

वह एक देव ही सब प्राणियोंमें छिपा हुआ सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है वही सबके कर्मोंका अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतोंका निवासस्थान, सबका साक्षी चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है तथा जो अकेला ही बहुत-से वास्तवमे अक्रिय जीवोंका शासक है और एक प्रकृतिरूप बीजको अनेक रूपोंमें परिणत कर देता है उस हृदयस्थित परमेश्वरको जो धीर पुरुष निरन्तर अनुभव करते हैं उन्हींको सदा रहनेवाला परमानन्द प्राप्त होता है दूसरोंको नहीं।'

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

त॰ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश
मुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये॥
(श्वेताश्वतर० ६। १८)

'जो परमेश्वर निश्चय ही सबके पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्माको समस्त वेदोका ज्ञान प्रदान करता है उस परमात्मविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले प्रसिद्ध दव परमेश्वरकी मैं मोक्षकी इच्छावाला साधक शरण लेता हूँ।'

जिसमें साधनम भी भेद हो और फलमे भी भेद हो ऐसी भदोपासनाका वर्णन यहाँ किया गया, अब साधनमें तो भेद हा किंतु फलम अभेद ऐसी उपासनापर आगे विचार किया जायगा। [क्रमश]

वेदकी ऋचाएँ स्पष्ट करती है—'परब्रह्मकी सत्ता'

(सर्वपल्ली डॉ० श्रीराधाकृष्णनजी पूर्व राष्ट्रपति)

वेदोमे जिन तत्त्वाको इगित किया गया है, उपनिषदोंमें उन्हींकी व्याख्या की गयी है। ग्रन्थोंके अनुशीलनसे यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदाके द्रष्टा जिस सत्यको दखते थे, उसके प्रत्येक रूप-रगके प्रति पूर्णत ईमानदार थे। इस तथ्यके कारण उनकी व्याख्याके अनेक निष्कर्ष अब पुराने पड गये हैं। किंतु उनकी कार्य-विधि उनकी आध्यात्मिक और बौद्धिक ईमानदारी तथा आत्माकी प्रकृतिके विषयम उनके विचाराका स्थायी महत्त्व है।

उन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोका कथन है कि एक केन्द्रिय सत्ता अवश्य है, जिसके भीतर सब कुछ व्याप्त है। प्रत्यक्ष भौतिक विषयो तथा अन्तरिक्षकी अमाप विशालता और अगणित आकाशीय पिण्डोसे परे परब्रह्म परमात्माका अस्तित्व है। सम्पूर्ण सत्ताका अस्तित्व उस परमात्माके ही कारण है।

परब्रह्म पुरुषोत्तम कण-कणमें व्याप्त हैं। मानवको आत्मामें तो उसका निवास है ही। उसके लघुतमसे अधिक लघु और महत्तमसे अधिक महत् अस्तित्वका सारतत्त्व प्रत्येक प्राणीके भीतर उपस्थित है। 'तत्-त्वम्-असि' रूप अखण्ड एव अद्वय परब्रह्मका निवास समस्त प्राणियोमे है ही। यह परमात्मा हृदयकी गहराइयोम स्थित है—'परब्रह्मकी उपस्थितिकी ऐसी प्रतीतिमात्रसे व्यक्ति पवित्र हो जाता है।' ऋग्वेद कहता है—'अस्तित्व या अनस्तित्व कुछ नहीं था। वायु भी नहीं ऊपर आकाश भी नहीं था। फिर वह क्या है? जो गतिशील है? किस दिशाम गतिशाल है? और किसके निर्देशनमें गतिशील है? कौन जानता है? कौन हमें बता सकता है? सृष्टि कहाँसे प्रारम्भ हुई? क्या देवगण इसके बाद उत्पन्न हुए? कौन जानता है कि सृष्टि कहाँसे प्रारम्भ हुई? और कहाँसे भी प्रारम्भ हुई तो इसका कर्ता कौन है? केवल वही अकेला जानता है। यह स्वर्गमें बैठा सम्पूर्ण सृष्टिको दख रहा है।' इन शब्दाम आत्मा-विषयक अनुसधान, आध्यात्मिक विचार एव बौद्धिक सदेहवादकी अभिव्यक्ति होती है और यहींसे भारतके सास्कृतिक विकासका आरम्भ हुआ। 'ऋग्वेद-द्रष्टा' एक सत्यम विश्वास करते रहे। वह सत्य हमार अस्तित्वका नियन्त्रित करनेवाला एक नियम है। हमारी सत्ताके विभिन्न स्तराको बनाये रखनेमें यह असीम वास्तविकता है। वही 'एकं सद्' है। विभिन्न दवगण इसीके अनक रूप हैं। ऋग्वेदके देवता वास्तवमें उस अमर ईश्वरकी शक्तियाँ हैं सत्य अभिभावक हैं। अत हम प्रार्थना उपासना एव आराधनासे उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं। उनकी ही कृपाके बलपर हम सत्यक नियम 'ऋतस्य पन्था' को पहचान सकते हैं।

परब्रह्मका पहचानना और उसक साथ एकाकार हा जाना मानवमात्रका लक्ष्य है। इस प्रसगकी व्याख्या बाह्य ढगसे नहीं की जा सकती ईश्वरको अपने बाहर मानकर न तो उसकी आराधना की जा सकती है न तो उसकी उपासना की जा सकती है और न ही उसके प्रति अपनी श्रद्धा या अपना प्रेम ही प्रकट किया जा सकता है। यह एक ऐसा कार्य है जिसे उस परब्रह्मका अपना बना लेना और स्वयंको उसका बन जाना ही कहा जा सकता है। यद्यपि मानवीय ज्ञानकी इस क्षेत्रमें कोइ पहुँच नहीं। अत इस तथ्यके सम्बन्धम कोई विश्वस्त विवरण दना मानव-विवेकके लिये असम्भव है—बिलकुल असम्भव है तथापि भक्ति-रसम अवगाहन कर शरणागतिका नौकापर आरूढ हो मानवका हृदय उस परब्रह्म परमात्माम प्रेम ता अवश्य ही कर सकता है।

[प्रस्तुति—पं० श्रीवलरामजी शास्त्री, आचार्य]

वेदोपनिषद्मे युगल स्वरूप

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भारतके आर्य-सनातनधर्मम जितने भी उपासक-सम्प्रदाय हैं, सभी विभिन्न नाम-रूपा तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियाके द्वारा वस्तुत एक ही शक्तिसमन्वित भगवान्की उपासना करते हैं। अवश्य ही कोई तो शक्तिको स्वीकार करते हैं और कोई नहीं करते। भगवान्के इस शक्तिसमन्वित रूपको ही युगल स्वरूप कहा जाता है। निराकारवादी उपासक भगवान्को सर्वशक्तिमान् बताते हैं और साकारवादी भक्त उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि मङ्गलमय स्वरूपामे उनका भजन करते हैं। महाकाली महालक्ष्मी महासरस्वती, दुर्गा तारा उमा, अन्नपूर्णा सीता और राधा आदि स्वरूप एक ही भगवत्स्वरूपा शक्तिके हैं जो लीलावैचित्र्यकी सिद्धिके लिये विभिन्न रूपोम अपने-अपने धामविशेषमें नित्य विराजित हैं। यह शक्ति नित्य शक्तिमान्के साथ है और शक्ति है, इसीसे वह शक्तिमान् है। इसीलिये यह नित्य युगल स्वरूप है। पर यह युगल स्वरूप वैसा नहीं है, जैसे दो परस्पर-निरपेक्ष सम्पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति या पदार्थ किसी एक स्थानपर स्थित हों। य वस्तुत एक होकर ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इनमेसे एकका त्याग कर देनपर दूसरेक अस्तित्वका परिचय नहीं मिलता। वस्तु और उसकी शक्ति तत्त्व और उसका प्रकाश विशेष्य और उसके विशेषणसमूह पद और उसका अर्थ सूय और उसका तेज अग्नि और उसका दाहकत्व—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है वैसे ही ब्रह्मम भी युगलभाव है। जो नित्य दो होकर भी नित्य एक हैं और नित्य एक होकर भी नित्य दो हैं जो नित्य भिन्न होकर भी नित्य अभिन्न हैं और नित्य अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं। जो एकमें ही सदा दो हैं और दोमें ही सदा एक हैं। जो स्वरूपत एक होकर भी द्वैधभावके पारस्परिक सम्बन्धके द्वारा ही अपना परिचय देते और अपनेको प्रकट करते हैं। यह एक ऐसा रहस्यमय परम विलक्षण तत्त्व है कि दो अयुतसिद्ध रूपोंमें ही जिसके स्वरूपका प्रकाश होता है जिसका परिचय प्राप्त होता है और जिसकी उपलब्धि होती है।

सत्यमूलक उपनिषदोंमें ही इस युगल स्वरूपका प्रधान और स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। उपनिषद् जिस परम तत्त्वका वर्णन करते हैं, उसके मुख्यतया दो स्वरूप हैं—एक 'सर्वातीत' और दूसरा 'सर्वकारणात्मक। सर्वकारणात्मक स्वरूपके द्वारा ही सर्वातीतका संधान प्राप्त होता है और सर्वातीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूपका आश्रय है। सर्वातीत स्वरूपको छोड़ दिया जाय तो जगत्की कार्य-कारण-शृंखला ही टूट जाय उसमे अप्रतिष्ठा और अनवस्थाका दोष आ जाय फिर जगत्के किसी मूलका ही पता न लगे और सर्वकारणात्मक स्वरूपको न माना जाय तो सर्वातीतकी सत्ता कहीं नहीं मिले। वस्तुत ब्रह्मका अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनो स्वरूपाको लेकर ही है। उपनिषद्के दिव्य-दृष्टिसम्पन्न ऋषियान जहाँ विश्वके चरम और परम तत्त्व एक अद्वितीय देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा अनवच्छिन्न सच्चिदानन्दस्वरूपका देखा वहाँ उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्मको ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्तिक द्वारा अपनेको अनन्त विचित्र रूपोंमे प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि वही समस्त देशों, समस्त कालों समस्त अवस्थाओं और समस्त परिणामोंके अंदर छिपा हुआ अपने स्वतन्त्र सच्चिदानन्दमय स्वरूपकी, अपनी नित्य सत्ता चेतना और आनन्दकी मनोहर झाँकी करा रहा है। ऋषियाने जहाँ देश-काल-अवस्था-परिणामसे परिच्छिन्न अपूर्ण पदार्थोंको 'यह वह नहीं है, यह वह नहीं है' (नेति नेति) कहकर और उनसे विरागी होकर यह अनुभव किया कि—'वह परम तत्त्व ऐसा है जो न कभी देखा जा सकता है न ग्रहण किया जा सकता है न उसका कोई गोत्र है न उसका कोई वर्ण है न उसके चक्षु-कर्ण और हाथ पैर आदि हैं।' 'वह न भीतर प्रज्ञावाला है न बाहर प्रज्ञावाला है न दोनों प्रकारकी प्रज्ञावाला है न प्रज्ञानघन है न प्रज्ञ है न अप्रज्ञ है वह न देखनेमें आता है, न उससे कोई व्यवहार किया जा सकता है न वह पकड़में आता है न उसका कोई लक्षण (चिह्न) है जिसके सम्बन्धमें न चिन्तन कुछ माना जा सकता है और न वाणीसे कुछ कहा ही जा सकता है। जो अव्यवहार्य सत् है प्रपञ्चसे रहित है

शान्त, शिव और अद्वैत है'—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु श्रोत्र तदपाणिपादम्।

(मुण्डक० १।१।६)

नान्त प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञ नोभयत प्रज्ञ न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञ नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्त शिवमद्वैतम्""।

(माण्डूक्य० ७)

किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करने योग्य, चिन्तन करने योग्य और धारणामें लाने योग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य नहीं है। इसीके साथ वहीं, उसी क्षण उन्होने उसी देश-कालातीत अवस्था-परिणाम-शून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर शान्त-शिव-अनन्त एकमात्र सत्तास्वरूप अक्षर परमात्माको ही सर्वकालमें और समस्त देशोमे नित्य विराजित देखा और कहा कि—'धीर साधक पुरुष उस नित्य-पूर्ण, सर्वव्यापक अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी और समस्त भूतोंके कारण परमात्माको देखते हैं'—

नित्य विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीरा ॥

(मुण्डक० १।१।६)

उन्होने यह भी अनुभव किया कि 'जब यह द्रष्टा उस सबके ईश्वर, ब्रह्माके भी आदिकारण सम्पूर्ण विश्वके स्रष्टा, दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुषको देख लेता है, तब वह निर्मल-हृदय महात्मा पाप-पुण्यसे छूटकर परम साम्यको प्राप्त हो जाता है'—

यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुष ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जन परमं साम्यमुपैति॥

(मुण्डक० ३।१।३)

यहाँ तक कि उन्होंने ध्यानयोगम स्थित होकर परम दव परमात्माकी उस दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूत शक्तिका भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जो अपन ही गुणासे छिपी हुई है। तब उन्होंने यह निर्णय किया कि कालस लेकर आत्मातक (काल स्वभाव नियति आकस्मिक घटना पञ्चमहाभूत योनि और जीवात्मा) सम्पूर्ण कारणाका स्वामा प्रेरक सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
य कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक ॥

(श्वेताश्वतर० १।३)

ऋषियोंने यह अनुभव किया कि वह सर्वातीत परमात्मा ही सर्वकारण-कारण, सर्वगत सबमें अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदरहित परिणामशून्य, अद्वय परम तत्त्व ही चराचर भूतमात्रकी योनि है एव अनन्त विचित्र पदार्थोंका वही एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान-कारण है। उन्होन अपनी निर्भ्रान्त निर्मल दृष्टिसे यह देखा कि जो विश्वातीत तत्त्व है वही विश्वकृत् है वही विश्ववित् है और वही विश्व है। विश्वम उसीकी अनन्त सत्ताका अनन्त ऐश्वर्य अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्तिका प्रकाश है। विश्व-सृजनकी लीला करके विश्वके समस्त वैचित्र्यको, विश्वम विकसित अखिल ऐश्वर्य, ज्ञान और शक्तिको आलिङ्गन किय हुए ही वह नित्य विश्वके ऊर्ध्वम विराजित है। उपनिषद्के मन्त्रद्रष्टा ऋषियाने अपनी सर्वकालव्यापिनी दिव्य दृष्टिसे देखकर कहा—'सोम्य! इस नाम-रूपात्मक विश्वकी सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था'—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'

(छान्दोग्य० ६।२।१)

परतु इसीके साथ तुरत ही मुक्तकण्ठस यह भी कह दिया कि 'उस सत् परमात्माने ईक्षण किया—इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति'।

(छान्दोग्य० ६।२।३)

यहाँ बहुतोंको यह बात समझमें नहीं आती कि जो 'सबसे अतीत' है वही 'सर्वरूप' कैसे हो सकता है परतु औपनिषद-दृष्टिसे इसमें कोई भी विरोध या असामञ्जस्य नहीं है। भगवान्का नित्य एक रहना नित्य बहुत-से रूपोंमें अपने आस्वादनकी कामना करना और नित्य बहुत-से रूपोंमें अपनेको आप ही प्रकट करना—य सब उनके एक नित्यस्वरूपके ही अन्तर्गत हैं। कामना, ईक्षण और आस्वादन—ये सभी उनकी निरवच्छिन्न ... नताके ठीक समान अर्थ ही ... 'प्रा ... न्यास किसी

दूसरी अवस्थाविशेषमें जानेकी कामना ही करते हैं और न उनकी सहज नित्य-स्वरूप-स्थितिमें कभी कोई परिवर्तन ही होता है। उनके बहुत रूपोंमें प्रकट होनेका यह अर्थ नहीं है कि वे एकत्वकी अवस्थासे बहुत्वकी अवस्थामें अथवा अद्वैत-स्थितिसे द्वैतस्थितिमें चलकर आते हैं। उनकी सत्ता तथा स्वरूपपर कालका कोई भी प्रभाव नहीं है और इसीलिये विश्वके प्रकट होनेसे पूर्वकी या पीछेकी अवस्थामें जो भेद दिखायी देता है, वह उनकी सत्ता और स्वरूपका स्पर्श भी नहीं कर पाता। अवस्था-भेदकी कल्पना तो जड जगत्में है। स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निवृत्ति और प्रवृत्ति, विरति और भोग, साधन और सिद्धि, कामना और परिणाम, भूत और भविष्य, दूर और समीप एवं एक और बहुत—ये सभी भेद वस्तुतः जड-जगत्के सकीर्ण धरातलमें ही हैं। विशुद्ध पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता तो सर्वथा भेदशून्य है। वह विशुद्ध अभेद-भूमि है। वहाँ स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निष्क्रियता और सक्रियतामें अभेद है। इसी प्रकार एक और बहुत, साधना और सिद्धि, कामना और भोग, भूत-भविष्य-वर्तमान तथा दूर और निकट भी अभेदरूप ही हैं। इस अभेदभूमिमें चैतन्यघन पूर्ण परमात्मा परस्परविरोधी धर्मोंको आलिङ्गन किये नित्य विराजित हैं। वे चलते हैं और नहीं चलते, वे दूर भी हैं, समीप भी हैं, वे सबके भीतर भी हैं और सबके बाहर भी हैं—

> तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
> तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
>
> (ईशावास्योपनिषद् ५)

वे अपने विश्वातीत रूपमें स्थित रहते हुए ही अपनी वैचित्र्यप्रसविनी कल्याणमयी अचिन्त्य-शक्तिके द्वारा विश्वका सृजन करके अनादि-अनन्तकालतक उसीके द्वारा अपने विश्वातीत स्वरूपकी उपलब्धि और उसका सम्भोग करते रहते हैं। उपनिषद्ने जो यह कहा है कि वह ब्रह्म पहले अकेला था, वह रमण नहीं करता था। इसी कारण आज भी अकेला पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरेकी इच्छा की—उसने अपनेको ही एकसे दो कर दिया—वे पति-पत्नी हो गये।—

'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। ... इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।'

(बृहदारण्यक० १। ४। ३)

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इससे पूर्व वे अकेले थे और अकेलेपनमें रमणका अभाव प्रतीत होनेके कारण वे मिथुन (युगल) हो गये, क्योंकि कालपरम्पराके क्रमसे अवस्थाभेदको प्राप्त हो जाना ब्रह्मके लिये सम्भव नहीं है। वे नित्य-मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य-युगलत्वमें ही उनका पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही नित्य अपने ही साथ नित्य रमण—अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त माधुर्यका अनवरत आस्वादन चल रहा है। उनके इस स्वरूपगत आत्ममैथुन, आत्मरमण और आत्मास्वादनसे ही अनादि-अनन्तकाल अनादि-अनन्त देशमें अनन्त विचित्रतामण्डित, अनन्त रससमन्वित विश्वके सृजन, पालन और संहारकी लीला-प्रवाह चल रहा है। इस युगल रूपमें ही ब्रह्मके अद्वैतस्वरूपका परमोत्कृष्ट परिचय प्राप्त होता है। अतएव श्रीउमा-महेश्वर, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीता-राम, श्रीराधा-कृष्ण, श्रीकाली-रुद्र आदि सभी युगल-स्वरूप नित्य-सत्य और प्रकारान्तरसे उपनिषत्-प्रतिपादित हैं। उपनिषद्ने एक ही साथ सर्वातीत और सर्वकारणरूपमें, स्थितिशील और गतिशीलरूपमें, निष्क्रिय और सक्रियरूपमें, अव्यक्त और व्यक्तरूपमें एवं सच्चिदानन्दघन पुरुष और विश्वजननी नारीरूपमें इसी युगल स्वरूपका विवरण किया है, परंतु यह विषय है बहुत ही गहन। वस्तुतः यह अनुभवगम्य रहस्य है। प्रगाढ़ अनुभूति जब तार्किकी बुद्धिकी द्वन्द्वमयी सीमाका सर्वथा अतिक्रमण कर जाती है—तभी सक्रियत्व और निष्क्रियत्व, सकारत्व और निराकारत्व, परिणामित्व और अपरिणामित्व एवं बहुरूपत्व और एकरूपत्वके एक ही समय एक ही साथ सर्वाङ्गीण मिलनका रहस्य खुलता है—तभी इसका यथार्थ अनुभव प्राप्त होता है।

यद्यपि विशुद्ध तत्त्वमय चैतन्य-राज्यमें प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश देहेन्द्रियादिगत भेद एवं तदनुकूल किसी लौकिक या प्राकृत सम्बन्धकी सम्भावना नहीं है, तथापि—जब आत्मतत्त्वको प्राकृत मन-बुद्धि एवं इन्द्रियोंके द्वारा ... है, तब प्राकृत उपमा और प्राकृत पुरुष और प्राकृत नारी एवं

उनके प्रगाढ सम्बन्धका सहारा लेकर ही परम चितत्त्वके स्वरूपगत युगल-भावको समझनेका प्रयत्न करना पडता है। वस्तुत पुरुपरूपमें ब्रह्मका सर्वातीत निर्विकार निष्क्रिय भाव है और नारीरूपमें उन्हींकी सर्वकारणात्मिका अनन्त लीला वैचित्र्यमयी स्वरूपा-शक्तिका सक्रिय भाव है। पुरुपमूर्तिमे भगवान् विश्वातीत हैं, एक हैं और सर्वथा निष्क्रिय हैं एव नारीमूर्तिमें वे ही विश्वजननी बहुप्रसविनी लीलाविलासिनी-रूपमें प्रकाशित हैं। पुरुप-विग्रहमे वे सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारी-विग्रहमें उन्हींकी सत्ताका विचित्र प्रकाश, उन्हींके चैतन्यकी विचित्र उपलब्धि तथा उन्हींक आनन्दका विचित्र आस्वादन है। अपने इस नारी-भावके सयोगसे ही वे परम पुरुष ज्ञाता कर्ता और भोक्ता हैं—सृजनकर्ता, पालनकर्ता और सहारकर्ता हैं। नारी-भावके सहयोगसे ही उनके स्वरूपगत, स्वभावगत अनन्त ऐश्वर्य अनन्त वीर्य, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है, इसीमें उनकी भगवत्ताका परिचय है। पुरुपरूपसे वे नित्य-निरन्तर अपने अभिन्न नारीरूपका आस्वादन करते हैं और नारी (शक्ति)-रूपसे अपनेको ही आप अनन्त आकार-प्रकारोंमें—लीलारूपमें प्रकट करके नित्य-चिद्रूपमे उसकी उपलब्धि और उपभोग करते हैं—इसीलिये ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। सच्चिदानन्दमयी अनन्त-वैचित्र्यप्रसविनी लीलाविलासिनी महाशक्ति ब्रह्मकी स्वरूपभूता हैं, ब्रह्मके विश्वातीत, देशकालातीत अपरिणामी सच्चिदानन्दस्वरूपके साथ नित्य मिथुनीभूता हैं। ब्रह्मकी सर्वपरिच्छेदरहित सत्ता चेतनता और आनन्दको अगणित स्तरोंके सत्-पदार्थरूपमें असख्य प्रकारकी चेतना तथा ज्ञानके रूपमे एव असख्य प्रकारके रस—आनन्दके रूपमें विलसित करके उनको आस्वादनके योग्य बना देना इस महाशक्तिका कार्य है। स्वरूपगत महाशक्ति इस प्रकार अनादि-अनन्तकाल ब्रह्मके स्वरूपगत चित्की सेवा करती रहती हैं। उनका यह शक्तिरूप तथा शक्तिके समस्त परिणाम (लीला) और कार्य स्वरूपत उस चितत्त्वसे अभिन्न हैं। यह नारी-भाव उस पुरुपभावसे अभिन्न है यह परिणामशील दिखायी देनेवाला अनन्त विचित्र लीलाविलास उनक कूटस्थ नित्यभावसे अभिन्न है। इस प्रकार उभयभाव अभिन्न होकर ही भिन्नरूपम परस्पर आलिङ्गन किये हुए एक-दूसरेका प्रकाश सेवा और आस्वादन करते हुए एक-दूसरेको आनन्द-रसमें आप्लावित करते हुए नित्य-निरन्तर ब्रह्मके पूर्ण स्वरूपका परिचय दे रहे हैं। परम पुरुप और उनकी महाशक्ति—भगवान् और उनकी प्रियतमा भगवती भिन्नाभिन्नरूपसे एक ही ब्रह्मस्वरूपमे स्वरूपत प्रतिष्ठित हैं। इसलिये ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द हैं और साथ ही नित्य आस्वादनमय हैं। यही विचित्र महारास है जो अनादि अनन्तकाल बिना विराम चल रहा है। उपनिषदोंने ब्रह्मके इसी स्वरूपका और उनकी इसी नित्य-लीलाका विविध दार्शनिक शब्दोंमे परिचय दिया है और इसी स्वरूपको जानने समझने उपलब्ध करने तथा उपभोग करनेकी विविध प्रक्रियाएँ, विद्याएँ एव साधनाएँ अनुभवी ऋषियोंकी दिव्य वाणीके द्वारा उनमें प्रकट हुई हैं।

वेदमे गौका जुलूस

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमा । वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि॥
शतं कंसा शतं दोग्धार शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्या । ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा॥

(अथर्ववेद १०। १०। ४-५)

अर्थात् जिस गौके द्वारा द्यु, पृथिवी एवं जलमय अन्तरिक्ष—य तीनों लोक सुरक्षित हैं उस सहस्रधाराओंसे दूध देनेवाली गौकी हम प्रशंसा करते हैं। सौ दोहनपात्र लिये सौ दुहनेवाले तथा सौ सरक्षक इसकी पीठपर सग खड रहते हैं। इस गौसे जो देव जीवित रहते हैं ये ही सचमुच उस गौका महत्त्व जानते हैं।

वेदमे अवतारवाद

(महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी)

'वेदमें अवतारवाद है या नहीं?' इसके लिये अवतारवादके प्रतिपादक कुछ मन्त्र यहाँ लिखे जाते हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
(यजुर्वेद ३१। १९)

—इसका अर्थ है कि प्रजाओंका पति भगवान् गर्भके भीतर भी विचरता है। वह तो स्वयं जन्मरहित है, किंतु अनेक प्रकारसे जन्म ग्रहण करता रहता है। विद्वान् पुरुष ही उसके उद्भव-स्थानको देखते एवं समझते हैं। जिस समय वह आविर्भूत होता है, उस समय सम्पूर्ण भुवन उसीके आधारपर अवस्थित रहते हैं। अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ नेता बनकर लोकोंको चलाता रहता है। इस मन्त्रके प्रकृत अर्थमें अवतारवाद अत्यन्त स्फुट है। अब यद्यपि कोई विद्वान् इसका अन्य अर्थ करें तो प्रश्न यही होगा कि उनका किया हुआ अर्थ ही क्यों प्रमाण माना जाय? मन्त्रके अक्षरोंसे स्पष्ट निकलता हुआ हमारा अर्थ ही क्यों न प्रमाण माना जाय? वस्तुतः बात यह है कि वेद सर्वविज्ञाननिधि है। वह थोड़े अक्षरोंमें संकेतसे कई अर्थोंको प्रकाशित कर देता है और उसके संकेतित समस्त अर्थ शिष्ट-सम्प्रदायमें प्रमाणभूत माने जाते हैं। इसलिये बिना किसी खींचतान और लाग-लपटके जब इस मन्त्रसे अवतारवाद बिलकुल विस्पष्ट हो जाता है, तब इस अर्थको अप्रमाणित करनेका कोई कारण नहीं प्रतीत होता। यदि कोई वैज्ञानिक अर्थ भी इस मन्त्रसे प्रकाशित होता है तो वह भी मान लिया जाय किंतु अवतारवादका अर्थ न माननेका कोई कारण नहीं। अन्य भी मन्त्र देखिये—

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।'
(अथर्व० १०। ८। २७)

यहाँ परमात्माकी स्तुति है कि आप स्त्रीरूप भी हैं पुरुषरूप भी हैं। कुमार और कुमारीरूप भी आप होते हैं।

अब विचारनेकी बात है कि परमात्मा अपने व्यापक स्वरूपमें तो स्त्री पुरुष कुमार और कुमारी कुछ भी नहीं है। ये रूप जो मन्त्रमें वर्णित हैं, अवतारोंके ही रूप हो सकते हैं। पुरुषरूपमें राम कृष्ण आदि अवतार प्रसिद्ध ही हैं। स्त्रीरूप महिषमर्दिनी आदि अवतारोंका विस्तृत वर्णन 'श्रीदुर्गासप्तशती'में प्रसिद्ध है। वहाँके सभी अवतार स्त्रीरूप ही हैं। व्यापक निराकार परमात्मा पुरुषरूपमें अथवा स्त्रीरूपमें इच्छानुसार कहीं भी प्रकट हो सकता है। कुमाररूपमें अवतार भी यहाँ वर्णित है और कुमाररूपमें वामनावतार प्रसिद्ध ही है जिसकी कथा विस्तारसे 'शतपथ-ब्राह्मण'में प्राप्त होती है। शिष्ट-सम्प्रदायमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद माने जाते हैं, इसलिये 'शतपथ-ब्राह्मण'में प्रसिद्ध कथाको भी वेदका ही भाग कहना शिष्ट-सम्प्रदायद्वारा अनुमोदित है और कथाका संकेत मन्त्रमें भी मिलता है—

'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पा᳚सुरे०॥' (यजुर्वेद ५। १५)

अर्थात् इन दृश्यमान लोकोंका विष्णुने विक्रमण किया—इनपर अपने चरण रखे। अर्थात् अपने चरणोंसे सारे लोकोंको नाप डाला। ये लोक इनकी पाद-धूलिमें अन्तर्गत हो गये। वामन-अवतारकी यह स्पष्ट कथा है। यहाँ भी अर्थका विभाग उपस्थित होनेपर यही उत्तर होगा कि मन्त्रके अक्षरोंसे स्पष्ट प्रतीत होता हुआ हमारा अर्थ क्यों न माना जाय। जो कथा ब्राह्मण और पुराणोंमें प्रसिद्ध है उसके अनुकूल मन्त्रका अर्थ न मानकर मनमाना अर्थ करना एक दुराग्रहपूर्ण कार्य होगा। जो सम्प्रदाय ब्राह्मणभागको वेद नहीं मानते, वे भी यह तो मानते ही हैं कि मन्त्रोंके अर्थ ही भगवान्‌ने ऋषियोंकी बुद्धिमें प्रकाशित किये। वे ही अर्थ ऋषियोंने लिखे। वे ही ब्राह्मण हैं और पुराण आदि भी वेदार्थोंके विस्तार ही हैं, यह उनमें ही वर्णित है। इसी प्रकार मत्स्यावतारकी कथा और वराहावतारकी कथा भी शतपथ आदि ब्राह्मणोंमें स्पष्ट मिलती है। जो वैज्ञानिक अवतार हैं, जिनका सृष्टिमें विशेषरूपसे उपयोग है उनकी कथा ब्राह्मणोंमें सृष्टि-प्रक्रिया बतानेके लिये स्पष्ट-रूपसे दी गयी है।

महाभारतके टीकाकार श्रीनीलकण्ठने 'मन्त्र-भागवत' और 'मन्त्र-रामायण' नामके दो छोटे निबन्ध भी लिखे हैं। उनमें राम और कृष्णकी प्रत्येक लीलाओंके प्रतिपादक मन्त्र उद्धृत किये गये हैं, उन मन्त्रोंसे राम और कृष्णके प्रत्येक चरित्र प्रकाशित होते हैं। और वेदके रहस्यको प्रकाशित करनेमें ही जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया उन वेदके असाधारण विद्वान् विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझाने भी गीता-विज्ञान भाष्यके आचार्यकाण्डमें उन मन्त्रोंको दुहराया है। इसलिये ये मन्त्र उन लीलाओंपर नहीं घटते ऐसा कहनेका साहस कोई नहीं कर सकता। इससे वेदोंमें अवतारवाद होना अति स्पष्ट हो जाता है।

'वेद' शब्दका तात्पर्यार्थ क्या है?

(शास्त्रार्थ महारथी (वैकुण्ठवासी) पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

'वेद' शब्दमय ब्रह्मका मूर्तस्वरूप है, इसलिये सभी शास्त्रोमें 'वेद' शब्दका अपर पर्याय 'ब्रह्म' प्रसिद्ध है। वेदका जो विधि-प्रधान भाग है, वह तो 'ब्राह्मण' नाम्ना ही सर्वत्र व्यवहृत है। 'ब्रह्मण इद ब्राह्मणम्' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थके कारण ही उक्त भागकी 'ब्राह्मण'-सज्ञाका स्वारस्य सिद्ध होता है।

'वेद' शब्द 'विद सत्तायाम्', 'विद ज्ञाने', 'विद विचारणे' और 'विद्लृ लाभे'—इन चार धातुओसे निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—जिसकी सदैव सत्ता हो, जो अपूर्व ज्ञानप्रद हो, जो ऐहिकामुष्मिक उभयविध विचारोका कोश हो और जो लौकिक और लोकोत्तर लाभप्रद हो ऐसे ग्रन्थको 'वेद' कहते हैं।

वेदोंमें सत्ता ज्ञान, विचार और लाभ—ये चारो गुण विद्यमान हैं। हम क्रमश इन चारो गुणोंपर विशेष विचार उपस्थित करते हैं—

सत्ता—

ईश्वरवादी सभी सम्प्रदायोंमें ईश्वर अनादि और अनन्त परिगृहीत है। 'वेद' भगवान्की वाणी है, अत वह भी अनादि एव अनन्त है। स्मृति-वचन है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।

अर्थात् वेद स्वयम्भू ब्रह्माकी वह वाणी है जिसका न कोई आदि है और न अन्त। अतएव वह नित्य है। ब्रह्मा भी वेदवाणीके निर्माता नहीं, अपितु यथोपदिष्ट उत्सर्ग—प्रदान करनेके कारण उत्स्रष्टा ही है। इस प्रकार वेदोंकी सत्ता त्रिकालाबाधित है।

कदाचित् कोई कुतार्किक 'वाणी' शब्दको सुनकर आशंका करे कि लोकमें तो वाणी त्रिकालाबाधित नहीं होती। जाग्रत्-अवस्थामें ही वाणीका व्यापार प्रत्यक्ष दृष्ट है। स्वप्न सुषुप्ति और तुरीयावस्थामे तो वाणीके व्यापारकी कथमपि सम्भावना नहीं की जा सकती। अत आस्तिकोंके कथित भगवान्के भी शयनकालमें वाणीका अवरोध युक्तिसगत है अत उसे सदा अनवरुद्ध सत्ता-सम्पन्न कैसे कहा जा सकता है? यद्यपि यह शका कुतर्कपर आश्रित है, क्योकि ससारमे कोई भी दृष्टान्त सर्वांशमे परिगृहीत नहीं हुआ करता किंतु सभी उपमाएँ एक सीमातक उपमेय वस्तुके गुण-दोषोकी परिचायक हुआ करती हैं। मुखको चन्द्रके समान कहनेका चन्द्रगत आह्लादकतादि गुणोका ही मुखमे आरोप करना हो सकता है न कि तद्गत शशक-चिह्न किंवा क्षीणत्व-दोषका उद्घाटन करना। ठीक इसी प्रकार वेदको भगवान्की वाणी कहनेका तात्पर्य यही है कि यावत् शब्द-व्यवहार एकमात्र वेद-वाणी-निस्यूत शब्द-राशि है, क्योकि वह अपौरुषेय है, अत किसी पुरुष-विशेषकी वाणीसे उसका सम्बन्ध स्वीकृत नहीं, इसलिये आपातत वेदभगवान्का ही वैभव हो सकता है। तथापि कुतार्किकोंको शका-उद्घाटनका अवसर ही प्राप्त न हो एतावता अन्यत्र वेदको भगवद्वाणी न कहकर उसे भगवान्का नि श्वास कहा गया है—

(क) अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस । (बृहदारण्यक० २। ४। १०)

(ख) यस्य निश्वसितं वेदा ।

(सायणीय भाष्य मङ्गलाचरण)

अर्थात्—(क) इस महाभूत श्रीमन्नारायणभगवान्के ये श्वास ही हैं। जो ऋग्वेद यजुर्वेद और अथर्वाङ्गिरस—अथर्ववेद हैं।

(ख) वेद जिस भगवान्के नि श्वासोच्छ्वास हैं, वे प्रभु वन्दनीय हैं।

कहना न होगा कि उक्त प्रमाणोमे वेदोको भगवान्का श्वासोच्छ्वास कहनेका यह अभिप्राय है कि श्वास प्रयत्न-साध्य वस्तु नहीं किंतु निसर्गजन्य है तथा जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति और तुरीयावस्थामें भी यावज्जीवन वह विद्यमान रहता है एतावता यह सुप्रसिद्ध है कि वेद भी कोई कृत्रिम वस्तु नहीं अपितु भगवान्का सहज व्यापार है। संसार भले ही सम्भव और विनाशशील हो परतु वेदोंकी सत्ता आदि सृष्टिसे पूर्व भी थी और प्रलयान्तरमें भी वह अबाधरूपमें अक्षुण्ण बनी रहेगी। जैसे श्रीमन्नारायणभगवान् अनादि,

अनन्त और अविपरिणामी हैं, ठीक इसी प्रकार वेद भी अनादि अनन्त और अविपरिणामी हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि 'विद सत्तायाम्' धातुसे निष्पन्न 'वेद' शब्द त्रिकालाबाधित सत्तासम्पन्न है।

ज्ञान—

वेद जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमानकी सीमापर्यन्त सीमित लौकिक ज्ञानकी अक्षय निधि हैं वहीं प्रत्यक्षानुमानोपमानादिसे सर्वथा और सर्वदा अज्ञेय अतीन्द्रिय, अवाङ्मनसगोचर लोकोत्तर ज्ञानके तो एकमात्र वे ही अन्धेकी लकड़ीके समान आधारभूत हैं। वस्तुतः लौकिक ज्ञान वेदोंका मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। तादृश वर्णन तो वैदिकोंके शब्दोंमें केवल प्रत्यक्षानुवाद मात्र है। कुछ लोग कहते हैं कि 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'—यह बात वेदके बिना भी चक्रमूर्ख तक स्वानुभवसे जानते हैं, फिर वेदमें ऐसी छिछली बातोंकी क्या जरूरत थी? परंतु आक्षेप्ताओंको मालूम होना चाहिये कि वेदका यह प्रत्यक्षानुवाद भी उस कोटिका साहित्य है जो कि आजके कथित भौतिक विज्ञानवादियोंकी समस्त उछल-कूदकी पराकाष्ठाके परिणामोंसे सदैव एक कदम आगे रहता है। शङ्कावादीकी उदाहृत श्रुतिका केवल यही अर्थ नहीं है कि 'अग्नि शीतकी औषधि है' अर्थात् आग तापनेसे पाला दूर हो जाता है अपितु वेदके इन शब्दोंमें यह उच्च कोटिका विज्ञान भी गर्भित है कि हिमानी प्रदेशमें उत्पन्न होनेवाली जड़ी-बूटियाँ अतीव उष्ण होती हैं। शिलाजीत केशर, संजीवनी और कस्तूरी आदि इस तथ्यके निदर्शन हैं। अथवा बर्फ बनानेका नुस्खा अग्नि ही है अर्थात् इतनी डिग्री उष्णता पहुँचानेपर तरल राशि बर्फरूपमें घनाभावको प्राप्त हो जाती है। कहना न होगा कि वर्तमान भौतिक विज्ञानवादी वर्षों अनुसंधान करनेके उपरान्त एक मुद्दतमें वेदके उपर्युक्त मन्त्रांशद्वारा प्रतिपादित हिम-विज्ञानको समझ पाये हैं। इसी प्रकार वेद-प्रतिपादित अश्वत्थ-विज्ञान शंखध्वनिसे रोग-कीटाणु-विनाश-विज्ञान, श्रीजगदीशचन्द्र वसु और सी० वी० रमन आदि भारतीय विज्ञानवेत्ताओंके चिरकालीन अनुसंधानोंके उपरान्त अभारतीय वैज्ञानिकोंतक अंशतः पहुँच गया है। इसी प्रकार 'हिमवतः प्रस्रवन्ती [illegible]भेषजम्' आदि वेद-प्रतिपादित गङ्गाजलके हृदय-रोगोंकी अचूक औषधि होनेकी बात अभीतक अनुसंधान-कोटिमें ही लटक रही है और वेदोक्त स्पर्श-विज्ञानकी ओर तो अभी भौतिक विज्ञानवादी उन्मुख नहीं हो पाये हैं।

'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस वैदिक घोषणाका तथ्य समझनेमें अभी वैज्ञानिकोंको शताब्दियाँ लगेंगी। परमाणु-विज्ञान विज्ञानकी चरम सीमा समझी जाती है, परंतु वस्तुतः यह विज्ञानकी 'इति' नहीं, अपितु 'अथ' है। कथित 'न्यूट्रॉन' और 'प्रोटोन' नामक परमाणुके विश्लिष्ट अन्तिम दोनों अंश वेदोक्त अग्नि और सोम-तत्त्वके ही स्थूलतम प्रतिनिधि हैं। जिस तत्त्वांशको अन्तिम समझ कर आजका भौतिक विज्ञानवादी केवल अनिर्वचनीय शक्तिपुंज (एनर्जी) मात्र कहनेको विवश है और तत्संश्लिष्ट 'अपर' अंशको अच्छेद्य सह-अस्तित्वशाली आवरण बताता है, वास्तवमें वे दोनों अग्नि और सोमके ही स्थूलतम अत्यणु हैं। यह परमाणु-विज्ञानका चरम बिन्दु नहीं किंतु प्रवेशद्वार मात्र है। अभी तो विपञ्चीकृतभूत तन्मात्राएँ, अहंकार और महान्—इन द्वारोंकी लम्बी मंजिल तय करनी पड़ेगी तब कभी 'अव्यक्त' तत्त्वतक पहुँच हो पायेगी। उस समय साम्प्रतिक भौतिक विज्ञानवादियोंद्वारा कथित एनर्जी और आवरण नामक तत्त्वद्वयात्मक परमाणु पुरुष और प्रकृतिके ऐक्यभूत अर्धनारीश्वरकी संज्ञाको धारण कर सकेंगे। कहनेका तात्पर्य यह है कि वेदोंका प्रमुख विषय भौतिक विज्ञान भी वेदोंमें इतनी उच्च कोटिका वर्णित है कि जिसकी तहतक पहुँचनेमें अनुसंधायकोंको अभी कई सहस्राब्दियाँ लग सकती हैं। हमने प्रसङ्गवश कतिपय पंक्तियाँ इस विषयपर इसलिये लिख छोड़ी हैं कि जिनसे वर्तमान भौतिक विज्ञानकी चकाचौंधमें चौंधियायी हुई भारतीय आँखोंकी भी साथ-साथ कुछ चिकित्सा हो सके। अब हम वेदोंके मुख्य विषयकी चर्चा करते हैं। स्मृतिकारोंका कहना है—

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
> एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

अर्थात् प्रत्यक्षानुमान और उपमान आदि साधनोंद्वारा जो उपाय नहीं जाना जा सके वह उपाय वेदसे जाना जा सकता है यही वेदका वेदत्व है।

मन क्या है? बुद्धि क्या है? स्वप्न और सुषुप्तिकी अनुभूतियाँ किमाधारभूत हैं? जीवन-मरण क्या है? मृत्युके पश्चात् क्या कुछ होता है? इत्यादि मानव-प्रश्नोंको मानव-बुद्धि-बलात् सुलझानेका असफल प्रयत्न किया जायगा तो हो सकता है कि अनुसधायक सनकी, अर्धविक्षिप्त, किंवा मस्तिष्ककी धमनी फट जानेसे मृत्युका ग्रास ही न बन जाय। इसलिये अनुभवी तत्त्वदर्शियोकी खुली घोषणा है कि—

अतीन्द्रियाश्च ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।

इन्द्रियातीत भावोंको तर्कसे समझनेका प्रयास नहीं करना चाहिये।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन लोकोत्तर परोक्ष-विषयोंमें मानव-बुद्धि उछल-कूद मचाकर कुण्ठित, किंवा पगु हो जाय, उन विषयोंके परिज्ञानके लिये एकमात्र वेद ही हमारा मार्गदर्शक हो सकता है। इसलिये पाणिनीय महाभाष्यकारके शब्दोमे भारतीय ऋषियोंका यह गौरवपूर्ण उद्घोष आज भी दिग्दिगन्तोंमें प्रतिध्वनित है— 'शब्दप्रामाणिका वयम्' अर्थात् हम वेद-प्रमाणको सर्वोपरि मानते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि—'विद ज्ञाने' धातुसे निष्पन्न होनेवाला 'वेद' शब्द धात्वर्थके अनुसार लौकिक और पारलौकिक उभयविध ज्ञानका कोश है।

विचार—

'वेद' शब्दका अन्यतम अर्थ विचार भी है। तदनुसार लौकिक या पारलौकिक कोई भी नया बेजोड विचार सम्भव नहीं हो सकता जो कि वेदमें प्रथमत न किया गया हो। यह ठीक है कि दुर्भाग्यवश आज राजाश्रयके बिना वे सुलझे-सुलझाये अकाट्य सिद्धान्त तबतक लोगोंकी दृष्टिसे ओझल ही रहते हैं जबतक कि अँधेरेमें चाँदमारी करनेवाले वर्षों माथापच्ची करनेके बाद किसी सिद्धान्ताभासकी दुम पकडकर एतावता अपनेको कृतकृत्य नहीं मान लेते और उसपर आचरण करके पदे-पदे विपत्तियाँ आनेपर अपने उस मन्तव्यकी कचुली बदलते-बदलते 'मघवा मूल विडौजा टीका' को चरितार्थ नहीं कर डालते। यह एक अपरिहार्य सत्य है कि मनुष्य चाहे कितना ही बडा बुद्धिमान् क्यों न हो तथापि वह मानव होनेके कारण 'अल्पज्ञ' ही रहेगा। सर्वज्ञ तो एकमात्र श्रीमन्नारायणभगवान् ही हैं। अत मानव-विचार सर्वांशम त्रुटिहीन नहीं हो सकता। एक मनुष्यकी कौन कहे सैकडों चुने हुए बुद्धिमानोद्वारा बडे ऊहापोह और बहस-मुबाहसेके बाद बनाये गये कानून कुछ दिनोके बाद ही खोखले मालूम पडने लगते हैं। वही प्रस्तोता अनुमोदक तथा समर्थक अपने पूर्व-निश्चयको बदलनेके लिये बाध्य हो जाते हैं। भारतकी ही ससदम अन्यून नब्बे करोड जनताद्वारा निर्वाचित सवा पाँच सौ सदस्य एक दिन एक विधान बनाते हैं और कुछ दिनोके बाद स्वय उसम सशोधनके लिये बाध्य होते हैं। यह मनुष्यकी सहज अल्पज्ञताका ही निदर्शन है। इसलिये सर्वज्ञ भगवान्‌की वाणी वेद ही 'विद विचारणे' धातुसे निष्पन्न होनेके कारण सही विचाराका खजाना है।

लाभ—

शास्त्रोंमें समस्त लौकिक लाभोंका सग्राहक शब्द 'अभ्युदय' नियत किया गया है और सम्पूर्ण पारलौकिक लाभोका सग्राहक शब्द 'नि श्रेयस' शब्द नियत किया गया है। उक्त दोनों प्रकारके लाभ जिनके द्वारा सुतरा प्राप्त हो सके, उसी तत्त्वका पारिभाषिक नाम धर्म है। वेद धर्मका प्रतिपादक है। अत यह उभयविध लाभाका जनक है। वेदाज्ञाओंका पालन करनेवाले व्यक्तिको 'योगक्षेमात्मक' सर्वविध अभ्युदय प्राप्त होता है और परलोकमे वह श्रीमन्नारायणभगवान्‌के सानिध्यसे लाभान्वित होता है। शास्त्रमें साधकके लिये पारलौकिक सद्गतिको ही वस्तुत परम लाभ स्वीकार किया गया है लौकिक सुख-समृद्धिको तो अनायास अवश्य ही प्राप्त होनवाली वस्तु बतलाया गया है, जैसे आम्रवनम पहुँचनेपर यात्राका वास्तविक लाभ तो सुमधुर आम्रफल-प्राप्ति ही है परतु घर्मतापापनादिनी शीतल छाया श्रुति-सुलभ कोकिला-रावश्रवण और घ्राणतर्पक विशुद्ध वायु-सस्पर्श आदि भोग तो उस अयाचित ही सुलभ हो जायँगे। एतावता यह सिद्ध है कि 'विद्लृ लाभे धातुसे निष्पन्न 'वद' शब्द अपने मूल धात्वर्थके अनुसार ऐहिक और आमुष्मिक उभयविध लाभाका सर्वोपरि जनक है।

अत जा त्रिकालाबाधित सत्तासम्पन्न हो परोक्ष ज्ञानका निधान हो सर्वविध विचारोका भण्डार हो और लोक तथा परलोकके लाभोंसे भरपूर हो उसे 'वद' कहते हैं। यही वेद शब्दका सक्षिप्त अर्थ है।

गो-स्तवन

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥

(ऋक्० ८।१०१।१५)

'गौ रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री, अदितिपुत्रोंकी बहिन और घृतरूप अमृतका खजाना है; प्रत्येक विचारशील पुरुषको मैंने यही समझाकर कहा है कि निरपराध एवं अवध्य गौका वध न करो।'

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥

(अथर्व० ४।२१।१)

'गौओंने हमारे यहाँ आकर हमारा कल्याण किया है। ये हमारी गोशालामें सुखसे बैठें और उसे अपने सुन्दर शब्दोंसे गुँजा दें। ये विविध रंगोंकी गौएँ अनेक प्रकारके बछड़े-बछड़ियाँ जनें और इन्द्र (परमात्मा)-के यजनके लिये उषःकालसे पहले दूध देनेवाली हों।'

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥

(अथर्व० ४।२१।३)

'वे गौएँ न तो नष्ट हों, न उन्हें चोर चुरा ले जाय और न शत्रु ही कष्ट पहुँचाये। जिन गौओंकी सहायतासे उनका स्वामी देवताओंका यजन करने तथा दान देनेमें समर्थ होता है, उनके साथ वह चिरकालतक संयुक्त रहे।'

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥

(अथर्व० ४।२१।५)

'गौएँ हमारा मुख्य धन हों, इन्द्र हमें गोधन प्रदान करें तथा यज्ञोंकी प्रधान वस्तु सोमरसके साथ मिलकर गौओंका दूध ही उनका नैवेद्य बने। जिसके पास ये गौएँ हैं, वह तो एक प्रकारसे इन्द्र ही है। मैं अपने श्रद्धायुक्त मनसे गव्य पदार्थोंके द्वारा इन्द्र (भगवान्)-का यजन करना चाहता हूँ।'

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

(अथर्व० ४।२१।६)

'गौओ! तुम कृश शरीरवाले व्यक्तिको हृष्ट-पुष्ट कर देती हो एवं तेजोहीनको देखनेमें सुन्दर बना देती हो। इतना ही नहीं, तुम अपने मङ्गलमय शब्दसे हमारे घरोंको मङ्गलमय बना देती हो। इसीसे सभाओंमें तुम्हारे ही महान् यशका गान होता है।'

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥

(अथर्व० ४।२१।७)

'गौओ! तुम बहुत-से बच्चे जनो, चरनेके लिये तुम्हें सुन्दर चारा प्राप्त हो तथा सुन्दर जलाशयमें तुम शुद्ध जल पीती रहो। तुम चोरों तथा दुष्ट हिंसक जीवोंके चंगुलमें न फँसो और रुद्रका शस्त्र तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करे।'

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागन्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥

(अथर्व० ७।७३।८)

'रँभाती हुई तथा ऐश्वर्योंका पालन करनेवाली यह गाय मनसे बछड़ेकी कामना करती हुई समीप आयी है। यह अवध्य गौ दोनों अश्विनीकुमारोंके लिये दूध दे और वह बड़े सौभाग्यके लिये बढ़े।'
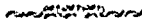
अपौरुषेय वेदोक्त श्रेयस्कर मार्ग

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृंगेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

भारतवर्षकी यह सर्वाधिक विशेषता है कि यहाँ ज्ञान-विज्ञान शास्त्र एव शास्त्र-विद्या साहित्य-कला सभ्यता-सस्कृति आदिका मूल वेद माना जाता है या इन सबका सम्बन्ध वेदोंसे जोड़ा जाता है। यह वेदाका देश है, महर्षियोका देश है। वेद ज्ञानराशि होने तथा सर्वव्यापक तत्त्वदर्शन आदिसे समलकृत होनेके कारण विश्वके विभिन्न देशाके विद्वानोंका ध्यान बरबस इस ओर आकृष्ट हुआ और विद्वत्समाजने एक-कण्ठ होकर भारतकी महानता और श्रेष्ठताको स्वीकार किया। ससारमे शायद ही ऐसा कोई देश हो जो यह कहता हो कि हमारी सभी विद्याआका हमारी सभी संस्कृतियों एवं सभ्यताओका, हमारे सगीत और हमारी कलाआका मूल हमारे धार्मिक ग्रन्थ हैं। केवल भारतमें सनातनधर्मके मूल वेदको ऐसा अद्वितीय गौरव प्राप्त है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' और 'धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा'-जैसे श्रुति-स्मृति-वाक्योंसे स्पष्ट है कि समस्त मानवोंके अभ्युत्थान अभ्युदय और श्रेयक लिये एकमात्र वेद ही सर्वस्व हैं। सर्वविषयात्मक सर्वविद्यात्मक तथा सर्वज्ञान-प्रकाशात्मक वेद परमेश्वरके शासनरूपमें अवतरित हैं।

प्राचीन भारतीय आर्ष-सम्प्रदायके बद्धमूल विश्वास और दृढ विचारानुसार वेद परब्रह्म परमात्माके नि श्वास-रूपमें विनिर्गत हैं, जो ऋषि-मुनियोको केवल दर्शन-श्रवणादि-रूपमे प्राप्त हुए। वैदिक मन्त्रोंम ऋषि देवता और छन्दका उल्लेख इस बातका प्रमाण है कि वैदिक ऋषियाको वे मन्त्र दर्शन-श्रवणादिसे प्राप्त हुए। अतएव वेद अपौरुषेय हैं, किसी लौकिक काव्यादि ग्रन्थाकी तरह वेदाकी रचना नहीं हुई है और न ही इसके कर्ता कोई पुरुष अथवा एकसे अधिक मनीषी लेखक हैं। स्वय वेद ही इस बातके प्रमाण हैं कि वेद ईश-शासन हैं परमेश्वरके नि श्वासभूत हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् (२। ४। १०)-का श्रुति है—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस ।'

सृष्टिकर्ताने सृष्टिक प्रारम्भमें सृष्टिका सुव्यवस्थाक लिये सर्वथा धर्म-बोधकी आवश्यकता समझी और तदर्थ प्रथमत उन्होंने ब्रह्माको वेद धारण कराया। श्रुति कहती है—

यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
(श्वेताश्वतर० ६। १८)

वेदाके अभावम ब्रह्माको भी धर्मका बोध न होता तब औराकी बात कहना ही क्या है!

किसी मानव-कृत ग्रन्थम शंका भ्रम अथवा भूल आदिके लिये स्थान हो सकता है, जबकि वेदाम ऐसी किसी बातकी सम्भावना भी नहीं है। कल्प-कल्पान्तरोंम वेद विद्यमान रहते हैं। सम्प्रति जा कल्प है, उसका नाम श्वेतवाराह कल्प है। इसके पूर्व भी कल्प था। जैसे इस कल्पमे वेद हैं, वैसे ही पूर्ववर्ती कल्पामे भी थे। भविष्यपुराणमें महर्षि व्यासने भविष्यकी घटनाओंका वर्णन किया है। भविष्यपुराण ही क्या? अन्यान्य पुराणाम भी ऐसे वर्णन द्रष्टव्य हैं। जब पुराणाम ऐसी अपूर्व शक्ति है तो परमात्माके नि श्वासरूप वेदामें ऐसी अपूर्व शक्ति क्या न हो? उसकी दिव्यता और अपूर्व शक्तिक सम्बन्धम मीमासा-भाष्यकार शबर स्वामी कहते हैं—

चोदना हि भूत भवन्त भविष्यन्तं सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्रोत्यवगमयितुम्।

अर्थात् वेदोंकी अपूर्व अथवा असाधारण शक्ति यह है कि उनसे भूत वर्तमान और भविष्यमें घटनेवाले अर्थ ही नहीं सूक्ष्म व्यवहित तथा अन्य अर्थ भी ज्ञात होते हैं। ऐसी दिव्यता और असाधारण शक्ति अन्यत्र कहीं भी द्रष्टव्य नहीं है।

सुप्रसिद्ध वेद-भाष्यकार सायणाचार्यजीका कथन है कि 'स्वयम्प्रकाश-सूर्य जिस प्रकार दुर्गम विषयाका भी बोध करा सकता है उसी प्रकार वेद भी अचिन्त्य और अद्भुत विस्मयकारी शक्तिसे युक्त हैं। घट-पटादिम स्वयम्प्रकाशकी शक्ति नहीं है, जबकि सूर्य-चन्द्रादिकी ऐसी शक्ति है। मनुष्यादिका स्वस्कन्धारोहण-सामर्थ्य नहीं है जबकि वेद, जो अकुण्ठित सामर्थ्यसे युक्त हैं इतर वस्तु-प्रतिपादकत्व-शक्तिक समान (स्वयम्प्रकाशशक्तिसे युक्त अथवा) स्वप्रतिपादकत्व-शक्तिसे युक्त होते हैं इसलिये सम्प्रदायविद् वेदकी अकुण्ठित शक्तिका दर्शन करते हैं।'

यथा घटपटादिद्रव्याणां स्वप्रकाशत्वाभावेऽपि

स्वप्रकाशत्वमविरुद्धं तथा मनुष्यादीनां स्वस्वव्याधिराहासम्भवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्ति अतएव सम्प्रदायविदोऽकुण्ठितां शक्तिं वेदस्य दर्शयन्ति''।

प्राचीन परम्परागत विचारोंका अस्वीकार करनेकी दृष्टिसे ही कुछ लोग ऐसे विचारोंका खण्डन करते हैं और कुछ लोग भ्रमके कारण पदे-पदे संदेह प्रकट करते रहते हैं, ऐसे लोग भी हैं जो संसर्ग-दोषके कारण सही विचारोंको स्वीकार नहीं कर सकते। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि वेदोंकी रचनाका काल-निर्णय करनेकी प्रवृत्ति आधुनिक है। किसी ग्रन्थ-विशेषके रचना-कालके विषयमें जैसे विचार किया जाता है, वैसे ही वेदोंके रचना-कालका निर्णय भी करनेका प्रयत्न कुछ लोगोंने किया है, परंतु उनका प्रयत्न सफल नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि इस पथपर चलनेवाले लोगोंमें भी मतैक्य नहीं है। क्या कारण है? उनका विचार बालूकी भीत है, ठोस प्रमाणोंपर आधारित नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विचार-विनिमय या शंका-समाधान न हो, परंतु शास्त्रीय अकाट्य तर्कोंसे निःसृत सत्यसे हम विमुख न हों।

किसी वस्तुके रूपको जाननेके लिये अथवा उसका अवलोकन करनेके लिये प्रकाशकी आवश्यकता होती है, जब सूर्यका प्रकाश होता है, तब दीपकादि किसी अन्य प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार धर्म-अधर्मके सम्बन्धमें जाननेके लिये वेद स्वतः प्रमाण हैं, वहाँ किसी अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। श्रीभगवत्पाद शंकराचार्यजीका कथन है—

वेदस्य हि धर्माधर्मयोः निरपेक्षं प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये।

'निरपेक्षं प्रामाण्यम्' कहनेसे यह सर्वथा स्पष्ट है कि यहाँ किसी अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। इससे विदित है कि अपौरुषेय वेद सबके लिये प्रमाण हैं। यही कारण है कि उन्होंने कहा है कि वेदका नित्य ही अध्ययन करना चाहिये और तदुक्त कर्माचरण हमारा कर्तव्य है— वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्। यह ईश्वरीय आदेश है, वेद नित्य है। अतएव उसका अध्ययन सर्वदा श्रेयस्कर है।

जिनका वर्णाधिकार है, उनका कर्तव्य है कि वे उससे च्युत न हों। एक और बात यह है कि वेद अपरिमित भी है। कहा गया है कि 'अनन्ता वै वेदाः'। कोई व्यक्ति अपने जीवनकालमें समस्त वेदोंका [illegible] नहीं कर सकता। इस सम्बन्धमें आख्या[illegible] सकता है। इस सम्बन्धमें तैत्तिरीय-शाखामें एक कथा है, जो इस प्रकार है—महर्षि भरद्वाजने समस्त वेदोंका अध्ययन करना चाहा। उन्होंने वेदाध्ययन प्रारम्भ किया। यद्यपि वे निरन्तर एक जन्मतक अध्ययन करते रहे, तथापि अध्ययन पूरा नहीं हुआ। दूसरे जन्ममें वे अवशिष्ट वेद-भागोंका अध्ययन करने लगे। उस जन्ममें भी वेदाध्ययन पूरा नहीं हुआ। तीसरे जन्ममें इस अध्ययन-कार्यको वे पूरा करना चाहते थे। वेदाध्ययन करने लगे। बहुत वृद्ध हो जानेपर भी उन्होंने अध्ययन नहीं छोड़ा। वृद्धावस्थाके कारण उनका शरीर शिथिल हो गया, कम्पित होने लगा। अब तो वे बैठकर अध्ययन करनेमें असमर्थ होनेके कारण सोकर ही अध्ययन करने लगे। ऐसी स्थितिमें उनको इन्द्रका साक्षात्कार हुआ। इन्द्रने उनसे पूछा—'यदि तुमको एक जन्म और प्रदान किया जाय तब तुम क्या करोगे?' मुनिने कहा—'तब मैं शेष वेदाध्ययन पूरा करूँगा।' इन्द्रने उस समय कहा—यह तुमसे पूर्ण हो सकनेवाला कार्य नहीं है। जब मुनिने पूछा—क्यों? तब इन्द्रने उनके सामने तीन पहाड़ दिखाये। तीनोंमेंसे एक-एक मुट्ठीभर मिट्टी उनके सामने रखी और कहा—तीनों जन्मोंमें तुमने जो वेदाध्ययन किया है, वह इतनी-सी मिट्टीके बराबर है, अब शेष है इन तीन पहाड़ोंके बराबरका अध्ययन।

मुनि अवाक्-अचम्भित रह गये। फिर उन्होंने पूछा—'तब मैं क्या करूँ?' महेन्द्रने मधुर वाणीमें कहा—'यत्सारभूतं तदुपासितव्यम्'—मैं तुमको सारका उपदेश देता हूँ।

वेदोंकी ऐसी असीमता है, ऐसी अपरम्पार महिमा है। श्रीभगवत्पाद शंकराचार्य-सरीखे महामहिमोंको छोड़कर शेष लोग वेदोंके अद्वितीय विद्वान् कैसे हो सकते हैं?

धर्माधर्मका निर्णय केवल वेदोंसे सम्भव है। वेदोंकी अति विशालता, गहनता, महानता और महत्ताको दृष्टि पथमें रखकर मनु, गौतम, याज्ञवल्क्य और पराशर-प्रभृति ऋषि मुनियोंने धर्मकी व्याख्या करनेवाले जिन ग्रन्थोंकी रचना की, उन्हें 'स्मृति' कहते हैं।

'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'—यह कहनेसे स्पष्ट होता है कि श्रुति हमारे लिये जिस भाँति प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसी भाँति स्मृति भी प्रमाण है। स्मृति श्रुतिका ही अनुगमन करती है। इसलिये सार्वभौम कविकुलगुरु कालिदासने रघुवंश (२। २)-में कहा है—

मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

श्रुति जो कहती है स्मृति भी वही कहती है। अतएव

दोनोंमे विरोध नहीं होता। जैसे श्रुति-वाक्य प्रमाण या आचरणीय होता है, वैसे ही स्मृति-वाक्य भी। यदि कहीं श्रुति-वाक्य स्मृति-वाक्यसे मेल नहीं खाता अथवा परस्पर विरोध दिखायी पड़ता है, तब तो हमारे लिये श्रुति-वाक्य ही प्रबलतम प्रमाण होता है, जिसका उल्लघन नहीं किया जा सकता। श्रुति-स्मृति दोनोंका हमें समान-रूपसे आदर करना चाहिये।

पुराण तथा महाभाष्यादि ग्रन्थोंसे हमे वेदकी शाखाओंका ज्ञान होता है। कूर्मपुराण (पू०वि० ५०। १८-१९)-में बताया गया है कि ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ, यजुर्वेदकी एक सौ शाखाएँ, सामवेदकी एक हजार शाखाएँ और अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ हैं। महर्षि पतञ्जलिने यजुर्वेदकी एक सौ शाखाओंका उल्लेख 'एकशतमध्वर्युशाखा कहकर किया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वेदोंकी उपर्युक्त शाखाओमे कई शाखाएँ आज दृष्टिगत नहीं होतीं।

प्रातिशाख्य-जैसे ग्रन्थ वेदोच्चारण-प्रक्रियाको जाननेमें सहायक हैं। उदात्त-अनुदात्त-स्वरित-स्वर नियमक्रमके अनुसार वेद-मन्त्रोंके उच्चारण होने एव पदपाठ, जटापाठ और घनपाठ आदिके द्वारा नियमित होनेके कारण उनका स्वरूप-सरक्षण आजतक उसी भाँति सम्भव हो सका है, जिस भाँति वे अति प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं।

वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणमें सावधानी बरतनी चाहिये। वर्ण-व्यत्यय या स्वर-व्यत्ययसे वाञ्छित अर्थ-लाभ न होकर हानि होनेकी सम्भावना होती है। वेदाङ्ग-शिक्षामें प्रसिद्ध है—

मन्त्रो हीन स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्॥

श्रुति कहती है—

यदब्रवीत् स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्येति। तस्मादस्येन्द्रशत्रुरभवत्।

श्रीमद्भागवत (६। ९। ११)-म इस सम्बन्धमें कहा गया है—

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व माचिरं जहि विद्विषम्॥

'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' में स्वरापराधके कारण त्वष्टाकी इच्छाके विरुद्ध इन्द्र ही शत्रु हो गया और इन्द्रसे वृत्रासुर मारा गया।

वेद-मन्त्रोंका ऐसा दिव्य प्रभाव होता है। कुछ मन्त्र तो सद्य प्रभावशील होते हैं। यह अनुभवसिद्ध बात है कि वेदोक्त-विधानसे पर्जन्य-जपका अनुष्ठान करनपर सुवृष्टि होती है। महारुद्र और अतिरुद्र महायाग-जैसे अनुष्ठानासे शीघ्र ही अभीष्ट-सिद्धि होती है। वास्तविकता यह है कि अनुष्ठान करने-करानेवालोंमे श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिये। कहा गया है कि जो वेदज्ञ ब्राह्मण हैं उनम देवता निवास करत हैं।

श्रुति है—'यावतीर्वै देवतास्ता सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवेदिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवता प्रीणन्ति।' ऐसे वेदज्ञोंका सम्मान करना चाहिये, उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये, इससे दवता सतुष्ट होते हैं। 'वेद शिव शिवो वेद वेदाध्यायी सदाशिव '—जो कहा गया है उसके सम्बन्धमें एक कथा याद आती है। हैहय-वशके एक राजकुमारने शिकारके समय एक ऋषिके आश्रमक समीप मृगचर्म ओढे एक बटुको भ्रमवश एक विषैले बाणसे मारा। 'हा- हा' की आवाज सुनकर उसने समझा कि ब्रह्महत्या हो गयी। शापके भयसे वह भागकर अपने राजमहलमें पहुँचा। राजाने सब वृत्तान्त जानकर कहा कि तुमने ठीक नहीं किया। चलो हम आश्रमपर चलकर मुनिवरसे क्षमा माँग ल। राजा सपरिवार मुनिके आश्रममें पहुँचे तो मुनिने स्वागत किया। तब राजाने कहा—'हम इसके योग्य नहीं हैं, क्षमा करें।' राजाने पूरी घटनाका वर्णन कर क्षमा माँगी और प्रायश्चित्तका विधान जानना चाहा। मुनिने कहा—'प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ कोई ब्रह्महत्या नहीं हुई है।' यह सुनकर राजाको आश्चर्य हुआ। उस विषैले बाणसे कोई जीवित बच जाय, यह कैसे सम्भव है—यह सोचकर राजाने जब सदेह प्रकट किया तब मुनिने पूछा—'यदि आश्रमम रहनवाले सभी ब्रह्मचारियोंको यहाँ बुलाऊँ तो क्या राजकुमार उस ब्रह्मचारीको पहचान सकते हैं?' राजकुमारके 'हाँ' कहनेपर मुनिद्वारा आश्रमसे सभी ब्रह्मचारी बुलाये गये। जिसे बाणस आहत किया था उसको राजकुमारने पहचाना। परतु आश्चर्य कि उसके शरीरपर घावका चिह्नतक नहीं था मरना तो दूर। तब मुनिवरने राजासे कहा—'हम लोग पूर्णत वैदिक धर्मके मार्गपर चलनेवाल हैं वेद-विहित कर्मोंमें कोई न्यूनता आने नहीं देते धर्मानुष्ठानोंका सम्यक् पालन करते हैं। अतएव मृत्युदेवता यहाँसे कोसों दूर रहत हैं। आप इस वैदिक धर्मानुष्ठानक प्रभावपर विश्वास करत हैं न।

निस्सदेह वैदिक धर्मानुष्ठान सर्वथा श्रेयस्कर है। मनुने इसलिये कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥
(मनु॰ ८। १५)

यहाँ दो बातें हैं—यदि हम धर्मका [illegible] हैं तो धर्म

स्वप्रकाशत्वमविरुद्धं तथा मनुष्यादीना स्वस्कन्धाधिरोहासम्भवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्ति अतएव सम्प्रदायविदाऽकुण्ठिता शक्ति वेदस्य दर्शयन्ति"।

प्राचीन परम्परागत विचारोंको अस्वीकार करनेकी दृष्टिसे ही कुछ लोग ऐसे विचारोंका खण्डन करते हैं और कुछ लोग भ्रमके कारण पदे-पदे सदेह प्रकट करत रहत हैं ऐसे लोग भी हैं जो ससर्ग-दोषके कारण सही विचाराको स्वीकार नहीं कर सकत। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि वेदाकी रचनाका काल-निर्णय करनेकी प्रवृत्ति आधुनिक है। किसी ग्रन्थ-विशेषके रचना-कालके विषयमें जैसे विचार किया जाता है, वैसे ही वेदोंके रचना-कालका निर्णय भी करनका प्रयत्न कुछ लोगोने किया है परतु उनका प्रयत्न सफल नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि इस पथपर चलनेवाले लोगोंमें भी मतैक्य नहीं है। क्या कारण है? उनका विचार बालूकी भीत है ठोस प्रमाणापर आधारित नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विचार-विनिमय या शका-समाधान न हो परतु शास्त्रीय अकाट्य तर्कोंसे नि सृत सत्यसे हम विमुख न हो।

किसी वस्तुके रूपको जाननेके लिये अथवा उसका अवलोकन करनेक लिये प्रकाशकी आवश्यकता होती है जब सूर्यका प्रकाश होता है, तब दीपकादि किसी अन्य प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार धर्म-अधर्मके सम्बन्धम जाननेके लिय वेद स्वत प्रमाण हैं वहाँ किसी अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। श्रीभगवत्पाद शकराचार्यजीका कथन है—

वेदस्य हि धर्माधर्मयो निरपेक्षं प्रामाण्य रवेरिव रूपविषये।

'निरपेक्ष प्रामाण्यम् कहनेसे यह सर्वथा स्पष्ट है कि यहाँ किसी अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। इससे विदित है कि अपौरुषेय वेद सबके लिय प्रमाण है। यही कारण है कि उन्होंने कहा है कि वेदका नित्य ही अध्ययन करना चाहिये और तदुक्त कर्माचरण हमारा कर्तव्य है—'वेदो नित्यमधीयता तदुदित कर्मस्वनुष्ठीयताम्।' वेद ईश्वरीय आदेश है वेद नित्य है। अतएव उसका अध्ययन सर्वथा श्रेयस्कर है।

जिनको वेदाधिकार है, उनका कर्तव्य है कि वे उससे च्युत न हों। एक और बात यह है कि वेद अपरिमित भी है। कहा गया है कि 'अनन्ता वै वेदा '। कोई व्यक्ति अपने जीवनकालमें समस्त वेदाका अध्ययन पूर्णरूपेण नहीं कर सकता। स्व-शाखाका अध्ययन भी बहुत प्रयाससे किया जा सकता है। इस सम्बन्धम तैत्तिरीय-शाखामें एक कथा है, जो इस प्रकार है—महर्षि भरद्वाजने समस्त वेदोका अध्ययन करना चाहा। उन्होने वेदाध्ययन प्रारम्भ किया। यद्यपि व निरन्तर एक जन्मतक अध्ययन करते रहे, तथापि अध्ययन पूरा नहीं हुआ। दूसरे जन्ममे वे अवशिष्ट वेद-भागोंका अध्ययन करने लगे। उस जन्ममे भी वेदाध्ययन पूरा नहीं हुआ। तीसरे जन्ममे इस अध्ययन-कार्यको वे पूरा करना चाहते थे। वेदाध्ययन करने लगे। बहुत वृद्ध हो जानेपर भी उन्होने अध्ययन नहीं छोडा। वृद्धावस्थाके कारण उनका शरीर शिथिल हो गया कम्पित होने लगा। अब तो वे बैठकर अध्ययन करनेमे असमर्थ होनेके कारण सोकर ही अध्ययन करने लगे। ऐसा स्थितिमे उनको इन्द्रका साक्षात्कार हुआ। इन्द्रने उनसे पूछा—'यदि तुमको एक जन्म और प्रदान किया जाय तब तुम क्या करोगे?' मुनिने कहा—'तब मैं शेष वेदाध्ययन पूरा करूँगा।' इन्द्रने उस समय कहा—यह तुमसे पूर्ण हो सकनेवाला कार्य नहीं है। जब मुनिन पूछा—क्या? तब इन्द्रने उनके सामने तीन पहाड दिखाये। तीनामेसे एक-एक मुट्ठीभर मिट्टी उनके सामने रखी और कहा—तीनों जन्मामें तुमने जो वेदाध्ययन किया है, वह इतनी-सी मिट्टीके बराबर है, अब शेष है इन तीन पहाड़ोंके बराबरका अध्ययन।

मुनि अवाक्-अचम्भित रह गये। फिर उन्होंने पूछा—'तब मैं क्या करूँ?' महेन्द्रने मधुर वाणीमें कहा—'यत्सारभूतं तदुपासितव्यम्'—मैं तुमको सारका उपदेश देता हूँ।

वेदाकी ऐसी असीमता है ऐसी अपरम्पार महिमा है। श्रीभगवत्पाद शकराचार्य-सरीख महामहिमाको छोड़कर शष लोग वेदोंक अद्वितीय विद्वान् कैसे हो सकते हैं?

धर्माधर्मका निर्णय केवल वेदोंसे सम्भव है। वेदोंकी अति विशालता गहनता, महानता और महत्ताका दृष्टि-पथमें रखकर मनु, गौतम याज्ञवल्क्य और पराशर-प्रभृति ऋषि-मुनियोंने धर्मकी व्याख्या करनेवाले जिन ग्रन्थोंकी रचना की उन्हें 'स्मृति' कहते हैं।

'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृति —यह कहनेसे स्पष्ट होता है कि श्रुति हमारे लिये जिस भाँति प्रबल प्रमाण है, उसी भाँति स्मृति भी प्रमाण है। स्मृति श्रुतिका ही अनुसरण करती है। उपमाके सार्वभौम कविकुलगुरु कालिदासने रघुवंश (२। २)-में कहा है—

मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

श्रुति जो कहती है स्मृति भी वही कहती है। अतएव

दोनोंमें विरोध नहीं होता। जैसे श्रुति-वाक्य प्रमाण या आचरणीय होता है, वैसे ही स्मृति-वाक्य भी। यदि कहीं श्रुति-वाक्य स्मृति-वाक्यसे मेल नहीं खाता अथवा परस्पर विरोध दिखायी पड़ता है, तब तो हमारे लिये श्रुति-वाक्य ही प्रबलतम प्रमाण होता है, जिसका उल्लघन नहीं किया जा सकता। श्रुति-स्मृति दोनोका हमें समान-रूपसे आदर करना चाहिये।

पुराण तथा महाभाष्यादि ग्रन्थोंसे हमें वेदकी शाखाओका ज्ञान होता है। कूर्मपुराण (पू०वि० ५०। १८-१९)-में बताया गया है कि ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ, यजुर्वेदकी एक सौ शाखाएँ, सामवेदकी एक हजार शाखाएँ और अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ हैं। महर्षि पतञ्जलिने यजुर्वेदकी एक सौ शाखाओंका उल्लेख 'एकशतमध्वर्युशाखा ' कहकर किया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वेदोकी उपर्युक्त शाखाओमें कई शाखाएँ आज दृष्टिगत नहीं होतीं।

प्रातिशाख्य-जैसे ग्रन्थ वेदोच्चारण-प्रक्रियाको जाननेमें सहायक हैं। उदात्त-अनुदात्त-स्वरित-स्वर नियमक्रमके अनुसार वेद-मन्त्रोंके उच्चारण होने एव पदपाठ, जटापाठ और घनपाठ आदिके द्वारा नियमित होनेके कारण उनका स्वरूप-सरक्षण आजतक उसी भाँति सम्भव हो सका है, जिस भाँति वे अति प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं।

वैदिक मन्त्राके उच्चारणमे सावधानी बरतनी चाहिये। वर्ण-व्यत्यय या स्वर-व्यत्ययस वाञ्छित अर्थ-लाभ न होकर हानि होनेकी सम्भावना होती है। वेदाङ्ग-शिक्षाम प्रसिद्ध है—

मन्त्रो हीन स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्॥

श्रुति कहती है—

यदब्रवीत् स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति। तस्मादस्येन्द्रशशत्रुरभवत्।

श्रीमद्भागवत (६। ९। ११)-मे इस सम्बन्धमें कहा गया है—

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व माचिर जहि विद्विषम्॥

'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' में स्वरापराधके कारण त्वष्टाकी इच्छाके विरुद्ध इन्द्र ही शत्रु हो गया और इन्द्रसे वृत्रासुर मारा गया।

वेद-मन्त्रोका ऐसा दिव्य प्रभाव होता है। कुछ मन्त्र तो सद्य प्रभावशील होते हैं। यह अनुभवसिद्ध बात है कि वेदोक्त-विधानसे पर्जन्य जपका अनुष्ठान करनेपर सुवृष्टि होती है। महारुद्र और अतिरुद्र महायाग-जैसे अनुष्ठानोंसे शीघ्र ही अभीष्ट-सिद्धि होती है। वास्तविकता यह है कि अनुष्ठान करने-करानेवालामें श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिय। कहा गया है कि जो वेदज्ञ ब्राह्मण हैं उनमें देवता निवास करते हैं।

श्रुति है—'यावतीर्वै देवतास्ता सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवेदिवे नमस्कुर्यान्नाश्लील कीर्तयेदेता एव देवता प्रीणन्ति।' एसे वेदज्ञोंका सम्मान करना चाहिये उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये इससे देवता सतुष्ट होते हैं। 'वेद शिव शिवो वेद वेदाध्यायी सदाशिव '—जो कहा गया है उसके सम्बन्धमे एक कथा याद आती है। हैहय-वशके एक राजकुमारने शिकारके समय एक ऋषिके आश्रमके समीप मृगचर्म ओढे एक बटुको भ्रमवश एक विषैले बाणसे मारा। 'हा- हा' की आवाज सुनकर उसने समझा कि ब्रह्महत्या हो गयी। शापके भयसे वह भागकर अपने राजमहलमे पहुँचा। राजाने सब वृत्तान्त जानकर कहा कि तुमने ठीक नहीं किया। चलो हम आश्रमपर चलकर मुनिवरसे क्षमा माँग ले। राजा सपरिवार मुनिके आश्रममें पहुँचे तो मुनिने स्वागत किया। तब राजाने कहा—'हम इसके योग्य नहीं हैं, क्षमा करे।' राजाने पूरी घटनाका वर्णन कर क्षमा माँगी और प्रायश्चित्तका विधान जानना चाहा। मुनिने कहा—'प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ कोई ब्रह्महत्या नहीं हुई है।' यह सुनकर राजाको आश्चर्य हुआ। उस विषैले बाणसे कोई जीवित बच जाय यह कैसे सम्भव है—यह सोचकर राजाने जब सदेह प्रकट किया तब मुनिने पूछा—'यदि आश्रममें रहनेवाले सभी ब्रह्मचारियोको यहाँ बुलाऊँ तो क्या राजकुमार उस ब्रह्मचारीको पहचान सकते हैं?' राजकुमारके 'हाँ' कहनेपर मुनिद्वारा आश्रमसे सभी ब्रह्मचारी बुलाये गये। जिसे बाणसे आहत किया था उसको राजकुमारने पहचाना। परतु आश्चर्य कि उसके शरीरपर घावका चिह्नतक नहीं था मरना तो दूर। तब मुनिवरने राजासे कहा—'हम लोग पूर्णत वैदिक धर्मके मार्गपर चलनेवाले हैं, वेद-विहित कर्मोंमें कोई न्यूनता आने नहीं देते धर्मानुष्ठानोका सम्यक् पालन करते हैं। अतएव मृत्युदेवता यहाँसे कोसो दूर रहते हैं। आप इस वैदिक धर्मानुष्ठानके प्रभावपर विश्वास करते हैं न।

निस्सन्देह वैदिक धर्मानुष्ठान सर्वथा श्रेयस्कर है। मनुने इसीलिये कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥

(मनु ८। १५)

यहाँ दो बातें हैं—यदि हम धर्मकी रक्षा करते हैं तो धर्म

हमारी रक्षा करता है, यदि हम उसकी हिंसा करते हैं तो वह हमारी हिंसा करता है अर्थात् धर्मके सही स्वरूपको जानकर तदनुसार आचरण करना धर्मकी रक्षा करना है, इससे सुख-शान्ति और श्रेयकी समुपलब्धि होती है। धर्मका आचरण न करनेस अथवा धर्मका गलतरूपमें आचरण करनेसे विरुद्ध-फलकी प्राप्ति होती है या हम विनष्ट होते हैं। इसलिये प्रत्येक व्यक्तिको चाहिये कि वह अपने लिये विहित धर्मका आचरण करे और कभी अपने कर्तव्यसे मुँह न मोड़े, क्योंकि—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धिं लभते नर ।

(गीता १८। ४५)

निज कर्तव्यके अनुसार चलनेसे वह सुख-सिद्धि प्राप्त करता है और श्रेयका भागी होता है। तदर्थ ही वेद धर्मका बोध कराते हैं। धर्मके विषयमें किसीको स्वातन्त्र्य नहीं है। निरपेक्ष-प्रमाण वेदोके आदेशोंके अनुसार ही चलना चाहिये क्योंकि सबकी बुद्धि समान नहीं होती। जिस-किसीकी सुविधा एवं अपेक्षाके अनुसार कल्पना करते रहनेसे धर्मकी व्यवस्था नहीं टिक सकती अराजकता ही हो जायगी। जैसा कि श्रीभगवत्पादजीने कहा भी है—

कश्चित् कृपालु प्राणिनां दु खबहुल संसार एव मा भूदिति कल्पयेत्। अन्यो वा व्यसनी मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिं कल्पयेत्। तस्माद् यस्मै यस्मै यद्यद्रोचते तत्सर्वं प्रमाणं स्यात्।

श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्यके उपोद्घातमे उन्होंने वेदोक्त धर्मको प्रवृत्ति और निवृत्ति-लक्षणात्मक कहा है—'द्विविधो हि वेदोक्तो धर्म प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च'। भगवान् बादरायणने भी इसी प्रकार कहा है—

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदा प्रतिष्ठिता ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च प्रकीर्तित ॥

वेदविहित प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्गपर चलते हुए हम श्रेयकी साधना करनी चाहिये परम लक्ष्यतक पहुँचना चाहिये। गीता (२। ४०)-मे भी इसी तथ्यकी पुष्टिका उद्घोष किया गया है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

वैसे सर्वात्मना सर्वाङ्गीण-रूपसे धर्मका आचरण करनेमें अशक्त होनेपर यथाशक्ति-न्यायसे यथासम्भव धर्मका आचरण दृढ चित्तसे प्रयत्नपूर्वक ठीक-ठीक करना चाहिये। यही श्रेयस्कर मार्ग है।

अथर्ववेदकी महत्ता और उसकी समसामयिकता

(अनन्तश्रीविभूषित द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज)

मन्त्रद्रष्टा ऋषियोकी ऋतम्भराप्रज्ञा एवं श्रुतिपरम्पराके द्वारा मुनियोकी तप पूत भूमिमें सचित तथा सुरक्षित मन्त्रब्राह्मणात्मक ज्ञानराशिका नाम वेद है। आपस्तम्बश्रौतसूत्रमें वेदका लक्षण बताते हुए कहा गया है कि—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

चिन्तन-पद्धतिके वैविध्य ज्ञानमयी भौगोलिकताके विस्तार, असख्य आश्रम-व्यवस्था उपभाषाओंकी बहुविधता एव चिन्तनात्मक स्वातन्त्र्यके कारण वेदकी असख्य शाखाओंका होना स्वाभाविक था। कहा जाता है कि भगवान् वेदव्यासने वेदको चार भागोंमे विभक्त कर दिया था जिसके कारण उनका नाम 'वेदव्यास' पड़ा और वेदने ऋक् यजु साम एव अथर्वके रूपमें चार स्वरूप धारण किया। ऋग्वेदमें स्तुति यजुर्वेदमें यज्ञ सामवेदमे सगीत तथा अथर्ववेदमे आयुर्वेद अर्थशास्त्र राष्ट्रिय सगठन तथा देशप्रेमके चिन्तनका प्राधान्य है। वैसे दुनियाके इस सर्वप्राचीन वाङ्मयने ही ससारके सभी लोगोंको शिक्षा सस्कृति सभ्यता एव मानवताका सर्वप्रथम पाठ पढ़ाया था। मनुस्मृतिकार कहते हैं कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा ॥

(मनु० २। २०)

वैदिक महर्षियोकी दृष्टि मूलत आध्यात्मिक है। स्तुति, यज्ञ तथा सगीत हो अथवा जीवसेवार्थ लोकहित-हेतु विभिन्न साधनाएँ, सबका लक्ष्य मात्र अध्यात्म-साधना, मोक्षप्राप्ति एव ईश्वर-साक्षात्कार है। यह साहित्य समानरूपसे सभी लोगोको स्वस्थ सुखी कल्याणमय निर्भय प्रसन्न संतुष्ट तथा समृद्ध बनने-बनानेकी कामनासे आपूरित पवित्र सकल्पोंका समुच्चयात्मक ज्ञाननिधि है। कहना न होगा कि इसके किसी भी सविभाग—अङ्गपर विचार क्यों न करें, सबका लक्ष्य समान ही दिखायी देगा क्योंकि उनका मूल स्वरूप एक ही है। उदाहरणार्थ यदि अथर्ववेदको ही लें तो हम देखते हैं कि सामान्यरूपसे इसमे समाज किंवा लोकजीवनकी व्यवस्थामे सम्बद्ध वर्ण्यसामग्री अधिक है अपेक्षाकृत अन्योंके किंतु लोकहित-साधनाकी यह परम्परा कोरी लौकिक नहीं है प्रत्युत इसकी लोकाभिमुखता अध्यात्म-

चिन्तनकी पृष्ठभूमि है। इसी चिन्तनात्मक अभ्यास-सोपानके सहारे चिन्तक पारलौकिकताके चरम बिन्दुको प्राप्त कर सकेगा। यही कारण है कि अथर्ववेदकी इसी विचार-पद्धतिने इस कालजयी साहित्यको परम लोकप्रिय, उपयोगी एव मानव-जीवनका अभिन्न अङ्ग बना दिया। जिससे यह सामान्यातिसामान्य व्यक्तिके लिये भी अध्ययन, अववोध उपयोग तथा शिक्षाका स्रोत बन गया। इसीलिये आज भी ससारका कोई भी चिन्तक अथर्ववेदकी सार्वजनीन सार्वकालिक एवं सार्वत्रिक प्रासगिकताको अस्वीकार नहीं कर सकता। उसमें कहीं लोगोको बुद्धिमान्, विद्वान्, ज्ञानी और जीवन-दर्शनमें निष्णात होनेका उपदेश दिया गया है तो कहीं पारस्परिक एकता, सौमनस्य, सगठन, बलिष्ठता उन्नति, सवेश्य राष्ट्र, एकराट्, सुधार, विजय सेवा, शस्त्र-निर्माण, स्वराज्य-शासन आर्थिक प्रगति तथा मातृभूमिके प्रति असीम प्रेम रखनेका निर्देश भी दिखायी देता है। वनस्पतियोंकी रक्षा, पर्यावरण-सुरक्षा ओषधि-निर्माण, वर्षा अचौर्य क्षमाभाव, पवित्रता, विद्यार्जन, शान्तिस्थापन तथा पशु-पालन आदि इस वेदके ऐसे वर्ण्यविषय हैं जो—'काले वर्षतु पर्जन्य ''''सर्वे सन्तु निर्भया ' एव 'सर्वे भवन्तु सुखिन '''' मा कश्चिद् दु खभाग् भवेत्' के आदर्शको मूर्त स्वरूप प्रदान करते हैं। मानव-जीवनके आचार एव मातृभूमिकी उन्नतिके परस्पर सम्बन्ध देखें—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोक पृथिवी न कृणोतु॥
(अथर्व० १२। १। १)

अर्थात् सत्यपालन, हृदयकी विशालता, सरल आचरण, वीरता कार्यदक्षता, ठडी-गर्मी आदि द्वन्द्वोंकी सहिष्णुता ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नता विद्वानोंका सत्कार—ये गुण मातृभूमिकी रक्षा करते हैं। भूत वर्तमान और भविष्यत्‌में हमारा पालन करनेवाली हमारी मातृभूमि हम सभीके लिये अपने लोकको विस्तार दे अर्थात् अपनी सीमा बढाय जिससे हमारा कार्यक्षेत्र बढे। इसका तात्पर्य यह है कि असत्य-भाषण हृदयकी संकीर्णता असदाचरण कायरता, अकर्मण्यता, असहिष्णुता अज्ञानता विद्वदपमान एवं आपसी असहयोगसे राष्ट्रकी शक्ति क्षीण हो जाता है, राष्ट्र कमजोर हो जाता है और बादमें उसपर शत्रु अपना आधिपत्य जमा लते हैं।

मनुजीने कहा है कि उन लोगोंके आयु, विद्या यश और बल सतत वृद्धिको प्राप्त करत हैं जो अपने पूर्वों बड़ोंका अभिवादन एव सम्मान करते हैं—'अभिवादनशीलस्य''''।' स्मृतिका यह वाक्य-सिद्धान्त श्रुति माना जाता है क्योंकि स्मृति श्रुत्यनुगामिनी होती है। कालिदासने भी रघुवशमें उपमानके तौरपर इस अर्थवत्ताको स्वीकार करते हुए कहा है—

श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस देशके नागरिक अपने पूर्वजों या सम्माननीयोका सम्मान नहीं करते वहाँके लोगोकी आयु, सम्पत्ति, कीर्ति शक्ति और विद्या क्षीणताको प्राप्त हो जाती है। मनुके इस चिन्तनके आशयको अथर्ववेदमें इस प्रकार देखें—जहाँ पूर्वजाके प्रति असीम आदर देनेको कहा गया है—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्या देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वाना वयसश्च विष्ठा भग वर्च पृथिवी नो दधातु॥
(अथर्व० १२। १। ५)

जिस मातृभूमिम हमारे पूर्वजाने अपूर्व पराक्रम किये, उन्होंने सदाचार, तप और राष्ट्रकी रक्षा की। जहाँ देवोंने असुरोंको पराजित किया जो गौ, अश्व एव पक्षियोंका आश्रयस्थान है वह मातृभूमि हमे ऐश्वर्य एव वर्चस्व प्रदान करे।

इस राष्ट्रकी रक्षा वही कर सकता है, जो अपने इतिहास तथा अपनी परम्परापर गर्व करता हो जिनमे ऐसा भाव नहीं है उनसे मातृभूमिकी प्रतिष्ठाकी रक्षा भला कैसे सम्भव है क्योंकि ऐसे स्वाभिमानविहीन नागरिकोंके देशका गार्य एवं अश्वादि अन्याद्वारा छीन लिय जायँगें, फलत उनकी आयु, ज्ञान तथा बल कैसे सुरक्षित रह सकेंगे। इसलिये हम सबमें ऐसा भाव होना चाहिये कि हम सभी एक ही मातृभूमिके पुत्र हैं। इसकी रक्षा हम सभीका दायित्व है—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्व
बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पद ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥
(अथर्व० १२। १। १५)

अथर्ववेदमें राष्ट्र देवी राजाके कर्तव्य राजाकी स्थिरता राष्ट्रिय समृद्धि, राज्याभिषेक राजाका चयन राजाद्वारा राज्यका पुन स्थापन क्षात्र-धर्म प्रजा-पालन राष्ट्र-सवर्धन शत्रु-नाश पापा-सहार, आनन्द-प्राप्ति तथा युद्धोपकरण-सम्बन्धी लगभग ११२ सूक्तोंका विधान है। ऋषि कहते हैं कि—

'विजयी होकर, युद्धमें न मरकर और चोटरहित हो मैं अपनी मातृभूमिका अध्यक्ष बनकर अच्छे कार्य करूँगा।

(उनकी इच्छा है कि) जो मुझसे ईर्ष्या करता है, जो सेना भेजकर मेरे साथ युद्ध करता है और जो मनसे हमें अपना दास बनाना चाहता है, उन सभीका नाश हो जाय।'

७२६ सूक्तों तथा ५ ९७७ मन्त्रोंवाला यह अथर्ववेद, जिसम लगभग २० सूक्त ऋग्वेदके ही हैं ऐतिहासिक दृष्टिसे अथर्वाङ्गिरस् एव अङ्गिरस् आदि नामोंसे भी जाना जाता रहा है। इसीलिये इसके ज्ञाताका या ऋषियाको 'अथर्वन्' तथा 'अथ्रवन्' भी कहते हैं। इन मनीषियाका मानना है कि राष्ट्रकी प्रोन्नति प्रतिभाके बिना असम्भव है अर्थात् यदि देशकी प्रतिभाएँ अपने देशको छोडकर अन्यत्र जाने लगेंगी तो भारतवर्ष सदा-सदाके लिये विद्युत्के अभावमे बल्ब-जैसा खोखला निरर्थक, अनुपयोगी एव निष्फल हा जायगा। यथा—

मेधामह प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥
(अथर्व० ६। १०८। २)

अर्थात् श्रेष्ठतायुक्त, ज्ञानियोंसे सेवित ऋषियासे प्रशसित और ब्रह्मचारियोंद्वारा स्वीकृत मेधाको अपनी रक्षाके लिये बुलाता हूँ, क्योंकि बुद्धि शरीररूपी समूची सृष्टिका मुख्यतम केन्द्र है। इसके बिना अन्य सब व्यर्थ है। इसकी वृद्धिके लिये मनको शक्ति परमावश्यक है।

इसके साथ-साथ ऋषियाका यह भी कहना है कि परस्पर सगठित होकर रहनेका काम भी बुद्धिमान् व्यक्ति ही कर सकता है और तभी मानव इस ससारम स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अस्तित्वकी रक्षा कर सकता है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ०' सिद्धान्तको ये महापुरुष ही अच्छी तरह जानते हैं इसीलिये वे देवताओंसे सहायता-हेतु प्रार्थना भी करते हैं—कभी सोम-सवितासे तो कभी आदित्यादि देवासे। समूचे अथर्ववेदमें सामूहिक जीवनके विकासकी व्यवस्था है। यहाँ किसी स्वार्थपूर्ण व्यक्तिगत उन्नतिको बहुत स्थान नहीं है। एक-दूसरेसे मिल-जुलकर आपसी सौहार्द एव सहयोगसे कार्य करनेकी सलाह देते हुए तत्त्वद्रष्टा ऋषि कहते हैं—

अह गृभ्णामि मनसा मनांसि……।
मम वशेषु हृदयानि व कृणोमि……॥
(अथर्व० ६। ९४। २)

इसी प्रकार सर्वेश्य राष्ट्रकी अवधारणाको सुस्पष्ट करते हुए मन्त्रद्रष्टाने कहा है कि—

……अस्मभ्य……बृहद्राष्ट्र सवेश्यं दधातु॥
(अथर्व० ३। ८। १)

'सघे शक्ति युगे युगे' सदृश सिद्धान्तको गतार्थता प्रदान करने-हेतु अथर्ववेदम अनेक ऐसे शब्द-समुच्चयका उपयोग किया गया दीखता है, जिन्हें पारिभाषिक तथा व्याख्येय कहनेम भी कोई सकोच नहीं होता। यथा—'ज्यायस्वन्त' (वृद्धोंका सम्मान), 'मा वियौष्ट' (परस्पर लडना नहीं), सधुराचरन्त' (एक धुरा अर्थात् एक नेताके नेतृत्वमें कार्य करना), 'सध्रीचीना' (मिलकर कार्य करना) और 'सधास्यन्त' (सिद्धिहेतु सभी मिलकर प्रयत्न करे) इत्यादि। इस प्रकार प्रेम शान्ति सतोष और सेवाभावसे बलपूर्वक जनहितके कार्य करने चाहिये। इसीलिये यहाँ ब्रह्मयोग जिष्णुयोग तथा क्षात्रयोग प्रभृतिका विधान किया गया है (अथर्ववेदकी भूमिका भाग ५, पृ० ७)।

स्वतन्त्रताके बिना परतन्त्र व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। अत यदि स्वतन्त्रताके लिये युद्ध करना पड़े और एतदर्थ शस्त्र-निर्माण भी करना पड तो कोई हर्ज नहीं। इसीलिये इस ग्रन्थके मन्त्रोम सात प्रकारके स्फोटक अस्त्रोंकी भी चर्चा परिलक्षित होती है जिनके द्वारा शत्रुराष्ट्रकी जमीन एवं उनके पानीपर आक्रमण किया जा सकता है। हाथसे और आकाशम भी प्रहार किया जा सकता है। इसी प्रकार यहाँ एक ऐसी भी आक्रमण-विधि वर्णित है जिससे नदी तालाब अथवा पेय जलके सभी स्रोत समाप्त किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त त्रिषन्धि नामक वज्र तथा अयोमुख सूचीमुख विकंकतीमुख शितिपदी और चतुष्पदी इत्यादि अनेकविध बाणोंकी भी चर्चा प्राप्त होती है। तमसास्त्र और सम्मोहनास्त्रद्वारा शत्रुसेनामें अन्धकार फैलाने तथा सभीको चेतनाशून्य कर देनेकी व्यवस्था भी प्राप्त होती है।

अथर्ववेद (३। २४। २)-म सभीके विकास तथा समृद्धिका वर्णन करत हुए कहा गया है—

……पयस्वतीनामा भरेऽह सहस्रश ॥
वेदाहं पयस्वन्त चकार धान्य बहु।

अर्थात् मैं रसयुक्त ओषधियाको हजारों प्रकारसे पोषण देना जानता हूँ। अधिकाधिक धान्य कैसे उत्पन्न हो, इसकी विधि भी जानता हूँ। इसी प्रकार यज्ञ करनेवालोंके घरमें निवास करनेवाले देवोंकी हम सभी उपासना करते हैं यथा—

संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो अयज्वनो गृहे।
(अथर्व० ३। २४। २)

ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र एव निषाद—इन पाँचो वर्गोंके लोगोंको मिलकर उपासना करनेका विधान, मधुर भाषण (पयस्वान् मामक वच) अच्छी खेती, आत्मशुद्धि और दुष्कालके लिये धान्य-सग्रह, प्रजाकी रक्षा तथा दान—ये अथर्ववेदके प्रधान उद्देश्य हैं। इसीलिये ऋषि कहते हैं—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त स किर।

(अथर्व० ३। २४। ५)

अथर्ववेदीय मन्त्रोमे वीर पुत्राकी माँको स्मरण करते हुए बताया गया है कि वस्तुत शूर पुत्रोकी माँ ही धन्यवाद और प्रशसाकी पात्र है, क्योंकि उसीका पुत्र आदर्श देशका निर्माण कर सकता है और वही भूमिको अर्थसम्पन्न, गौरवपूर्ण, सुसस्कृत एव सर्वतोभावेन स्वस्थ बना सकता है—

हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रा० (अथर्व ३। ८। २)

ऐसी देवीके पुत्र देवोको भी वशमें कर लेते हैं तथा राष्ट्रिय भावनासे भावित होते हैं। वे न स्वय दीन होत हैं और न राष्ट्रको दीन बनने देते हैं। ऐस ही लोगोके लिये कहा गया है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था……।

अथर्ववेदमे जहाँ ऋषियाने समूचे त्रैलोक्यक प्राणियोके लिये जलकी कामना की है वहीं वाणिज्य धनप्राप्ति, चन्द्रमा एव पृथिवीकी गतिका भी उल्लेख किया है, क्योंकि जनहित-हेतु अर्थकी चिन्ता उन्हें सतत बनी रहती है। उनका मानना है कि व्यापारसे धन होता है। इसीलिये उन्होने इन्द्रको वणिक् कहा है—

इन्द्रमहं वणिज चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिन मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥

(अथर्व० ३। १५। १)

अर्थात् मैं वणिक् इन्द्रको प्रेरित करता हूँ। वे हमारी ओर आयें। वेद-विरुद्ध मार्गपर चलकर लूट-मारवाल-पाशवी आचरण करनेवाले शत्रुको नष्ट करें और व मेरे लिये धन देनेवाले बनें।

इसके अतिरिक्त परस्पर मैत्री-स्थापन बन्धनस मुक्ति अग्निकी ऊर्ध्वगति ब्राह्मणधर्मका आदेश शापका प्रभाव-विनाश, हृदय और पाण्डुरोगकी चिकित्सा वानस्पतिक ओषधि (८। ७) कुष्ठौषधि (५। ४-५, ६। ९५), अपामार्गी ओषधि (४। १७—१९ ७। ६५) पृश्निपर्णी (२। २५) लाक्षा (५। ५) शमी (६। ३०), सूर्यकिरणचिकित्सा (६। ५२, ७। १०७), मणिबन्धन (१०। ६) शखमणि (४। १०), प्रतिसरमणि (८। ५), शरीर-रचना (११। ८), अजन (४। ९) ब्रह्मचर्य (११। ५), ब्रह्मौदन (११। १), स्वर्ग एव ओदन (१२। ३), अमावस्या, पूर्णिमा विराट् अन्न प्रथम वस्त्र-परिधान कालयज्ञ, सगठन-महायज्ञ मधुविद्या युद्ध-नीति युद्ध-रीति, युद्धकी तैयारी, मातृभूमिके गीत विराट्-ब्रह्मज्ञान, राजाका चयन (३। ४), राजा बनानेवाले राजाके कर्तव्य उन्नतिक छ केन्द्र अभ्युदयकी प्राप्ति कर्म और विजय (७। ५०) विजयी स्त्रीका पराक्रम, पापमोचन, द्यावापृथिवी दुष्टोंके लक्षण दण्ड-विधान आदर्श राजा सरक्षक कर, राजाके गुण एव राजाके शिक्षक आदिका विवेचन तथा जीवनोपयोगी असख्य सूक्तियोंका प्रयोग अथर्ववेदकी वे विशेषताएँ हैं जो न केवल इसकी महत्ताका प्रतिपादन करती हैं, प्रत्युत इसकी प्रासगिकताको दिनानुदिन बढाती भी जा रही हैं। कालका अखण्ड प्रवाह ज्यों-ज्यों आग बढता जा रहा है जिसम रोगाकी असाध्यता, पर्यावरणका सकट, राष्ट्रिय अस्थिरता आपराधिक बाहुल्य आपसी वैमनस्य आदर्श आचरणका अभाव तथा ढर सारी वैयक्तिक सामाजिक सास्कृतिक किंवा राष्ट्रिय समस्याएँ मानवताको अपने विकराल तथा क्रूर पजेस अपने जबडोंम दबाचती जा रही हैं, उत्तरोत्तर प्रतिदिन भय अविश्वास धोखा अधर्म एव अनैतिकताका वातावरण विश्वको प्रदूषित करता जा रहा है त्यों-त्यों इस अन्धकारमय परिवेशका सर्वविध प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रदीप-रूप अथर्ववेदकी उपयोगिता बढती जा रही है क्योंकि इतिहासकी अविरल धाराम जब-जब ऐसी समस्याएँ आयी हैं तब-तब सनातन परम्पराक अक्षुण्ण निधिभूत अनादि वेदमन्त्र सतत उनका समाधान करते रह हैं तथा करते भी रहगे। वेदभगवान् सनातन सत्य हैं तथा सूर्य-चन्द्रकी भाँति वे स्वयक लिये भी प्रमाण हैं। इसलिय इनकी प्रामाणिकता और प्रासगिकता शाश्वत है। आइय पुन -पुन ऋषियोंकी वाणीका स्मरण करते हुए विश्व-कल्याणकी कामना करें—

तमसो मा ज्योतिर्गमय। असतो मा सद्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय।
॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

श्रुतियोंमें सृष्टि-सदर्भ

[ऋग्वेदीय नासदीयसूक्त-परिशीलन]

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

पूर्वाम्नायपुरीपीठसे सम्बन्धित ऋग्वेदान्तर्गत दशम मण्डलका एक सौ उन्तीसवाँ 'नासदीयसूक्त' है। इसमें सात मन्त्र (ऋचाएँ) हैं। इस सूक्तको सात सदर्भोंमें विभक्त किया जा सकता है। 'मायाशपसदर्भ'के अन्तर्गत प्रथम मन्त्रको 'मायाश्रयस्वप्रकाश-परब्रह्मशेपसदर्भ' के अन्तर्गत द्वितीय मन्त्रको, 'स्रष्टव्यपर्यालोचनसदर्भ'के अन्तर्गत तृतीय मन्त्रको 'सिसृक्षासदर्भ'के अन्तर्गत चतुर्थ मन्त्रको 'सर्गक्रम-दुर्लक्ष्यतासदर्भ' के अन्तर्गत पञ्चम मन्त्रको, 'जगत्कारण-दुर्लक्ष्यतासदर्भ'के अन्तर्गत षष्ठ मन्त्रको और 'दुर्धर-दुर्विज्ञेयतासदर्भ' के अन्तर्गत सप्तम मन्त्रको गुम्फित करना उपयुक्त है।

ध्यान रहे, नासदीयसूक्तमें विवक्षावशात् मायाको नौ नामोंसे अभिहित किया गया है—१-न सत्, २-न असत्, ३-स्वधा ४-तमस्, ५-तुच्छ ६-आभु, ७-असत्, ८-मनस् और ९-परमव्योम। परमात्माका मन मायारूप है। परमव्योमका अर्थ जहाँ सच्चिदानन्दरूप परमात्मा है वहाँ 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१)-की शैलीमें अव्याकृतसज्ञक माया भी है। कठरुद्रोपनिषद् (१०-११)-ने भी मायाको परमव्योम माना है—

ससारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञके।
निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते।
सोऽश्नुते सकलान् कामान् क्रमेणैव द्विजोत्तम ॥

नासदीयसूक्तमें विवक्षावशात् ब्रह्मको १-आनीदवात और २-अध्यक्ष—इन दो नामोंसे अभिहित किया गया है। जीवको १-रेतोधा और २-प्रयति (प्रयतिता)—इन दो नामोंसे अभिहित किया गया है। जगत्को १-स्वधा २-सत्, ३-विसर्जन और ४-विसृष्टि—इन चार नामोंसे अभिहित किया गया है।

नासदीयसूक्तके प्रथम मन्त्रमें कहा गया है कि महाप्रलयमें शशशृङ्गादि-तुल्य निरुपाख्य 'असत्' नहीं था न आत्मा और आकाशादि-तुल्य निर्वाच्य (निरूपण करने योग्य) सत् ही था। उस समय शशशृङ्गादि-तुल्य असत् ही होता तो उससे अर्थ-क्रियाकारी आकाशादिकी उत्पत्ति ही कहाँ सम्भव होती? उस समय यदि सर्गदशाके तुल्य आकाशादिकी विद्यमानता ही होती तो महाप्रलयकी प्राप्ति ही कहाँ होती? परिशेषसे यही सिद्ध होता है कि सत् और असत् तथा इनसे विलक्षण रजोरूप कार्यप्रपञ्चसे विरहित स्वाश्रयसापेक्ष स्वाश्रयभावापन्न अनिर्वचनीया माया ही महाप्रलयमें शेष थी। उस समय रज सज्ञक लोक नहीं थे। अभिप्राय यह है कि महाप्रलयमें चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड नहीं था। क्या आवरक (आवारक, आच्छादक) था? नहीं। जब आवार्य (आवरणका विषय आवरण करने योग्य) ही कुछ नहीं था तब आवरक कहाँसे होता। वह देश भी तो नहीं था, जिसमें स्थित होकर आवरक आवर्यका आवरण करता। अभिप्राय यह है कि आवरकको आवरण करनेके लिये आश्रय देनेवाला देश भी उस समय नहीं था जिसमें स्थिति-लाभ करके वह आवर्यको आवृत करता। किस भोक्ता जीवके सुख-दुःख साक्षात्काररूप भोगके निमित्त वह आवरक आवर्यका आवरण करता? उस समय भोक्ता जीव भी तो देहेन्द्रिय प्राणान्त करणरूप उपाधिसे विरहित ईश्वरभावापन्न होकर ही अवशिष्ट था। क्या दुष्प्रवेश और अत्यन्त अगाध जल था? नहीं। जल तो केवल अवान्तर-प्रलयमें ही रहता है। महाप्रलयमें उसका रहना सम्भव नहीं। आवर्य चतुर्दशभुवनगर्भ ब्रह्माण्डके तुल्य आवरक पृथिव्यादि महत्तत्त्वपर्यन्त उपादानात्मक तत्त्व भी कार्यकोटिके होनेसे महाप्रलयमें ब्रह्माधिष्ठिता मायारूपसे ही अवशिष्ट रहते हैं। आभूषणरूप आवर्यके न रहनेपर भी सुवर्णरूप आवरक शेष रहता है, परंतु महाप्रलयमें कोई भी आवरक शेष नहीं रहता। 'तमसा गूढमग्रे', 'तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्' इस वक्ष्यमाण वचनके अनुसार बीजमें संनिहित अङ्कुरादिको बीजसे समावृत करनेके तुल्य असत्कल्प तमस्में संनिहित जगत्को तमस्से समावृत कहा गया है। कार्यकी अपेक्षा कारणमें निर्विशेषता, सूक्ष्मता शुद्धता विभुता और प्रत्यग्रूपता होती है। यही कारण है कि कार्य आवर्य और कारण आवरक बन जाता है। कारणके बोधमें प्रतिबन्धक होनेसे कार्य आवरक माना जाता है जैसे कि मृद्घट मृत्तिका-दर्शनमें प्रतिबन्धक होनेसे आच्छादक मान्य है। कारण कार्यमें अनुगत होनेसे आच्छादक मान्य है जैसे कि मृत्तिका अपनी अनुगतिसे घटादिको आच्छादिका मान्य है।

शास्त्रोंमें चार प्रकारका प्रलय मान्य है—(१) नित्य (२) नैमित्तिक (३) प्राकृतिक और (४) आत्यन्तिक। सावयव कार्यात्मक देहादिका प्रतिक्षण परिवर्तन 'नित्य-प्रलय' है। ब्रह्माजीकी निद्राके निमित्त 'भू' आदि लोकत्रयका प्रलय 'नैमित्तिक' प्रलय है। चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्डसहित भुवनोपादान पृथिव्यादि तत्त्वोंका प्रकृतिमें लय 'प्राकृतप्रलय' है तथा ब्रह्मात्मविज्ञानके अमोघ प्रभावसे अविद्या और उसके कार्यवर्गका छेदन कर जीवका स्वरूपावस्थान 'आत्यन्तिक प्रलय' है। सहस्रयुगपर्यन्त ब्रह्माजीका एक दिन होता है। दिनके तुल्य ही उनकी रात्रि होती है। तीन सौ साठ दिनोंका (दिन-रातका) एक वर्ष होता है। सौ वर्षोंकी ब्रह्माजीकी पूर्णायु होती है। उसीको 'परार्ध' कहते हैं। ब्रह्माजीकी आयु पूर्ण होते ही पञ्चभूतात्मक जगत् मायामें लीन हो जाता है। ब्रह्माजी भी मायामें लीन होते हैं। ब्रह्माजीके तुल्य ही रुद्रादि मूर्तियाँ भी मायामें लीन होती हैं। उत्तरसर्गमें हेतुभूता प्रकृतिसञ्ज्ञक माया महाप्रलयमें सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मादिसञ्ज्ञक परमेश्वरमें अभेदरूपसे स्थितिलाभ करती है।

द्वितीय मन्त्रमें कहा गया है कि उस प्रतिहारके समय (महाप्रलय)-में प्रतिहर्ता (संहर्ता) मृत्यु नहीं था और न मृत्युके अभावसे सिद्ध—अमरस्वभाव कोई प्राणी ही था। रात्रि-दिवस और इनसे उपलक्षित मास, ऋतु, संवत्सर प्रभृति सर्वकाल और काल-कालके न रहनेसे 'मृत्यु नहीं था' यह कथन सर्वथा चरितार्थ ही है। अभिप्राय यह है कि दाह्यतुल्य संहार्य भोग्य और भोक्तृ-प्रपञ्चका दाहतुल्य मृत्युसञ्ज्ञक संहार हो जानेपर दाहकतुल्य अमृतसञ्ज्ञक संहारक महाकाल भी महाप्रलयमें शेष नहीं रहता। अथवा सर्वसंहारक मृत्युसंज्ञक काल और ज्ञानमय अमृतसञ्ज्ञक जीव शिवतादात्म्यापन्न होकर स्थित रहता है। कार्यप्रपञ्चका उपादानात्मक लयस्थित महाकारण माया भी वक्ष्यमाण मायाश्रय महेश्वरसे एकीभूत रहती है। मृत्यु अग्नितुल्य है। महाप्रलय उत्तरसर्गकी अपेक्षा मृत्युकी अभिव्यक्तिकी पूर्वावस्था है। पूर्वसर्गकी अपेक्षा यह मृत्युके ध्वंसकी उत्तरावस्था है। अग्निकी अभिव्यक्तिके पूर्व और अग्निके ध्वंसके पश्चात् अग्निका असत्त्व दृष्टान्त है। इस कथनके पीछे दार्शनिकता यह है कि भोगका हेतु कर्म है। फलोन्मुख परिपक्व कर्माधीन ही भोग है। बिना कर्मके भोग असम्भव है। निरपेक्ष अमृत ब्रह्म और ब्रह्माधिष्ठिता माया है। महाप्रलयमें उसका अस्तित्व ही श्रुतिका प्रतिपाद्य है। अतएव निरपेक्ष अमृतका प्रतिषेध अप्राप्त है। सापेक्ष अमृत-प्रलयमें अवशिष्ट मह, जन, तप और सत्यम्-सञ्ज्ञक परमेष्ठिलोक, परमेष्ठिदेह और परमेष्ठिपद है, उसीका प्रतिषेध यहाँ विवक्षित है। व्यष्टि-समष्टि सूक्ष्म और कारण शरीरपर्यन्त जीवभाव है। महाप्रलयमें मायारूपी महाकारणमें सूक्ष्म और कारणप्रपञ्चका विलय हो जानेके कारण जीवसञ्ज्ञक अमृतका प्रतिषेध महाप्रलयमें उपयुक्त ही है। ब्रह्माधिष्ठिता मलिनसत्त्वगुणप्रधाना प्रकृति निमित्तकारण और तमःप्रधाना प्रकृति उपादानकारण है। मलिनसत्त्वप्रधाना और तमःप्रधाना प्रकृतिका लयस्थान त्रिगुणमयी गुणसाम्या माया महाकारण है। ब्रह्माधिष्ठिता माया महाप्रलयमें शेष रहती है। अभिप्राय यह है कि कालातीत महामाया ही कालगर्भित पृथिव्यादिके प्रतिषेधका अवच्छेदक अर्थात् उपादानरूपसे अवशिष्ट रहती है। परमात्मामें मुख्य ईक्षण भी विशुद्धसत्त्वात्मिका मायाके योगसे ही सम्भव है। अतएव ब्रह्माधिष्ठिता माया जगत्का निमित्तकारण भी हो सकती है। इस प्रकार ब्रह्ममें अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व जिस मायाके आध्यात्मिक संयोगसे है, वही महाप्रलयमें कालगर्भित पृथिव्यादिके प्रतिषेधका अवच्छेदक हो सकती है। अथवा 'तदानीम्' आदि कालवाचक पदोंकी सार्थकता भी मायोपहित ब्रह्मकी कालरूपताके कारण सम्भव है। जब भोग्य और भोगप्रद काल नहीं था तथा भोक्ता-कर्ता भी नहीं था, तब कौन था? क्या शून्य ही तो नहीं था? नहीं। सम्पूर्ण प्राणिसमूहको आत्मसात् किये स्वयं बिना वायु (प्राण)-के ही यह प्राणका भी प्राण प्राणनकर्ता परब्रह्म प्रतिष्ठित था। ऐसा भी नहीं कि मायासंयुक्त होनेपर भी शुद्धब्रह्मका महाप्रलयमें असम्भावना साङ्ख्यसम्मत प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका स्वतन्त्रा मायाको ही सिद्ध करती है। वस्तुस्थिति यह है कि नित्यता असंगता और अद्वितीयताको न त्यागे हुए अर्थात् साधे हुए ही स्वनिष्ठ (जलनिष्ठ) शैत्यको आत्मसात् किये सलिल (जल)-के तुल्य वह परब्रह्म मायाको आत्मसात् किये अर्थात् सर्वथा एकीभूत किये स्थित था। स्थूणानिखननन्यायसे इस तथ्यकी परिपुष्टि की जाती है। निःसंदेह उस परब्रह्मसे पर कुछ भी नहीं था। सर्गकालिक द्वैत उस समय नहीं था। द्वैतबीज मायाको परब्रह्म अपनेमें अध्यस्त बनाये—आत्मसात् किये हुए था। जब भूत-भौतिक माया भी परब्रह्ममें अध्यस्त ही थी, तब किसको लेकर द्वैत होता? महाप्रलयमें ब्रह्मसे

तादात्म्यापन्न या अविभागापन्न होकर ही स्वधासंज्ञक माया विद्यमान थी। ब्रह्माश्रिता माया वृक्षाश्रित अमरबेलके तुल्य ब्रह्माण्डपुष्पोत्पादिनी विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न स्वतन्त्र सत्ताशून्य होती हुई ही विद्यमान थी। वह ब्रह्मसे पृथक्-गणनाके योग्य नहीं थी। सर्वथा शक्तिमात्रकी पृथक्-गणना सम्भव भी नहीं। शक्तिकार्य उस समय था नहीं, ऐसी स्थितिमें मायासहित सत्-तत्त्व सद्वितीय हो, ऐसा सम्भव नहीं।

इस प्रकार अनिर्वचनीया मायाके योगसे भी ब्रह्म वस्तुत 'आनीदवात' अर्थात् स्वतन्त्र सत् सिद्ध होता है। ब्रह्मके योगसे माया सत् अर्थात् निर्वाच्य नहीं होती, इसलिये 'नो सदासीत्' यह पूर्वोक्ति चरितार्थ होती है। वायुके योगसे जैसे आकाश चञ्चल नहीं होता और आकाशके योगसे वायु स्थिर नहीं होती, अग्निके योगसे वायु मूर्त नहीं होती और वायुके योगसे अग्नि अमूर्त (अरूप) नहीं होता रज्जुसर्पके योगसे रज्जुतत्त्व अनिर्वाच्य नहीं होता और रज्जुयोगसे रज्जुसर्प अबाध्य नहीं होता वैसे ही मायाके योगसे ब्रह्म अनिर्वाच्य (मिथ्या) नहीं होता और ब्रह्मके योगसे माया सत् नहीं होती।

माया दृश्य है। कार्य और कारण दोनोंके लिये प्रसगानुसार माया शब्दका प्रयोग विहित है। माया ह्येषा मया सृष्टा (महाभारत, शान्तिपर्व ३३९। ४५)-की उक्तिसे कार्यकोटिकी मायाका प्रतिपादन किया गया है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ४। १०)-की उक्तिसे कारणकोटिकी मायाका प्रतिपादन किया गया है। कार्यकोटिकी मायाका प्रतिषेध प्रलयदशामें अभीष्ट होनेसे कारणभूता मूल मायाके अतिरिक्त कोई भी दृश्यरूप कार्यात्मक प्रपञ्च नहीं था।

तृतीय मन्त्रमें कहा गया है कि सृष्टिके पूर्व महाप्रलयमें कार्यात्मक प्रपञ्चरूप जगत् अनिर्वचनीया मायासंज्ञक भावरूप अज्ञानान्धकारसे एकीभूत था। यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् सलिल अर्थात् कारणसे सगत अतएव अविभागापन्न अज्ञायमान था। क्षीरसे एकीभूत नीरके तुल्य ब्रह्माधिष्ठिता प्रकृतिसे एकीभूत कार्यात्मक प्रपञ्च दुर्विज्ञेय था। तमोभूत असत्कल्प अपने उपादानकारणसे समावृत और उसमें सर्वथा एकीभूत जो कार्यात्मक प्रपञ्च था वह स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप परमेश्वरके तपके अद्भुत माहात्म्यसे उत्पन्न हुआ।

सृष्टिके पूर्व तमस् ही था। जगत्कारण तमस्ने नाम रूपात्मक प्रपञ्च ढका था। जैसे रात्रिका अन्धकार सब पदार्थोंको ढक लेता है वैसे ही उस तमस्ने सबको अपने अदर गूढ कर रखा था। व्यवहारदशाके समान महाप्रलयदशामें आवरक तमारूप कर्ता और आवर्य जगद्रूप कर्मकी स्पष्ट पृथक्ता ज्ञात नहीं थी। यह सम्पूर्ण जगत् सलिल अर्थात् कारणसे सगत—पूर्णरूपसे अविभागापन्न था अथवा दुग्धमिश्रित जलतुल्य पृथक् विज्ञानका विषय नहीं था। वह क्षीरतुल्य तमस् यद्यपि नीरतुल्य जगत्से प्रबल-सा सिद्ध होता है, परतु विचारकोंकी दृष्टिमें तुच्छ अर्थात् अनिर्वचनीय ही है। केवल आवरण करनेका ही इसका स्वभाव है। कालक्रमसे लीन प्रपञ्चको प्रादुर्भूत न होने देनेका स्वभाव नहीं है, फिर तमस् प्रबल हो तब भी परमेश्वरके स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तपके अमोघ प्रभावसे तमस्से समावृत और एकीभूत विविध विचित्रताओंसे भरपूर प्रपञ्चका भी यथापूर्व व्यक्त हो जाना सम्भव है। आच्छादकका ही सर्गदशामें आच्छादन हो जाना और प्रलयदशामें लयस्थान हो जाना—परमेश्वरके अमोघ माहात्म्यका द्योतक है। जिन पदार्थोंका प्रलयमें निषेध किया गया है वे ही पदार्थ सर्गकालमें परमात्मासे अधिष्ठित मायासे अभिव्यक्त होते हैं। उन पदार्थोंको परिपूर्ण प्रकाशरूप परमात्माने स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तपसे रचा। परमात्माने मानस यथार्थसंकल्परूप ऋत वाचिक यथार्थ भाषणरूप सत्य तथा इनसे उपलक्षित धृति क्षमा दम अस्तेय शौच इन्द्रियनिग्रहादि शास्त्रीय धर्मोंको रचा। इसी प्रकार उसने रात्रि दिन और जलसे भरपूर समुद्रोंको उत्पन्न किया। उसने संवत्सरोपलक्षित सर्वकाल उत्पन्न किया—'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युत पुरुषादधि। कला मुहूर्ता काष्ठाश्च' (तैत्तिरीयारण्यक १०। १। ८)। अहोरात्र (दिन-रात)-से उपलक्षित सर्वभूतोंको व्यक्त किया। उस विधाताने पूर्वकालके अनुरूप ही कालके ध्वजरूप सूर्य चन्द्रको तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सुखरूप द्युलोकसंज्ञक त्रिभुवनसे उपलक्षित चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्डको रचा।

श्रुत्यन्तरमें 'न तम' कहकर तमसका प्रतिषेध 'सत्'-की विद्यमानतासे है। अथवा तेज और तमस् दोनोंका प्रतिषेध प्राप्त होनसे कार्यात्मक तमस्का प्रतिषेध है। 'यत्किञ्चिदवशिष्यते' की उक्ति सत्की प्रधानतासे है—

> तम रितमिनगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्॥
> अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते।

(. . . ३। २८ २५)

'प्रलयदशामें निश्चल, दुरवगाह, मनका भी अविषय, चन्द्रादि अधिदैवसे भी अतीत, आवरक तमस्से सुदूर, अनभिव्यक्त अनाख्य—निरुपाख्य (निरूपणका अविषय) शून्यसे सुदूर अशेषविशेषातीत व्यापक स्वप्रकाश सत् ही अवशिष्ट था।' कदाचित् 'न तम ' की उक्तिसे मायाका ही प्रतिषेध मानें तो 'ज्योतिषामपि तज्ज्योति ' (गीता १३। १७)—'वह ज्योतियोंका भी ज्योति है'-की शैलीमें ज्योतिका तथा 'तमस परमुच्यते' (गीता १३। १७)—'तमस्से पर कहा गया (जाता) है'-की शैलीमें अज्ञानरूप तमस्का प्रतिषेध मानना उपयुक्त है। 'सर्वेषा ज्योतिषां ज्योतिस्तमस परमुच्यते', 'तम शब्देनाविद्या' (त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् ४। १)-मे स्पष्ट ही तमस्का अर्थ अविद्या किया गया है।

उक्त वचनका अभिप्राय असत्कार्यवाद, असद्वाद, अनीश्वरवाद, परमाणुवाद, आरम्भवाद परिणामवाद, जडवाद, क्षणिक विज्ञानवाद और खण्डप्रलयवादके व्यावर्तनसे है।

जैसे चैत्ररूप कर्ता और ग्रामरूप कर्म दोनोकी सहस्थिति सम्भव होनेपर भी दोनोका ऐक्य सम्भव नहीं वैसे ही महाप्रलयम आवरक तमस् और आवर्य जगत्की सहस्थिति सम्भव होनेपर भी दोनोंका ऐक्य सम्भव नहीं तथापि आवर्य जगत्का उपादान होनेसे दोनोका ऐक्य भी सम्भव है। यही कारण है कि स्निग्ध मृत्तिकामें और पिण्डावस्थामें सनिहित घटके सदृश जगत् प्रलयदशामें विशेषरूपसे ज्ञायमान नहीं होता। सृष्टि-प्रलयसदर्भमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रपञ्चका उपादान कारण प्रकृति है। परमात्मा इसका अधिष्ठान है। इसको अभिव्यक्त करनेवाला काल है—

प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधार पुरुष पर ।
सतोऽभिव्यञ्जक कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्॥
(श्रीमद्भा० ११। २४। १९)

व्यवहार-दशाकी त्रिविधता वस्तुत ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मरूप परमेश्वरकी पालनप्रवृत्तिके अनुरूप जबतक ईक्षणशक्ति काम करती रहती है तबतक जीवोंके कर्मोपभोगके लिय पिता-पुत्रादि कारण-कार्यरूपसे यह सृष्टि-चक्र निरन्तर चलता रहता है। महाप्रलयका योग समुपस्थित होनेपर सर्गक्रमके विपरीतक्रमसे पृथिव्यादि तत्त्व अपने कारणमे विलीन होते हैं। ज्ञानक्रियोभयशक्तिप्रधान कार्यात्मक महत्तत्त्व त्रिगुणके द्वारसे अव्यक्त प्रकृतिमे लीन होता है। प्रकृतिका क्षोभ कालाधीन है, अत वह कालसे एकीभूतरूप लयको प्राप्त होती है। काल अपने चेतनज्ञानमय जीवमें तादात्म्यापत्तिरूप लयको प्राप्त होता है। जीव अपने शिवरूप-स्वरूप लयको प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि स्वरूप-विज्ञानके बिना ही प्रलयमें जीव शिवभावापन्न होकर विराजता है। परमात्माकी प्रपञ्चोन्मुखता ही उसकी जीवरूपता है। जीवकी सर्जनसरक्षणादिक अनुरूप सकल्पमुखता ही उसकी कालरूपता है। यद्यपि परमात्माकी प्रपञ्चोन्मुखता और सकल्पमुखता अर्थात् ईक्षणोन्मुखता प्रकृतिसज्ञक मायाके योगसे ही है, तथापि दर्पणसे अतिक्रान्त दर्पणादित्य-तुल्य और धूमसे अतिक्रान्त (अतीत) ज्वालातुल्य अप्रतिममहामहिमामण्डित महेश्वरकी जीवरूपता और कालरूपता मायासे अतिक्रान्त है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर 'न मृत्युरासीत्' (ना०सू० २)-की उक्तिसे मृत्युसज्ञक कालका महाप्रलयम निषेध विवक्षित है। 'अमृतं न तर्हि' (ना० सू० २)-की उक्तिसे अमृतसज्ञक जीवका महाप्रलयमे निषेध विवक्षित है। जीवका लयस्थान शिवस्वरूप परमात्मा है। वह सबका परम और चरम मूल है। अतएव उसका लय नहीं होता।

चतुर्थ मन्त्रम कहा गया है कि ईश्वरने सर्जनेच्छासे स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तप किया। सर्जनेच्छा ईश्वरके मायारूप मनमें हुई। अभिप्राय यह है कि अतीत कल्पम अकृतार्थ जीवोंके मनसे सम्बन्धित और मनमें सनिहित जो भाविप्रपञ्चका हेतुभूत वासनात्मक कर्म था उसीके उद्बुद्ध और फलोन्मुख होनेके कारण सर्गके आरम्भम प्राणियोंको आत्मसात् किये महेश्वरक मायारूप मनमें पर्यालोचनरूप तपका भी मूल सिसृक्षारूप-काम उत्पन्न हुआ। 'तम आसीत्' तथा 'असत्' कहकर श्रुतिने भावरूप अव्याकृतात्मक अज्ञानका तथा 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' कहकर कामका और 'रेत प्रथमं यदासीत्' कहकर कर्मका जगत्का मूल माना है। अभिप्राय यह है कि जगत् अविद्या तथा काम और कर्मके योगसे समुत्पन्न हुआ है। परमेश्वर जीवोंके अज्ञान काम और कर्मोंके अनुरूप ही जगत्की रचना करते हैं। असत्, अव्यक्त अव्याकृत अविद्या तम, प्रकृति मायाकी एकरूपता 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तैत्तिरीयोपनिषद् २।७) 'अविद्या-माहुरव्यक्तम्' (महाभारत शान्तिपर्व ३०७। २) 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृहदारण्यक० १। ४। ७) अविद्या

प्रकृतिर्ज्ञेया' (महा० शा० ४१ दा० पाठ) 'निरस्ताविद्यातमोमोहः (नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् २), 'प्रकृतिर्माया (गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् २। ३) 'अविद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहितशुक्लकृष्णा' (शाण्डिल्योपनिषद् ३। १) आदि वचनोंके अनुशीलनसे सिद्ध है।

पाँचवें मन्त्रमें कहा गया है कि जीवनिष्ठ अविद्या, काम और कर्म सृष्टिके हेतु हैं। अविद्योपादानक और कामकर्मनिमित्तक आकाशादि भूत और भौतिक पदार्थका सर्जन करते समय कार्यवर्ग सूर्यरश्मिसदृश शीघ्र विस्तार और प्रकाशको प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार आर्द्र ईंधनके योगसे ज्वाला और धूम दो रूपोंमें अग्निकी अभिव्यक्ति होती है। जैसे ज्वालाकी अग्निके अनुरूप अभिव्यक्ति होती है और धूमकी विरूप अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार काम और कर्मगर्भित अविद्याके योगसे परमात्माकी ही भोक्ता और भोग्य दो रूपोंमें अभिव्यक्ति होती है। भोक्ता भगवान्‌के अनुरूप अभिव्यक्ति है भोग्य भगवान्‌के विरूप अभिव्यक्ति है। भोग्य अविद्याके अनुरूप अभिव्यक्ति है और भोक्ता अविद्याके विरूप अभिव्यक्ति है। भोक्ता अन्नाद है और भोग्य अन्न। कार्यकारणात्मक प्रपञ्च अन्न है और जीव अन्नाद। अन्न भोग्य है और जीव भोक्ता। अन्न शेष है और अन्नाद शेषी। शेषी जीवमें शेषकी दासता उपयुक्त नहीं।

छठे मन्त्रमें कहा गया है कि यह विविध विचित्र भूत-भौतिक, भोक्तृ-भोग्यादिरूपा सृष्टि किस उपादानकारणसे और निमित्तकारणसे प्रकट हुई है—इस तथ्यको परमार्थतः कौन जानता है? इस जगत्‌में उसका कौन प्रवचन कर सकता है? इस भूत-भौतिक प्रपञ्चके विसर्जनके बाद ही जब देवता, मन और इन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई तब ये उस मूल तत्त्वको कैसे जान सकते हैं? सृष्टिका मूल तत्त्व दुर्विज्ञेय है। जो वस्तु जानी जाती है वह तो दृश्य जड तथा विकारी ही होती है। जिसका हम कारणरूपसे अनुमान करते हैं अथवा जिसे हम कारणरूपसे जानते हैं वह सावयव-विकारी ही होता है अतएव नश्वर होता है। ऐसी स्थितिमें कार्य-कारण-कल्पनाके प्रकाशक सर्वाधिष्ठान स्वयम्प्रकाश प्रत्यग्ब्रह्मको ज्ञानका विषय कैसे बनाया जा सकता है? नाम-रूपात्मक जगत् अनिर्वचनीय होनेसे निरूपणका विषय नहीं है। जगत्कारण अधिष्ठानात्मक-उपादान ब्रह्म शब्द प्रवृत्तिके हेतु जाति गुण क्रिया, सम्बन्ध रूढिरहित होनेसे अभिधा-वृत्तिसे शब्द-प्रवृत्तिका अविषय है। ऐसी स्थितिमें जगत् कितना है कैसा है और इसका उपादान तथा निमित्तकारण कौन है—आदि तथ्योंको कौन विधिवत् जानता है? कौन इसे विधिवत् बता ही सकता है? घटादिके कर्तामें जो देहादिकी स्थिति है, वह ईश्वरमें सर्वतोभावेन चरितार्थ हो ऐसा आवश्यक नहीं। व्याप्तिके बिना सामानाधिकरण्यमात्र असाधक ही होता है। ऐसा न मानें तो रसोईमें धूम-वह्नि (धूआँ और आग)-की व्याप्तिका ग्रहण करते समय व्यञ्जनादिमत्त्व भी परिलक्षित होता है फिर तो पर्वतादिमें भी उनका (व्यञ्जनादिका) अनुमान होना चाहिये, परंतु ऐसा नहीं। अभिप्राय यह है कि रसोईघरमें धूम और अग्निके साहचर्य-सदृश पर्वतमें धूमाग्निका साहचर्य है, यह तो ठीक है परंतु उससे निष्पन्न छप्पन भोग और छत्तीसों व्यञ्जनकी स्थिति पर्वतमें सिद्ध करना जैसे उपयुक्त नहीं, वैसे ही ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् कर्ताको कार्यके मूलमें स्थित सिद्ध करना तो उचित परंतु उस कर्ताको देहादियुक्त अनुमित करना अनुचित। ऐसा न समझनेवाले विमोहित तो होते ही हैं। जब देवगण भी उस तत्त्वको नहीं जान सकते तब मनुष्योंमें भला कौन जान सकता है? मनुष्योंके साथ तो अल्पज्ञता सर्वतोभावेन अनुविद्ध है।

सप्तम मन्त्रमें इस तथ्यका प्रकाश किया गया है कि जिस विवर्तोपादानकारणसे अर्थात् कल्पित कार्यके उपादानकारणसे इस विविध-विचित्र परस्पर-विपरीत (विलक्षण) सृष्टिका उदय हुआ है यह भी इस सृष्टिको अपने स्वरूपमें धारण करता है या नहीं? अन्य कोई धारण कर ही कैसे सकता है? यदि धारण कर सकता है तो सर्वेश्वर ही। इस सृष्टिका जो अध्यक्ष परमेश्वर है वह परमव्योममें रहता है। वह भी कहीं इसे जानता है या नहीं? देश-कालादि त्रिविध परिच्छेदशून्य परमात्मा सृष्टिके मूलकारण अपने-आपको जानता भी है अथवा नहीं? अथवा अपने अज्ञानकल्पित प्रपञ्चको वह जानता भी है या नहीं? 'यदि वा न वेद' का अभिप्राय यह है कि जब स्वदृष्टिसे सृष्टि है ही नहीं, तब जानेगा किनको? अन्य कोई तो जाननेसे रहा।
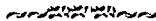
शुभाशंसा

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्र सरस्वतीजी महाराज)

श्रीपरमेश्वरके उच्छ्वास-नि श्वासभूत है वेद। ये सर्वप्राणिहितकर होते हैं। अत वेद माता कहे जाते हैं। इनके वचन निषेध एव विध्यात्मक होते हैं। इनकी विशेषताओंको छोटी-छोटी कहानियोद्वारा वेदमन्त्र ही सरल एव स्पष्टरूपमें समझाते हैं। यथा हि—'देवासुरा सयता आसन्'—देवलोग तथा दैत्यलोग आपसम लडे-भिडे आदि-आदि। आत्मचिन्तनोंके प्रकारके विशदीकरणमे भी इन्हीं उक्तियोकी सहायता ली गयी है। इससे कठिन-से-कठिन बातोका समाधान-सुझाव अत्यन्त सुलभ हो जाता है।

भारतकी परम्परागत सम्पत्ति हैं ये वेद। पुराण इतिहास काव्य तथा नाटक आदि इनके उपबृहण हैं। इस सम्पत्तिकी रक्षाम सावधानीपूर्वक कटिबद्ध होते 'कल्याण'क वर्ष १९९९ का विशेषाङ्क 'वेद-कथाङ्क' प्रकाशित हो रहा है यह सुन-समझकर हम अताव सतुष्ट हुए।

वेदमाताके परिपूर्ण आशीर्वादों एव श्रीपरमेश्वरकी परम कृपासे यह 'विशेषाङ्क' पुनरपि वदाकी विशेषताआको मानव-मनर्म जाग्रत् करे, यह मेरी शुभाशसा है।

वेदोका परम तात्पर्य परब्रह्ममे सनिहित

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज)

कालो देश क्रिया कर्ता करण कार्यमागम ।
द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरि ॥
(श्रीमद्भा० १२। ११। ३१)

द्रव्य कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वत ॥
(श्रीमद्भा० २। ५। १४)

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहत सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥
(श्रीमद्भा० २। १०। १२)

—आदि वचनाके अनुसार वद, देव काल देश क्रिया करण कार्य द्रव्य फल स्वभाव जीव लाक, याग और ज्ञानादि परब्रह्मम प्रतिष्ठित हैं।

वेदोंकी ब्रह्मपरायणता इस प्रकार है—सृष्टिपरक श्रुतियाका तात्पर्य सृष्टिमें सनिहित नहीं है अपितु स्रष्टृक स्वरूपप्रतिपादनमें ही सनिहित है। सृष्टिपरक श्रुतियाम विगान हानेपर भा स्रष्टाके स्वरूप-प्रतिपादक श्रुतियाम विगान नहीं है। स्रष्टा सरक्षक और सहारक परमेश्वरका 'वासुदव' सज्ञा है। वहा जगत्का अभिन्न- निमित्तोपादानकारण है। जगद्रूपस विलसित वासुदेवकी सर्वरूपता शास्त्रसिद्ध है। वासुदव सर्वमिति (गीता ७। १९) सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दोग्य० ३। १४। १), 'सब वासुदव है तथा 'यह सब नि सदह ब्रह्म है आदि शास्त्रोंके अनुशीलनसे यह तथ्य सिद्ध है। 'यत्प्रशस्यते तद्विधेयम्' 'जो प्रशसित हाता है वह विधेय होता है',—इस न्यायसे ब्रह्मदशनम फलवाद और उपपत्ति (युक्ति)-की उपलब्धि होनेसे एकत्व प्रशस्त है, वही विवक्षित है।

'न तु तद्द्वितीयमस्ति (बृहदारण्यक० ४। ३। २३) 'द्वितीयाद्वै भय भयति (बृहदारण्यक० १। ४। २)—'वह द्वितीय नहीं है 'नि सदेह दूसरेसे भय हाता है' 'उदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भय भवति' (तैत्तिरीय० २। ७) 'जो तनिक भी भेद करता है नि सदह उस भय होता है' आदि वचनोंमे अनेकत्वका निन्दा का गया है। यन्निन्द्यते तन्निषिध्यते — 'जिसका निन्दा का जाती है वह निषध्य (निषधका विषय होन याग्य) हाता है'। इस न्यायसे नानात्व-प्रतिपादनमें शास्त्राका तात्पय सनिहित नहीं हो सकता। 'ओदनं पचति — 'भात पकाता है —इन प्रयागम जिस प्रकार अनोदनमें ओदनका उपचार है उसा प्रकार भद-दर्शन-घटित पूर्वकाण्डोंमें अभदमें भदोपचार है।

भद न ता अपूर्व है और न पुरुषार्थ हा। अतएव यह तात्पर्य भी नहीं। प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्ध भदक प्रतिपादक शास्त्र अनुवादक हा मान्य हैं। अनुवादकका स्वतन्त्र प्रामाण्य असिद्ध हानस वदोंका वदत्व तभा सम्भव है जब व प्रमाणान्तरसे अनधिगत और अबाधित अर्थक प्रतिपादक

हों। भद अपूर्व नहीं, अत सदवचन भेदपरक नहीं। 'तत्परातत्परयोश्च तत्पर वाक्य बलवत्'—'तत्पर और अतत्परमें तत्पर (अपने तात्पर्यमें सनिहित) वाक्य बलवान् हाता है' इस न्यायस वेद अभेदपरक ही है। 'तदैक्षत' (छान्दोग्य० ६। २। ३) 'तत्तेजोऽसृजत' (छान्दोग्य० ६। २। ३) 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दाग्य० ६। २। १)—'उसने ईक्षण किया', 'उसन तेजको रचा', 'एक ही अद्वितीय' आदि श्रुतियाँ अद्वैतका प्रतिपादन करती हैं। 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य० ६। ८। ७) 'वह तू है' कहकर श्रुति उसीका उपसहार करती है। इस प्रकार उपक्रम उपसहार अभ्यास अर्थवाद उपपत्ति अपूर्वता और फलरूप षड्विध तात्पर्यलिङ्गोंके अनुशीलनसे सिद्ध एकत्वका अपलाप नहीं किया जा सकता। 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' (बृहदारण्यक० २। ४। १०), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मन सर्वं वेद' (बृहदारण्यक० २। ४। ६), 'नेह नानास्ति किंचन। मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृहदारण्यक० ४। ४। १९)—'वह अन्य है, मैं अन्य हूँ', 'एसा माननेवाला वस्तुत वस्तुस्थितिको नहीं जानता है, उसे सभी परास्त कर दते हैं जा सबको आत्मासे भिन्न देखता है।' 'यहाँ नाना कुछ भी नहीं है। वह मृत्युस मृत्युको (दु ख—अपकर्षसे दु ख—अपकर्षको) प्राप्त होता है जो यहाँ नाना-जैसा देखता है' आदि श्रुतियाँ भेदका अपवाद भी दर्शाती हैं।

दवोकी ब्रह्मपरायणता इस प्रकार है—कार्योपाधिक जीवकी उज्ज्वलतम अभिव्यक्ति दव है। 'ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै' (श्वेताश्वतराप० ४। १६) 'अत्रैष देव स्वप्ने महिमानमनुभवति' (प्रश्नोप० ४। ५), 'देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (कठ० १। २। १२) 'एको देव सर्वभूतेषु गूढ' (श्वेताश्वतराप० ६। ११)—'दवको जानकर समस्त पाशों (बन्धनों)-से मुक्त हो जाता है।' यहाँ स्वप्नमें यह देव अपनी महिमाका अनुभव करता है 'देवको जानकर धीर हर्ष-शोकका त्याग कर दता है' 'एक देव सम्पूर्ण भूतों (वस्तुओं प्राणियों)-में गूढ है' आदि स्थलोंमें तथा विष्णु आदि पञ्चदवोंमें 'देव' शब्द आत्मा और परमात्माके अर्थमें प्रयुक्त है। अन्यत्र 'दव' पद प्रसगानुसार इन्द्रिय और इन्द्रियानुग्राहक अधिदैवत अर्थमें प्रयुक्त है। वेदान्तोंमें विषय (अधिभूत) करण (अध्यात्म) सुर (अधिदैव), जीव ईश्वर और ब्रह्म—इनमें विषय और करणको जड (अचतन) माना गया है। सुर, जीव और ईश्वरको चतन माना गया है। ब्रह्मको चित् माना गया है। अभिप्राय यह कि चेतनकी गणना देवोंसे ही प्रारम्भ होती है।

देवानुग्रहसे अनुगृहीत इन्द्रियाँ कर्मोंमें विनियुक्त होती हैं तथा यज्ञादि कर्म देवताओंके प्रति समर्पित होते हैं। कर्मोंकी निष्प्रत्यूह (निर्विघ्न) परिसमाप्तिके लिये देवोंका ध्यान अपेक्षित होता है। इन्द्रादि देवता वृष्टि आदिके द्वारा मनुष्योंको समृद्ध करते हैं। इस प्रकार कर्म और फलसिद्धिमें देवताओंका योगदान है। उन देवताओंमें ब्रह्माका सर्वोपरि महत्त्व है क्योंकि वे परमात्मासे प्रथम उत्पन्न हैं—'ब्रह्मा देवाना प्रथम सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।' (मुण्डक० १। १। १)। ब्रह्मा महत्तत्त्वात्मक बुद्धिके देवता होनेसे हिरण्यगर्भसज्ञक हैं—'हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्' (शुक्लयजु० २५। १०)। 'साङ्ख्य-प्रस्थान' के अनुसार अन्त करणके आरोह-क्रमसे मन अहं और बुद्धि—ये तीन प्रभेद हैं। मनके चन्द्रमा अहंके रुद्र और बुद्धिके ब्रह्मा देवता हैं। 'वेदान्त-प्रस्थान' में कोशकी विवक्षासे अन्त करणके मन और विज्ञान (बुद्धि)—ये दो प्रभद हैं। अन्त करण-चतुष्टय माननेपर चतुर्थ करणके रूपसे चित्तकी प्राप्ति होती है। चित्तके अनुग्राहक वासुदेव हैं। श्रुत्यनुगृहीत भागवतप्रस्थानमें चित्तको करणोंमें सर्वोपरि महत्त्व है। ब्रह्मको क्षेत्रज्ञरूपसे अभिव्यक्त करनेवाला चित्त ही है। चित्तरूप अध्यात्मसहित अधिदैव और उपास्यरूप क्षेत्रज्ञ—वासुदेवके प्रवेशसे विराट्पुरुषका उज्जीवित होकर उठना उक्त तथ्यको सिद्ध करता है। माण्डूक्यने वैश्वानर और तैजस (हिरण्यगर्भ)-को उन्नीस मुखोंवाला माना है प्राज्ञको 'चेतोमुख' माना है। श्रुत्यन्तरने पञ्चप्राणोंका ग्रहण न कर पञ्चकर्मेन्द्रिय पञ्चज्ञानेन्द्रिय और अन्त करणके योगसे चौदह करणोंको माना है। जाग्रत्में चौदह करणोंकी विद्यमानता (अर्थक्रियाकारिता—व्यवहार-समग्रता) स्वप्नमें अन्त करण चतुष्टयकी विद्यमानता और सुषुप्तिमें केवल अवधारणात्मक चित्तकी विद्यमानता श्रुत्यन्तरसिद्ध है—'ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियान्त - करणचतुष्टयं चतुर्दशकरणयुक्तं जाग्रत्। अन्त करणचतुष्टयैरेव संयुक्त स्वप्न। चित्तैककरणा सुषुप्ति' (शारीरिकोपनिषद् ५)।

विषय-ग्रहणमें विनियुक्त चित्त विषय-ग्रहणसे विनिर्मुक्त और चित्-तादात्म्यापन्न होकर जब विराजमान होता है तब सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होती है। उस समय पुरुष 'चेतोमुख'

कहा जाता है। इस प्रकार चित्तकी महत् और अव्यक्त उभयरूपताके कारण चित्तके अधिदैव वासुदेवका देवोंमें सर्वोपरि महत्त्व है—

चित्तेन हृदयं चैत्य क्षेत्रज्ञ प्राविशद्यदा।
विराट् तदैव पुरुष सलिलादुदतिष्ठत॥
(श्रीमद्भा० ३। २६। ७०)

भगवान् वासुदेवसे ब्रह्मा और ब्रह्मासे रुद्रकी अभिव्यक्ति होनेके कारण देवोंमें सर्वोपरि महत्त्व भगवान् वासुदेवका है। वे चित्तके अनुरूप कार्य-कारणात्मक दोनों हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके अनुग्राहक अन्य देव 'वैकारिक सर्ग' के अन्तर्गत हैं। अभिप्राय यह है कि ईश्वर, काल, स्वभाव और कर्मके योगसे सर्वप्रथम 'महत्' उत्पन्न हुआ। रज - सत्त्वोपबृंहित महत्से द्रव्यज्ञानक्रियात्मक तम -प्रधान 'अहम्' उत्पन्न हुआ। तम -प्रधान अहंसे पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति हुई, पञ्चतन्मात्राओंसे आकाशादि पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति हुई। तन्मात्राओंके सहित भूतोंको साङ्ख्यतत्त्वके पारखी मनीषिगण 'द्रव्यशक्ति' कहते हैं। वैकारिक (सात्त्विक) अहंसे मन और दशेन्द्रियोंके अनुग्राहक दिगादि देव अभिव्यक्त हुए—

वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रका ॥
(श्रीमद्भा० २। ५। ३०)

मनके देवता चन्द्रमा हैं। तैजस (राजस) अहंसे ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और प्राणोंकी अभिव्यक्ति हुई। ज्ञानेन्द्रियाँ 'ज्ञानसर्ग'-के अन्तर्गत हैं एवं कर्मेन्द्रियोंसहित प्राण 'क्रियासर्ग' के अन्तर्गत है। वेदान्तरीतिसे अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंके समष्टि (३। ४) सत्त्वांशसे इन्द्रिय-पालक देवोंकी अभिव्यक्ति मान्य है—

स तेषां…। सत्त्वसमष्टित इन्द्रियपालकानसृजत्।
(पैङ्गलोपनिषद् १। १)

श्रोत्र त्वक् चक्षु, रसना और नासिका—ये पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ हैं। श्रोत्रके देव दिक् त्वक्के देव वायु, चक्षुके देव सूर्य तथा रसनाके देव वरुण हैं और नासिकाके देव अश्विनीकुमार हैं। वाक् कर, पाद उपस्थ और गुदा—ये पञ्चकर्मेन्द्रियाँ हैं। वाक्के देव अग्नि हैं तथा करके देव इन्द्र और पादके देव उपेन्द्र (वामन) हैं। उपस्थके देव प्रजापति और गुदाके देव मृत्यु हैं।

सांख्य और योगकी रीतिसे इन्द्रियाँ आहंकारिक और अभौतिक हैं। वेदान्त-नयके अनुसार अहं और इन्द्रियाँ—ये दोनों ही भौतिक हैं। श्रोत्र और वाक् आकाशीय हैं। त्वक् और कर वायवीय हैं। चक्षु और चरण तैजस हैं। रसना और उपस्थ वारुण (जलीय) हैं। नासिका और पायु (गुदा) पार्थिव हैं।

आकाशका कार्य वायु है तथा वायुका कार्य तेज और तेजका कार्य जल एवं जलका कार्य पृथ्वी है। भूतोंमें परोवरीयता (उत्तरोत्तर उत्कृष्टता और पूर्वपूर्वापकृष्टता)-के क्रमसे इन्द्रियानुग्राहक देवोंमें परावरीयताका उपचार होता है।

उक्त रीतिसे वासुदेव ब्रह्मा रुद्र चन्द्र, दिक्, अग्नि वायु, इन्द्र सूर्य, उपेन्द्र वरुण प्रजापति अश्विनी और मृत्यु—ये चौदह करणानुग्राहक देव हैं। इनमें ब्रह्मासे मृत्युपर्यन्त तेरह देवोंके अधिपति वासुदेव हैं।

सभी वेद और सभी देव ब्रह्माधिष्ठित होनेसे ब्रह्मपरायण और ब्रह्मात्मक हैं। वेद अभिधानात्मक हैं। देव अभिधेयात्मक हैं। वेद देवात्मक हैं और देव वेदात्मक हैं। दोनों परब्रह्मके अभिव्यञ्जक होनेसे एकरूप हैं। चिदानन्द-प्रधान ब्रह्मकी अभिव्यक्ति वेद है तथा सदानन्द-प्रधान ब्रह्मकी अभिव्यक्ति हैं देव। वेद त्रिकाण्डात्मक हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान—ये वेदके तीन काण्ड हैं। कर्मकाण्डपरक श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें परमेश्वरका ही विधान करती हैं। उपासनाकाण्डपरक श्रुतियाँ उपासनाकाण्डमें उपास्य देवताओंके रूपमें परमेश्वरका ही वर्णन करती हैं। ज्ञानकाण्डपरक श्रुतियाँ ज्ञानकाण्डमें आकाशादिरूपसे परमेश्वरमें ही अन्य वस्तुओंका आरोप करके उनका निषेध करती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियोंका बस इतना ही तात्पर्य है कि वे परमेश्वरका आश्रय लेकर परमेश्वरमें भेदका आरोप करती हैं मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्तमें सबका निषेध करके परमेश्वरमें ही शान्त हो जाती हैं। केवल अधिष्ठानरूपमें परमेश्वर ही शेष रहता है। वेदवाणी कर्मकाण्डमें क्या विधान करती है उपासनाकाण्डमें किन देवताओंका वर्णन करती है और ज्ञानकाण्डमें किन प्रतीतियोंका अनुवाद करके—उनमें विविध विकल्प करके अन्तमें उनका प्रतिषेध (निषेध) करती है?—इन तथ्योंको भगवदनुग्रह और सत्सम्प्रदाय परम्परासे ही कोई जान सकता है।

मत्स्यमहिम्नुतासे क्रमिक अभिव्यक्ति अभिप्राय श्रुतियाँ सर्वत्र सभी परमेश्वरका प्रतिपादन नहीं करतीं।

क्षेत्रविज्ञान नानविज्ञान तथा ज्ञेयविज्ञान—ये श्रुतियोंके तीन प्रतिपाद्य हैं। इनमें प्रकृति पञ्चभूत और पाञ्चभौतिक प्रपञ्चका विज्ञान 'क्षेत्रविज्ञान' है। अमानित्वादिसाधन-विज्ञानका नाम 'ज्ञानविज्ञान' है। अनात्मवस्तुओंसे उपरति और भगवत्तत्त्वमें अनुरक्ति एव तत्त्वविचारमें प्रीति तथा प्रवृत्तिका नाम 'ज्ञानविज्ञान' है। जिसके विज्ञानसे सर्वविज्ञान सम्भव है तथा जिसके विनाससे मोक्ष सुनिश्चित है उस ब्रह्मात्मतत्त्वका विज्ञान 'ज्ञेयविज्ञान' है। क्षेत्रविज्ञानके अभिप्रायसे कर्मकाण्ड है। देहेन्द्रियादिरूप क्षेत्रका शोधन कर्मकाण्डका फल है। ज्ञानविज्ञानके अभिप्रायसे उपासनाकाण्ड है। अनात्मवस्तुओंसे उपरति भगवत्स्वरूपमें अनुरक्ति तथा ब्रह्मात्मविचारमें प्रीति एव प्रवृत्ति उपासनाका फल है। ज्ञेयविज्ञानके अभिप्रायसे ज्ञानकाण्ड है। ब्रह्मात्मविज्ञानके अमोघ प्रभावसे भवबन्धनकी निवृत्ति ज्ञानका फल है।

सच्चिदानन्दादि-स्वरूपलक्षणलक्षित परब्रह्मके विज्ञानके लिये जगत्कारणरूपसे तटस्थलक्षणलक्षित परब्रह्मका विज्ञान अपेक्षित है। इसी अभिप्रायसे श्रुतियोंमें जगत्का निरूपण है। जिसमें जिसका अपवाद अभीष्ट होता है उसीसे उसकी उत्पत्ति अभीष्ट होती है। रज्जुमें सर्पादिका अपवाद अभीष्ट होता है तो रज्जुसे ही सर्पादि-उत्पत्ति भी अभीष्ट होती है। अन्यथा अपवाद अधूरा (अपूर्ण) रहता है। यदि श्रुतियाँ परब्रह्मसे जगत्की उत्पत्त्यादिको न दर्शा कर परब्रह्ममें जगत्का अपवाद दर्शायें तो परमाणु, प्रकृति आदिमें जगत्की सत्ता सिद्ध हो जाय और परब्रह्मकी अद्वितीयता असिद्ध होने लगे। आकाश और वायुको नीरूप सिद्ध कर देनेपर भी तेज आदिमें रूपकी सिद्धि जिस प्रकार अनिवार्य है उसी प्रकार परब्रह्मसे प्रपञ्चोत्पत्त्यादि न दर्शा कर परब्रह्ममें प्रपञ्चापवाद कर देनेपर परब्रह्मकी अद्वितीयता, असंगतादि असिद्ध है।

पुत्र और पुत्रेष्टियागमें तथा कारीरियाग (कारीरि इष्टि)-में शत्रुनाश और श्येनयागमें कार्यकारणभाव दर्शा कर श्रुति-स्मृति-उपायोंमें दृष्टफलको प्राप्त कराकर अपनेमें आस्था उत्पन्न करती है। पुन ज्योतिष्टोमादिका देहोपरान्त प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि और अग्निहोत्रादिमें काम्य-फलाभावक प्रति आस्था अभिव्यक्त होती है। पुन 'नास्त्यकृत कृतेन' (मुण्डक० १। २। १२) न ह्यध्रुवै प्राप्यते हि ध्रुवं तत्' (कठ० १। २। १०) तद्यथेह कर्मजितो लोक क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोक क्षीयते' (छान्दोग्य० ८। १। ६) 'यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुरा क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ (मुण्डक० १। २। ९)—'अकृत आत्मा कृत कर्मोंसे प्राप्त नहीं हो सकता', 'यह ध्रुव आत्मा अध्रुव उपायोंसे नहीं प्राप्त हो सकता', जैसे 'यहाँ कर्मसे उपार्जित (विजित) यह लोक (शरीर और मर्त्यलोकके अन्य साधन) क्षीण हो जाता है वैसे ही कर्मसे उपार्जित वह लोक (परलोक) क्षीण हो जाता है।' 'क्योंकि कर्मासक्तोंको कर्मफल-विषयक रागके कारण तत्त्वका ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिये वे दु खार्त होकर कालान्तरमें स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं'—इन उपपत्ति (युक्ति)—गर्भित श्रुतियोंके अनुशीलन और सत्संगके अमोघ प्रभावसे लोक-परलोकसे विरक्त होकर आत्मानुशीलन और ब्रह्मपरिमार्गणमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है।

ध्यान रहे श्रुतियाँ ईश्वरको जगत्कर्तादि बताकर उन्हें वस्तुत कर्तादि नहीं सिद्ध करना चाहतीं। जिस प्रकार श्रुतियाँ निष्प्रपञ्च परमेश्वरके विज्ञानकी भावनासे उनमें प्रपञ्चका आरोप दर्शाती हैं उसी प्रकार कर्तृत्वादिके प्रतिषेधकी भावनासे ही उनमें कर्तृत्वादिका आरोप करती हैं—

> इत्थंभावेन कथितो भगवान् भगवत्तम ।
> नेत्थंभावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरय ॥
> नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते।
> कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययाऽऽरोपितं हि तत्॥
>
> (श्रीमद्भा० २। १०। ४४-४५)

महात्माओंने अचिन्त्यैश्वर्य भगवान्का इसी प्रकार वर्णन किया है परंतु तत्त्वज्ञोंको केवल इस सृष्टि पालन और संहार करनेवाले रूपमें ही उनका दर्शन नहीं करना चाहिये क्योंकि वे तो इससे परे भी हैं।

सृष्टिकी रचना आदि कर्मोंका निरूपण करके पूर्ण परमात्मामें कर्म या कर्तापनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया है। वह उनमें मायासे आरोपित है। यह कर्तृत्वका प्रतिषेध करनेके लिये ही है।'

उक्त रहस्यको हृदयंगम कर 'नेह नानास्ति किंचन' (कठ० २। १। ११) तत्त्वमसि (छान्दोग्य० ६। ८। ७)—'यहाँ नाना कुछ भी नहीं है' 'वह तुम हो' आदि श्रुतियोंको हृदयंगम कर ब्रह्मात्म-विज्ञानके अमोघ प्रभावसे शोकसिन्धुको पार कर जाना चाहिये।

जो उक्त रीतिसे अक्षरसञ्ज्ञक परमेश्वरको नहीं जानता वह अल्पससारका वरण करनेसे कृपण है और भवाटवीमे भटकते रहनेसे अकृतार्थ है। इसके विपरीत जो इस अक्षर-संज्ञक परमेश्वरको आत्मरूपसे जान लेता है वह उदार ब्राह्मण कृतार्थ है—

'यो वा एतदक्षर गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षर गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मण ॥'

(बृहदारण्यक० ३ । ८ । १०)।

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एव उनके द्वारा वेद-प्रामाण्य-प्रतिपादन

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री श्रीजी महाराज)

वैष्णव चतु सम्प्रदायमें सुदर्शन-चक्रावतार श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य परम प्राचीनतम हैं। आपने महर्षि वेदव्यासकृत 'ब्रह्मसूत्र' पर 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामसे वृत्यात्मक भाष्यका प्रणयन किया और आपहीके परम पट्टशिष्य श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराजने इसी 'वदान्तपारिजातसौरभ' भाष्यका ही 'वेदान्तकौस्तुभ' नामसे सुप्रसिद्ध भाष्यका विशेष विस्तार किया प्रस्तुत सदर्भम इन्हीं भाष्य-द्वयके आधारपर वेद-प्रामाण्यका यह विवेचन द्रष्टव्य है—

वेदान्तदर्शनम मुख्यत प्रमाणत्रयके आधारपर आत्म-परमात्मतत्त्व एव प्राकृत-जगत्के स्वरूपका निर्वचन हुआ है। उन प्रमाणत्रयमे शब्द-प्रमाण अर्थात् वद-प्रमाणका ही प्रामुख्य है। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यजीने ब्रह्म एव जीव-जगत्के निरूपण-प्रसगमें 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम सूत्र अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' तथा तृतीय एव चतुर्थ सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' 'तत्तु समन्वयात्'—इन सूत्रापर तथा 'ब्रह्मसूत्र' के 'वेदान्त-पारिजातसौरभ' भाष्यम आपने एव आपक पट्टशिष्य पाञ्चजन्यशङ्खावतार श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराजने 'वदान्तकौस्तुभ' भाष्यमें वेद-प्रामाण्यका जो निर्वचन किया है, वस्तुत वह धीर पुरुषोंद्वारा सर्वदा अवधारणीय है।

श्रीनिम्बार्कभगवान्ने ब्रह्मसूत्रक अथातो ब्रह्मजिज्ञासा —इस प्रथम सूत्रके प्रारम्भमें ही 'अथ शब्दका गहनतम भावार्थ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है यथा—'अथाधीतषडङ्गवेदन 'अथ अर्थात् जिन्होंने षडङ्ग-वेदका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन मनन-चिन्तन किया है। इसी प्रयुक्त 'अथ' शब्दका स्पष्टीकरण आचार्यवर्य श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराजने 'वेदान्तकौस्तुभ -भाष्यमें जिस विधास प्रतिपादित किया है यह कितना सुन्दरतम है यथा— तत्राथानन्तरमितिधर्मजिज्ञासाविषयभूतधर्मस्वरूप तत्साधनतदनुष्ठानप्रकारतत्फलविषयकज्ञानानन्तरं 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति विधीयमानसस्कारादिपूर्वक साङ्ग वेदमधीत्य'।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रमें 'अथ' शब्दका अर्थ 'अनन्तर' है। अर्थात् धर्मजिज्ञासाक विषयम धर्मका स्वरूप धर्मके साधन धर्मके अनुष्ठान-प्रकार और उनके फल-सम्बन्धी ज्ञानके अनन्तर इस प्रकार 'अथ का यह गम्भीर भाव प्रकट किया है। ऐसे ही आपद्वारा तृतीय सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्'—इस सूत्र-भाष्यम वेद-प्रामाण्यका निरूपण और भी विलक्षण है—

'उक्तलक्षण ब्रह्मानुमानादिगम्यमुत वेदप्रमाणकमितिसशय अनुमानादिगम्य 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति ब्रह्मणो वागगोचरत्व-श्रवणादिति पूर्वपक्षे, ब्रह्म नानुमानादिगम्यं किंतु वेदप्रमाणकम्। कुत ? 'शास्त्रयोनित्वात्'। शास्त्रं वेदो योनि कारणं ज्ञापकं प्रमाण यस्मिंस्तच्छास्त्रयोनि तस्य भावस्तत्त्व तस्माच्छास्त्र-योनित्वाच्छास्त्र प्रमाणकत्वात्। वेदैकप्रमाणकमेव ब्रह्मेति सिद्धान्त , ननु लाघवाच्छास्त्रयोनीत्येव सुवचम्, तथा च शास्त्रयोनि वेदप्रमाणकं ब्रह्मेतार्थसिद्धिरिति चन्न। नानुमानादिगम्यं ब्रह्म शास्त्रयोनित्वादितीतर-प्रमाणविघातकहेतुनिर्देशात्। ननु नानुमानादिगम्यमिति कुतो लभ्यत इति चेत्, पूर्वोक्तकार्यत्वलिङ्गेन जगत कर्तृजन्यत्वसाधके नानुमानगम्यं ब्रह्मेति शङ्का जाता तन्निवारणार्थाधिकस्तत्पदलाभ 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति सर्वे वेदा यत्रैकीभवन्ति तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'। नावेदविन्मनुते त बृहन्तम्' इत्यादि श्रुतिभ्य । 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य ', 'वेद रामायणे चैव भारत पञ्चरात्रके। आदावन्ते च मध्ये च हरि सर्वत्र गीयत', नमाम सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वतीत्यादिस्मृतिभ्यश्च।

ब्रह्मको जानना अनुमान आदि प्रमाणोंमे साध्य है ? या वेद-प्रमाणम ? इस सशयम यदि अनुमानम उन्नत योग्य करें तो परलोक यात्राका भी पहुँच नहीं है ऐसा सुना जाता है। अत ब्रह्म अनुमान आदिस उन्नत साध्य नहीं है। वे

प्रमाणसे हा जानने योग्य है, क्योंकि ब्रह्मका शास्त्रयोनित्व हानेसे शास्त्रका अर्थ है यद यानिका अर्थ है कारण एव ज्ञापक तथा 'त्व' प्रत्यय भावमें है वह अथान्तरके निवारणार्थ है। अर्थात् वेद-प्रमाणके अतिरिक्त अन्य प्रमाण नहीं हो सकता। एकमात्र वेद-प्रमाणक हा ब्रह्म है—यह सिद्धान्त है। लाघव हानेस 'शास्त्रयानि' इतना ही सूत्र उचित था 'त्यात्' इतना क्यों बढाया? 'वेदप्रमाणक ब्रह्म' यह अर्थ हा ही जाता है। उत्तर है—'अन्य प्रमाणोंके निषेधार्थ बढाया है।' पुन शका है कि ब्रह्मका अनुमानादि प्रमाणगम्य न हाना कहाँस लिया? पूर्वसूत्र 'जन्माद्यस्य यत' मे जगत्का कार्यत्व कहा गया है जा कर्तृजन्य है। जिससे ब्रह्मके अनुमानगम्य हानेकी शका होती है। तन्निवारणार्थ अर्थसे अनुमान-प्रमाणद्वारा जानने योग्य नहीं है। जिस पदका समस्त वेद प्रतिपादन करते हैं और जिस पदमें समस्त वेद एकीभावसे एकवाक्यताको प्राप्त करते हैं, उपनिषदोंमें बताये गये उस पुरुषको मैं पूछता हूँ। वेदका न जाननेवाले ब्रह्मका मनन नहीं कर सकते—इन श्रुति-वचनोंसे तथा 'सब वेदोंसे मैं ही जानने योग्य हूँ। वेद रामायण महाभारत पञ्चरात्र—इन सभीके आदि-मध्य और अन्तमें सर्वत्र मेरा ही गान किया गया है उस परमात्माको हम नमस्कार करते हैं जिसमें सब शास्त्रीय वचनोंकी शाश्वती प्रतिष्ठा समन्वित है—इन स्मृति-वचनोंसे भी एकमात्र सर्वशास्त्रोंमें प्रतिपाद्य ब्रह्म है।

इसी प्रस्तुत सूत्रके भाष्यके अग्रिम प्रकरणमें और भी स्पष्ट कर दिया है यथा—

'कृत्स्नस्य तु विश्वस्य वेदं विना कार्यत्वमप्रसिद्धमतो जगत्कर्ताऽपि वेदादेव ज्ञातुं शक्यो नत्यनुमानसहस्रेण। न च प्रत्यक्षप्रमाणगम्यं ब्रह्म, तद्ग्रहणे हि साधारणानामिन्द्रियाणाम-सामर्थ्यात्। 'नेन्द्रियाणि नानुमानम्' 'नैषा तर्केण मतिरापनया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रष्ठति श्रुते। हे प्रष्ठ! एषा ब्रह्मविषया मतिस्तर्केण न निरस्या। यद्वा न प्राप्तुं योग्या। अन्यन वेदविदा सर्वज्ञेनाचार्येण प्रोक्ता सुज्ञानाय भवतीत्यर्थ। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इत्यादिसूत्रात्। अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति मनुस्मृते। अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्। नाप्रतिष्ठिततर्केण गम्भीरार्थस्य निश्चय इति महाभारताच्च। किंच सर्वज्ञैर्मन्त्रैः ऋषिभिश्च साकल्येन सर्वथाऽगम्यं दुर्बोधमचिन्त्यानन्त गुणशक्त्यादिमज्जगत्कारणं ब्रह्मानुमानादिप्रमेयमिति कोऽनुन्मत्तो ब्रूयात्। न च 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतीनां का गतिरितिशङ्क्यम्। तासामियत्तावच्छिन्नं ब्रह्मेत्यर्थपरत्वात्। वक्ष्यति च 'प्रकृतैतावत्त्वं हीति' सूत्रे। शास्त्रस्य योनि शास्त्रयोनिरिति विग्रहेऽप्ययमेवार्थ सर्वज्ञब्रह्मणि श्वसितैरन्तरङ्गैर्वेदैरेवं ब्रह्म वेद्यम्, न बहिर्भूतैरन्य-कल्पितानुमानादिभिरितिफलितोऽर्थ। अत्रास्य सूत्रस्य 'अस्य महतो भूतस्य नि श्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेद' इति वाक्यं विषय। न चास्मिन्नर्थे वेदानां नित्यत्वहानि, नित्यसिद्धानां निगमनमात्रस्वीकारात्, 'वाचा विरूप नित्यया।' 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यत सर्वा प्रवृत्तय इति श्रुतिस्मृतिभ्याञ्च। अनेन ब्रह्मणोऽप्राकृतो नित्यो विग्रह सूचित। प्राकृतसृष्टे पूर्ववर्तिना वेदस्य तन्नि श्वसितत्वात्। एतदुपरिष्टाद् वक्ष्याम। तत्सिद्धं वेदैकप्रमाणकं ब्रह्मेति।

सम्पूर्ण विश्वका कार्यत्व वेदके विना प्रसिद्ध नहीं है इसलिये जगत्का कर्ता भी वेदसे ही जाना जा सकता है हजार अनुमानसे भी नहीं जाना जा सकता। ब्रह्मको प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं जाना जाता क्योंकि ब्रह्मका प्रत्यक्ष ज्ञान साधारण इन्द्रियोंकी सामर्थ्यसे बाहर है। ब्रह्म-ज्ञानमें न इन्द्रियाँ समर्थ हैं न अनुमान समर्थ है। तर्कद्वारा यह ब्रह्मविषयक बुद्धि अपनेय नहीं है। हे प्रिय शिष्य! तर्कानुमानसे अन्य प्रमाण ही सुज्ञानके लिये है। श्रुति-वचन एवं तर्क आदिसे अतिरिक्त, वेदके तत्त्वज्ञ सर्वज्ञ आचार्योंद्वारा उक्त ब्रह्मविषयक ज्ञान समीचीन होता है। हे प्रिय शिष्य! 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इस सूत्र-वचनके अनुसार तर्कका प्रतिष्ठा नहीं है। मनुस्मृतिका वचन है—'जो भाव चिन्तनमें नहीं आते उनको तर्कसे नहीं साधना चाहिये।' महाभारतमें लिखा है—'गम्भीर अर्थका निश्चय अप्रतिष्ठित तर्कके द्वारा नहीं होगा।'

और भी— सर्वज्ञ मन्त्रोंद्वारा ऋषियोंद्वारा तथा सम्मिलित साधनोंसे जो सर्वथा अप्राप्य अनय और दुर्बोध है अचिन्त्य अनन्त गुणवाला अनन्त शक्तिवाला जगत्का धारण ब्रह्म अनुमान आदि प्रमाणोंसे ज्ञेय है। इस प्रकारके वचन कौन प्रबुद्ध पुरुष कहेगा? अर्थात् उन्मादरहित प्रबुद्ध पुरुष ऐसा कभी नहीं कहेगा। अब यह शंका न करें कि जहाँ वाणीकी पहुँच नहीं है इस श्रुति-वचनकी क्या गति होगी क्योंकि ऐसी श्रुतियाँ इयत्तावच्छिन्न ब्रह्म एतदर्थपरक हैं। अग्रिम सूत्रमें कहा भी है—'प्रकृतैतावत्त्वं हि' और शास्त्रस्य योनिरिति —इस विग्रहमें भी यही अर्थ है। सर्वज्ञ ब्रह्मके नि श्वसित अन्तरङ्ग वेदोंसे ही ब्रह्म वेद्य है बहिर्भूत

अन्य कल्पित अनुमानादिसे नहीं—यह फलितार्थ है। इस सूत्रका महद्भूत परमात्माके नि श्वसित ऋग्वद यजुर्वेद सामवेद इत्यादि श्रुति-वाक्य ही विषय हैं। परमात्माके नि श्वास-रूप वेदाको माननसे वेदाका प्रकट होना कहा गया। अत वेदोके नित्यत्वकी हानि होगी यह शका न करें, क्याकि नि श्वासका अर्थ श्वासका निर्गमन है, जो पूर्व-सिद्धका रेचन होनेसे निर्माण नहीं है। श्रुति एव स्मृतिवचनोके अनुसार विरूप नित्य-वाणी, अनादि अनिधन दिव्य वेदमयी नित्य-वाणी आदिमे स्वयम्भूद्वारा उत्सृष्ट हुई जिससे सम्पूर्ण व्यवहार चला। इससे ब्रह्मका अप्राकृत नित्य-विग्रह सूचित है। उसका नि श्वास होनेसे प्राकृत सृष्टिक पूर्ववर्ती वेदका वर्णन हम आगे करगे। इससे एकमात्र वेदोके प्रमाणसे ब्रह्म वेद्य है, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार 'वेदान्तपारिजातसौरभ' एव 'वेदान्तकौस्तुभ'—इन भाष्यद्वयमें अनेक स्थलापर वेद-प्रामाण्यका निर्वचन अतीव उत्कृष्टतम हुआ है। वस्तुत शब्द-प्रमाण अर्थात् शास्त्र-प्रमाण और शास्त्र-प्रमाणम भी श्रीभगवनि श्वासभूत वद-प्रमाण ही सर्वतोमुख्य है। प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणमूलक होते हैं, इसीलिये वदान्तदर्शनमें वेदादि शास्त्र-प्रमाणको परम श्रेष्ठ माना गया है। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यवर्यने तथा आप श्रीके ही परमपट्ट शिष्य 'वदान्तकौस्तुभ'-भाष्यकार श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराजने 'ब्रह्मसूत्र'-भाष्यमें अनक स्थलोंपर वेद-प्रामाण्यका निरूपण किया है। श्रीनिम्बार्कभगवान्के परवर्ती आचार्यप्रवरा तथा निम्बार्क-सिद्धान्त-सम्पोषक विशिष्टमूर्धन्य धीर-पुरुषोंने श्रीनिम्बार्क-माहात्म्य-वर्णन-प्रसगमें श्रीनिम्बार्कभगवान्को वेदवेदाङ्गपारग इत्यादि दिव्य वचनोंसे आपके वेदज्ञताका प्रख्यापन किया है जिसके कतिपय उद्धरण परम मननीय हैं—

> वेदाध्ययनविख्यात परमार्थपरायण ।
> श्रीकृष्णप्रियदासश्च श्रीकृष्णे कृतमानस ॥
>
> (श्रीलघुस्तवराजस्तोत्र श्लो० १३)

श्रीनिम्बार्कभगवान् वदोंके अध्ययनमें विख्यात हैं परमार्थ (भगवत्प्राप्ति)-में परायण हैं श्रीकृष्णभगवान्क प्रिय दास हैं और श्रीकृष्णभगवान्में ही जिनका सदा मानस है (मन लगा रहता है)।

> आम्नायनि श्वासवरौ प्रभू वा काश्येशशिष्यत्वमजादिशिक्षौ।
> देवर्षिशिष्याय नमा नमस्ते तस्मै नमस्ते श्रुतिरक्षकाय॥
>
> (श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति श्लोक ४३)

नि श्वास-श्रुति-समूहम श्रेष्ठ प्रतिपाद्य प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र और बलभद्र—इन दानाने सान्दीपनकी शिष्यता ग्रहण की थी, वैसे ही श्रुतिरक्षक (वदकी मर्यादाको पालनेवाल) श्रीनारदजीके शिष्य आपको बारबार नमस्कार है।

> वेदानुसारी वेदार्थो वेदवेदाङ्गपारग ।
> वेदविधानसारज्ञो वेदान्तार्थप्रदर्शक ॥
>
> (श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र श्लोक ११)

वेदोंका अनुकरण करनेवाल वेदाके अर्थरूप वदा और शिक्षाकल्प आदि वदाङ्गोमें पारङ्गत वेदाके विधानाके सारका जाननेवाल सत्-शास्त्राके अर्थोंके प्रवर्तक श्रीनिम्बार्क-भगवान् हैं।

> राधाकृष्णयुगोपासी राधाकृष्णोपदेशक ।
> वेदस्थो वेदसज्ञाता वदवेदाङ्गपारग ॥
>
> (श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र श्लोक १२)

श्रीराधाकृष्णकी युगल उपासना करनेवाल श्रीराधाकृष्णका ही उपदेश करनेवाले वदाम स्थित रहनवाले वेदोंके सम्यक् ज्ञाता वदों और वेदाङ्गोम पारङ्गत श्रीनिम्बार्क-भगवान् हैं।

> वेदेङ्गितरसास्वादी वेदान्तहार्दसारवित्।
> निगमागमसारज्ञ सच्छास्त्रार्थप्रवर्तक ॥
>
> (श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र श्लोक ३६)

श्रीनिम्बार्कभगवान् वदोंमें निर्दिष्ट वस्तुक रसका आस्वादन करनेवाले वदाके प्रेय पदार्थोंक सारको जाननवाल वदा और तन्त्रशास्त्राके सारका जाननवाल सत्-शास्त्रोंक अर्थका ससारमें आचरण सिखानवाल हैं।

इसी प्रकार विविध रूपस निम्बार्क-सिद्धान्तपरक ग्रन्थोंमें श्रीनिम्बार्कभगवान्का सर्ववित्ता वदमयता आदिका निरूपण हुआ है। वस्तुत श्रीनिम्बार्कभगवान्द्वारा समुपदिष्ट वेद-प्रामाण्यका प्रतिपादन जिस रूपमें दृग्गोचर हो रहा है वह नितान्तरूपसे तत्त्वज्ञ मनीषीजनोंद्वारा सर्वदा मननीय है।

वैदिक धर्म-संस्कारों एवं संस्कृतिका समग्र जन-जीवनपर प्रत्यक्ष प्रभाव

(जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी श्रीश्यामनारायणाचार्यजी महाराज)

वेदमें एक लाख मन्त्र हैं। अस्सी हजार मन्त्र केवल कर्मकाण्डका निरूपण करते हैं, जबकि सोलह हजार मन्त्र ज्ञानका निरूपण करते हैं। मात्र चार हजार मन्त्र उपासनाकाण्डके हैं।

मूलरूपसे वेदमें दो भाग हैं—पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा अर्थात् अस्सी हजार मन्त्र कर्मकाण्डका निरूपण करते हैं। कर्मकाण्ड-निरूपणके आदिमें लिखा हुआ है 'अथातो धर्मजिज्ञासा' और यहींसे मानव-जीवनका संस्कार आरम्भ होता है। गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त सोलह प्रकारके संस्कारोंका निरूपण वेद करता है।

वास्तवमें, वेदमें वर्णित संस्कार-विधिके अनुसार यदि माता-पिता अपने बच्चोंको सुसंस्कृत करें तो वह बालक सच्चा मानव बन सकता है। भगवान्‌ने मनुष्य-शरीर इसलिये प्रदान किया है कि तुम वेदानुकूल आचरण करो तभी तुम मानव बन सकोगे। वेद-विरुद्ध आचरण होनेपर मानवका मानव-धर्म निभाना असम्भव है क्योंकि शास्त्रवचन है—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।' तात्पर्य यह कि आचारहीन व्यक्ति न पवित्र होते हैं और न पवित्र आचरण करते हैं। तथा 'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।' बाल्यावस्थामें जो संस्कार प्राप्त होता है वह अमिट होता है। परंतु बालकोंको अच्छे संस्कार मिलने धीरे-धीरे गुरुकुल-आश्रमोंमें भी बंद हो रहे हैं, क्योंकि उनमें भी विलासी लोगोंके आवागमनसे आश्रमके वातावरणमें अन्तर पड़ता जा रहा है। धर्मका उपदेश करनेवाले गुरुजनोंमें भी भौतिकताकी आँधी चलनी शुरू हो गयी है। इसलिये पहलेकी अपेक्षा यद्यपि आज लाखों शिक्षा देनेवाले कथा सुना रहे हैं, योगकी शिक्षा दे रहे हैं, वेद-वेदान्तका अध्ययन करा रहे हैं फिर भी आजकलका बालक संस्कारहीन होता जा रहा है।

परंतु एक समय वह था जब कि लोग रुपये खर्च करके टी०वी० का सीमाओंको देखनेसे इन्कार करकर भागते थे परंतु आज घर-घर टी०वी० प्रवेश करके जन-जनके मन-वाणी तथा इन्द्रियोंपर अपना प्रभाव स्थापित करता चला जा रहा है। इसमें टी०वी० की निन्दा नहीं है क्योंकि टी०वी० से तो संसारके सभी बातोंकी जानकारी होती है परंतु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। समझदार व्यक्ति टी०वी० से समाचार सुन लेता है तथा धार्मिक सीरियल भी देख लेता है परंतु छोटे बच्चोंकी बुद्धि अपरिपक्व होती है वे अच्छी बातोंका कम ग्रहण कर पाते हैं और बुरी बातें बुद्धिमें शीघ्र जमा लेते हैं।

जहाँ टी०वी० के द्वारा प्रसारित श्रीराम-कृष्ण आदिके सीरियलसे कुछ लोगोंको अच्छी बातोंकी जानकारी मिली है वहीं साठ प्रतिशत बच्चोंका संस्कार अश्लील चित्रादि देखनेसे बिगड़ा भी है। इसका मूल कारण है माता-पिताका बच्चोंके प्रति लापरवाही तथा अधिक लाड़-प्यार करना। जिन माता-पिताको स्वयं संस्कार नहीं प्राप्त हुआ है वे अपने बच्चोंको कहाँतक अच्छे संस्कार दे सकते हैं। ऐसे माता-पिता तो जन्म दे सकते हैं परंतु अच्छे संस्कार तो सैकड़ों-हजारोंमें कोई एक सुसंस्कृत माता-पिता ही दे पाते हैं। वेद, शास्त्र, रामायण तथा गीतापर हजारों हिन्दी और अंग्रेजीमें टीकाएँ हो चुकी हैं तथा होती भी जा रही हैं परंतु अच्छे संस्कार बहुत कम लोगोंको प्राप्त हो रहे हैं। इसका मूल कारण है—उपदेश देनेवाले संत-विद्वानों तथा माता-पिताका स्वयं अच्छे आचरणके बिना उपदेश देना। यदि ऐसा ही चलता रहा तो धीरे-धीरे आजका बालक बिगड़नेके अलावा सुधर नहीं सकता। जहाँ पूर्वकालमें विदेशी लोग जिस ज्ञान तथा भक्तिकी भूमि भारतसे शिक्षा प्राप्त करके आगे बढ़े थे वहीं आज भारतके मानव-समाजका पतन हो रहा है। भारतका अनुकरण करनेवाले विदेशी भारतके आचरणको ग्रहण करके हमसे आगे बढ़ते जा रहे हैं।

हम स्वयं अपने शास्त्र वेद-पुराणोंमें विश्वास नहीं है क्योंकि हम सभीका संस्कार नष्ट होता जा रहा है। अब

'गीताप्रेस'-जैसे सस्थानमे जिस प्रकार अच्छी-अच्छी पुस्तकोंका प्रकाशन रामायण-गीताकी परीक्षा अच्छी-अच्छी कथानक-पुस्तकोंका प्रकाशन तथा रामनाम-जप-सकीर्तन आदिसे लाखा लोगोंका मन परिवर्तित हुआ है, यदि इसी प्रकार स्वयसेवी सस्थाओं एव सत महापुरुषोंके आश्रमोंमें भी अच्छे आचरण करनेवाले विद्वानों एव सतोंके द्वारा सस्कार देनेके साथ-साथ वेदानुकूल आचरण कराये जायँ तो मानवका विकास होना सम्भव है। धन-दौलत-कुटुम्ब और परिवार बढानेसे मानवकी उन्नति नहीं होगी। रावणके पास तो सोनेकी लका थी, परतु सस्कारहीन होनेसे लकाका एव उसके सारे कुटुम्ब-परिवारका नाश हो गया। उसी परिवारमे विभीषणको अच्छे सस्कार सत-महात्माओंके द्वारा मिला जिसके कारण स्वय परमात्मा श्रीराम उसके पास मिलने आये और जब परमात्मा मिल गये तो सारे ससारका वैभव भी मिल गया।

वेदकी ऋचाओंमे भगवत्तत्त्वदर्शन

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपालवैष्णवपीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
त॰ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(श्वेता० ६। १८)

सर्वश्रुतिशिरोजुष्टं सर्वश्रुतिमनोहरम्।
सर्वश्रुतिरसाश्लिष्टं श्रौतं श्रीकृष्णमाश्रये॥

अखिलब्रह्माण्डनायक, सकलजगत्-पालक सृष्टि-सहारकारक देवकी-वसुदेव-बालक भक्तजनसुखदायक श्रीगोपाल-ब्रह्म-वाचक कृष्णचन्द्रभगवान् ही परिपूर्ण पुरुषोत्तम कहलाये हैं। वे षोडशकलासे युक्त हैं। अष्टसिद्धि षडैश्वर्य लीला-कृपाशक्तिसे सम्पन्न श्रीकृष्णचन्द्र षोडशी तत्त्व हैं।

तत्त्वज्ञानी महापुरुष उसी परम तत्त्वको वेदान्त-रीतिसे ब्रह्म स्मृतियोंमें परमात्मा तथा पुराणोमे भगवान् शब्दसे अभिहित करते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा० १। २। ११)

उन्हींके नि श्वाससे वेदोकी रचना हुई है अत साधारण पुरुषद्वारा कल्पित न होनेसे वेद अपौरुषेय हैं। जिसके द्वारा उस परम तत्त्वका ज्ञान होता है। वद ज्ञानार्थक विद धातुसे निष्पन्न होता है। सभी वेदोंका तात्पर्य परम ब्रह्ममें है। इस श्रीमद्भगवद्गीताके वाक्यसे इसीकी सम्पुष्टि होती है— वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।

वेद भगवान्की आज्ञारूप हैं। 'वेदा ब्रह्मात्मविषया'— इस भागवतीय श्रुतिसे जीव-ब्रह्मका स्वरूप निरूपित होता है। वेदोके आदि-मध्य तथा अवसानमें सर्वत्र हरिका ही यशोगान है। नाना नाम-रूपोमें उन्हींकी अभिव्यक्ति है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु ॥
(ऋक्० १। १६४। ४६)

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वदेवमय हैं। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमे सभी देवोका निवास है। वे भी सभीके अन्तर्गत हैं। उनसे रहित चराचर-जगत्मे कोई भी वस्तु नहीं है। इसी सर्वव्यापकताके कारण वे विष्णु-ब्रह्म-नारायण-वासुदेव आदि नामोसे व्यवहृत होते हैं। वे सभीको देखते रहते हैं परंतु उन्हे कोई नहीं देख पाता शुभाशुभ-कर्मोंके साक्षी होनेपर भी उनकी ज्ञानदृष्टि कभी कहीं लिप्त नहीं होती—

यच्च किंचिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायण स्थित ॥

बिना भगवदिच्छाके उनका जानना कठिन है। दिव्य वस्तु दिव्य दृष्टिसे ही दृष्टिगोचर होती है। भगवान्ने अर्जुनको दिव्य दृष्टि प्रदान की थी तभी वह उनके विश्वरूपको देखनेमे समर्थ हुआ—

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
(ऋक्० १०। ९०। १)

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वा प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभि सं विवेश॥
(यजुर्वेद ३२। ११)

उपर्युक्त मन्त्रोंसे सिद्ध होता है कि जगत्‌में व्याप्त होकर भगवान् विष्णु सभीके हृदय-कमलमें विराजमान हैं।

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
(ऋक्० १०। ११४। ४)

अर्थात् वह अद्वितीय परम तत्त्व सुपर्ण—सुन्दर कमलदलके समान चरणारविन्दवाले, समुद्रके समान गम्भीर हृदय-कमलमें प्रविष्ट होकर परिदृश्यमान जगत्‌को साक्षात् देखते हुए उन सभी प्राणियोंके अन्तर्गत स्थित होकर अपनी चित्-शक्तिसे सभीको सचेष्ट करनेवाले कृष्णके निकट दौड़े—

'तं भूतनिलयं देव सुपर्णमुपधावत'
(उपनिषद्)

रासपञ्चाध्यायीके गोपीगीतमें श्रुतिरूपा गोपियाँ रसिकशेखर श्रीराधासर्वेश्वर श्यामसुन्दरसे कहती हैं कि—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

अर्थात् हे सखे! आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हैं प्रत्युत सभी देहधारियोंके अन्तर्यामी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर विश्वके पालन-हेतु आप यादव-कुलमें अवतीर्ण हुए हैं।

गोपियाँ वेदोंकी ऋचाएँ हैं। उनका गोपीभाव प्राप्त करनेका कारण बृहद्वामनपुराणमें उल्लिखित है—एक बार मूर्तिमती श्रुतियाँ कोटिकाम-लावण्य-धाम घनश्यामकी रूपमाधुरीपर मोहित हो गयी थीं कामिनीभावको प्राप्त होकर वे उनसे रमण करनेकी प्रार्थना की थी। भक्तवत्सल भगवान्‌ने उन्हें सारस्वत कल्पमें व्रजमें गोपीभाव प्राप्त करनेका वरदान दिया था। अतः श्रुति-रूपा गोपियोंको उनके स्वरूप गुण आदिका भान हो गया इसलिये अन्तरङ्गपद्वार शक्त्या प्रधान भगवत्स्तवन किया है।

वरदान पाकर श्रुतिरूपा गोपियाँ व्रजमें जाकर मनोवाञ्छित फल पानेके लिये उद्यत हुई तथा परस्पर विचार कर बोलीं—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥
(ऋक्० १। १५४। ६)

अर्थात् जहाँ सुवर्णमय बड़े-बड़े सींगोंवाली गायें हैं, वह वृष्णिधुर्य श्रीकृष्णका परम धाम अति प्रकाशमान है जिसमें वेदोंका बहुधा गुणगान होता है और जो गोपोंके सुन्दर भवनोंसे अलंकृत है—वहाँ चलें। इस प्रकार कहकर श्रुतिरूपा गोपियाँ व्रजमें आयीं तथा श्यामसुन्दरकी साँवरी सूरत मोहिनी मूरत बाँसुरीपूरितपर मुग्ध हो गयी थीं। वृन्दावनमें यमुना-पुलिनपर रासविहारीके साथ रासलीलामें सम्मिलित हो गयीं। जब रासमें विह्वल हो गयीं तो सर्वेश्वर श्यामसुन्दर अन्तर्धान हो गये। इसके बाद उन्मत्तवत् वन-वनमें ढूँढती हुई निराश होकर रुदन करती हुई कहती हैं—

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभि पौंस्यं रणम्।
अवृश्चदद्रिमव सस्यदः सृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम्॥
(ऋक्० १०। ११३। ४)

अर्थात् आपने जन्मसे ही सभी स्पर्धालु विरोधी शत्रुओंको पछाड़ कर, गिरिराज गोवर्धनको अपने वाम करपर धारण कर, इन्द्रकी प्रलयकारी शक्तिका स्तम्भन करके सम्पूर्ण व्रजकी रक्षा की है। आपने दैत्यदमन, नागदमन, इन्द्रदमन, कालियमर्दन, कंस-निकन्दन आदि नाम अपने वीर्य शौर्यसे अर्जित किये हैं। हम तो अबला हैं, हमपर पौरुष दिखानेमें आपका क्या प्रयास है? अतः प्रकट होकर हमारे हृदयकी पीड़ा दूर कीजिये।

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद्
वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभया
दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। ३)

रूपरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूप प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरय शता दश॥
(ऋक्० ६। ४७। १८)

जिस समय भगवान् बाल-कृष्ण ग्वालबालों एव गौओ तथा बछड़ोंको लेकर वेणु बजाते हुए मधुकरोंकी मधुर झकार, विविध विहगमोंकी चहचहाहट मत्त कोकिलोके कलरवसे सुशोभित वृन्दावनम प्रवेश कर बछडाको पानी पिलाकर शीतल छायादार विटपी-विटपासे अलकृत रमणीक स्थलपर कलेवा करनेक लिय बैठे थे, तब लोकपितामह ब्रह्माजीने ग्वालबालों एव गौओ-गोवत्सोको हरण कर अपनी मायासे मोहित कर दिया। तब योगेश्वर श्रीकृष्णने ब्रह्माकी माया समझ ली थी।

अत उन्होने ग्वालबालोंकी माताओको प्रसन्न करनेके लिये ग्वालबालों-जैसा रूप-वेप-वेणु-लकुटी विषाण अङ्ग-प्रत्यङ्ग धारण कर और बछडा-गौओ-जैसा बनकर नन्दगाँवमे प्रविष्ट हुए। इस रहस्यको कोई भी नहीं जान सका पर जब कन्हैयासे दाऊ भैयाने एकान्तमे पूछा तो महामायावी कृष्णने कटाक्षसे उन्हे बताया कि—'सर्वस्वरूपो बभौ' (श्रीमद्भा० १०। १३। १९)। उधर जब ब्रह्माजीने देखा कि ये ग्वालबाल एव गौएँ-बछडे कहाँसे आये मैंने जिन्हे हरण किया था वे तो अभी सोये पडे हैं। 'सत्या के कतरे नेति ज्ञातु नेष्टे०' (श्रीमद्भा० १०। १३। ४३)—वे ही हैं या अतिरिक्त हैं इस सत्यको जाननेमें वे असमर्थ हो गये। ब्रह्मा अपनी मायाके बलपर अपना वैभव देखना-दिखाना चाहते थे, परतु उलटे वे स्वयं ही भगवान्‌की मायाम फँस गये अन्तमें उन्होंने हस-वाहनसे उतरकर क्षमा-याचना की—

अत क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिन ।
(श्रीमद्भा० १०। १४। १०)

सर्वान्तर्यामिन्! आपकी प्रेरणासे सभी जीव सचेष्ट होते हैं। आप सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं और सभी परतन्त्र हैं। आपके अभिप्रायको कोई नहीं जानता है—'का जानाति चिकीर्षितम्' आपकी मायासे तो विवेकी भी मोहित हो जाते हैं— मुह्यन्ति यत्सूरय '।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टि ।
(ऋक्० १०। १२९। ६)

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। २१)

तीनो लोकोंमे आपकी लीलाएँ कहाँ और कैसे तथा कितनी और कब हुईं, यह कौन जान सकता है? जो आपका कृपापात्र है वही जान सकता है। प्राणेन्द्रियोकी तृप्तिम लिप्त प्राणी नहीं जान सकता। यह घोषणा करती हुई ऋचा कहती है—

न तं विदाथ य इमा जजानाऽन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥
(ऋक्० १०। ८२। ७)

जो इस दृश्यमान जगत्‌का रचता है जो तुम्हारे हृदयके अंदर अन्तर्यामी-रूपसे स्थित है, उस प्राण-पोषक विषयी जन नहीं पहचानते। जैसे कुहरके अन्धकारम निकटका भी वस्तु नहीं दीखती वैसे ही अज्ञानान्धकारमे ढका प्राणी अपने हृदयमें भगवान्‌का नहीं पहचान पाता।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव ॥
(गीता ५। १५)

अत अज्ञानतिमिरसे अन्धे जीवोको गुरु-गोविन्दके चरणकी शरणम जाकर अपने स्वरूपको जाननेके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

'शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु ॥
'मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और मुझे कभी किसी प्रकारका भय न हो। (अथर्वा० १९। ९। १३)

वेद-कथाका माङ्गलिक स्वरूप

(श्रीगोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

वेद ज्ञानस्वरूप हैं। कर्म भक्ति ज्ञानका समन्वयात्मक तात्पर्यवाला वेदसम्मत जीवन-दर्शन ही यज्ञ है। यज्ञ उत्कृष्टतम मानवीय, दैवत जीवन-परिवेशका दिव्यतम प्रतीक है, जिसका वेद वेदाङ्ग आरण्यक ब्राह्मण उपनिषदोंमें सम्यक् आचार-विचार, श्रुति-श्रौत-कर्मके रूपमें स्वच्छ निदर्शन उपलब्ध होता है। वेद-कथा इसी निदर्शनका साङ्ग अपने समस्त अङ्गोंका अपरिहार्य उपबृंहण मात्र है। वेद-कथा ही वैदिक संस्कृति—वेदसम्मत आचार-विचारकी स्वरूप-निर्देशिका है। यज्ञ ही वेद हैं वेदका स्वरूप है सृष्टि-विधाता ब्रह्मा आदि त्रिदेव—ब्रह्मा विष्णु, महेशके पवित्र उच्छ्वासका अमृत-संजीवन है। हमारे समस्त संस्कारकी प्राण-वैभवा वेद-कथाएँ आचार-विचारका संवाहक हैं। यह वैदिक जीवन-पद्धति-संस्कृति ही अखिल विश्वका चैतन्य विलासामृत है। निःसंदेह वेद ही परमात्मस्वरूप है। श्रुतिप्रतिपादित श्रौतकर्म श्रौतभाव (श्रद्धा-विश्वास) श्रौत- ज्ञानका स्मार्त जीवन-दर्शन है इसी तरह षड्दर्शन-सांख्य योग न्याय वैशेषिक उत्तरमीमांसा पूर्वमीमांसा तथा अद्वैत शुद्धाद्वैत द्वैताद्वैत विशिष्टाद्वैत द्वैताद्वैत-विवर्जित सिद्धसिद्धान्त-दर्शन शाक्त शैव वैष्णव सभी दर्शनोंका सम्यक् निवृत्तिके आधारपर ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद समस्त उपनिषदों तथा आरण्यक एवं ब्राह्मण ग्रन्थोंमें वर्णित जीवन-पद्धति आचार-विचारके ही अक्षरशः पर्याय हैं।

यद्यपि चारों वेद—ऋक् यजु साम तथा अथर्व और उसके ब्राह्मण आरण्यक आदि उपाङ्गोंमें यज्ञ तथा यज्ञ ब्रह्मका ही विस्तारसे अभिव्याकरण हुआ है तथापि साक्षात् भगवान्‌के श्रीमुखका वचनामृत है कि स्वात्मक सामवेद ही मेरा स्वरूप किया और ज्ञान है—

वेदानां सामवेदोऽस्मि।

(गीता १०। २२)

इस भावसे [illegible] सम्यक् निवृत्ति [illegible] उपलब्ध है जो [illegible] है—

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-

र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो

यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

(श्रीमद्भा० १२। १३। १)

ब्रह्मा वरुण इन्द्र रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तोत्रोंद्वारा जिनकी स्तुति करते हैं सामवेदके गानेवाले अङ्ग, पद क्रम और उपनिषदोंके सहित वेदोंद्वारा जिनका गान करते हैं योगिजन परमात्माके ध्यानमें स्थित तद्गत-मनसे जिनका दर्शन करते हैं देवता और असुरगण (कोई) भी जिनके अन्तको नहीं जानते उन स्वयम्प्रकाश परमात्माको मेरा नमस्कार है।

अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति साधुसंगति वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ मनपर विजय पानेके लिये निश्चितरूपसे दृढ उपाय हैं।

आर्ष योगदर्शनमें इस वेदानुशासनका निर्देश है कि जो क्लेश कर्म विपाक और आशयके सम्बन्धसे रहित तथा समस्त मुक्त पुरुषोंसे उत्तम है वह ईश्वर है। उसमें सर्वज्ञताका कारण (ज्ञान) निरतिशय है वह सब पूर्वजोंका गुरु—आदि-अनादि गुरु है। उसका कालसे अवच्छेद नहीं है। वह अनादि—अकाल है। उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव है। उसका जप और अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥

(योगदर्शन १। २४—२८)

यह [illegible] तथा [illegible] सम्मत एक ही सच्चिदानन्दस्वरूप अनन्त निरंजन परमेश्वरका [illegible] है उनका निरंजन [illegible] ही हमारे

महायोगी गोरखनाथद्वारा प्रतिपादित द्वैताद्वैत-विलक्षण-दर्शन सर्वोपरि है। यह नाम-रूपसे परे है—

एक सत्तापूरितानन्दरूप
पूर्णो व्यापी वर्तते नास्ति किंचित्।
एतज्ज्ञान य करोत्येव नित्यं
मुक्त स स्यान्मृत्युससारदु खात्॥
(शिवसंहिता १। ९५)

आधिदैविक आधिदैहिक आधिभौतिक त्रयतापसे शमन ही जीवात्मा साधककी परमात्माम स्वरूपस्थिति है, वेदकथामें परमात्मचिन्तन-आचार-विचारकी सच्चिदानन्दायित्वका यही अप्रतिम आधार आर्य वेदोपवृह वाङ्मय है। ऋषिका वेदब्रह्म-प्रणव ब्रह्मके चरण-देशमे सस्तवन है—

अग्ने नय सुपथा राय अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठा ते नम उक्ति विधेम॥
(यजुर्वेद ५। ३६)

हे प्रकाशस्वरूप करुणामय प्रभो! आप हम धर्मके उपदेश-मार्गसे विज्ञान धन और सुख प्राप्त करनेके लिये सन्मार्गसे ले चलिये। समस्त उत्तम ज्ञानो मार्गों और लोकोको जानते हुए हमें असद्व्यवहारसे दूर रखिये। हम आपके स्तवन, आपकी महिमाका चिन्तन और वार-वार नमन करते हैं।

वेदाध्ययनका सार है सत्य-भाषण सत्य-भाषणका सार है इन्द्रिय-सयम और इन्द्रिय-सयमका सार है मोक्ष। यह सम्पूर्ण शास्त्रोका सदुपदेश—सदाचरण है।

इसो मोक्ष-पद-अमृतपदका प्रशास्त पथ-निदशन वेदवाङ्मयका प्राणामृत है—

सम्भूति च विनाशं च यस्तद्वेदोभयः सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥
(यजुर्वेद ४०। ११)

जिसमें अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं और अन्तम लान होते हैं—उसको जा एक साथ जान लता है वह स्वयक अदृश्य होनेके परम कारणको जान करके मृत्युक भयको पार कर अमृत-अविनाशी मोक्ष पदका प्राप्त कर लेता है।

सम्भूति और विनाश—सृजन और लयमे अतीत ऋग्वदमें सात आर्यमन्त्रोंम परमात्माके स्वरूप-कथा-वोधका वैलक्षण्य है। वैदिक आर्य दर्शनके स्तरपर विलक्षण निर्वचन है—

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीव कुह कस्य शर्मन्नम्भ किमासीद्गहनं गभीरम्॥
(ऋक्० १०। १२९। १)

प्रलय-कालमें असत् नहीं था। सत्य भी उस समय नहीं था, पृथ्वी-आकाश भी नहीं थे। तब कौन यहाँ रहता था। ब्रह्माण्ड कहाँ था गम्भीर जल भी कहाँ था।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत् प्रकेत ।
आनीदवात स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्न पर किं चनास॥
(ऋक्० १०। १२९। २)

उस समय न मृत्यु थी न अमृत हा था। रात्रि और दिन भी नहीं थे। वायुसे शून्य और आत्माक अवलम्बसे श्वास-प्रश्वासवाला एक ब्रह्म मात्र ही था। उसके अतिरिक्त सब शून्य था।

तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्र अप्रकेत सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥
(ऋक्० १०। १२९। ३)

सृष्टि-रचनास पूर्व सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार व्याप्त था। सब कुछ अज्ञात था। सब आर जल-ही-जल था। यह पूर्ण व्याप्त ब्रह्म अविद्यमान पदार्थसे ढका था। वह एक तत्त्व तपके प्रभावसे विद्यमान था।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
(ऋक्० १०। १२९। ४)

उस ब्रह्मन सर्वप्रथम सृष्टि-रचनाकी इच्छा की। उसम सबस पहल बीजका प्राकट्य हुआ। ज्ञानियों (मनिजनों)-न अपना बुद्धिस विचार कर अप्रकट वस्तुकी उत्पत्तिकी कल्पना की।

तिरश्चीना विततो रश्मिरेषामध स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात् प्रयति परस्तात्॥
(ऋक्० १०। १२९। ५)

फिर [illegible] पुण्यका [illegible] हुई [illegible] महिमाएँ प्रकट हुई। उन [illegible]

प्रशस्त हुआ। नीच स्वधाका स्थान हुआ और ऊपर प्रयतिका।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टि।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जननाऽथा को वेद यत आबभूव॥

(ऋक्० १०। १२९। ६)

प्रकृतिक तत्त्वका कोइ नहीं जानता तो उसका वर्णन कौन कर सकता है! इस सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण क्या है? विभिन्न सृष्टियाँ किस उपादान-कारणसे प्रकट हुईं? देवगण भी इन सृष्टियोंके पश्चात् हो उत्पन्न हुए, तब कौन जानता है कि यह सृष्टि कहाँसे उत्पन्न हुई?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

(ऋक्० १०। १२९। ७)

ये विभिन्न सृष्टियाँ किस प्रकार हुईं इतना रचनाएँ किसने कीं इस विषयमें इन सृष्टियोंके जो स्वामी हैं और दिव्य धाममें निवास करत हैं व जानते हैं। यह भी सम्भव है कि उन्हें भी ये सब बात ज्ञात न हों।

—इस नासदीय सूक्तम विदित होता है कि परमेश्वरकी जीवन-कथारूप उनका सृजन-सहार कितना निगूढ है। नासदीय सूक्त (कथा)-का स्पष्ट साङ्गोपाङ्ग अक्षर आर्षभाष्य है पुरुषसूक्त—जिसमें विराट्-अखिल ब्रह्माण्डनायककी महिमा द्योतित है उसके परमात्मा अनन्त हैं उन (वेद)-का कथा अनन्त है। विद्वान् अनन्त रूपोंमे उसकी व्याख्या—निर्वचन करते हुए अमृतपदमें प्रतिष्ठित रहते हैं।

वेदकथा-निर्वचनकी यही कसौटी है कि जो पुरुष सब प्राणियों और प्राणरहित जडपदार्थोंमें सर्वव्यापक परमात्माका विद्याभ्यास धर्माचरण और योगाभ्यासद्वारा साक्षात्कार कर लेता है तथा समस्त प्रकृति आदि पदार्थोंमें परमेश्वरको व्यापक जानता है वह कभी संदेहमें नहीं पड़ता—संशयसे परे होता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥

(यजु० ४०। ६)

जिस महाज्ञानकी दशामें समस्त प्राणी अपने आत्माके समान हो जाते हैं अपने हो समान दीखने लगते हैं उस एकता या समानताको प्रतिक्षण देखनेवाले विवेकी आत्मज्ञानी पुरुषके लिये न मोह रहता है, न शोक रह जाता है—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत॥

(यजुर्वेद ४०। ७)

वेद-कथाकी माङ्गलिक प्रेरणा है कि परमेश्वर सर्वव्यापक हैं। वे शुद्ध कान्तिमय परम शक्तिमय शीघ्र गति देनेवाले, स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे रहित, व्रणादिसे रहित स्नायु आदि दोषोंसे रहित निष्पाप पापमुक्त, क्रान्तदर्शी, मेधावी सबके मनको प्रेरित करनेवाले सर्वव्यापक, अपनी सत्तामे सदा विद्यमान अज हैं वे यथार्थ-रूपमें सनातन कालमे प्रजाओंके लिये समस्त पदार्थकी रचना करते हैं तथा उनका ज्ञान प्रदान करते हैं। वेदब्रह्मकी सर्वसमर्थता स्पष्ट है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरः शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्॥

(यजुर्वेद ४०। ८)

नाथयोग-दर्शन—द्वैताद्वैत-विलक्षण नाथयोग निर्वचन-सम्मत अलख-निरंजन सर्वव्यापक मायातीत स्वसंवेद्य परमात्माका यही माङ्गलिक—अपाप परम शुद्ध दर्शन है जो समस्त वेदवाङ्मयका अमृतत्व है। इस अमृतके रसास्वादनकी दिशामें माङ्गलिक शान्तिपाठ है—

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौ शान्तिराप शान्तिरोषधय
शान्तिर्वनस्पतय शान्तिर्विश्वे मे देवा शान्ति सर्वे मे
देवा शान्ति शान्ति शान्ति शान्तिभि।

(अथर्ववेद १९। ९। १४)

पृथिवी हमें शान्ति दे द्यौ जल औषध वनस्पति, विश्वेदेव सब देवता शान्ति दें इन सब शान्तियोंके अतिरिक्त मुझे शान्ति प्राप्त हो। इनके द्वारा विपरीत अनुष्ठानसे भयंकर प्राप्त होनेवाले फल—क्रूर पापमय फलको हम दूर करते हैं। सब मङ्गलमय हो शान्ति हो कल्याण हो।

वेद-कथाकी ऋषिदर्शनके क्षेत्रमें तात्पर्यगर्भितपूर्वक यही माङ्गलिक मन्तव्य सम्पूर्ण है।

वेद और श्रीमद्भगवद्गीता

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

वेद नाम शुद्ध ज्ञानका है जो परमात्मासे प्रकट हुआ है—'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (गीता ३। १५) 'ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता पुरा' (गीता १७। २३)। वही ज्ञान आनुपूर्वीरूपसे ऋक्, यजु आदि वेदोंके रूपसे संसारमें प्रकट हुआ है। वेद भगवद्रूप हैं और भगवान् वेदरूप हैं। उन वेदोंका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोंका सार श्रीमद्भगवद्गीता है। वेद तो भगवान्के निःश्वास हैं—'यस्य निःश्वसितं वेदाः', पर गीता भगवान्की वाणी है। वेद और उपनिषद् तो अधिकारी मनुष्योंके लिये हैं, पर गीतामें मनुष्यमात्रका अधिकार है। कौरव-पाण्डवोंके इतिहास-ग्रन्थ महाभारतके अन्तर्गत होनेसे इसके अधिकारी सभी हो सकते हैं। श्रीवेदव्यासजी महाराजने महाभारतरूप पञ्चम वेदकी रचना भी इसीलिये की थी कि मनुष्यमात्रको वेदोंका ज्ञान प्राप्त हो सके।

गीतामें भगवान्ने वेदोंका बहुत आदर किया है और उनको अपना स्वरूप बताया है—'पिताहमस्य जगतो''''ऋक्साम यजुरेव च' (९। १७)। जिसमें नियताक्षरवाले मन्त्रोंकी ऋचाएँ हैं वह 'ऋग्वेद' कहलाता है। जिसमें स्वरोंसहित गानेमें आनेवाले मन्त्र हैं वह 'सामवेद' कहलाता है। जिसमें अनियताक्षरवाले मन्त्र हैं वह 'यजुर्वेद' कहलाता है। जिसमें अस्त्र-शस्त्र, भवन-निर्माण आदि लौकिक विद्याओंका वर्णन करनेवाले मन्त्र हैं, वह 'अथर्ववेद' कहलाता है। लौकिक विद्याओंका वर्णन होनेसे भगवान्ने गीतामें अथर्ववेदका नाम न लेकर केवल ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद—इन तीन वेदोंका ही नाम लिया है जैसे—'ऋक्साम यजुरेव च' (९। १७) 'त्रैविद्या' (९। २०), 'त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना' (९। २१)।

भगवान्ने वेदोंमें सामवेदको अपनी विभूति बताया है—'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (गीता १०। २२)। सामवेदमें 'बृहत्साम' नामक एक गीति है जिसमें इन्द्ररूप परमेश्वरकी स्तुति की गयी है। अतिरात्रयागमें यह एक पृष्ठस्तोत्र है। सामवेदमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण इस बृहत्सामको भी भगवान्ने अपनी विभूति बताया है—'बृहत्साम तथा साम्नाम्' (गीता १०। ३५)।

सृष्टिमें सबसे पहले प्रणव (ॐ) प्रकट हुआ है। उस प्रणवकी तीन मात्राएँ हैं—'अ', 'उ' और 'म'। इन तीनों मात्राओंसे त्रिपदा गायत्री प्रकट हुई है। त्रिपदा गायत्रीसे ऋक्, साम और यजु—ये तीन वेद प्रकट हुए हैं। वेदोंसे शास्त्र, पुराण आदि सम्पूर्ण वाङ्मय जगत् प्रकट हुआ है। इस दृष्टिसे 'प्रणव' सबका मूल है और इसीके अन्तर्गत गायत्री तथा सम्पूर्ण वेद हैं। अतः जितनी भी वैदिक क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण करके ही की जाती हैं—'तस्मादोमित्युदाहृत्य''''ब्रह्मवादिनाम्' (गीता १७। २४)। जैसे गाय साँडके बिना फलवती नहीं होती, ऐसे ही वेदकी जितनी ऋचाएँ, श्रुतियाँ हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण किये बिना अभीष्ट फल देनेवाली नहीं होतीं। गीतामें भगवान्ने प्रणवको भी अपना स्वरूप बताया है—'गिरामस्म्येकमक्षरम्' (१०। २५) 'प्रणवः सर्ववेदेषु' (७। ८) गायत्रीको भी अपना स्वरूप बताया है—'गायत्री छन्दसामहम्' (१०। ३५) और वेदोंको भी अपना स्वरूप बताया है।

सृष्टिचक्रको चलानेमें वेदोंकी मुख्य भूमिका है। वेद कर्तव्य-कर्मोंको करनेकी विधि बताते हैं—'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (गीता ३। १५) 'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे' (गीता ४। ३२)*। मनुष्य उन कर्तव्य-कर्मोंका विधिपूर्वक पालन करते हैं। कर्तव्य-कर्मोंके पालनमें यज्ञ होता है। यज्ञसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं और उन प्राणियोंमें मनुष्य कर्तव्य-कर्मोंके पालनमें यत्न करते हैं। इस तरह यह सृष्टिचक्र चल रहा है—

> अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
> यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

---

* यहाँ 'ब्रह्म' पद वेदका वाचक है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

(गीता ३। १४-१५)

भगवान् गीतामें कहते हैं कि ऊपरकी ओर मूलवाले तथा नीचेकी ओर शाखावाले जिस संसाररूप अश्वत्थवृक्षको अव्यय कहते हैं और वेद जिसके पत्ते हैं, उस संसारवृक्षको जो जानता है, वह सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(गीता १५। १)

संसारसे विमुख होकर उसके मूल परमात्मामें अपनी अभिन्नताका अनुभव कर लेना ही वेदोंका वास्तविक तात्पर्य जानना है। वेदोंका अध्ययन करनेमात्रसे मनुष्य वेदोंका विद्वान् तो हो सकता है, पर यथार्थ तत्त्ववेत्ता नहीं। परंतु वेदोंका अध्ययन न होनेपर भी जिसको संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक परमात्मतत्त्वका अनुभव हो गया है, वही वास्तवमें वेदोंके तात्पर्यको जाननेवाला अर्थात् अनुभवमें लानेवाला 'वेदवेत्ता' है—'यस्तं वेद स वेदवित्'। भगवान्‌ने भी अपनेको वेदान्तका कर्ता अर्थात् वेदोंके निष्कर्षका वक्ता और वेदवेत्ता कहा है—'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्' (गीता १५। १५)। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जिसने परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लिया है, ऐसे वेदवेत्ताकी भगवान्‌के साथ एकता (सधर्मता) हो जाती है—'मम साधर्म्यमागताः' (गीता १४। २)।

भगवान्‌ने गीतामें अपनेको ही संसारवृक्षका मूल 'पुरुषोत्तम' बताया है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(गीता १५। १८)

'मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

वेदोंमें आये 'पुरुषसूक्त' में पुरुषोत्तमका वर्णन हुआ है। गीतामें भगवान् कहते हैं कि वेदोंमें इन्द्ररूपसे [illegible] वर्णन हुआ है वह भी मैं ही हूँ [illegible] [illegible] मनुष्य [illegible] द्वारा मेरा ही [illegible] करते हैं—

'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।'

(गीता ९। २०)

वेदोंमें सकामभाववाले मन्त्रोंकी संख्या तो अस्सी हजार है, पर मुक्त करनेवाले अर्थात् निष्कामभाववाले मन्त्रोंकी संख्या बीस हजार ही है, जिसमें चार हजार मन्त्र ज्ञानकाण्डके और सोलह हजार मन्त्र उपासनाकाण्डके हैं। इसलिये गीतामें कुछ श्लोक ऐसे भी आते हैं, जिनमें वेदोंकी निन्दा प्रतीत होती है, जैसे—'यामिमां पुष्पितां वाचम्' (२। ४२), 'वेदवादरताः' (२। ४२), 'कामात्मानः स्वर्गपरा'—'भोगैश्वर्यगतिं प्रति' (२। ४३), 'त्रैगुण्यविषया वेदा' (२। ४५), 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते' (६। ४४), 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते' (९। २१), 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न'—'द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर' (११। ४८), 'नाहं वेदैर्न तपसा'—'मां यथा' (११। ५३), 'छन्दांसि यस्य पर्णानि' (१५। १) आदि। वास्तवमें यह वेदोंकी निन्दा नहीं है, प्रत्युत वेदोंमें आये सकामभावकी निन्दा है।

संसारके मनुष्य प्रायः मृत्युलोकके भोगोंमें ही लगे रहते हैं। परंतु उनमें भी जो विशेष बुद्धिमान् कहलाते हैं, उनके हृदयमें भी नाशवान् वस्तुओंका महत्त्व रहनेके कारण जब वे वर्णन किये हुए सकाम कर्मों तथा उनके फलका वर्णन सुनते हैं, तब वे वेदोंमें श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण [illegible] इतना परवाह न करके स्वर्ग-प्राप्तिके लिये वेदोंमें वर्णित यज्ञोंके अनुष्ठानमें लग जाते हैं। उन सकाम अनुष्ठानोंके फलस्वरूप वे लोग स्वर्गमें जाकर देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं, जो मनुष्यलोकके भोगोंसे अत्यन्त विलक्षण हैं। वे लोग स्वर्गके प्रापक जिन पुण्योंके फलस्वरूप स्वर्गमें जाते हैं, उन पुण्योंके समाप्त होनेपर वे पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं—'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९। २१)।

[illegible] बार-बार जन्मते मरते [illegible]
(गीता ९। २१)। [illegible]
है।

वेदोंमे सकामभावका वर्णन होनेका कारण यह है कि वेद श्रुतिमाता है और माता सब बालकोंके लिये समान होती है। ससारमें सकामभाववाले मनुष्योकी सख्या अधिक रहती है। अत वेदमाताने अपने बालकोंकी अलग-अलग रुचियोके अनुसार लौकिक और पारमार्थिक सब तरहकी सिद्धियोंके उपाय बताये हैं।

भगवान्ने वेदोंको ससारवृक्षके पत्ते बताया है—'छन्दासि यस्य पर्णानि' और वेदोंकी वाणीको 'पुष्पित' कहा है—'यामिमा पुष्पितां वाचम्'। यद्यपि निषिद्ध कर्मोंको करनेकी अपेक्षा वेदविहित सकाम अनुष्ठानको करना श्रेष्ठ है, तथापि उससे मुक्ति नहीं हो सकती। अत साधकको वैदिक सकाम अनुष्ठानरूप पत्तों और पुष्पोंमें तथा नाशवान् फलमे न फँसकर ससारवृक्षके मूल—परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये। वेदोका वास्तविक तत्त्व ससार या स्वर्ग नहीं है, प्रत्युत परमात्मा ही हैं—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' (गीता १५। १५)। महाभारत (शान्तिपर्व ३१८। ५०)-में आया है—

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्य न जानीते वेदभारवहो हि सः॥

'साङ्गोपाङ्ग वेद पढकर भी जो वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माको नहीं जानता वह मूढ केवल वेदोंका बोझ ढोनेवाला है।

महर्षि दध्यङ् आथर्वणकी वैदिकी कथा

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

ब्राह्मण उपनिषद् तथा बृहद्देवता आदि ग्रन्थोमें जो कथाएँ विस्तारके साथ मिलती हैं, उनका सकेत ऋग्वेद-संहितामें प्राप्त होता है। ऋग्वेदमे ऐसे बहुतसे सूक्त उपलब्ध होते हैं जिनमें दो या तीन पात्रोंका परस्पर कथनोपकथन विद्यमान है। उन सूक्तोको सवाद-सूक्त कहते हैं। भारतीय साहित्यमें अनेक अङ्गोका उद्गम इन्हीं संवादोंसे होता है। इनके अतिरिक्त सामान्य स्तुतिपरक सूक्तोंमे भी भिन्न-भिन्न देवताओंके विषयमें अनेक मनोरजक तथा शिक्षाप्रद आख्यानोंकी उपलब्धि होती है। सहितामें जिन कथाओंका केवल सकेत-मात्र है, उनका विस्तृत वर्णन बृहद्देवता तथा षड्गुरुशिष्यकी कात्यायन-सर्वानुक्रमणीकी वेदार्थदीपिका-टीकामें किया गया है। निरुक्तमे भी आचार्य यास्कने तथा सायणने अपने वेदभाष्यमे उन कथाओंके रूप तथा प्राचीन आधारको प्रदर्शित किया है। अस्तु,

महर्षि दध्यङ् आथर्वणकी कथा ऋग्वेद-सहिता (१। ११६। १२ १। ११७। २२ १०। ४८। २)-में तथा शतपथ-ब्राह्मण (१४। ४। ५। १३)-में एवं बृहद्देवता (३। १८। १४)-में उपलब्ध होती है। जिसमें अनधिकारी और अधिकारीको किये गये रहस्य-विद्याके उपदेशके कुपरिणाम और सुपरिणामका उल्लेख है जिसका सारांश यहाँ प्रस्तुत है—

एक बार देवराज इन्द्रने तपोवन-निवासी महर्षि दध्यङ् आथर्वणके पास जाकर कहा—'मैं आपका अतिथि हूँ। मेरा मनोरथ पूर्ण करनेकी कृपा करें।' महर्षिने कहा—'तुम कौन हो? तुम्हारा यहाँ आनेका प्रयोजन क्या है'? इन्द्रने कहा—'पहले आप मेरे मनोरथको पूर्ण करनेकी स्वीकृति प्रदान करें तो मैं अपना परिचय दूँ'। महर्षिने कहा—'मैं स्वीकृति प्रदान करता हूँ'। इन्द्रने कहा—'मैं देवताओंका राजा इन्द्र हूँ।' महर्षे! मैंने आपकी विद्वत्ताकी बातें पहलेसे सुन रखी हैं—'आपके समान ब्रह्मवेत्ता इस भूतलपर दूसरा नहीं है। परमतत्त्वके स्वरूपको भलीभाँति समझनेकी जिज्ञासा मुझे स्वर्गलोकसे इस भूतलपर खींच लायी है। उस गूढ रहस्यकी शिक्षा देकर मुझे कृतकृत्य कर दीजिये'। देवराजके इस प्रस्तावको सुनकर दध्यङ् आथर्वणका चित्त चचल हो उठा। उनके सामने एक विषम समस्या आ खड़ी हुई। अतिथिके मनोरथको पूरा करनेकी पहले ही प्रतिज्ञा कर दी थी इसका निर्वाह न करनेमें सत्यका व्रत भंग होगा और यदि इन्द्रको ब्रह्मज्ञानका उपदेश देते हैं तो अनधिकारीको शिक्षा देने-सम्बन्धी दोषका भागी होना पड़ेगा क्योंकि अधिकारका प्रश्न बड़ा विषम हुआ करता है। शास्त्रके सरक्षण एव विद्याके सदुपयोगके लिये ही अधिकारीकी व्यवस्था की गयी है। शिक्षा योग्य व्यक्तिको देनेपर ही फलवती होती है अन्यथा लाभकी अपेक्षा हानिकी ही

कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

(गीता ३। १४-१५)

भगवान् गीतामे कहते हैं कि ऊपरकी ओर मूलवाले तथा नीचेकी ओर शाखावाले जिस ससाररूप अश्वत्थवृक्षको अव्यय कहते हैं और वेद जिसके पत्ते हैं, उस ससारवृक्षको जो जानता है वह सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है—

ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम्।
छन्दासि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(गीता १५। १)

ससारसे विमुख होकर उसके मूल परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव कर लेना ही वेदाका वास्तविक तात्पर्य जानना है। वेदाका अध्ययन करनेमात्रसे मनुष्य वेदोका विद्वान् तो हो सकता है पर यथार्थ तत्त्ववेत्ता नहीं। परंतु वेदोका अध्ययन न होनेपर भी जिसको ससारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक परमात्मतत्त्वका अनुभव हो गया है, वही वास्तवमे वेदोंके तात्पर्यको जाननेवाला अर्थात् अनुभवमें लानेवाला 'वेदवेत्ता' है—'यस्तं वेद स वेदवित्'। भगवान्ने भी अपनेको वेदान्तका कर्ता अर्थात् वेदोके निष्कर्षका वक्ता और वेदवेत्ता कहा है—'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्' (गीता १५। १५)। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जिसने परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लिया है, ऐसे वेदवेत्ताकी भगवान्के साथ एकता (सधर्मता) हो जाती है—'मम साधर्म्यमागता (गीता १४। २)।

भगवान्ने गीताम अपनेको ही ससारवृक्षका मूल 'पुरुषोत्तम' बताया है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम॥

(गीता १५। १८)

'मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमे पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

वेदमे आय 'पुरुषसूक्त' म पुरुषात्तमका वर्णन हुआ है। गीतामें भगवान् कहते हैं कि वेदामे जिस परमेश्वरका वर्णन हुआ है, वह भी स्वर्गप्राप्ति चाहनेवाले मनुष्य यज्ञाके करते हैं—

'त्रैविद्या मा सोमपा पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गति प्रार्थयन्ते।'

(गीता ९। २०)

वेदोमे सकामभाववाले मन्त्राकी सख्या तो अस्सी हजार है, पर मुक्त करनेवाले अर्थात् निष्कामभाववाले मन्त्रोंकी सख्या बीस हजार ही है, जिसमें चार हजार मन्त्र ज्ञानकाण्डके और सोलह हजार मन्त्र उपासनाकाण्डके हैं। इसलिये गीतामे कुछ श्लोक ऐसे भी आते हैं, जिनमें वेदोकी निन्दा प्रतीत होती है, जैसे—'यामिमां पुष्पितां वाचम्' (२। ४२), 'वेदवादरता' (२। ४२), 'कामात्मान स्वर्गपरा...भोगैश्वर्यगतिं प्रति' (२। ४३), 'त्रैगुण्यविषया वेदा.' (२। ४५) 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते' (६। ४४) 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते' (९। २१) 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न...द्रष्टु त्वदन्येन कुरुप्रवीर' (११। ४८), 'नाहं वेदैर्न तपसा...मा यथा' (११। ५३), 'छन्दासि यस्य पर्णानि' (१५। १) आदि। वास्तवमें यह वेदाकी निन्दा नहीं है प्रत्युत वेदोमें आये सकामभावकी निन्दा है।

ससारके मनुष्य प्राय मृत्युलोकके भोगोम ही लगे रहते हैं। परतु उनमे भी जो विशेष बुद्धिमान् कहलाते हैं, उनके हृदयमे भी नाशवान् वस्तुओका महत्त्व रहनेके कारण जब वे वेदोंमे कहे हुए सकाम कर्मोंका तथा उनके फलका वर्णन सुनते हैं तब वे वेदोम श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण यहाँके भोगाकी इतनी परवाह न करके स्वर्ग-प्राप्तिके लिये वेदामें वर्णित यज्ञोंके अनुष्ठानम लग जाते हैं। उन सकाम अनुष्ठानोंके फलस्वरूप वे लोग स्वर्गमें जाकर देवताओंके दिव्य भोगोका भोगते हैं जो मनुष्यलोकके भोगाकी अपेक्षा बहुत विलक्षण हैं। वे लोग स्वर्गके प्रापक जिन पुण्योंके फलस्वरूप स्वर्गम जाते हैं उन पुण्योंके समाप्त होनेपर वे पुन मृत्युलाकमे लौट आते हैं—'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति' (गीता ९। २१)। सकामभावके कारण ही मनुष्य बार-बार जन्मता-मरता है—गतागतं कामकामा लभन्ते' (गीता ९। २१)। इसलिये ... मभावका निन्दा की है।

वेदोंमें सकामभावका वर्णन होनेका कारण यह है कि वेद श्रुतिमाता है और माता सब बालकोंके लिये समान होती है। संसारमें सकामभाववाले मनुष्योंकी संख्या अधिक रहती है। अतः वेदमाताने अपने बालकोंकी अलग-अलग रुचियोंके अनुसार लौकिक और पारमार्थिक सब तरहकी सिद्धियोंके उपाय बताये हैं।

भगवान्‌ने वेदोंको संसारवृक्षके पत्ते बताया है—'छन्दांसि यस्य पर्णानि' और वेदोंकी वाणीको 'पुष्पित' कहा है—'यामिमां पुष्पितां वाचम्'। यद्यपि निषिद्ध कर्मोंको करनेकी अपेक्षा वेदविहित सकाम अनुष्ठानको करना श्रेष्ठ है, तथापि उससे मुक्ति नहीं हो सकती। अतः साधकको वैदिक सकाम अनुष्ठानरूप पत्तों और पुष्पोंमें तथा नाशवान् फलमें न फँसकर संसारवृक्षके मूल—परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये। वेदोंका वास्तविक तत्त्व संसार या स्वर्ग नहीं है, प्रत्युत परमात्मा ही हैं—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५। १५)। महाभारत (शान्तिपर्व ३१८। ५०)-में आया है—

> साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
> वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः॥

'साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़कर भी जो वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माको नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदोंका बोझ ढोनेवाला है।

महर्षि दध्यङ् आथर्वणकी वैदिकी कथा

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

ब्राह्मण, उपनिषद् तथा बृहद्देवता आदि ग्रन्थोंमें जो कथाएँ विस्तारके साथ मिलती हैं, उनका संकेत ऋग्वेद-संहितामें प्राप्त होता है। ऋग्वेदमें ऐसे बहुतसे सूक्त उपलब्ध होते हैं, जिनमें दो या तीन पात्रोंका परस्पर कथनोपकथन विद्यमान है। उन सूक्तोंको संवाद-सूक्त कहते हैं। भारतीय साहित्यमें अनेक अङ्गोंका उद्गम इन्हीं संवादोंसे होता है। इनके अतिरिक्त सामान्य स्तुतिपरक सूक्तोंमें भी भिन्न-भिन्न देवताओंके विषयमें अनेक मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद आख्यानोंकी उपलब्धि होती है। संहितामें जिन कथाओंका केवल संकेत-मात्र है, उनका विस्तृत वर्णन बृहद्देवता तथा षड्गुरुशिष्यकी कात्यायन-सर्वानुक्रमणीकी वेदार्थदीपिका-टीकामें किया गया है। निरुक्तमें भी आचार्य यास्कने तथा सायणने अपने वेदभाष्यमें उन कथाओंके रूप तथा प्राचीन आधारको प्रदर्शित किया है। अस्तु,

महर्षि दध्यङ् आथर्वणकी कथा ऋग्वेद-संहिता (१। ११६। १२; १। ११७। २२; १०। ४८। २)-में तथा शतपथ-ब्राह्मण (१४। ४। ५। १३)-में एवं बृहद्देवता (३। १८। १४)-में उपलब्ध होती है। जिसमें अनधिकारी और अधिकारीको किये गये रहस्य-विद्याके उपदेशके कुपरिणाम और सुपरिणामका उल्लेख है, जिसका सारांश यहाँ प्रस्तुत है—

एक बार देवराज इन्द्रने तपोवन-निवासी महर्षि दध्यङ् आथर्वणके पास जाकर कहा—'मैं आपका अतिथि हूँ। मेरा मनोरथ पूर्ण करनेकी कृपा करें।' महर्षिने कहा—'तुम कौन हो? तुम्हारा यहाँ आनेका प्रयोजन क्या है'? इन्द्रने कहा—'पहले आप मेरे मनोरथको पूर्ण करनेकी स्वीकृति प्रदान करें तो मैं अपना परिचय दूँ'। महर्षिने कहा—'मैं स्वीकृति प्रदान करता हूँ'। इन्द्रने कहा—'मैं देवताओंका राजा इन्द्र हूँ।' महर्षे! मैंने आपकी विद्वत्ताकी बातें पहलेसे सुन रखी हैं—'आपके समान ब्रह्मवेत्ता इस भूतलपर दूसरा नहीं है। परमतत्त्वके स्वरूपको भलीभाँति समझनेकी जिज्ञासा मुझे स्वर्गलोकसे इस भूतलपर खींच लायी है। उस गूढ़ रहस्यकी शिक्षा देकर मुझे कृतकृत्य कर दीजिये'। देवराजके इस प्रस्तावको सुनकर दध्यङ् आथर्वणका चित्त चंचल हो उठा। उनके सामने एक विषम समस्या आ खड़ी हुई। अतिथिके मनोरथको पूरा करनेकी पहले ही प्रतिज्ञा कर दी थी, इसका निर्वाह न करनेमें सत्यका व्रत भंग होगा और यदि इन्द्रको ब्रह्मज्ञानका उपदेश देते हैं तो अनधिकारीको शिक्षा देने-सम्बन्धी दोषका भागी होना पड़ेगा, क्योंकि अधिकारका प्रश्न बड़ा विषम हुआ करता है। ज्ञानके संरक्षण एवं विद्याके सदुपयोगके लिये ही अधिकारकी व्यवस्था की गयी है। शिक्षा योग्य व्यक्तिको देनेपर ही सफलता होती है, अन्यथा लाभकी अपेक्षा हानिकी ही

सम्भावना बनी रहती है। यही कारण है कि प्राचीन कालमें विद्वान् गुरुजन अधिकारी शिष्यकी खोजम अपना जीवन बिता देते थे। 'जो व्यक्ति नित्य तथा अनित्य वस्तुको जानता है, जिसे इस लोक तथा परलोकके भोगोम सच्चा वैराग्य है, जिसने इन्द्रियो तथा मनके ऊपर पूरी तरहसे विजय पा ली है, वही साधक उच्च उपदेशके सुननेका अधिकारी होता है।'

यद्यपि उपर्युक्त गुण इन्द्रमे नहीं हैं क्योकि इसक हृदयमें कामवासना तथा शत्रुको वज्रसे मार भगानेकी लालसा बनी रहती है। इसलिये अशान्त हृदयवाला व्यक्ति उच्चतम उपदेशका अधिकारी नहीं हो सकता, तथापि अपने प्रतिज्ञा-पालनके उद्देश्यको सामने रखकर उन्होंने इन्द्रको मधुविद्याका उपदेश देनेके बाद यह कहना प्रारम्भ किया—'भोगोंकी लिप्सा प्राणीके हृदयमें उसी प्रकार अनर्थकारिणी होती है, जिस प्रकार फूलोके समूहम छिपी हुई सर्पिणी। योगमार्गका आश्रय लेनेके लिये भोगमार्गका बहिष्कार करना पडेगा। स्वर्गभूमिके अनुपम भोग नन्दनवनकी उस सुलभता स्वच्छ फेनके समान रमणीय शय्या और नाना प्रकारके स्वादिष्ट व्यञ्जनके सेवनसे हृदयमे सतोषका उदय कभी नहीं हो सकता। श्रेय और प्रेय—य दोनों परस्पर-विराधी हैं। प्रेयका अवलम्बन सदा अनर्थकारक तथा क्षणभगुर है। श्रेयका ही मार्ग कल्याणकारक है। भोगकी लिप्साके विचारसे देवताआके अधिराज इन्द्र तथा भूतलके निकृष्ट कुत्तेमें काई अन्तर नहीं है। इसलिये भोगकी आसक्तिको हृदयसे दूर कीजिये तभी नि श्रेयसकी उपलब्धि हो सकती है।'

महर्षिके इन वचनोंको सुनकर देवराजको बड़ा क्रोध हुआ। उन्हाने स्वप्नम भी नहीं सोचा था कि मुझ कोई व्यक्ति कुत्तके समान कहेगा। वे उन्हे मार डालनेके लिये उद्यत हुए, परतु ज्ञानोपदशक मानकर वे अपन क्रोधका छिपाकर बोले—'यदि आप इस विद्याका उपदेश किसी अन्य व्यक्तिको करेगे तो मैं आपके सिरको धडसे अलग कर दूँगा।' महर्षिने इस अभिशापको शान्तमनस सुन लिया। इन वचनोका प्रभाव उनपर नहीं पडा। व हिमाचलके समान अडिग रहे। इन्द्र वहाँसे चले गय। कुछ दिन बाद महर्षिके पास आकर अश्विनीकुमारोने प्रार्थना की कि 'महाराज! हमें आप मधुविद्याका उपदेश करे। हम लोगोंने कठिन तपस्या करके अपने हृदयसे हिसा तथा कामनाओको सदाके लिये दूर कर दिया है। परोपकार हमारे जीवनका मूल मन्त्र है। कितने पंगुओंको हमने चलनेकी शक्ति, कितने अन्धोंको देखनेकी क्षमता तथा कितने जरा-जीर्ण व्यक्तियोंके शरीरसे बुढापेका कलक हटाकर नवीन यौवन प्रदान किया है। अत आप हमे मधुविद्याके रहस्यका उपदेश दीजिये।'

उस समय भी महर्षि दध्यङ् आथर्वणके समक्ष विषम समस्या उत्पन्न हो गयी। अधिकारी व्यक्तिको उपदशसे वंचित रखना महान् अपराध होगा परतु इन्द्रके अपराधको भुला देना भी घोर अपराध है—महर्षिके मनमें यह द्वन्द्व कुछ देरतक चलता रहा। उनके जीवनमें कितनी ही बार ऐसे अवसर आये थे और कितनी ही बार उन्होंने परमार्थकी वेदीपर अपने स्वार्थको समर्पण करनेमे विलम्ब नहीं किया, फिर भी इन्द्रके अभिशापकी चर्चा उन्होंने अश्विनीकुमारोसे की, जिसे सुनकर अश्विनीकुमारोने अपनी संजीवनी विद्याका परिचय देते हुए कहा कि 'हम आपके असली सिरको धड़से जोड देंगे। आपकी प्राणहानि भी नहीं होगी तथा हमारी वर्षोंकी साधना भी पूरी हो जायगी।' अश्विनीकुमारोंकी वाणीसे आश्वस्त हाकर महर्षिने उन्हें उपदेश देना स्वीकार कर लिया। अश्विनीकुमारोंने उनके असली सिरके स्थानपर घोडेका सिर बैठा दिया जिससे उन्होने अश्विनीकुमाराको मधुविद्याके रहस्यको समझाते हुए कहा कि—

'इस जगत्के समस्त पदार्थ आपसमे एक-दूसरेके उपकारक हैं। यह पृथिवी सब प्राणियोंके लिये मधु है तथा समस्त प्राणी इस पृथिवीके लिये मधु हैं। इस पृथिवीमें रहनेवाला तेजोमय तथा अमृतमय पुरुष विद्यमान है। ये दोनों समग्र पदार्थोंके उपकारक हैं। जल, अग्नि वायु, आदित्य, दिशा चन्द्र, विद्युत् और आकाश—इन समग्र पदार्थोंमें भी यही नियम विद्यमान है। धर्म और सत्य भी इसी प्रकार जगत्के उपकारक होनेसे मधु हैं। धर्मके लिये समस्त प्राणी मधुरूप हैं सत्यकी भी यही स्थिति है। यह विशाल विश्व सत्यपर ही आधारित है। सत्यके अभावम यह ससार न जाने कब कहाँ ध्वस्त हो गया हाता। सूर्य भी सत्यके

बलपर अन्धकारका नाश करता है। हे नासत्यो! आप लाग इस नियमसे परिचित ही हैं कि जो वस्तु एक-दूसरेका उपकार करनेवाली होती है, वह एक मूल स्रोतसे ही प्रवाहित होती है। उसका सामान्य रूप एक-समान है तथा उसके प्रलय होनेका स्थान भी एक ही है। विश्वके मूलमें परमात्मा है। अविद्याके आश्रयसे इस जगत्‌की सत्ता है। ज्ञानके उदय होते ही यह विश्व परमात्मामे उसी प्रकार लीन हो जाता है, जिस प्रकार सूर्योदयके होनेपर अन्धकार। उस नित्य परमात्माको अपनी बुद्धिसे पकडना चाहिये, क्योंकि परमतत्त्वको पहचानना ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है।'

—इस प्रकार महर्षि दध्यङ् आथर्वणने स्वानुभूत मधुविद्याका उपदेश अश्विनीकुमाराको दे दिया। वर्षोंकी उनकी साधना सफल हुई। पात्रकी भिन्नताके कारण एक ही कार्यके अनेक फल दीखते हैं। मधुविद्याका उपदश अश्विनीकुमाराके लिये असीम हर्षका साधन था परतु इन्द्रके हृदयमें यह उपदेश क्रोधका कारण बन गया। अभिमानी इन्द्रको यह बात बडी बुरी लगी कि महर्षिने उसकी आज्ञाका उल्लघन कर दिया। इन्द्रने अपना वज्र सँभाला और ऋषिके मस्तकपर तीक्ष्ण प्रहार कर दिया देखते-ही-देखते क्षणभरम ऋषिका सिर भूतलपर लोटने लगा। उधर अश्विनीकुमाराका इस बातकी खबर मिली तब उन्होंने अपने प्रतिज्ञा-पालनमें क्षणभर भी विलम्ब न किया। उस असली मस्तकको जिस उन्होंने काटकर अलग रखा था उसे ऋषिके धड़से जोड दिया। अश्विनीकुमारोंके इस अद्भुत कार्यको देखकर लोग विस्मित हो उठे और अधिकारी शिष्यको दी गयी विद्याके महत्त्वको समझे। उस समय अधोमुख इन्द्रन ऋषिसे कहा—'महर्षे! मरे गुरुतर अपराधको क्षमा कर दीजिये।' महर्षिने कहा—'मेरे हृदयमे आपके इस कृत्यसे तनिक भी क्षोभ नहीं है। मैं अनधिकारीका विद्या-दानसे उसी समय पराङ्मुख हो रहा था परतु आपके आग्रह तथा अपनी सत्यप्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये मैंने आपको इस मधुविद्याका उपदेश किया था'। इन्द्रने कहा—'आपने अपनी उदारतासे मुझ-जैसे अपराधीको क्षमा कर दिया। अश्विनीकुमारोंकि इस असीम गुरुभक्ति तथा सजीवनी विद्याके इस अद्भुत कार्यको इस भूतलपर देखकर मेरा दर्प विलीन हो गया'। महर्षिने कहा—'इन्द्र! जिसके हृदयमें अभिमानकी आग जल रही हा उसके हृदयमं विद्याका रहस्य नहीं टिकता। तुमन अपना अपराध स्वाकार कर लिया है, इसलिये अब तुम अपराधी नहीं हा। मेरा अश्वशिर शर्मणा नामक जलाशयमें है उस ढूँढकर अपना कार्य सिद्ध करो।' ऋषिके उपदेशानुसार उस अश्वशिरसे इन्द्रन नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र तैयार किय और उनसे अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त की।

वैदिक महर्षि दध्यङ् आथर्वण हा पौराणिक 'दधीचि' के नामसे प्रसिद्ध हैं। वैदिक तथा पौराणिक कथाओंके कई अशाम अन्तर है। वदमें दध्यङ् आथर्वणके अश्वशिरसे वज्र बननेका उल्लेख है ता पुराणामें उनकी देहकी हड्डियोंसे बने वज्रक द्वारा वृत्रासुरक वधका वर्णन है। मूलत कथाम कोई विशाष अन्तर नहीं है। महर्षिके आदर्श चरित्रका चित्रण दानोंमें समान है, जिसके चिन्तन-मननसे मनुष्य-जीवनमें सत्यनिष्ठा, दयालुता तथा अनधिकारी और अधिकारीका रहस्य-विद्या-प्रदानके फलके विषयम विशेष शिक्षा उपलब्ध हागी।

सत्सगकी महिमा

सज्जनोंसे संगति होनेपर क्षुद्र जन भी भाग्यवान् बन जाता है। इन्द्रका सगति पाकर देवशुना सरमा न पणियोंका जाता और 'सुभगा' कहलायी—

यस्य स्यात् सङ्गतं सद्भिर्भवेत् सोऽल्पोऽपि भाग्यवान्। देवशुनीन्द्रसङ्गत्या जित्वाऽभूत् सुभगा पणीन्॥

यह सरमा-पणिकथाका प्रसंग है। जिसम यह स्पष्ट किया गया है कि सज्जनोंको सगतिसे नाचका भी कितना महान् उत्थान हो जाता है।

दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन। बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हा सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्रा ॥

(ऋक्० १०। १०८। ११)

तात्पर्य यह कि 'हे पणियो यहाँसे आप लाग दूर देश चले जायँ ताकि आपद्वारा चुरायी गयी ये गायें सत्यके बलपर अन्धकारका नाश करती हुई बाहर निकलें। जो गायें और भी भीतर कहीं छिपायी हों उन्हें बृहस्पति पा लेंगे। बृहस्पति आङ्गिरस ऋषि, सोमाभिषव करनेवाले ग्रावा (पत्थर) यह बात जान गये हैं अत उनके आनेके पहले आप लोग चले जायँ तो आप लोगोंका शरीर बच सकेगा। ऐसा सरमाने पणियोंसे उनके हितके लिये कहा।

आख्यान—

पृथ्वीकी परिक्रमा

(श्रीअमरनाथजी शुक्ल)

एक बार पार्वतीजी जब स्नान करने जाने लगीं तो उन्होंने अपने पुत्र गणेशसे कहा—'बेटा! मैं स्नान करने जा रही हूँ, तुम द्वारपर बैठे रहो, जबतक मैं स्नान करके वापस न आ जाऊँ तुम यहीं बैठे रहना और किसीको भी अदर न आने देना।'

एक आज्ञाकारी बालककी भाँति गणेश द्वारपर बैठ गये। अभी पार्वतीजी नहा ही रही थीं कि भगवान् शिव अपने गणोंके साथ आये और घरमें जाने लगे। गणेशने उन्हे रोककर कहा—'अभी आप लोग बाहर प्रतीक्षा करें। माताजी अदर स्नान कर रही हैं। जब वे स्नान करके बाहर आ जायँ तब आप अदर जायँ।'

शिवजी गणेशकी इस बातकी उपेक्षा कर जब अदर जाने लगे, तब गणेशने बलपूर्वक प्रतिरोध किया तथा अंदर नहीं जाने दिया। शिवजीको बडा क्रोध आया कि उनका ही बेटा उनको अपने ही घरमें नहीं जाने दे रहा है। जब गणेश किसी तरह न माने तो भगवान् शिवने क्रोधित होकर त्रिशूलसे उनका सिर ही काट लिया। अन्य गण भयसे भागे। इतनेमें पार्वतीजी स्नान करके बाहर निकलीं और गणेशकी ऐसी दशा देखीं तो दु ख एव क्रोधसे उनकी सहारक शक्ति जाग्रत् हो उठी। उन्होने क्रोधमे जब हुकार किया तब उससे उत्पन्न अनेक शक्ति-देवियाँ सहार-लीला शुरू कर दीं। शिव-गण तो भयके मारे भाग खडे हुए। नारदने आकर प्रार्थना की—'माँ जगदम्बे! आप अपनी सहारक शक्ति समेट लें। आपके पुत्रको जीवित कर दिया जायगा।'

फिर उन्होने शिवजीसे कहा—'भगवन्! आदिशक्ति जगदम्बाका क्रोध शान्त हो इसके लिये आप गणेशके जीवन-हेतु कुछ कीजिये।' भगवान् शिवने एक गजशावकका सिर काट कर तत्काल गणेशके धडसे जोड़ दिया। अब धडपर हाथीका सिर जुड़ जानेसे गणेश जीवित हो गये और उनका नाम 'गजानन' पड गया।

पार्वतीजीने जब पुत्रका यह रूप देखा तो कहा—'नारद! मेरे बेटेका यह रूप इसे कौन-सा देवत्व प्रदान करेगा? देवोंके बीचमें गजमुखसे इसकी क्या स्थिति होगी? ऐसी व्यवस्था करो-कराओ जिससे सब देवोंसे पूर्व गणेशकी अग्रपूजा हो तभी मैं अपनी सहारक शक्ति समेटूँगी।'

नारदने कहा—'माँ भगवती! इसकी भी व्यवस्था करता हूँ। पहले आप शान्त हो जाइये।'

नारदके कहनेसे पार्वतीजीने अपनी सहारक शक्ति समेट ली। जब सब शान्त हो गया, तब नारदने कहा—'अभी गणेशकी अग्रपूजाकी घोषणा कर देनेसे अन्य देवता नाराज हो जायँगे। अत किसी प्रतियोगिताके द्वारा सब देवोंके आदिदेव ब्रह्माजीके सामने इसका निर्णय किया जायगा।'

पार्वतीजीने नारदके इस सुझावको स्वीकार कर लिया। ब्रह्माजीके सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि इतने सारे देवी-देवताओंमे सर्वप्रथम किसकी पूजा की जाय? कोई भी शुभकार्य करनेसे पहले किस देवताकी प्रतिष्ठा की जाय इसकी कुछ व्यवस्था कीजिये।

देवताओंको भी यह प्रस्ताव पसद आया। सबने कहा—'हाँ ऐसा हो जाय तो कोई भी देवी-देवता इस बातको लेकर रुष्ट नहीं होगा कि मानवने पहले मेरी पूजा नहीं की।'

ब्रह्माने कहा—'प्रस्ताव तो उचित है नारदजी परतु जब आपने ऐसी समस्या रखी है तो आप ही कोई ऐसी योजना बताये जिससे निर्णय हो सके कि किस देवकी अग्रपूजा की जाय?'

नारदने कहा—'तात! मेरे विचारसे तो एक प्रतियोगिताका आयोजन किया जाय उसमे जो देवी-देवता अपने-अपने वाहनपर सवार होकर इस पृथ्वीकी परिक्रमा पूरी करके सबसे पहले आपके पास आ जायँ वे ही अग्रपूजाके अधिकारी हों।'

नारदके इस सुझावको सबने स्वीकार किया। ब्रह्माने भी इसे स्वीकृति दे दी। सब देवता अपने-अपने वाहनपर

सवार होकर पृथ्वीकी परिक्रमा करने निकल पड़े। गणेशजी अपने चूहेपर सवार हुए। ये ही सबसे पीछे रहे। इनका वाहन चूहा अन्य देवताओंकी सवारियोंका क्या मुकाबला करता परंतु प्रतियोगितामें भाग तो लेना ही था।

नारद गणेशका उपक्रम देख रहे थे तथा विचार भी कर रहे थे कि गणेश तो वैसे भी शरीरसे भारी भरकम, लम्बोदर, ऊपरसे सिर भी हाथीका। इनका वाहन भी विचित्र—चूहा-जैसा छोटा-सा जीव। कैसे पृथ्वीकी परिक्रमा करके सफल होंगे! उधर माता पार्वतीको वचन दिया है कि उनके पुत्र गणेशकी अग्रपूजा होगी। ऐसा सोचते हुए उन्हें एक उपाय सूझा उन्होंने गणेशसे कहा—'गणेशजी महाराज! उन बड़े-बड़े देवताओं और उनके तीव्रगामी वाहनोंके बीचमें आप अपने भारी भरकम शरीरसे इस छोटेसे चूहेपर बैठकर पृथ्वीकी परिक्रमा तो सम्भव है कर लें, पर सर्वप्रथम आनेके बारेमें भी कुछ सोचा है?'

गणेशने कहा—'नारदजी! मेरे पास जो वाहन है मैं तो उसीका प्रयोग करूँगा। प्रथम आऊँ या न आऊँ।'

नारदने कहा—'ठीक है कीजिये आप अपने इसी वाहनका प्रयोग पर बुद्धिके साथ। देखिये यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड प्रकृति और पुरुषमें समाया है और यह सब कुछ 'राम' में रमण कर रहा है। सारा विश्व-ब्रह्माण्ड राममय है। इसी नामकी परिक्रमा यह भूमण्डल कर रहा है अतः आप इसी नामकी परिक्रमा कर लें। आपको पृथ्वी ही नहीं समस्त ब्रह्माण्डकी परिक्रमाका फल मिलेगा।'

गणेशने कहा—'मुनिवर! आपका यह विचार उत्तम है। मैं 'राम' नामकी परिक्रमा करूँगा।' यह कहकर उन्होंने भूमिपर 'राम-राम' लिखा और अपने वाहन मूषकपर बैठकर उस नामकी तीन बार परिक्रमा करके ब्रह्माजीके समक्ष आ खड़े हुए।

ब्रह्माने देखा कि अभी किसी भी देवताका पता नहीं और गणेशने परिक्रमा पूरी कर ली। उन्हें आश्चर्य तो हुआ पर बोले कुछ नहीं। बादमें जब सारे देवता परिक्रमा करके आये तो ब्रह्माने कहा—'देवो! आप लोग एकके बाद एक आते रहे पर यहाँ तो गजानन—गणेश मेरे पास सबसे पहले पहुँचे इसलिये अग्रपूजाका अधिकार इन्हें ही मिलना चाहिये।'

अन्य देवोंने आपत्ति की कि—'प्रजापते! यह कैसे हो सकता है! गणेश भला इस चूहेपर बैठकर सारी पृथ्वीकी परिक्रमा कर कैसे सबसे पहले आपके पास आ सकते हैं? लगता है ये परिक्रमा करने गये ही नहीं होंगे प्रारम्भसे यहीं बैठे रहे होंगे।'

गणेशने उत्तर दिया—'हे देवो! मैंने छल नहीं किया है। तुम सब तो केवल पृथ्वीकी एक परिक्रमा करके आये हो और मैं तो तीनों लोकोंकी परिक्रमा तीन बार करके सबसे पहले यहाँ पहुँचा हूँ।'

जब देवोंने उसे असत्य माना तो नारदने कहा—'हे देवो! यह सत्य है। आप लोग तो भौतिक और स्थूल पृथ्वीकी परिक्रमा करते रहे, पर गणेशने तो उसकी परिक्रमा की—जिसमें मात्र यह भूमण्डल ही नहीं अपितु त्रैलोक्य ही समाया है। जिसमें सारा विश्व-ब्रह्माण्ड रमण कर रहा है उस 'राम' नामरूपी त्रैलोक्यकी परिक्रमा करके ये सबसे पहले पहुँचनेके अधिकारी हो गये।'

देवोंने कहा—'निश्चय ही बौद्धिक तत्त्वज्ञानसे गणेश हम सबसे श्रेष्ठ हैं और अग्रपूजाके अधिकारी भी।'

ब्रह्माने देखा कि प्रतियोगी देवताओंने भी इस गणेशकी विजय मानी है तो उन्होंने घोषणा की—'विघ्नहारी कल्याणकारी गणेश सर्वप्रथम अग्रपूजाके अधिकारी हैं। ये समस्त गणोंके गणपति भी होंगे। इनकी अग्रपूजा करके कार्य प्रारम्भ करनेवालोंका सदा कल्याण होगा। उनके कार्यमें विघ्न-बाधाएँ नहीं आयेंगी। ये विघ्नहरण कहलायेंगे।

इस प्रकार गणेशने बुद्धि-कौशलसे अग्रपूज्यका पद प्राप्त किया। (श्या॰)

~~~
~~~

वेदोमे भगवत्कृपा

(आचार्य श्रीमुंशीरामजी शर्मा)

क्लेशबहुल जगत्में कभी-कभी सुखकी स्वल्प झलकियाँ भी अविवेकीके सामने आती रहती हैं, पर दु ख तो आकर प्राणीको ऐसा दबोच लेता है, जैसे बिल्ली चूहेको। इसलिये महर्षि पतञ्जलिने कहा—

'परिणामतापसंस्कारदु खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु खमेव सर्वं विवेकिन ॥' (योगसूत्र २। १५)

'विवेकी पुरुष सुखोंके परिणाम-ताप-संस्कारादिका सूक्ष्मरूपसे विचार कर इस जगत्के सभी दृश्योंको दु खमय ही मानते हैं।' दृश्य भोगात्मक हैं। भोगमे सुख-दु ख दोनो ही प्राप्त होते हैं। सुख भी एकान्तत सुख नहीं होता वह दु खसे मिश्रित रहता है। सुखभोगमे जो आयास और परिश्रम करने पडते हैं वे स्वत क्लेशप्रद हैं। एक सुखाभिलाषा पूरी हुई तो दूसरी उत्पन्न हो जाती है। अभिलाषाओंका अन्त नहीं, इसीलिये सुख-प्राप्तिके इस पथमें दु खोका अन्त नहीं। तो क्या दु ख अनन्त हैं—असीम हैं? क्या इनका अन्त नहीं हो सकता? ऋषि आश्वासन देते हुए कहते हैं—'दु ख सावधि हैं, अनन्त नहीं। जो भोगे जा चुके हैं अथवा भोगे जा रहे हैं, उन दु खोका त्याग नहीं किया जा सकता किंतु भविष्यके दु खोंका नाश किया जा सकता है—'हेयं दु खमनागतम्' (योगसूत्र २। १६)।

योगदर्शनके अनुसार क्लेशके पाँच रूप हैं—अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश। इन पाँचो प्रकारके क्लेशोका क्षेत्र 'अविद्या' ही है। क्लेश कभी प्रसुप्त हो जाते हैं कभी कम हो जाते हैं कभी उन्हे काट भी दिया जाता है और कभी वे अपने विशाल रूपको खुलकर प्रकट करने लगते हैं। 'अभिनिवेश' मृत्युका क्लेश है और यह क्लेशोमे सबसे बडा है। यह प्राय सभीके सिरपर चढा रहता है। विश्वका कोई भी जन्मधारी प्राणी या पदार्थ इसके प्रभावसे मुक्त नहीं हो सकता। इसे स्वरसवाही कहा जाता है—बिना किसीकी चिन्ता किये यह अपने रसमें हो बहता रहता है पर है यह भी अविद्याके क्षेत्रमें ही पनपनेवाला। ज्ञानका प्रकाश होते ही इसका प्रभाव समाप्त हो जाता है। जबतक देह है तबतक मृत्यु भी उसकी सङ्गिनी बनी है परंतु ज्ञानका प्रकाश मृत्युके प्रभावको ही कम नहीं करता उसके भयको तथा उसको भी समाप्त कर देता है। भगवती श्रुतिके शब्दोमे—

अकामो धीरो अमृत स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोन।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

(अथर्ववेद १०। ८। ४४)

जगज्जालके कण-कणमे एक ही विभूति रमी हुई है। प्रत्येक प्राणीके अन्तस्तलमे उसका निवास है। वह सबके हृदयदेशमे स्थित है अन्तर्यामिरूपमें रमकर भी सबसे पृथक् है। यह सर्वव्यापक सूक्ष्मतम सत्ता अकाम और अमृत है। व्याप्य वस्तुओंके रूप परिवर्तित होते रहते हैं, पर इस व्यापकके रूपमे कहींसे कोई भी न्यूनता नहीं, परिवर्तन नहीं। यह नित्य रसतृप्त, धीर, अजर, सतत युवा और स्वयम्भू है। जो इसे जान लेता है—ज्ञानके प्रकाशमे देख लेता है, उसे मृत्यु कभी भयभीत नहीं कर सकती। 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति'—(शुक्लयजु० ३१। १८ श्वेताश्व० उ० ३। ८, ६। १५)—जो इस भगवती पराशक्तिका दर्शन कर लेता है वह मृत्युका अतिक्रमण कर जाता है। मृत्युसे पार जानेके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है। इसका एकमात्र उपाय है—सबके भीतर छिपी इस महाशक्तिका दर्शन।

'यह दर्शन कैसे हो? मेरी आँखें तो बाहरकी ओर लगी हैं, बाहरी दृश्योको ही देख रही हैं। यह परमानन्दमयी शक्ति तो भीतर है। मैं भीतर कैसे प्रवेश करूँ? कैसे इसके अन्त सामीप्यको प्राप्त करूँ?' ऋषि कहते हैं कि 'इसके नामका जप करके। यह नाम प्रणव है नित्य-नूतन ॐकार है। ॐकारके अर्थकी भावना करते हुए जप कर। इससे तेरी चेतना बाहरसे हटकर प्रत्यक्ष भीतर चली जायगी और कृपा-भगवतीके परमानन्दमय दर्शनमें जो अन्तराय या विघ्न हैं उनका अभाव हो जायगा। वे मिट जायँगे।' पर जप कैसे हो? अर्थके भावमें कैसे डूबा जाय?—

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधी किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥

(ऋक्० ६। ९। ६)

'क्या बोलूँ? क्या मनन करूँ? जिह्वासे जप कैसे जपूँ?

कैसे तेरा ध्यान धरूँ? ज्यों ही जप करने बैठता हूँ, त्यों ही कान बाहरके शब्दोंको सुननेमें लग जाते हैं। आँखें बंद हैं, पर वे भी अपने द्वारा पहले देखे रूपोंको देखने लगती हैं और हृदयमें प्रतिष्ठित यह ज्योति—मन विविध प्रकारकी आधियों चिन्ताओंमें विचरण करने लगता है। नामका जप और अर्थका भावन—दोनों रुक जाते हैं।' ऋषि कहते हैं कि 'यदि ऐसा है तो भी तू धैर्य धारण कर, चिन्ता मत कर क्योंकि तू जो कुछ कहेगा उन प्रचेतस महादेवके लिये जैसे भी शब्दोंका प्रयोग करेगा वे तेरा मङ्गल ही करेंगे। जैसे बने, वैसे तू जिह्वासे नाम रटता रह। मन भागता है, भागने दे। आँख और कान अपने-अपने विषयोंमें दौड़ लगाते हैं लगाने दे। तू नामको मत छोड़—

'मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।'

(ऋक्० ८। १। १ अथर्व० २०। ८५। १)

प्रभुके अतिरिक्त तू अन्य किसीकी स्तुति मत कर। भगवद्विरुद्ध किसी प्राणी पदार्थ तथा परिस्थितिको हृदयमें महत्त्व मत दे क्योंकि ऐसा करनेसे तू परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा। तू एकमात्र अपने प्रभुको पकड़, उनके आश्रयका परित्याग मत कर। पुत्र जैसे अपने पिताका पल्ला पकड़ लेता है, उसी प्रकार तू भी अपने उस सच्चे माता-पिताके पल्लेको पकड़ ले। न पकड़ सके तो रो, तेरे हृदयका विलाप तेरे माता-पिताको हिला देगा और वे सब कुछ छोड़कर तुझे अपनाने गोदमें लेनेके लिये दौड़ पड़ेंगे—

आ घा गमद्यदि श्रवत् सहस्रिणीभिरूतिभिः। वाजेभिरुप नो हवम्॥ (सामवेद ७४५, ऋक्० १। ३०। ८)

प्रभुका बल अनन्त है उनकी शक्ति असीम है उनके रक्षण-उपाय अनेक हैं। तू रो-रोकर अपना रुदन-स्वर, हृदयसे निकली आर्त-पुकार उनके निकटतक पहुँचा। वे आयेंगे—अवश्य आयेंगे हजारों रक्षाशक्तियोंके साथ प्रकट होंगे। उनका वरद हस्त तेरे सिरपर होगा तू निहाल हो जायगा।

क्या तू अपनेको निर्बल अनुभव करता है? तब तो अवश्य ही उन सम्बलोंके भी सम्बल आश्रयोंके भी आश्रय आधारोंके भी परमाधार प्रभुको पकड़। तू दीन और वे दीन दयालु, तू निरवलम्ब और वे सर्वश्रेष्ठ आलम्बन तू मझधारमें गोते खानेवाला और वे पार लगानेवाले हैं। उनकी कृपाका—अनुकम्पाका कोई ओर-छोर नहीं—

एतदालम्बनः श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।

(कठोपनिषद् १। २। १७)

विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम्। तुविमात्रमवोभिः॥

(ऋक्० ८। ८१। २)

नहि नु ते महिमनः समस्य न मघवन् मघवत्त्वस्य विद्म।
न राधसोराधसो नूतनस्येन्द्र नकिर्ददृश इन्द्रियं ते॥

(ऋक्० ६। २७। ३)

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।

(शुक्लयजु० ३३। ७९)

प्रभुकी शक्ति अल्पज्ञ जीवके लिये अकल्पनीय है। हम सोच भी नहीं सकते कि प्रभु कहाँसे, किस प्रकार आकर हमें बचा लेते हैं, अपनी गोदमें उठा लेते हैं। उनकी भगवत्ता, उनकी महिमा उनकी सफलतादायिनी सिद्धिप्रदायिनी शक्ति अनिर्वचनीय है अज्ञेय है। उनके कर्म, उनके दान, उनके विभव, उनके रक्षण और उनका ज्ञान—सब कुछ महान् है अद्भुत है तथा विचित्र है। वे विचित्रतम वय प्राण जीवन एवं शक्तिके धारक हैं। वे अद्भुत रूपसे दर्शनीय हैं। उनकी प्रत्यक्ष एवं साक्षात् अभिव्यक्ति, सम्पत्ति और शक्ति सभी विचित्र हैं। उनकी समता करनेवाला यहाँ कोई भी नहीं है। मुक्तात्मा उनका सायुज्य प्राप्त करके उन-जैसे हो जाते हैं पर सृष्टिके उद्भव स्थिति एवं संहारकी क्षमता उनमें भी नहीं आ पाती। प्रभु भक्तोंके लिये उपास्य हैं। वे आनन्दघन हैं और सबसे बढ़कर वे कृपा-कोष हैं, दया-निधि हैं। हम अहंके शिखरपर चढ़ते हैं गिर पड़ते हैं पर प्रभुको पुकारते ही उनकी कृपासे उठ भी जाते हैं। कभी-कभी उनका कृपा-कोप भी अपनी तीव्र भ्रू-भङ्गिमाका निक्षेप करने लगता है, पर उसमें छिपी करुणा जीवके लिये अन्तमें कल्याणकारिणी ही सिद्ध होती है—

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे। मृळा सुक्षत्र मृळय॥
अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्। मृळा सुक्षत्र मृळय॥

(ऋक्० ७। ८९। ३ ४)

'हे समह-पूजनीय! हे शुचे—पवित्र ज्योति! मैं दीनताके कारण कर्तव्यपथसे पृथक् होकर विपरीत पथपर चल पड़ा। इस विपरीत मार्गने मुझे झाड़-झंखाड़में डाल दिया है निर्जन वनमें ला पटका है। हे सुक्षत्र—शत्रुओंसे त्राण करनेकी

शोभन शक्ति रखनेवाले! दया करो, दया करो इस विकट सकटसे मेरा उद्धार करो मुझे पुन सुपथसे ले चलो। देव! आप-जैसे आनन्दसागरके रहते भी मैं प्यासा मरूँ यह आपके विरदके विपरीत है। दयानिधे! द्रवित हो जाओ रूठो मत, अपनी कृपा-दृष्टिसे मुझे भी आनन्दित कर दो।'

प्रभु ही जीवके सच्चे अपने हैं। अथवा यह कहना चाहिये कि वे ही एकमात्र अपने हैं, अन्य सब पराये हैं—

य आपिर्नित्यो वरुण प्रिय सन् त्वामागासि कृणवत् सखा ते।
(ऋक्० ७। ८८। ६)

आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये। सखा सख्ये वरेण्य ॥
(ऋक्० १। २६। ३)

—प्रभु अपने हैं, पिता हैं भ्राता हैं, सखा हैं। अपना व्यक्ति अपने लिये क्या नहीं करता? पिता पुत्रके लिये, सखा सखाके लिये भ्राता सहोदर भ्राताके लिये अपने प्राणतक होम देनेके लिये तैयार हो जाता है। यह लौकिक अनुभूति है। पारलौकिक अनुभूति तो पारमार्थिकी है परम अर्थवाली है विशुद्ध सत्यपर आधारित है। अपने सब कुछ प्रभु हैं। व भी अपने भक्तके लिये सब कुछ करते हैं। इस लोकमे जो असम्भव-जैसा जान पडता है उसे भी वे सम्भव कर देते हैं।

प्रभु नगेको वस्त्रसे आच्छादित कर देते हैं आतुर रोगीके रोगको भेषज देकर हटा देते हैं अधा उनकी कृपासे आँख पा जाता है और पगु चलनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है।

प्रभुकी इस अहैतुकी कृपाका अनुभव प्राय सभी भक्तोको हुआ है। व्यास सूर तथा तुलसी आदि भक्तोने तो उसका वर्णन भी किया है—

'मूक करोति वाचालम्', *'बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै'*, *'पगु चढ़इ गिरिवर गहन'* आदि पक्तियाँ कथनमात्र नहीं, अनुभूतिपरक हैं। वेद मुक्तस्वरमें इस अनुभूतिका उद्घोष करते हैं—

स ईं महीं धुनिमेतोररम्णात्। (ऋक्० २। १५। ५)

'प्रभु गरजती हुई महती ध्वनिको एकदम शान्त कर देते हैं।'

प्रभुका अपना सगा-सम्बन्धी यह जीव जाने-अनजाने न जाने कितने पाप करता रहता है परतु उनकी कृपा उसे बचाती है, प्रायश्चित्त कराती है तथा विकृतियोंसे निकालकर सुकृतियोकी ओर प्रेरित करती रहती है। निरन्तर अपने अन्तस्से निकलती हुई आवाजका यदि हम श्रवण और अनुगमन करते रहें तो नि संदेह पावन पथपर चलनेके अभ्यासी बन सकते हैं। वेद-मन्त्रोंमें ऐसे ही पथके पथिक प्रार्थना करते हैं—

उत त्व मघवञ्छृणु यस्ते वष्टि ववक्षि तत्।
यद् वीळयासि वीळु तत्॥ (ऋक्० ८। ४५। ६)

पिता! आप मघवा हैं ऐश्वर्यकी राशि हैं। आपके कोशमे किसी प्रकारकी कमी नहीं है। भक्त जो कामना करता है उसे आप पूर्ण कर देते हैं। आप उसकी सर्वाङ्ग-निर्बलताका उन्मूलन करके उसे बलवान् बना देते हैं।

प्रभो! आप सोम हैं, सजीवनी शक्ति हैं। आप जिसे जीवित रखना चाहते हैं उसे कोई मार नहीं सकता। आपको स्तोत्र बडे प्यारे हैं, भक्तिभरे स्तुति-गान जब भक्तके कण्ठसे निकलते हैं, तब आप बड़े चावसे उन्हें सुनते हैं। आप ही पालक और रक्षक हैं।

पिता! आज मैं भी पूछ रहा हूँ कि मैं कब आपके भीतर प्रविष्ट होऊँगा (आपको प्राप्त करूँगा)? कब यह अवसर आयेगा जब मैं आप-जैसे वरणीयका अपनत्व प्राप्त करूँगा? आप ही एकमात्र यहाँ वरण करने योग्य हैं। किसीको चुनना है तो वह एक आप ही हैं। आप ही पथके विघ्नोको भी हटानेवाले हैं। पिता! क्या आप मेरे इस हव्यको ग्रहण करेंगे? मेरी पुकारको सुनेंगे? क्या वह स्वर्णघटिका इस जीवनमे उदित होगी जब मैं प्रसन्न-मनसे आपकी लावण्यमयी मुख-मुद्राको देख सकूँगा?

देव! आपकी खोजमें मैं इधर-उधर बहुत भटका संतों, कवियो साधको और विद्वानोंके पास गया पर सबने एक ही बात कही—'उन प्रभुकी कृपा प्राप्त करो। अनुनय विनय करके उन्हें मना लो। उनकी कृपासे ही तुम्हारा पाप कटेगा। उन दयालु देवकी दया ही निखिल तापशमनी ओषधि है' (ऋक्० ७। ८६। २)।

क्व स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाष।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथा ॥
(ऋक्० २। ३३। ७)

हे रुद्र! दु खी प्राणियोके दु खोंको दूर करनेवाले तथा पापोको पछाडनेवाले आपके कल्याणकारक हाथ कहाँ हैं? आपका दयार्द्रवित वरद कर जिसके सिरपर पड़ गया उसे

ओषधियोंकी ओषधि मिल गयी। उसके संतापका शमन हो गया। कितनी शीतलता है आपके हाथमें! दाहक अग्नि एकदम बुझ गयी, शान्त हो गयी।'

भक्त तड़प रहा था, पापका प्रचण्ड पावक धक्-धक् कर जल रहा था आपके कृपा-करका स्पर्श होते ही न जाने वह कहाँ छू-मंतर हो गया। एक नहीं अनेक बार ऐसे अनुभव हुए। क्या दिव्य शक्तियोंके प्रति मैंने कोई अपराध किया था? पिता! आप ही जानें। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि आप मेरे साथ रहते हैं और यदि कोई पाप इस मन या तनसे हो भी गया तो उससे आपने ही मुझे बचाया और समस्याओंका समाधान किया है। आपकी अमोघ क्षमा मुझे मिली है, मैं इतना तो अवश्य ही जानता हूँ।

पिता! अब एक ही आकाक्षा है—यह जो कुछ है आपका है, आपका ही दिया हुआ है। जब-जब इस शरीर-यन्त्रपर दृष्टि जाती है, तब-तब आपका संकेत प्राप्त होता है। मैं चाहता हूँ, जैसे इस शरीरने आपका आभास प्राप्त किया है, वैसे ही यह मन भी अब सर्वात्मना आपका ही होकर रहे। मेरी बुद्धिको ऐसा मोड़ दीजिये जिससे यह आपका अदभ्र प्रकाश प्राप्त करती रहे—

त्वामिद्धि त्वायवो ऽनुनोनुवतश्चरान्। सखाय इन्द्र कारव ॥
(ऋक्०८। ९२। ३३)

मेरी शिल्पकारिता काव्यकला और बुद्धिविशारदताकी सार्थकता इसीमें है कि यह आपका ही स्तवन करे, आपके ही सामने झुके। कोई ऐसी युक्ति बतलाइये जिससे मेरी साधना आपके मनको प्रसन्न कर सके। मेरे भीतर समर्पणमयी भावना भर दीजिये। मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। मेरे तो एकमात्र आप हैं। मेरे सर्वस्व! मेरे प्राण! अन्तराराम! मेरे शाश्वत सम्बन्धी। आप मेरे हैं और मैं आपका हूँ—

त्वमस्माकं तव स्मसि॥ (ऋक्० ८। ९२। ३२)

आज मेरी समस्त मतियाँ आपकी सङ्गिनी सहेली अनुचरी बननेके लिये व्याकुल हो उठी हैं। ये उमड़ रही हैं, विस्तृत व्योममें फैल रही हैं आपको अञ्चल छूने और पकड़नेके लिये—'आकाशस्तल्लिङ्गात्।' (वेदान्तदर्शन १। १। २२)—इस आकाशमें आपके कुछ चिह्न पाये जाते हैं इसीलिये ये मतियाँ आकाशमें संतानित हो रही हैं। हृदयाकाश तुम्हारे मिलनका क्षेत्र कहा गया है—

'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्॥'
(ब्रह्मसूत्र १। ३। २५)

इस आकाशमें ये मतियाँ आपकी खोज कर रही हैं आपके ही स्पर्शकी आकाक्षा रखती हैं। क्या भटकाते हैं इन्द्र? मेरी विनयको क्यों अनसुनी कर रहे हैं? प्यासे चातकको द्यौसे गिरनेवाले उत्सकी—आकाशकी वर्षाधाराकी आवश्यकता है। मेरी मतिको भी तुम्हारे स्पर्शकी आकाक्षा है। छू दीजिये देव! छू दीजिये। यह क्या प्यासी रहे? इस तृषितको तृप्ति प्रदान कीजिये। इसकी पिपासाको शान्त कीजिये। कृपानिधान! कृपाकी कोर इधर भी कर दीजिये। जलकी एक बूँद इसके मुखमें भी डाल दीजिये—

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन॥
(अथर्ववेद १०। ७। ३७)

देव! न जाने कितने दिन बीत गये, कितनी रातें निकल गयीं कितने वर्ष और कितने जन्म एक-पर-एक बीतते गये किंतु आपके दर्शनकी लालसा ज्यों-की-त्यों बनी है। यह प्राण चलता ही रहता है यह मन विश्रामका नाम तक नहीं लेता। ये जीवन-कर्म निरन्तर प्रवहमान हैं। इनकी गतिमें इनकी क्रियामें केवल आपके दर्शनकी लगन बसी हुई है। इस असत् नाम-रूपके प्रपंचमें आप ही एकमात्र सत्य हैं। आपकी प्राप्तिकी आकाक्षामें ही ये प्राण और मन धावमान हैं—ये मतियाँ विस्तृत हैं। इनकी गतियोंकी गति परम गति एवं परम लक्ष्य एकमात्र आप हैं।

नह्यन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृळय॥
यो नः शश्वत् पुराविथामृध्रो वाजसातये। स त्वं न इन्द्र मृळय॥
(ऋक्० ८। ८०। १-२)

मेरे एकमात्र इष्टदेव! आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी त्राता नहीं है। मैं क्या, यहाँ सब-के-सब केवल आपकी ओर देख रहे हैं आपकी ही शरण चाहते हैं। इन सबपर आक्रमण होते हैं किंतु आपपर कोई आक्रमण कर ही नहीं सकता। आप ही सबको बचाते आये हैं। दयालु देव! दया कीजिये मुझे भी बचाइये अपना आश्रय दीजिये अपनी कृपादृष्टिकी वर्षाद्वारा मेरे भी अन्तरात्माका [illegible] कीजिये।

आख्यान—

धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे

भगवान् श्रीकृष्ण अपन श्रीमुखसे धनुर्धर पार्थसे कहते हैं कि मैं प्रत्येक युगम धर्मसस्थापनार्थ अवतार ग्रहण किया करता हूँ—'धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे'। यह 'धर्म' किसी सकुचित अर्थका अभिव्यञ्जक नहीं, प्रत्युत जिसके द्वारा प्राणिमात्रका धारण-पोषण हो, वही (धर्म) है।' दूसरे शब्दामे विश्वनाटकके सूत्रधार महाप्रभु नारायणकी विश्वका धारण पोषण करनेवाली शक्ति ही धर्म है। अत प्रत्येक युगमें भगवान्का एतदर्थ (धर्मरक्षार्थ) अवतार लेना पड़ता है। वैदिक ऋचा (ऋक्० १। २२। १८)-में भगवान्के इस नित्य कर्तव्यका वर्णन प्राप्त होता है और उसीकी पुष्टि निम्न सूक्तिमें की गयी है—

प्रतियुगं वपुर्धत्ते त्रिविक्रमादिक हरि।
गोपा मेधातिथिर्ब्रूते विष्णुं धर्मस्य रक्षकम्॥

अर्थात् भगवान् श्रीहरि युग-युगमें धर्मरक्षणार्थ वामनादिक रूपमें शरीर धारण किया करते हैं। ऋषि मेधातिथि स्वदृष्ट मन्त्रमें 'गोपा' शब्दद्वारा श्रीकृष्णरूपम विष्णुको धर्मरक्षक बताते हैं।

उक्त सूक्तिसे जहाँ भारतीय सस्कृतिका एक प्रमुख तत्त्व अवतारवाद स्पष्टत श्रुतिसम्मत सिद्ध हो जाता है, वहीं धर्मविरुद्ध आचरण करनेवालोंको उपदेश मिलता है कि वे अधर्मसे विरत हो जायँ। कारण यह भगवान्का नित्य कार्य है। धर्मविरोधी बननेपर सीधे भगवान्से मुकाबला करना पड़ेगा, जो बड़ा महँगा सौदा होगा।

प्रस्तुत सूक्तिके पूर्वार्धमें श्रीहरिके पूर्वयुगीय शरीर-धारणमें वामनावतारका उल्लेख है तो उत्तरार्धमें वैदिक ऋचाके प्रतीक-रूपसे सूचित किया गया कि उन्हीं वामनावतारधारी श्रीहरिने द्वापरयुगमे नन्दनन्दन श्रीकृष्णका रूप धारण किया और धर्मकी रक्षा की। गोपालकृष्ण भगवान् श्रीहरिकी लीलाएँ तो अतिप्रसिद्ध और अतिव्यापक हैं। अत उन्हें छोड़ यहाँ संक्षेपमें वामनावतारकी कथाका उल्लेखमात्र किया जा रहा है।

भगवान् वामनका ही एक नाम 'त्रिविक्रम' है, जिन्होंने तीन कदमोंमें त्रिलोकीका नाप लिया। त्रिविक्रमसम्बन्धी शरीर ही 'त्रैविक्रम' कहा जाता है। वामनावतारकी यह कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है।

भक्तराज प्रह्लादके पौत्र, असुरोके राजा बलिको इन्द्रने पहले जीत लिया था, किंतु उसने भृगुवंशीय ब्राह्मणोंकी एकनिष्ठ सेवा करके उनके अनुग्रहस्वरूप पुन अटूट सामर्थ्य पायी और एक बार पुन इन्द्रपर चढाई कर दी। अबकी बार इन्द्र विवश हो गये। विष्णुने भी कह दिया कि असुरराजकी ब्राह्मणोपासनाका पुण्य इतना बलवान् है कि आपके लिये स्वर्ग छोड़कर भाग जाना ही श्रेयस्कर होगा। 'ब्रह्मतेजो बलं बलम्'—ब्राह्मण-बलका कोई सामना नहीं कर सकता। आज असुरराज सर्वथा धर्मनिष्ठ बन गया है।

अब तो देवोंकी बडी दयनीय दशा हुई। उनकी ममतामयी माता ब्राह्मणी अदितिसे यह देखा नहीं गया। उसने जब अपने पति ब्राह्मणश्रेष्ठ कश्यप ऋषिसे अन्तरकी यह वेदना प्रकट की तब उन्होंने देवोंको असुरोसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मबल-धर्मबल अर्जन करनेकी सलाह देते हुए कहा कि 'धर्ममूर्ति धर्मरक्षक नारायण ही यह पीडा दूर कर सकते हैं, क्योंकि असुरराज पूर्ण धर्मनिष्ठ हो गया है, अत तुम्हारे पुत्र देव उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।'

फलस्वरूप अदितिने उग्र तप किया—पयोव्रतका अनुष्ठान किया। उस पुण्यके प्रभावसे भगवान् श्रीविष्णु उनके घर वामनरूपधारी पुत्रके रूपमें प्रकट हुए और कामना पूरी करनेका वचन देकर उन्होंने माताको आश्वस्त किया।

इधर असुरराज बलि सौ अश्वमेध पूरा करके विजित इन्द्र-पदको अटल बनानेके लिये ब्राह्मसस्कृतिक प्राण यज्ञसस्थामें लगा था कि प्रभु वामन ब्राह्मण बनकर उसके यज्ञमें पहुँचे। स्वागतके बाद बलिने अतिथिसे अभीष्ट माँगनेकी प्रार्थना की तो प्रभुने तीन पग पृथ्वी माँगी। दैत्यगुरु शुक्राचार्यने विष्णुकी यह माया ताड ली और असुरराजको रोका, किंतु असुरराज अपना वचन पूरा करनेपर ही अड़ा रहा। विष्णुने दो पगोंमें भूलोक एवं स्वर्गलोकका नाप लिया और पुन इन्द्रको स्वर्गका राज्य सौंप दिया। तीसरा पग नापनेके लिये बलिके पास अपना कोई स्थान ही न रह गया।

इस तरह परम धर्मनिष्ठ होते हुए भी नारायणका तीन

पग भूमि देनेका वचन देकर भी उसे पूरा न करनेका पाप लगा असुरराजको। दैववश उससे अकस्मात् यह अधर्म हो गया और उसकी धर्मशक्ति क्षीण हो गयी। साथ ही अनुचित होनेके कारण उसने गुरु (शुक्राचार्य)-का वचन नहीं माना। फलत जिस भार्गव ब्रह्मवशके पौरुषसे वह इतना बडा बना वह बल भी उसके हाथसे जाता रहा। अन्तत उसे वरुणके पाशामें बँधकर सारे ऐश्वर्यसे हाथ धोना पडा।

यह अलग बात है कि इतना होते हुए भी उसकी भगवन्निष्ठा कम न हुई। फलस्वरूप पुन वह भगवत्-कृपासे ही वरुण-पाशसे मुक्त हुआ। साथ ही भगवान्ने न केवल उसे रसातलका राज्य दिया प्रत्युत स्वय बलिकी दरवानी भी स्वीकार की।

सक्षेपमें यही वामनावतारकी कथा है जिसमे धर्मकी सूक्ष्म-गतिका चित्रण करते हुए अन्तिम विजय धर्मकी ही बतायी गयी है। साथ ही यह बतलाते हुए कि सर्वशक्तिमान् भगवान्ने भिक्षा-जैसी निन्दनीय वृत्ति अपनाकर भी धर्मकी रक्षा की उनके धर्मरक्षण-कार्यकी अखण्डताकी ओर स्पष्ट सकेत किया गया है। हमें भी चाहिये कि भगवान्के परम प्रिय धर्मके रक्षार्थ कमर कसकर उनका अनुग्रह पाते रह।

प्रस्तुत कथाकी सूचक ऋचा तो एक ही है पर वह न केवल ऋग्वेदम, प्रत्युत चारो वेदाकी सहिताओ एव ब्राह्मण-ग्रन्थमें भी समान रूपसे प्राप्त होती है। ऋग्वेद (१। २२। १८), यजुर्वेद वाजसनेयि सहिता (३४। ४३), सामवेद (१६७०) अथर्ववेद (७।२६।५) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।४।६।१)-म वह ऋचा इस प्रकार उद्धृत है—

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य ।
अतो धर्माणि धारयन्॥

तात्पर्य यह कि धर्मके धारण अर्थात् सस्थापनके लिये उस व्यापक परमात्माने पूर्वयुगम अपने केवल तीन पगास सारे ब्रह्माण्डको नाप लिया सारे ब्रह्माण्डपर स्वामित्व पा लिया। उसी व्यापक परमात्मा विष्णुने द्वापरयुगमें धर्मरक्षार्थ गोपबाल श्रीकृष्णका रूप धारण किया। उनका वह श्रीकृष्णरूप नरकासुर-जैसे बडे-बडे असुराके लिय भी अदम्य रहा। कोई कितना ही बडा असुर क्या न हो उन्हें पराभूत नहीं कर पाता था फिर हिसाकी बात तो दूर ही रही। [वेदोपदेश-चन्द्रिका]

वेदोमे भक्तिका स्वरूप

(श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

वेदोके सम्बन्धमे कई प्रकारकी मिथ्या और भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। इनम एक यह भी है कि वेदामे भक्ति-प्रेरक भावनाएँ उतनी विशद नहीं हैं, जितनी अन्य ग्रन्थामे—विशेषत मध्यकालीन भक्तोकी वाणीमे हैं। एक धारणा यह भी है कि वेद-मन्त्र इतने क्लिष्ट हैं कि सामान्य जनके लिये उनका समझना कठिन होता है। इस सम्बन्धमे हमारा निवेदन यह है कि यदि सस्कृत भाषाका और विशेषत वैदिक सस्कृतका तनिक भी ज्ञान हो तो वेदके अधिकाश मन्त्र सहज ही समझमे आ जाते हैं। वेदाकी सस्कृत भाषा उस सस्कृतसे कई अशामें भिन्न है जिसे हम वाल्मीकिरामायण महाभारत और गीतामें पढते हैं। उदाहरणके लिये 'देव' शब्दका तृतीया विभक्तिका बहुवचन प्रचलित सस्कृतमें 'देवै' होता है पर वेदम प्राय 'देवेभि' का प्रयोग आता है। वेदको वेदसे समझनेका और पूर्ण श्रद्धाके साथ उसका अध्ययन करनेका यदि प्रयत्न किया जाय तो निश्चितरूपसे सारी दिक्कत दूर हो सकती हैं। गुरुजनो और विद्वत्पुरुषोसे नम्रतापूर्वक शङ्का-निवारण तो करते ही रहना चाहिये।

भक्तिका स्वरूप

वेद वस्तुत भक्तिके आदिस्रोत हैं। यदि हम भक्तिका स्वरूप समझ ले तो वेदाम वर्णित भक्तितत्त्वका समझनमें सुगमता होगी। भक्तिका लक्षण शास्त्राम इस प्रकार किया गया है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे अर्थात् परमेश्वरमे अविचल और ऐकान्तिक भावना तथा आत्मसमर्पणकी उत्कट आकाक्षाको 'भक्ति' कहा गया है। हम यह भी नहीं भूलना चाहिये कि 'भक्ति' शब्द 'भज सेवायाम्' धातुसे क्तिन् प्रत्यय लगकर

आख्यान—

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे

भगवान् श्रीकृष्ण अपने श्रीमुखसे धनुर्धर पार्थसे कहते हैं कि मैं प्रत्येक युगमें धर्मसंस्थापनार्थ अवतार ग्रहण किया करता हूँ—'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे'। यह 'धर्म' किसी संकुचित अर्थका अभिव्यञ्जक नहीं, प्रत्युत जिसके द्वारा प्राणिमात्रका धारण-पोषण हो वही (धर्म) है।' दूसरे शब्दोंमें विश्वनाटकके सूत्रधार महाप्रभु नारायणकी विश्वका धारण पोषण करनेवाली शक्ति ही धर्म है। अतः प्रत्येक युगमें भगवान्‌को एतदर्थ (धर्मरक्षार्थ) अवतार लेना पड़ता है। वैदिक ऋचा (ऋक्० १। २२। १८)-में भगवान्‌के इस नित्य कर्तव्यका वर्णन प्राप्त होता है और उसीकी पुष्टि निम्न सूक्तिमें की गयी है—

प्रतियुगं वपुर्धत्ते त्रिविक्रमादिकं हरिः।
गोपां मेधातिथिर्ब्रूते विष्णुं धर्मस्य रक्षकम्॥

अर्थात् भगवान् श्रीहरि युग-युगमें धर्मरक्षणार्थ वामनादिके रूपमें शरीर धारण किया करते हैं। ऋषि मेधातिथि स्वदृष्ट मन्त्रमें 'गोपा' शब्दद्वारा श्रीकृष्णरूपमें विष्णुको धर्मरक्षक बताते हैं।

उक्त सूक्तिसे जहाँ भारतीय संस्कृतिका एक प्रमुख तत्त्व अवतारवाद स्पष्टतः श्रुतिसम्मत सिद्ध हो जाता है वहीं धर्मविरुद्ध आचरण करनेवालोंको उपदेश मिलता है कि वे अधर्मसे विरत हो जायँ। कारण यह भगवान्‌का नित्य कार्य है। धर्मविरोधी बननेपर सीधे भगवान्‌से मुकाबला करना पड़ेगा, जो बड़ा महँगा सौदा होगा।

प्रस्तुत सूक्तिके पूर्वार्धमें श्रीहरिके पूर्वयुगीय शरीर-धारणमें वामनावतारका उल्लेख है तो उत्तरार्धमें वैदिक ऋचाके प्रतीक-रूपसे सूचित किया गया कि उन्हीं वामनावतारधारी श्रीहरिने द्वापरयुगमें नन्दनन्दन श्रीकृष्णका रूप धारण किया और धर्मकी रक्षा की। गोपालकृष्ण भगवान् श्रीहरिकी लीलाएँ तो अतिप्रसिद्ध और अतिव्यापक हैं। अतः उन्हें छोड़ यहाँ संक्षेपमें वामनावतारकी कथाका उल्लेखमात्र किया जा रहा है।

भगवान् वामनका ही एक नाम 'त्रिविक्रम' है जिन्होंने तीन कदमोंमें त्रिलोकीको नाप लिया। त्रिविक्रमसम्बन्धी शरीर ही 'त्रैविक्रम' कहा जाता है। वामनावतारकी यह कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है।

भक्तराज प्रह्लादके पौत्र असुरोंके राजा बलिको इन्द्रने पहले जीत लिया था, किंतु उसने भृगुवंशीय ब्राह्मणोंकी एकनिष्ठ सेवा करके उनके अनुग्रहस्वरूप पुनः अटूट सामर्थ्य पायी और एक बार पुनः इन्द्रपर चढ़ाई कर दी। अबकी बार इन्द्र विवश हो गये। विष्णुने भी कह दिया कि असुरराजकी ब्राह्मणोपासनाका पुण्य इतना बलवान् है कि आपके लिये स्वर्ग छोड़कर भाग जाना ही श्रेयस्कर होगा। 'ब्रह्मतेजो बलं बलम्'—ब्राह्मण-बलका कोई सामना नहीं कर सकता। आज असुरराज सर्वथा धर्मनिष्ठ बन गया है।

अब तो देवोंकी बड़ी दयनीय दशा हुई। उनकी ममतामयी माता ब्राह्मणी अदितिसे यह देखा नहीं गया। उसने जब अपने पति ब्राह्मणश्रेष्ठ कश्यप ऋषिसे अन्तरकी यह वेदना प्रकट की, तब उन्होंने देवोंको असुरोंसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मबल-धर्मबल अर्जन करनेकी सलाह देते हुए कहा कि 'धर्ममूर्ति धर्मरक्षक नारायण ही यह पीड़ा दूर कर सकते हैं, क्योंकि असुरराज पूर्ण धर्मनिष्ठ हो गया है अतः तुम्हारे पुत्र देव उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।'

फलस्वरूप अदितिने उग्र तप किया—पयोव्रतका अनुष्ठान किया। उस पुण्यके प्रभावसे भगवान् श्रीविष्णु उनके घर वामनरूपधारी पुत्रके रूपमें प्रकट हुए और कामना पूरी करनेका वचन देकर उन्होंने माताको आश्वस्त किया।

इधर असुरराज बलि सौ अश्वमेध पूरा करके विजित इन्द्र-पदको अटल बनानेके लिये ब्राह्मसंस्कृतिके प्राण यज्ञसंस्थामें लगा था कि प्रभु वामन ब्राह्मण बनकर उसके यज्ञमें पहुँचे। स्वागतके बाद बलिने अतिथिसे अभीष्ट माँगनेकी प्रार्थना की तो प्रभुने तीन पग पृथ्वी माँगी। दैत्यगुरु शुक्राचार्यने विष्णुकी यह माया ताड़ ली और असुरराजको रोका, किंतु असुरराज अपना वचन पूरा करनेपर ही अड़ा रहा। विष्णुने दो पगोंमें भूलोक एवं स्वर्गलोकको नाप लिया और पुनः इन्द्रको स्वर्गका राज्य सौंप दिया। तीसरा पग नापनेके लिये बलिके पास अपना कोई स्थान ही न रह गया।

इस तरह परम धर्मनिष्ठ होते हुए भी ब्राह्मणको तीन

पग भूमि देनेका वचन देकर भी उसे पूरा न करनेका पाप लगा असुरराजको। दैववश उससे अकस्मात् यह अधर्म हो गया और उसकी धर्मशक्ति क्षीण हो गयी। साथ ही अनुचित होनेके कारण उसने गुरु (शुक्राचार्य)-का वचन नहीं माना। फलत जिस भार्गव ब्रह्मवशके पौरुषसे वह इतना बडा बना वह बल भी उसके हाथसे जाता रहा। अन्तत उसे वरुणके पाशोमे बँधकर सारे ऐश्वर्यसे हाथ धोना पडा।

यह अलग बात है कि इतना होते हुए भी उसकी भगवन्निष्ठा कम न हुई। फलस्वरूप पुन वह भगवत्-कृपासे ही वरुण-पाशसे मुक्त हुआ। साथ ही भगवान्ने न केवल उसे रसातलका राज्य दिया प्रत्युत स्वय बलिकी दरबानी भी स्वीकार की।

सक्षेपम यही वामनावतारकी कथा है जिसमे धर्मकी सूक्ष्म-गतिका चित्रण करते हुए अन्तिम विजय धर्मकी ही बतायी गयी है। साथ ही यह बतलाते हुए कि सर्वशक्तिमान् भगवान्ने भिक्षा-जैसी निन्दनीय वृत्ति अपनाकर भी धर्मकी रक्षा की उनके धर्मरक्षण-कार्यकी अखण्डताकी आर स्पष्ट सकेत किया गया है। हमें भी चाहिये कि भगवान्के परम प्रिय धर्मके रक्षार्थ कमर कसकर उनका अनुग्रह पात रहें।

प्रस्तुत कथाकी सूचक ऋचा तो एक ही है, पर वह न केवल ऋग्वेदम, प्रत्युत चारो वेदोंकी सहिताआ एव ब्राह्मण-ग्रन्थमे भी समान रूपसे प्राप्त होती है। ऋग्वेद (१।२२।१८), यजुर्वेद वाजसनयि सहिता (३४।४३) सामवेद (१६७०) अथर्ववेद (७।२६।५) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।४।६।१)-मे वह ऋचा इस प्रकार उद्धृत है—

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य ।
अतो धर्माणि धारयन्॥

तात्पर्य यह कि धर्मके धारण अर्थात् सस्थापनके लिये उस व्यापक परमात्माने पूर्वयुगमे अपने केवल तीन पगास सारे ब्रह्माण्डको नाप लिया सारे ब्रह्माण्डपर स्वामित्व पा लिया। उसी व्यापक परमात्मा विष्णुने द्वापरयुगम धर्मरक्षार्थ गापबाल श्रीकृष्णका रूप धारण किया। उनका वह श्रीकृष्णरूप नरकासुर-जैसे बडे-बडे असुराक लिये भी अदम्य रहा। कोई कितना ही बडा असुर क्या न हो उन्हे पराभूत नहीं कर पाता था फिर हिसाकी बात ता दूर ही रही। [वेदोपदश-चन्द्रिका]

वेदोमे भक्तिका स्वरूप

(श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

वेदोके सम्बन्धमे कई प्रकारकी मिथ्या और भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। इनमे एक यह भी है कि वेदोंमें भक्ति-प्रेरक भावनाएँ उतनी विशद नहीं हैं जितनी अन्य ग्रन्थोमे—विशेषत मध्यकालीन भक्तोकी वाणीमे हैं। एक धारणा यह भी है कि वेद-मन्त्र इतने क्लिष्ट हैं कि सामान्य जनके लिये उनका समझना कठिन होता है। इस सम्बन्धमे हमारा निवेदन यह है कि यदि सस्कृत भाषाका और विशेषत वैदिक सस्कृतका तनिक भी ज्ञान हा तो वेदके अधिकाश मन्त्र सहज ही समझमे आ जाते हैं। वेदाकी सस्कृत भाषा उस सस्कृतसे कई अशाम भिन्न है जिसे हम वाल्मीकिरामायण महाभारत और गीतामें पढते हैं। उदाहरणक लिये 'देव शब्दका तृतीया विभक्तिका बहुवचन प्रचलित सस्कृतमें 'देवै होता है पर वेदमें प्राय 'देवेभि' का प्रयोग आता है। वेदको वेदसे समझनेका आर पूर्ण श्रद्धाक साथ उसका अध्ययन करनका यदि प्रयत्न किया जाय तो निश्चितरूपसे सारी दिक्कत दूर हो सकती हैं। गुरुजना और विद्वत्पुरुषासे नमतापूर्वक शङ्का-निवारण ता करते ही रहना चाहिये।

भक्तिका स्वरूप

वेद वस्तुत भक्तिके आदिस्रोत हैं। यदि हम भक्तिका स्वरूप समझ ल तो वेदोम वर्णित भक्तितत्त्वको समझनेम सुगमता हागी। भक्तिका लक्षण शास्त्राम इस प्रकार किया गया है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे अर्थात् परमश्वरम अविचल और ऐकान्तिक भावना तथा आत्मसमर्पणकी उत्कट आकाक्षाको 'भक्ति' कहा गया है। हम यह भा नहीं भूलना चाहिय कि 'भक्ति शब्द भज सेवायाम्' धातुस क्तिन् प्रत्यय लगकर

सिद्ध होता है। अर्थात् भक्ति हृदयकी उस भावनाका नाम है, जिसम साधक जहाँ एक ओर पूर्णभावसे ब्रह्ममें अनुरक्त हो और सर्वतोभावेन अपनेको ब्रह्मार्पण करनेवाला हो, वहाँ साथ ही ब्रह्मद्वारा रचित इस सारी सृष्टिके प्रति सेवाकी भावना रखनेवाला भी हो। यजुर्वेद (३६। १८)-के शब्दोंमें—

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

वेदका भक्त कहता है—'हे समर्थ! मुझे शक्तिसम्पन्न बनाओ। मैं सब प्राणियोको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ और सब प्राणी मुझ मित्रकी दृष्टिसे देखनेवाले हो। हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें।'

भक्ति और शक्तिका अटूट सम्बन्ध

वैदिक भक्तिकी एक और विशेषता है, आगे चलकर जिसका मध्यकालम लोप हो गया। वह यह कि वेदमें आपको ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिलेगा जिसमे उपासक, साधक अथवा भक्त अपनेको अधम नीच पापी खल, दुष्ट तथा पतित इत्यादि कहे अथवा प्रभुको किसी प्रकारका उपालम्भ दे। इसका कारण यह है कि वेदमें 'भक्ति' के साथ 'शक्ति' का सतत और अविच्छिन्न सम्बन्ध माना गया है। वेदके द्वारा प्रभु यह आदेश देते हैं कि निर्बल और अशक्त आत्मा सच्चा भक्त नहीं बन सकता। इसलिये वेदमें भक्त प्रभुको तेज वीर्य (शक्ति) बल, ओज और सहनशक्तिका अजस्र भंडार मानता हुआ उससे तेज, वीर्य (शक्ति), बल ओज और सहनशक्तिकी कामना करता है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि॥

वेदका भक्त कितना सशक्त और कितना आत्मविश्वासी है—यह इस मन्त्रके एक अंशमें देखिये—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
(अथर्व० ७।५०।८)

'मेरे दाये हाथमें कार्यशक्ति है और बाये हाथमें विजय है।'

प्रभुके प्रति प्रणमनकी भावना

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वेदमे प्रभुके प्रति साधककी प्रणमन, विनमता और आत्मलघुताकी भावनाका निराकरण है। निम्नलिखित मन्त्रोंमें भक्त कितनी तन्मयताके साथ विशाल प्रभुचरणोंमे अपनेको नतमस्तक हो उपस्थित करता है, इसका सम्यक् निदर्शन हुआ है—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्व० १०।८।१)

भूत भविष्यत वर्तमानका जो प्रभु है अन्तर्यामी।
विश्व व्योममें व्याप्त हो रहा जो त्रिकालका है स्वामी॥
निर्विकार आनन्द कन्द है जो कैवल्यस्वरूप सुखधाम।
उस महान जगदीश्वरको है अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्व० १०।७।३२)

सत्य ज्ञानकी परिचायक यह पृथ्वी जिसके चरण महान।
जो इस विस्तृत अन्तरिक्षको रखता है निज उदर समान॥
शीर्षतुल्य है जिसके शोभित यह नक्षत्रलोक द्युतिमान।
उस महान जगदीश्वरको है अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

प्रभुसे हम क्या माँगें यह निम्न मन्त्रमें देखिये—

गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥
(ऋक्० १।८६।१०)

'हे प्रियतम! हृदय-गुहाके अन्धकारको विलीन कर दो, नाशक पापको भगा दो और हे ज्योतिर्मय! हम जिस ज्योतिको चाहते हैं वह हम दो।'

शरणागतकी भावना

भगवान् अशरणोंके शरण हैं। उन्हींकी कृपासे मेरा उद्धार हो सकता है—

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः॥
(ऋक्० ८।११।१)

चतुर्दिक् तुम्हीं नाथ छाये हुए हो
मधुर रूप अपना बिछाये हुए हो।
तुम्हीं व्रत विधाता नियन्ता जगत्के
स्वयं भी नियम सब निभाये हुए हो॥

प्रभो! शक्तियाँ दिव्य अनुपम तुम्हारी
तुम्हीं दूर तुम पास आये हुए हो।
करें हम यजन, पुण्य शुभकर्म जितने
सभीमें प्रथम स्थान पाये हुए हो॥
तुम्हारी करें वन्दना देव! निशिदिन
तुम्हीं इस हृदयमें समाये हुए हो॥

निराश मत हो मानव!

जिस समय मानवकी जीवन-नैया इस भवसागरमे डाँवाडोल होती है, वह निराश हो जाता है उस समय करुणागार भगवान् आशाकी प्रेरणा देते हैं—

उद्यान ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेमममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथ मा वदासि॥
(अथर्ववेद ८।१।६)

किसलिये नैराश्य छाया?

किसलिये कुम्हला रहा फूल-सा चेहरा तुम्हारा॥
तुम स्वयं आदित्य! दुर्दिनका न गाओ गान रोकर।
हे सुदिव्य महारथी! संकल्प एक महान् होकर॥
फिर बढ़ो फिर फिर बढ़ो चिरतक बढ़ो, अभिमान खाकर।
फिर तुम्हारी हार भी विख्यात होगी जीत बनकर॥
फिर तुम्हारी मृत्यु गूँजेगी अमर संगीत होकर।
काल यह संदेश लाया किसलिये नैराश्य छाया॥

प्रभुका यह विश्व रमणीय है

वेदका भक्त इसे रमणीय समझता है और वास्तविक समझता है। वह प्रभुसे प्रार्थना करता है—

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्य।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्त शिशिर इन्नु रन्त्य॥
(सामवेद ६१६)

वसन्त रमणीय सखे ग्रीष्म रमणीय है।
वर्षा रमणीय सखे शरत् रमणीय है॥
हेमन्त रमणीय सखे शिशिर रमणीय है।
मन स्वयं भक्त बने विश्व तो रमणीय है॥

वेदाम भक्तिके उदात्त और पुनीत उद्गार अनेक स्थलापर अंकित हैं। हमने यहाँपर कुछ उदाहरण ही उपस्थित किये हैं। इन्हें पढकर यदि हमारी वेदामें श्रद्धा बढे उसके स्वाध्यायकी ओर प्रवृत्ति हो और वेदोकी रक्षा तथा उसके प्रचारकी ओर हम लग सकें तो निश्चय ही हमारा अपना देशका और विश्वका कल्याण होगा। मङ्गलमय भगवान् ऐसी कृपा कर।

आख्यान—

ब्रह्म क्या है?

गर्ग-गोत्रमें उत्पन्न बलाकाके पुत्र बालाकि नामके एक प्रसिद्ध ब्राह्मण थे। उन्होने सम्पूर्ण वेदोका अध्ययन तो किया ही था वे वेदाके अच्छे वक्ता भी थे। उन दिना ससारमें सब ओर उनकी बडी ख्याति थी। वे उशीनर देशके निवासी थे परतु सदा विचरण करनेके कारण कभी मत्स्यदेशमें, कभी कुरु-पाञ्चालमें और कभी काशी तथा मिथिला-प्रान्तमें रहते थे। इस प्रकार वे सुप्रसिद्ध गार्ग्य (बालाकि) एक दिन काशीके विद्वान् राजा अजातशत्रुके पास गये और अभिमानपूर्वक बोले—'राजन्! आज मैं तुम्ह ब्रह्मतत्त्वका उपदेश करूँगा।' इसपर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'आपकी इस बातपर हमने आपको एक सहस्र गौएँ दीं। आज आपने हमारा गौरव राजा जनकके समान कर दिया। अत इन्हे स्वीकार करके हमें ब्रह्मतत्त्वका शीघ्र उपदश करें।'

इसपर गार्ग्य बालाकिने कहा कि 'राजन्! यह जो सूर्यमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुप है इसीकी मैं ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं, नहीं इसके विषयमे आप सवाद न कर। निश्चय ही यह सबसे महान् शुक्लाम्बरधारी तथा सर्वोच्च स्थितिम स्थित सबका मस्तक है। मैं इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूँ। इसी प्रकार उपासना करनेवाला कोई दूसरा मनुष्य भी सबसे ऊँची स्थितिमें स्थित हो जाता है।'

तब गार्ग्य बालाकि पुन बोले—'यह जा चन्द्रमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, मैं इसको ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर अजातशत्रुने कहा—'नहीं नहीं इस विषयमें आप सवाद न करें। यह सोम राजा है और अन्नका आत्मा है। इसकी इस प्रकार उपासना करनेवाला व्यक्ति मुझ-जैसा ही अन्नराशिस सम्पन्न हा जाता है।

अब व गार्ग्य बाल—'यह जो विद्युन्मण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है इसीको मैं ब्रह्मरूपस उपासना करता हूँ।'

अजातशत्रुने इसपर यही कहा कि 'नहीं नहीं, इस विषयमें आप सवाद न करें, यह तेजका आत्मा है। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी हो जाता है।'

इसी प्रकार गार्ग्य क्रमश मेघ आकाश, वायु, अग्नि जल, दर्पण, प्रतिध्वनि पदध्वनि छायामय पुरुष शरीरान्तर्वर्ती पुरुष, प्राण तथा उभयनेत्रान्तर्गत पुरुषको ब्रह्म बतलाते गये और अजातशत्रुने इन सबका ब्रह्मका अङ्ग तथा ब्रह्मको इनका अङ्गी सिद्ध किया। अन्तमें हारकर बालाकिने चुप्पी साध ली और राजा अजातशत्रुको अपना गुरु स्वीकार किया तथा उनके सामने समिधा लेकर वे शिष्यभावसे उपस्थित हुए।

इसपर राजा अजातशत्रुने कहा—'यदि क्षत्रिय ब्राह्मणको शिष्य बनाये तो बात विपरीत हो जायगी, इसलिये चलिये एकान्तमें हम आपको ब्रह्मका ज्ञान करायेंगे।' यों कहकर वे बालाकिको एक सोये हुए व्यक्तिके पास ले गये और उसे 'ओ ब्रह्मन्! ओ पाण्डरवासा! ओ सोम राजा!' इत्यादि सम्बोधनोंसे पुकारने लगे, पर वह पुरुष चुपचाप सोया ही रहा। जब उसे दोनो हाथोंसे दबाकर जगाया तब वह जाग गया। तदनन्तर राजाने बालाकिसे पूछा—'बालाके! यह जो विज्ञानमय पुरुष है जब सोया हुआ था तब कहाँ था? और अब यह कहाँसे आ गया?' किंतु गार्ग्य यह कुछ न जान सके।

अजातशत्रुने कहा—'हिता' नामसे प्रसिद्ध बहुत सी नाडियाँ हैं। ये हृदयकमलसे सम्बद्ध हैं और वहींसे निकलकर सम्पूर्ण शरीरमें फैली हुई हैं। यह पुरुष सोते समय उन्हीं नाडियोंमें स्थित रहता है। जैसे क्षुरधानमें छूरा रखा रहता है, उसी प्रकार शरीरान्तर्गत हृदयकमलमें इस परम पुरुष परमात्माकी उपलब्धि होती है। वाक् चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ अनुगत सेवककी भाँति उसका अनुसरण करती हैं। इसके सो जानेपर ये सारी इन्द्रियाँ प्राणमें तथा प्राण इस आत्मामें लीन—एकीभावको प्राप्त हो जाता है।'

'यही आत्मतत्त्व है। जबतक इन्द्रको इस आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं था तबतक वे असुरोंसे हारते रहे। किंतु जब वे इस रहस्यको जान गये तब असुरोंको पराजित कर सम्पूर्ण देवताओंमें श्रेष्ठ हो गये स्वर्गका राज्य तथा त्रिभुवनका आधिपत्य पा गये। इसी प्रकार जो विद्वान् इस आत्मतत्त्वको जान लेता है उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं तथा उसे स्वाराज्य, प्रभुत्व तथा श्रेष्ठत्वकी प्राप्ति होती है।' (बृहदारण्यक०) [कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्]

~~~~

वैदिक ऋचाओंमें भगवत्तत्त्व-दर्शन

(श्रीगङ्गाधरजी गुरु बी०ए० एल्.एल०बी०)

भगवान् जगन्नाथ उत्कलके परमाराध्य देवता हैं। वैदिक ऋचाओंमें भगवान् जगन्नाथके तत्त्व-दर्शन गर्भित हैं, जो अनन्य-साधारण तथा अनिर्वचनीय हैं। वस्तुत जगन्नाथजीके रहस्यका समुद्घाटन साधारण मनुष्यके पक्षमें सहज-साध्य नहीं है। किस कालसे किस कारण जगन्नाथजी दारुब्रह्मरूपमें पूजित होते हैं एवं दारुविग्रहके रूपसे पूजित होनेका सार मर्म क्या है यह नि सदेह-भावसे स्थिर निर्णय करना अत्यन्त गहन व्यापार है। भगवदीय तत्त्वोंका भक्तिपरक विवेचन ऋग्वेद (१०। १५५। ३)-में वर्णित है—

> अदो यद्दारु प्लवते सिन्धो पारे अपूरुषम्।
> तदा रभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥

वेद-भाष्यकार सायणाचार्यने उक्त मन्त्रका जो अर्थ अपने भाष्यमें किया है उसका हिन्दीमें भाव इस प्रकार है—'जो अपौरुषेय पुरुषोत्तम नामवाले दारुमय देवता सिन्धुतीरमें जलके ऊपर भासमान हैं—हे स्तोता! तुम उन्हीं दारुका अवलम्बन करो। उन्हीं समुपास्य दारुमय देवताकी सहायता एवं करुणासे तुम परम उत्कृष्ट वैष्णव लोकको प्राप्त हो।'

उस परम तत्त्वके सम्बन्धमें ऋग्वेद (१०। ८१। ४)-में कहा गया है—

> कि स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस
> यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु।
> मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु
> तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥

'वह कौन-सा वन है? वह कौन वृक्ष है? जिससे
~~~~

आकाश और पृथ्वी निर्मित है। मनीषी लोग जिज्ञासा करे तथा अपने मनमे ही प्रश्न कर कि वह अधिष्ठान क्या है जो भुवनोको धारण कर रहा है?'

बीजसे वृक्ष और वृक्षसे ही बीजकी सृष्टि होती है। बीज और वृक्ष तथा सूक्ष्म और स्थूल घनिष्ठतासे सम्पृक्त हैं। विश्वसृष्टिरूप विशाल वृक्षके मूलमें ही ब्रह्म बीज है। मूलसृष्टिके मूलमे सूक्ष्म-तत्त्व निहित है। व्यष्टिका समाहार समष्टि है, वृक्षका समाहार ही वन है वृक्षके बिना वन असम्भव है। सृष्टि-वृक्षके अवबोधके लिये वृक्षकी सहायता अनिवार्य है, सृष्टि-वृक्षको समझनेके लिये दारुधारणा अपरिहार्य है। सृष्टिदारुके मूलमे ब्रह्मदारु है। असीम रहस्योंसे भरे हुए इस ससारकी एक वृक्षके रूपमें कल्पना करना युक्तियुक्त, सुबोध्य सहजानुभव्य तथा अपूर्व कवित्वसमन्वित है। वैदिक ऋचामें इस दृश्य जगत्का वर्णन कठोपनिषद् (२। ३। १)-के अनुसार इस प्रकार किया गया है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन
तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।

'यह प्रत्यक्ष जगत् है सनातन पीपलका वृक्ष जिसका मूल ऊपरकी ओर और शाखा नीचेकी ओर है। इस वृक्षके मूल एक विशुद्ध तत्त्व ईश्वर हैं। वे ही ब्रह्म हैं। वे ही अश्वत्थके नामसे कथित हैं। उस ब्रह्ममें सभी लोक आश्रित हैं। कोई उसे अतिक्रम कर नहीं सकता। यही है वह परमात्म-तत्त्व।'

ससाररूप अश्वत्थ-वृक्षका मूल ऊर्ध्वमें है अर्थात् ब्रह्म ही ससारका मूल है। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके १६४ वें सूक्तके २०वें मन्त्रमें वर्णित है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परि षस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

'एक वृक्षपर दो पक्षी (जीवात्मा तथा परमात्मा) बन्धुभावसे विराजमान हैं। उन दोनोमें एक फलको भोगता है एव दूसरा नीरव होकर साक्षीभावसे फल न खाकर अवस्थान करता है।'

ससार-वृक्षके मूलमें ब्रह्मबीज है, सूक्ष्म-ब्रह्मसे ही विशाल ब्रह्माण्डका परिप्रकाश होता है। जीवात्मा और परमात्मा दोनो ससार-वृक्षमे विराजित हैं। जीवात्मा वहाँ आसक्त है किंतु परमात्मा अनासक्त है। भक्ति-मुक्तिफलदायक परमज्ञान कल्पतरु ब्रह्मदारु ही दारुब्रह्म जगन्नाथरूपमें नित्य नमस्य नित्य वन्दनीय तथा नित्य उपास्य हैं। सृष्टिके मूलम जगन्नाथ हैं एव सृष्टिम सर्वत्र वे अनासक्त-भावसे विराजमान हैं। जगन्नाथमे ब्रह्मदारुकी उपमा सर्वतोभावसे सार्थक-सफल है। स्वभावत ब्रह्मदारु विपरीत-भावसे ही दारुब्रह्मके रूपमें श्रीक्षेत्रपर विराजित हैं। भक्ति और मुक्तिरूप फलद्वय उनके सम्मुख अदृश्य-भावस सतत सनिहित हैं। उनका पूर्ण महत्त्व यथार्थरूप साधारण लक्ष्यसे अदृश्य है। स्थितधी, ज्ञानी तथा साधक भक्तजन ही अवाङ्मनसगोचर इन्द्रियातीत मुक्तिविधायक दिव्यरूपका दर्शन कर सकत हैं और उस अनिर्वचनीय महत्त्वकी उपलब्धि कर सकते हैं।

उत्कलमे दारुब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् जगन्नाथकी पूजा वैदिक युगसे अबतक होती आ रही है। भगवान् जगन्नाथ तो जगत्प्रसिद्ध वेदवेद्य परात्पर प्रभु हैं। वैदिक ऋचाके अनुसार **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**—सर्वत्र भगवच्चिन्तन ही भगवदीय तत्त्वोंका अभिप्राय है। भगवान् जगन्नाथ व्यक्ताव्यक्त दोनो ही हैं। वे अनिर्वाच्य हैं, वेदवेद्य परम ईश्वर हैं साम्य मैत्रीके प्रकृष्ट देवता हैं और श्रीक्षेत्रके निवासी हैं। जगन्नाथ-धाममें निम्न वैदिक ऋचाएँ अक्षरश सार्थक, सफल और शाश्वत सत्य सिद्ध हैं—

स जानीध्व सं पृच्यध्व सं वो मनासि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सजानाना उपासते॥
समानो मन्त्र समिति समानी समानं व्रत सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समान चेतो अभिसविशध्वम्॥
समानी व आकूती समाना हृदयानि व।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति॥
सहृदय सामनस्यमविद्वेष कृणोमि व।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्स जातमिवाघ्न्या॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभाग समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित॥

(अथर्ववेद ६। ६४। १—३ ३। ३०। १ ६)

राजा प्रजा धनी निर्धन ज्ञानी और निर्बोध सभी लोग प्रभुकी करुणाका लाभ करनेम सक्षम हैं। आब्राह्मणचाण्डाल सभी एक साथ ही एकत्र जगदीश-महाप्रसादका सवन करते हैं। शबर और ब्राह्मण उनके महाप्रसादके लिये घनिष्ठ मैत्रीपाशसे आबद्ध हैं। भगवान् जगन्नाथजी साम्यमैत्रीके श्रेष्ठ दवता हैं। सम्मिलित होकर ही जगदीश-रथयात्राके दिन असख्य व्यक्ति रथको खींचते हैं। श्रीजगदीशरथयात्रा-तत्त्व वैदिक समयकी भावनापर ही आधारित है।

भारतीय संस्कृतिमें रथका प्रचलन अनादि-अनन्तकालसे होता आ रहा है। वैदिक ऋचा (यजु० ३३।४३)-में भगवान् सूर्यका सप्ताश्वयुक्त रथ इस प्रकार वर्णित है—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

रथासीन जगन्नाथ (वामन)-के दर्शनसे पुनर्जन्मसे छुटकारा मिलता है—

मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥
(कठोपनिषद् २।२।३)

अर्थात् शरीरके भीतर (हृदयमध्यमें) सर्वश्रेष्ठ भजनीय भगवान्‌की सभी देवता उपासना करते हैं। हृदयरूपी रथमें ही वामन (जगन्नाथभगवान्) निवास करते हैं।

मनुष्यके अपने हाथ ही भगवान् हैं—भगवान् जगन्नाथ। वैदिक ऋचा है—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तर।
अयं मे विश्वभेषजो ऽयं शिवाभिमर्शन॥
(ऋक्० १०।६०।१२)

अर्थात् दुष्कर-से-दुष्कर कार्य करनेमें भी समर्थ यह मेरा हाथ भगवान्‌से भी श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा कर्म करनेपर भगवान्‌को भी फल देनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। यह मेरा हाथ विश्वके समस्त रोगोंका औषध और सभी समस्याओंका समाधान है। जिसका भी यह स्पर्श कर देता है, वह शिव हो जाता है।

संसारके सर्वपुरातन ग्रन्थ तो वेद ही हैं। भगवत्तत्त्व-दर्शनका ऋग्वेदके निम्न ऋचामें सुन्दर विवेचन हुआ है—

तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥
(ऋक्० १०।१२९।३)

भगवदीय तत्त्वोंका सम्यक् यथार्थ वर्णन करनेमें सरस्वतीकी लेखनी भी दुर्बलताको वरण करती है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म होनेपर भी प्रभु अपने महनीय विग्रहमें अनन्त विस्तृत लोकोंको धारण करते हैं—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
(ईश० १)

भगवान् जगन्नाथका परमतत्त्व शुद्ध मनसे ही इस प्रकार जाना जा सकता है—इस जगत्‌में एकमात्र पूर्णानन्द भगवान् ही परिपूर्ण हैं सब कुछ उन्हींका स्वरूप है यहाँ भगवान्‌से भिन्न कुछ भी नहीं है। इसके अतिरिक्त जो यहाँ विभिन्नताको झलक देखता है वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥
(कठोपनिषद् २।१।११)

अन्तमें परब्रह्म श्रीजगन्नाथके श्रीचरणोंमें नमन करते हुए मैं अपनी हार्दिक शुभाशंसाके साथ इस लेखका उपसंहार कर रहा हूँ—

'कल्याण स्याङ्करत्नं परमहितकरं वेदविद्याकथाढ्यं
कल्याणं न विदध्यात् परमतुलधनं सौख्यसौभाग्यदं वै।
भक्तिज्ञानप्रसारैर्भवभयकलुषव्यामोहं नाशयन् च
विप्राणां मानवानां जयमिह तनुतां वेदवेद्योऽवतारी॥

सद्भक्तिज्ञानवैराग्यधर्माधारकथान्वित।
कल्याण'स्यैव वेदाङ्को जयताच्छाश्वती समा॥
कल्याणकामिभिः सर्वैस्तुष्टिपुष्टिप्रियैस्तथा।
परमामृतसोपानं सेव्यं 'कल्याण'मिष्टदम्॥
त्रिसप्ततितमे वर्षे 'वेद कथाङ्क' आगत।
जनलोकस्य सर्वेषां कुर्यादज्ञाननाशनम्॥
वेदवेद्यो जगन्नाथ पायाद्योगेश्वरो हरि।
वेद-कथाङ्क एवायं तनातु सर्वमङ्गलम्॥
सततं जयताद् धर्म सज्जनानन्दवर्धक।
कल्मषं लोपमायातु वेदाङ्कोऽस्तु च सार्थक॥

'कल्याण'का वेद-कथा संज्ञक ७३वें वर्षका अङ्क 'कल्याण' कारी रत्न है। परम श्रेष्ठ तथा अतुल्य वित्त है जो प्रमाद और सौभाग्यका देनेवाला है। यह अङ्क हम सभीके लिये कल्याणकारी हो। भक्ति ज्ञान और वैराग्यके प्रसारसे भवभयके साथ पापरूपी व्यामोह-जालका विनाशपूर्वक वेदवेद्य अवतार-पुरुष हम विप्रों तथा सभी प्रकारके मनुष्य—प्राणियोंको विजय प्रदान करें।

समस्त कल्याणाभिलाषियों तथा संतुष्टि-पुष्टिप्रेमियोंको चाहिये कि वे श्रेष्ठ एवं अमृत-सोपान अभीष्टदायक 'कल्याण'-का ही पठन-पाठन करें।

७३वें वर्षमें प्रकाशमान यह 'वेद-कथाङ्क' जनलोकके अथवा समस्त जनोंके अज्ञानोंका नाश करे। वेदवेद्य जगदीश्वर योगेश्वर श्रीहरि हमारी रक्षा करें। 'कल्याण' का 'वेद कथाङ्क' सभीका मङ्गल करे। सनातन-धर्म निरन्तर जययुक्त हो एवं (समस्त अधर्मादिकृत) पापोंका लोप हो जाय और सज्जनोंके आनन्दको बढ़ानेवाला यह 'वेद कथाङ्क' सार्थक हो।

[प्रेषक—श्रीरवीन्द्रनाथजी गुरु]

आख्यान—

मैत्रेयीको ज्ञानोपदेश

महर्षि याज्ञवल्क्यके दो स्त्रियाँ थीं। एकका नाम था मैत्रेयी और दूसरीका कात्यायनी। दोनो ही सदाचारिणी और पतिव्रता थीं परतु इन दोनोमे मैत्रेयी तो परमात्माके प्रति अनुरागिणी थीं और कात्यायनीका मन ससारके भोगोमें रहता था। महर्षि याज्ञवल्क्यने सन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीको अपने पास बुलाकर कहा कि 'हे मैत्रेयी! मैं अब इस गृहस्थाश्रमको छोडकर सन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ। अत मेरे न रहनेपर तुम दोनो आपसम झगडा न कर सुखपूर्वक रह सको इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोमें घरकी सम्पत्ति आधी-आधी बाँट दूँ।'

स्वामीकी बात सुनकर मैत्रेयीने अपने मनमें सोचा कि 'मनुष्य अपने पासकी किसी वस्तुको तभी छोडनेका तैयार होता है जब उसको पहली वस्तुकी अपेक्षा कोई अधिक उत्तम वस्तु प्राप्त होती है। महर्षि घर-बारको छोडकर जा रहे हैं अतएव इनको भी कोई ऐसी वस्तु मिली होगी जिसके सामने घर-बार सब तुच्छ हो जाते हैं, अवश्य ही इनके जानेम कोई ऐसा बडा कारण होना चाहिये। वह परम वस्तु जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति लाभकर अमृतत्वको— परमात्माको पाना ही है।' यो विचार करके मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! मुझ यदि धन-धान्यसे परिपूर्ण समस्त पृथ्वी मिल जाय तो क्या उससे मैं अमृतत्वको पा सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं नहीं। धनसहित पृथ्वीकी प्राप्तिसे तेरा धनिका-सा जीवन हो सकता है, परतु उससे अमृतत्व कभी नहीं मिल सकता।' मैत्रेयीने कहा—'जिससे मेरा मरना न छूटे, उस वस्तुको लेकर मैं क्या करूँगी? ह भगवन्! आप जा जानते हैं (जिस परम धनके सामने आपको यह घर-बार तुच्छ प्रतीत होता है और बडी प्रसन्नतासे आप सबका त्याग कर रहे हैं) वही परम धन मुझे बतलाइये।'

'मैत्रेयी! पहले भी तू मुझे बडी प्यारी थी तेरे इन वाक्योसे वह प्रेम और भी बढ गया है। तू मेरे पास आकर बैठ मैं तुझे अमृतत्वका उपदेश करूँगा। मेरी बातोको भलीभाँति सुनकर उनका मनन कर।' इतना कहकर महर्षि याज्ञवल्क्यने प्रियतमरूपसे आत्माका वर्णन आरम्भ करते हुए कहा—

'मैत्रेयी। (स्त्रीको) पति पतिके प्रयोजनके लिये प्रिय नहीं हाता परतु आत्माके प्रयाजनक लिय पति प्रिय होता है।'

'इस 'आत्मा' शब्दका अर्थ लोगोने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है कुछ कहत हैं कि आत्मासे यहाँपर शरीरका लक्ष्य है—यह शिश्नोदरपरायण पामर पुरुपाका मत है। कुछ कहते हैं कि जबतक अदर जीव है तभीतक ससार है, मरनेके बाद कुछ भी नहीं इसलिये यहाँ इसी जीवका लक्ष्य है—यह पुनर्जन्म न माननेवाले जडवादियाका मत है। कुछ लोग 'आत्माके लिये' का अर्थ करत हैं कि जिस वस्तु या जिस सम्बन्धीसे आत्माकी उन्नति हो आत्मा अपने स्वरूपको पहचान सके, वही प्रिय है। इसीलिये कहा गया है—'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'— यह तीव्र मुमुक्षु पुरुपाका मत है।'

कुछ तत्त्वज्ञाका मत है कि 'आत्माके लिये' इस अर्थमे कहा गया है कि इसमे आत्मतत्त्व है यह आत्माकी एक मूर्ति है। मित्रकी मूर्तिको कोई उस मूर्तिके लिय नहीं चाहता, परतु चाहता हैं मित्रके लिय। ससारकी समस्त वस्तुएँ इसीलिय प्रिय है कि उनम केवल एक आत्मा ही व्यापक है या व आत्माके ही स्वरूप हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

'अरे! स्त्री स्त्रीक लिये प्रिय नहीं होती परतु वह आत्माके लिये प्रिय होती है पुत्र पुत्रोंके लिय प्रिय नहीं होते परतु वे आत्माके लिये प्रिय होते हैं धन धनक लिये प्यारा नहीं होता परतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, ब्राह्मण ब्राह्मणके लिये प्रिय नहीं होता परतु वह आत्माके लिये प्रिय हाता है क्षत्रिय क्षत्रियके लिये प्रिय नहीं होता परतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है लाक लोकाके लिये प्रिय नहीं होने परतु आत्माके लिये प्रिय हाते हैं दवता देवताआके लिय प्रिय नहीं होते परतु आत्माके लिये प्रिय हाते हैं, वेद वेदाके लिये प्रिय नहीं हैं, परतु आत्माके लिये प्रिय हैं। अरी मैत्रयी! सब कुछ उनके लिये ही प्रिय नहीं होते, परतु सत्र आत्माके लिय ही प्रिय होत हैं। यह परम प्रेमका स्थान आत्मा ही वास्तवमें दर्शन करने याग्य श्रवण करने योग्य मनन करने याग्य आर निरन्तर ध्यान करन याग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्माके दर्शन, श्रवण मनन और साक्षात्कारस ही सब कुछ जाना जा सकता है। यही ज्ञान है।'

इसक पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्यजीन सबका आत्माके साथ अभिन्न रूप बतलाते हुए इन्द्रियाका अपन विषयोंमें अधिष्ठान बतलाया और तदनन्तर ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सत्ताका वर्णन कर अन्तम कहा कि—'जबतक द्वैत होता है तभीतक दूसरा दूसरेका देखता है ५

सूँघता है, दूसरा दूसरेको सुनता है, दूसरा दूसरेसे बोलता है, दूसरा दूसरेके लिये विचार करता है और दूसरा दूसरेको जानता है, परंतु जब सर्वात्मभाव प्राप्त होता है, जब समस्त वस्तुएँ आत्मा ही हैं—ऐसी प्रतीति होती है, तब वह किससे किसको देखे? किससे किसको सूँघे? किससे किसके साथ बोले? किससे किसका स्पर्श करे तथा किससे किसको जाने? जिससे यह इन समस्त वस्तुओंको जानता है, उसे वह किस तरह जाने?'

'वह आत्मा अग्राह्य है, इससे उसका ग्रहण नहीं होता, वह अशीर्य है, इससे वह शीर्ण नहीं होता, वह असंग है, इससे कभी आसक्त नहीं होता, वह बन्धनरहित है, इससे कभी दुःखी नहीं होता और उसका कभी नाश नहीं होता। ऐसे सर्वात्मरूप सबके जाननेवाले आत्माको कोई किस तरह जाने? श्रुतिने इसीलिये उसे 'नेति' 'नेति' कहा है, यह आत्मा अनिर्वचनीय है। मैत्रेयी! बस तेरे लिये यही उपदेश है, यही तो मोक्ष है!'

—इतना कहकर याज्ञवल्क्यजीने संन्यास ले लिया और वैराग्यके प्रताप तथा ज्ञानकी उत्कट पिपासाके कारण स्वामीके उपदेशसे मैत्रेयी परम कल्याणको प्राप्त हुईं!

(बृहदारण्यकोपनिषद्के आधारपर)

~~~~~

आख्यान—

रैक्वका ब्रह्मज्ञान

एक बड़ा दानी राजा था, उसका नाम था जानश्रुति। उसने इस आशयसे कि लोग सब जगह मेरा ही अन्न खायेंगे, सर्वत्र धर्मशालाएँ बनवा दी थीं और अन्न-सत्रादि खोल रखे थे। एक दिन रात्रिमें कुछ हंस उड़कर राजाके महलकी छतपर जा बैठे। उनमेंसे पिछले हंसने अगलेसे कहा—'अरे ओ भल्लाक्ष! ओ भल्लाक्ष! देख, जानश्रुतिका तेज द्युलोकके समान फैला हुआ है। कहीं उसका स्पर्श न कर लेना, अन्यथा वह तुझे भस्म कर डालेगा।'

इसपर दूसरे (अग्रगामी) हंसने कहा—'बेचारा यह राजा तो अत्यन्त तुच्छ है, मालूम होता है तुम ब्रह्मज्ञानी रैक्वको नहीं जानते। इसीलिये इसका तेज उसकी अपेक्षा अत्यल्प होनेपर भी तुम इसकी इस प्रकार प्रशंसा कर रहे हो।' इसपर पिछले हंसने पूछा—'भाई! ब्रह्मज्ञानी रैक्व कैसा है?' अगले हंसने कहा—'भाई! उस रैक्वकी महिमाका क्या बखान किया जाय! जुआरीका जब अनुकूल पासा पड़ता है, तब जैसे वह अपनी बाजी जीत लेता है, इसी प्रकार जो कुछ प्रजा शुभ कार्य करती है, वह सब रैक्वको प्राप्त हो जाता है। वास्तवमें जो तत्त्व रैक्व जानता है, उसे जो भी जान लेता है, वह वैसा ही फल प्राप्त करता है।'

जानश्रुति इन सारी बातोंको ध्यानसे सुन रहा था। प्रातःकाल उठते ही उसने अपने सेवकोंको बुलाकर कहा—'तुम ब्रह्मज्ञानी रैक्वके पास जाकर कहो कि राजा जानश्रुति उनसे मिलना चाहता है।' राजाके आज्ञानुसार सर्वत्र खोज हुई, पर रैक्वका कहीं पता न चला। राजाने विचार किया कि इन सबने रैक्वको ग्रामों तथा नगरोंमें ही ढूँढ़ा है और उनसे पुनः कहा कि 'अरे जाओ, उन्हें ब्रह्मवेत्ताओंके रहने योग्य स्थानों (अरण्य, नदीतट आदि एकान्त स्थानों)-में ढूँढ़ो'।

अन्तमें वे एक निर्जन प्रदेशमें गाड़ीके नीचे बैठे शरीर खुजलाते हुए मिल ही गये। राजपुरुषोंने पूछा—'प्रभो! क्या रैक्व आप ही हैं?' मुनिने कहा—'हाँ, मैं ही हूँ।'

पता लगनेपर राजा जानश्रुति छः सौ गौएँ, एक हार और सामग्रियोंसे भरा हुआ रथ लेकर उनके पास गया और बोला—'भगवन्! मैं यह सब आपके लिये लाया हूँ। कृपया आप इन्हें स्वीकार कीजिये तथा जिस देवताकी आप उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश कीजिये।' राजाकी बात सुनकर मुनिने कहा—'अरे शूद्र! ये गायें, हार और रथ तू अपने ही पास रख।' यह सुनकर राजा घर लौट आये और पुनः दूसरी बार एक सहस्र गायें, एक हार, एक रथ एवं अपनी पुत्रीको लेकर मुनिके पास गया तथा हाथ जोड़कर कहने लगा—'भगवन्! आप इन्हें स्वीकार करें और अपने उपास्यदेवताका मुझे उपदेश दें।'

मुनिने कहा—'हे शूद्र! तू फिर ये सब चीजें मेरे लिये लाया? क्या इनसे ब्रह्मज्ञान खरीदा जा सकता है?' राजा चुप होकर बैठ गया। तदनन्तर राजाको धनादिके अभिमानसे शून्य जानकर उन्होंने ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। जहाँ रैक्व मुनि रहते थे, उस पुण्य प्रदेशका नाम रैक्वपर्ण हो गया।

(छान्दोग्य० ४।१।८)

~~~~~

वेद और भारतीयताका उपास्य-उपासक एव मैत्रीभाव

(म० म० पं० श्रीविश्वनाथजी शास्त्री दातार न्यायकेसरी, नीतिशास्त्रप्रवीण)

यूरोपीयकुशिक्षया कवलिते धर्माश्रिते भारते
लोके मानसकार्यकर्मवचनैर्दासेयतामापिते।
दु शिक्षा व्यपनीय धर्मथनुयोद्धर्तुं पुनर्भारतं
सर्वस्वेन कृतोद्यमान् गुरुवरान् साष्टाङ्गपात नुम ॥

—इस मङ्गलाचरणमें वेद और भारतीयताको टिकानेमें जिन गुरुआने अपना सर्वस्व समर्पित किया है उन्ह प्रणाम करनेका सकेत प्राप्त है। उसी सकेतके अनुसरणमे 'वेद और भारतीयताका उपास्य-उपासक एवं मैत्रीभाव' विषय प्रस्तुत है।

यह विषय तबतक अवगत नहीं होगा, जबतक वेद एव भारतीयताके सम्बन्धको समझा न जाय। अत उन दोनोके सम्बन्धका निरूपण कर्तव्यतया प्राप्त है। उसके प्रति निर्णायकके रूपमें इतिहास देखना होगा, उसका आरम्भ सृष्टिका आरम्भ है।

सृष्टिकी अक्षुण्ण यात्राको चलाने-हेतु प्रथमत प्रभुने विधायक कहकर नि श्वासात्मक वेदरूप शब्दराशि प्रदान की। उसका मुख्य उद्देश्य अदृष्ट सम्पत्ति प्राप्त करना समझाया है जो एकमात्र यज्ञोसे ही सम्भव है।

इसके पश्चात् दूसरा प्रश्न वेदरक्षण-सम्बन्धी है। उसका समाधान सहज नहीं है, क्योंकि वेदाकी पवित्रता अक्षुण्ण बनाये रखना सबकी शक्तिके बाहर है। अत जो कठोर सात्त्विक व्रतमें रहनेकी प्रतिज्ञा करे तथा निर्भ्रान्त होकर उसका आचरण करें उन्हींके द्वारा वेद एव उसकी सतेजस्कता सुरक्षित रह सकती है। उसके अनुबन्धमें यज्ञहेतुतया राष्ट्रगुणसम्पन्न भूमिकी आवश्यकता सोचकर सृष्टिमें यज्ञिय देशके रूपमें भारतभूमि प्रकट हुई जो अजनाभि-स्थानापन्न है। इस भारतभूमिपर आहुति प्रदत्त होती है तो वह वाष्प बनकर ऊपरकी ओर बढती हुई सम्पूर्ण भुवनको आप्यायित करती हुई सुभिक्ष सुवृष्टि एव सुप्रजा प्राप्त करानेमें सहयोग देती है। यही वेदकी पवित्रता तथा सतेजस्कताका परिपाक है।

स्मर्तव्य है कि भारतभूवासियाने प्रभुके सकल्प (कठोरव्रत-आचरण)-को समझ कर विश्वासके साथ वेदरक्षणका भार सहर्ष स्वीकारा, अपनेको वेदोंके हेतु समर्पित किया और यह भाव जबतक भारतभूमिके निवासियोमे अक्षुण्ण बना रहा, तबतक देशमे भारतीयता समृद्ध होती हुई देशान्तर-विजातीयताकी अनुमापक बनी रही।

वेदोंने भी भारतीयतामें उक्त सकल्पकी कार्यान्वयिता देखकर उसका सर्वविधहित साधनेमें सम्पूर्ण सहयोग दिया है, यहाँ तक कि भारतीयाके वचन भी वेदोके बलसे प्रमाणित होते रहे।

इस अतीत इतिहासको देखनेसे वेद एव भारतीयताके मध्यमे रहा सम्बन्ध दूसरा न होकर मैत्री-सम्बन्ध (**यस्तित्याज सचिविद सखाय न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति**—(ऋग्वेद १०। ७१। ६) ही स्पष्ट हो रहा है। वेदो और भारतीयताका सम्बन्ध स्थायी होनेसे अनुरागपर्यवसायी हो गया। इस सम्बन्धके याथार्थ्यको असदिग्ध बनाने-हेतु प्रभुने ब्रह्माजीके हृदयाकाशमे वेद ध्वनित कराया और कहा कि वेदाको देखकर उसके प्रति अनास्था न करते हुए सृष्टिकी रचना करनी होगी तथा उनके सरक्षणार्थ सत्त्व पवित्रता, निर्दम्भतासे सम्पन्न पुत्रा (ऋषिया)-का निर्माण कर उन्ह वेद सौंपने होगे।

वेदप्रभुका दूसरा स्वरूप शब्दब्रह्म है। अत कहना होगा कि वेद शब्दमात्र नहीं, अपितु जीवित ईश्वरतत्त्व ही हैं। यदि वे यथावत् प्राप्त हा ता ईश्वर ही प्राप्त हैं—ऐसा भारतीयाका समझना है जो यथार्थ भी है।

वेदा अथवा भारतीयतामसे किसी एक या दोनाकी अवहेलना होती रहे तो ईश्वर भी उस अपमानयिता व्यक्तिसे अति दूर होकर रहते हैं इसलिये कि वेद जीवित हैं तो भारतीयता जीवित है और भारतीयता जीवित है तो वेद जीवित हैं—ऐसा होना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

वेद एव भारतीयताका सहज मैत्रीसम्बन्ध सृष्टिके आरम्भसे ही हानेके कारण श्रीराम एव लक्ष्मणजीके

सेवक-सव्य-सम्बन्धकी तरह ही सहज है।

वेदोंसे आरब्ध भारतीयता एवं भारतीयतासे आरब्ध वेद, मित्रताके लक्ष्य-लक्षणकी दृष्टिसे जबतक शुचिता आदि गुणोंसे सम्पन्न हैं तबतक वेद सखा होकर दासकी तरह भारतीयताको उज्ज्वलित करते हैं। यही युक्ति वेदोंके प्रति व्यवहार करनेवाली भारतीय तत्त्वोंमें समझनी होगी। उसके मूलमें—'यावदुपकरोति तावन्मित्रं भवति, उपकारलक्षणं हि मित्रम्' (नीतिसार) यह उक्ति स्मर्तव्य है।

वेद एवं भारतीयता दोनोंमें संघटित मैत्री अक्षुण्ण होनेपर भी वेद रक्षक तथा भारतीयता रक्ष्या होनेसे वेद प्रधान (स्वामी) माने जाते हैं। भारतीयता उनकी स्व (सम्पत्ति) होनेसे द्रव्य प्रकृतिके रूपमें समझी जाती है।

उपर्युक्त सख्यको समझनेका निष्कर्ष अव्यक्त ईश्वरको देखनेका उपाय समझनेमें है। अतः वेदका दासता स्वीकारनेका निष्कर्ष उसके बताये सनातन-विधिके पालनमें है। आशय यह है कि वेदप्रोक्त सनातन-विधिका पालन दासभावसे होता रहेगा तो प्रभुकी कृपा या प्रसन्नता होना अवश्यम्भावी है—यही भगवदुपलब्धि है। वेदोंके द्वारा सुने गये सनातन-विधिकी विशेषता तबतक समझमें नहीं आयेगी जबतक ईश्वरकृपाप्रसादकी अवश्यम्भाविता (व्याप्यता) संदिग्ध होगी। अतः उसका निरास होना अपेक्षित है।

चिन्त्य है कि वेद ईश्वरके निःश्वास हैं अथवा ईश्वरनिःश्वास ही वेद हैं? यह सौभाग्य लौकिक शब्दोंको प्राप्त नहीं है क्योंकि वे (लौकिक शब्द) जिनके निःश्वास हैं वे अल्पज्ञ एवं काल-देश-विशेषकी सीमासे घिरे हैं तथा अपनी काल-देश-सीमाके बाहरी तत्त्वोंके प्रति अनभिज्ञ होनेसे भ्रान्त भी हो सकते हैं। वेद जिनके निःश्वास हैं वे काल देश-सीमासे सीमित नहीं हैं न तो अल्पज्ञ हैं। इस अन्तरको समझकर साधारण लोकको अपने निःश्वासभूत शब्दके पुष्ट्यर्थ प्रमाणान्तरकी अपेक्षा आवश्यक है।

यदि उक्त अपेक्षामें कोई प्रमाण विरोधितया उपन्यस्त नहीं है तो लोकनिःश्वासभूत शब्दकी प्रमाणता असंदिग्ध है। यदि लोक (सिद्ध महात्माओं)-के निःश्वास हो आपसमें टकराये तो उस अवस्थामें मनीषियोंने यही निर्णय सुनाया है कि पुरातन निःश्वासके विरोधमें भावी निःश्वासरूप शब्दकी प्रमाणता संदिग्ध है। अतएव मनीषी विद्वान् स्वनिःश्वासात्मक शब्दप्रमितता समझाने-हेतु पूर्ववर्ती विद्वानोंके निःश्वासको या स्वानुभव-प्रत्यक्षानुमानकी दुहाईको प्रकट करते हैं।

वेदात्मक निःश्वासमात्र उक्त लोक-निःश्वासके विपरीत हैं क्योंकि वेद अपने द्वारा प्रतिपादित अर्थकी प्रमितताके प्रति एकमात्र स्वनिःश्वासकी दुहाई देते हैं जबकि निःश्वासान्तर अपने प्रमिततार्थ लौकिक प्रमाणकी दुहाई सुनाते हैं। यही ईश्वरनिःश्वासकी स्वतःप्रमाणता तथा लोकनिःश्वासकी परतःप्रमाणता है।

अब प्रश्न है कि वेदोंमें कौन-सा तथ्य निहित किया गया है जिसको समझने-हेतु यहाँ प्रथमतया वेद अपेक्षित हों एवं उनसे समझे गये तथ्यकी लोकयात्राके प्रति उपयोगिता समझकर लोक प्रवृत्त हो।

उसके उत्तरमें गीतावाक्य स्मर्तव्य है—

> सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

अर्थात् (१) देवता एवं हविर्द्रव्य (२) यागसे प्राप्तव्य फलके प्रति कारणता तथा (३) तत्-साधक अदृष्ट—इन तीन तत्त्वोंकी ओर भारतीयोंको प्रवृत्त कराकर उनकी त्रिवर्गसमृद्धि पूर्ण कराना वेदोंकी अपनी स्वतन्त्र विशेषता है। वेदोंके विरोध प्रातिकूल्य तथा अनभिमतमें जो भी शब्दात्मक निःश्वास श्रुत होंगे उनकी प्रमाणताको मनीषी लोग प्रमाणतया स्वीकार नहीं करते। वेदोंके चिन्तक मनीषियोंको यह अनुभव अभीतक हो रहा है कि वे जब वेदोंको ज्ञानभण्डार समझ कर उसमें निहित एक-एक कणका शोधन करनेमें प्रवृत्त होते हैं तो उनको वेदोंकी यथार्थतापर विस्मय होता है इसलिये कि वेदोंकी यथार्थता अबाधित है। इसका उपपत्तिका मूल सर्वज्ञ ईश्वरका अन्तर्नाद है जो भ्रान्तिसे सर्वथा दूर है। यह नाद ईश्वरका निःश्वास है जो उदर्य अग्निको उज्ज्वलित धारासे प्राप्त याली है यह सर्वसमर्थ माना है।

परमात्मा पग, मनमना एवं मामनमें मत्स्यमय प्रकट उनका उदर्य अग्नि आत्मा ज्ञानरूप है तथा उसके साथ यह सर्व रूपमात्मा है जैसा कि ... स्पष्ट है—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते'।

(वाक्यपदीय भर्तृहरिकृत)

ईश्वरके दीर्घजीवी अतिस्वस्थ होनेसे उनके नि श्वास नित्य एकरूप हैं अत वेद भी एकरूप हैं। इसीलिये वेदोंकी अपौरुपेयता है।

वेदोको विद्या इसलिये कहा जाता है कि उसमे धर्माधर्मरूप यज्ञकी प्रक्रिया विदित होती है। इसके प्रमाणमे नीतिसारीय जयमगलाका वाक्य निम्न है—

'धर्माधर्मवेदनाद्वेदा ते च कार्यापेक्षया समुदितास्त्रयीसज्ञका ।'

इस प्रकार वेद एव भारतीयतामें रहा उपास्य-उपासकभाव-सम्बन्ध भी सुचिन्त्य है जो—'नाथ! नवाह न मामकीनस्त्व०' इस वाक्यसे स्मृत है। उपास्य-उपासकभाव-सम्बन्धके सम्बन्धी उपास्य वद अनेकविध ईश्वरार्चावतारोंमेंसे एक अर्चावतार है, यह अर्चावतार वेद बाहरसे कर्मयोग एव अन्तस्तलसे भक्तियोगकी शिक्षा देता है। वेदरूप अर्चामूर्ति उपास्य होकर भारतीयाके मस्तिष्क या हृदयम भूतावेशन्यायेन निवास करते हुए उनका सरक्षण करती है तथा विरोधी तत्त्वोका उत्पीडन करती रहती है।

यह उपास्य-उपासकभाव-सम्बन्ध भी ईश्वर-प्रसूत होनेसे भारतीयोके लिय उपेक्ष्य नहीं है।

वेदरूप अर्चावतारन यहाँतक छूट दे रखी है कि उस अर्चाके एकाग्र तेजस्वी उपासक जहाँ भी रहते हो उस स्थलीपर देव तीर्थ ही नहीं स्वय ईश्वर भी निवास करते हैं। वेदरूप अर्चावतारकी पवित्रतापर बहुत ध्यान रखने-सम्बन्धी भारतीयतास सम्पन्न उपासकाका इतिहास भी मननीय है। उससे यह निर्विवाद है कि वेदाकी मर्यादा भारतीय उपासकक हृदयमे तभीतक है, जबतक वे वेदाकी इच्छाको समझकर दासभावमें उनकी पवित्रता बनाये रखते हैं। जैसे—मन्दिर आदिम ईश्वरकी व्यावहारिक मूर्तिके अनुरूप उनकी पवित्रताको बनाये रखना सभी भारतीयाका कर्तव्य माना जाता है। यही तथ्य वेदाकी पवित्रताके विषयमे भी चिन्तनीय है।

उपास्य-उपासक-भावमे एक तथ्य यह भी स्मरणीय है कि मूर्तिके पूजक एक ही रहेगे ता मूर्तिकी पवित्रता कथमपि टिक नहीं सकती। अत तदङ्गतया पृथक्-पृथक् कार्य करने-हेतु जा अधिकारिगण नियुक्त हाते हैं, वे सभी जब अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हैं ता मन्दिरस्थ मूर्तिकी पवित्रता बनी रहती है। फलत सभी उपासक ईश्वरके प्रसादाधिकारी माने जात हैं। उसी प्रकार परमेश्वरद्वारा वेदोकी शुचिताके अनुरूप उसके रक्षणार्थ तत्-तत् व्यक्तियाकी नियुक्तिका स्पष्टीकरण श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें द्रष्टव्य है। वह जबतक बनी रहती है तबतक भारतीयता एव वेदोके उक्त दोना पारस्परिक सम्बन्ध बन रहते हैं, अन्यथा नहीं।

यदि उपर्युक्त दाना सम्बन्ध टिके हैं तो वेदोकी तेजस्विता और भारतीयताका स्वातन्त्र्य, गुरुत्व ऐश्वर्य तथा श्री आदिका स्थैर्य बना रहता है।

वदोने भारतीयोके हृदयमे स्वार्थ (गूढार्थ) प्रकाशित करनेकी दो रीतियाँ अपनायी हैं। तदन्तर्गत एक रीति रामायण आदि है। जैसा कि—'वेद प्राचतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना' स स्पष्ट है। दूसरी रीति यह है कि पुण्यात्माक हृदयमें स्वय वदार्थ प्रतिभासित हात रहते हैं। उनको अध्ययनकी अपक्षा नहीं रहती।

उपर्युक्त दोना रीतियोंके अतिरिक्त एक रीति यह स्मर्तव्य है कि सृष्टिके आरम्भ होते ही उसके यागक्षेमार्थ प्रभुने विधान बनाकर उसको वदग्रन्थसे प्रकट कर वेदाके सुरक्षार्थ पारम्परिक वशाको अधिकृत किया है। उसकी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण भारतीयाको अकुशम रखना सिखाया गया है। वह अकुश है वृद्धाका आदर एव विनय। जबतक यह समाजम अक्षुण्ण रहा, तबतक वश और समाजकी रचना स्वर्णयुगसे विख्यात थी जा अन्य समाजम दुर्लभ है। तदितर साधारण तथ्य साचकर साधनतया अकुश और विनय तथा फलरूपम स्वर्णयुगकी व्यवस्था भारतीय समाजमें स्थिर बनानेके विचारसे वेदोंने सबके सामने कठोरता प्रकट करते हुए—**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म षडङ्गो वदोऽध्येयो ज्ञेयश्च** -का विधान किया तथा जीविका-हेतु उञ्छ-शीलवृत्ति विहित की। जो अन्य समाजाके लिये उपक्षास्पद (विस्मयास्पद) है। अतएव उक्त वृत्तिमे रहनवाल वदोपासक त्यागी कुम्भीधान्य कहे गय हैं।

उपर्युक्त त्यागा कुम्भाधान्य कुटल आदि विप्राका

चिन्तन कविने निम्नरूपसे किया है—

नास्माकं कटकानवाजिमुकुटाद्यालक्रिया सत्क्रिया ।
नोत्तुगस्तुरगो न कश्चिदनुगो नैवाम्बर सुन्दरम्॥

सृष्टिसे लेकर अक्षुण्ण-रूपसे रह ऐतिहासिक युगको भूलनेपर तद्द्वय परिणामका मनुजीने भारतीयोंको इस प्रकार समझाया है—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्त्रश समेताना परिषत्त्व न विद्यते॥

(मनु० १२। ११४)

एव—

गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्राञ्शूद्रवदाचरेत्॥

(मनु० ८। १०२)

उपर्युक्त विवेकसे वेद एव भारतीयताके उपास्य-उपासकभाव तथा मैत्रीभाव दोनो सम्बन्धका पूर्णरूपेण परिचय प्राप्त कर जिन्होंने उसके संरक्षणार्थ अपना बलिदान किया—उन्होंको मङ्गलाचरणमें नमस्कारका संकेत प्राप्त है।

~~~~

आख्यान—

यमके द्वारपर

(श्रीशिवनाथजी दुबे एम्० कॉम्० एम्० ए०, साहित्यरत्न धर्मरत्न)

'न देने योग्य गौके दानसे दाताका उलटे अमङ्गल होता है'। इस विचारसे सात्त्विक बुद्धि-सम्पन्न ऋषिकुमार नचिकेता अधीर हो उठे। उनके पिता वाजश्रवस—वाजश्रवाके पुत्र उद्दालकने विश्वजित् नामक महान् यज्ञके अनुष्ठानमें अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दी किंतु ऋषि-ऋत्विज् और सदस्योंकी दक्षिणामें अच्छी-बुरी सभी गौएँ दी जा रही थीं। पिताके मङ्गलकी रक्षाके लिये अपने अनिष्टकी आशंका होते हुए भी उन्होंने विनयपूर्वक कहा—'पिताजी! मैं भी आपका धन हूँ, मुझे किसे दे रहे हैं'—'तत कस्मै मां दास्यसीति।'

उद्दालकने कोई उत्तर नहीं दिया। नचिकेताने पुन यही प्रश्न किया पर उद्दालक टाल गये।

'पिताजी! मुझे किसे दे रहे हैं? नचिकेताद्वारा तीसरी बार पूछनेपर उद्दालकको क्रोध आ गया। चिढ़कर उन्होंने कहा—'तुम्हें देता हूँ मृत्युको'—'मृत्यवे त्वा ददामीति।

नचिकेता विचलित नहीं हुए। परिणामके लिये वे पहलेसे ही प्रस्तुत थे। उन्होंने हाथ जोड़कर पितासे कहा—'पिताजी! शरीर नश्वर है पर सदाचरण सर्वोपरि है। आप अपने वचनकी रक्षाके लिये यम-सदन जानेकी मुझे आज्ञा दें।'

ऋषि सहम गये पर पुत्रकी सत्यपरायणता देखकर उन्होंने यमपुरी जानेकी आज्ञा उन्होंने दे दी। नचिकेताने पिताके चरणोंमें सभक्ति प्रणाम किया और वे यमराजकी पुरीके लिये प्रस्थित हो गये।

यमराज काँप उठे। अतिथि ब्राह्मणका सत्कार न करनेके कुपरिणामसे वे पूर्णतया परिचित थे और वे तो अग्नितुल्य तेजस्वी ऋषिकुमार थे जो उनकी अनुपस्थितिमें उनके द्वारपर बिना अन्न-जल ग्रहण किये तीन रात बिता चुके थे। यम जलपूरित स्वर्णकलश अपने ही हाथोंमें लिये दौड़े। उन्होंने नचिकेताको सम्मानपूर्वक पाद्यार्घ्य देकर अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—'आदरणीय ब्राह्मणकुमार! पूज्य अतिथि होकर भी आपने मेरे द्वारपर तीन रात्रियाँ उपवासमें बिता दीं यह मेरा अपराध है। आप प्रत्येक रात्रिके लिये एक-एक वर मुझसे माँग लें।'

'मृत्यो! मेरे पिता मेरे प्रति शान्त-संकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायँ और जब मैं आपके यहाँसे लौटकर घर जाऊँ तब वे मुझे पहचान कर प्रेमपूर्वक बातचीत करें। पितृभक्त बालकने प्रथम वर माँगा।

'तथास्तु' यमराजने कहा।

'मृत्यो! स्वर्गके साधनभूत अग्निको आप भलीभाँति जानते हैं। उसे ही जानकर लोग स्वर्गमें अमृतत्व देवत्वको
~~~~

प्राप्त होते हैं, मैं उसे जानना चाहता हूँ। यही मेरी द्वितीय वर-याचना है।'

'यह अग्नि अनन्त स्वर्ग-लोककी प्राप्तिका साधन है'—यमराज नचिकेताको अल्पायु, तीक्ष्णबुद्धि तथा वास्तविक जिज्ञासुके रूपमें पाकर प्रसन्न थे। उन्होने कहा—'यही विराट्‌रूपसे जगत्‌की प्रतिष्ठाका मूल कारण है। इसे आप विद्वानोकी बुद्धिरूप गुहामे स्थित समझिये।'

उस अग्निके लिये जैसी और जितनी ईंटे चाहिये, वे जिस प्रकार रखी जानी चाहिये तथा यज्ञस्थली-निर्माणके लिये आवश्यक सामग्रियाँ और अग्नि-चयन करनेकी विधि बतलाते हुए अत्यन्त सतुष्ट होकर यमने द्वितीय वरके रूपमे कहा—'मैंने जिस अग्निकी बात आपसे कही, वह आपके ही नामसे प्रसिद्ध होगी और आप इस विचित्र रत्नावाली मालाको भी ग्रहण कीजिये।'

'तृतीय वर नचिकेतो वृणीष्व॥'

(कठ० १। १। १९)

'ह नचिकेता अब तीसरा वर माँगिये।' अग्निको स्वर्गका साधन अच्छी प्रकार बतलाकर यमने कहा।

'आप मृत्युके देवता हैं' श्रद्धा-समन्वित नचिकेताने कहा—'आत्माका प्रत्यक्ष या अनुमानसे निर्णय नहीं हो पाता। अत मैं आपसे वही आत्मतत्त्व जानना चाहता हूँ, कृपापूर्वक बतला दीजिये।'

यम झिझके। आत्मविद्या साधारण विद्या नहीं। उन्होने नचिकेताको उस ज्ञानकी दुरूहता बतलायी, पर उनको वे अपने निश्चयसे नहीं डिगा सके। यमन भुवन-मोहन अस्त्रका उपयोग किया—सुर-दुर्लभ सुन्दरिया और दीर्घकालस्थायिनी भोग-सामग्रियोंका प्रलोभन दिया परतु ऋषिकुमार अपने तत्त्व-सम्बन्धी गूढ वरसे विचलित नहीं हो सके।

'आप बडे भाग्यवान् हैं।' यमने नचिकेताके वैराग्यकी प्रशसा की और वित्तमयी ससारगतिकी निन्दा करते हुए बतलाया कि विवेक-वैराग्य-सम्पन्न पुरुष ही ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिके अधिकारी हैं। श्रेय-प्रेय और विद्या-अविद्याके विपरीत स्वरूपका यमने पूरा वर्णन करत हुए कहा—'आप श्रेय चाहते हैं तथा विद्याके अधिकारी हैं।'

'हे भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो सब प्रकारके व्यावहारिक विषयासे अतीत जिस परब्रह्मको आप देखते हैं, मुझे अवश्य बतलानेकी कृपा कीजिये।'

'आत्मा चेतन है। वह न जन्मता है न मरता है। न यह किसीसे उत्पन्न हुआ है और न ही कोई दूसरा ही इससे उत्पन्न हुआ है।' नचिकेताकी जिज्ञासा देखकर यम अत्यन्त प्रसन्न हो गये थे। उन्हाने आत्माके स्वरूपको विस्तारपूर्वक समझाया—'वह अजन्मा है नित्य है शाश्वत है, सनातन है शरीरके नाश होनेपर भी बना रहता है। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्‌से भी महान् है। वह समस्त अनित्य शरीरोमें रहते हुए भी शरीररहित है समस्त अस्थिर पदार्थोंम व्याप्त होते हुए भी सदा स्थिर है। वह कण-कणमे व्याप्त है। सारा सृष्टिक्रम उसीके आदेशपर चलता है। अग्नि उसीके भयसे जलता है, सूर्य उसीके भयसे तपता है तथा इन्द्र वायु और पाँचवाँ मृत्यु उसीके भयसे दौडते हैं। जो पुरुष कालके गालमें जानेसे पूर्व उसे जान लेते हैं वे मुक्त हो जाते हैं तथा शोकादि क्लेशाको पार करके परमानन्दका प्राप्त कर लेते हैं।'

यमने आगे कहा—'यह न ता वेदक प्रवचनस प्राप्त होता है, न विशाल बुद्धिसे मिलता है और न केवल जन्मभर शास्त्रोके श्रवणसे ही मिलता है'—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

(कठोपनिषद् [illegible])

'वह उन्हींको प्राप्त होता है जिनकी वासनाएँ शान्त हो चुकी हैं, कामनाएँ मिट गयी हैं और जिनके पवित्र अन्त करणकी मलिनताकी छाया भी [illegible] तथा जा उसे पानेके लिये अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं।'

आत्मज्ञान प्राप्त कर लेनक बाद [illegible] नचिकेता लौटे तो उन्होने देखा कि [illegible] समुदाय भी उनक स्वागतार्थ खडा है।

([illegible]

~~~~~~
~~~~~~

वेदोमें शरणागति-महिमा

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी सरस्वती)

साधनाके मार्गमें शरणागतिका सबसे ऊँचा स्थान है। किसी भी मार्गका साधक क्यों न हो उसे बिना प्रभुके निकट आत्मनिवेदन किये प्रभुप्रसाद प्राप्त हो नहीं हो सकता। साधकको आत्मसमर्पणसे दूर रखनेवाली वस्तु 'अहंकार' है। यही अहंकार साधकका परम शत्रु है। यह अहंकार प्रभुका भाजन है। प्रेमदर्शनमें यह बात स्पष्टरूपसे बतलायी गया है—

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥

अर्थात् ईश्वरको अभिमान अप्रिय है और दैन्य—नम्रभाव ही प्रिय है। गोस्वामीजीने भी यही भाव प्रकट करते हुए कहा है—

'जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना॥

असावधान साधकमें साधना और सिद्धियाँ तथा ज्ञान एवं कर्म भी कभी-कभी अहंकार उत्पन्न कर देते हैं। यह चोर अहंकार साधकके हृदय-मन्दिरमें इस प्रकार चुपचाप प्रवेश कर जाता है कि उसे भान भी नहीं होता। यह कपटी चोर मित्रका रूप धारण कर जबतक आत्माका सब धन चुरा नहीं लेता तबतक दम भी नहीं छोड़ता। यह तो आत्माका सर्वनाश करके भी हटना नहीं चाहता। साधनाके आरम्भ मध्य और अन्तमें कहीं किसी प्रकार भी यह दुष्ट अहंकार अपना पैर न जमाने पाये इसीमें साधककी सावधानी और विनय है। छोटा-सा अहंकार भी आत्माको परमात्मासे पृथक् हो रखेगा। प्रभुकी शरण जाना कायरता नहीं अपितु बुद्धिमानी और वीरता है। महान् हो नम्र हुआ करते हैं। महिकी महानता उसकी नम्रता ही है। ईश्वरप्रणिधान साधकका परम हितैषी बनकर उसे अहंकार-जैसे भयंकर शत्रुसे बचा लेता है। प्रभु शरण ही अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचानेका एकमात्र सच्चा साधन है। इसीलिये तो नारदजीने भक्त साधकोंको 'अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्' इन शब्दोंद्वारा चेतावनी दी है और अहंकारको त्याज्य बतलाया है।

परमात्मप्रदत्त ज्ञानके भण्डार वेदोंमें शरणागतिकी विशेष महिमा है। चारों वेदोंमें जहाँ ज्ञान कर्म और उपासनाका वर्णन है वहाँ प्रभुकी शरण जानेका भी आदेश है। बिना प्रभुकी शरणके मरण है। वेदप्रतिपादित शरणागति ऋग्वेद (१०।१४२।१)-के निम्नाङ्कित मन्त्रमें देखिये—

अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः सूनो नह्यन्यदस्त्याप्यम्।
भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति त आरे हिंसानामप दिद्युमा कृधि॥

तात्पर्य यह कि हे प्रकाशस्वरूप प्रभु! इस स्तोताको हिंसक काम-क्रोधादिके वज्रसे बचा ये वज्र कहीं चोट न कर दें। भक्त तेरा शरण आ गया है। तू ही सबसे बली है। तेरी शरण सचमुच तीनों (प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा)-में भद्र अथवा कल्याणकारी है।

मनुष्य इस संसारमें जहाँ कहीं भी नाते जोड़ता है, वे अन्तमें सब टूट ही जाते हैं। जहाँ संयोग है वहीं वियोग भी है। कोई सम्बन्ध स्थायी दिखायी नहीं देता। मनुष्यकी भाग्य-नैयाको भवसागरसे पार लगानेवाला कोई योग्य नाविक दृष्टिगोचर नहीं होता। दुःखी मानव एक सच्चे मित्र और सहायककी खोजमें है। यह एक स्थायी आश्रय चाहता है। यह आश्रयार्थी बनकर सभी शक्तिशालियोंके द्वार खटखटा आया परंतु किसीने शरण न दी। कहीं थोड़ी देरके लिये शरण मिली भी वह अबाध नहीं रही। उस क्षणिक आश्रयमें कुछ ही समय पश्चात् दोष दिखायी दिये, परंतु जिज्ञासुको एक निर्दोष आश्रयकी आवश्यकता है। उसने भाई बहन पिता माता मित्र सभीका आश्रय ग्रहण करके अनुभव किया कि इनमेंसे कोई स्थायी और सुखदायी नहीं है। ये सारे सम्बन्ध झूठे सिद्ध हुए। तब उसके मुखसे सहसा यही वेदवाणी निकली—स नो बन्धुर्जनिता स विधाता (यजु० ३२।१०)—अरे पगले! वही प्रभु ही तेरा सच्चा बन्धु, माता पिता और विधाता है। अब आश्रय ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसे अन्तमें मिल ही गया। यह प्रभुका चरण ही सर्वोच्च और सर्वाधार है। सभी कठिनाइयोंके पश्चात् प्राप्त हुए इस आश्रयको भक्त किसी दशामें छोड़ना नहीं चाहता। वह अपने प्रभुको पुनः पुकार कर कहने लगा—

'अयमग्ने जरिता त्वे अभूत्।'

यह दास अब हर प्रकारसे तेरे ही सहारे रहता है। इसका अब इस ससारम कोई दूसरा सहारा ही नहीं रहा। भला अथवा बुरा, यह तेरा दास जैसा भी हो, परतु है तो तेरा ही—तेरे द्वारका एक भिखारी ही। प्रभु! इसे अपना ले। इसे शरण दे। इस शरणागत भक्तकी दशा महात्मा श्रीतुलसीदासके शब्दोमे—

'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।

—जैसी हो गयी है। अब भक्त प्रभुका है और प्रभु भक्तके हैं।

ऋग्वेदके मन्त्रमे भी शरणागतिके रहस्यको खोलनेवाली कुजी इतने शब्दोंमे ही निहित है—

'भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति ते॥'

यहाँ यह बतलाया गया है कि तीना शरणोमे प्रभुकी शरण ही सचमुच सर्वश्रेष्ठ है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन-कौनसे तीन प्रकारके शरण हैं, जिनका आश्रय आत्मा ले सकता है? इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि (१) प्रकृति, (२) जीवात्मा और (३) परमात्मा—ये ही तीन प्रकारकी सत्ताएँ हैं जहाँ जीव सहारा खोजा करता है। जिज्ञासु साधकने प्रकृतिसे सम्बन्ध जोडकर यह निश्चय कर लिया कि यह स्वय जड है। यह चेतनकी क्या सहायता कर सकती है? यह तो मायास्वरूप है। यह तो मरु-मरीचिकाके समान दूरसे प्यासेको बुलाकर प्यासा ही छोड देती है। यह धोखेबाज है। साधक बहुत परिश्रम और गुरुज्ञानद्वारा इसके चगुलसे निकल भागा है। तब उसने इसका नाम 'माया-ठगनी' रखा है। जीव स्वामी है, प्रकृति 'स्व' है। जीव चेतन है प्रकृति अचेतन है। उस जडप्रकृतिमे क्रिया चेष्टा और गतिका आधात यह चेतन जीव ही करता है। अत दासीके शरणमें स्वामी क्या जाय? तब क्या जीवात्मा दूसरे जीवात्माकी शरणमे जाय? नहीं। यह भी नहीं! इससे क्या लाभ? शरण तो अपनेसे महान्के जाया जाता है। जीवात्मा तो स्वय अल्पज्ञ और ससीम है। रोग-भोगमें पडा हुआ जीवात्मा दूसरेको क्या परम सुख देगा? अविद्या और अन्धकारम पडा हुआ जीवात्मा दूसरे जीवात्माको कहाँतक विद्या और प्रकाश दे सकेगा यह विचार करना चाहिये। जीवात्माको तो उस असीम ज्ञानके भण्डार, प्रकाशस्वरूप प्रभुकी खोज है। जबतक उस यह महासत्ता नहीं मिल जाती, तबतक उसे चैन नहीं। इस व्यग्रता तथा श्रद्धापूर्ण खोजने अन्तमें जीवात्माको परमात्माके द्वारतक पहुँचा दिया। तब उसे पता चला कि यह सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही सबसे बली और प्रकृति तथा जीवका अधिष्ठाता है। तभी वह अति प्रसन्न होकर आवेशम बोल उठा—'प्रभु! तेरी ही शरण तीनाम श्रेष्ठ है।' अब भक्तकी एकमात्र भक्ति प्रभुचरणोसे ही हो गयी। उसीकी शरणमें उसे सुख-शान्तिका अनुभव हुआ। भक्ति बिना प्रेम नहीं, प्रेम बिना सब कुछ फीका ही है, रस तो प्रेममे ही है परतु यह विचित्र रस प्रभु उन्हींको देनेकी कृपा करता है जो उसके हो गय हैं। माताकी गोदम पडे हुए शिशुके समान जिसने अपनेको प्रभुके चरणामें डाल दिया है, उसीको प्रभु माताके समान प्यार भी करता है। इस प्रकारकी भक्ति बिना शरणागतिके कहाँ मिल सकती है। भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। इस सत्यको भक्तराज नारदजीने भी इन शब्दोद्वारा स्वीकार किया है—

'त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी।'

अर्थात् तीनो सत्योम भक्ति ही श्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठ भक्तिका साधन शरणागति है।

अब साधकको पता तो चल गया कि परम भक्ति शरणागतिद्वारा प्राप्त हो जाती है परतु उसे साधनाके पथमें नाना प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ मिल रही हैं। इस भौतिक जगत्मे रहकर साधकको उस अभौतिक सत्ताको प्राप्त करना है। लोकमे विपमता-ही-विपमता दाख रही है। विपम-अवस्थामे प्रभु-प्रेम मिल ही नहीं सकता। ईर्ष्या द्वेप माह मत्सर क्रोधके कारण मनुष्य एक-दूसरेका शत्रु हो रहा है। धोखा, अशुचिता असतोप विलास, असत्य प्रलाप और नास्तिकता आदि नाना प्रकारकी पाप-भावनाआका साम्राज्य है और इन्हीं परिस्थितियोमें साधकको साधना करनी है। वह पापक प्रचण्ड पावकके लपलपाती हुई लपटासे जला-भुना-सा जा रहा है। उसे एक शीतल छायाकी आवश्यकता है। झुलसते हुए ससारम वह 'शीतल छाया' कहाँ मिलनेको? मानसिक चिन्ता और उद्वगकी इस दशाम उसे वेद-वाणी सुननेका मिली— यस्यच्छायामृत० रे जीव! जिसकी छाया अमृतके समान है तू उसीकी छायाम जा। बस, इतना सकेत मिलते ही वह श्रद्धालु भक्त ऋग्वद (२।२७।६)-के शब्दाम ही बोल उठा—'यच्छता नो दुष्परिहन्तु शर्म प्रभो! हमे अपनी अबाध

शरण दे, तेरी शरणके बिना मरण है। अपनी अमृतस्वरूप छत्रच्छाया हमारे ऊपर फैला दे—अपने ही अमरपथका पथिक बना दे। प्रभो! तूने स्वयं ही अपनी वेद-वाणीद्वारा बतलाया है—'सुगो हि वो ... पन्था ... साधुरस्ति' अर्थात् भक्तिद्वारा तेरा पथ सुगम और उत्तम रूपसे प्राप्य है। जीवन-मरणके काल-चक्रके ऊपर चढ़ा हुआ जीव अनन्त दुःखोंको भोग रहा है। उसे सच्चे सुखका पता ही नहीं है। उसीकी खोजमें वह महात्माओं और संतोंके पास दौड़ रहा है। गुरुजनोंके मुखसे उसने ऋग्वेद (१।१५४।५)-का यह वचन सुना—'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः' अर्थात् विष्णुके परमपदमें ही मधु—अमृतका कूप है। बस अब साधकको विष्णुके चरणोंतक पहुँचनेकी आवश्यकता है। उन चरणोंका चरणामृत ही उसे सदाके लिये दुःखोंसे छुटकारा दिला सकता है। विष्णुधाम ही सुखधाम है प्रभुका चरण ही सर्वश्रेष्ठ शरणालय है। गोस्वामीजीके शब्दोंमें वह साधक उस 'व्यापक अविगत गोतीत पुनीत, मायारहित सच्चिदानन्द प्रभुकी शरणकी याचना करता हुआ बार-बार प्रभुके द्वारपर नतमस्तक होते हुए कह रहा है'—

भव बारिधि मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुखपुंजा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कंजा॥

अब उसे पाप-तापहारी शरणागतिरूप साधनका ज्ञान पूर्णरूपसे हो गया है। उसने प्रभुको ही हर प्रकार पूर्ण पाकर उसीका शरण लेनेका निश्चय किया है। उसकी श्रद्धा और भक्ति अटल है। वह जान चुका है कि शरणागति ही परम पुरुषार्थ है। उस कृपालु प्रभुका यह स्वभाव है कि वह अपने शरणापन्नका कभी त्याग नहीं करता। शरणागत भक्तको हृदयसे लगा लेता है। उसे अजर कर देता है अमर कर देता है शान्त कर देता है। अन्तमें उसी अपार शरणकी याचना प्रभुसे ऋग्वेद (१।१८।७)-के शब्दोंमें करता हुआ साधक उसीकी प्रेरणा और कृपाकी आशामें टकटकी लगाये बैठा है—

'यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति॥

कृपासिन्धुकी कृपा बिना कब यज्ञ मनोरथ होते सिद्ध।
दे प्रेरणा शरण-आगतको भक्तियोगमें है परिवृद्ध॥

~~~~~~

आख्यान—

शौनक-अङ्गिरा-संवाद

महाशाल शौनक हाथमें समिधा लिये श्रीअङ्गिराके आश्रममें पहुँचे। वहाँ श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परम ऋषि अङ्गिराके समीप प्रणामादि विधिपूर्वक उपस्थित होकर उन्होंने यह प्रश्न किया—

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति?

'भगवन्! वह कौन-सी विद्या है जिसके जान लेनेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है?

अङ्गिरा—ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—एक परा और दूसरी अपरा।

शौनक—अपरा विद्या किनको कहते हैं और परा विद्या किसको कहते हैं?

अङ्गिरा—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये अपरा विद्या हैं और परा विद्या वह है जिससे उस अक्षरब्रह्मका बोध होता है।

शौनक—वह अक्षरब्रह्म क्या है?

अङ्गिरा—वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षु-श्रोत्रादि-रहित है, जो अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतोंका कारण है, उसे धीर पुरुष सर्वत्र देखते हैं।

शौनक—सर्वत्र यह जो विश्व दिखायी देता है, वह ब्रह्मसे कैसे उत्पन्न होता है?

अङ्गिरा—जैसे मकड़ी अपना जाला बनाती और फिर जब उसे समेट लेती है, जैसे पृथ्वीमें वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे सजीव पुरुषसे केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षरब्रह्मसे यह विश्व उत्पन्न होता है।

शौनक—ब्रह्मसे विश्वकी यह उत्पत्ति जिस क्रमसे होती है, वह क्रम क्या है?

अङ्गिरा—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥

उत्पत्तिके निमित्त उसमें ज्ञान है उस ज्ञानमय तपसे सूक्ष्म सृष्टि
~~~~~~

ब्रह्म स्थूलताको प्राप्त होता है, उसी स्थूलतासे अन्न उत्पन्न होता है, अन्नसे क्रमश प्राण मन, सत्य लोक और कर्म तथा कर्मसे अमृत उत्पन्न होता है।'

य सर्वज्ञ सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्न च जायते॥

'वह जो सर्वज्ञ है (सबका समानरूपसे एक साथ जाननेवाला है), जो सर्वविद् है (सबमे प्रत्येकका विशेषज्ञ है), जिसका ज्ञानमय तप है, उसी अक्षरब्रह्मसे यह विश्वरूप ब्रह्म, यह नामरूप और अन्न उत्पन्न होता है।'

शौनक—भगवन्! वह अव्यय पुरुष जो इस विश्वका मूल है, कैसे जाना जाता है?

अङ्गिरा—

तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वासो भैक्ष्यचर्यां चरन्त ।
सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति
यत्रामृत स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

'जो शान्त और विद्वान् लोग वनमे भिक्षावृत्तिसे रहते हुए तप और श्रद्धाका सेवन करते हैं, वे शान्तरज होकर सूर्यद्वारसे वहाँ जाते हैं, जहाँ वह अमृत अव्यय पुरुष रहता है।'

शौनक—भगवन्! सूर्यद्वारसे उस अव्यय धामको प्राप्त करनेका साधन क्या है?

अङ्गिरा—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृत कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणि श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

'कर्मसे जो-जो लोक प्राप्त होते हैं, उनकी परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो ले क्योंकि ससारमे अकृत नित्य पदार्थ कोई नहीं है, अत कृत कर्मसे हम क्या प्रयोजन है। तब वह उस परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाय।'

'तब वे विद्वान् गुरु उस प्रशान्तचित्त जितेन्द्रिय शिष्यको उस ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हैं जिससे उस सत्य और अक्षरपुरुषका ज्ञान होता है।'

'उसी अक्षरपुरुषसे प्राण उत्पन्न होता है उसीसे मन, इन्द्रिय, आकाश वायु, तेज, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है।'

'अग्नि (द्युलोक) उसका मस्तक है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, उसके चरणोसे पृथिवी उत्पन्न हुई है, वह सब प्राणियोका अन्तरात्मा है।'

'बहुतसे जो देवता हैं, वे उसीसे उत्पन्न हुए हैं। साध्यगण, मनुष्य, पशु-पक्षी प्राण-अपान, व्रीहि-यव, तप श्रद्धा ब्रह्मचर्य और विधि—ये सब उसीसे उत्पन्न हुए हैं।'

शौनक—सत्यस्वरूप पुरुषसे ये सब उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् विकारमात्र हैं और पुरुष ही केवल सत्य है, ऐसा ही समझना चाहिये?

अङ्गिरा—नहीं यह सारा जगत्, कर्म और तप स्वय पुरुष ही है, ब्रह्म है, वर है, अमृत है। इस गुहामें छिपे हुए सत्यको जो जानता है वह, हे सोम्य! अविद्याकी ग्रन्थिका छेदन कर देता है।

'वह दीप्तिमान् है अणुसे भी अणु है, उसमे सम्पूर्ण लोक और उनके अधिवासी स्थित हैं। वही अक्षरब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी और वही मन है। वही सत्य तथा अमृत है। वही वधने योग्य है। हे सोम्य! तुम उसको वेधो।'

शौनक—भगवन्! उसका वेधन कैसे किया जाय?

अङ्गिरा—'हे सोम्य! औपनिषद महास्त्र लेकर उपासनासे तीक्ष्ण किया हुआ बाण उसपर चढाओ और उसे तद्भावभावित चित्तसे खींचकर उस अक्षरब्रह्मलक्ष्यका वेधन करो।'

शौनक—भगवन्! वह औपनिषद महास्त्र क्या है वह बाण कौन-सा है और उससे लक्ष्यवेध कैसे करना चाहिये?

अङ्गिरा—'प्रणव ही वह (महास्त्र) धनुष है, आत्मा ही बाण है और वह ब्रह्म ही लक्ष्य है। प्रमादरहित (सावधान) होकर उस लक्ष्यका वेध करनेके लिये बाणके समान तन्मय होना चाहिये।'

'जिसमे द्युलोक पृथिवी अन्तरिक्ष और मन सब प्राणोंके सहित बुना हुआ है उसी एक आत्माको जानो अन्य वाणीको छोडो यही अमृतका सतु है।'

'रथचक्रकी नाभिमे जिस प्रकार अरे लगे होते हैं उसी

प्रकार जिसमें सब नाडियाँ जुड़ी हैं, वही यह अन्तर्वर्ती आत्मा है, जो अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है। उस आत्माका 'ॐ' से ध्यान करो। तम (अज्ञान)-का पार करनेकी इच्छावाले तुम्हारा कल्याण हो।'

'जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है जिसकी यह महिमा भूलोकमें है वही यह आत्मा ब्रह्मपुर आकाशमें स्थित है। वह मनोमय प्राण-शरीरका नेता है (मन और प्राणको एक देहसे दूसरी देहमें एक लोकसे दूसरे लोकमें ले जाता है) और अन्नमय शरीरमें वह हृदयका आश्रय ग्रहण करके रहता है। उसके विज्ञानको प्राप्त होकर धीर पुरुष उस प्रकाशमान आनन्दरूप अमृतको सर्वत्र देखते हैं।'

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

'उस परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्म भी इसके क्षीण हो जाते हैं।'

'वह अमृत ब्रह्म ही आगे है, वही पीछे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है, वही नीचे है वही ऊपर है यह सारा विश्व वही वरिष्ठ ब्रह्म ही तो है।'

शौनक—उस ब्रह्मके साथ इस जीवका कैसा सम्बन्ध है?

अङ्गिरा—ये दोनों (ब्रह्म और जीव) ही सुन्दर पंखवाले दो पक्षियों-जैसे एक ही वृक्षका आश्रय किये हुए दो सखा हैं। इनमेंसे एक उस वृक्षके फलोंको खाता है और दूसरा नहीं खाता केवल देखता है। जो इन फलोंको खाता है वह दीन (अनीश) होकर शोकको प्राप्त होता है। वही जब दूसरेको ईशरूपमें देखकर उसकी महिमाको देखता है तब वह भी वीतशोक हो जाता है। जगत्कर्ता ईश पुरुषको देखकर वह पाप-पुण्य दोनोंका त्याग कर निरञ्जन हो परम साम्यको प्राप्त होता है।

शौनक—उस ईश पुरुषको देखनेका उपाय क्या है?

अङ्गिरा—सत्य तप सम्यग् ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे विशुद्धात्मा योगीजन अन्तःशरीरमें इसे ज्योतिर्मय शुभ्र रूपमें देखते हैं। वही आत्मा है। वह महत् है दिव्य है सूक्ष्मातिसूक्ष्म दूर से-दूर और समीप-से समीप है। वह देखनेवालोंके हृदयकी गुहामें छिपा हुआ रहता है। वह आँखसे नहीं दिखायी देता वाणीसे या अन्य इन्द्रियोंसे अथवा तप या कर्मसे भी नहीं जाना जाता। ज्ञानके प्रसादसे अन्तःकरण विशुद्ध होनेपर उस निष्कल पुरुषका साक्षात्कार होता है। ऐसा साक्षात्कार जिसे होता है, वह जो कुछ संकल्प करता है वह सिद्ध हो जाता है। वह संकल्पमात्रसे चाहे जिस लोक या भोगको प्राप्त कर सकता है। ऐसे पुरुषकी जो उपासना करता है वह भी बन्धनमुक्त होकर आत्माको प्राप्त कर लेता है।

शौनक—आत्माका कथन करनेवाले शास्त्रोंके प्रवचनसे क्या इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती?

अङ्गिरा—नहीं

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

'यह आत्मा प्रवचनसे नहीं मेधासे नहीं, बहुत श्रवण करनेसे भी नहीं मिलता। यह जिसका वरण करता है, उसीको यह प्राप्त होता है। उसके सामने यह आत्मा अपना स्वरूप व्यक्त कर देता है।' जो बल अप्रमाद संन्यास और ज्ञानके द्वारा आत्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है आत्मा उसे अपने धाममें ले आता है।

शौनक—जो कोई आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है, उसकी क्या स्थिति होती है?

अङ्गिरा—जो उस परब्रह्मको जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है और उसके कुलमें कोई अब्रह्मवित् नहीं होता। वह शोकको तर जाता है पापको पार कर जाता है, हृदयग्रन्थियोंसे विमुक्त होकर अमृत-पदको प्राप्त हो जाता है।

शौनक—भगवन्! ऐसी इस ब्रह्मविद्याका अधिकारी कौन होता है यह कृपापूर्वक बतलाइये।

अङ्गिरा—जो क्रियावान् हैं श्रोत्रिय हैं ब्रह्मनिष्ठ हैं श्रद्धापूर्वक जो एकर्षि हवन करते हैं और जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रतका अनुष्ठान किया है उन्हें यह ब्रह्मविद्या कहे।

इस प्रकार महात्मा (महापुरुष) शौनकके प्रश्न करनेपर महर्षि अङ्गिराने यह सत्य कथन किया। जिसने शिरोव्रतका अनुष्ठान नहीं किया है वह इसका अध्ययन नहीं कर सकता।

वेदोमे ईश्वर-भक्ति

(श्रीराजेन्द्रप्रसादजी सिंह)

कुछ लोगोका कहना है कि वेदाम ईश्वर-भक्तिका समावेश नहीं परतु विचार करनेसे पता लगता है कि वेदामें ईश्वर-भक्तिके विषयमे जो मन्त्र विद्यमान हैं, वे इतने सारगर्भित तथा रससे भरे पडे हैं कि उनसे बढकर भक्तिका सोपान अन्यत्र मिलना कठिन है। ईश्वर-भक्तिके सुगन्धित पुष्प वेदके प्रत्येक मन्त्रमे विराजमान हैं जो अपने प्राणकी सुगन्धसे स्वाध्यायशील व्यक्तियोके हृदयाको सुवासित कर देते हैं। वेदमे एक मन्त्र आता है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र॰ रसया सहाहु ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजु० २५।१२)

'जिसकी महिमाका गान हिमसे ढके हुए पहाड कर रहे हैं जिसकी भक्तिका राग समुद्र अपनी सहायक नदियोके साथ सुना रहा है और ये विशाल दिशाएँ जिसकी बाहुआके सदृश हैं, उस आनन्दस्वरूप प्रभुको मेरा नमस्कार है।'

प्रभुकी महिमा महान् है। अणु-अणुमें उसकी सत्ता विद्यमान है। ये सूर्य-चन्द्र, तारे तथा ससारके सारे पदार्थ उसकी सर्वव्यापकताके साक्षी हैं। उषाकी लालिमा जब चतुर्दिक् छा जाती है भाँति-भाँतिके पक्षी अपने विविध कलरवोसे उसीकी भक्तिके गीत गाते हैं। पहाडी झरनोम उसीका सगीत है। जिस प्रकार समाधिकी अवस्थाम एक योगी बिलकुल निश्चेष्ट होकर ईश्वरके ध्यानमे लीन हो जाता है, उसी प्रकार ये ऊँचे-ऊँचे पहाड अपने सिरोंको हिमकी सफेद चादरसे ढककर ध्यानावस्थित हो अपने निर्माताकी भक्तिम मौन-भावसे खड़े हैं।

कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि भक्तिके आवेशम ईश्वर-भक्तकी आँखासे प्रेमके अश्रु छलक पडते हैं। उसी प्रकार पर्वतोंके अदरसे जा नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं वे ऐसी लगती हैं मानो उन पर्वताके हृदयसे जल-धाराएँ भक्तिके रूपमे निकल पडी हैं। जेस ईश्वर-भक्तके हृदयमे लहराते हुए परमात्म-प्रेमके अगाध सिन्धुम नाना प्रकारकी तरगें उठती हैं, उसी प्रकार आकर्षण-शक्तिके द्वारा जिसे प्रभुने समुद्रके हृदयम डाल रखा है, उस प्रमकी ज्वारभाटाके रूपम विशाल लहर समुद्रमे पैदा होती हैं। यह प्रेम समुद्रके हृदयमे किसने पैदा किया? समुद्र और चन्द्रमाके बीच जो आकर्षण-शक्ति है, यह कहाँसे आयी? किस महान् शक्तिकी प्रेरणासे पूर्णिमाके दिन चन्द्रमाके पूर्ण विकसित चेहरेको देखकर समुद्र अपने प्राणप्रिय चन्द्रदेवसे मिलनेके लिये बाँसा उछलता है? ठीक इसी प्रकार जब ईश्वर-भक्त परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब उसका हृदय भी गद्‌गद होकर उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। यह सच है कि प्रकृति देवी धानी साडी पहने हुए अपने पतिदेव परमात्माकी भक्तिम दिन-रात लगी रहती है। एक वाटिकाके खिले फूल अपनी आकर्षक सुरभिके साथ मूक स्वरस अपने निर्माताका स्तवन करते रहते हैं। सूर्यकी प्रचण्डता चन्द्रकी शीतल ज्योत्स्ना ताराओका झिलमिल प्रकाश अरोरा बोरियालिसका उत्तरी ध्रुवमें प्रकाशित होना तथा आस्ट्रेलिसका दक्षिणी ध्रुवमे उदय होना हिमाच्छादित पर्वत-मालाएँ, कलकल करती हुई सरिताएँ, झरझर झरते हुए झरने मानो अपने निर्माताकी भक्तिक गीत सदा गाते रहते हैं।

वेदभगवान् हम आदेश देते हैं कि वह ईश्वर जिसकी महिमाका वर्णन ये सब पदार्थ कर रहे हैं जिसकी भक्तिका राग यह सकल ब्रह्माण्ड गा रहा है—हे मनुष्य! यदि दु खासे छूटना चाहता है ता तू भी उसीका भक्ति कर। इसके अतिरिक्त दु खासे छूटनेका काई दूसरा मार्ग नहीं है।

'आरोहणमाक्रमण जीवतोजीवतोऽयनम्॥ (अथर्व० ५। ३०। ७)
उन्नत होना और आग बढना प्रत्यक जीवका लक्ष्य है।

वेदोंमे गो-महिमा

इस संसारमें 'गौ' एक महनीय, अमूल्य और कल्याणप्रद पशु है। गौकी महिमाका उल्लेख वेदादि सभी शास्त्रोंमें मिलता है। गो (गौ) भगवान् सूर्यदेवकी एक प्रधान किरणका नाम है। सूर्यभगवान्के उदय होनेपर उनकी ज्योति, आयु और गो—ये तीनो किरणें स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोंमें यथासम्भव न्यूनाधिक्यरूपमें प्रविष्ट होती हैं, परंतु इनमें सूर्यभगवान्की 'गो' नामकी किरण केवल गौ-पशुमें ही अधिक मात्रामें समाविष्ट होती है। अतएव आर्यजाति इस पशुको 'गौ' नामसे पुकारती है।

'गो' नामक सूर्य-किरणकी पृथ्वी स्थावरमूर्ति और गौ-पशु जंगममूर्ति है। शास्त्रोंमें दोनोंको 'गो' शब्दसे व्यवहृत किया गया है। ये दोनों ही अनन्तगुणसम्पन्न भगवान् विराट्के स्वरूप हैं।

शुक्लयजुर्वेदमें गौ और पृथ्वी—इन दोनोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया गया है कि 'कस्य मात्रा न विद्यते? (किसका परिमाण (उपमा) नहीं है) [शुक्लयजु० २३।४७]। इसका उत्तर दिया गया है— गोस्तु मात्रा न विद्यते' (गौका परिमाण (उपमा) नहीं है) [शुक्लयजु० २३।४८]।

गौ और पृथ्वी—ये दोनों गौके ही दो स्वरूप हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। गौ और पृथ्वी—इन दोनोंमें अभिन्नता है। ये दोनों ही परस्पर एक-दूसरेकी सहायिका और सहचरी हैं। मृत्युलोककी आधारशक्ति 'पृथ्वी' है और देवलोककी आधारशक्ति 'गौ' है। पृथ्वीको 'भूलोक' कहते हैं और गौको 'गोलोक' कहते हैं। भूलोक अधोलोक (नीचे)-में है और गोलोक ऊर्ध्वलोक (ऊपर)-में है। भूलोककी तरह गोलोकमें भी श्रेष्ठ भूमि है।

जिस प्रकार पृथ्वीपर रहते हुए मनुष्योंके मल-मूत्रादिके त्यागादिक कुत्सित आचरणोंको पृथ्वी-माता सप्रेम सहन करती है, उसी प्रकार गौ माता भी मनुष्योंके जीवनका आधार होती हुई उनके मारने, निरोध एवं ताड़न आदि कुत्सित आचरणोंको सहन करती है। इसलिये वेदोंमें पृथ्वी और गौको 'माँ' शब्दसे व्यवहृत किया गया है। मनुष्योंमें भी जो सहनशील अर्थात् क्षमी होते हैं, वे महान् माने जाते हैं। संसारमें पृथ्वी और गौसे अधिक क्षमावान् और कोई नहीं है। अतः ये दोनों ही महान् हैं।

शास्त्रोंमें गौको सर्वदेवमयी और सर्वतीर्थमयी कहा गया है। अतः गौके दर्शनसे समस्त देवताओंके दर्शन और समस्त तीर्थोंकी यात्रा करनेका पुण्य प्राप्त होता है। जहाँ गौका निवास होता है, वहाँ सर्वदा सुख-शान्तिका पूर्ण साम्राज्य उपस्थित रहता है। गो-दर्शन, गो-स्पर्शन, गो-पूजन, गो-स्मरण, गो-गुणानुकीर्तन और गो-दान करनेसे मनुष्य सर्वविध पापोंसे मुक्त होकर अक्षय स्वर्गका भोग प्राप्त करता है। गौओंकी परिक्रमा करनेसे ही परमेष्ठी सबके वन्दनीय, माधव (विष्णु) सबके पूज्य और इन्द्र ऐश्वर्यवान् हो गये।

गौके गोबर, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोघृत और गोदधि आदि सभी पदार्थ परम पावन, आरोग्यप्रद, तेजप्रद, आयुवर्धक तथा बलवर्धक माने जाते हैं। यही कारण है कि आर्यजातिके प्रत्येक श्रौत-स्मार्त शुभ कर्ममें पञ्चगव्य और पञ्चामृतका विधान अनादिकालसे प्रचलित और मान्य है।

गौके जब बछड़ी-बछड़े पैदा होते हैं, तब सर्वप्रथम वे केवल अपनी माताके दुग्धका पान करके ही तत्काल वायुके वेगके सदृश दौड़ने लगते हैं। संसारमें गौवत्सके अतिरिक्त अन्य किसी भी मनुष्यसे लेकर कीट पतंगादि तकके प्राणीके नवजात शिशुमें इस प्रकारकी विचित्र शक्ति और स्फूर्ति नहीं पायी जाती, जो 'गोवत्स' की तरह उत्पन्न होते ही तत्काल दौड़ने लग जाय। इसीलिये मानव जातिमें जब बालक पैदा होते हैं, तब उन्हें सर्वप्रथम मेधाजननके लिये 'मधुघृते प्राशयति घृतं वा (पा० गृ० सू० १।१६।४)— इस सूत्रके अनुसार मधु और गोघृतमें सुवर्ण घिसकर अथवा केवल गोघृतमें सुवर्ण घिसकर यह पदार्थ बालकको चटाया जाता है, पश्चात् उसे गौका दूध पिलाया जाता है। अतएव गौको माता कहा जाता है।

[illegible] हमें बाल्यावस्थामें ही अधिक-से-अधिक दो-ढाई साल तक अपना दूध पिलाकर हमारा [illegible] ही [illegible] करती है, किंतु गोमाता [illegible]

आजीवन अपना अमृतमय दुग्ध पिलाकर हमारा इहलोकमे पालन-पोषण करती है और हमारी मृत्युके बाद वह हमे स्वर्ग पहुँचाती है, जैसा कि अथर्ववेद (१८।३।४)-मे भी कहा है—

'अय ते गोपतिस्त जुपस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम्॥'

'धनं च गोधन प्राहु ' के अनुसार विद्वानाने 'गौ' को ही असली धन कहा है।

वेदोमे गो-महिमापरक अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं जिनमेसे कुछ मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण परम पदमव भाति भूरि॥

(ऋग्वेद १।१५४।६)

गोभक्तगण अश्विनीकुमारसे प्रार्थना करते हैं कि—'हे अश्विनीकुमार! हम आपके उस गोलोकरूप निवासस्थानमे जाना चाहते हैं, जहाँ बडी-बडी सींगवाली सर्वत्र जानेवाली गौएँ निवास करती हैं। वहींपर सर्वव्यापक विष्णुभगवान्का परमपद वैकुण्ठ प्रकाशित हो रहा है।'

माता रुद्राणा दुहिता वसूना स्वसादित्यानाममृतस्य नाभि ।

(ऋग्वेद ८।१०१।१५)

गौ एकादश रुद्राकी माता अष्ट वसुआकी कन्या और द्वादश आदित्याकी बहन है जा कि अमृतरूप दुग्धको देनेवाली है।

देवो व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मध्न्या इन्द्राय भाग प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशᳬसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात॥

(शुक्लयजुर्वेद १।१)

'हे गौओ! प्राणियाका तत्तत्कार्योमें प्रविष्ट करानेवाले सवितादेव तुम्हें हरित-शस्य-परिपूर्ण विस्तृत क्षत्र (गोचरभूमि)-मे चरनेके लिये ले जायँ क्याकि तुम्हारे द्वारा श्रेष्ठ कर्मोका अनुष्ठान होता है। हे गौओ! तुम इन्द्रदेवके क्षीरमूलक भागको बढाओ अर्थात् तुम अधिक दुग्ध देनेवाली हो। तुम्हारी कोई चोरी न कर सके, तुम्हें व्याघ्रादि हिंसक जीव-जन्तु न मार सक क्याकि तुम तमोगुणी दुष्टोंद्वारा मारे जाने योग्य नहीं हो। तुम बहुत सतति उत्पन्न करनेवाला हो तुम्हारी सततियासे ससारका बहुत बडा कल्याण होता है। तुम जहाँ रहती हो, वहाँपर किसी प्रकारकी आधि-व्याधि नहीं आने पाती। यहाँतक कि यक्ष्मा (तपेदिक) आदि राजरोग भी तुम्हार पास नहीं आ सकते। अत तुम सर्वदा यजमानके घरमें सुखपूर्वक निवास करो।'

सा विश्वायु सा विश्वकर्मा सा विश्वधाया ।

(शुक्लयजुर्वेद १।४)

'वह गौ यज्ञसम्बन्धी समस्त ऋत्विजोकी तथा यजमानकी आयुको बढानेवाली है। वह गौ यज्ञके समस्त कार्योंका सम्पादन करनेवाली है। वह गौ यज्ञके समस्त देवताओका पोषण करनेवाली है अर्थात् दुग्धादि हवि-पदार्थ देनेवाली है।'

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोष वो भक्षीय॥

(शुक्लयजुर्वेद ३।२०)

'हे गौओ! तुम अन्नरूप हो अर्थात् तुम दुग्ध-घृतादिरूप अन्नको देनेवाली हो अत तुम्हारी कृपासे हमें भी दुग्ध-घृतादिरूप अन्न प्राप्त हो। तुम पूजनीय हो अत तुम्हारे सेवन (आश्रय)-से हम श्रेष्ठता प्राप्त कर। तुम बलस्वरूप हो अत तुम्हारी कृपासे हम भी बल प्राप्त कर। तुम धनको बढानेवाली हो अत हम भी धनकी वृद्धि प्राप्त करे।'

सᳬहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन।

(शुक्लयजुर्वेद ३।२२)

'हे गौओ! तुम विश्वरूपवाली दुग्ध-घृतरूप हवि प्रदान करनेके लिये यज्ञ-कर्मम सगतिवाली हो। तुम अपन दुग्धादि रसाको प्रदान कर हमारा गो-स्वामित्व सर्वदा सुस्थिर रखो।'

इड एह्यदित एहि काम्या एत।
मयि व कामधरण भूयात्॥

(शुक्लयजुर्वेद ३।२७)

'ह पृथ्वीरूप गौ! तुम इस स्थानपर आआ। घृतद्वारा दवताआको अदितिके सदृश पालन करनेवाली अदितिरूप गौ! तुम इस स्थानपर आओ। हे गौ! तुम समस्त साधनाको दनेवाली हानक कारण सभाकी आदरणीय हा। ह गौ! तुम इस स्थानपर आआ। तुमने हम देनेके लिय जा अपक्षित फल

वेदोंमे गो-महिमा

इस ससारमें 'गौ' एक महनीय अमूल्य और कल्याणप्रद पशु है। गौकी महिमाका उल्लेख वेदादि सभी शास्त्रामे मिलता है। गो (गौ) भगवान् सूर्यदेवकी एक प्रधान किरणका नाम है। सूर्यभगवान्के उदय होनेपर उनकी ज्याति आयु और गो—ये तीनो किरण स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोमे यथासम्भव न्यूनाधिक्यरूपमें प्रविष्ट होती हैं, परतु इनमे सूर्यभगवान्की 'गो' नामकी किरण केवल गौ-पशुमें ही अधिक मात्रामे समाविष्ट होती है। अतएव आर्यजाति इस पशुको 'गौ' नामसे पुकारती है।

'गो' नामक सूर्य-किरणकी पृथ्वी स्थावरमूर्ति और गौ-पशु जगममूर्ति है। शास्त्रामें दोनोको 'गो' शब्दसे व्यवहृत किया गया है। ये दोनो ही अनन्तगुणसम्पन्न भगवान् विराट्के स्वरूप हैं।

शुक्लयजुर्वेदमें गौ और पृथ्वी—इन दोनोंके सम्बन्धमे प्रश्न किया गया है कि 'कस्य मात्रा न विद्यते?' (किसका परिमाण (उपमा) नहीं है) [शुक्लयजु० २३।४७]। इसका उत्तर दिया गया है—'गोस्तु मात्रा न विद्यते' (गौका परिमाण (उपमा) नहीं है) [शुक्लयजु० २३।४८]।

गौ और पृथ्वी—ये दोनो गौके ही दो स्वरूप हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। गौ और पृथ्वी—इन दोनामें अभिन्नता है। ये दोनो ही परस्पर एक-दूसरेकी सहायिका और सहचरी हैं। मृत्युलोककी आधारशक्ति 'पृथ्वी' है और देवलोककी आधारशक्ति 'गौ' है। पृथ्वीको 'भूलोक' कहते हैं और गौको 'गोलोक' कहते हैं। भूलाक अधोलोक (नीचे)-में है और गोलोक ऊर्ध्वलोक (ऊपर)-मं है। भूलोककी तरह गोलोकमें भी श्रेष्ठ भूमि है।

जिस प्रकार पृथ्वीपर रहते हुए मनुष्योंके मल-मूत्रादिके त्यागादिक कुत्सित आचरणाको पृथ्वी-माता सप्रेम सहन करती है उसी प्रकार गौ-माता भी मनुष्योके जीवनका आधार होती हुई उनके वाहन निरोध एव ताडन आदि कुत्सित आचरणोको सहन करती है। इसीलिये वेदामे पृथ्वी और गौको मही' शब्दसे व्यवहृत किया गया है। मनुष्यामें भी जा सहनशील अर्थात् क्षमी होते हैं वे महान् माने जाते हैं। ससारमे पृथ्वी और गौसे अधिक क्षमावान् और कोई नहीं है। अत ये दोनो ही महान् हैं।

शास्त्रामे गौको सर्वदेवमयी और सर्वतीर्थमयी कहा गया है। अत गौके दर्शनसे समस्त देवताओके दर्शन और समस्त तीर्थोंकी यात्रा करनेका पुण्य प्राप्त होता है। जहाँ गौका निवास होता है वहाँ सर्वदा सुख-शान्तिका पूर्ण साम्राज्य उपस्थित रहता है। गो-दर्शन गो-स्पर्शन गो-पूजन, गो-स्मरण, गो-गुणानुकीर्तन और गा-दान करनेसे मनुष्य सर्वविध पापोसे मुक्त होकर अक्षय स्वर्गका भोग प्राप्त करता है। गौआकी परिक्रमा करनेसे ही बृहस्पति सबके वन्दनीय माधव (विष्णु) सबके पूज्य और इन्द्र ऐश्वर्यवान् हो गये।

गौके गोबर गोमूत्र गोदुग्ध गोघृत और गोदधि आदि सभी पदार्थ परम पावन आरोग्यप्रद, तेज प्रद आयुवर्धक तथा बलवर्धक माने जाते हैं। यही कारण है कि आर्यजातिके प्रत्येक श्रौत-स्मार्त शुभ कर्ममे पञ्चगव्य और पञ्चामृतका विधान अनादिकालसे प्रचलित और मान्य है।

गौके जब बछडी-बछडे पैदा होते हैं, तब सर्वप्रथम वे केवल अपनी माताके दुग्धका पान करके ही तत्क्षण वायुके वेगके सदृश दौडने लगते हैं। ससारमें गोवत्सके अतिरिक्त अन्य किसी भी मनुष्यसे लेकर कीट-पतंगादि तकके प्राणीके नवजात शिशुमे इस प्रकारकी विचित्र शक्ति और स्फूर्ति नहीं पायी जाती जो 'गोवत्स' की तरह उत्पन्न होते ही इतस्तत दौडन लग जाय। इसीलिये मानव-जातिमें जब बालक पैदा होते हैं, तव उन्हें सर्वप्रथम मेधाजननके लिये 'मधुघृते प्राशयति घृतं वा' (पार० गृ० सू० १।१६।४)—इस सूत्रके अनुसार मधु और गोघृतमें सुवर्ण घिसकर अथवा केवल गोघृतमें सुवर्ण घिसकर यह पदार्थ बालकको चटाया जाता है तत्पश्चात् उसे गौका दुग्ध पिलाया जाता है। अतएव गौको 'माता' कहा जाता है।

हमारी माताएँ हम बाल्यावस्थाम ही अधिक-से-अधिक दो-ढाई सालतक अपना दुग्ध पिलाकर हमारा इहलाकमे ही कल्याण करती हैं किंतु गोमाता हमें

आजीवन अपना अमृतमय दुग्ध पिलाकर हमारा इहलोकमें पालन-पोषण करती है और हमारी मृत्युके बाद वह हमें स्वर्ग पहुँचाती है जैसा कि अथर्ववेद (१८।३।४)-मे भी कहा है—

'अय ते गोपतिस्त जुपस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम्॥'

'धनं च गोधन प्राहु ' के अनुसार विद्वानोने 'गौ' को ही असली धन कहा है।

वेदोंमे गो-महिमापरक अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं, जिनमेसे कुछ मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण परमं पदमव भाति भूरि॥

(ऋग्वेद १।१५४।६)

गोभक्तगण अश्विनीकुमारसे प्रार्थना करते हैं कि—'हे अश्विनीकुमार! हम आपके उस गोलाकरूप निवासस्थानमें जाना चाहते हैं जहाँ बडी-बडी सींगवाली सर्वत्र जानेवाली गौएँ निवास करती हैं। वहींपर सर्वव्यापक विष्णुभगवान्का परमपद वैकुण्ठ प्रकाशित हो रहा है।'

माता रुद्राणा दुहिता वसूना स्वसादित्यानाममृतस्य नाभि ।

(ऋग्वेद ८।१०१।१५)

गौ एकादश रुद्राकी माता, अष्ट वसुओकी कन्या और द्वादश आदित्योकी बहन है जो कि अमृतरूप दुग्धको देनेवाली है।

देवा व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मघ्न्या इन्द्राय भाग प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघश॰सो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात॥

(शुक्लयजुर्वेद १।१)

'हे गौओ! प्राणियांको तत्तत्कार्योंमे प्रविष्ट करानेवाले सवितादेव तुम्हें हरित-शस्य-परिपूर्ण विस्तृत क्षेत्र (गोचरभूमि)-मे चरनेके लिये ले जायँ क्याकि तुम्हारे द्वारा श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान होता है। हे गौओ! तुम इन्द्रदेवके क्षीरमूलक भागको बढाओ अर्थात् तुम अधिक दुग्ध देनेवाली हो। तुम्हारी कोई चोरी न कर सके तुम्हें व्याघ्रादि हिसक जीव-जन्तु न मार सके क्याकि तुम तमोगुणी दुष्टोंद्वारा मारे जाने योग्य नहीं हो। तुम बहुत सतति उत्पन्न करनेवाली हो तुम्हारी सततियासे ससारका बहुत बडा कल्याण हाता है। तुम जहाँ रहती हो, वहाँपर किसी प्रकारकी आधि-व्याधि नहीं आने पाती। यहाँतक कि यक्ष्मा (तपेदिक) आदि राजरोग भी तुम्हारे पास नहीं आ सकते। अत तुम सर्वदा यजमानके घरमें सुखपूर्वक निवास करो।'

सा विश्वायु सा विश्वकर्मा सा विश्वधाया ।

(शुक्लयजुर्वेद १।४)

'वह गौ यज्ञसम्बन्धी समस्त ऋत्विजाकी तथा यजमानकी आयुको बढानवाली है। वह गौ यज्ञके समस्त कार्योका सम्पादन करनेवाली है। वह गौ यज्ञके समस्त देवताआका पोषण करनेवाली है अर्थात् दुग्धादि हवि-पदार्थ देनेवाली है।'

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोर्ज स्थोर्ज वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोष वो भक्षीय॥

(शुक्लयजुर्वेद ३।२०)

'ह गौओ! तुम अन्नरूप हो अर्थात् तुम दुग्ध-घृतादिरूप अन्नको देनेवाली हो, अत तुम्हारी कृपासे हमें भी दुग्ध-घृतादिरूप अन्न प्राप्त हो। तुम पूजनीय हो, अत तुम्हारे सवन (आश्रय)-से हम श्रेष्ठता प्राप्त करे। तुम बलस्वरूप हो, अत तुम्हारी कृपासे हम भी बल प्राप्त कर। तुम धनको बढानेवाली हो, अत हम भी धनकी वृद्धि प्राप्त करे।'

स॰हितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन।

(शुक्लयजुर्वेद ३।२२)

'हे गौओ! तुम विश्वरूपवाली दुग्ध-घृतरूप हवि प्रदान करनेके लिये यज्ञ-कर्मम सगतिवाली हो। तुम अपने दुग्धादि रसाको प्रदान कर हमारा गो-स्वामित्व सर्वदा सुस्थिर रखो।'

इड एह्यदित एहि काम्या एत।
मयि व कामधरण भूयात्॥

(शुक्लयजुर्वेद ३।२७)

'हे पृथ्वीरूप गौ! तुम इस स्थानपर आआ। घृतद्वारा देवताआका अदितिक सदृश पालन करनेवाली अदितिरूप गौ! तुम इस स्थानपर आओ। ह गौ! तुम समस्त साधनोको दनेवाली हानक कारण सभीकी आदरणीय हा। ह गौ! तुम इस स्थानपर आआ। तुमन हमें दनेके लिय जा

धारण किया है वह तुम्हारी कृपासे हमे प्राप्त हो। तुम्हारी प्रसन्नतासे हम अभीष्ट फलाको धारण करनेवाले बने।'

वीरं विदेय तव देवि सन्दशि॥

(शुक्लयजुर्वेद ४।२३)

'हे मन्त्रपूत दिव्य गो! तुम्हारे सुन्दर दर्शनके महत्त्वसे मैं बलवान् पुत्रको प्राप्त करूँ।'

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास ।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णो परमं पदमव भारि भूरि।

(शुक्लयजुर्वेद ६।३)

'मैं तुम्हारे उन लोकोमें जाना चाहता हूँ, जहाँ बडी-बडी सींगवाली बहुत-सी गौएँ रहती हैं। जहाँपर गौएँ रहती हैं वहाँ विष्णुभगवान्का परम प्रकाश प्रकाशित रहता है।'

राया वयः ससवाःसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गाव ।
तां धेनु मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीम्० ॥

(शुक्लयजुर्वेद ७।१०)

'जिस प्रकार देवगण गौके हव्य-पदार्थकी प्राप्तिसे प्रसन्न होते हैं और गौ घास आदि खाद्य-पदार्थकी प्राप्तिसे प्रसन्न होती है उसी प्रकार हम भी बहुत दुग्ध देनेवाली गाको प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं। गौके घरम रहनेसे हम धनादिसे परिपूर्ण होकर समस्त कार्योंका करनेमें समर्थ हो सकते हैं। अत हे देवताओ! तुम सर्वदा हमारी गौकी रक्षा करो जिससे हमारी गौ अन्यत्र न जाने पावे।'

क्षुमन्त वाज॰ शतिन॰ सहस्त्रिण मक्षू गोमन्तमीमहे॥

(सामवेद, उत्तरार्चिक ६८६)

'हम पुत्र-पौत्रादिसहित सैकडो-हजाराकी संख्या-वाले धनोंकी और गौ आदिसे युक्त अन्नकी शीघ्र याचना करते हैं।'

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते।
गामश्वं पिप्युषी दुहे॥

(सामवेद, उत्तरार्चिक १८३६)

'हे इन्द्र! तुम्हारी स्तुतिरूपा सत्यवाणी गौरूप होकर यजमानकी वृद्धिकी इच्छा करती हुई यजमानके लिये गौ घाडे आदि समस्त अभिलषित वस्तुओका दोहन करती (दुहती) हैं।'

इमा या गाव स जनास इन्द्र०॥

(अथर्ववेद ४।२१।५)

'जिसके पास गौएँ रहती हैं, वह तो एक प्रकारसे इन्द्र ही है।'

यूयं गावो मेदयथा कृश चिदश्रीर चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचा बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

(अथर्ववेद ४।२१।६)

'हे गौओ! तुम अपने दुग्ध-घृतादिद्वारा दुर्बल मनुष्योको हृष्ट-पुष्ट करती हो और निस्तेजोको तेजस्वी बनाती हो। तुम अपने मङ्गलमय शब्दोच्चारणसे हमारे घराको मङ्गलमय बनाती हो। इसलिय सभाओमे तुम्हारी कीर्तिका वर्णन होता रहता है।'

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत।
वशेद सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति॥

(अथर्ववेद १०।१०।३४)

'वशा (वशमे रहनेवाली) गौके द्वारा प्राप्त गो-दुग्धादि पदार्थोंसे देवगण और मनुष्यगण जीवन प्राप्त करते हैं। जहाँतक सूर्यदेवका प्रकाश हाता है वहाँतक गौ ही व्याप्त है अर्थात् यह समस्त ब्रह्माण्ड गौके आधारपर ही स्थित है।'

धेनु सदन रयीणाम्।

(अथर्ववेद ११।१।३४)

'गौ सम्पत्तिका घर है।'

महाँस्त्वेव गोर्महिमा।

(शतपथब्राह्मण)

'गौकी महिमा महान् है।

इस प्रकार वेदासे लकर समस्त धार्मिक ग्रन्थामें और समस्त सम्प्रदायवादियोके धर्मग्रन्थामे एव प्राचान-अर्वाचीन ऋषि-महर्षि आचार्य विद्वानासे लेकर आधुनिक विद्वानोतक सभीकी सम्मतिम गामाताका स्थान सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य है।

गौ एक अमूल्य स्वर्गीय ज्योति है, जिसका निर्माण भगवान्ने मनुष्याके कल्याणार्थ आशीर्वादरूपमें पृथ्वीलोकमें किया है। अत इस पृथ्वीम गामाता मनुष्यांक लिये भगवान्का प्रसाद है। भगवान्के प्रसादस्वरूप अमृतरूपी

गोदुधका पान कर मानवगण ही नहीं कितु देवगण भी तृप्त और सतुष्ट होते हैं। इसीलिये गोदुग्धको 'अमृत' कहा जाता है। यह अमृतमय गोदुग्ध देवताओके लिये भोज्यपदार्थ कहा गया है। अत समस्त देवगण गोमाताके अमृतरूपी गोदुग्धका पान करनेके लिये गोमाताके शरीरमें सर्वदा निवास करते हैं।

शतपथब्राह्मणम लिखा है कि गोमाता मानव-जातिका बहुत ही उपकार करती है—

'गौर्वै प्रतिधुक्। तस्यै शृत तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्याऽआतञ्चनं तस्यै नवनीत तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्॥'

'गोमाता हमे प्रतिधुक् (ताजा दुग्ध), शृत (गरम-दुग्ध) शर (मक्खन निकाला हुआ दुग्ध), दही, मट्ठा घृत खीस (इन्नर) वाजिन (खीसका पानी), नवनीत और मक्खन—ये दस प्रकारके अमृतमय भोजनीय पदार्थ देती है जिनको खा-पीकर हम आरोग्य बल बुद्धि एव ओज आदि शारीरिक बल प्राप्त करते हैं और गौके दुग्धादि पदार्थोंके व्यापारद्वारा तथा गौके बछडे-बछडियों एव गोबरद्वारा हम प्रचुर मात्राम विविध प्रकारके अन्न पैदा कर धनवान् बन जाते हैं। अत गोमाता हमे बल अन्न और धन प्रदान कर हमारा अनन्त उपकार करती है।

अत मानव-जातिके लिये गौसे बढकर उपकार करनेवाला और कोई शरीरधारी प्राणी नहीं है। इसीलिये हिंदूजातिने गौको देवताके सदृश समझकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करना अपना परम धर्म समझा है।

शास्त्रामें गोरक्षार्थ 'गा-यज्ञ' भी एक मुख्य साधन कहा गया है। वैदिक कालमें बडे-बडे 'गो-यज्ञ' और 'गो-महोत्सव' हुआ करते थे। भगवान् श्रीकृष्णने भी गोवर्धन-पूजनके अवसरपर 'गो-यज्ञ' कराया था। गो-यज्ञमे वेदोक्त गो-सूक्तासे गोपुष्ट्यर्थ और गोरक्षार्थ हवन, गो-पूजन वृषभ-पूजन आदि कार्य किये जाते हैं जिनसे गो-सरक्षण, गो-सवर्धन, गो-वशरक्षण गो-वशवर्धन, गो-महत्त्व-प्रख्यापन और गा-सगतिकरण आदिमे विशेष लाभ होता है। आज वर्तमान समयकी विकट परिस्थिति देखते हुए गो-प्रधान भारतभूमिम सर्वत्र गो-यज्ञकी अथवा गोरक्षा-महायज्ञकी विशेष आवश्यकता है। अत गोवर्धनधारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे प्रार्थना है कि वे भारतवासी धर्मप्रेमी हिंदुआके हृदयामें गोरक्षार्थ 'गो-यज्ञ' करनकी प्रेरणा करें, जिससे भारतवर्षके कोने-कोनेम उत्साहके साथ अगणित 'गो-यज्ञ' हो और उन गो-यज्ञाके फलस्वरूप प्रत्येक हिंदूभाईकी जिह्वाम—इन महाभारताक्त पुण्यमय श्लोकद्वयकी मधुर ध्वनि सर्वदा नि सृत हाती रहे जिससे देश और सम्पूर्ण समाजका सर्वविध कल्याण हो।

गा वै पश्याम्यहं नित्य गाव पश्यन्तु मां सदा।
गावोऽस्माक वय तासा यता गावस्ततो वयम्॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ७८। २४)

गावो ममाग्रतो नित्य गाव पृष्ठत एव च।
गावो मे सर्वतश्चैव गवा मध्ये वसाम्यहम्॥

(महाभारत अनुशासनपर्व ८०। ३)

तात्पर्य यह कि 'मैं सदा गौआका दर्शन करूँ और गौएँ मुझपर कृपादृष्टि कर। गौएँ हमारी हैं और हम गौआके हैं। जहाँ गौएँ रहें वहीं हम रहें।' 'गौएँ मेरे आगे रह। गौएँ मेर पीछ भी रहें। गौएँ मेरे चारा आर रह और मैं गौआके बीचम निवास करूँ।'

स्कम्भे लोका स्कम्भे तप स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम्॥

(अथर्व० १०।७।२९)

सर्वाधार परमात्माम ही सारे लोक, सारे तप और सारे प्राकृतिक नियम रहत हैं। उस सर्वाधार परमात्माको मैं प्रत्यक्ष रूपसे जानता हूँ। उस इन्द्र-रूप परमात्माम सभी कुछ समाप्त हुआ है।

आख्यान—

गो-सेवासे ब्रह्मज्ञान

एक सदाचारिणी ब्राह्मणी थी, उसका नाम था जबाला। उसका एक पुत्र था सत्यकाम। जब वह विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन अपनी मातासे कहने लगा—'माँ! मैं गुरुकुलमें निवास करना चाहता हूँ, गुरुजी जब मुझसे नाम गोत्र पूछेंगे तो मैं अपना कौन गोत्र बतलाऊँगा?' इसपर उसने कहा कि 'पुत्र! मुझे तेरे पितासे गोत्र पूछनेका अवसर नहीं प्राप्त हुआ, क्योंकि उन दिनों मैं सदा अतिथियोंकी सेवामें ही व्यस्त रहती थी। अतएव जब आचार्य तुमसे गोत्रादि पूछें तब तुम इतना ही कह देना कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।' माताकी आज्ञा लेकर सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम ऋषिके यहाँ गया और बोला—'मैं श्रीमान्‌के यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक सेवा करने आया हूँ।' आचार्यने पूछा—'वत्स! तुम्हारा गोत्र क्या है?'

सत्यकामने कहा—'भगवन्! मेरा गोत्र क्या है, इसे मैं नहीं जानता। मैं सत्यकाम जाबाल हूँ, बस इतना ही इस सम्बन्धमें जानता हूँ।' इसपर गौतमने कहा—'वत्स! ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता। जा थोड़ी समिधा ले आ। मैं तेरा उपनयन-संस्कार करूँगा।

सत्यकामका उपनयन करके चार सौ दुर्बल गायोंको उसके सामने लाकर गौतमने कहा—'तू इन्हें वनमें चराने ले जा। जबतक इनकी संख्या एक हजार न हो जाय इन्हें वापस न लाना।' उसने कहा— भगवन्! इनकी संख्या एक हजार हुए बिना मैं न लौटूँगा।'

सत्यकाम गायोंको लेकर वनमें गया। वहाँ वह कुटिया बनाकर रहने लगा और तन-मनसे गौओंकी सेवा करने लगा। धीरे-धीरे गायोंकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभ (साँड)-ने सत्यकामके पास आकर कहा—'वत्स हमारी संख्या एक हजार हो गयी है अब तू हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दे। साथ ही ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें तुझे एक चरणका मैं उपदेश देता हूँ। वह ब्रह्म 'प्रकाशस्वरूप' है, इसका दूसरा चरण तुझे अग्नि बतलायेंगे।'

सत्यकाम गौओंको हाँककर आगे चला। संध्या होनेपर उसने गायोंको रोक दिया और उन्हें जल पिलाकर वहीं रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। तत्पश्चात् काष्ठ लाकर उसने अग्नि जलायी। अग्निने कहा—'सत्यकाम! मैं तुझे ब्रह्मका द्वितीय पाद बतलाता हूँ, वह 'अनन्त'-लक्षणात्मक है, अगला उपदेश तुझे हंस करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकाम पुनः किसी सुन्दर जलाशयके किनारे ठहर गया और उसने गौओंके रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। इतनेमें ही एक हंस ऊपरसे उड़ता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठकर बोला—'सत्यकाम!' सत्यकामने कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' हंसने कहा—'मैं तुझे ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश कर रहा हूँ, वह 'ज्योतिष्मान्' है, चतुर्थ पादका उपदेश तुझे मुद्‌ (जलकुक्कुट) करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकामने एक वटवृक्षके नीचे गौओंके रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। अग्नि जलाकर वह बैठ ही रहा था कि एक जलमुर्गने आकर पुकारा और कहा—'वत्स! मैं तुझे ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश करता हूँ, वह 'आयतनस्वरूप' है।'

इस प्रकार उन-उन देवताओंसे सच्चिदानन्दघन-लक्षण परमात्माका बोध प्राप्त कर एक सहस्र गौओंके साथ सत्यकाम आचार्य गौतमके यहाँ पहुँचा। आचार्यने उसकी चिन्तारहित तेजपूर्ण दिव्य मुखकान्तिको देखकर कहा—'वत्स! तू ब्रह्मज्ञानीके सदृश दिखलायी पड़ता है।' सत्यकामने कहा—'भगवन्! मुझे मनुष्येतरोंसे विद्या मिली है। मैंने सुना है कि आपके सदृश आचार्यके द्वारा प्राप्त हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतएव मुझे आप ही पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये।' आचार्य बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'वत्स! तूने जो प्राप्त किया है वही ब्रह्मतत्त्व है।' और उस सम्पूर्ण तत्त्वका पुनः उन्होंने ठीक उसी प्रकार उपदेश किया।

(छान्दोग्य० ४।४—९)

ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना

(श्रीअनुरागजी कपिध्वज)

मनुस्मृतिमें कहा गया है कि धार्यमाण भक्ति, ज्ञान आदि धर्मकी जिज्ञासा रखनेवालाके लिये मुख्य स्वत प्रमाण एकमात्र श्रुति है।[१] महाभारत—जिसे पञ्चम वेद स्वीकार किया गया है उसमें भी वेदाकी महत्ता बतलाते हुए कहा गया है कि वेद-वाणी दिव्य है। नित्य एवं आदि-अन्त-रहित है। सृष्टिके आदिमे स्वयम्भू परमेश्वरद्वारा उसका प्रादुर्भाव हुआ है तथा उसके द्वारा धर्म, भक्ति आदिकी समस्त प्रवृत्तियाँ सिद्ध हो रही हैं।[२] महा-पुरुषोंका मत है कि सच्ची जिज्ञासा उत्कट अभिलाषा, श्रद्धा तथा विश्वासके द्वारा ही उस अमृतवाणीको समझा जा सकता है।

वेदोंका कथन है कि ससारका अस्तित्व नहीं है। जबतक देह, इन्द्रिय और प्राणोंके साथ आत्माकी सम्बन्ध-भ्रान्ति है तभीतक अविवेकी पुरुषको वह सत्य-सा स्फुरित होता है। जैसे स्वप्नमें अनेक विपत्तियाँ आती हैं वास्तवमें वे हैं नहीं, पर स्वप्न टूटनेतक उनका अस्तित्व नहीं मिटता वैसे ही ससारके न होनेपर भी जो उसमे प्रतीत होनवाले विषयाका चिन्तन करता रहता है उसके जन्म-मृत्युरूप ससारकी निवृत्ति नहीं होती।

आत्मतत्त्व-जिज्ञासा एव आत्मबोधके द्वारा ही दृश्य-प्रपञ्चका अस्तित्व जो द्रष्टाका बन्धन कहा गया है नष्ट होता है और साधक 'मैं ही सर्वाधिष्ठान परब्रह्म हूँ' 'सर्वाधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ'—यह जाननेमें समर्थ होता है तथा उसे वेदोंकी वह अमृतवाणी समझमे आ जाती है। जिसके द्वारा समस्त वेद मोहनिद्रामें सोये हुए जीवोंको जाग्रत् करनेके लिये दृढतापूर्वक कहते हैं कि ससारमें परमेश्वरके सिवा और कुछ नहीं हैं। वह परमेश्वर स्वर्ग पृथिवी एव अन्तरिक्षरूप निखिल विश्वमे पूर्णरूपसे व्याप्त है, वह सम्पूर्ण जगत्का सूर्य अर्थात् प्रकाशक है तथा वह स्थावर-जङ्गमका आत्मा है।[३] उसे जानकर ही प्राणी मुक्त होता है अर्थात् यह बारंबार जन्म-मृत्युरूप महाभयकर बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा पा जाता है जिससे मुक्त होनेका अन्य कोई उपाय नहीं है।[४]

वेदभगवान्का सुझाव और आदेश है कि जो उस परमप्रभुको जान लेते हैं, वे मोक्षपदको प्राप्त करते हैं।[५] वही परमात्मा शरीरादि-रूपसे परिणत पृथिव्यादि पञ्चभूतोके भीतर पुरुष अर्थात् पूर्ण परमात्मा सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करनेके लिये प्रविष्ट हुआ है तथा इस अधिष्ठान-पुरुषके भीतर वह भूत-भौतिक जगत् अर्पित है अर्थात् अध्यारोपित है।[६] इसीलिये कहा गया है कि जब जीवात्मा सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको अभेदरूपसे देखने लगता है तब वह जीवात्मा ससारसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। यजुर्वेदमे कहा गया है कि जो मनुष्य प्राणिमात्रको सर्वाधार परब्रह्मपुरुषोत्तममें देखता है और सर्वान्तर्यामी परमप्रभु परमात्माको प्राणिमात्रमें देखता है वह फिर कभी किसीसे घृणा या द्वेष नहीं कर सकता।[७]

साधक जब यह समझ जाता है कि ससार अपनी आत्मामें फैला हुआ है और आत्मा तथा परमात्मा एक है—यह जानकर कि अधिष्ठानमें अध्यस्तकी सत्ता अधिष्ठानरूप होती है, तब वह सर्वात्मभावको प्राप्त हो आत्मामें फैले ससारको आत्मरूपसे देखने लगता है और मुक्त हो जाता है क्योंकि जो पुरुष 'सब कुछ ब्रह्म ही है' 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार एकभावका आश्रय लेकर सम्पूर्ण भूतोम स्थित परमात्माको भजता है वह सब प्रकार व्यवहार करता हुआ भी पुन संसारमें उत्पन्न नहीं होता।

सतजन परमात्मविषयक विचारसे उत्पन्न परमात्मस्वरूपके अनुभवको ही ज्ञान कहते हैं। ज्ञानके द्वारा सामने दिखायी देनेवाले इस जगत्की जो निवृत्ति है—परमात्मामे स्थित एव भलीभाँति प्रबुद्ध हुए ज्ञानी पुरुषकी इसी स्थितिको 'तुर्यपद' कहते हैं। जिस ज्ञानके समय समस्त प्राणी एक आत्मा ही हा जाते हैं अर्थात् नाम-रूपात्मक आरोपित जगत्का अधिष्ठान आत्मामें बाधित हो जाता है—केवल आत्मा ही परिशिष्ट रह जाता है। ऐसे विज्ञानस्वरूप साधकको जगत्से मुक्ति होना—स्वाभाविक ही है।[८]

---

१ धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति ॥ (मनुस्मृति २।१३)

२ अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यत सर्वा प्रवृत्तय ॥ (महाभारत)

३ आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष* सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ (ऋग्वेद १।११५।१ शुक्लयजुर्वेद ७।४२)

४ तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (शुक्लयजुर्वेद ३१।१८)

५. य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशु ॥ (ऋग्वेद १।१६४।२३ अथर्ववेद ९।१०।१)

६ पञ्चस्वन्त पुरुष आ विवेश तान्यन्त पुरुषे अर्पितानि। (शुक्लयजुर्वेद २३।५२)

७ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥ (शुक्लयजुर्वेद ४०।६)

८ यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत । तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥ (शुक्लयजुर्वेद ४०।७)

ब्रह्मस्वरूप वेद

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

(१) शास्त्र-वाक्योसे श्रवण

सामान्य दृष्टिसे वेद अन्य ग्रन्थाकी भाँति ही दिखलायी देते हैं, क्योंकि इनमे कुछ समताएँ हैं। अन्य ग्रन्थ जैसे अपने विषयके प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह होते हैं वैसे वेद भी अपन विषयके प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह दीखते हैं—यह एक समता हुई। दूसरी समता यह है कि अन्य ग्रन्थ जैस कागजपर छापे या लिखे जाते हैं वैसे वेद भी प्राकृतिक कागजपर छाप या लिखे जात हैं किंतु वास्तविकता यह है कि अन्य ग्रन्थाक वाक्य जैसे अनित्य होते हैं, वैसे वेदके वाक्य अनित्य नहीं हैं। इस दृष्टिस वंद और अन्य ग्रन्थामे वही अन्तर है जा अन्य मनुष्योसे श्रीराम-श्रीकृष्णमे होता है। जब ब्रह्म श्रीराम-श्रीकृष्णक रूपमे अवतार ग्रहण करता है तब साधारण जन उन्हे मनुष्य ही देखते हैं। वे समझते हैं कि जैसे प्रत्येक मनुष्य हाड-मास-चर्मका बना होता है वैसे ही वे भी हैं किंतु वास्तविकता यह है कि श्रीराम-श्रीकृष्णके शरीरम हाड-मास-चर्म आदि कोई प्राकृतिक पदार्थ नहीं होता।[१] इनका शरीर साक्षात् सत्, चित् एव आनन्दस्वरूप होता है। अत अधिकारी लोग इन्हें ब्रह्मस्वरूप ही देखते हैं।[२] जैसे श्रीराम-श्रीकृष्ण मनुष्य दीखत हुए भी मनुष्यासे भिन्न अनश्वर ब्रह्मस्वरूप होते हैं वैसे ही वेदोके वाक्य भी अन्य ग्रन्थाके वाक्योंकी तरह दीखते हुए भी उनसे भिन्न अनश्वर ब्रह्मरूप होते हैं। जैसे श्रीराम-श्रीकृष्णको 'ब्रह्म', 'स्वयम्भू' कहा गया है, वैसे वेदको भी 'ब्रह्म' 'स्वयम्भू' कहा गया है। इस विषयमं कुछ प्रमाण ये हैं—

(१) अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु सामलक्षणम्॥

(मनु० १। २३)

अर्थात् 'ब्रह्माने यज्ञको सम्पन्न करनेके लिये अग्नि वायु और सूर्यसे ऋक् यजु और साम नामक तीन वेदोंको प्रकट किया। इस श्लोकमें मनुन वेदोंको 'सनातन ब्रह्म' कहा है।'

(२) कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

(गीता ३। १५)

अर्थात् 'अर्जुन! तुम क्रियारूप यज्ञ आदि कर्मको ब्रह्म (वेदा)-से उत्पन्न हुआ और उस ब्रह्म (वेदों)-का ईश्वरसे आविर्भूत जानो।'

(३) स्वय वदन अपनको 'ब्रह्म' और 'स्वयम्भू' कहा है— ब्रह्म स्वयम्भू ' (तै०आ० २। ९)।

(४) इसी तथ्यको व्यासदेवने दोहराया है—

(क) वेदो नारायण साक्षात् (बृ०नारदपु० ४। १७)।

(ख) वेदो नारायण साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥

(श्रीमद्भा० ६। १। ४०)

(२) मनन

इस तरह शास्त्रासे सुन लिया गया कि 'वेद नित्य-नूतन ब्रह्मरूप हैं।' अब इसका युक्तियासे मनन अपेक्षित है।

(३) वेद ब्रह्मरूप कैसे?

ब्रह्म सत्, चित्, आनन्दरूप होता है—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० उ० ३। ९। २८)। 'सत्' का अर्थ होता है—'त्रिकालाबाध्य अस्तित्व। अर्थात् ब्रह्म सदा वर्तमान रहता है इसका कभी विनाश नहीं हाता।' 'आनन्द' का अर्थ होता है—'वह आत्यन्तिक सुख जा प्राकृतिक सुख-दु खसे ऊपर उठा हुआ होता है।' 'चित्' का अर्थ हाता है—'ज्ञान'। इस तरह ब्रह्म जैसे नित्य सत्तास्वरूप नित्य आनन्दस्वरूप है, वैसे ही नित्य ज्ञानरूप भा है। ज्ञानमें शब्दका अनुबंध अवश्य रहता है—

अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते॥

(वाक्यपदीय १२३)

---

१ (क) न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मेदोमज्जास्थिसम्भवा (वराहपुराण)।

(ख) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर शुद्धमपापविद्धम् (शुक्लयजु० ४०। ८)।

—इस मन्त्रमें ब्रह्मको अकाय शब्दक द्वारा लिङ्ग-शरीरसे रहित, अव्रण और अस्नाविर शब्दोंके द्वारा स्थूल शरीरसे रहित एवं शुद्ध शब्दके द्वारा कारण-शरीरसे रहित बतलाया गया है।

२ कृष्ण त्वं पृथगस्ति कोऽप्यविकृत सच्चिन्मयो नीलिमा (प्रबोधसुधाकर)।

नित्य ज्ञानके लिये अनुवेध भी तो नित्य शब्दका ही होना चाहिये? इस तरह नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्धवाले वेद ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाते हैं।

महाप्रलयके बाद ईश्वरकी इच्छा जब सृष्टि रचनेकी होती है, तब यह अपनी बहिरङ्गा शक्ति प्रकृतिपर एक दृष्टि डाल देता है। इतनेसे प्रकृतिमें गति आ जाती है और वह चौबीस तत्त्वोंके रूपमें परिणत होने लगती है। इस परिणाममें ईश्वरका उद्देश्य यह होता है कि अपञ्चीकृत तत्त्वोसे एक समष्टि शरीर बन जाय, जिससे उसमें समष्टि आत्मा एव विश्वका सबसे प्रथम प्राणी हिरण्यगर्भ आ जाय—'**हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे०**' (ऋक्० १०। १२१। १)।

जब तपस्याके द्वारा ब्रह्मामे योग्यता आ जाती है तब ईश्वर उन्हे वेद प्रदान करता है—

यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्व०६। १८)

इस तथ्यका उपबृहण करते हुए मत्स्यपुराण (३। २ ४)-में कहा गया है—

तपश्चचार प्रथमममराणा पितामह ।
आविर्भूतास्ततो वेदा साङ्गोपाङ्गपदक्रमा ॥
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनि सृता ।

अर्थात् 'ब्रह्माने सबसे पहले तप किया। तब ईश्वरके द्वारा भेजे गये वेदोका उनमे आविर्भाव हो पाया। (पुराणाको पहले स्मरण किया) बादमं ब्रह्माके चारों मुखासे वेद निकले।' उपर्युक्त श्रुतियो एव स्मृतियोंके वचनसे निमलिखित बाते स्पष्ट होती हैं—

(१) ईश्वरने भूत-सृष्टि कर सबसे पहले हिरण्यगर्भको बनाया। उस समय भौतिक सृष्टि नहीं हुई थी। (२) ईश्वरने हिरण्यगर्भसे पहले तपस्या करायी इसके बाद योग्यता आनेपर उनके पास वेदोंको भेजा। (३) वे वेद पहले ब्रह्माके हृदयमे आविर्भूत हो गये। हृदयने उनका प्रतिफलन कर मुखोसे उच्चरित करा दिया। इस तरह ईश्वरने ब्रह्माको वेद प्रदान किये।

वेदोसे सृष्टि

जबतक ब्रह्माके पास वेद नहीं पहुँचे थे तबतक वे किंकर्तव्यविमूढ थे। वेदोंकी प्राप्तिके पश्चात् इन्हींकी सहायतामे वे भौतिक सृष्टि-रचनामें समर्थ हुए। मनुन लिखा है—

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्सस्थाश्च निर्ममे॥

(मनु० १। २१)

तैत्तिरीय आरण्यकने स्पष्ट बतलाया है कि वेदोने ही इस सम्पूर्ण विश्वका निर्माण किया है—'**सर्वं हीद ब्रह्मणा हैव सृष्टम्।**' यहाँ प्रकरणके अनुसार 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वद है।

ब्रह्माद्वारा सम्प्रदायका प्रवर्तन

सृष्टिके प्रारम्भम ब्रह्मा अकेले थे। इन्हाने ही वेदोको पाकर सृष्टिके क्रमको आगे बढाया। सनक सनन्दन, वसिष्ठ आदि इनके पुत्र हुए। ब्रह्माने ईश्वरसे प्राप्त वेदाको इन्हे पढाया। वसिष्ठ कुलपति हुए। उन्होन शक्ति आदि बहुत-से शिष्योको वेद पढाया तथा उनके शिष्योंने अपने शिर्ष्याको पढाया। इस तरह वेदोके पठन-पाठनकी परम्परा चल पडी। जो आज भी चलती आ रही है—

वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकमधुनाध्ययनवत्॥

(मीमांसा-न्यायप्रकाश)

उपर्युक्त प्रमाणोसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महाप्रलयके बाद ईश्वरकी सत्ताकी भाँति उनके स्वरूपभूत वेदाकी भी सत्ता बनी रहती है। इस तरह गुरु-परम्परासे वेद हम लोगाको प्राप्त हुए हैं। वेदोके शब्द नित्य हैं, अन्य ग्रन्थोंकी तरह अनित्य नहीं।

वेदोकी रक्षाके अनूठे उपाय

वेदाका एक-एक अक्षर एक-एक मात्रा अपरिवर्तनीय है। सृष्टिके प्रारम्भमे इनका जो रूप था वही सब आज भी है। आज भी वही उच्चारण और वही क्रम है। ऐसा इसलिये हुआ कि इनक सरक्षणके लिये आठ उपाय किय गये हैं जिन्हे 'विकृति' कहते हैं। उनके नाम हैं—(१) जटा (२) माला (३) शिखा (४) रेखा (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ और (८) घन—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो धन ।
अष्टौ विकृतय प्राक्ता क्रमपूर्वा महर्षिभि ॥

विश्वके किसी दूसरी पुस्तकमे य आठो उपाय नहीं मिलते। गुरु-परम्परास प्राप्त इन आठा उपायोंका फल निकला कि सृष्टिके प्रारम्भम वेदक जैसे उच्चारण थ जैसे पद-क्रम थे वे आज भी वैस ही सुन जा सकते हैं। हजार वर्षोंकी गुलामीने इस गुरु-परम्पराका हानि पहुँचायी है। फलत वदाकी अधिकाश शाखाएँ नष्ट हो

बची हैं, उन्हें इन आठ विकृतियोने सुरक्षित रखा है।

वेद अनन्त है

जिज्ञासा होती है कि वेदोकी कितनी शाखाएँ होती हैं और उनमें आज कितनी बची हैं? इस प्रश्नका उत्तर वेद स्वय देते हैं। वे बतलाते हैं कि हमारी कोई इयत्ता नहीं है—'अनन्ता वै वेदा ।' वेदके अनन्त होनेके कारण जिस कल्पमें ब्रह्माकी जितनी क्षमता होती है, उस कल्पमें वेदकी उतनी ही शाखाएँ उनके हृदयसे प्रतिफलित होकर उनके मुखोसे उच्चरित हो पाती हैं। यही कारण है कि वेदोकी शाखाओंकी सख्याम भिन्नता पायी जाती है। मुक्तिकोपनिषद्म ११८०, स्कन्दपुराणमें ११३७ और महाभाष्यमें ११३१ शाखाएँ बतलायी गयी हैं। वेद चार भागामे विभक्त हैं—(१) ऋक् (२) यजु , (३) साम और (४) अथर्व।

—इनमें ऋक्-सहिताकी २१ शाखाएँ होती हैं, जिनमे आज 'बाष्कल' और 'शाकल' दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ होती हैं। इसके दो भेद होते हैं—(१) शुक्लयजुर्वेद और (२) कृष्णयजुर्वेद। इनमें शुक्लयजु सहिताकी १५ सहिताएँ हैं। इनमें दो सहिताएँ प्राप्त हैं—(१) वाजसनेयी और (२) काण्व। कृष्ण-यजुर्वेदकी ८६ सहिताएँ होती हैं। इनमें चार मिलती हैं—(१) तैत्तिरीय-सहिता (२) मैत्रायणी-सहिता (३) काठक-सहिता और (४) कठ-कपिष्ठल-सहिता। सामवेदकी १००० शाखाएँ होती हैं। इनम दो मिलती हैं—(१) कौथुम और (२) जैमिनि शाखा। राणायनीयका भी कुछ भाग मिला है। अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ होती हैं उनमें आज दो ही मिलती हैं—(१) शौनक-शाखा तथा (२) पैप्पलाद-शाखा। वेदके मन्त्र-भागकी जितनी सहिताएँ होती हैं, उतने ही ब्राह्मण-भाग भी होते हैं। आरण्यक और उपनिषदें भी उतनी ही होती हैं। इनमे अधिकाशका लोप हो गया है।

ऋषि लुप्त शाखाओंको प्राप्त कर लेते थे

वेदकी शाखाएँ पहले भी लुप्त कर दा जाती थीं। शिवपुराणसे पता चलता है कि दुर्गमासुरने ब्रह्मासे वरदान पाकर समस्त वेदाको लुप्त कर दिया था। पीछे दुर्गाजीकी कृपासे वे विश्वको प्राप्त हुए। कभी-कभी ऋषि लोग तपस्याद्वारा उन लुप्त वेदोका दर्शन करते थे।

इस तरह शास्त्र-वचनोके श्रवण और उपपत्तियोंके द्वारा मननसे स्पष्ट हो जाता है कि वेद अन्य ग्रन्थोंकी तरह किसी जीवके द्वारा निर्मित नहीं हैं। जैसे ईश्वर सनातन, स्वयम्भू और अपौरुषेय है, वैसे वेद भी हैं। जैसे ईश्वर प्रलयमें भी स्थिर रहते हैं वैसे वेद भी—'नैव वेदा प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि' (मेधातिथि)। इन्हीं वदेकि आधारपर सृष्टिका निर्माण होता है।

वेदोंने मानवोके विकासके लिये जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें भरपूर शिक्षाएँ दी हैं। प्रत्येक शिक्षा सत्य है अत लाभप्रद है क्योंकि वदाका अक्षर-अक्षर सत्य होता है। जब ईश्वर सत्य है तब उसके स्वरूप वेद असत्य कैसे हो सकते हैं? जबतक वेदकी इस सत्यतापर पूरी आस्था न जमेगी तबतक वदाकी शिक्षाका जीवनमे उतार पाना सम्भव नहीं है।

अर्चनासे बढकर भक्ति नहीं

यों तो भक्तिके नौ प्रकार बतलाये गये हैं पर उनमें मुख्य और कल्याणकारी भक्तिकी विधा है अर्चना—भगवान्‌के श्रीविग्रहका पूजन। यही कारण है कि 'अरं दासं०' यह श्रुति भागवती सेवाको सर्वथा अनुपेक्ष्य बताती है—

नवधा भक्तिराख्याता मुख्यां तत्रार्चनां शिवाम्। प्राह भागवतीं सेवामरं दास इति श्रुति ॥

कुछ बन्धुओंकी धारणा है कि भारतीय सस्कृतिके मूल ग्रन्थ वेदामें मूर्तिपूजा अर्चन-भक्ति आदिका कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त होता। अतएव वे न कवल मूर्तिपूजासे दुराव करने लग, वरन् उसके खण्डनमें भी जुट गय पर जब यह प्रत्यक्ष श्रुति हमें अर्चना करनेको कहती है ता फिर इस भ्रमके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। देखिये श्रुति कितना स्पष्ट कहती है—

अरं दासो न मीव्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागा । अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति॥

(ऋक्० ७। ८६। ७)

तात्पर्य यह कि मैं निषिद्धाचरणसे वर्जित भक्त किसी दासकी तरह असीम फलकी प्राप्तिके लिये चतुर्विध-पुरुषार्थदाता परमेश्वरको पुष्पादिस अलंकृत करता हूँ, ताकि व मुझपर प्रसन्न हा। ये दव सर्वस्वामी हाकर अपन संनिधानसे पाषाणको भी पूजनीय बना देत हैं। यही कारण है कि बहुदर्शी पुरुष ऐश्वर्यप्राप्तिके लिये प्राणनादिकर्ता उस परमेश्वरको ही पूजनादिमे प्रसन्न करत हैं क्षुद्रफलप्रद राजा आदिकी परवाह नहीं करत।

वेदवाङ्मय-परिचय एवं अपौरुषेयवाद

(दण्डीस्वामी श्रीमद् दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'सनातनधर्म' एव 'भारतीय सस्कृति' का मूल आधारस्तम्भ विश्वका अति प्राचीन और सर्वप्रथम वाङ्मय 'वेद' माना गया है। मानवजातिके लौकिक (सासारिक) तथा पारमार्थिक अभ्युदय-हेतु प्राकट्य होनेसे वेदको अनादि एव नित्य कहा गया है। अति प्राचीनकालीन महातपा, पुण्यपुञ्ज ऋषियोंके पवित्रतम अन्त करणमे वेदके दर्शन हुए थे, अत उसका 'वेद' नाम प्राप्त हुआ। ब्रह्मका स्वरूप 'सत्-चित्-आनन्द' होनेसे ब्रह्मको वेदका पर्यायवाची शब्द कहा गया है। इसीलिये वेद लौकिक एव अलौकिक ज्ञानका साधन है। 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये०' —तात्पर्य यह कि कल्पके प्रारम्भम आदिकवि ब्रह्माके हृदयमें वेदका प्राकट्य हुआ।

सुप्रसिद्ध वेदभाष्यकार महान् पण्डित सायणाचार्य अपने वेदभाष्यमें लिखते हैं कि 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपाय यो ग्रन्थो वेदयति स वेद '—अर्थात् इष्ट (इच्छित) फलकी प्राप्तिके लिये और अनिष्ट वस्तुके त्यागके लिये अलौकिक उपाय (मानव-बुद्धिको अगम्य उपाय) जो ज्ञानपूर्ण ग्रन्थ सिखलाता है समझाता है, उसको वेद कहते हैं।

निरुक्त कहता है कि विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति०' अर्थात् जिसकी कृपासे अधिकारी मनुष्य (द्विज) सद्विद्या प्राप्त करते हैं जिससे वे विद्वान् हो सकते हैं जिसके कारण वे सद्विद्याके विषयमे विचार करनेके लिये समर्थ हो जाते हैं उसे वेद कहते हैं।

'आर्यविद्या-सुधाकर' नामक ग्रन्थम कहा गया है कि —

वेदो नाम वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मार्थकाममोक्षा अनेनेति व्युत्पत्त्या चतुर्वर्गज्ञानसाधनभूतो ग्रन्थविशेष ॥

अर्थात् पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म अर्थ काम और मोक्ष)-विषयक सम्यक्-ज्ञान होनेके लिये साधनभूत ग्रन्थविशेषको वेद कहते हैं।

'कामन्दकीय नीति' भी कहती है—'आत्मानमन्विच्छ०। 'यस्त वेद स वेदवित्॥' अर्थात् जिस (नरपुङ्गव)-को आत्मसाक्षात्कार किवा आत्मप्रत्यभिज्ञा हो गया उसको ही वेदका वास्तविक ज्ञान होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञानका ही पर्याय वेद है।

श्रुति भगवती बतलाती है कि 'अनन्ता वै वेदा ॥' वेदका अर्थ है ज्ञान। ज्ञान अनन्त है अत वेद भी अनन्त हैं। तथापि मुण्डकोपनिषद्की मान्यता है कि वेद चार हैं—'ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेद ॥' (१) ऋग्वेद (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद और (४) अथर्ववेद। इन वेदाके चार उपवेद इस प्रकार हैं—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रय ।
स्थापत्यवेदमपरमुपवेदश्चतुर्विध ॥

उपवेदोंके कर्ताआम आयुर्वेदक कर्ता धन्वन्तरि, धनुर्वेदके कर्ता विश्वामित्र गान्धर्ववेदके कर्ता नारदमुनि और स्थापत्यवेदके कर्ता विश्वकर्मा हैं।

मनुस्मृति कहती है—'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय ' अर्थात् वेदोको ही श्रुति कहते हैं। 'आदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्त ब्रह्मादिभि सर्वा सत्यविद्या श्रूयन्ते सा श्रुति ॥' अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर आजतक जिसकी सहायतासे बडे-बडे ऋषि-मुनियाको सत्यविद्या ज्ञात हुई, उस 'श्रुति' कहते हैं। 'श्रु' का अर्थ है 'सुनना' अत 'श्रुति' माने हुआ 'सुना हुआ ज्ञान।' वदकालीन महातपा सत्पुरुषोन समाधिमें [illegible] महाज्ञान प्राप्त किया और जिसे जगत्के आध्या[illegible] अभ्युदयके लिये प्रकट भी किया उस महाज्ञानका '[illegible] कहते हैं।

श्रुतिके दो विभाग हैं—(१) वैदिक और (२) [illegible]— 'श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च।' मु[illegible] माने गये हैं—(१) महानिर्वाण-तन्त्र (२) [illegible]-तन्त्र और (३)कुलार्णव-तन्त्र।

वेदके भी दो विभाग हैं—(१) [illegible] (२) ब्राह्मणविभाग—'वदो हि मन्त्र[illegible] द्विविध।' वेदके मन्त्रविभागको सहिता भी [illegible] विवेचनको 'आरण्यक' एव सहित[illegible] कहते हैं। वेदोंकि ब्राह्मणविभागमें [illegible] का भी समावश है। ब्राह्मण[illegible] १३ हैं [illegible] ऋग्वेदके २ यजुर्वेदक २ [illegible] १। मुख्य ब्राह्मणग्रन्थ पाँच हैं—(१) [illegible]

(२) तैत्तिरीय ब्राह्मण (३) तलवकार ब्राह्मण, (४) शतपथब्राह्मण और (५) ताण्ड्य ब्राह्मण।

उपनिषदाकी सख्या वैसे तो १०८ है परतु मुख्य १२ माने गये हैं, जैसे—(१) ईश (२) केन (३) कठ, (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय, (८) ऐतरेय, (९) छान्दोग्य, (१०) बृहदारण्यक, (११) कौषीतकि और (१२) श्वेताश्वतर।

वेद पौरुषेय (मानवनिर्मित) है या अपौरुषेय (ईश्वरप्रणीत) ? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नका स्पष्ट उत्तर ऋग्वेद (१। १६४। ४५)-में इस प्रकार है—'वेद' परमेश्वरके मुखसे निकला हुआ 'परावाक्' है वह 'अनादि' एव 'नित्य' कहा गया है। वह अपौरुषेय ही है।

इस विषयमें मनुस्मृति कहती है कि अति प्राचीन कालके ऋषियोंने उत्कट तपस्याद्वारा अपने तप पूत हृदयम 'परावाक्' वेदवाङ्मयका साक्षात्कार किया था, अत वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहलाये—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार ।'

बृहदारण्यकोपनिषद् (२। ४। १०)-में उल्लेख है—'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस ।' अर्थात् उन महान् परमेश्वरके द्वारा (सृष्टि-प्राकट्य होनेके साथ ही) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नि श्वासकी तरह सहज ही बाहर प्रकट हुए। तात्पर्य यह है कि परमात्माका नि श्वास ही वेद है। इसके विषयमे वेदके महापण्डित सायणाचार्य अपने वदभाष्यमे लिखते हैं—

यस्य नि श्वसित वदा यो वेदेभ्योऽखिल जगत्।
निर्ममे तमहं वन्द विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥

सारांश यह कि वेद परमेश्वरका नि श्वास है अत परमेश्वरद्वारा ही निर्मित है। वदमे ही समस्त जगत्का निर्माण हुआ है। इसीलिये वेदका अपौरुषेय कहा गया है।

सायणाचार्यके इन विचाराका समर्थन पाश्चात्य वदविद्वान् प्रो० विल्सन प्रो० मैक्समूलर आदिने अपने पुस्तकोंम किया है। प्रो० विल्सनसाहब लिखते हैं कि 'सायणाचार्यका वेदविषयक ज्ञान अति विशाल और अति गहन है जिसकी समकक्षताका दावा कोई भी यूरोपीय विद्वान् नहीं कर सकता।' प्रो० मैक्समूलरसाहब लिखत हैं कि यदि मुझ सायणाचार्यरचित बृहद् वदभाष्य पढनका नहीं मिलता तो मैं वेदार्थोंके दुर्भेद्य किलाम प्रवेश ही नहीं पा सका होता।' इसी प्रकार पाश्चात्य वेदविद्वान् वेबर, बेनफी, राथ ग्रास्मन लुडविग, ग्रिफिथ, कीथ तथा विंटरनित्ज आदिने सायणाचार्यके वदविचारोंका ही प्रतिपादन किया है।

निरुक्तकार 'यास्काचार्य' भाषाशास्त्रके आद्यपण्डित माने गये हैं। उन्होंने अपने महाग्रन्थ वेदभाष्यम स्पष्ट लिखा है कि 'वेद अनादि नित्य एव अपौरुषेय (ईश्वरप्रणीत) ही है।' उनका कहना है कि 'वेदका अर्थ समझे बिना केवल वेदपाठ करना पशुकी तरह पीठपर बोझा ढोना ही है, क्योंकि अर्थज्ञानरहित शब्द (मन्त्र) प्रकाश (ज्ञान) नहीं दे सकता। जिसे वेद-मन्त्राका अर्थ-ज्ञान हुआ है, उसीका लौकिक एव पारलौकिक कल्याण होता है।' ऐसे वेदार्थज्ञानका मार्गदर्शक निरुक्त है।

जर्मनीके वेदविद्वान् प्रो० मैक्समूलरसाहब कहते हैं कि 'विश्वका प्राचीनतम वाङ्मय वेद ही है जो दैविक एव आध्यात्मिक विचारोंको काव्यमय भाषामे अद्भुत रीतिसे प्रकट करनेवाला कल्याणप्रदायक है। वेद परावाक् है।'

नि सदह परमेश्वरने ही परावाक् (वेदवाणी)-का निर्माण किया है—ऐसा महाभारत शान्तिपर्व (२३२। २४)-में स्पष्ट कहा गया है—

अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा॥

अर्थात् जिसमस सर्वजगत् उत्पन्न हुआ ऐसी अनादि वेद-विद्यारूप दिव्य वाणीका निर्माण जगन्निर्माताने सर्वप्रथम किया।

ऋषि वदमन्त्रोंके कर्ता नहीं अपितु द्रष्टा हा थे—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार ।' निरुक्तकारने भी कहा है—वदमन्त्रोंके साक्षात्कार होनेपर साक्षात्कारीको ऋषि कहा जाता है— ऋषिर्दर्शनात्। इससे स्पष्ट होता है कि वेदका कर्तृत्व अन्य किसीके पास नहीं होनेसे वेद ईश्वरप्रणीत ही है अपौरुषेय ही है।

भारतीय दर्शनशास्त्रक मतानुसार शब्दको नित्य कहा गया है। वदन शब्दका नित्य माना है अत वेद अपौरुषेय है यह निश्चित होता है। निरुक्तकार कहते हैं कि नियतानुपूर्व्या नियतवाचो युक्तय । अर्थात् शब्द नित्य है उसका अनुक्रम नित्य है और उसकी उच्चारण-पद्धति भी नित्य है इसीलिये वदक अर्थ नित्य हैं। ऐसी वेदवाणीका निर्माण स्वयं

परमेश्वरने ही किया है।

शब्दकी चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं—(१) परा (२) पश्यन्ती, (३) मध्यमा और (४) वैखरी। ऋग्वेद (१। १६४। ४५)-में इनके विषयमें इस प्रकार कहा गया है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति॥

अर्थात् वाणीके चार रूप होनेसे उन्हे ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं। वाणीके तीन रूप गुप्त हैं चौथा रूप शब्दमय वेदके रूपम लोगोमे प्रचारित होता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म-ज्ञानको परावाक् कहते हैं। उसे ही वद कहा गया है। इस वेदवाणीका साक्षात्कार महातपस्वी ऋषियोको होनेसे इसे 'पश्यन्तीवाक्' कहते हैं। ज्ञानस्वरूप वेदका आविष्कार शब्दमय है। इस वाणीका स्थूल स्वरूप ही 'मध्यमावाक्' है। वेदवाणीके य तीनो स्वरूप अत्यन्त रहस्यमय हैं। चौथी 'वैखरीवाक्' ही सामान्य लोगोंकी बोलचालकी है। शतपथब्राह्मण तथा माण्डूक्योपनिषद्मे कहा गया है कि वेदमन्त्रक प्रत्येक पदमे शब्दके प्रत्येक अक्षरमे एक प्रकारका अद्भुत सामर्थ्य भरा हुआ है। इस प्रकारकी वेदवाणी स्वय परमेश्वरद्वारा ही निर्मित है यह नि शक है।

शिवपुराणमें आया है कि ॐके अ' कार, 'उ' कार 'म' कार और सूक्ष्मनाद इनमेसे (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद (३) सामवेद तथा (४) अथर्ववेद नि सृत हुए। समस्त वाङ्मय ओंकार (ॐ)-से ही निर्मित हुआ। 'आकार बिदुसयुक्तम्' तो ईश्वररूप ही हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (७। ७)-में भी ऐसा ही उल्लेख है—

मयि सर्वमिद प्रोत सूत्रे मणिगणा इव॥

श्रीमद्भागवत (६। १। ४०)-म तो स्पष्ट कहा गया है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय ।
वदो नारायण साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥

अर्थात् वेदभगवान्ने जिन कार्योको करनेकी आज्ञा दी है वह धर्म है और उससे विपरीत करना अधर्म है। वेद नारायणरूपमे स्वय प्रकट हुआ है ऐसा श्रुतिमे कहा गया है।

श्रीमद्भागवत (१०। ४। ४१)-म ऐसा भी वर्णित है—

विप्रा गावश्च वेदाश्च तप सत्य दम शम ।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनू ॥

अर्थात् वेदज्ञ (सदाचारी भी) ब्राह्मण, दुधारू गाय वेद, तप सत्य दम, शम श्रद्धा, दया सहनशीलता और यज्ञ—ये श्रीहरि (परमेश्वर)-के स्वरूप हैं।

मनुस्मृति (२। ६) वेदको धर्मका मूल बताते हुए कहती है—

वेदोऽखिलो धर्ममूल स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

अर्थात् समग्र वेद एव वेदज्ञ (मनु, पराशर, याज्ञवल्क्यादि)-की स्मृति शील आचार साधु (धार्मिक)-के आत्माका सतोष—ये सभी धर्मोके मूल हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति (१। ७)-मे भी कहा गया है—

श्रुति स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन ।
सम्यक्सकल्पज कामो धर्ममूलमिद स्मृतम्॥

अर्थात् श्रुति, स्मृति सत्पुरुषोका आचार, अपन आत्माकी प्रीति और उत्तम सकल्पसे हुआ (धर्माविरुद्ध) काम—ये पाँच धर्मके मूल हैं। इसीलिये भारतीय सस्कृतिम वेद सर्वश्रष्ठ स्थानपर हैं। वदका प्रामाण्य त्रिकालाबाधित है।

भारतीय आस्तिक दर्शनशास्त्रके मतम शब्दके नित्य होनेसे उसका अर्थके साथ स्वयम्भू-जैसा सम्बन्ध होता है। वेदमें शब्दको नित्य समझनेपर वेदको अपौरुपय (ईश्वरप्रणीत) माना गया है। निरुक्तकार भी इसका प्रतिपादन करत हैं। आस्तिक दशनन शब्दका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मान्य किया है।

इस विषयमें मामासा-दर्शन तथा न्याय-दर्शनक मत भिन्न-भिन्न हैं। जैमिनीय मामासक कुमारिल आदि मीमासक आधुनिक मीमासक तथा साख्यवादियोंके मतम वेद अपौरुपय नित्य एव स्वत प्रमाण हैं। मीमासक वदका स्वयम्भू मानते हैं। उनका कहना है कि वदका निर्मितिका प्रयत्न किसी व्यक्ति-विशेषका अथवा ईश्वरका नहीं है। नैयायिक एसा समझते हैं कि वेद तो ईश्वरप्रोक्त है। मीमासक कहत हैं कि भ्रम प्रमाद दुराग्रह इत्यादि दापयुक्त हानक कारण मनुष्यके

द्वारा वेद-जैसे निर्दोष महान् ग्रन्थरत्नकी रचना शक्य ही नहीं है। अत वेद अपौरुषेय ही है। इससे आगे जाकर नैयायिक ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वरने जैसे सृष्टि की, वैसे ही वेदका निर्माण किया ऐसा मानना उचित ही है।

श्रुतिके मतानुसार वेद तो महाभूतोंका नि श्वास (यस्य नि श्वसितं वेदा") है। श्वास-प्रश्वास स्वत आविर्भूत होते हैं अत उनके लिय मनुष्यके प्रयत्नकी अथवा बुद्धिकी अपेक्षा नहीं होती। उस महाभूतका नि श्वासरूप वेद तो अदृष्टवशात्, अबुद्धिपूर्वक स्वय आविर्भूत होता है।

वेद नित्य-शब्दकी सहति होनेसे नित्य है और किसी भी प्रकारसे उत्पाद्य नहीं है, अत स्वत आविर्भूत वेद किसी भी पुरुषसे रचा हुआ न होनेके कारण अपौरुषेय (ईश्वरप्रणीत) सिद्ध होता है। इन सभी विचारोंको दर्शनशास्त्रमें अपौरुषेयवाद कहा गया है।

अवैदिक दर्शनको नास्तिक दर्शन भी कहते हैं क्योंकि वह वेदको प्रमाण नहीं मानता अपौरुषय स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि इहलोक (जगत्) ही आत्माका क्रीडास्थल है परलोक (स्वर्ग) नामकी कोई वस्तु नहीं है 'काम एवैक पुरुषार्थ —काम ही मानव-जीवनका एकमात्र पुरुषार्थ होता है 'मरणमेवापवर्ग —मरण (मृत्यु) माने ही मोक्ष (मुक्ति) है 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्'—जो प्रत्यक्ष है वही प्रमाण है (अनुमान प्रमाण नहीं है)। धर्म ही नहीं है अत अधर्म नहीं है स्वर्ग-नरक नहीं हैं। 'न परमेश्वरोऽपि कश्चित्'—परमेश्वर-जैसा भी कोई नहीं है न धर्म न मोक्ष —न तो धर्म है न मोक्ष है। अत जबतक शरीरम प्राण है तबतक सुख प्राप्त करते हैं—इस विषयमें नास्तिक चार्वाक-दर्शन स्पष्ट कहता है—

यावज्जीवं सुखं जीवेदृण कृत्वा घृतं पिबत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत ॥

अर्थात् जबतक देहमें जीव है तबतक सुखपूर्वक जाय किसीस ऋण ले करके भी घी पीयें क्योंकि एक बार देह (शरीर) मृत्युके बाद जब भस्मीभूत हुआ तब फिर उसका पुनरागमन कहाँ? अत 'खाओ पीओ और मौज करो'—यही है 'नास्तिक-दर्शन' या 'अवैदिक-दर्शन' का संदेश। इसको लोकायत-दर्शन, बार्हस्पत्य-दर्शन तथा चार्वाक-दर्शन भी कहते हैं।

चार्वाक-दर्शन शब्दमें 'चर्व' का अर्थ है—खाना। इस 'चर्व' पदसे ही 'खाने-पीने और मौज' करनका संदेश देनेवाले इस दर्शनका नाम 'चार्वाक-दर्शन' पडा है। 'गुणरत्न' ने इसकी व्याख्या इस प्रकारसे की है—परमेश्वर, वेद, पुण्य-पाप स्वर्ग-नरक आत्मा मुक्ति इत्यादिका जिसने 'चर्वण' (नामशेष) कर दिया है, वह 'चार्वाक-दर्शन' है। इस मतके लोगोका लक्ष्य स्वमतस्थापनकी अपेक्षा परमतखण्डनके प्रति अधिक रहनेसे उनको 'वैतण्डिक' कहा गया है। वे लोग वेदप्रामाण्य मानते ही नहीं।

(१) जगत्, (२) जीव (३) ईश्वर और (४) मोक्ष—य ही चार प्रमुख प्रतिपाद्य विषय सभी दर्शनोके होते हैं। आचार्य श्रीहरिभद्रने 'षड्दर्शन-समुच्चय' नामका अपने ग्रन्थमें (१) न्याय (२) वैशेषिक (३) साख्य (४) योग, (५) मीमासा और (६) वेदान्त—इन छ को वैदिक दर्शन (आस्तिक-दर्शन) तथा (१) चार्वाक (२) बौद्ध और (३) जैन—इन तीनको 'अवैदिक दर्शन' (नास्तिक-दर्शन) कहा है और उन सबपर विस्तृत विचार प्रस्तुत किया है।

वेदका प्रमाण माननेवाले आस्तिक और न माननेवाले नास्तिक हैं इस दृष्टिस उपर्युक्त न्याय-वैशेषिकादि षड्दर्शनको आस्तिक और चार्वाकादि दर्शनको नास्तिक कहा गया है।

दर्शनशास्त्रका मूल मन्त्र है— आत्मानं विद्धि। अर्थात् आत्माको जानो। पिण्ड-ब्रह्माण्डमें ओतप्रोत हुआ एकमेव आत्म-तत्त्वका दर्शन (साक्षात्कार) कर लेना ही मानव-जीवनका अन्तिम साध्य है एसा वेद कहता है। इसके लिये तीन उपाय हैं—वेदमन्त्रोंका श्रवण मनन और निदिध्यासन—

श्रोतव्य श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभि ।
मत्वा तु सततं ध्येय एते दर्शनहेतवे॥

इसीलिये तो मनीषी लाग कहते हैं— यस्तं वेद स वेदवित्। अर्थात् एस आत्मतत्त्वको जो सम्यक् व्यक्ति जानता है वह वेदन (वेदको जाननेवाला) है।

वेदस्वरूप

(डॉ० श्रीयुगलकिशोरजी मिश्र)

भारतीय मान्यताके अनुसार वेद सृष्टिक्रमकी प्रथम वाणी है।[1] फलत भारतीय सस्कृतिका मूल ग्रन्थ वेद सिद्ध होता है। पाश्चात्य विचारकोने ऐतिहासिक दृष्टि अपनाते हुए वेदको विश्वका आदि ग्रन्थ सिद्ध किया। अत यदि विश्व-सस्कृतिका उद्गम स्रोत वेदको माना जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

वेद शब्द और उसका लक्षणात्मक स्वरूप—शाब्दिक विधासे विश्लेषण करनेपर वेद शब्दकी निष्पत्ति 'विद-ज्ञाने' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय करनेपर होती है। अतएव विचारकोंने कहा है कि—जिसके द्वारा धर्मादि पुरुषार्थ-चतुष्टय-सिद्धिके उपाय बतलाये जायँ वह वेद है।[2] आचार्य सायणने वेदके ज्ञानात्मक ऐश्वर्यको ध्यानमे रखकर लक्षित किया कि—अभिलषित पदार्थकी प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारके अलौकिक उपायको जो ग्रन्थ बोधित करता है वह वेद है।[3] यहाँ यह ध्यातव्य है कि आचार्य सायणने वेदके लक्षणमे 'अलौकिकमुपायम्' यह विशेषण देकर वेदाकी यज्ञमूलकता प्रकाशित की है। आचार्य लौगाक्षि भास्करने दार्शनिक दृष्टि रखते हुए—अपौरुषेय वाक्यको वेद कहा है।[4] इसी तरह आचार्य उदयनने भी कहा है कि—जिसका दूसरा मूल कहीं उपलब्ध नहीं है और महाजनों अर्थात् आस्तिक लोगोने वेदके रूपमे मान्यता दी हो उन आनुपूर्वी विशिष्ट वाक्याको वेद कहते हैं।[5] आपस्तम्बादि सूत्रकारोंने वेदका स्वरूपावबोधक लक्षण करते हुए कहा है कि—वेद मन्त्र और ब्राह्मणात्मक हैं।[6] आचार्यचरण स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने दार्शनिक एव याज्ञिक दोनों दृष्टियोंका समन्वय करते हुए वेदका अद्भुत लक्षण इस प्रकार उपस्थापित किया है—'शब्दातिरिक्तं शब्दोपजीविप्रमाणातिरिक्त च यत्प्रमाणं तज्जन्यप्रमिति-विषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति आमुष्मिक-सुखजनकोच्चारणकत्वे सति जन्यज्ञानाजन्यो यो प्रमाणशब्दस्तत्त्व वेदत्वम्।'[7]

उपर्युक्त लक्षणोकी विवेचना करनेपर यह तथ्य सामने आता है कि—ऐहिकामुष्मिक फलप्राप्तिके अलौकिक उपायका निदर्शन करनेवाला अपौरुषेय विशिष्टानुपूर्वीक मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि वेद है।

वेदके दो भाग—मन्त्र और ब्राह्मण—आचार्योंने सामान्यतया मन्त्र और ब्राह्मण-रूपसे वेदोका विभाजन किया है।[8] इसम मन्त्रात्मक वैदिक शब्दराशिका मुख्य सकलन सहिताके नामसे प्राचीन कालसे व्यवहृत होता आया है। सहितात्मक वैदिक शब्दराशिपर ही पदपाठ क्रमपाठ एव अन्य विकृतिपाठ होते हैं। यज्ञोम सहितागत मन्त्रोका ही प्रधान रूपसे प्रयोग होता है।[9]

आचार्य यास्कके अनुसार 'मन्त्र' शब्द मननार्थक 'मन्' धातुसे निष्पन्न है।[10] पाञ्चरात्र-सहिताके अनुसार मनन करनेसे जो त्राण करते हैं, वे मन्त्र हैं।[11] अथवा मत—अभिमत पदार्थके जो दाता हैं वे मन्त्र कहलाते हैं। महर्षि जैमिनिने मन्त्रका लक्षण करते हुए कहा है—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या।' इसीको स्पष्ट करते हुए आचार्य माधवका कथन है कि—याज्ञिक विद्वानोंका 'यह वाक्य मन्त्र है'—ऐसा समाख्यान (—नाम निर्देश) मन्त्रका लक्षण है। तात्पर्य यह है कि याज्ञिक लोग जिसे मन्त्र कहे, वही मन्त्र है। वे याज्ञिक लोग

१-यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणाति तस्मै (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १८)।
२-वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपाया येन स वेद (का०श्रौ०भू० पृ० ४)।
३-इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद (का० भा० भू०)।
४-अपौरुषेयं वाक्यं वेद (अर्थसग्रह पृ० ३६)।
५-अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीतवाक्यत्व वेदत्वम्।
६-मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।
७-वेदार्थपारिजात पृ० २०।
८-आम्नाय पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि (कौ०सू० १। ३)।
९-अपि च यज्ञकर्मणि सहितयैव विनियुज्यन्ते मन्त्रा (नि० १। १७ पर दुर्ग)।
१०-मन्त्रा मननात्।
११-मननान्मुनिशार्दूल त्राणं कुर्वन्ति वै यत । ददते पदमात्मीय तस्मान्मन्त्रा प्रकीर्तिता ॥ (ई० स० ३। ७। ९)।

अनुष्ठानक स्मारक आदि वाक्याके लिये मन्त्र शब्दका प्रयाग करत हैं।[१] आचार्य लौगाक्षि भास्करन, अनुष्ठान (प्रयोग)-से सम्बद्ध (समवेत) द्रव्य-देवतादि (अर्थ)-का जा स्मरण करात हैं, उन्हें मन्त्र कहा है।[२] इस प्रकार तत्तत् वैदिक कर्मोंके अनुष्ठान-कालम अनुष्ठेय क्रिया एव उसके अङ्गभूत द्रव्य-देवतादिका प्रकाशन (स्मरण)ही मन्त्रका प्रयोजन है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि शास्त्रकारोंके अनुसार 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्व' मन्त्राका दृष्ट प्रयोजन है, अत यज्ञकालमें मन्त्राका उच्चारण अदृष्ट प्रयोजक है—यह कल्पना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि दृष्ट फलकी सम्भावनाके विद्यमान रहनेपर अदृष्ट फलकी कल्पना अनुचित होती है।[३] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मन्त्राका जो अर्थ-स्मरण-रूप दृष्ट प्रयोजन बतलाया गया है वह प्रकारान्तरसे अर्थात् ब्राह्मण-वाक्यास भी प्राप्त हो जाता है फिर तो मन्त्रोच्चारण व्यर्थ हुआ? इस आक्षेपका समाधान शास्त्रकारोंने नियम-विधिके आश्रयणसे किया है। उनका पक्ष है कि 'स्मृत्वा कर्माणि कुर्वीत इस विधायक वाक्यसे तत्तत्कर्मोंके अनुष्ठान-कालम विहित स्मरणके लिये उपायान्तरके अवलम्बनस तत्तत्प्रकरणपठित मन्त्राका वैयर्थ्य आपतित होता है अत 'मन्त्रैरेव स्मृत्वा कर्माणि कुर्वीत (मन्त्रोंसे ही स्मरण करके कर्म करना चाहिये)—यह नियम विधिद्वारा स्वीकृत किया जाता है। इसी प्रसगका आचार्य यास्कने अपने निरुक्त ग्रन्थम उठाकर उसके समाधानम एक व्यावहारिक युक्ति प्रस्तुत की है। उनका तर्क है कि मनुष्याकी विद्या (ज्ञान) अनित्य है, अत अविगुण कर्मके द्वारा फलसम्प्राप्ति-हेतु वेदाम मन्त्र-व्यवस्था है।[४] तात्पर्य यह है कि इस सृष्टिम प्रत्येक मनुष्य बुद्धि-ज्ञान शब्दोच्चारण एव स्वभावादिम एक-दूसरेसे नितान्त भिन्न एव न्यूनाधिक है। ऐसी स्थितिमें यह सर्वथा सम्भव है कि सभी मनुष्य विशुद्धतया एक-जैसा कर्मानुष्ठान नहीं कर सकते। यदि कर्मानुष्ठान एक-रूपमें नहीं किया गया तो वह फलदायक नहीं होगा—इस दुरवस्थाको मिटानेके लिये वैदिक मन्त्रोंके द्वारा कर्मानुष्ठानका विधान किया गया। चूँकि वेदाम नियतानुपूर्वी हैं एवं स्वर-वर्णादिकी निश्चित उच्चारण-विधि है, अत बुद्धि, ज्ञान एव स्वभावम भिन्न रहनेपर भी प्रत्येक मनुष्य उसे एकरूपतया गुरमुखोच्चारणानुच्चारण-विधिसे अधिगत कर उसी तरह कर्ममें प्रयोग करेगा जिसके फलस्वरूप सभीको निश्चित फलकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार मन्त्राके द्वारा ही कर्मानुष्ठान किया जाना सर्वथा तर्कसगत एव साम्यवादी व्यवस्था है।

याज्ञिक दृष्टिसे मन्त्र चार प्रकारके होते हैं—

१-करण मन्त्र २-क्रियमाणानुवादि मन्त्र ३-अनुमन्त्रण मन्त्र और ४-जपमन्त्र।

—इनमें जिस मन्त्रके उच्चारणानन्तर ही कर्म किया जाता है वह 'करण मन्त्र है। यथा—याज्या पुरोऽनुवाक् आदि। कर्मानुष्ठानके साथ-साथ जो मन्त्र पढा जाता है वह 'क्रियमाणानुवादि मन्त्र' होता है। यथा—युवा सुवासा० आदि। जब यज्ञमें यूप-संस्कार किया जाता है तभी यह मन्त्र पढा जाता है। कर्मके ठीक बाद जो मन्त्र पढ़ा जाता है, वह 'अनुमन्त्रण मन्त्र' कहलाता है। यथा—एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि० आदि। यह मन्त्र द्रव्यत्याग-रूप याग किये जानेके ठीक बाद यजमानद्वारा पढ़ा जाता है। इनके अतिरिक्त जो मर्यादमिति यजमानो जपति' (का० श्रौ०, ३। ४। १२) इत्यादि वाक्योद्वारा विहित सन्निपत्योपकारक[५] होते हैं, वे जपमन्त्र' हैं। इनमें प्रथम त्रिविध मन्त्रोंका अनुष्ठेयस्मारकत्व-

---

१-याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम्। तेऽनुष्ठानस्मारकाणि मन्त्रत्वं प्रयुज्यते॥ (जै० न्या० मा० २। १। ७)।

२ प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्रा (अ० स० पृ० १५७)।

३-न तु तदुच्चारणमदृष्टार्थत्वम्, सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् (अ० स० मन्त्र विचार-प्रकरण)।

४-पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे (नि० १। २। ७)।

५-मीमांसादर्शनके अनुसार अङ्ग दो प्रकारके होते हैं—१-सिद्धरूप और २ क्रियारूप। इनमें जाति द्रव्य एवं संख्या आदि सिद्धरूप हैं क्योंकि इन सबका प्रयोजन प्रत्यक्ष (दिखायी देनेवाला) है। क्रियारूप अङ्गके दो भाग हैं—(१) गुणकर्म और (२) प्रधान कर्म। इनमें गुणकर्मको 'सन्निपत्योपकारक कहते हैं। 'सन्निपत्य द्रव्यादिषु सम्बध्य उपकुर्वन्ति तानि अर्थात् जो साक्षात् न होकर किसीके माध्यमसे मुख्य भागके उपकारक होते हैं। यथा— ब्रीह्यवघात एवं सम्मार्ग आदि। जो साक्षात् रूपमें प्रधान क्रियाके उपकारक होते हैं उन्हें प्रधानकर्म या 'आरादुपकारक कहते हैं।

रूप दृष्ट प्रयोजन है। जपमन्त्राका अदृष्ट मात्र प्रयोजन है ऐसा याज्ञिको एव मीमासकाका सिद्धान्त है।

मन्त्रोंके लक्षणके सम्बन्धमे वस्तु-स्थितिका विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि कोई भी लक्षण सटीक नहीं है। ऐसा इसलिये है कि वैदिक मन्त्र नानाविध हैं।[१] यही कारण है कि आपस्तम्बादि आचार्योंने ब्राह्मण-भाग एव अर्थवादका लक्षण करनेके अनन्तर कह दिया—'अतोऽन्ये मन्त्रा '[२] अर्थात् इनके अतिरिक्त सभी मन्त्र हैं।

विधिभाग—मन्त्रातिरिक्त वेद-भाग 'ब्राह्मण' पदसे अभिहित किया जाता है। ब्राह्मण शब्द 'ब्रह्मन्' शब्दसे 'अण्' प्रत्यय करनेपर नपुसक लिङ्गमे वेदराशिके अभिधायक अर्थमे सिद्ध होता है। आचार्य जैमिनिने ब्राह्मणका लक्षण करते हुए कहा है कि—मन्त्रसे बचे हुए भागम 'ब्राह्मण' शब्दका व्यवहार जानना चाहिये।[३] आचार्य भट्ट-भास्करके अनुसार कर्म और कर्ममें प्रयुक्त होनेवाले मन्त्राके व्याख्यान-ग्रन्थ ब्राह्मण हैं।[४] म०म० विद्याधर शर्माजीके अनुसार—चारा वेदोंके मन्त्रोंके कर्मोंमे विनियोजक कर्मविधायक नानाविधानादि इतिहास-आख्यानबहुल ज्ञान-विज्ञानपूर्ण वेदभाग ब्राह्मण है।[५]

ब्राह्मणके दो भेद हैं—(१) विधि और (२) अर्थवाद। आचार्य आपस्तम्बने दोनाका भेद प्रदर्शित करते हुए कहा है—कर्मकी ओर प्रेरित करनेवाली विधियाँ ब्राह्मण हैं तथा ब्राह्मणका शेप भाग अर्थवाद है।[६] आचार्य लौगाक्षि भास्करके अनुसार अज्ञात अर्थको अवबोधित करानवाले वेदभागको विधि कहत हैं।[७] यथा—'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम ' अर्थात् स्वर्गरूपी फलकी प्राप्ति करनेके लिये अग्निहोत्र करना चाहिये—यह विधिवाक्य अन्य प्रमाणसे अप्राप्त स्वर्ग-फलयुत होमका विधान करता है अत अज्ञातार्थ-ज्ञापक है। आचार्य सायणने विधिके दो भेद बतलाये हैं—(१) अप्रवृत्तप्रवर्तन-विधि और (२) अज्ञातार्थ-ज्ञापन-विधि। इनम 'आग्नावैष्णव पुरोडाशं निर्वर्णनादीक्षणीयम्' इत्यादि कर्मकाण्डगत विधियाँ अप्रवृत्तकी ओर प्रवृत्त करनेवाली हैं। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादि ब्रह्मकाण्डगत विधियाँ प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोसे अज्ञात विपयका ज्ञान करानेवाली हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि आचार्य लौगाक्षि भास्कर कर्मकाण्ड एव ब्रह्मकाण्डगत सभी विधियोंको अज्ञातार्थ-ज्ञापन मानते हैं, किंतु आचार्य सायणने सूक्ष्म दृष्टि अपनाते हुए कर्मकाण्डगत विधियोंको 'अप्रवृत्तप्रवर्तन-विधि' कहा और ब्रह्मकाण्डगत विधियोंको 'अज्ञातार्थ-ज्ञापन-विधि' माना।[८]

मीमासादर्शनमे याज्ञिक विचारकी दृष्टिसे विधि-भागके चार भेद माने गये हैं—(१) उत्पत्तिविधि (२) गुणविधि या विनियोगविधि, (३) अधिकारविधि और (४) प्रयोगविधि। इनमे जो वाक्य 'यह कर्म इस प्रकार करना चाहिय' एवविध कर्मस्वरूप-मात्रके अवबोधनम प्रवृत्त हैं वे 'उत्पत्तिविधि' कहे जाते हैं यथा—'अग्निहोत्र जुहोति'। जा उत्पत्तिविधिसे विहित कर्मसम्बन्धी द्रव्य और दवताके विधायक हैं वे 'गुणविधि' ('विनियोगविधि') कहे जाते हैं। यथा—'दध्ना जुहोति'। जो उन-उन कर्मोंमे किसका अधिकार है तथा किस फलके उद्देश्यसे कर्म करना चाहिय—यह बतलाते हैं, वे अधिकारविधि' कह जाते हैं। यथा—'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहत् सोऽग्नये क्षमावतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्'। जा कर्मोके अनुष्ठानक्रमादिका बोधन कराते हैं वे 'प्रयोगविधि' हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रयोगविधिक वाक्य साक्षात् उपलब्ध नहीं होते, अपितु प्रधान वाक्य (दर्शपूर्णमासाभ्याम्)-के साथ अङ्ग-वाक्यों (सामधेयजति०)-की एकवाक्यता हाकर कल्पित

१-बृहद्देवता—(१। ३४)।

२-आप० श्रौ० सू० (२४। १। ३४)।

३-'शेषे ब्राह्मणशब्द ' (मी० २। १। ३३)।

४-'ब्राह्मणनाम कर्मणस्तन्मन्त्राणाञ्च व्याख्यानग्रन्थ (तै० सं० १। ५। १ पर भाष्य)।

५- वेदचतुष्टयमन्त्राणां कर्मसु विनियोजक कर्मविधायको नानाविधानादीतिहासाख्यानबहुलो ज्ञानविज्ञानपूर्णो भागो ब्राह्मणभाग । (श०ब्रा०भू० पृ० २)

६-कर्मचोदना ब्राह्मणानि। ब्राह्मणशेषोऽर्थवाद (आप० परि० ३४। ३५) चादनेति क्रियाया प्रवर्तकवचनमाहु (भाष्य)।

७-तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधि (अ० स० पृ० ३६)।

८-ऋ० भा० भू० विधिप्रामाण्य-विचार।

वाक्य (प्रमाणानुयाजादिभिरुपकृतवद्भ्यां दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत) ही प्रयोगविधिका परिचायक होता है।

अर्थवाद—आचार्य आपस्तम्बने ब्राह्मण (कर्मका ओर प्रवृत्त करनेवाली विधियां)-से अतिरिक्तका शेष अवशिष्ट अर्थवाद कहा है।[1] अर्थसंग्रहकारने अर्थवादका लक्षण करते हुए कहा है—प्रशंसा अथवा निन्दापरक वाक्यको अर्थवाद कहते हैं।[2] यथा—वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता। स्तेनं मन अनृतवादिनी वाक् आदि।

अर्थवाद-वाक्योंको लेकर पाश्चात्य वेद-विचारकों एवं कतिपय भारतीय विचारकोंने वेदके प्रामाण्य एवं उसकी महत्तापर तीखे प्रहार किये हैं। इसके मूलमें आलोचकोंका भारतीय चिन्तन-दृष्टिसे असम्पर्कित रहना है। भारतीय चिन्तन-दृष्टि (मीमांसा)-में अर्थवाद विधेय अर्थकी प्रशंसा करता है तथा निषिद्ध अर्थकी निन्दा। किंतु इस कार्य (प्रशंसा और निन्दा)-में अर्थवाद मुख्यार्थद्वारा अपने तात्पर्यार्थकी अभिव्यक्ति नहीं करता, अपितु शब्दकी लक्षणा शक्तिका आश्रय ग्रहण करता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मीमांसक-दृष्टिसे समस्त वेद क्रियापरक हैं[3] तथा यागादि क्रियाद्वारा ही अभीष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्टका परिहार किया जा सकता है। यत 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इस विधानसे वेदके अन्तर्गत ही अर्थवाद भी है अत उनको भी क्रियापरक मानना उचित है। जैसा कि पहले कहा गया है कि अर्थवादका प्रयोजन विधेयकी प्रशंसा एवं निषिद्धकी निन्दामें प्रकट होता है। विधान एवं निषेध क्रियाका ही होता है, अत परम्परया अर्थवाद-वाक्य क्रिया (याग या धर्म)-परक होते हैं, अतएव उनका प्रामाण्य एवं उपादेयता सर्वथा सिद्ध है। इसी बातको आचार्य जैमिनिने इन शब्दोंमें कहा है—विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु।[4] उन्नीसवीं शतीके पूर्वार्धके बादसे पाश्चात्य नव्य वेदार्थ-विचारकों—ब्लूमफील्ड आदिने भारतीय चिन्तनकी इस दृष्टिको समझा तथा उसके आलोकमें नये सिरेसे वेदार्थ-विचारमें दृष्टि डाली।

प्राशस्त्य और निन्दासे सम्बन्धित अर्थवाद-वाक्य क्रमश विधिशेष एवं निषेधशेष-रूपसे अभिहित किये गये हैं।[5] विधि अर्थात् विधायक वाक्य शेष—अर्थवाद-वाक्य दोनों मिलकर एक समग्र वाक्यकी रचना करते हैं, जो कि विशिष्ट प्रभावोत्पादक बनता है। उदाहरणार्थ—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम ' यह विधि-वाक्य है। इसका शेष—अर्थवाद वाक्य है—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'। यहाँ वायुकी प्रशंसा विधिशेषात्मक अर्थवादसे की गयी है। उपर्युक्त दोनों वाक्योंकी एकवाक्यता करके लक्षणाद्वारा यह विदित होता है कि वायुदेवता शीघ्रगामी हैं, अत वे ऐश्वर्य भी शीघ्र प्रदान करते हैं। अब इस विशिष्ट प्रभावोत्पादक अर्थको सुनकर अधिकारी व्यक्तिकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार निषेध-शेषात्मक अर्थवादका भी साफल्य जानना चाहिये।

अर्थवादद्वारा प्रतिपादित विषय-परीक्षणकी दृष्टिसे शास्त्रमें इसके तीन भेद माने गये हैं—(१) गुणवाद, (२) अनुवाद और (३) भूतार्थवाद।

गुणवाद नामक अर्थवादमें प्रतिपाद्य अर्थका प्रमाणान्तरसे विरोध होता है। यथा—'आदित्यो यूप '। यहाँ यूपका आदित्यके साथ अभेद प्रतिपादित है जो कि प्रत्यक्षतया बाधित है। अत अर्थसिद्धिके लिये ऐसे स्थलोंपर लक्षणाका आश्रय लेकर यूपका 'उज्ज्वलत्वादिगुणयोगेनादित्यात्मकत्वम्' अर्थ किया जाता है।

अनुवाद-संज्ञक अर्थवादमें पूर्वपरिज्ञात या पूर्वानुभूत प्रमाणसे अर्थका बोध होता है जबकि प्रतिपाद्य विषयमें केवल उसका 'अनुवाद' मात्र रहता है। उदाहरणार्थ—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इस वाक्यमें प्रत्यक्षतया सिद्ध है कि अग्नि शीतका औषध है। इस पूर्वपरिज्ञात या पूर्वानुभूत विषय (यत्र यत्राग्निस्तत्र तत्र हिमनिरोध)-का प्रकाशन इस दृष्टान्तमें है अत यह अनुवाद है।

---

१ ब्राह्मणशेषोऽर्थवाद ।

२-प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवाद (अ० सं०)।

३-आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्० (जै० सू०)।

४ जै० सू० (१। २। ७)।

५-स द्विविध —विधिशेषो निषेधशेषश्च॥

तृतीय भूतार्थवादमे भूतार्थका अर्थ पूर्वघटित किसी यथार्थ वस्तुके ज्ञापनसे है। यहाँ गुणवाद अर्थवादकी भाँति न तो किसी प्रमाणान्तरसे विरोध होता है और न ही अनुवाद अर्थवादकी भाँति प्रमाणान्तरावधारण होता है। अतएव शास्त्रमे इसका लक्षण किया गया है—'**प्रमाणान्तर-विरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवाद** ।' इसका दृष्टान्त है—'**इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्**।' कहीं भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे इस कथनका विरोध हो, अत प्रमाणान्तर-अविरोध है, साथ ही एसा भी प्रमाण नहीं है जिससे इसका समर्थन हा अत प्रमाणान्तरावधारण भी नहीं है। इस प्रकार उभय पक्षके अभावमें यह वाक्य भूतार्थवादका उदाहरण है।

अर्थवाद-भागको आचार्य पारस्करने 'तर्क' शब्दसे अभिहित किया है।[१] आचार्य कर्कने 'तर्क' पदकी व्याख्या करते हुए कहा कि जिसके द्वारा सदिग्ध अर्थका निश्चय किया जा सके, वह तर्क अर्थात् अर्थवाद है।[२] इसका उदाहरण देते हुए कहा कि—'**अक्ता शर्करा उपदधाति तेजो वै घृतम्**' इस वाक्यमें प्राप्त अञ्जन तैल तथा वसा आदि द्रव्योंसे भी सम्भव है किंतु 'तेजो वै घृतम्' इस घृतसस्तावक अर्थवाद-वाक्यसे सदेह निराकृत होकर घृतसे अञ्जन करना यह स्थिर होता है। इस प्रकार अर्थवाद-भाग महदुपकारक है।

आपस्तम्ब पारस्कर आदि आचार्योने वेदके तीन ही भाग माने हैं—विधि मन्त्र और अर्थवाद। अर्थ-सग्रहकारने वेदके पाँच भाग माने हैं—विधि मन्त्र नामधेय निषेध और अर्थवाद।[३]

नामधेय—जैसा कि सज्ञासे स्पष्ट है नामधेय-प्रकरणम कतिपय नामासे जुडे हुए विशेष भागोंको आलोचना होती है। इनमें '**उद्भिदा यजेत पशुकाम** ', '**चित्रया यजेत पशुकाम** ', '**अग्निहोत्र जुहोति**', '**श्येनेनाभिचरन् यजेत**'—ये चार वाक्य ही प्रमुख हैं। नामधेय विजातीयकी निवृत्तिपूर्वक विधेयार्थका निश्चय कराता है।[४] यथा—'**उद्भिदा यजेत पशुकाम** ' इस वाक्यम पशु-रूप फलके लिये यागका विधान किया गया है। यह याग वाक्यान्तरसे अप्राप्त है और इस वाक्यद्वारा विहित किया जा रहा है। यदि इस वाक्यसे 'उद्भिद्' शब्द हटा दिया जाय तो '**यजेत पशुकाम** ' यह वाक्य होगा, जिसका अर्थ है—'**यागेन पशु भावयत्**', किंतु इससे याग-सामान्यका विधान होगा जो कि अविधेय है, क्योंकि याग-विशेषका नाम अभिहित किये बिना अनुष्ठान सम्भव नहीं है। 'उद्भिदा' पदद्वारा इस प्रयोजनकी पूर्ति हाती है, अत 'उद्भिद्' यागका नाम हुआ तथा याग-विशेषका निर्देशक हानेसे विधेयार्थ-परिच्छेद भी हुआ। नामधेयत्व चार कारणासे होता है—(१) मत्वर्थ-लक्षणाके भयसे (२) वाक्य-भेदके भयसे, (३) तत्प्रख्यशास्त्रसे और (४) तद्व्यपदेशसे।

निषेध—जो वाक्य पुरुषका किसी क्रियाको करनेसे निवृत्त कराता है उसे 'निषेध' कहते हैं।[५] शास्त्राने नरकादिको अनर्थ माना है। इस नरक-प्राप्तिका हेतु कलञ्जभक्षणादि है, अत पुरुषको ऐसे कार्योंसे 'निषेध-वाक्य' निवर्तित करते हैं। इस प्रकार अनर्थ उत्पन्न करनेवाली क्रियाओसे पुरुषका निवर्तन कराना ही निषेध-वाक्योंका प्रयोजन है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक (विधिमन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवाद-रूप) वेदमें कतिपय विचारकोंने ब्राह्मण-भागको वेद नहीं माना है। उनके प्रधान तर्क ये हैं—

(१) ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद नहीं हो सकत क्योंकि उन्हींका नाम इतिहास पुराण कल्प गाथा और नाराशसी भी है।

(२) एक कात्यायनका छोडकर किसी अन्य ऋषिने उनके वद होनेम साक्षी नहीं दी है।

(३) ब्राह्मण-भागको भी यदि वेद माना जाय ता 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि[६] इत्यादि पाणिनि-सूत्रमें

१-विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेद (पा० गृ० सू० २। ६। ६)।

२-तर्कशब्देनार्थवादोऽभिधीयत। तर्क्यते ह्यनेन संदिग्धोऽर्थ (पा० गृ० सू० २। ६। ५ पर कर्क)।

३-स च विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविध ।

४-नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम् (अ० स०)।

५-पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेध (अ० स०)।

६-पा० सू० (४। २। ६६)।

'छन्द ' शब्दके ग्रहणसे ही ब्राह्मणोका भी ग्रहण हो जानेसे अलगसे 'ब्राह्मण' शब्दका उल्लेख करना व्यर्थ होगा।

(४) ब्राह्मण-ग्रन्थ चूँकि मन्त्रोके व्याख्यान हैं, अत ईश्वरोक्त नहीं हैं, अपितु महर्षि लोगोद्वारा प्रोक्त हैं।

इसके समाधानमें यह कहना अत्यन्त सगत है कि ऐतरेय शतपथ आदि ब्राह्मणोंको पुराण अथवा इतिहास नहीं कहा जाता, रामायण महाभारत विष्णुपुराण आदिका ही इतिहास, पुराण कहा जाता है। यदि पुरातन अर्थके प्रतिपादक होनेसे तथा ऐतिहासिक अर्थके प्रतिपादक होनेसे इनको पुराण-इतिहास कहा जायगा तो इस तरहकी सज्ञासे 'वेद' सज्ञाका कोई विरोध नहीं है, 'वेद' सज्ञाके रहते हुए भी ब्राह्मण-भागकी पुराण-इतिहास सज्ञा भी हो सकती है। भारतीय दृष्टिसे—भूत भविष्य और वर्तमान सब कुछ वेदसे ज्ञात होता है।[1] अत जिस प्रकार कम्बु-ग्रीवादिसे युक्त एक ही पदार्थके घट, कलश आदि अनेक नामधेय होनेसे कोई विरोध उपस्थित नहीं होता उसी तरह एक ही ब्राह्मण-ग्रन्थके वेद होनेमें और पुराण-इतिहास होनेमें कोई विरोध नहीं है।[2]

कात्यायनको छोडकर किसी अन्य ऋषिने ब्राह्मण-भागके वेद होनेमे प्रमाण नहीं दिया है—यह कथन भी आधाररहित है क्योंकि भारतीय दृष्टिसे किसी भी आप्त ऋषिका प्रामाण्य अव्याहत है। फिर ऐसी बात भी नहीं है कि अन्य ऋषियोंने ब्राह्मण-भागके वेदत्वको नहीं स्वीकारा है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, सत्याषाढ श्रौतसूत्र बौधायन गृह्यसूत्र आदि ग्रन्थोंमें तत्तत् आचार्योंने मन्त्र और ब्राह्मण दोनोको वेद माना है। अत यह शका निर्मूल सिद्ध होती है।

पाणिनिके 'छन्दोब्राह्मणानि॰ इत्यादि सूत्रमें 'छन्द शब्दसे ही ब्राह्मणका ग्रहण माननेपर ब्राह्मणानि यह पद व्यर्थ होगा अत यह कथन भी तर्क-सगत नहीं है। आचार्य पाणिनिने 'छन्दस् पदसे मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंका ग्रहण किया है, क्योंकि छन्दस्' इस अधिकारमें जो जो आदेश प्रत्यय स्वर आदिका विधान किया गया है वे दोनोंमें पाये जाते हैं। जो कार्य केवल मन्त्र भागमें इष्ट था उनके लिये सूत्रोंमें मन्त्रे पद तथा जो ब्राह्मणमें इष्ट था उनके लिये 'ब्राह्मण' पद दिया है। यह भी ध्यातव्य है कि 'छन्द ' पद यद्यपि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदका बोधक है, किंतु कभी-कभी वे इनमेंसे किसी एक अवयवके भी बोधक होते हैं। महाभाष्य पस्पशाह्निक एव ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्यमें यह स्पष्ट किया गया है कि समुदायार्थक शब्दोकी कभी-कभी उनके अवयवोके लिये भी प्रवृत्ति देखी जाती है। यथा—'पूर्वपाञ्चाल उत्तरपाञ्चाल आदिका प्रयोग।' अत शास्त्रमे छन्द अथवा वेद शब्द केवल मन्त्रभाग केवल ब्राह्मण-भाग अथवा दोनो भागोंके लिये प्रसगानुसार प्रयुक्त होते हैं।

ब्राह्मण-भाग मन्त्रोके व्याख्यान हैं, अत ये वेदान्तर्गत नहीं हो सकते—यह कथन भी सर्वथा असंगत है। मीमासा एव न्यायशास्त्रमें वेदके जो विषय-विभाग किये गये हैं—विधि अर्थवाद नामधेय और निषेध ये सभी मुख्यतया ब्राह्मणमे ही घटित होते हैं। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय-सहिता आदिमें तो मन्त्र और ब्राह्मण सम्मिलित-रूपमे ही हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि महाभाष्यकार पतञ्जलिने यह विचार उठाया है कि व्याकरण केवल सूत्रोको कहना चाहिये या व्याख्यासहित सूत्रोंको? इसका सिद्धान्त यही दिया गया है कि व्याख्यासहित सूत्र ही व्याकरण है। इसी प्रकार व्याख्या (ब्राह्मण)-सहित मन्त्र वेद है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण-भाग मात्र मन्त्रोंका व्याख्यान नहीं करता अपितु यज्ञादि कर्मोंकी विधि इतिकर्तव्यता स्तुति तथा ब्रह्मविद्या आदिका स्वतन्त्रतया विधान करता है। अत ब्राह्मण-भागका वेदत्व सर्वथा अव्याहत है।

मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदके विषय-सम्बन्धी तीन भेद परम्परासे चले आ रहे हैं। इनमें कर्मकाण्डके प्रतिपादक भागका नाम 'ब्राह्मण' उपासनाकाण्डके प्रतिपादक भागका नाम 'आरण्यक' तथा ज्ञानकाण्डके प्रतिपादक भागका नाम उपनिषद् है।

वेदका विभाजन—भारतीय वाड्मयमें बतलाया गया है कि सृष्टिके प्रारम्भमें ऋग्यजु साम-अथर्वात्मक वेद एकत्र सकलित था। सत्ययुग त्रेतायुग तथा द्वापरयुगकी समाप्तितक एकरूप वेदका ही अध्ययन-अध्यापन यथाक्रम

१-भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥ (मनु० १२।९७)।

२-[illegible]।

चलता रहा। द्वापरयुगकी समाप्तिके कुछ वर्षों-पूर्व महर्षि व्यासने भावी कलियुगके व्यक्तियोकी बुद्धि, शक्ति और आयुष्यके ह्रासकी स्थितिको दिव्य-दृष्टिसे जानकर ब्रह्मपरम्परासे प्राप्त एकात्मक वेदका यज्ञ-क्रियानुरूप चार विभाजन किया। इन चार विभाजनोमे उन्होने होत्रकर्मके उपयोगी मन्त्र एव क्रियाओका सकलन ऋग्वेदके नामसे, यज्ञके आध्वर्यव कर्म (आन्तरिक मूलस्वरूप-निर्माण)-के उपयोगी मन्त्र एव क्रियाओका सकलन यजुर्वेदके नामसे औद्गात्र कर्मके उपयोगी मन्त्र एव क्रियाओका सकलन सामवेदके नामसे और शान्तिक-पौष्टिक अभिलाषाओं (जातविद्या)-के उपयोगी मन्त्र एव क्रियाओंका सकलन अथर्ववेदके नामसे किया। इस विभाजनमें भगवती श्रुतिके वचनको ही आधार रखा गया। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सम्प्रति प्रवर्तमान वेद-शब्दराशिका वैवस्वत मन्वन्तरमें कृष्णद्वैपायन महर्षि व्यासद्वारा यह २८वाँ विभाजन है। अर्थात् पौराणिक मान्यताके अनुसार इकहत्तर चतुर्युगीका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक चतुर्युगीके अन्तर्गत द्वापरयुगकी समाप्तिमे विशिष्ट तप सम्पन्न महर्षिके द्वारा एकात्मक वेदका चार विभाजन अनवरत होता रहता है। यह विभाजन कलियुगके लिये होता है और कलियुगके अन्ततक ही रहता है। सम्प्रति मन्वन्तरोमें सप्तम वैवस्वत नामक मन्वन्तरका यह २८ वाँ कलियुग है। इसके पूर्व २७ कलियुग एव २७ ही वेदविभागकर्ता वेदव्यास (विभिन्न नामोंके) हो चुके हैं। वेदोंका यह २८वाँ उपलब्ध विभाजन महर्षि पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायनके द्वारा किया गया है। वेदोंका विभाजन करनेके कारण ही उन महर्षिको 'वेदव्यास' शब्दसे जाना जाता है।

चार वेद और उनकी यज्ञपरकता—जैसा कि ऊपर कहा गया है वेदविभागकर्ता व्यासोपाधि-विभूषित महर्षि कृष्णद्वैपायनने यज्ञ-प्रयोजनकी दृष्टिमे वेदका ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद—यह विभाजन प्रसारित किया क्योंकि भारतीय चिन्तनम वेदोका अभिप्रवर्तन ही यज्ञ एव उसके माध्यमसे समस्त ऐहिकामुष्मिक फलसिद्धिके लिये हुआ है। वैदिक यज्ञोंका रहस्यात्मक स्वरूप क्या है एव साक्षात्कृतधर्मा ऋषियोने किन बीजोंद्वारा प्रकृतिसे अभिलषित पदार्थोंका दोहन इस भौतिक यज्ञके माध्यमसे आविष्कृत किया, यह पृथक् विवेचनीय विषय है। यहाँ स्थूलदृष्ट्या यह जानना है कि प्रत्येक छोटे (इष्टि) और बडे (सोम अग्निचयन) यज्ञामे मुख्य चार ऋत्विक्—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा होते हैं। बडे यज्ञामें एक-एकके तीन सहायक और होकर सोलह ऋत्विक् हो जाते हैं, किंतु वे तीन सहायक उसी मुख्यके अन्तर्गत मान लिये जाते हैं। इनमे 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् द्रव्य-देवतात्यागात्मक यज्ञस्वरूपका निर्माण यजुर्वेदसे करता है। 'होता' नामक ऋत्विक् यज्ञके अपेक्षित शस्त्र (अप्रगीत मन्त्रसाध्य स्तुति) एव अन्य अङ्गकलापोका अनुष्ठान ऋग्वेदद्वारा तथा 'उद्गाता' नामक ऋत्विक् स्तोत्र (गेय मन्त्रसाध्य स्तुति) और उसके अङ्गकलापोंका अनुष्ठान सामवेदद्वारा करता है। 'ब्रह्मा' नामक चतुर्थ ऋत्विक् यज्ञिय कर्मोंके न्यूनादि दोषोका परिहार एव शान्तिक-पौष्टिक-आभिचारिकादि सर्वविध अभिलाष-सम्पूरक कर्म अथर्ववेदद्वारा सम्पादित करता है।

वेद-त्रयी—कतिपय अर्वाचीन वेदार्थ-विचारक 'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' (श० ब्रा० १०। ३। ६। २), 'त्रयी वै विद्या' (श० ब्रा० ४। ६। ७। १), 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी' इत्यादि वचनोके द्वारा वेद वस्तुत तीन हैं तथा कालान्तरमे अथर्ववेदको चतुर्थ वेदके रूपमं मान्यता दी गयी—ऐसी कल्पना करते हैं, किंतु यह कल्पना भारतीय परम्परासे सर्वथा विपरीत है। भारतीय आचार्योंने रचना-भेदकी दृष्टिसे वेदचतुष्टयीका त्रित्वमे अन्तर्भाव कर उसे लक्षित किया है। रचना-शैली तीन ही प्रकारकी होती है—(१) गद्य (२) पद्य और (३) गान। इस दृष्टिसे—छन्दमे आबद्ध पादव्यवस्थासे युक्त मन्त्र 'ऋक्' कहलाते हैं वे ही गीति-रूप होकर 'साम' कहलाते हैं तथा वृत्त एव गीतिसे रहित प्रश्लिष्टपठित (-गद्यात्मक) मन्त्र 'यजुष्' कहलाते हैं।[१] यहाँ यह ध्यातव्य है कि छन्दोबद्ध ऋग्विशेष मन्त्र ही अथर्वाङ्गिरस हैं अत उनका ऋग्रूपा (पद्यात्मिका) रचना-शैलीमें ही अन्तर्भाव हो जाता है और इस प्रकार वेदत्रयीकी अन्वर्थता होती है।

१-पादेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋच । गीतिरूपा मन्त्रा सामानि। वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठि

वैदिक वाड्मयका शास्त्रीय स्वरूप

(डॉ० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र)

सस्कृत साहित्यकी शब्द-रचनाकी दृष्टिसे 'वेद' शब्दका अर्थ ज्ञान होता है, परतु इसका प्रयोग साधारणतया ज्ञानके अर्थमें नहीं किया जाता। हमारे महर्षियोंने अपनी तपस्याके द्वारा जिस 'शाश्वत ज्योति' का परम्परागत शब्द-रूपसे साक्षात्कार किया वही शब्द-राशि 'वेद' है। वेद अनादि हैं और परमात्माके स्वरूप हैं। महर्षियाद्वारा प्रत्यक्ष दृष्ट होनेके कारण इनमें कहीं भी असत्य या अविश्वासके लिय स्थान नहीं है। ये नित्य हैं और मूलमें पुरुष-जातिसे असम्बद्ध होनेके कारण अपौरुपेय कहे जात हैं।

वेद अनादि-अपौरुपेय और नित्य हैं तथा उनकी प्रामाणिकता स्वत सिद्ध है इस प्रकारका मत आस्तिक सिद्धान्तवाले सभी पौराणिका एव साख्य, योग मीमासा और वेदान्तके दार्शनिकाका है। न्याय और वैशेपिकके दार्शनिकाने वेदको अपौरुपेय नहीं माना है, पर व भी इन्हें परमेश्वर (पुरुषोत्तम)-द्वारा निर्मित परतु पूर्वानुरूपीका ही मानत हैं। इन दाना शाखाआंके दार्शनिकोने वेदको परम प्रमाण माना है और आनुपूर्वी (शब्दोच्चारणक्रम)-को सृष्टिके आरम्भसे लकर अवतक अविच्छिन्न-रूपसे प्रवृत्त माना है।

जो वेदको प्रमाण नहीं मानते वे आस्तिक नहीं कहे जाते। अत सभी आस्तिक मतवाले वेदका प्रमाण माननेम एकमत हैं केवल न्याय और वैशेपिक दार्शनिकोंकी अपौरुपेय माननेकी शैली भिन है। नास्तिक दार्शनिकोंने वेदाको भिन्न-भिन्न व्यक्तियोद्वारा रचा हुआ ग्रन्थ माना है। चार्वाक मतवालाने तो वेदको निष्क्रिय लोगाकी जीविकाका साधन तक कह डाला है। अत नास्तिक दशनवाल वदका न तो अनादि न अपौरुपेय और न नित्य ही मानत हैं तथा न इनकी प्रामाणिकतामें हा विश्वास करत हैं। इसीलिय य नास्तिक कहलात हैं। आस्तिक दर्शनशास्त्राने इस मतका युक्ति, तर्क एवं प्रमाणसे पूरा खण्डन किया है।

वेद चार हैं

वर्तमान कालमें वद चार माने जाते हैं। उनके नाम हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवद और (४) अथर्ववेद।

द्वापरयुगकी समाप्तिके पूर्व वेदाक उक्त चार विभाग अलग-अलग नहीं थे। उस समय तो 'ऋक्', यजु' और 'साम'—इन तीन शब्द-शैलियोंकी सग्रहात्मक एक विशिष्ट अध्ययनीय शब्द-राशि ही वेद कहलाती थी। यहाँ यह कहना भी अप्रासगिक नहीं हागा कि परमपिता परमश्वरने प्रत्येक कल्पके आरम्भमें सर्वप्रथम ब्रह्माजी (परमेष्ठी प्रजापति)-क हृदयमें समस्त वेदोका प्रादुर्भाव कराया था, जो उनक चारों मुखाम सर्वदा विद्यमान रहते हैं। ब्रह्माजीकी ऋषिसतानान आगे चलकर तपस्याद्वारा इसी शब्द-राशिका साक्षात्कार किया और पठन-पाठनकी प्रणालीसे इनका सरक्षण किया।

त्रयी

विश्वमें शब्द-प्रयोगकी तीन ही शैलियाँ होती हैं, जो पद्य (कविता), गद्य और गानरूपसे जन-साधारणमें प्रसिद्ध हैं। पद्यमें अक्षर-सख्या तथा पाद एव विरामका निश्चित नियम रहता है। अत निश्चित अक्षर-सख्या और पाद एवं विरामवाले वेद-मन्त्रोंकी सज्ञा 'ऋक्' है। जिन मन्त्रामें छन्दक नियमानुसार अक्षर-सख्या और पाद एवं विराम ऋषिदृष्ट नहीं हैं, ये गद्यात्मक मन्त्र 'यजु' कहलाते हैं और जितने मन्त्र गानात्मक हैं ये मन्त्र 'साम' कहलाते हैं। इन तीन प्रकारकी शब्द-प्रकाशन-शैलियाके आधारपर ही शास्त्र एव लोकमें वेदके लिय 'त्रयी' शब्दका भी व्यवहार किया जाता है। 'त्रयी' शब्दसे ऐसा नहीं समझना चाहिय कि वेदोंकी सख्या ही तीन है, क्योंकि 'त्रयी' शब्दका व्यवहार शब्द-प्रयोगकी शैलीके आधारपर है।

श्रुति—आम्नाय

वेदके पठन-पाठनक क्रममें गुरुमुखस श्रवण कर स्वयं अभ्यास करनेकी प्रक्रिया अवतक है। आज भी गुरुमुखसे श्रवण किय बिना केवल पुस्तकके आधारपर ही मन्त्राभ्यास करना निन्दनीय एवं निष्फल माना जाता है। इस प्रकार वेदके सरक्षण एव सफलताकी दृष्टिमे गुरुमुखसे श्रवण करने एवं उसे याद करनेका अत्यन्त महत्त्व है। इसी कारण

वेदको 'श्रुति' भी कहते हैं। वेद परिश्रमपूर्वक अभ्यासद्वारा सरक्षणीय है। इस कारण इसका नाम 'आम्नाय' भी है। त्रयी श्रुति और आम्नाय—ये तीनो शब्द आस्तिक ग्रन्थोमे वेदके लिये व्यवहृत किये जाते हैं।

चार वेद

उस समय (द्वापरयुगकी समाप्तिके समय)-मे भी वेदका पढाना और अभ्यास करना सरल कार्य नहीं था। कलियुगमें मनुष्योकी शक्तिहीनता और कम आयु होनेकी बातको ध्यानमे रखकर वेदपुरुष भगवान् नारायणके अवतार श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी महाराजने यज्ञानुष्ठानके उपयोगको दृष्टिगत रखकर उस एक वेदके चार विभाग कर दिये और इन चारो विभागोकी शिक्षा चार शिष्योको दी। ये ही चार विभाग आजकल ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवद और अथर्ववेदके नामसे प्रसिद्ध हैं। पैल, वैशम्पायन जैमिनि और सुमन्तु नामक—इन चार शिष्योने अपने-अपने अधीत वेदोंके सरक्षण एव प्रसारके लिये शाकल आदि अपने भिन्न-भिन्न शिष्योको पढाया। उन शिष्योंके मनोयोग एव प्रचारके कारण वे शाखाएँ उन्हींके नामसे आजतक प्रसिद्ध हो रही हैं। यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि शाखाके नामसे सम्बन्धित कोई भी मुनि मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं है और न वह शाखा उसकी रचना है। शाखाके नामसे सम्बन्धित व्यक्तिका उस वदशाखाकी रचनासे सम्बन्ध नहीं है, अपितु प्रचार एवं सरक्षणके कारण सम्बन्ध है।

कर्मकाण्डमे भिन्न वर्गीकरण

वेदोका प्रधान लक्ष्य आध्यात्मिक ज्ञान देना ही है, जिससे प्राणिमात्र इस असार ससारके बन्धनोंके मूलभूत कारणोको समझकर इससे मुक्ति पा सके। अत वेदमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—इन दोनों विषयोंका सर्वाङ्गीण निरूपण किया गया है। वेदोका प्रारम्भिक भाग कर्मकाण्ड है और यह ज्ञानकाण्डवाले भागसे बहुत अधिक है। कर्मकाण्डमें यज्ञानुष्ठान-सम्बन्धी विधि-निषेध आदिका सर्वाङ्गीण विवेचन है। इस भागका प्रधान उपयोग यज्ञानुष्ठानमें होता है। जिन अधिकारी वैदिक विद्वानोको यज्ञ करानेका यजमानद्वारा अधिकार प्राप्त होता है उनको 'ऋत्विक्' कहते हैं। श्रौतयज्ञमे इन ऋत्विजोके चार गण हैं। समस्त ऋत्विक् चार वर्गोंमें बँटकर अपना-अपना कार्य करते हुए यज्ञको सर्वाङ्गीण बनाते हैं। गणोंके नाम हैं—(१) होतृगण, (२) अध्वर्युगण (३) उद्गातृगण और (४) ब्रह्मगण।

उपर्युक्त चारो गणो या वर्गोंके लिये उपयोगी मन्त्रोके सग्रहके अनुसार वेद चार हुए हैं। उनका विभाजन इस प्रकार किया गया है—

ऋग्वेद—इसमें होतृवर्गके लिये उपयोगी मन्त्रोका सकलन है। इसका नाम ऋग्वेद इसलिये पडा है कि इसमें 'ऋक्' सज्ञक (पद्यबद्ध) मन्त्राकी अधिकता है। इसमें होतृवर्गके उपयोगी गद्यात्मक (यजु) स्वरूपके भी कुछ मन्त्र हैं। इसकी मन्त्र-सख्या अन्य वेदोकी अपेक्षा अधिक है। इसके कई मन्त्र अन्य वेदोमें भी मिलते हैं। सामवेदमे तो ऋग्वेदके मन्त्र ही अधिक हैं। स्वतन्त्र मन्त्र कम हैं।

यजुर्वेद—इसमें यज्ञानुष्ठान-सम्बन्धी अध्वर्युवर्गके उपयोगी मन्त्रोका सकलन है। इसका नाम यजुर्वेद इसलिये पडा है कि इसमें 'गद्यात्मक' मन्त्रोकी अधिकता है। इसमे कुछ पद्यबद्ध मन्त्र भी हैं जो अध्वर्युवर्गके उपयोगी हैं। इसके कुछ मन्त्र अथर्ववेदम भी पाये जाते हैं। यजुर्वेदके दो विभाग हैं—(१) शुक्लयजुर्वेद और (२) कृष्णयजुर्वेद।

सामवेद—इसमें यज्ञानुष्ठानके उद्गातृवर्गके उपयोगी मन्त्रोंका सकलन है। इसका नाम सामवेद इसलिये पडा है कि इसमें गायन-पद्धतिके निश्चित मन्त्र ही हैं। इसके अधिकाश मन्त्र ऋग्वेदमें उपलब्ध होते हैं, कुछ मन्त्र स्वतन्त्र भी हैं।

अथर्ववेद—इसमें यनानुष्ठानके ब्रह्मवर्गके उपयोगी मन्त्रोका संकलन है। इस ब्रह्मवर्गका कार्य है यज्ञकी देख-रेख करना, समय-समयपर नियमानुसार निर्देश देना यज्ञमें ऋत्विजों एव यजमानक द्वारा कोई भूल हो जाय या कमी रह जाय तो उसका सुधार या प्रायश्चित्त करना। अथर्वका अर्थ है कमियोंको हटाकर ठीक करना या कमी-रहित बनाना। अत इसमें यज्ञ-सम्बन्धी एव व्यक्ति-सम्बन्धी सुधार या कमी-पूर्ति करनेवाले भी मन्त्र हैं। इसमें पद्यात्मक मन्त्रोंके साथ कुछ गद्यात्मक मन्त्र भी उपलब्ध हैं। इस वेदका नामकरण अन्य वेदोकी भाँति शब्द-शैलीके आधारपर नहीं है, अपितु इसके

प्रतिपाद्य विषयके अनुसार है। इस वैदिक शब्दराशिका प्रचार एव प्रयोग मुख्यत अथर्व नामक महर्षिद्वारा किया गया। इसलिये भी इसका नाम अथर्ववेद है।

कुछ मन्त्र सभी वेदोंमें या एक-दो वेदोंमें समान-रूपसे मिलते हैं, जिसका कारण यह है कि चारो वेदोंका विभाजन यज्ञानुष्ठानके ऋत्विक् जनोंके उपयोगी होनेके आधारपर किया गया है। अत विभिन्न यज्ञावसरोंपर विभिन्न वर्गोंके ऋत्विजोंके लिये उपयोगी मन्त्रोंका उस वेदमें आ जाना स्वाभाविक है भले ही वह मन्त्र दूसरे ऋत्विक्‌के लिये भी अन्य अवसरपर उपयोगी होनेके कारण अन्यत्र भी मिलता हो।

वेदोका विभाजन और शाखा-विस्तार

आधुनिक विचारधाराके अनुसार चारो वेदोकी शब्द-राशिके विस्तारमें तीन दृष्टियाँ पायी जाती हैं—(१) याज्ञिक दृष्टि (२) प्रायोगिक दृष्टि और (३) साहित्यिक दृष्टि।

याज्ञिक दृष्टि—इसके अनुसार वेदोक्त यज्ञोंका अनुष्ठान ही वेदके शब्दोंका मुख्य उपयोग माना गया है। सृष्टिके आरम्भसे ही यज्ञ करनेमें साधारणतया मन्त्रोच्चारणकी शैली, मन्त्राक्षर एवं कर्म-विधिमें विविधता रही है। इस विविधताके कारण ही वेदोकी शाखाका विस्तार हुआ है। प्रत्येक वेदकी अनेक शाखाएँ बतायी गयी हैं। यथा—ऋग्वेदकी २१ शाखा यजुर्वेदकी १०१ शाखा सामवेदकी १,००० शाखा और अथर्ववेदकी ९ शाखा—इस प्रकार कुल १,१३१ शाखाएँ हैं। इस संख्याका उल्लेख महर्षि पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें भी किया है। अन्य वेदोंकी अपेक्षा ऋग्वेदमें मन्त्र-संख्या अधिक है फिर भी इसका शाखा-विस्तार यजुर्वेद और सामवेदकी अपेक्षा कम है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेदमें देवताओंके स्तुतिरूप मन्त्रोंका भण्डार है। स्तुति-वाक्योंकी अपेक्षा कर्मप्रयोगकी शैलीमें भिन्नता होनी स्वाभाविक है। अत ऋग्वेदकी अपेक्षा यजुर्वेदकी शाखाएँ अधिक हैं। गायन शैलीकी शाखाओंका सर्वाधिक होना आश्चर्यजनक नहीं है। अत सामवेदकी १००० शाखाएँ बतायी गयी हैं। फलत कोई भी वेद शाखा-विस्तारके कारण एक दूसरेसे उपयोगिता, श्रद्धा एवं महत्त्वमें कम-ज्यादा नहीं है। चारोंका महत्व समान है।

उपर्युक्त ११३१ शाखाओंमेसे वर्तमानमें केवल १२ शाखाएँ ही मूल ग्रन्थोंमें उपलब्ध हैं। वे हैं—

१—ऋग्वेदकी २१ शाखाओंमेंसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—(१) शाकल-शाखा और (२) शांखायन-शाखा।

२—यजुर्वेदमें कृष्णयजुर्वेदकी ८६ शाखाओंमेसे केवल ४ शाखाओंके ग्रन्थ ही प्राप्त हैं—(१) तैत्तिरीय शाखा, (२) मैत्रायणीय शाखा (३) कठ शाखा और (४) कपिष्ठल शाखा।

शुक्लयजुर्वेदकी १५ शाखाओंमेंसे केवल २ शाखाओंके ग्रन्थ ही प्राप्त हैं—(१) माध्यन्दिनीय-शाखा और (२) काण्व-शाखा।

३—सामवेदकी १००० शाखाओंमेसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—(१) कौथुम-शाखा और (२) जैमिनीय-शाखा।

४—अथर्ववेदकी ९ शाखाओंमेंसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—(१) शौनक-शाखा और (२) पैप्पलाद-शाखा।

उपर्युक्त १२ शाखाओंमेसे केवल ६ शाखाओंकी अध्ययन-शैली प्राप्त है जो नीचे दी जा रही है—

ऋग्वेदमें केवल शाकल-शाखा कृष्णयजुर्वेदमें केवल तैत्तिरीय शाखा और शुक्लयजुर्वेदमें केवल माध्यन्दिनीय शाखा तथा काण्व-शाखा सामवेदमें केवल कौथुम-शाखा, अथर्ववेदमें केवल शौनक-शाखा। यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि अन्य शाखाओंके कुछ और भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं किंतु उनसे उस शाखाका पूरा परिचय नहीं मिल सकता एवं बहुत-सी शाखाओंके तो नाम भी उपलब्ध नहीं हैं। कृष्णयजुर्वेदकी मैत्रायणी शाखा महाराष्ट्रमें तथा सामवेदकी जैमिनीय शाखा केरलके कुछ व्यक्तियोंमें ही उच्चारणमें सीमित है।

प्रायोगिक दृष्टि—इसके अनुसार प्रत्येक शाखाके दो भाग बताये गये हैं। एक मन्त्र-भाग और दूसरा ब्राह्मण-भाग।

मन्त्र भाग—मन्त्र-भाग उस शब्दराशिको कहते हैं जो यज्ञमें साक्षात् रूपसे प्रयोगमें आता है।

ब्राह्मण-भाग—ब्राह्मण शब्दसे उस शब्दराशिका सकेत है जिसमे विधि (आज्ञाबोधक शब्द), कथा आख्यायिका एव स्तुतिद्वारा यज्ञ करानेकी प्रवृत्ति उत्पन्न कराना, यज्ञानुष्ठान करनेकी पद्धति बताना, उसकी उपपत्ति और विवेचनके साथ उसके रहस्यका निरूपण करना है। इस प्रायोगिक दृष्टिके दो विभाजनोमें साहित्यिक दृष्टिके चार विभाजनोका समावेश हो जाता है।

साहित्यिक दृष्टि—इसके अनुसार प्रत्येक शाखाकी वैदिक शब्द-राशिका वर्गीकरण—(१) सहिता (२) ब्राह्मण (३) आरण्यक और (४) उपनिषद्—इन चारो भागोंमें है।

सहिता—वेदका जो भाग प्रतिदिन विशेषत अध्ययनीय है, उसे 'सहिता' कहते हैं। इस शब्द राशिका उपयोग श्रौत एवं स्मार्त दोनो प्रकारके यज्ञानुष्ठानोमें होता है। प्रत्येक वेदकी अलग-अलग शाखाकी एक-एक सहिता है। वेदोंके अनुसार उनको—(१) ऋग्वेद-सहिता (२) यजुर्वेद-सहिता (३) सामवेद-सहिता और (४) अथर्ववेद-सहिता कहा जाता है। इन सहिताओके पाठमे उनके अक्षर, वर्ण, स्वर आदिका किंचित् मात्र भी उलट-पुलट न होने पाये इसलिये प्राचीन अध्ययन-अध्यापनके सम्प्रदायमे (१) सहिता-पाठ (२) पद-पाठ (३) क्रम-पाठ—ये तीन प्रकृति पाठ और (१) जटा, (२) माला (३) शिखा, (४) रेखा (५) ध्वज (६) दण्ड (७) रथ तथा (८) घन—ये आठ विकृति पाठ प्रचलित हैं।

ब्राह्मण—वह वेद-भाग जिसमे विशेषतया यज्ञानुष्ठानकी पद्धतिके साथ-ही-साथ तदुपयोगी प्रवृत्तिका उद्बोधन कराना उसको दृढ करना तथा उसके द्वारा फल-प्राप्ति आदिका निरूपण विधि एव अर्थवादके द्वारा किया गया है 'ब्राह्मण' कहा जाता है।

आरण्यक—वह वेद-भाग जिसमे यज्ञानुष्ठान-पद्धति, याज्ञिक मन्त्र पदार्थ एव फल आदिमें आध्यात्मिकताका सकेत दिया गया है 'आरण्यक' कहलाता है। यह भाग मनुष्यको आध्यात्मिक बोधकी ओर झुकाकर सासारिक बन्धनोसे ऊपर उठाता है। अत इसका विशेष अध्ययन भी ससारके त्यागकी भावनाके कारण वानप्रस्थाश्रमके लिये अरण्य (जगल)-मे किया जाता है। इसीलिये इसका नाम 'आरण्यक' प्रसिद्ध हुआ है।

उपनिषद्—वह वेद-भाग जिसमे विशुद्ध रीतिसे आध्यात्मिक चिन्तनको ही प्रधानता दी गयी है और फल-सम्बन्धी फलानुबन्धी कर्मोके दृढानुरागको शिथिल करना सुझाया गया है 'उपनिषद्' कहलाता है। वेदका यह भाग उसकी सभी शाखाओमें है परतु यह बात स्पष्ट-रूपसे समझ लेनी चाहिये कि वर्तमानमे उपनिषद् सज्ञाके नामसे जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमेसे कुछ उपनिषदो (ईशावास्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय छान्दोग्य आदि)-को छोडकर बाकीके सभी उपनिषद् उसी रूपमे किसी-न-किसी शाखाके उपनिषद्-भागमें उपलब्ध हो ऐसी बात नहीं है। शाखागत उपनिषदामेंसे कुछ अशको सामयिक, सामाजिक या वैयक्तिक आवश्यकताके आधारपर उपनिषद् सज्ञा दे दी गयी है। इसीलिये इनकी सख्या एव उपलब्धियोमे विविधता मिलती है। वेदामे जो उपनिषद्-भाग हैं, वे अपनी शाखाआमे सर्वथा अक्षुण्ण हैं। उनको तथा उन्हीं शाखाओंके नामसे जो उपनिषद्-सज्ञाके ग्रन्थ उपलब्ध हैं दोनाको एक नहीं समझना चाहिये। उपलब्ध उपनिषद्-ग्रन्थाकी सख्यामेसे ईशादि १० उपनिषद् तो सर्वमान्य हैं। इनके अतिरिक्त ५ और उपनिषद् (श्वेताश्वतरादि), जिनपर आचार्योकी टीकाएँ तथा प्रमाण-उद्धरण आदि मिलते हैं सर्वसम्मत कहे जाते हैं। इन १५ के अतिरिक्त जो उपनिषद् उपलब्ध हैं, उनकी शब्दगत आजस्विता तथा प्रतिपादनशैली आदिकी विभिन्नता होनेपर भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनका प्रतिपाद्य ब्रह्म या आत्मतत्त्व निश्चयपूर्वक अपौरुषेय नित्य स्वत प्रमाण वेद-शब्द-राशिसे सम्बद्ध है।

ऋषि, छन्द और देवता

वेदके प्रत्येक मन्त्रमें किसी-न-किसी ऋषि छन्द एवं देवताका उल्लेख होना आवश्यक है। कहीं-कहीं एक ही मन्त्रमे एकसे अधिक ऋषि छन्द और देवताके नाम मिलते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि एक ही मन्त्रमें एकसे अधिक ऋषि छन्द और देवता क्या हैं यह स्पष्ट कर दिया जाय। इसका विवेचन निम्न पक्तियामे किया गया है—

ऋषि—यह वह व्यक्ति है, जिसने मन्त्रके स्वरूपको यथार्थ रूपमें समझा है। 'यथार्थ'—ज्ञान प्रायः चार प्रकार-से होता है (१) परम्पराके मूल पुरुष होनेसे, (२) उस तत्त्वके साक्षात् दर्शनसे (३) श्रद्धापूर्वक प्रयोग तथा साक्षात्कारसे और (४) इच्छित (अभिलषित)-पूर्ण सफलताके साक्षात्कारसे। अतएव इन चार कारणोंसे मन्त्र-सम्बन्धित ऋषियोंका निर्देश ग्रन्थोंमें मिलता है। जैसे—

१—कल्पके आदिमें सर्वप्रथम इस अनादि वैदिक शब्द-राशिका प्रथम उपदेश ब्रह्माजीके हृदयमें हुआ और ब्रह्माजीसे परम्परागत अध्ययन-अध्यापन होता रहा जिसका निर्देश 'वंश-ब्राह्मण' आदि ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है। अतः समस्त वेदकी परम्पराके मूल पुरुष ब्रह्मा (ऋषि) हैं। इनका स्मरण परमेष्ठी प्रजापति ऋषिके रूपमें किया जाता है।

२—इसी परमेष्ठी प्रजापतिकी परम्पराकी वैदिक शब्द-राशिके किसी अंशके शब्द-तत्त्वका जिस ऋषिने अपनी तपश्चर्याके द्वारा किसी विशेष अवसरपर प्रत्यक्ष दर्शन किया वह भी उस मन्त्रका ऋषि कहलाया। उस ऋषिका यह ऋषित्व शब्दतत्त्वके साक्षात्कारका कारण माना गया है। इस प्रकार एक ही मन्त्रका शब्दतत्त्व-साक्षात्कार अनेक ऋषियोंको भिन्न-भिन्न रूपसे या सामूहिक रूपसे हुआ था। अतः वे सभी उस मन्त्रके ऋषि माने गये हैं।

३—कल्प ग्रन्थोंके निर्देशोंमें ऐसे व्यक्तियोंको भी ऋषि कहा गया है जिन्होंने उस मन्त्र या कर्मका प्रयोग तथा साक्षात्कार अति श्रद्धापूर्वक किया है।

४—वैदिक ग्रन्थों विशेषतया पुराण-ग्रन्थोंके मननसे यह भी पता लगता है कि जिन व्यक्तियोंने किसी मन्त्रका एक विशेष प्रकारके प्रयोग तथा साक्षात्कारसे सफलता प्राप्त की है वे भी उस मन्त्रके ऋषि माने गये हैं।

उक्त निर्देशोंको ध्यानमें रखनेके साथ यह भी समझ लेना चाहिये कि एक ही मन्त्रका उक्त चारों प्रकारसे या एक ही प्रकारसे दर्शन करनेवाले भिन्न भिन्न व्यक्ति ऋषि हुए हैं। फलतः एक मन्त्रके अनेक ऋषि होनेमें परस्पर कोई विरोध नहीं है क्योंकि मन्त्र ऋषियोंकी रचना या अनुभूतिसे सम्बन्ध नहीं रखता, अपितु ऋषि ही उस मन्त्रसे बहिरङ्ग रूपसे सम्बद्ध व्यक्ति है।

छन्द—मन्त्रसे सम्बन्धित (मन्त्रके स्वरूपमें अनुस्यूत) अक्षर, पाद, विरामकी विशेषताके आधारपर दी गयी जो संज्ञा है वही छन्द है। एक ही पदार्थकी संज्ञा विभिन्न सिद्धान्त या व्यक्तिके विश्लेषणके भावसे नाना प्रकारकी हो सकती है। अतः एक ही मन्त्रके भिन्न नामके छन्द शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। किसी भी संज्ञाका नियमन उसके तत्त्वज्ञ आप्त व्यक्तिके द्वारा ही होता है। अतः कात्यायन शौनक पिंगल आदि छन्द शास्त्रके आचार्योंकी एवं सर्वानुक्रमणीकारोंकी उक्तियाँ ही इस सम्बन्धमें मान्य होती हैं। इसलिये एक मन्त्रमें भिन्न नामोंके छन्दोंके मिलनेसे भ्रम नहीं होना चाहिये।

देवता—मन्त्रोंके अक्षर किसी पदार्थ या व्यक्तिके सम्बन्धमें कुछ कहते हैं। यह कथन जिस व्यक्ति या पदार्थके निमित्त होता है वही उस मन्त्रका देवता होता है परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि कौन मन्त्र, किस व्यक्ति या पदार्थके लिये कब और कैसे प्रयोग किया जाय इसका निर्णय वेदका ब्राह्मण-भाग या तत्त्वज्ञ ऋषियोंके शास्त्र-वचन ही करते हैं। एक ही मन्त्रका प्रयोग कई यज्ञिय अवसरों तथा कई कामनाओंके लिये मिलता है। ऐसी स्थितिमें उस एक ही मन्त्रके अनेक देवता बताये जाते हैं। अतः उन निर्देशोंके आधारपर ही कोई पदार्थ या व्यक्ति 'देवता' कहा जाता है। मन्त्रके द्वारा जो प्रार्थना की गयी है उसकी पूर्ति करनेकी क्षमता उस देवतामें रहता है। लौकिक व्यक्ति या पदार्थ ही जहाँ देवता हैं वहाँ वस्तुतः यह दृश्य जड पदार्थ या अगम व्यक्ति देवता नहीं है अपितु उसमें अन्तर्हित एक प्रभु शक्तिसम्पन्न देवता तत्त्व है जिससे हम प्रार्थना करते हैं। यही बात 'अभिमानीव्यपदेश' शब्दसे शास्त्रोंमें स्पष्ट की गयी है। लौकिक पदार्थ या व्यक्तिका अधिष्ठाता देवता-तत्त्व मन्त्रात्मक शब्द-तत्त्वसे अभिन्न है, यह मीमांसा दर्शनका विषय है। [illegible] मन्त्रसे प्रतिपादित देवता तत्त्वको [illegible] चेतन और अतीन्द्रिय कहा गया

है। पुराणोंमें कुछ देवताओंके स्थान चरित्र इतिहास आदिका वर्णन करके भारतीय संस्कृतिके इस देवता-तत्त्वके प्रभुत्वको हृदयङ्गम कराया गया है। निष्कर्ष यही है कि इच्छाकी पूर्ति कर सकनेवाले अतीन्द्रिय मन्त्रसे प्रतिपादित तत्त्वको देवता कहते हैं और उस देवताका संकेत शास्त्र-वचनासे ही मिलता है। अत वचनोके अनुसार अवसर-भेदसे एक मन्त्रके विभिन्न देवता हो सकते हैं।

वेदके अङ्ग, उपाङ्ग एव उपवेद

वेदोके सर्वाङ्गीण अनुशीलनके लिये शिक्षा कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन ६ अङ्गोके ग्रन्थ हैं। प्रतिपदसूत्र अनुपद, छन्दोभाषा (प्रातिशाख्य), धर्मशास्त्र न्याय तथा वैशेषिक—ये ६ उपाङ्ग ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद गान्धर्ववेद तथा स्थापत्यवेद—ये क्रमश चारों वेदोके उपवेद कात्यायनने बतलाये हैं।

वेदोकी जानकारीके लिये विशेष उपयोगी ग्रन्थ

वैदिक शब्दोके अर्थ एव उनके प्रयोगकी पूरी जानकारीके लिये वेदाङ्ग आदि शास्त्रोकी व्यवस्था मानी गयी है। उसमें वैदिक स्वर और शब्दोकी व्यवस्थाके लिये शिक्षा तथा व्याकरण दोना अङ्गोके ग्रन्थ वेदके विशिष्ट शब्दार्थके उपयोगके लिये अलग-अलग उपाङ्ग ग्रन्थ 'प्रातिशाख्य' हैं, जिन्हें वैदिक व्याकरण भी कहते हैं। प्रयोग-पद्धतिकी सुव्यवस्थाके लिये कल्पशास्त्र माना जाता है। इसके चार भेद हैं—(१) श्रौतसूत्र (२) गृह्यसूत्र, (३) धर्मसूत्र और (४) शुल्बसूत्र। इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

श्रौतसूत्र—इसमें श्रौत-अग्नि (आवहनीय-गार्हपत्य एव दक्षिणाग्नि)-मे होनेवाले यज्ञ-सम्बन्धी विषयाका स्पष्ट निरूपण किया गया है।

गृह्यसूत्र—इसम गृह्य (औपासन)-अग्निम होनेवाले कर्मों एव उपनयन विवाह आदि संस्कारोंका निरूपण किया गया है।

धर्मसूत्र—इसमे वर्ण तथा आश्रम-सम्बन्धी धर्म आचार, व्यवहार आदिका निरूपण है।

शुल्बसूत्र—इसमे यज्ञ-वेदी आदिक निर्माणकी ज्यामितीय प्रक्रिया तथा अन्य तत्सम्बद्ध निरूपण है।

उपर्युक्त प्रकारसे प्रत्येक शाखाके लिये अलग-अलग व्याकरण और कल्पसूत्र हैं जिससे उस शाखाका पूरा ज्ञान हो जाता है और कर्मानुष्ठानमे सुविधा होती है।

इस बातको भी ध्यानमें रखना चाहिये कि यथार्थमे ज्ञानस्वरूप होते हुए भी वेद कोई वेदान्त-सूत्रकी तरह केवल दार्शनिक ग्रन्थ नहीं हैं, जहाँ केवल आध्यात्मिक चिन्तनका ही समावेश हो। ज्ञान-भण्डारम लौकिक और अलौकिक सभी विषयाका समावेश रहता है और साक्षात् या परम्परासे ये सभी विषय परम तत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं। यद्यपि किसी दार्शनिक विषयका साङ्गोपाङ्ग विचार वेदमे किसी एक स्थानपर नहीं मिलता, किंतु छोटे-से-छोटे तथा बडे-से-बडे तत्त्वाक स्वरूपका साक्षात् दर्शन ता ऋषियोको हुआ था और वे सब अनुभव वेदमे व्यक्त-रूपसे किसी-न-किसी स्थानपर वर्णित हैं। उनम लौकिक और अलौकिक सभी बाते हैं। स्थूलतम तथा सूक्ष्मतम रूपसे भिन्न-भिन्न तत्त्वाका परिचय वेदके अध्ययनस प्राप्त होता है। अत वेदक सम्बन्धम यह नहीं कहा जा सकता कि वेदका एक ही प्रतिपाद्य विषय है या एक ही दर्शन है या एक ही मन्तव्य है। यह तो साक्षात्-प्राप्त ज्ञानके स्वरूपोका शब्द-भण्डार है। इसा शब्दराशिके तत्त्वाको निकाल कर आचार्योंने अपनी-अपनी अनुभूति दृष्टि एव गुरु-परम्पराके आधारपर विभिन्न दर्शना तथा दार्शनिक प्रस्थानो (मौलिक दृष्टिसे सुविचारित मता)-का सचयन किया है। इस कारण भारतीय दृष्टिस वेद विश्वका सविधान है।

~~~

अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु समना।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥

(अथर्व ३। ३०। २)

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला हो और माताके साथ समान मनवाला हा। पत्नी पतिसे मधुर और सुखद वाणी बोले।

~~~

ऋषि—यह वह व्यक्ति है जिसने मन्त्रके स्वरूपको यथार्थ रूपमें समझा है। 'यथार्थ'—ज्ञान प्राय चार प्रकार-से होता है (१) परम्पराके मूल पुरुष होनेसे, (२) उस तत्त्वके साक्षात् दर्शनसे, (३) श्रद्धापूर्वक प्रयोग तथा साक्षात्कारसे और (४) इच्छित (अभिलषित)-पूर्ण सफलताके साक्षात्कारसे। अतएव इन चार कारणोसे मन्त्र-सम्बन्धित ऋषियोंका निर्देश ग्रन्थोमें मिलता है। जैसे—

१—कल्पके आदिमें सर्वप्रथम इस अनादि वैदिक शब्द-राशिका प्रथम उपदेश ब्रह्माजीके हृदयमे हुआ और ब्रह्माजीसे परम्परागत अध्ययन-अध्यापन होता रहा जिसका निर्देश 'वंश-ब्राह्मण' आदि ग्रन्थामे उपलब्ध होता है। अत समस्त वेदकी परम्पराके मूल पुरुष ब्रह्मा (ऋषि) हैं। इनका स्मरण परमेष्ठी प्रजापति ऋषिके रूपमें किया जाता है।

२—इसी परमेष्ठी प्रजापतिकी परम्पराकी वैदिक शब्द-राशिके किसी अंशके शब्द-तत्त्वका जिस ऋषिने अपनी तपश्चर्याके द्वारा किसी विशेष अवसरपर प्रत्यक्ष दर्शन किया वह भी उस मन्त्रका ऋषि कहलाया। उस ऋषिका यह ऋषित्व शब्दतत्त्वके साक्षात्कारका कारण माना गया है। इस प्रकार एक ही मन्त्रका शब्दतत्त्व-साक्षात्कार अनेक ऋषियाको भिन्न-भिन्न रूपसे या सामूहिक रूपसे हुआ था। अत वे सभी उस मन्त्रके ऋषि माने गये हैं।

३—कल्प ग्रन्थाके निर्देशामे एसे व्यक्तियोको भी ऋषि कहा गया है, जिन्होंने उस मन्त्र या कर्मका प्रयोग तथा साक्षात्कार अति श्रद्धापूर्वक किया है।

४—वैदिक ग्रन्था विशेषतया पुराण-ग्रन्थाके मननसे यह भी पता लगता है कि जिन व्यक्तियाने किसी मन्त्रका एक विशेष प्रकारके प्रयाग तथा साक्षात्कारसे सफलता प्राप्त की है, वे भी उस मन्त्रके ऋषि माने गय हैं।

उक्त निर्देशोको ध्यानमे रखनेके साथ यह भी समझ लेना चाहिये कि एक ही मन्त्रको उक्त चारों प्रकारसे या एक ही प्रकारसे देखनेवाले भिन्न-भिन्न व्यक्ति ऋषि हुए हैं। फलत एक मन्त्रके अनेक ऋषि होनेमे परस्पर कोई विरोध नहीं है क्योंकि मन्त्र ऋषियाकी रचना या अनुभूतिसे सम्बन्ध नहीं रखता अपितु ऋषि ही उस मन्त्रसे बहिरङ्ग रूपसे सम्बद्ध व्यक्ति है।

छन्द—मन्त्रसे सम्बन्धित (मन्त्रके स्वरूपमें अनुस्यूत) अक्षर पाद, विरामकी विशेषताके आधारपर दी गयी जो संज्ञा है वही छन्द है। एक ही पदार्थकी संज्ञा विभिन्न सिद्धान्त या व्यक्तिके विश्लेषणके भावसे नाना प्रकारकी हो सकती है। अत एक ही मन्त्रके भिन्न नामके छन्द शास्त्रामें पाये जाते हैं। किसी भी संज्ञाका नियमन उसके तत्त्वज्ञ आप्त व्यक्तिके द्वारा ही होता है। अत कात्यायन शौनक पिंगल आदि छन्द शास्त्रके आचार्योंकी एव सर्वानुक्रमणीकारोंकी उक्तियाँ ही इस सम्बन्धमें मान्य होती हैं। इसलिये एक मन्त्रमें भिन्न नामोके छन्दाके मिलनेसे भ्रम नहीं होना चाहिये।

देवता—मन्त्रोके अक्षर किसी पदार्थ या व्यक्तिके सम्बन्धमें कुछ कहते हैं। यह कथन जिस व्यक्ति या पदार्थके निमित्त होता है वही उस मन्त्रका देवता होता है, परतु यह स्मरण रखना चाहिये कि कौन मन्त्र, किस व्यक्ति या पदार्थके लिये कब और कैसे प्रयोग किया जाय इसका निर्णय वेदका ब्राह्मण-भाग या तत्त्वज्ञ ऋषियोंके शास्त्र-वचन ही करते हैं। एक ही मन्त्रका प्रयोग कई यज्ञिय अवसरा तथा कई कामनाओके लिये मिलता है। ऐसी स्थितिमे उस एक ही मन्त्रके अनेक देवता बताये जाते हैं। अत उन निर्देशोंके आधारपर ही कोई पदार्थ या व्यक्ति 'देवता' कहा जाता है। मन्त्रके द्वारा जो प्रार्थना की गयी है उसकी पूर्ति करनेकी क्षमता उस देवतामे रहती है। लौकिक व्यक्ति या पदार्थ ही जहाँ देवता हैं वहाँ वस्तुत वह दृश्य जड पदार्थ या अक्षम व्यक्ति देवता नहीं है अपितु उसमे अन्तर्हित एक प्रभु-शक्तिसम्पन्न देवता-तत्त्व है, जिससे हम प्रार्थना करते हैं। यही बात 'अभिमानीव्यपदेश' शब्दसे शास्त्रोंमें स्पष्ट की गयी है। लौकिक पदार्थ या व्यक्तिका अधिष्ठाता देवता-तत्त्व मन्त्रात्मक शब्द-तत्त्वसे अभिन्न है यह मीमासा-दर्शनका विचार है। वेदान्तशास्त्रमे मन्त्रमे प्रतिपादित देवता-तत्त्वको शरीरधारी चेतन और अतीन्द्रिय कहा गया

है। पुराणोमे कुछ देवताओके स्थान चरित्र, इतिहास आदिका वर्णन करके भारतीय संस्कृतिके इस देवता-तत्त्वके प्रभुत्वको हृदयङ्गम कराया गया है। निष्कर्ष यही है कि इच्छाकी पूर्ति कर सकनेवाले अतीन्द्रिय मन्त्रसे प्रतिपादित तत्त्वको देवता कहते हैं और उस देवताका संकेत शास्त्र-वचनोसे ही मिलता है। अत वचनोंके अनुसार अवसर-भेदसे एक मन्त्रके विभिन्न देवता हो सकते हैं।

वेदके अङ्ग, उपाङ्ग एव उपवेद

वेदोके सर्वाङ्गीण अनुशीलनके लिये शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष—इन ६ अङ्गोके ग्रन्थ हैं। प्रतिपदसूत्र अनुपद, छन्दोभाषा (प्रातिशाख्य), धर्मशास्त्र न्याय तथा वैशेषिक—ये ६ उपाङ्ग ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद गान्धर्ववेद तथा स्थापत्यवेद—ये क्रमश चारो वेदाके उपवेद कात्यायनने बतलाये हैं।

वेदोकी जानकारीके लिये विशेष उपयोगी ग्रन्थ

वैदिक शब्दाके अर्थ एव उनके प्रयोगकी पूरी जानकारीके लिये वेदाङ्ग आदि शास्त्राकी व्यवस्था मानी गयी है। उसम वैदिक स्वर और शब्दाकी व्यवस्थाके लिये शिक्षा तथा व्याकरण दोनो अङ्गोंके ग्रन्थ वेदके विशिष्ट शब्दार्थके उपयोगके लिये अलग-अलग उपाङ्ग ग्रन्थ 'प्रातिशाख्य' हैं जिन्हें वैदिक व्याकरण भी कहते हैं। प्रयाग-पद्धतिकी सुव्यवस्थाके लिये कल्पशास्त्र माना जाता है। इसके चार भेद हैं—(१) श्रौतसूत्र (२) गृह्यसूत्र (३) धर्मसूत्र और (४) शुल्वसूत्र। इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

श्रौतसूत्र—इसमें श्रौत-अग्नि (आवहनीय-गार्हपत्य एव दक्षिणाग्नि)-मे होनेवाले यज्ञ-सम्बन्धी विषयोका स्पष्ट निरूपण किया गया है।

गृह्यसूत्र—इसम गृह्य (औपासन)-अग्निमे होनेवाले कर्मों एव उपनयन, विवाह आदि संस्कारोका निरूपण किया गया है।

धर्मसूत्र—इसमें वर्ण तथा आश्रम-सम्बन्धी धर्म आचार, व्यवहार आदिका निरूपण है।

शुल्वसूत्र—इसमें यज्ञ-वेदी आदिके निर्माणकी ज्यामितीय प्रक्रिया तथा अन्य तत्सम्बद्ध निरूपण है।

उपर्युक्त प्रकारसे प्रत्येक शाखाके लिये अलग-अलग व्याकरण और कल्पसूत्र हैं जिससे उस शाखाका पूरा ज्ञान हो जाता है और कर्मानुष्ठानमे सुविधा होती है।

इस बातको भी ध्यानमे रखना चाहिये कि यथार्थम ज्ञानस्वरूप होते हुए भी वेद, कोई वेदान्त-सूत्रकी तरह केवल दार्शनिक ग्रन्थ नहीं हैं, जहाँ केवल आध्यात्मिक चिन्तनका ही समावेश हो। ज्ञान-भण्डारमे लौकिक और अलौकिक सभी विषयाका समावेश रहता है और साक्षात् या परम्परासे ये सभी विषय परम तत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं। यद्यपि किसी दार्शनिक विषयका साङ्गोपाङ्ग विचार वेदमें किसी एक स्थानपर नहीं मिलता, किंतु छोटे-से-छोटे तथा बडे-से-बडे तत्त्वाके स्वरूपका साक्षात् दर्शन तो ऋषियाको हुआ था और वे सब अनुभव वेदम व्यक्त-रूपसे किसी-न-किसी स्थानपर वर्णित हैं। उनम लौकिक और अलौकिक सभी बात हैं। स्थूलतम तथा सूक्ष्मतम रूपसे भिन्न-भिन्न तत्त्वाका परिचय वेदके अध्ययनसे प्राप्त होता है। अत वेदके सम्बन्धम यह नहीं कहा जा सकता कि वेदका एक ही प्रतिपाद्य विषय है या एक ही दर्शन है या एक ही मन्तव्य है। यह तो साक्षात्-प्राप्त ज्ञानके स्वरूपोका शब्द-भण्डार है। इसी शब्दराशिके तत्त्वाका निकाल कर आचार्योंने अपनी-अपनी अनुभूति दृष्टि एव गुरु-परम्पराके आधारपर विभिन्न दर्शना तथा दार्शनिक प्रस्थानो (मौलिक दृष्टिसे सुविचारित मता)-का संचयन किया है। इस कारण भारतीय दृष्टिसे वद विश्वका संविधान है।

अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु समना ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥

(अथर्व ३। ३०। २)

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला हो और माताके साथ समान मनवाला हो। पत्नी पतिसे मधुर और सुखद वाणी बोले।

ऋग्वेदका परिचय एवं वैशिष्ट्य

(श्रीराम अधिकारीजी, वेदाचार्य)

हजारसे भी अधिक शाखाओंमे विस्तृत वेद ऋक्, यजु, साम और अथर्व नामसे प्रसिद्ध है। ऋग्वेदकी अध्ययन-परम्परा ऋषि पैलसे आरम्भ हुई है। छन्दोबद्ध मन्त्रोसे इस वेदकी ग्रन्थाकृति आविर्भूत हुई है। महाभाष्यके आधारपर ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ हानेका उल्लेख है। सम्प्रति विशेपतया शाकल बाष्कल आश्वलायन, शाखायन और माण्डूकायन नामक पाँच ही उपलब्ध शाखाएँ प्रसिद्धिम रही हैं। यद्यपि शाकलके अतिरिक्त अन्य चारो शाखाओकी सहिता नहीं मिलती है, तथापि इनका अनेक स्थानोपर वर्णन मिलता है। किसीका ब्राह्मण किसीका आरण्यक तथा श्रौतसूत्र मिलनेसे पाँच शाखाएँ ज्ञात होनेकी पुष्टि होती है। जैसे कि शाकलके आधारपर ऋग्वेदका अन्तिम मन्त्र 'समानी व आकूति ' है, परतु बाष्कलके आधारपर 'तच्छंयोरावृणीमहे' अन्तिम ऋचा है। बाष्कल शाखाकी यह ऋचा ऋक्परिशिष्टक अन्तिम सज्ञानसूक्तका अन्तिम मन्त्र है। इसी सूक्तसे बाष्कल शाखा-सम्मत सहिता समाप्त होती है। शाकल शाखाके मन्त्रक्रमसे बाष्कलके मन्त्रक्रममे बहुत कुछ अन्तर मिलता है।

वर्तमानमे आश्वलायन शाखाके श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र ही मिलते हैं। इसी प्रकार शाखायन सहिताके ब्राह्मण और आरण्यक ही प्रकाशित हैं परतु सहिता नहीं मिलती। प्रकाशित शाकल शाखा और शाखायन शाखामें कवल मन्त्रक्रममे ही भेद है। जैसे शाकलमे ऋक्-परिशिष्ट और बालखिल्यसूक्त सहितासे पृथक् हैं जबकि वे शाखायनमें सहिताके अन्तर्गत ही हैं। माण्डूकायन शाखाके भी ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं। इन पाँच शाखाओमें भी आज शाकल और बाष्कल शाखाएँ ही प्रचलित हैं। जिसम मण्डल सूक्त आदिसे विभाग किया हो वह शाकल और जिसमें अष्टक-अध्याय-वर्ग आदिके क्रमसे विभाग किया गया हो, उसको बाष्कल कहते हैं, यह एक मत है। इन दोनो शाकल और बाष्कल शाखाओंके भेदक मण्डल सूक्तक्रम, अध्याय और वर्गक्रमको छोड़कर एक ही जगह मण्डल-संख्या और अध्याय-सख्याओका भी निर्देश प्राचीन ग्रन्थोमें किया गया है। जैसे कि ऋग्वेदमें ६४ अध्याय ८ अष्टक १० मण्डल २,००६ वर्ग, १,००० सूक्त ८५ अनुवाक और १०,४४० मन्त्र होनेका उल्लेख विद्याधर गौडकृत कात्यायन श्रौतसूत्रकी भूमिकामें मिलता है। मण्डलमें सूक्तोकी सख्या क्रमश १५१, ४३, ६२, ५८, ८७ ७५, १०४ ९२ ११४ १५१ अर्थात् कुल १,०१७ निर्धारित मिलती है। कात्यायनकृत चरणव्यूह परिशिष्टमें दस हजार पाँच सौ सवा अस्सी मन्त्र होनेका उल्लेख मिलता है। सूक्तोकी सख्या शाखा-भेदके कारण न्यूनाधिक देखी जा सकती है। इन सूक्तोके अतिरिक्त अष्टम मण्डलके बीच ४३ सूक्तसे ५९ सूक्ततक पढे गये ११ बालखिल्य सूक्त मिलते हैं। स्वाध्यायके अवसरपर इन सूक्तोका पाठ करनेकी परम्परा ऋग्वेदी विद्वानोंकी है। प्राप्त शाखाओमेंसे शाकल शाखाकी विशिष्ट-उच्चारण परम्परा केरलमें रही है। आश्वलायन और शाखायन शाखीय गुर्जर (गुजरात)-मे ब्राह्मण-परिवार मिलते हैं।

पश्चिमके शोधकर्ताओंके विचारमें ऋग्वेदके प्रथम और दशम मण्डल अर्वाचीन हैं। इस विचारकी पुष्टिके लिये उनका तर्क है कि द्वितीयसे नवम मण्डलोकी अपेक्षा प्रथम और दशम मण्डलोमे भाषागत विभिन्नता छन्दोगत विशिष्टता, देवसम्बद्ध नूतनता और विषयवस्तुओकी नवीनता दिखायी पडती है। द्वितीयसे नवमतकके मण्डलोमे रेफ मिल जाता है तो अवशिष्ट मण्डलमें रेफके स्थानपर लकार लिखा हुआ मिलता है। वैसे ही इन्द्र मित्र वरुण आदि देवोंके स्थानमें श्रद्धा मन्यु-जैसी भावनाओको देव मानना प्रथम और दशम मण्डलोकी विशेपता है। परतु ये तर्क और अनुशीलन प्रथम और दशम मण्डलको अर्वाचीन सिद्ध करनेके लिये असमर्थ हैं क्योंकि इनका खण्डन सहजरूपमें हो सकता है। पृथक्-पृथक् मण्डलकी अलग विशेपता रहना स्वाभाविक है और 'अभिमानीव्यपदेश' सिद्धान्तके आधारसे कोई जीव या वस्तु देव हो सकता है। सबसे प्रमुख बात तो वेदका कर्ता और रचना-काल असिद्ध होनेसे अपौरुषेय वेदकी प्राचीनता और अर्वाचीनता कही नहीं जा

सकती। ऋग्वेदके सम्बन्धमें उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि ससारके सभी लोग इस वेदको विश्वके सर्वप्राचीन ग्रन्थके रूपम ग्रहण करते हैं। यह बात भारतीयाके लिये गौरव रखती है।

४४ अक्षरोसे बननेवाली त्रिष्टुप् छन्द, २४ अक्षरोकी गायत्री छन्द और ४८ अक्षरोकी जगती छन्द प्रधानतासे पूरी ऋग्वेदकी सहितामें हैं। चार पादवाल, तीन पादवाले और दा पादवाले मन्त्र इसमें देखे जा सकते हैं। दो पादवाली ऋचाएँ अध्ययन-कालम चतुष्पदा और यज्ञके अवसरपर द्विपदा मानी जाती हैं। दो पादवाली ऋचाको चतुष्पदा करनेके लिये प्रगाथ किया जाता है। अन्तिम पादको पुन अभ्यास करके चार पाद बनानेकी प्रक्रिया प्रगाथ है।

यह विशेष गौरवपूर्ण तथ्य है कि मात्र भारत ही नहीं अपितु विश्वके लिये ऋग्वेद ज्ञान, विज्ञान और ऐतिहासिक तथ्य एव सास्कृतिक मूल्योके लिये धरोहर है। इसमें अनेक सूक्तोके माध्यमसे रोचक एव महत्त्वपूर्ण विषयका प्रतिपादन किया गया है। कतिपय सूक्तोमें दानस्तुतिका प्रतिपादन मिलता है। ऐसे सूक्त ऋक्सर्वानुक्रमणिकाके आधारपर २२ हैं परतु आधुनिक गवेषक ६८ सूक्त हानेका दावा करते हैं। आधुनिक इतिहासकारोका मानना है कि इन मन्त्रामे ऋषियाने दानशील राजाकी दानमहिमा गायी है। परतु वैदिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे अपौरुषय वेदके आधारपर ये दानस्तुतियाँ प्ररोचना (प्रशसा)-के रूपमें स्वीकार्य हैं। इसमें प्रबन्ध-काव्य एव नाटकोके साथ सम्बन्ध जोडनेवाले लगभग बीस सूक्त मिलते हैं। कथनोपकथनके प्राधान्यसे इन सूक्तोको 'सवादसूक्त' नाम दिया गया है। इनमेसे तीन प्रसिद्ध रोचक एव नैतिक मूल्यप्रदायक आख्यायिकाओसे जुडे सवाद सूक्त मिलते हैं। वे पुरूरवा-उर्वशी-सवाद (ऋक्० १०। ८५) यम-यमी-सवाद (ऋक्० १०। १०) और सरमा-पणि-सवाद (ऋक्० १०। १३०) हैं। पुरूरवा एव उर्वशीकी कथा रामाञ्चक प्रेमका प्राचीनकालिक निदर्शन है जिसम स्वर्गकी अप्सरा पृथ्वीके मानवसे विवाह करती है। सशर्त किया हुआ यह विवाह शर्तभगके बाद वियोगमें परिणत हाता है। स्वर्गकी अप्सरा उर्वशी वापस चली जाती है। सूक्तम कुछ कथन पुरूरवाके और कुछ कथन उर्वशीक देखे जा सकते हैं। वैसे ही यमी अपनी काम-इच्छाएँ अपने ही भाई यमसे पूरी करनेके लिये प्रयास करती है। नैतिक एव चारित्रिक उदात्ततासे ओतप्रोत यम यमीको दूसरा पति ढूँढनेका परामर्श देकर भाई-बहनके रक्त-सम्बन्धको पवित्र एव मर्यादित करता है। यह आर्योकी महत्त्वपूर्ण सस्कृति रही है। इसी तरह ऋग्वेदीय सामाजिक विशेषता प्रस्तुत करनेवाला सरमा-पणि-सवाद सूक्त है। जिसमें पणि लोगोंके द्वारा आर्य लोगोकी गाये चुराकर कहीं अँधेरी गुफाम रखनेकी आख्यायिका आयी है। इन्द्रने अपनी शुनी (कुत्ती) सरमाको पणियाको समझानेके लिये दौत्यकर्म सौंपा। उसके बाद सरमा आर्य लागाके पराक्रमकी गाथा गाकर पणियाको धमकाती है। इसी प्रकारकी सामाजिक स्थितिका बोध ऋग्वेदीय सूक्तासे कर सकते हैं।

शाकल सहिताके अन्तमे ऋक्परिशिष्ट नामसे ३६ सूक्त सगृहीत किये गये हैं। इनमसे चर्चित सूक्त हैं—श्रीसूक्त, रात्रिसूक्त मेधासूक्त शिवसङ्कल्पसूक्त तथा सज्ञानसूक्त। ये सूक्त ऋक्सहिताके विविध मण्डलोम पढे गये हैं। 'सितासिते सरिते यत्र सगते'—(ऋक्परिशिष्ट २२ वाँ) सूक्त स्कन्द-पुराणके काशीखण्ड (७। ४४) और पद्मपुराण (६। २४६। ३५)-मे उद्धृत है। पुराणके इन दोना स्थानोंपर यह मन्त्र प्रयागपरक अर्थ दता है अर्थात् प्रयागमे मिलनेवाली सित (गङ्गा) और असित (यमुना)-के सगम-तीर्थकी महिमा भी इससे ज्ञात हाती है।

ऋग्वेदकी यज्ञपरता और ब्राह्मण-ग्रन्थ

यजुर्वेद यज्ञका मापन करता है। ऋग्वद और सामवद यज्ञमे आहूत देवाकी प्रसन्नताक लिय शस्त्र और स्तोत्र बतलात हैं। अथर्ववद यज्ञम अनुशासनका पालन करवाता है। इस तरह यज्ञका पूर्ण स्वरूप चारा वदास सम्पन्न किया जाता है। इसक लिय ब्राह्मण-ग्रन्थ मन्त्र-विनियोजनपूर्वक कर्मोके प्रख्यापन करते हैं। स्तुतमनुशसति इस ब्राह्मण-वाक्यक निर्देशानुसार हातृगण ऋग्वदीय सूक्ताक शसनस देवाकी स्तुति करत हैं। हातृगणम हाता मैत्रावरुण अच्छावाक और ग्रावस्तुत वदिक नामवाल चार ऋत्विज् रहत हैं। ऋग्वेदक एतरय और शाखायन ब्राह्मण मिलत हैं। ये ब्राह्मण यज्ञक प्रख्यापनक साथ-साथ रोचक आख्यायिकाआस

मानवीय मूल्या एव कर्तव्योका शिक्षण करते हैं। ४० अध्याय, ८ पञ्चिका और २८५ कण्डिकाआमें विभक्त एतरेय ब्राह्मण होतृगणस सम्बद्ध शस्त्रशसनादि कार्योका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। प्रत्येक पाँच अध्याय मिलाकर निर्मित पञ्चिकाके अन्तर्गत प्रथम और द्वितीय पञ्चिकाम सभी यागाके प्रकृतिभूत अग्निष्टोम (सोमयाग)-म होतृगणके विधि-विधानो एव कर्तव्याका विवेचन है। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ पञ्चिकाम प्रात माध्यन्दिन तथा तृतीय सवन (साय-सवन)-पर शसन किये जानेवाले बारह शस्त्राका वर्णन मिलता है।

पञ्चम एव षष्ठ पञ्चिकामे द्वादशाह (सोमयाग) एव अनेक-दिन-साध्य सोमयागपर हौत्रकर्म निरूपित है। सप्तम पञ्चिका राजसूय यागके वर्णनके क्रमम शुन शेपका आख्यान विस्तृत-रूपसे प्रस्तुत करती है। यह आख्यान अत्यन्त प्रसिद्ध है। अन्तिम अष्टम पञ्चिकामे ऐतिहासिक महत्त्ववाले 'ऐन्द्र महाभिषेक'-जैसे विषय दखनेम आत हैं। इसी 'ऐन्द्र महाभिषेक' के आधारपर चक्रवर्ती नरेशाक महाभिषेकका रोचक प्रसग आया है। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण प्रमुख रूपस सोमयागम हौत्रकर्म बतलाता है।

३० अध्याया एव २२६ खण्डाम विभक्त ऋग्वेदका दूसरा शाखायन ब्राह्मण लम्बे-लम्बे गद्यात्मक वाक्योंमें अपने प्रतिपाद्याका निरूपण करता है। इस ब्राह्मणका 'कौषीतकि ब्राह्मण' भी कहा जाता है क्याकि इसम अनेक आचार्योंके मताका उल्लेख करक कौषीतकिका मत यथार्थ ठहराया गया है। विषय-वस्तुकी दृष्टिसे यह ब्राह्मण एतरयका ही अनुसरण करता है। इसके अनुशीलनसे महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं। जैसे—उदीच्य देश सस्कृतका कन्द्र है इस देशके भ्रमणका प्रसग रुद्रकी महिमाका वर्णन 'यज्ञो वै विष्णु' -के आधारपर विष्णुका उच्चकोटिम रखनेका प्रसग इन्द्रद्वारा वृत्रको मारनेके लिये महानाम्नी साम-मन्त्राको पढना तथा शक्करी ऋचाओका निरुक्ति एव महत्त्वका प्रख्यापन आदि इस ब्राह्मणक उल्लख्य विषय हैं।

ऋग्वेदके ऐतरय और शाखायन नामके दा आरण्यक प्रसिद्ध हैं। प्रथम ऐतरेय आरण्यकम अवान्तर पाँच आरण्यक भाग हैं जिनमसे प्रथम आरण्यकम 'गवामयन' नामक सत्रयागके अङ्गभूत महाव्रत-कर्मका वर्णन है। द्वितीय आरण्यकमें प्राणविद्या एव पुरुष आदिका विवेचन है। इसीके अन्तर्गत 'ऐतरेय उपनिषद्' भी वर्णित है। तृतीय सहितोपनिषद् नामक आरण्यक सहिता पद, क्रम, स्वर एव व्यञ्जन आदिका निरूपण करता है। चतुर्थ आरण्यकमें महानाम्नी ऋचाआका वर्णन और अन्तिम आरण्यकमें निष्केवल्य शस्त्र निरूपित है। इनमेसे प्रथम तीनके द्रष्टा ऐतरेय चतुर्थके आश्वलायन और पाँचवेंके शौनक माने गये हैं। पाँचवे आरण्यकके द्रष्टा शौनक और बृहद्देवताके रचयिता शौनकक बारेमें विद्वानाका मतभेद रहा है। इसी तरह दूसरा शाखायन नामक आरण्यक ३० अध्यायामें विभाजित है और ऐतरय आरण्यकका ही अनुसरण करता है। इस आरण्यकक १५वे अध्यायमें आचार्यके वशवर्णनके क्रमानुसार आरण्यकद्रष्टा गुणाख्य शाखायन और उनके गुरुरूपम कहोल कौषीतकिका उल्लेख मिलता है। अध्यात्म-विद्याका रहस्य बतलानेवाले उपनिषद्-खण्डमें ऐतरय उपनिषद् ऋग्वेदसे सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त सोलह अवान्तर उपनिषद् होनेका उल्लख भी मिलता है।

ऋग्वेदीय वेदाङ्ग-साहित्य

कल्पशास्त्र श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र धर्मसूत्र और शुल्वसूत्रमें विभक्त हुआ है। ऋग्वेदीय कल्पशास्त्रका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—ऋग्वदीय श्रौतसूत्रामें आश्वलायन और शाखायन मिलत हैं। क्रमश १२ अध्याय और १८ अध्यायामें विभक्त इन दोना श्रौतसूत्राम पुरोऽनुवाक्या याज्या, प्रतिगर-न्यूख-जैस विषयोका निरूपण करक हौत्रकर्म बतलाया गया है। क्रमश ४ और ६ अध्यायाम विभाजित आश्वलायन और शाखायन गृह्यसूत्र स्मार्त (गृह्य)-कर्मोंकी निरुक्ति करते हैं। इसी प्रकार २२ अध्यायामे विभक्त आश्वलायन धर्मसूत्र ऋग्वेदीय धर्मसूत्र माना गया है।

कुछ लोग पाणिनीय शिक्षाको ऋग्वेदकी शिक्षा मानते हैं ता कुछ लोग इसको सर्ववेद-साधारण मानते हैं। शौनक-शिक्षा और वासिष्ठ-शिक्षाको भी ऋग्वेदीय शिक्षाके रूपम लिया जा सकता है। शौनक-शिक्षाके मङ्गलाचरण-श्लोकमें 'प्रणम्यर्क्षु प्रवक्ष्यामि' का उल्लख होनसे इसका ऋग्वेदीय शिक्षा मानना उपयुक्त ही है। ६७ श्लोकासे रचित

शौनकीय शिक्षा ऋग्वेदसे सम्बद्ध स्वर-व्यञ्जन तथा उच्चारणकी व्यवस्था बतलाती है।

उपाङ्ग ग्रन्थके रूपमें प्रसिद्ध प्रातिशाख्य साहित्यमे ऋग्वेद-सम्बद्ध प्रातिशाख्य ऋक्प्रातिशाख्य है। १८ पटलोमे विभक्त यह प्रातिशाख्य स्वर, व्यञ्जन स्वरभक्ति तथा सधि-जैसे व्याकरणगत विषयोंका निरूपण करता है। इसके रचयिता आश्वलायनके गुरु शौनक माने गये हैं। इस प्रातिशाख्यमें ऐतरेय आरण्यकके अन्तर्गत सहितोपनिषद् आरण्यकका अनुसरण किया हुआ मिलता है।

वस्तुत विश्वसाहित्यका सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ होनेके कारण ऋग्वेद पाश्चात्त्य विद्वानोके लिये भी अत्यन्त आदर तथा विश्वासके साथ श्रद्धास्पद रहा है। भाषावैज्ञानिक सिद्धान्ताका तो यह आधारभूत ग्रन्थ ही माना जाता है। विश्वके प्राचीनतम इतिहास सस्कृति भाषाशैली नृवशशास्त्र, भौगोलिक स्वरूप तथा सभ्यताका एकमात्र लिपिबद्ध अभिलेख होनेके कारण पाश्चात्त्य विद्वानोने इसका अनुशीलन अतिशय परिश्रमसे किया है।

परतु हम भारतीयाकी दृष्टिसे ता यह अपौरुषेय शब्दराशि समस्त ज्ञान-विज्ञानोकी उपदेष्ट्री तथा विश्वकी सविधात्री है।

यजुर्वेदका सक्षिप्त परिचय

(श्रीऋषिरामजी रेग्मी अथर्ववेदाचार्य)

शैलीकी दृष्टिसे वैदिक मन्त्रोका विभाजन ऋक् यजु और सामके रूपम तीन भागोमें हुआ है। छन्दोमें निबद्ध मन्त्राका नाम ऋग्वेद गद्यात्मक मन्त्र-समुदाय यजुर्वेद और गानमय मन्त्र सामवेदके नामसे प्रसिद्ध हैं।

निरुक्तकार यास्क 'यजु शब्द यज धातुसे निष्पन्न मानते हैं (निरुक्त ७। २०), इसका भाव यह है कि यजुर्वेदसे यज्ञका स्वरूप-निर्धारण होता है— **यज्ञस्य मात्रा वि मिमीत उ त्व** ' (ऋक्०१०। ७१। ११)। अत याज्ञिक दृष्टिसे यजुर्वेदका अपर नाम 'अध्वर्युवेद' भी है।

सम्प्रदायके आधारपर यजुर्वेद दो भागोमें विभक्त है। सामान्यत आदित्य-परम्परासे प्राप्त मन्त्रसमुदायको 'शुक्ल-यजुर्वेद' और ब्रह्म-परम्पराके द्वारा प्राप्त मन्त्राको 'कृष्णयजुर्वेद' कहते हैं।

शुक्लत्व और कृष्णत्वका भेद

यजुर्वेदके शुक्लत्व और कृष्णत्वके विषयमें एक पौराणिक आख्यायिका मिलती है। यह आख्यायिका महीधर-भाष्यकी भूमिकामें इस प्रकार उद्धृत है—

'सर्वप्रथम सत्यवतीके पुत्र पाराशर वेदव्यासने एक ही वेद-सहिताका चार भागोम विभाजन करके ऋक् यजु, साम और अथर्व नामके चारा वेदोका क्रमश पैल वैशम्पायन जैमिनि और सुमन्तु नामके चार शिष्याको पढाया। उसके बाद वैशम्पायनन याज्ञवल्क्यादि अपने शिष्याको यजुर्वेद श्रवण कराया। किसी समय महर्षि वैशम्पायनन याज्ञवल्क्यसे क्रुद्ध होकर अपने द्वारा पढायी हुई वेदविद्याको त्यागनेका आदेश दिया। गुरुक आज्ञानुसार याज्ञवल्क्यने अपने योगबलके द्वारा विद्याको मूर्तरूप करके वमन किया। उक्त वमन किये हुए यजुषाको वैशम्पायनके अन्य शिष्योंने तित्तिरि (पक्षिविशेष)-रूप धारण करके भक्षण कर लिया। तबसे वे यजुर्मन्त्र 'कृष्णयजुर्वेद'के नामसे प्रसिद्ध हुए। दूसरी ओर दु खित याज्ञवल्क्यने कठोर तपस्या करके आदित्यको प्रसन्न किया। तपसे प्रसन्न हाकर सूर्यने वाजि (अश्व)-रूप धारण करके दिनके मध्याह्नम यजुषाका उन्हें उपदेश दिया। इस प्रकार आदित्यसे प्राप्त यजुष् शुक्ल कहलाये। दिनके मध्याह्म प्राप्त होनेके कारण 'माध्यन्दिन' तथा वाजिरूप आदित्यसे उपदिष्ट हानेसे 'वाजसनय' कहलाये। आचार्य सायण भी इस मतको स्वीकार करते हैं (दखिय काण्व भा० भू० श्लाक ६—१२)।

इस आख्यायिकामें यजुर्वेदके शुक्लत्वके विषयम प्रस्तुत मत जितना मान्य है उतना कृष्णत्वके विषयमें नहीं क्योंकि शतपथब्राह्मणके वचन 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते (१४। ९।४।३३)-के अनुसार महर्षि याज्ञवल्क्यन आदित्यस शुक्लयजुषाका प्राप्त किया है यह बात स्पष्ट है। किंतु कृष्णत्वके विषयमें जा मत प्रस्तुत है वह रूपकात्मक प्रतात हाता है, क्योंकि

मूर्त वस्तुकी तरह अमूर्त विद्याका वमन तथा भक्षण योगबलसे ही सम्भव होता है। अत यजुर्वेदके कृष्णत्वके विषयमें अन्य युक्तियोका आश्रय लेना जरूरी है। इस विषयमें 'वेदशाखापर्यालोचनम्' में 'यजुषा कृष्णत्वविचार' शीर्षकके अन्तर्गत ग्यारह युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। यहाँ भी इसीके कुछ अशोका अनुवाद प्रस्तुत है—

१-शुक्लयजुर्वेदीय लोग वेदके उपाकर्ममें श्रावण शुक्ल-पक्षकी चतुर्दशी-युक्त पूर्णिमाको ग्रहण करते हैं। किंतु कृष्णयजुर्वेदीय लोग भाद्रपदकृष्णपक्षकी प्रतिपद्-युक्त पूर्णिमाको ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उपाकर्ममें कृष्णपक्षको प्रधान माननेके कारण तैत्तिरीयादि शाखाआका नाम 'कृष्ण-यजुर्वेद' रहा।

२-ऋषि, देवता तथा छन्दाके बोधक तैत्तिरीयोके सर्वानुक्रमणी ग्रन्थके अस्तव्यस्तताके कारण भी कृष्णत्व सम्भव है।

३-कृष्णयजुषोके श्रौत-सूत्रादि कल्पग्रन्थाके आचार्य बहुत हैं। उन आचार्योंके द्वारा रचित विभिन्न कल्पसूत्रोंमें एक ही मन्त्रका विभिन्न स्थानपर विनियोग बताया गया है। जैसे-तैत्तिरीय सहिताको प्रथम कण्डिकामे 'ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात' (१। १। १) इत्यादि मन्त्रका विनियोग बौधायनने अध्वर्युकर्तृक यजमानके आज्यावेक्षणमें किया है किंतु आपस्तम्बन गायोके प्रत्यावर्तनमें विनियोग किया है। इस प्रकार विनियोगमें एक ही मन्त्रकी विविधता होनसे प्रयोग-साकर्यके कारण यजुर्वेदका कृष्णत्व हो गया।

४-कृष्णयजुर्वेदम सहिता और ब्राह्मणके पृथक्-पृथक् अभिधान केवल प्रसिद्धिमूलक दिखायी पडते हैं। इस वेदके सहिता-भागमें ब्राह्मण-भाग और ब्राह्मण-भागमें सहिता-भाग मिला हुआ है। शुक्लयजुर्वेदकी तरह सहिता-भाग तथा ब्राह्मण-भागका अलग-अलग विभाजन नहीं है। इस तरह मन्त्र और ब्राह्मणकी सकीर्णताके कारण इसका कृष्णत्व हाना प्रत्यक्ष है।

५-कृष्णयजुर्वेदमें सारस्वत और आर्षेय करक पाठकी द्विविधता दिखायी पडती है। इसलिये पाठ-द्वैविध्यसे अनियत-क्रम हानेक कारण इसका कृष्णत्व होना सम्भव है।

६-यजुर्वेदम मन्त्रकी अपूर्णता भी कृष्णत्वका कारण है। इसमें याज्ञिक लोग कल्पसूत्रासे मन्त्रोकी पूर्ति करते हैं। जैसे 'सं वपामि' (तै० स० १।१।८)—यहाँ कल्पसूत्रके अनुसार 'देवस्य त्वा···अग्नये अग्नीषोमाभ्याम्' यह मन्त्र देवतानुसार प्रयोग किया जाता है, किंतु शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र-प्रयोगमें कल्पकी अपेक्षा नहीं हाती है (मा० स० १। २१)।

इस प्रकार यजुर्वेदके कृष्णत्वके कारणोंमें सहिता और ब्राह्मणकी सकीर्णता मन्त्र-विनियोगकी विविधता, सहिता-पाठकी द्विविधता, मन्त्राकी अपूर्णता तथा कुछ ग्रन्थाकी अस्तव्यस्तता प्रमुख हैं।

यजुर्वेदकी शाखाएँ

महाभाष्यकार पतञ्जलिके अनुसार यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ थीं। जिनमें कृष्णयजुर्वेदकी ८६ और शुक्लयजुर्वेदकी १५ शाखाएँ हैं। इनम आजकल सभी शाखाएँ उपलब्ध नहीं होतीं।

शुक्लयजुर्वेदीय शाखाएँ

चरणव्यूहादि ग्रन्थामें उक्त शुक्लयजुर्वेदकी १५ शाखाओंका नाम आचार्य सायणने काण्वभाष्य-भूमिकामें इस प्रकार दिया है—

काण्वा, माध्यन्दिना, शापेया, तापायनीया, कापाला, पौण्ड्रवत्सा, आवटिका, परमावटिका, पाराशर्या, वैधेया, वैनेया, औधेया, गालवा, वैजवा, कात्यायनीया।

नामकी भिन्नता विभिन्न ग्रन्थोंमें दिखायी पड़ती है। इनमे आजकल काण्व और माध्यन्दिन केवल दो ही शाखाएँ उपलब्ध हैं।

कृष्णयजुर्वेदकी शाखाएँ

कृष्णयजुर्वेदकी ८६ शाखाआम आज केवल ४ शाखाएँ उपलब्ध हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) तैत्तिरीय (२) मैत्रायणीय (३) कठ और (४) कपिष्ठल।

[क] शुक्लयजुर्वेदका परिचय

महर्षि याज्ञवल्क्यने सूर्यकी आराधनासे प्राप्त शुक्लयजुर्वेदका अपने काण्वादि १५ शिष्याको उपदेश दिया। उन्होंने भी अपने-अपने शिष्योंको प्रवचन किया। शाखापाठके आदि प्रवचनकर्ता याज्ञवल्क्यके १५ शिष्य होनेके कारण तत्तद् नामस १५ शाखाआकी प्रसिद्धि हो गयी। इन १५ शाखाओंके अध्यता सभी लाग वाजसनेयी नामसे भी प्रसिद्ध हैं।

वाजसनेयि-अभिधानका कारण—

शुक्लयजुर्वेदीयोको वाजसनेयि कहे जानेके विषयमें विभिन्न कारण हो सकते हैं। जिनमें दो प्रमुख हेतुओका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

१-काण्वसहिताकी भाष्योपक्रमणिकामें आचार्य सायण 'वाजसनेय' पदकी ऐसी व्याख्या करते है—'अन्नं वै वाज ' इस श्रुतिके अनुसार 'वाज' का अर्थ अन्न है। 'षणु' दाने धातुसे 'सनि' शब्द बनता है। अत 'वाजस्य=अन्नस्य, सनि =दानं यस्य महर्षेरस्ति सोऽयं वाजसनि , तस्य पुत्रो वाजसनेय (वाजसनि+ढक्)'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार जिसने अन्नदान किया है, वह वाजसनि है और उसीके पुत्रका नाम वाजसनेय है। महर्षि याज्ञवल्क्यके पिता अन्नदान करते थे। अत वाजसनेय याज्ञवल्क्यका दूसरा नाम है।

२-दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि सूर्यका नाम वाजसनि भी है। अत सूर्यके छात्र होनेके कारण याज्ञवल्क्यको वाजसनेय कहते हैं।

इस प्रकार 'वाजसनेय' शब्द शुक्लयजुर्वेदके आदिप्रवक्ता महर्षि याज्ञवल्क्यका अपर नाम है। इसी तरह वाजसनि शब्द शुक्लयजुर्वेदका वाचक है तथा इसके अनुयायी लोग वाजसनेयि हैं।

१-माध्यन्दिन-शाखा—

याज्ञवल्क्यके १५ शिष्योमें माध्यन्दिन नामके भी एक शिष्य हैं। उन्होने जिन यजुषोका प्रवचन किया, वह माध्यन्दिन-शाखाके नामसे प्रसिद्ध है। माध्यन्दिन-शाखाके नामकरणके विषयमें दूसरा हेतु यह भी दिया जाता है कि वाजिरूप सूर्यके द्वारा याज्ञवल्क्यने दिनके मध्यकालम यजुष् मन्त्राको प्राप्त किया था इसलिये यह शाखा माध्यन्दिन कहलायी। इन दोना हेतुओमें प्रथम कारण ही उपयुक्त लगता है, क्योंकि अन्य शाखाओकी प्रसिद्धि भी उनके प्रथम प्रवचनकर्ता आचार्योके नामसे ही है।

यह शाखा भारतके विभिन्न प्रान्तोम विशेषत उत्तर भारतमें तथा नेपालके सभी भागोमें अपने वाङ्मय-विपुलताके साथ विस्तारित हो रही है। इस शाखाकी संहिता वाजसनेयि-माध्यन्दिन-सहिताके नामसे प्रसिद्ध है।

माध्यन्दिन-सहिताका विभाग एव चयनक्रम

माध्यन्दिन-सहिताका विभाग अध्यायों तथा कण्डिकाआमें है। इसमे ४० अध्याय हैं। इन अध्यायोमे कुल मिलाकर ३०३ अनुवाक तथा १,९७५ कण्डिकाएँ हैं। कण्डिकाओंम मन्त्रोंका विभाजन है, परतु किस कण्डिकाम कितने मन्त्र हैं, इसका सकेत सहितामें नहीं है। सर्वानुक्रमसूत्र तथा कात्यायन श्रौतसूत्रमें दिये गये मन्त्रविनियोगके आधारपर कण्डिकागत मन्त्रोकी सख्याका पता चलता है। महीधरने उसीके आधारपर कण्डिकागत मन्त्रोका उल्लेख किया है। अनुवाकसूत्राध्यायके अनुसार माध्यन्दिन-सहिताकी कण्डिकाओंका वर्गीकरण अनुवाकामे किया गया है।

प्रतिपाद्य विषय

वाजसनेयि-सहिता नामसे प्रसिद्ध इस सहिताके चालीस अध्यायामे ३९ अध्यायोका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय श्रौत-कर्मकाण्ड ही है। जिसक अन्तर्गत प्रथम एवं द्वितीय अध्यायमें दर्श-पूर्णमास तथा पिण्डपितृयज्ञ, तृतीय अध्यायमें अग्निहोत्र, चातुर्मास्य मन्त्रोका सकलन, ४ से ८ तकमें सोमसस्थाओका वर्णन है। उसम भी सभी सोमयागोंका प्रकृतियाग होनेके कारण अग्निष्टोमके विषयमें विस्तृत वर्णन है। ९वें तथा १०वें अध्यायोमें राजसूय और वाजपेय-यागका वर्णन है। ११ से १८ तकमें अग्निचयनका वर्णन है। इसीके अन्तर्गत १६वेंमे शतरुद्रिय होमके मन्त्र तथा १८वेंमे वसोर्धारा-सम्बद्ध मन्त्र हैं। १९ से २१वे तकमे सौत्रामणी याग २२ से २५ तकमे सार्वभौम क्षत्रिय राजाके द्वारा किये जानेवाले अश्वमेध-यागका वर्णन है। २६ से २९ तकम खिल मन्त्राका सग्रह है। ३०वम पुरुषमेध ३१वेमें पुरुषसूक्त ३२वें तथा ३३व अध्यायोमे सर्वमेध-विषयक मन्त्रोका सकलन है। इसीके अन्तर्गत हिरण्यगर्भ सूक्त भी आता है। ३४वें के आरम्भमें शिवसङ्कल्पोपनिषद् है। इसका वर्णन अत्यन्त हृदयावर्जक है। ३५वेमें पितृमेध तथा ३६ से ३९ तकमें प्रवर्ग्यविषयक मन्त्र हैं। ४० य अध्यायमें ईशावास्योपनिषद् उपदिष्ट है। यह उपनिषद् सभी उपनिषदामें प्रथम परिगणित है।

२-काण्व-शाखा—

शुक्लयजुर्वेदकी दूसरी उपलब्ध शाखा काण्व है।

इसके प्रवचनकर्ता आचार्य कण्व हैं। काण्व-शाखाका प्रचार आजकल महाराष्ट्र कर्नाटक, तमिलनाडु, आन्ध्र तथा उडीसा आदि प्रान्तोंमें है। इसमें उत्कलपाठ और महाराष्ट्रपाठके रूपमें दो पाठ मिलते हैं।

माध्यन्दिन-सहिताकी तरह काण्व-सहितामें भी ४० अध्याय हैं, जो चार दशकोमें विभक्त हैं। प्रत्येक अध्यायमे कई अनुवाक तथा प्रत्येक अनुवाकमें कई मन्त्र हैं। कुल अनुवाकोकी सख्या ३२८ तथा मन्त्रोकी सख्या २,०८६ है। माध्यन्दिन सहिताके सम्पादनमे अनुवाक-विभागको प्रमुखता नहीं दी गयी, किंतु काण्व-सहिताके सम्पादनमें अनुवाक-विभागको प्रधानता दी गयी है। अध्यायगत प्रत्येक अनुवाकोंकी मन्त्र-सख्या अनुवाकके साथ शुरू हाती है और अनुवाकके साथ समाप्त होती है। इसके अतिरिक्त केवल मन्त्रात्मक अध्यायक्रम भी प्रचलित है। इस शाखाका अनुवाकाध्याय पृथक् उपलब्ध है।

काण्व-सहिताका प्रतिपाद्य विषय वही है, जो माध्यन्दिन-संहिताका है। केवल अध्याय या मन्त्रोंके क्रममे दोनोका अन्तर है।

शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थोंमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, विपुलकाय, यज्ञानुष्ठानका सर्वोत्तम प्रतिपादक शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ-ब्राह्मण है। यह ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेदकी काण्व तथा माध्यन्दिन दोनों शाखाओमे उपलब्ध है। विषयकी एकता होनेपर भी उसके वर्णनक्रम तथा अध्यायोकी संख्यामें अन्तर पडता है। माध्यन्दिनीय शतपथ-ब्राह्मणमें १४ काण्ड १०० अध्याय ४३८ ब्राह्मण तथा ७६२४ कण्डिकाएँ हैं। अत सौ अध्यायोके आधारपर 'शतपथ' नाम हुआ है—'शतं पन्थानो यस्य तच्छतपथम्'। यहाँ 'पथि' शब्द अध्यायका वाचक है। यद्यपि काण्व-शाखाके शतपथमें १७ काण्ड, १०४ अध्याय, ४३५ ब्राह्मण तथा ६८०६ कण्डिकाएँ हैं, तथापि वहाँ 'छत्रिन्याय' से 'शतपथ' की सज्ञा अन्वर्थ हो जाती है। माध्यन्दिन शतपथमे ६८ प्रपाठक हैं, किंतु काण्व-शतपथमें प्रपाठक नहीं हैं।

विषयक्रम

माध्यन्दिन शतपथमें प्रथम काण्डसे आरम्भ कर नवम काण्डतक पिण्डपितृयज्ञको छोडकर विषयोका क्रम माध्यन्दिन सहिताके अनुसार ही है। पिण्डपितृयज्ञका वर्णन सहितामें दर्शपूर्णमासके अनन्तर है, परतु ब्राह्मणमें आधानके अनन्तर। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट सभी काण्डोमें सहिताका क्रम अङ्गीकृत किया है। दोनों शतपथोंके आरम्भमें ही कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होता है। माध्यन्दिन शतपथके प्रथम काण्डका विषय (दर्शपूर्णमास) काण्वके द्वितीय काण्डमें है और द्वितीय काण्डका विषय काण्वके प्रथम काण्डमें समाविष्ट है। अन्यत्र विषय उतने ही हैं, परतु उनका क्रम दोनामे भिन्न-भिन्न है।

वैशिष्ट्य

शतपथ-ब्राह्मणमें यज्ञोंके नाना रूपो तथा विविध अनुष्ठानोका जिस असाधारण परिपूर्णताके साथ निरूपण है, वह अन्य ब्राह्मणोमें नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टिसे भी यज्ञोंके स्वरूपनिरूपणका श्रेय इस ब्राह्मणको प्राप्त है। शतपथने यज्ञ-मीमासाका प्रारम्भ हविर्यागोसे किया है, जिनका आधार अग्निहोत्र है। अग्निहोत्रीको अग्नि मृत्युके पश्चात् भी नष्ट नहीं करता अपितु माता-पिताके समान नवीन जन्म देता है। अग्निहोत्रीके लिये अग्नि स्वर्ग ले जानेवाली नौकाके सदृश है—'नौर्ह वा एषा स्वर्ग्या। यदग्निहोत्रम्' (श० ब्रा० २। ३। ३। १५)। शतपथने यज्ञको जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण कृत्य बतलाया है—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (१। ७। ३। ५)। तदनुसार जगत् अग्नीषोमात्मक है। सोम अन्न है और अग्नि अन्नाद। अग्नीरूपी अन्नाद सोमरूपी अन्नकी आहुति ग्रहण करता है। यही क्रिया जगत्में सतत विद्यमान है। इस ब्राह्मणमे यज्ञकी प्रतीकात्मक व्याख्याएँ भी हैं। एक रूपकके अनुसार यज्ञ पुरुष है, हविर्दान उसका सिर, आहवनीय मुख आग्नीध्रीय तथा मार्जालीय दोनों बाहुएँ हैं। इस प्रकार यज्ञका दैविक स्वरूप निर्धारित किया गया है। (श० ब्रा० ३।५।३।१; ३।५।४।१)। यज्ञके नामकरणका हेतु उसका विस्तृत किया जाना है—'यद्देनं तन्यते तदेनं जनयन्ति स तायमानो जायते' (३।९।४।२३)।

इस प्रकार यज्ञिय अनुष्ठानोंके छोटे-से-छोटे विधि-विधानोका विशद वर्णन इन क्रियाओंके लिये हेतुका निर्देश ब्राह्मणोचित आख्यायिकाओंका यथास्थान निवेश

तथा उनका सरस विवेचन इस ब्राह्मणके उत्कर्ष बतलानेके लिये पर्याप्त कारण माने जा सकते हैं।

शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यक

अधिकाश आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थोंके अन्तिम भाग हैं इसलिये प्राय ब्राह्मण-ग्रन्थोके प्रवचनकर्ता ही आरण्यकाके भी प्रवचनकर्ता हैं। अत शुक्लयजुर्वेदीय 'बृहदारण्यक' के प्रवचनकर्ता आचार्य भी महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ-ब्राह्मण माध्यन्दिन शाखाका १४ वाँ काण्ड तथा काण्व-शाखाका १७ वाँ काण्ड शुक्लयजुर्वेदका आरण्यक ग्रन्थ है। विषयकी दृष्टिसे आरण्यक और उपनिषद्में साम्य होनेसे बृहदारण्यक आदि आरण्यक ग्रन्थाको उपनिषद् भी माना जाता है, किंतु वर्ण्य विषयकी किञ्चित् समानता होनेपर भी दोनोका पार्थक्य लक्षित होता है। आरण्यकका मुख्य विषय प्राणविद्या तथा प्रतीकोपासना है। इसके विपरीत उपनिषद्का वर्ण्य विषय निर्गुण ब्रह्मके स्वरूप तथा उसकी प्राप्तिका विवेचन है। अत विषयभेदके अनुसार दोनोमें भेद है, किंतु दोनो रहस्यात्मक विद्या होनेके कारण समान भी हैं।

आरण्यकका मुख्य विषय यज्ञ नहीं अपितु यागोके भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्योकी मीमासा है। अत शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यक भी इसीका प्रतिपादन करता है।

उपनिषद्

मुक्तिकोपनिषद् (शुक्लयजुर्वेदीय)-के अनुसार शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध १९ उपनिषद् हैं। जिनमे प्रमुख ईशावास्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् हैं।

शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन श्रौतसूत्र

शुक्लयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रोमे आजकल उपलब्ध एकमात्र श्रौतसूत्रका नाम 'कात्यायन श्रौतसूत्र' है। यह ग्रन्थ श्रौतसूत्रोमे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। श्रौतसूत्रके स्वरूपको जाननेके लिये कात्यायन श्रौतसूत्र प्रतिनिधिमूलक ग्रन्थ है। श्रौतसूत्रोका मुख्य उद्देश्य श्रौतयागोका सक्षिप्त सुव्यवस्थित क्रमबद्ध प्रतिपादन है। इसी उद्देश्यको ध्यानमे रखकर महर्षि कात्यायनने ब्राह्मणामें उपलब्ध मूल सामग्रीका कहीं विस्तार तथा कहीं संक्षेप कर उन्हे बोधगम्य तथा सरल बनानेका सफल प्रयास किया है।

चरणव्यूह क्रम २ के अनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध १५ शाखाओके लिये प्रवृत्त है। इन शाखाआमें भी विशेषत काण्व और माध्यन्दिन दो ही शाखासे सम्बद्ध है। काण्व और माध्यन्दिन दो शाखाओंमें जो क्रम है, उसी क्रमको ग्रहण करके यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

प्रतिपाद्य विषय

कात्यायन श्रौतसूत्र २६ अध्यायामे विभक्त है और इसमें अध्यायाकी अवान्तर कण्डिकाएँ भी हैं। प्रथम अध्यायमे कात्यायन श्रौतसूत्रमे प्रतिपादित पदार्थोंके ज्ञानके लिये पारिभाषिक विषयोका प्रतिपादन है। द्वितीय एव तृतीय अध्यायामें दर्शपूर्णमासका साङ्गोपाङ्ग निरूपण चतुर्थ अध्यायमे पिण्डपितृयज्ञ, वत्सापाकरण, विकृतियागामें दर्शपूर्णमासाका अतिदेश, दाक्षायण आग्रयणेष्टि, अन्वारम्भणेष्टि, अग्न्याधान पुनराधान और अग्निहोत्रका निरूपण है। ५वेंमें चातुर्मास्य याग मित्रविन्दष्टि ६ठेमे प्रतिवर्षमें अनुष्ठेय निरूढपशुबन्ध ७ से११ तक सोमयाग, १२वमें द्वादशाह, १३वमे गवामयन, १४वेंमे वाजपेय १५वेमें राजसूय १६ से १८ तक अग्निचयन १९वेमे सौत्रामणी २०वेंमे अश्वमेध, २१वेमे पुरुषमेध सर्वमेध पितृमेध २२वमें एकाह २३वेंमें अहीनयाग, २४वेमें सत्रयाग, २५वेंम प्रायश्चित्त और २६वेंमें प्रवर्ग्यका प्रतिपादन है।

शुक्लयजुर्वेदीय कुछ ग्रन्थोका विवरण

शुक्लयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रोमें आजकल उपलब्ध तथा विशेषरूपमें प्रचलित 'पारस्कर गृह्यसूत्र' ही है। इसके अतिरिक्त 'बैजवाप गृह्यसूत्र' का उल्लेख भी कहीं-कहीं मिलता है। पारस्कर गृह्यसूत्र तीन काण्डाम विभक्त है। प्रथम काण्डमे अवसथ्याधान विवाह और गर्भाधानादिका वर्णन द्वितीय काण्डमें चूडाकरण उपनयन समावर्तन पञ्चमहायज्ञ श्रवणाकर्म सीतायज्ञादिका विवरण तथा तृतीय काण्डम अवकीर्णप्रायश्चित्तादिका विधान है। इसमें कर्क जयराम हरिहर, गदाधर तथा विश्वनाथके पाँच भाष्य उपलब्ध हैं।

महर्षि कात्यायनद्वारा सकलित कात्यायन श्राद्धसूत्र' (कातीय श्राद्धसूत्र) श्राद्ध-विषयका वर्णन करता है। इसमें ९ कण्डिकाएँ हैं। इसम कर्क, गदाधर तथा कृष्ण मिश्रके तीन भाष्य (टीका) उपलब्ध हैं। इसी तरह कात्यायनरचित

'शुल्बसूत्र' भी काशीसे प्रकाशित हुआ है, जिसमें सात कण्डिकाएँ हैं। शुक्लयजुर्वेदका प्रातिशाख्य 'वाजसनेयि-प्रातिशाख्य' नामसे प्रसिद्ध है। इसके रचयिता महर्षि कात्यायन हैं। ८ अध्याय तथा ७३४ सूत्रोमे विभक्त वाजसनेयि-प्रातिशाख्यका मुख्य विषय वर्ण स्वर, संधि पदपाठ और क्रमपाठका विचार करना है। इस प्रातिशाख्यके परिशिष्टके रूपमें दो सूत्र उपलब्ध हाते हैं—(१) प्रतिज्ञासूत्र और (२) भाषिक सूत्र। शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध स्वरादि-सम्बन्धी नियमोका विवरण प्रतिज्ञासूत्रमें दिया गया है। भाषिक सूत्रमे प्रधानतया शतपथ-ब्राह्मणके स्वर-संचारका विधान है।

शिक्षा-विषयक ग्रन्थोंम शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध कई शिक्षाएँ हैं, जिनमें याज्ञवल्क्य शिक्षा अधिक प्रचलित है। परिशिष्टोंमें शुक्लयजुर्वेदके १८ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं।

[ख] कृष्णयजुर्वेदका परिचय

कृष्णयजुर्वेदके ८६ शाखाओमे आज केवल ४ शाखाएँ उपलब्ध हैं—(१) तैत्तिरीय शाखा (२) मैत्रायणी शाखा, (३) कठशाखा और (४) कपिष्ठल शाखा। इनका सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करनका प्रयास किया जा रहा है—

१-तैत्तिरीय शाखा—

शुक्लकृष्ण-यजुर्वोके भेद-निरूपणमें याज्ञवल्क्यके वमन किये हुए यजुपाको वैशम्पायनके अन्य शिष्योंके तित्तिरि-रूप धारण करके वान्त यजुर्षोका भक्षण करनेसे उन यजुपाका कृष्णत्व हो गया—ऐसा जो इतिवृत्त सम्प्रति उपलब्ध होता है वह सर्वांशत वैदिक लोगकि लिये रुचिकर नहीं हो सकता है क्योंकि इतिवृत्तोमें रूपकत्व सम्भव होनेसे विद्याका मूर्त-रूपसे वमन तथा वान्तग्रहण लोकसम्मत नहीं होनसे और सहिताआम ऐसा इतिवृत्त उपलब्ध नहीं होनसे उक्त हतु अपर्याप्त है। अनन्यरूप ब्राह्मण-आरण्यकादि अनादि वेदभागामें तैत्तिरीय सज्ञा ही उपलब्ध होनेसे उन इतिवृत्तोका परिकालिकत्व स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा वेदाके अनादित्वका हनन हो जायगा। इसलिये तैत्तिरीय अभिधानम अन्य हेतुओंका अवलम्बन करना पडेगा। 'वदशाखापर्यालोचनम्' में इससे सम्बन्धित निम्न हतुआको उपस्थापित किया गया है—

[१] कृष्णयजुर्वेदमें मन्त्र ब्राह्मण और आरण्यक एक साथ ही पढे जाते हैं। अत 'त्रीणि मन्त्रब्राह्मणारण्यकानि यस्मिन् वेदशब्दराशौ सह तरन्ति पठ्यन्ते, असौ तित्तिरि' ऐसी व्युत्पत्ति कर सकते हैं। शौनकीय चरणव्यूह परिशिष्ट—२ म यजुर्वेदका लक्षण बताते हुए इसी भावको स्पष्ट किया गया है—

त्रिगुण पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयो सह।
यजुर्वेद स विज्ञेय शेषा शाखान्तरा स्मृता ॥

—इस कथनका प्राय यह अभिप्राय लिया जाता है कि जहाँ मन्त्र और ब्राह्मणका एक साथ त्रिगुण पाठ (सहिता-पद-क्रम) किया जाता है, उसे यजुर्वेद जानना चाहिये।

[२] तैत्तिरीयक मन्त्र और ब्राह्मणका साकर्य स्पष्ट ही है। अत तीन मन्त्र ब्राह्मण और आरण्यक जिस शाखा या वेदभागमें छिपे हुएकी तरह सम्मिश्रित-रूपमं अन्तर्हित हैं वह वेदभाग या शाखा तैत्तिरीयके रूपमे व्यवहृत किया जाता है।

[३] तीसरा मान्य हेतु यह भी हो सकता है कि तित्तिरि नामक आचार्यके द्वारा प्रवचन किये हुए यजुषो तथा उनके अनुयायी लोगाको तैत्तिरीय ऐसा नाम दिया है।

तैत्तिरीय सहिता—

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिताका प्रसारदेश दक्षिण भारत है। कुछ महाराष्ट्र प्रान्त तथा समग्र आन्ध्र-द्रविड देश इसी शाखाका अनुयायी है। इस शाखाने अपनी सहिता ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र—इन सभीको बड़ी तत्परतासे अक्षुण्ण बनाये रखा है।

इसके स्वरूपके विषयम विद्वानोंम मतैक्य नहीं है। तैत्तिरीय सहितामें सारस्वत तथा आर्षेयके रूपमं दो पाठभेद हैं। आज इस शाखाकी जो सहिता उपलब्ध है यह सारस्वत-परम्पराकी मानी जाती है जिसमं मन्त्र तथा ब्राह्मणका पूर्ण साकर्य दिखायी पड़ता है। इम सारस्वत-परम्पराम मन्त्र-ब्राह्मणका सांकर्य होनपर भी तैत्तिरीय सहिता तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक अलग-अलग छप हैं। इस परम्परामें उपलब्ध तैत्तिरीय संहितामें कुल ७ काण्ड ४४ प्रपाठक ६५१ अनुवाक हैं। चरणव्यूहमें ४४ प्रपाठकाक स्थानपर ४४ प्रश्नाका उल्लेख किया गया

है। इस प्रकार यहाँ प्रपाठक और प्रश्न—इन दोनोको एक ही समझना चाहिये।

तैत्तिरीय-परम्परामें बौधायन, आपस्तम्ब सत्याषाढ आदि आचार्योंके द्वारा तैत्तिरीय संहिताके आर्षेय पाठक्रमका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इस पाठक्रमके अनुसार संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक—ये तीनो अलग-अलग ग्रन्थ नहीं, अपितु तीनों मिलकर तैत्तिरीय-यजुर्वेद कहलाते हैं। काण्डानुक्रमणीके अनुसार यह पाँच काण्डोमें विभक्त है—(१) प्राजापत्य-काण्ड, (२) सौम्य-काण्ड (३) आग्नेय-काण्ड, (४) वैश्वदेव-काण्ड और (५) स्वायम्भुव-काण्ड।

२-मैत्रायणीय शाखा—

कृष्णयजुर्वेदकी शाखाओमें मैत्रायणीय शाखा अन्यतम है। इसकी मैत्रायणीय संहिता है। 'मित्रयु' नामक आचार्यके प्रवचन करनेके कारण इसका नाम मैत्रायणी हो गया होगा। पाणिनिने अपने गणपाठमे मैत्रायणका उल्लेख किया है। हरिवंश पुराणमें इस प्रकारका उल्लेख मिलता है—

मैत्रायणी तत शाखा मैत्रेयास्तु तत स्मृता ॥

मैत्रायणी संहिता गद्य-पद्यात्मक है। अन्य कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओंके समान इसमे भी मन्त्र तथा ब्राह्मणोका सम्मिश्रण है। यह संहिता क्रमश प्रथम (आदिम), द्वितीय (मध्यम) तृतीय (उपरि) और चतुर्थ (खिल) इस प्रकार चार काण्डोंमें विभक्त है। प्रथममे ११ प्रपाठक मध्यममें १३ प्रपाठक, उपरिमें १६ तथा खिलकाण्डमे १४ प्रपाठक हैं। इस प्रकार कुल प्रपाठक-संख्या ५४ है और प्रत्येक प्रपाठक अनुवाको तथा कण्डिकाओमें विभक्त है। कुल मिलाकर प्रथम काण्डमे ११ प्रपाठक १६५ अनुवाक और ६९५ कण्डिकाएँ हैं। द्वितीय काण्डमे १३ प्रपाठक १५१ अनुवाक ७८३ कण्डिका तथा तृतीय काण्डमे १६ प्रपाठक १८० अनुवाक और ४८५ कण्डिका तथा चतुर्थ काण्डमे १४ प्रपाठक १५८ अनुवाक १ १८१ कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार पूरी संहितामे ५४ प्रपाठक ६५४ अनुवाक और ३ १४४ कण्डिकाएँ हैं।

इस शाखाके प्रतिपाद्य विषयोंमे मुख्यत दर्शपूर्णमासेष्टि ग्रहग्रहण अग्न्युपस्थान अग्न्याधान पुनराधान अग्निहोत्र चातुर्मास्य वाजपेय काम्येष्टियाँ, राजसूय अग्निचिति, सौत्रामणी तथा अश्वमेधका विवेचन है। कृष्णयजुर्वेदकी अन्य शाखाओकी तरह इसमें भी यज्ञोके विवेचनमे व्यवस्थित क्रम नही है। मैत्रायणी संहितामे कुछ ऐसे विषयोका विवेचन है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणके लिये गोनामिक प्रकरण (मै० सं० ४। २)-में गायके विभिन्न नामोका उल्लेख करते हुए उसकी महिमाका विवेचन किया गया है।

३-कठशाखा—

कृष्णयजुर्वेदकी उपलब्ध शाखाओमे कठशाखा भी एक है। इसका प्रवचन कठ नामक आचार्यने किया है। इसी कारण इस शाखाकी संहिताका नाम 'काठक संहिता' है। कृष्णयजुर्वेदकी २७ मुख्य शाखाओमे काठक संहिता (कठशाखा) भी अन्यतम है। पतञ्जलिके कथनानुसार कठशाखाका प्रचार तथा पठन-पाठन प्रत्येक ग्राममें था—ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते (महाभाष्य)। जिससे प्राचीन कालमें इस शाखाके विपुल प्रचारका पूर्ण परिचय प्राप्त होता है, परंतु आजकल इसके अध्येताओंकी संख्या तथा इसके प्रचारवाले प्रान्तका भी पता नहीं चलता। कठ ऋषिका विशेष इतिवृत्त ब्रह्मपुराणके अन्तर्गत गोदा-माहात्म्यके ५० वें अध्यायमे वर्णित है। जिसके अनुसार काठकोंका मूल स्थान गोदा नामक नदीका दक्षिणाग्नेय तटवर्ती देश था।

काठक संहिताका स्वरूप मन्त्रब्राह्मणोभयात्मक है। यह संहिता इठिमिका मध्यमिका ओरिमिका, याज्यानुवाक्या तथा अश्वमेधाद्यनुवचन—इन पाँच खण्डोमें विभक्त है। इन खण्डोके टुकडोका नाम 'स्थानक' है। कुल स्थानकोंकी संख्या ४०, अनुवाचनोकी १३ अनुवाकोकी ८४३ मन्त्रोकी ३ ०९१ तथा मन्त्रब्राह्मणोकी सम्मिलित संख्या १८ हजार है।

४—कपिष्ठल शाखा—

कपिष्ठल ऋषिके द्वारा प्रोक्त यजुषोका नाम कपिष्ठल है। कपिष्ठलका नाम पाणिनिने 'कपिष्ठलो गोत्रे (८। ३। ९१) सूत्रमे किया है। इसमें 'कपिष्ठल' शब्द गोत्रवाची है। सम्भवत कपिष्ठल ऋषि ही इस गोत्रके प्रवर्तक थे। निरुक्तके टीकाकार दुर्गाचार्यने अपनेको कपिष्ठल वासिष्ठ बताया है—'अहं च कपिष्ठलो वासिष्ठ (निरुक्त-टीका)।

'शुल्वसूत्र' भी काशीसे प्रकाशित हुआ है, जिसमें सात कण्डिकाएँ हैं। शुक्लयजुर्वेदका प्रातिशाख्य 'वाजसनेयि-प्रातिशाख्य' नामसे प्रसिद्ध है। इसके रचयिता महर्षि कात्यायन हैं। ८ अध्याय तथा ७३४ सूत्रामे विभक्त वाजसनेयि-प्रातिशाख्यका मुख्य विषय वर्ण स्वर, सधि, पदपाठ और क्रमपाठका विचार करना है। इस प्रातिशाख्यके परिशिष्टके रूपमें दो सूत्र उपलब्ध होते हैं—(१) प्रतिज्ञासूत्र और (२) भाषिक सूत्र। शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध स्वरादि-सम्बन्धी नियमोका विवरण प्रतिज्ञासूत्रमें दिया गया है। भाषिक सूत्रमें प्रधानतया शतपथ-ब्राह्मणके स्वर-सचारका विधान है।

शिक्षा-विषयक ग्रन्थामें शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध कई शिक्षाएँ हैं, जिनमें याज्ञवल्क्य शिक्षा अधिक प्रचलित है। परिशिष्टोंमें शुक्लयजुर्वेदके १८ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं।

[ख] कृष्णयजुर्वेदका परिचय

कृष्णयजुर्वेदके ८६ शाखाआम आज केवल ४ शाखाएँ उपलब्ध हैं—(१) तैत्तिरीय शाखा, (२) मैत्रायणी शाखा (३) कठशाखा और (४) कपिष्ठल शाखा। इनका सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जा रहा है—

१-तैत्तिरीय शाखा—

शुक्लकृष्ण-यजुषकि भेद-निरूपणमें याज्ञवल्क्यके वमन किये हुए यजुषोका वैशम्पायनके अन्य शिष्याके तित्तिरि-रूप धारण करके वान्त यजुषाका भक्षण करनेसे उन यजुषोका कृष्णत्व हो गया—ऐसा जो इतिवृत्त सम्प्रति उपलब्ध होता है वह सर्वांशत वैदिक लोगोके लिये रुचिकर नहीं हो सकता है, क्योंकि इतिवृत्तोमें रूपकत्व सम्भव होनेसे, विद्याका मूर्त-रूपसे वमन तथा वान्तग्रहण लोकसम्मत नहीं हानसे और सहिताआमें ऐसा इतिवृत्त उपलब्ध नहीं होनेसे उक्त हेतु अपर्याप्त है। अनन्यरूप ब्राह्मण-आरण्यकादि अनादि वदभागोंमें तैत्तिरीय सज्ञा ही उपलब्ध होनेसे उन इतिवृत्तोका परिकालिकत्व स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा वेदाके अनादित्वका हनन हा जायगा। इसलिये तैत्तिरीय अभिधानमें अन्य हेतुआका अवलम्बन करना पडेगा। 'वदशाखापर्यालोचनम्' में इससे सम्बन्धित निम्न हेतुआको उपस्थापित किया गया है—

[१] कृष्णयजुर्वेदमें मन्त्र ब्राह्मण और आरण्यक एक साथ ही पढे जाते हैं। अत 'त्रीणि मन्त्रब्राह्मणारण्यकानि यस्मिन् वेदशब्दराशौ सह तरन्ति पठ्यन्ते, असौ तित्तिरि.' एसी व्युत्पत्ति कर सकते हैं। शौनकीय चरणव्यूह परिशिष्ट—२ म यजुर्वेदका लक्षण बताते हुए इसी भावको स्पष्ट किया गया है—

> त्रिगुण पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयो सह।
> यजुर्वेद स विज्ञेय शेषा शाखान्तरा स्मृता॥

—इस कथनका प्राय यह अभिप्राय लिया जाता है कि जहाँ मन्त्र और ब्राह्मणका एक साथ त्रिगुण पाठ (सहिता-पद-क्रम) किया जाता है, उसे यजुर्वेद जानना चाहिये।

[२] तैत्तिरीयक मन्त्र और ब्राह्मणका साकर्य स्पष्ट ही है। अत तीन मन्त्र ब्राह्मण और आरण्यक जिस शाखा या वेदभागमें छिपे हुएकी तरह सम्मिश्रित-रूपमें अन्तर्हित हैं, वह वेदभाग या शाखा तैत्तिरीयके रूपमें व्यवहृत किया जाता है।

[३] तीसरा मान्य हतु यह भी हो सकता है कि तित्तिरि नामक आचार्यके द्वारा प्रवचन किये हुए यजुषो तथा उनके अनुयायी लोगोको तैत्तिरीय ऐसा नाम दिया है।

तैत्तिरीय सहिता—

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिताका प्रसारदेश दक्षिण भारत है। कुछ महाराष्ट्र प्रान्त तथा समग्र आन्ध्र-द्रविड देश इसी शाखाका अनुयायी है। इस शाखाने अपनी सहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र—इन सभीको बडी तत्परतासे अक्षुण्ण बनाये रखा है।

इसके स्वरूपके विषयम विद्वानाम मतैक्य नहीं है। तैत्तिरीय सहितामें सारस्वत तथा आर्षेयके रूपमे दो पाठभेद हैं। आज इस शाखाकी जो सहिता उपलब्ध है, वह सारस्वत-परम्पराकी मानी जाती है जिसमें मन्त्र तथा ब्राह्मणका पूर्ण साकर्य दिखायी पड़ता है। इस सारस्वत-परम्परामें मन्त्र-ब्राह्मणका साकर्य होनेपर भी तैत्तिरीय सहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक अलग अलग छपे हैं। इस परम्परामें उपलब्ध तैत्तिरीय सहितामें कुल ७ काण्ड ४४ प्रपाठक ६५१ अनुवाक हैं। चरणव्यूहमें ४४ प्रपाठकाके स्थानपर ४४ प्रश्नाका उल्लेख किया गया

है। इस प्रकार यहाँ प्रपाठक और प्रश्न—इन दोनोका एक ही समझना चाहिये।

तैत्तिरीय-परम्परामें बौधायन आपस्तम्ब, सत्यापाढ आदि आचार्योंके द्वारा तैत्तिरीय संहिताके आर्षेय पाठक्रमका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इस पाठक्रमके अनुसार संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक—ये तीनो अलग-अलग ग्रन्थ नहीं, अपितु तीनों मिलकर तैत्तिरीय-यजुर्वेद कहलाते हैं। काण्डानुक्रमणीके अनुसार यह पाँच काण्डोमें विभक्त है—(१) प्राजापत्य-काण्ड (२) सौम्य-काण्ड (३) आग्नेय-काण्ड (४) वैश्वदेव-काण्ड और (५) स्वायम्भुव-काण्ड।

२-मैत्रायणीय शाखा—

कृष्णयजुर्वेदकी शाखाओंमें मैत्रायणीय शाखा अन्यतम है। इसकी मैत्रायणीय संहिता है। 'मित्रयु' नामक आचार्यके प्रवचन करनेके कारण इसका नाम मैत्रायणी हो गया होगा। पाणिनिने अपने गणपाठमें मैत्रायणका उल्लेख किया है। हरिवंश पुराणमे इस प्रकारका उल्लेख मिलता है—

मैत्रायणी तत शाखा मैत्रेयास्तु तत स्मृता ॥

मैत्रायणी संहिता गद्य-पद्यात्मक है। अन्य कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओंके समान इसमे भी मन्त्र तथा ब्राह्मणोका सम्मिश्रण है। यह संहिता क्रमश प्रथम (आदिम) द्वितीय (मध्यम), तृतीय (उपरि) और चतुर्थ (खिल) इस प्रकार चार काण्डोमें विभक्त है। प्रथममें ११ प्रपाठक मध्यममें १३ प्रपाठक उपरिमे १६ तथा खिलकाण्डमे १४ प्रपाठक हैं। इस प्रकार कुल प्रपाठक-संख्या ५४ है और प्रत्येक प्रपाठक अनुवाकों तथा कण्डिकाओमे विभक्त है। कुल मिलाकर प्रथम काण्डमें ११ प्रपाठक, १६५ अनुवाक और ६९५ कण्डिकाएँ हैं। द्वितीय काण्डमें १३ प्रपाठक १५१ अनुवाक ७८३ कण्डिका तथा तृतीय काण्डमें १६ प्रपाठक १८० अनुवाक और ४८५ कण्डिका तथा चतुर्थ काण्डमें १४ प्रपाठक १५८ अनुवाक १ १८१ कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार पूरी संहितामे ५४ प्रपाठक ६५४ अनुवाक और ३ १४४ कण्डिकाएँ हैं।

इस शाखाके प्रतिपाद्य विषयोमें मुख्यत दर्शपूर्ण-मासेष्टि ग्रहग्रहण अग्न्युपस्थान अग्न्याधान पुनराधान अग्निहोत्र चातुर्मास्य, वाजपेय काम्येष्टियाँ, राजसूय अग्निचिति, सौत्रामणी तथा अश्वमेधका विवेचन है। कृष्णयजुर्वेदकी अन्य शाखाओकी तरह इसमे भी यज्ञोके विवेचनमे व्यवस्थित क्रम नहा है। मैत्रायणी संहितामें कुछ ऐसे विषयोका विवेचन है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणके लिये गोनामिक प्रकरण (मैं० सं० ४। २)-में गायके विभिन्न नामोका उल्लेख करते हुए उसकी महिमाका विवेचन किया गया है।

३-कठशाखा—

कृष्णयजुर्वेदकी उपलब्ध शाखाओमे कठशाखा भी एक है। इसका प्रवचन कठ नामक आचार्यने किया है। इसी कारण इस शाखाकी संहिताका नाम 'काठक संहिता' है। कृष्णयजुर्वेदकी २७ मुख्य शाखाओमें काठक संहिता (कठशाखा) भी अन्यतम है। पतञ्जलिके कथनानुसार कठशाखाका प्रचार तथा पठन-पाठन प्रत्येक ग्राममे था—ग्रामे ग्रामे काठक कालापकं च प्रोच्यते (महाभाष्य)। जिससे प्राचीन कालमें इस शाखाके विपुल प्रचारका पूर्ण परिचय प्राप्त होता है, परतु आजकल इसके अध्येताओकी संख्या तथा इसके प्रचारवाले प्रान्तका भी पता नहीं चलता। कठ ऋषिका विशेष इतिवृत्त ब्रह्मपुराणके अन्तर्गत गोदा-माहात्म्यके ५० व अध्यायमें वर्णित है। जिसके अनुसार काठकोंका मूल स्थान गोदा नामक नदीका दक्षिणाग्नेय तटवर्ती देश था।

काठक संहिताका स्वरूप मन्त्रब्राह्मणोभयात्मक है। यह संहिता इठिमिका मध्यमिका ओरिमिका याज्यानुवाक्या तथा अश्वमेधाद्यनुवचन—इन पाँच खण्डोमे विभक्त है। इन खण्डोंके टुकडोका नाम 'स्थानक' है। कुल स्थानकोकी संख्या ४०, अनुवाचनोकी १३ अनुवाकोकी ८४३ मन्त्रोकी ३,०९१ तथा मन्त्रब्राह्मणोकी सम्मिलित संख्या १८ हजार है।

४—कपिष्ठल शाखा—

कपिष्ठल ऋषिके द्वारा प्रोक्त यजुषोका नाम कपिष्ठल है। कपिष्ठलका नाम पाणिनिने 'कपिष्ठलो गोत्रे' (८। ३। ९१) सूत्रमें किया है। इसमें 'कपिष्ठल' शब्द गोत्रवाची है। सम्भवत कपिष्ठल ऋषि ही इस गोत्रके प्रवर्तक थे। निरुक्तके टीकाकार दुर्गाचार्यने अपनेको कपिष्ठल वासिष्ठ बताया है— अहं च कपिष्ठलो वाशिष्ठ (निरुक्त-टीका)।

कपिष्ठल संहिता आज पूर्णरूपसे उपलब्ध नहीं है। अत उसके स्वरूपके विषयमे जानकारी नहीं दी जा सकती। आचार्य बलदेव उपाध्यायकी पुस्तक 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' के अनुसार वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयके 'सरस्वतीभवन' पुस्तकालयमें इसकी एक ही अधूरी प्रति उपलब्ध होती है। इस प्रतिके आधारपर डॉ० श्रीरघुवीरजीने इसका एक सुन्दर संस्करण लाहौरसे प्रकाशित किया है। श्रीउपाध्यायके अनुसार काठक संहितासे इस संहितामें अनेक बातोंमें पार्थक्य तथा वैभिन्य है। इसकी मूल संहिता काठक संहिताके समान होनेपर भी उसकी स्वराङ्कन-पद्धति ऋग्वेदसे मिलती है। ऋग्वेदके समान ही यह अष्टक तथा अध्यायोंमें विभक्त है।

कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण

कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओमे अद्यावधि पूर्णरूपसे उपलब्ध तथा अधिक महत्त्वशाली एकमात्र ब्राह्मण 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' है। 'काठक ब्राह्मण' का भी नाम सुना जाता है, परतु वह उपलब्ध नहीं है। शतपथ-ब्राह्मणके सदृश तैत्तिरीय ब्राह्मण भी सस्वर है।

विभाग

तैत्तिरीय ब्राह्मणका विभाग तीन भाग या काण्डोंमें हुआ है। इसीको 'अष्टक' भी कहते हैं। प्रथम दो काण्डोंमें आठ-आठ अध्याय अथवा प्रपाठक हैं। तृतीय काण्डमे बारह अध्याय या प्रपाठक हैं। भट्टभास्करने इन्हें 'प्रश्न' भी कहा है। इसका एक अवान्तर विभाजन अनुवाकोका भी है, जिनकी सख्या ३५३ है।

प्रतिपाद्य

आचार्य सायणके अनुसार यजुर्वेदसे यज्ञशरीरकी निष्पत्ति होती है। अत यजुर्वेदीय होनेके कारण तैत्तिरीय ब्राह्मणमें अध्वर्युकर्तृक सम्पूर्ण क्रियाकलापोका वर्णन विस्तारसे हुआ है। संक्षेपमे इसके प्रतिपाद्य विषयोंमें अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय आदि यागोका वर्णन प्रथम काण्डमें है। द्वितीय काण्डमे अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणी तथा बृहस्पतिसव प्रभृति विभिन्न सवोका निरूपण है। तृतीय काण्डमें नक्षत्रेष्टियों तथा पुरुषमेधसे सम्बद्ध विवरण है।

उपर्युक्त विषयोके अतिरिक्त भरद्वाज नचिकेता, प्रह्लाद और अगस्त्य-विषयक आख्यायिकाएँ, सत्यभाषण, वाणीकी मधुरता, तपोमय जीवन, अतिथिसत्कार, सगठनशीलता, सम्पत्तिका परोपकार-हेतु विनियोग ब्रह्मचर्य-पालन आदि आचार-दर्शन तथा सृष्टिविषयक वर्णन इसका उल्लेख्य पक्ष है।

कृष्णयजुर्वेदीय अन्य उपलब्ध प्रमुख ग्रन्थ

कल्प—कृष्णयजुर्वेदीय कल्पग्रन्थोंमें बौधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, मानव, वैखानस भारद्वाज और वाराह—इन सात श्रौतसूत्रो तथा बौधायन आपस्तम्ब, सत्याषाढ, मानव और काठक—इन पाँच गृह्यसूत्रो एव बौधायन आपस्तम्ब और सत्याषाढ—इन तीन धर्मसूत्रो तथा बौधायन, आपस्तम्ब और मानव—इन तीन शुल्बसूत्रोंकी प्रभूत सख्या उपलब्ध होती है।

शिक्षा-ग्रन्थ—कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षा-ग्रन्थोंमें तैत्तिरीय शाखासे सम्बद्ध 'भरद्वाज-शिक्षा' उपलब्ध है। यह 'संहिता-शिक्षा' के नामसे भी व्यवहृत है। दूसरी 'व्यासशिक्षा' भी कृष्णयजुर्वेदसे सम्बद्ध है। प्रातिशाख्योंमें 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' उपलब्ध है।

आरण्यक—आरण्यक ग्रन्थोंमे 'तैत्तिरीय आरण्यक' प्रसिद्ध है। उपनिषदोंमें मुक्तिकोपनिषद्के अनुसार कृष्णयजुर्वेदसे सम्बद्ध ३२ उपनिषद् हैं। इनमे तैत्तिरीय उपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद कठोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् प्रमुख माने जाते हैं।

~~~

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

(ऋक्० १०। ११७। ३)

वही दानी है जो अन्नके इच्छुक एव घर आये हुए निर्धन याचकको दान देता है। विपत्तिके समय इसके पास पर्याप्त धन होता है और अन्य विषम परिस्थितियोमे (अन्य लोग) इसके मित्र हो जाते हैं।

~~~

सामवेदका परिचय एवं वैशिष्ट्य

पूर्वीय साहित्य, ज्ञान-विज्ञान और मानव-सभ्यताओंका अजस्र स्रोत वेद है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी हजारसे भी अधिक शाखाएँ महाभाष्यमें गिनायी गयी हैं। जिनमेंसे १० से अधिक शाखाएँ तो अभी भी मिलती हैं। माना गया है कि पहले समग्र वेद एक ही भागमें आबद्ध था। सभी लोग समस्त वेद ग्रहण करनेकी सामर्थ्य रखते थे। जब कालक्रमसे मनुष्यकी मेधाशक्ति क्षीण होती गयी, तब कृष्णद्वैपायन (व्यास)-ने लोकोपकारार्थ इसे अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये अलग-अलग नामके साथ वेदका विभाजन करके पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामके अपने चार शिष्योंको उपदेश किया। जैमिनिसे सामवेदकी परम्परा आरम्भ होती है। जैमिनिने अपने पुत्र सुमन्तु, सुमन्तुने अपने पुत्र सुन्वान् और सुन्वान्ने अपने पुत्र सुकर्माको पढाया। इस प्रकार सामवेदकी अध्ययनपरम्परा चलती आ रही है। गद्य, पद्य और गीतिके स्वरूपगत भेदसे प्रसिद्ध वेदत्रयीमें गीतिभाग सामवेद कहलाता है।

महाभाष्यमें सामवेदकी हजार शाखाएँ होनेका उल्लेख मिलता है—'सहस्रवर्त्मा सामवेदः।' सामतर्पणके अवसरपर साम गानेवाले जिन तेरह आचार्योंको तर्पण दिया जाता है, वे निम्न हैं—

(१) राणायन (२) सात्यमुग्रि-व्यास (३) भागुरि-औलुण्डि, (४) गौल्मुलवि (५) भानुमान (६) औपमन्यव (७) दाराल (८) गार्ग्य, (९) सावर्णि (१०) वार्षगणि (११) कुथुमि (१२) शालिहोत्र और (१३) जैमिनि।

—इनमेंसे आज राणायन कुथुमि और जैमिनि आचार्योंके नामसे प्रसिद्ध राणायनीय कौथुमीय और जैमिनीय—तीन शाखाएँ प्राप्त होती हैं। जिनमेसे राणायनीय शाखा दक्षिण देशमें प्रचलित है। कौथुमीय विन्ध्याचलसे उत्तर भारतमें पायी जाती है। केरलमें जैमिनीय शाखाका अध्ययन-अध्यापन कराया जाता है। पूरे भारतमे ज्यादा-से-ज्यादा कौथुमीय शाखा ही प्रचलित है और इसके उच्चारणगत भेदसे नागरपद्धति और मद्रपद्धति करके दो पद्धतियाँ दिखायी पडती हैं। राणायनीयकी गोवर्धनीपद्धति काशीमे देखी जा सकती है। सामवेदकी हजार शाखाएँ न मानकर उच्चारणकी हजार पद्धतियाँ सत्यव्रत सामश्रमीने मानी हैं। कौथुमीय और राणायनीय शाखाओंके गान-ग्रन्थोंमें कुछ भिन्नता देखी जा सकती है। यद्यपि राणायनीय शाखाका गान आजतक कहींसे भी न छपनेके कारण दोनो शाखाओंका काम कौथुम शाखासे चलानेकी परम्परा चल पडी है, तथापि पृथक् लिखित गान होनेका दावा राणायनीय शाखावालोंका है।

सामवेदमे अनेक अवान्तर स्वरोंके अतिरिक्त प्रमुख सात स्वरोंके माध्यमसे गीतिका पूर्ण स्वरूप पाया जाता है। 'गीतिषु सामाख्या'—इस जैमिनीय सूत्रमें जैमिनि गीतिप्रधान मन्त्रको ही साम कहते हैं। 'ऋच्यध्यूढ साम गीयते' (छा० उ० १। ६। १)-में स्वय श्रुति ऋक् और सामका अलग सम्बन्ध दिखाती है। बृहदारण्यकोपनिषद्में 'सा च अमश्चेति तत्साम्न सामत्वम्' (१। ३। २२) वाक्यसे 'सा' का अर्थ ऋक् और 'अम' का अर्थ गान बताकर सामका व्युत्पादन किया गया है। इससे बोध होता है कि इन दोनोंको ही 'साम' शब्दसे जानना चाहिये। इसलिये ऋचाओं और गानोंको मिलाकर सामवेदका मन्त्रभाग पूर्ण हो जाता है। मन्त्रभागको संहिता भी कहते हैं। इसी कारण सामवेदसंहिता लिखी हुई पायी जाती है।

मन्त्रभागमें आर्चिक और गान रहते हैं। आर्चिक भी पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिकमें बँटा है। दोनोंमें कुल मिलाकर २७ अध्यायोमें १८७५ मन्त्र पठित हैं। जिनमेंसे ७५ मन्त्रोंको छोडकर अवशिष्ट सभी ऋग्वेदके शाकल शाखामें पाये जाते हैं। ७५ मन्त्रोंके भी शांखायन आदि लुप्त शाखाओंमें पाये जानेका मत विद्वानोंका रहा है। किसीके मतमें ये सामवेदके ही मन्त्र माने गये हैं। कुछ लोग सामवेदके मन्त्रोंको ऋग्वेदमें पाये जानेके कारण सामवेदीय ऋचाओंका स्वतन्त्र अस्तित्व न होनेका दावा करते हैं, परंतु व्यासने चारों वेदोंका उपदेश किया था। सबसे पहले किये हुए उच्चारणको ही उपदेश कहते हैं। यदि ऋग्वेदीय मन्त्र सामवेदमें ले आये गये हैं तो फिर सामवेदके पृथक् उपदेशकी क्या आवश्यकता थी। ऋग्वेद और सामवेदके मन्त्रोंमें पाठगत और स्वरगत बहुत भेद पाये जाते हैं। इसके आधारपर इन मन्त्रोंका स्वतन्त्र

अस्तित्व माननेवाले भी हैं। इन सामवेदीय ऋचाओंमें विविध स्वरों एवं आलापोंसे प्रकृतिगान और ऊह तथा ऊह्यगान गाये गये हैं। प्रकृतिगानमें ग्रामगेयगान और आरण्यकगान हैं। प्रथम गानमें आग्नेय, ऐन्द्र और पावमान—इन तीन पर्वोंमें प्रमुख रूपसे क्रमशः अग्नि, इन्द्र और सोमके स्तुतिपरक मन्त्र पढे गये हैं। आरण्यकमें अर्क, द्वन्द्व, व्रत, शुक्रिय और महानाम्नी नामक पाँच पर्वोंका संगम रहा है। सूर्यनमस्कारके रूपमें प्रत्येक रविवारको शुक्रिय-पर्व-पाठ करनेका सम्प्रदाय सामवेदीयोंका है। जंगलोंमें गाये जानेवाले सामोंका पाठ होनेसे इस गानभागको आरण्यक कहा गया है। ग्रामगेयगान और आरण्यक-गानके आधारपर क्रमशः ऊहगान और ऊह्यगान प्रभावित हैं। विशेष करके सोमयागोंमें गाये जानेवाले स्तोत्र ऊह और ऊह्यगानमें मिलते हैं। इन दोनोंमें दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त और क्षुद्रसंज्ञक सात पर्वोंमें ताण्ड्य ब्राह्मणद्वारा निर्धारित क्रमके आधारपर स्तोत्रोंका पाठ है। जैसे कि ताण्ड्य ब्राह्मण अपने चतुर्थ अध्यायसे ही यागका निरूपण करता है और सर्वप्रथम गवामयन नामक सत्रात्मक विकृतियाग बतलाता है। प्रकृतिभूत द्वादशाह यागके प्रमुख दस दिनोंके अनुष्ठानसे इस गवामयन यागका समापन किया जाता है। इसलिये गवामयन यागके स्तोत्र ऊह तथा ऊह्यगानके प्रथम पर्व दशरात्रपर पढे गये हैं। अन्य सभी पर्व इसी प्रकार देखे जा सकते हैं।

पूरे गानभागमें तीन प्रकारके साम देखे जाते हैं। केवल ऋचाका पदोंमें ही गाया हुआ साम अर्वि संज्ञक कहा जाता है। ऋक्-पदों और स्तोभोंमें गाया हुआ साम लेशसंज्ञक और पूरे स्तोभोंमें गान किया हुआ साम छन्नसंज्ञक है। ऋक्के पदों वा अक्षरोंसे भिन्न हाउ, औहोवा और इडा-जैसे पदोंको स्तोभ कहा गया है। सामवेदीय रुद्रमें 'अधिपताइ' प्रतीकवाले तीन साम पूरे स्तोभोंमें गाये गये हैं। सेतु साममें 'दानेनादानम्' 'अक्रोधेन क्रोधम्', 'श्रद्धयाश्रद्धाम्' 'सत्येनानृतम्'—ये चार पद भी स्तोभ हैं। इन स्तोभोंको देखनेसे स्तोभोंके सार्थक और निरर्थक होनेका बोध होता है।

ब्राह्मणभाग—

कर्मोंमें मन्त्रभागका विनियोजन ब्राह्मण करते हैं। सामान्यतया सामवेदके आठ ब्राह्मण देवताध्याय ब्राह्मणके सायण-भाष्यके मङ्गलाचरण-श्लोकमें गिने गये हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रौढ (ताण्ड्य)-ब्राह्मण, (२) षड्विंशब्राह्मण, (३) सामविधानब्राह्मण, (४) आर्षेयब्राह्मण, (५) देवताध्यायब्राह्मण, (६) छान्दोग्योपनिषद्-ब्राह्मण (७) संहितोपनिषद्- ब्राह्मण और (८) वंशब्राह्मण।

ताण्ड्य ब्राह्मणका अध्यायसंख्याके आधारपर पञ्चविंश नाम पडा है तो सबसे बड़ा होनेसे महाब्राह्मण भी कहा जाता है। इन ब्राह्मणोंके अतिरिक्त जैमिनीय शाखाके जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीयोपनिषद् और जैमिनीयार्षेय-ब्राह्मण भी देखनेमें आते हैं। इनसे भी अधिक ब्राह्मण होनेका संकेत मिलता है, परंतु पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं। ये ब्राह्मण विशेषतया औद्गात्र कर्मोंका प्रतिपादन करते हैं। प्रमुख रूपमें यागोंमें स्तोत्रोंका गान औद्गात्र कर्म है। सोमलता द्रव्य-प्रधान यागोंमें आहूत देवोंकी स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करना उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता नामक सामगायकोंका कार्य है। अपने प्रतिपाद्यका विधान करनेके लिये विविध आख्यायिकाओं और उपपत्तियोंको देना ब्राह्मणकी अपनी शैली है। जैसे 'चौङ्क' नामक सामगानसे च्यवन ऋषिके वृद्धावस्थासे युवा होनेकी आख्यायिका आयी है, जिससे चौङ्क सामका महत्त्व ताण्ड्य ब्राह्मण (१४।६।१०)-में बताया गया है। यह चौङ्क साम 'यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति' ऋचामें ऊहके दशरात्र पर्वपर गाया गया है। इसी प्रकार वात्स सामके विषयमें एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। वत्स और मेधातिथि नामके दो काण्व ऋषि थे। मेधातिथिने वत्सको शूद्रपुत्र तथा अब्राह्मण कहकर अपमानित किया। फिर ब्राह्मणत्वनिर्णयके लिये वत्स 'वात्स साम' को और मेधातिथि 'मेधातिथ्य साम' को पढ़कर अग्निके पास चले गये। उसी समय वत्सने 'वात्स साम' को दोहराते हुए अग्निमें प्रवेश किया, परंतु अग्निने उसको छुआ भी नहीं। इस प्रकार वत्सका ब्राह्मणत्व सिद्ध होनेसे 'वात्स साम' 'कामसनि' (इच्छा पूरा करनेवाला)-के नामसे प्रसिद्ध

हुआ। यह आख्यायिका ताण्ड्य-ब्राह्मण (१४। ६। ६)-मे आयी है। प्रकृत 'वात्स साम' 'आतेवत्सा' ऋचापर ऊहके दशरात्र पर्व (७। १७)-में पठित है।

छ अध्यायामें विभक्त षड्विंशब्राह्मणके छठे अध्यायमे विशेष बातें बतायी जानेसे इस ब्राह्मणको ताण्ड्यका निरन्तर रूप मानकर २६ वाँ अध्याय माना गया। जिससे ब्राह्मणका नाम भी षड्विंश रखा गया। ससारमे स्वाभाविक रूपसे घटनेवाली घटनाओंसे भिन्न अनेक अद्भुत घटनाएँ भी होती हैं। उससे निपटनेके लिये स्मार्त-यागो और सामोका विधान इस अध्यायमें किया गया है। जैसे मकानपर वज्रपात होना, प्रशासनिक अधिकारीसे विवाद बढना तथा आकस्मिक रूपमें हाथियो और घोडोकी मृत्यु होना लोगाके लिये अनिष्ट-सूचक है। इससे शान्ति पानेके लिये इन्द्रदेवता-सम्बद्ध पाककर्म और **'इन्द्रायेन्दो मरुत्वते'** (४७२) ऋचामें **'इषो वृधीयम्'** सामका विधान किया गया है। वैसे ही भूकम्प होना वृक्षोसे खून बहना, गायमें मानव या भैंस आदिके बच्चे पैदा होना विकलाङ्ग शिशुका जन्म होना-जैसे अनेक सासारिक अद्भुत कर्मोंसे शान्ति पानेके लिये पाक-कर्मों और सामोका विधान है। इस अध्यायमें पाये गये **'दण्डपाणये, चक्रपाणये, शूलपाणये'** आदि ब्राह्मणवाक्यामें देवताओका शस्त्र धारण किया हुआ शरीरधारी स्वरूप होनेका सकेत मिलता है और आज बने हुए शरीरधारी देवाकी प्रतिमाएँ ब्राह्मणवाक्योपर आधारित मानी जा सकती हैं।

तीन अध्यायवाले सामविधानब्राह्मणके पहले अध्यायमें वर्णित कथाके अनुसार सृष्टिक्रममें ब्रह्माने सततियोंके आहारके रूपमें सामोकी परिकल्पना की थी जो सामके सात स्वरोसे तृप्त होती गयी थी। जैसे क्रुष्ट प्रथम द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार—इन सात स्वरोसे क्रमश देवो मानवां, पशुओ गन्धर्वों अप्सराओ, पितृगण एव पक्षियो असुरों तथा पूरे स्थावर-जगमात्मक वस्तुआके तृप्त होनेका उल्लेख है जो आज भी प्रासगिक है। इसी तरह मानव-जीवनके विविध पक्षोंसे जुड़ी हुई दृष्ट और अदृष्ट आकाक्षाओंकी पूर्तिके लिये कर्मों और सामाका विधान करना इस ब्राह्मणका प्रतिपाद्य है। जैसे—

अभीष्ट	*सामनाम*	*गानसंकेत*
१ श्रीसाधन	अङ्गिरसां हरिश्रीनिधनम्	ग्रामगेयगान ५, १ १
२ यशोलाभ	इन्द्रस्य यश	ग्राम० ६, २, १ २४८
३ सुन्दर दीर्घायुवाला पुत्र	अपत्यम्	आरण्यक गान ३, ४ १
४. अभीप्सित स्त्रीकी प्राप्ति	अश्विनो साम	ग्राम० ५ ६ २ १७२
५ रोगशान्ति	काशीतम्	ग्राम० १, ३, १ ३३
६ मोक्ष	पर्क	ग्राम० १, १ १, १
७. कन्याके लिये वरलाभ	शीन शेपे	ग्राम० १, १, १ २, ७

छ अध्यायोमे विभाजित आर्षेयब्राह्मण सामाके नामसे सम्बद्ध ऋषियोका प्रतिपादन करता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषिके नामसे सामोका नाम बतलानेवाले ब्राह्मणका नाम आर्षेय पडा है। चार खण्डोमें विभक्त देवताध्यायब्राह्मण निधनके आधारपर सामोंके देवताओको बतलाता है। निधन पाँच भक्तिवाला सामका एक भक्ति-विभाग है।

दस प्रपाठकसे पूर्ण होनेवाले छान्दोग्योपनिषद्-ब्राह्मणके प्रथम दो प्रपाठकोमें विवाहादि-कर्मसे सम्बद्ध मन्त्रोका विधान है। अवशिष्ट आठ प्रपाठक उपनिषद् हैं। इस उपनिषद्-खण्डम सामके सारतत्त्वको स्वर कहा गया है। जैसे शालावत्य और दाल्भ्यके सवादमे सामकी गतिको **'स्वर होवाच'** कहकर स्वराको ही सामका सर्वस्व माना गया है। देखा जाता है कि बृहद् रथन्तर आदि साम आर्षेयसे सम्बद्ध न होकर स्वरोसे ही प्रसिद्ध हैं। अर्थात् ये साम क्रुष्ट-प्रथमादि स्वरोकी ही अभिव्यक्ति करते हैं। इसी उपनिषद् (२। २२। २)-में उद्गाताद्वारा गाये गये एक स्तोत्रका देवोमे अमृत दिलाने पशुआमे आहार तय करने यजमानको स्वर्ग दिलाने, स्वय स्तोताको अन्नोत्पादन करानेका उद्देश्य रखते हुए गान करनेका विधान बतलाया गया है। इससे सामगानका महत्त्व देखा जा सकता है।

सहितोपनिषद्-ब्राह्मणके पाँच खण्डासे सामसहिताका रहस्य बतलाया गया है। इसके द्वितीय खण्डमें भकारयोजनके साथ रथन्तर सामका स्वरूप बताकर भकारक प्रयोगसे चमकते हुए ऐश्वर्यके मिलनेकी बात बतायी गयी है। सबसे अन्तिम वशब्राह्मण तीन खण्डामें शर्वदत्तगार्ग्यसे ब्रह्मपर्यन्त सामवेदकी अध्ययनपरम्पराको बतलाता है। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मणको मिलाकर ही वेद पूर्ण हा जाता है।

अस्तित्व माननेवाले भी हैं। इन सामवेदीय ऋचाओंमें विविध स्वरों एवं आलापोंसे प्रकृतिगान और ऊह तथा ऊह्यगान गाये गये हैं। प्रकृतिगानमें ग्रामगेयगान और आरण्यकगान हैं। प्रथम गानमें आग्नेय, ऐन्द्र और पावमान—इन तीन पर्वोंमें प्रमुख रूपसे क्रमशः अग्नि, इन्द्र और सोमके स्तुतिपरक मन्त्र पढ़े गये हैं। आरण्यकमें अर्क, द्वन्द्व, व्रत, शुक्रिय और महानाम्नी नामक पाँच पर्वोंका संगम रहा है। सूर्यनमस्कारके रूपमें प्रत्येक रविवारको शुक्रिय-पर्व-पाठ करनेका सम्प्रदाय सामवेदीयोंका है। जंगलोंमें गाये जानेवाले सामोंका पाठ होनेसे इस गानभागको आरण्यक कहा गया है। ग्रामगेयगान और आरण्यक-गानके आधारपर क्रमशः ऊहगान और ऊह्यगान प्रभावित हैं। विशेष करके सोमयागाम गाये जानेवाले स्तोत्र ऊह और ऊह्यगानम मिलते हैं। इन दोनोंमें दशरात्र संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त और क्षुद्रसंज्ञक सात पर्वोंमें ताण्ड्य ब्राह्मणद्वारा निर्धारित क्रमके आधारपर स्तोत्रोंका पाठ है। जैसे कि ताण्ड्य ब्राह्मण अपने चतुर्थ अध्यायसे ही यागका निरूपण करता है और सर्वप्रथम गवामयन नामक सत्रात्मक विकृतियाग बतलाता है। प्रकृतिभूत द्वादशाह यागके प्रमुख दस दिनोंके अनुष्ठानसे इस गवामयन यागका समापन किया जाता है। इसलिये गवामयन यागके स्तोत्र ऊह तथा ऊह्यगानके प्रथम पर्व दशरात्रपर पढ़े गये हैं। अन्य सभी पर्व इसी प्रकार देखे जा सकते हैं।

पूरे गानभागमें तीन प्रकारके साम देखे जाते हैं। केवल ऋचाके पदोंमें ही गाया हुआ साम आर्चिसंज्ञक कहा जाता है। ऋक्-पदों और स्तोभोंमें गाया हुआ साम लेशसंज्ञक और पूरे स्तोभोंमें गान किया हुआ साम छत्रसंज्ञक है। ऋक्के पदों या अक्षरोंसे भिन्न हाउ, औहोवा और इडा-जैसे पदोंको स्तोभ कहा गया है। सामवेदीय रुद्रमें 'अधिपताइ' प्रतीकवाले तीन साम पूरे स्तोभोंमें गाये गये हैं। सेतु साममें 'दानेनादानम्' 'अक्रोधेन क्रोधम्', 'श्रद्धयाश्रद्धाम्', 'सत्येनानृतम्'—ये चार पद भी स्तोभ हैं। इन स्तोभोंको देखनेसे स्तोभोंके सार्थक और निरर्थक होनेका बोध होता है।

ब्राह्मणभाग—

कर्मोंमें मन्त्रभागका विनियोजन ब्राह्मण करते हैं। सामान्यतया सामवेदके आठ ब्राह्मण देवताध्याय ब्राह्मणके सायण-भाष्यके मङ्गलाचरण-श्लोकमें गिने गये हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रौढ (ताण्ड्य)-ब्राह्मण (२) षड्विंशब्राह्मण, (३) सामविधानब्राह्मण, (४) आर्षेयब्राह्मण, (५) देवताध्यायब्राह्मण, (६) छान्दोग्योपनिषद्-ब्राह्मण, (७) संहितोपनिषद्-ब्राह्मण और (८) वंशब्राह्मण।

ताण्ड्य ब्राह्मणका अध्यायसंख्याके आधारपर पञ्चविंश नाम पड़ा है तो सबसे बड़ा होनेसे महाब्राह्मण भी कहा जाता है। इन ब्राह्मणोंके अतिरिक्त जैमिनीय शाखाके जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीयोपनिषद् और जैमिनीयार्षेय-ब्राह्मण भी देखनेमें आते हैं। इनसे भी अधिक ब्राह्मण होनेका संकेत मिलता है, परंतु पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं। ये ब्राह्मण विशेषतया औद्गात्र कर्मोंका प्रतिपादन करते हैं। प्रमुख रूपमें यागोंमें स्तोत्रोंका गान औद्गात्र कर्म है। सोमलता द्रव्य-प्रधान यागोंमें आहूत देवोंकी स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करना उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता नामक सामगायकोंका कार्य है। अपने प्रतिपाद्यका विधान करनेके लिये विविध आख्यायिकाओं और उपपत्तियोंको देना ब्राह्मणकी अपनी शैली है। जैसे 'चौङ्क' नामक सामगानसे च्यवन ऋषिके वृद्धावस्थासे युवा होनेकी आख्यायिका आयी है, जिससे चौङ्क सामका महत्त्व ताण्ड्य ब्राह्मण (१४।६।१०)-में बताया गया है। यह चौङ्क साम 'यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति' ऋचामें ऊहके दशरात्र पर्वपर गाया गया है। इसी प्रकार वात्स सामके विषयमें एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। वत्स और मेधातिथि नामके दो काण्व ऋषि थे। मेधातिथिने वत्सको शूद्रपुत्र तथा अब्राह्मण कहकर अपमानित किया। फिर ब्राह्मणत्वनिर्णयके लिये वत्स 'वात्स साम' को और मेधातिथि 'मेधातिथ्य साम' को पढ़कर अग्निके पास चले गये। उसी समय वत्सने 'वात्स साम' को दोहराते हुए अग्निमें प्रवेश किया परंतु अग्निने उसको छुआ भी नहीं। इस प्रकार वत्सका ब्राह्मणत्व सिद्ध होनेसे 'वात्स साम' 'कामसनि' (इच्छा पूरा करनेवाला)-के नामसे प्रसिद्ध

हुआ। यह आख्यायिका ताण्ड्य-ब्राह्मण (१४। ६। ६)-मे आयी है। प्रकृत 'वात्स साम' 'आतेवत्सा' ऋचापर ऊहके दशरात्र पर्व (७। १७)-मे पठित है।

छ अध्यायोंमें विभक्त षड्विशब्राह्मणके छठे अध्यायमे विशेष बातें बतायी जानेसे इस ब्राह्मणको ताण्ड्यका निरन्तर रूप मानकर २६ वाँ अध्याय माना गया। जिससे ब्राह्मणका नाम भी षड्विश रखा गया। ससारमें स्वाभाविक रूपसे घटनेवाली घटनाओंसे भिन्न अनेक अद्भुत घटनाएँ भी होती हैं। उससे निपटनेके लिये स्मार्त-यागो और सामोका विधान इस अध्यायमे किया गया है। जैसे मकानपर वज्रपात होना, प्रशासनिक अधिकारीसे विवाद बढना तथा आकस्मिक रूपमें हाथियो और घोडोकी मृत्यु होना लोगोंके लिये अनिष्ट-सूचक है। इससे शान्ति पानेके लिये इन्द्रदेवता-सम्बद्ध पाककर्म और 'इन्द्रायेन्दो मरुत्वते' (४७२) ऋचामे '**इषो वृधीयम्**' सामका विधान किया गया है। वैसे ही भूकम्प होना, वृक्षोसे खून बहना गायमें मानव या भैंस आदिके बच्चे पैदा होना, विकलाङ्ग शिशुका जन्म होना-जैसे अनेक सासारिक अद्भुत कर्मोंसे शान्ति पानेके लिये पाक-कर्मों और सामोका विधान है। इस अध्यायमे पाये गये 'दण्डपाणये, चक्रपाणये, शूलपाणये' आदि ब्राह्मणवाक्योंमें देवताओका शस्त्र धारण किया हुआ शरीरधारी स्वरूप होनेका सकेत मिलता है और आज बने हुए शरीरधारी देवोंकी प्रतिमाएँ ब्राह्मणवाक्योपर आधारित मानी जा सकती हैं।

तीन अध्यायवाले सामविधानब्राह्मणके पहले अध्यायमें वर्णित कथाके अनुसार सृष्टिक्रममे ब्रह्माने सततियोंके आहारके रूपमे सामोकी परिकल्पना की थी, जो सामके सात स्वरोंसे तृप्त होती गयी थी। जैसे क्रुष्ट, प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार—इन सात स्वरोसे क्रमश देवों मानवों पशुओं गन्धर्वों, अप्सराओ, पितृगण एवं पक्षियो असुरो तथा पूरे स्थावर-जगमात्मक वस्तुओके तृप्त होनेका उल्लेख है जो आज भी प्रासगिक है। इसी तरह मानव-जीवनके विविध पक्षोसे जुडी हुई दृष्ट और अदृष्ट आकाक्षाओंकी पूर्तिके लिये कर्मों और सामोंका विधान करना इस ब्राह्मणका प्रतिपाद्य है। जैसे—

अभीष्ट	सामनाम	गानसंकेत
१ श्रीसाधन	अङ्गिरसां हरिश्रीनिधनम्	ग्रामगेयगान ५, १, १
२ यशोलाभ	इन्द्रस्य यश	ग्राम० ६ २ १ २४८
३. सुन्दर दीर्घायुवाला पुत्र	अपत्यम्	आरण्यक गान ३, ४ १
४. अभीप्सित स्त्रीकी प्राप्ति	अश्विनो साम	ग्राम० ५, ६ २ १७२
५ रोगशान्ति	काशीतम्	ग्राम० १, ३, १ ३३
६ मोक्ष	पर्क	ग्राम० १, १, १ १
७. कन्याके लिये वरलाभ	शौन शेपे	ग्राम० १ १, १ २, ७

छ अध्यायोमें विभाजित आर्षेयब्राह्मण सामोके नामसे सम्बद्ध ऋषियोका प्रतिपादन करता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषिके नामसे सामोका नाम बतलानेवाले ब्राह्मणका नाम आर्षेय पडा है। चार खण्डोमे विभक्त देवताध्यायब्राह्मण निधनके आधारपर सामोंके देवताओको बतलाता है। निधन पाँच भक्तिवाला सामका एक भक्ति-विभाग है।

दस प्रपाठकसे पूर्ण होनेवाले छान्दोग्योपनिषद्-ब्राह्मणके प्रथम दो प्रपाठकोमें विवाहादि-कर्मसे सम्बद्ध मन्त्रोका विधान है। अवशिष्ट आठ प्रपाठक उपनिषद् हैं। इस उपनिषद्-खण्डमें सामके सारतत्त्वको स्वर कहा गया है। जैसे शालावत्य और दाल्भ्यके सवादमे सामकी गतिको 'स्वर होवाच' कहकर स्वरोंको ही सामका सर्वस्व माना गया है। देखा जाता है कि बृहद् रथन्तर आदि साम आर्षेयसे सम्बद्ध न होकर स्वरासे ही प्रसिद्ध हैं। अर्थात् ये साम क्रुष्ट-प्रथमादि स्वरोकी ही अभिव्यक्ति करते हैं। इसी उपनिषद् (२। २२। २)-में उद्गाताद्वारा गाये गये एक स्तोत्रका देवोमे अमृत दिलाने पशुआम आहार तय करन यजमानको स्वर्ग दिलाने स्वय स्तोताको अनोत्पादन करानेका उद्देश्य रखते हुए गान करनेका विधान बतलाया गया है। इससे सामगानका महत्त्व देखा जा सकता है।

सहितोपनिषद्-ब्राह्मणके पाँच खण्डासे सामसहिताका रहस्य बतलाया गया है। इसके द्वितीय खण्डमें भकारयोजनके साथ रथन्तर सामका स्वरूप बताकर भकारके प्रयोगसे चमकते हुए ऐश्वर्यके मिलनेकी बात बतायी गयी है। सबस अन्तिम वशब्राह्मण तीन खण्डामें शर्वदत्तगार्ग्यसे ब्रह्मपर्यन्त सामवेदकी अध्ययनपरम्पराको बतलाता है। इस प्रकार और [illegible] [illegible] ही वेद पूर्ण हो जाता

वेदाङ्ग—

वेदाङ्गोंमेंसे कल्पशास्त्र चार प्रकारोंमें बँटा है—श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र। श्रौतसूत्र दो हैं—द्राह्यायण और लाट्यायन। वैसे ही खादिर और गाभिल दो गृह्यसूत्र मिलते हैं। इस तरह देश-प्रयोगके भेदसे श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रके दो-दो भेद किये गये हैं। अर्थात् जहाँ दक्षिणके सामवेदी अपने श्रौत और स्मार्त-कर्म क्रमश द्राह्यायण श्रौतसूत्र और खादिर गृह्यसूत्रसे सम्पन्न करते हैं, तो वही कर्म उत्तरके सामवेदी लाट्यायन श्रौतसूत्र और गोभिल गृह्यसूत्रसे सम्पन्न करते हैं। धर्मसूत्रमें गौतम-धर्मसूत्र २८ अध्यायोमें विभक्त होकर वर्णधर्म राजधर्म, नित्यकर्म आदिका प्रतिपादन करता है। सामवेदमें शुल्वसूत्रका अभाव देखा जाता है।

सामवेदकी उच्चारण-प्रक्रियाको बतलानेवाली प्रमुख तीन शिक्षाएँ हैं—नारदीयशिक्षा गौतमशिक्षा और लोमशशिक्षा। तीनों शिक्षाग्रन्थ दो प्रपाठका और सोलह कण्डिकाओमे विभाजित हैं। उपाङ्ग ग्रन्थके रूपमें प्रसिद्ध प्रातिशाख्य साहित्यमें सामवेदीय प्रातिशाख्योंका विशिष्ट स्थान रहा है। सामसंहिताके यथार्थ उच्चारणके लिये ऋक्तन्त्र सामतन्त्र अक्षरतन्त्र और पुष्पसूत्र रचे गये हैं। ऋचाओका अध्ययन करनेवाला ऋक्तन्त्र पाँच प्रपाठकों और तीस खण्डोंमें विभक्त है। वैसे ही प्रकृतिगानके स्वराका अध्ययन करनेवाला सामतन्त्र १३ प्रपाठकोम लिखा हुआ है। स्तोभाका निरूपक अक्षरतन्त्र दो प्रपाठकोंमें बँटा है। इसको सामतन्त्रका अङ्ग माना गया है। ऊह ऊह्य साम-विवेचक पुष्पसूत्र दस प्रपाठको और सौ खण्डामें विभाजित है।

इस वेदका आरण्यक 'तवलकार' है। जिसको जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण भी कहा जाता है। चार अध्यायों और अनेक अनुवाकोंसे इसकी ग्रन्थाकृति बनी है। इसी प्रकार केन और छान्दोग्योपनिषद् इस वेदके उपनिषद् हैं। अपनी शाखाके आधारपर केनको तवलकार भी कहा जाता है। आठ प्रपाठकके आदिम पाँच प्रपाठकामे उद्गीथ (ॐकार) और सामोंका सूक्ष्म विवेचन करनेवाला छान्दोग्योपनिषद् अन्तके तीन प्रपाठकोंमें अध्यात्मविद्या बतलाता है। सामवेदीय महावाक्य 'तत्त्वमसि'का निरूपण इस भागमें किया गया है।

सामवेदसे ही संगीतशास्त्रका प्रादुर्भाव माना जाता है। 'सामवेदादिदं गीतं संजग्राह पितामह' (१। २५) अर्थात् 'ब्रह्माने सामवेदसे गीताका संग्रह किया' ऐसा कहकर संगीतरत्नाकरके रचयिता शार्ङ्गदेवने स्पष्ट शब्दोंमें संगीतका उपजीव्य ग्रन्थ सामवेदको माना है। भरतमुनिने भी इसी बातको सिद्ध करते हुए कहा कि 'सामभ्यो गीतमेव च' अर्थात् 'सामवेदसे ही गीतकी उत्पत्ति हुई है।' इसी प्रकार विपुल सामवेदीय वाङ्मयका श्रीकृष्णने 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (गीता १०। २२) अर्थात् 'वेदोंमें मैं सामवेद हूँ' कहकर इसका महत्त्व बढा दिया है। वेणुके अनुरागी गुणग्राही और ब्राह्मणप्रिय होनेके कारण भगवान् कृष्ण स्वयं अपनी विभूति सामवेदको माने हैं। देखनेमें आता है कि सामवेदमें पद्यप्रधान ऋग्वेदीय मन्त्रों गद्यप्रधान यजुर्मन्त्रों और गीत्यात्मक मन्त्रोंका सगम है। इसलिये समस्त त्रयीरूप वेदोंका एक ही सामवेदसे ग्रहण हो जानेके कारण—इसकी अतिशय महत्ता और व्यापकताके कारण भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको साक्षात् सामवेद बताया है।

[श्रीराम अधिकारीजी, वेदाचार्य]

~~~~

सारा परिवार ईश-भक्त हो

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत॥

(ऋक्० ८। ६९। ८)

हे प्रिय मेधावी जनो! ईशकी उपासना करो! उपासना करो!! विशेषरूपसे उपासना करो!!! तुम्हारे बच्चे भी उसकी उपासना करें। अभेद्य नगर या किलेके तुल्य उस परमात्माकी तुम सभी उपासना करो।

~~~~

अथर्ववेदका संक्षिप्त परिचय

चारों वेदोंमें ऋक्, यजु और साम—ये मन्त्रलक्षणके आधारपर प्रसिद्ध हैं, किंतु अथर्ववेद इन तीनोंसे भिन्न नामसे जाना जाता है। चारों वेदोंका समष्टिगत नाम 'त्रयी' भी है। मूलत इसीके आधारपर कुछ आधुनिक विद्वान् अथर्ववेदको अर्वाचीन कहते हैं, परतु इसके पीछे कोई ठोस आधार या युक्ति नहीं है।

वैदिक मन्त्राका उच्चारण तीन प्रकारसे किया जाता है—(१) जिस मन्त्रमें अर्थके आधारपर पाद-व्यवस्था निश्चित है, उसे 'ऋक्' कहते हैं, (२) गीत्यात्मक मन्त्रको 'साम' तथा (३) इनसे अतिरिक्त जो मन्त्र हैं अर्थात् पद्यमय और गानमय मन्त्रासे अतिरिक्त जितने मन्त्र हैं, उन्हे 'यजु' कहते हैं। यजुर्मन्त्र गद्य-रूपमे पढे जाते हैं। अथर्ववेदमें तीनो प्रकारके मन्त्र उपलब्ध हैं। अत इस वेदका नाम ऋक् यजु और साम अर्थात् मन्त्रलक्षणके आधारपर नहीं अपितु प्रतिपाद्य विषयवस्तुके आधारपर है। इसी कारण अथर्ववेदके अन्य विविध नाम भी हैं। इस प्रकार मन्त्र-लक्षणके आधारपर 'त्रयी' शब्दका प्रयोग हुआ है, तीन वेदोके अभिप्रायसे नहीं। भगवान् कृष्णद्वैपायनने श्रौतयज्ञकर्मोंके आधारपर एक ही वेदको चार भागोमें विभक्त किया है। इससे भी अथर्ववेदको अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता।

अथर्ववेदके विविध नाम

अन्य वेदोकी तरह अथर्ववेदका भी एक ही नाम क्यो नहीं रहा? अथर्ववेदको विभिन्न नाम देनेमें क्या प्रयोजन है? ऐसी जिज्ञासाकी शान्तिके लिये सक्षेपमें कुछ विचार किया जा रहा है—

अथर्ववेद अनेक नामोसे अभिहित किया जाता है जैसे—अथर्ववेद अथर्वाङ्गिरोवेद, ब्रह्मवेद भिषग्वेद तथा क्षत्रवेद आदि।

अथर्ववेद—

पाणिनीय धातुपाठमें 'थुर्वी धातु हिसाके अर्थमे पठित है। वैदिक शब्दाके परोक्षवृत्तिसाधर्म्यके आधारपर 'थुर्वी' धातु ही 'थर्व' के रूपमें परिणत हो गया है। अत जिससे हिसा नहीं होती है उसको अथर्व[१] कहते हैं।

वैदिक वाङ्मयमें 'हिंसा' शब्द किसीकी हानि या परस्पर होनेवाले असामञ्जस्य आदिके अर्थमे भी प्रयुक्त है। अत केवल प्राणवियोगानुकूल-व्यापार ही हिसा नहीं है। सामान्यत हिसा दो प्रकारकी होती है—(१) आमुष्मिकी और (२) ऐहिकी। जिस कर्म या आचरणसे पारलौकिक सुखमे बाधा [हानि] होती है उसको आमुष्मिकी हिंसा कहते हैं। इस प्रकारकी हिसाको अथर्ववेदोक्त कर्मोंसे दूर किया जा सकता है। दूसरी इहलौकिक सुखमें होनेवाली बाधा भी अथर्ववेदोक्त शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोंसे दूर की जा सकती है। अत जिससे किसी प्रकारकी हिसा नहीं हो पाती है उसके कारण 'अथर्ववेद' ऐसा नाम है।

अथर्वाङ्गिरोवेद—

अथर्ववेदका दूसरा नाम अथर्वाङ्गिरस भी है। अथर्ववेद (१०। ७ । २०), महाभारत (३। ३०५। २), मनुस्मृति (११।३३) याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३१२) तथा औशनसस्मृति (३।४४) आदि ग्रन्थामें द्वन्द्वसमासके रूपमे 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द प्रयुक्त है। इस नामके सदर्भमें गोपथब्राह्मणमें एक आख्यायिका है—

'प्राचीन कालमे सृष्टिके लिये तपस्या कर रहे स्वयम्भू ब्रह्माके रेतका जलमें स्खलन हुआ। उससे भृगु नामक महर्षि उत्पन्न हुए। वे भृगु स्वोत्पादक ब्रह्माके दर्शनार्थ व्याकुल हो रहे थे। उसी समय आकाशवाणी हुई—'हे अथर्वा! तिरोभूत ब्रह्माके दर्शनार्थ इसी जलमें अन्वेषण करो' ['अथर्वाऽनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छ' गो० ब्रा० १। ४]। तबसे भृगुका नाम ही 'अथर्वा' हो गया। पुन रेतयुक्त जलसे आवृत 'वरुण' शब्दवाच्य ब्रह्माके सभी अङ्गोसे रसाका क्षरण हो गया। उससे अङ्गिरा नामके महर्षि उत्पन्न हुए। उसके बाद अथर्वा और अङ्गिराके कारणभूत ब्रह्माने

---

(१) इस वेदके कुल ५९८७ मन्त्रमें २६९६ मन्त्र विशुद्ध अथर्वा ऋषिके द्वारा दृष्ट हैं। अथर्वाङ्गिराके द्वारा दृष्ट मन्त्र ४९ बृहद्दिव या अथर्वाद्वारा दृष्ट मन्त्र-२९ मृगार या अथर्वाके ७ अथर्वा या वसिष्ठके ७ अथर्वा या कृतिके ४ और भृगुरथर्वन्के द्वारा दृष्ट मन्त्र ७ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर २७९९ मन्त्र तथा २२० सूक्तोंके द्रष्टा ऋषि अथर्वा होनेमे इस वेदका नाम अथर्ववद है।

दोनाको तपस्या करनेके लिये प्रेरित किया। उन लागाकी तपस्याके प्रभावसे एक अथवा दो ऋचाआंके मन्त्रद्रष्टा बीस अथर्वा और अङ्गिरसोकी उत्पत्ति हुई। उन्हीं तपस्या कर रहे ऋषियोंके माध्यमसे स्वयम्भू ब्रह्माने जिन मन्त्राके दर्शन किय, वही मन्त्रसमूह अथर्वाङ्गिरस वेद हा गया। साथ ही एक ऋचाके मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी सख्या भी बीस हानेके कारण यह वेद बीस काण्डोमे बँटा है।

कुछ विद्वानाका मत यह है कि 'अथर्वन्' शब्द शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोका वाचक है। इसके विपरीत 'अङ्गिरस्' पद घार [अभिचारात्मक] कर्मोका वाचक है। अथर्ववेदमें इन दोनों प्रकारक कर्मोका उल्लेख मिलता है। अत इसका नाम 'अथर्वाङ्गिरस' पड़ा। यह मत पूर्णत स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि अथर्ववदमे सबस अधिक अध्यात्मविषयक मन्त्राका सकलन है। उसक बाद शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोसे सम्बद्ध मन्त्र हैं किंतु आभिचारिक कर्मसे सम्बद्ध मन्त्र तो नगण्यरूपमें ही हैं।

ब्रह्मवेद—

अथर्ववेदके 'ब्रह्मवेद' अभिधानम मुख्यत तीन हेतु उपलब्ध होते हैं—(१) यज्ञकर्मम ब्रह्मत्व-प्रतिपादन (२) ब्रह्मविषयक दाशनिक चिन्तन-गाथा तथा (३) ब्रह्मा नामक ऋषिसे दृष्ट मन्त्राका सकलन।

उपर्युक्त तीन हेतुआम प्रथम कारण उल्लेख्य है। श्रौतयज्ञका सम्पादन करनके लिय चारा वेदोंकी आवश्यकता पड़ती है। जिनम ऋग्वेदक कार्य होताद्वारा यजुर्वेदके कार्य अध्वर्युद्वारा, सामवेदके कार्य उद्गाताद्वारा और अथर्ववेदके कार्य ब्रह्मा नामके ऋत्विजोंद्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञकार्यमें सम्भाव्य अनिष्टका दूरीकरण प्रायश्चित्त-विधियाद्वारा यज्ञके त्रुटि-निवारण यज्ञानुष्ठानक क्रमम अन्य ऋत्विजाक लिय अनुज्ञा-प्रदान ब्रह्माके प्रमुख कार्य हैं। इस प्रकार किसी भी श्रौतयज्ञकी सफलताक लिये ब्रह्माकी अध्यक्षता आवश्यक हाती है। अत यज्ञकर्ममें ब्रह्मत्वप्रतिपादनक कारण अथर्ववेदका दूसरा नाम 'ब्रह्मवेद' युक्तिसगत ही है।

ब्रह्मवेदाभिधानका दूसरा कारण ब्रह्मविषयक दार्शनिक चिन्तन है। अथर्ववदके विभिन्न स्थलापर विराट्, ब्रह्म स्कम्भब्रह्म, उच्छिष्टब्रह्म ईश्वर, प्रकृति आयात्मा, प्राण, व्रात्य वशा ब्रह्मौदन आदि विभिन्न स्वरूपाका विस्तृत वर्णन मिलता है। अत अध्यात्मविषयक चिन्तनविषयक कारण भी 'ब्रह्मवेद' यह नाम हो सकता है।

अथर्ववेदके मन्त्रद्रष्टा ऋषियामें ब्रह्मा ऋषिके द्वारा दृष्ट मन्त्राकी सख्या ८८४ है। इस आधारपर भी अथर्ववेदका नाम 'ब्रह्मवेद' हा सकता है।

भिषग्वेद—

अथर्ववेदके लिये 'भिषग्वेद' का प्रयोग भी मिलता है। इसमें विभिन्न रागों तथा उनकी औषधियोंका भरपूर उल्लख किया गया है। अत यह नाम उपयुक्त है।

क्षत्रवेद—

अथर्ववेदम स्वराज्य-रक्षाके लिये राजकर्मसे सम्बन्धित बहुतसे सूक्त उपलब्ध हैं। इसलिये अथर्ववेदको 'क्षत्रवद' नाम दिया गया है।

अथर्ववेदकी शाखाएँ

अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ थीं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) पैप्पलाद, (२) तौद (३) मौद, (४) शौनक, (५) जाजल (६) जलद, (७) ब्रह्मवद (८) देवदर्श, और (९) चारणवैद्य। इन शाखाओंमें आजकल प्रचलित शौनक-शाखाकी सहिता पूर्णरूपस उपलब्ध है। पैप्पलादसंहिता अभी अपूर्ण ही उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त अन्य शाखाआकी कोई भी सहिता उपलब्ध नहीं है।

शौनकसहिताका संक्षिप्त परिचय

मन्त्रोका सकलनक्रम—

अथर्ववेदमें २० काण्ड ७३० सूक्त ३६ प्रपाठक और ५९८७ मन्त्र हैं। इसमें मन्त्राका विभाजनक्रम एक विशिष्ट शैलीका है। पहले काण्डस सातवें काण्डतक छोटे छोटे सूक्त हैं। पहले काण्डमें प्राय ४ मन्त्रोंके सूक्त हैं। दूसरे काण्डम ५ मन्त्रोंके तीसरे काण्डमें ६ मन्त्रोंके चौथे काण्डमें ७ या ८ मन्त्रोंके पाँचवे काण्डमें ८ या उससे अधिक मन्त्रोंके सूक्त हैं। छठे काण्डमें १४२ सूक्त हैं और प्राय सभी सूक्त ३ मन्त्रोंके हैं। सातवें काण्डमें ११८ सूक्त हैं और प्रत्येक सूक्तमें प्राय एक या दो मन्त्र हैं। आठवें काण्डसे १२वें काण्डतक विषयकी विभिन्नता और बड़े-बड़े सूक्तोंका संकलन है। तेरहवें काण्डसे २० काण्ड तक भी अधिक मन्त्रावाले सूक्त हैं परंतु विषयकी एकरूपता है। जैसे बारहवे काण्डमें पृथ्वीसूक्त है, जिसमें राजनीतिक तथा भौगोलिक सिद्धान्तोंकी भावना दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार १३वें १५वें और १७वें काण्ड अध्यात्मविषयक

हैं। चौदहवेंमें विवाह, सोलहवमे दु स्वप्ननाशनके लिये प्रार्थना, सत्रहवेंमे अभ्युदयके लिये प्रार्थना, अठारहवेंमें पितृमेध, उन्नीसवेंके शेष मन्त्राम भैषज्य राष्ट्रवृद्धि आदि तथा बीसवमें सोमयागके लिये आवश्यक मन्त्राका सकलन है। २०वें काण्डमे अधिकाश सूक्त इन्द्रविषयक हैं।

प्रतिपाद्य विषय

१-ब्रह्मविषयक दार्शनिक सिद्धान्त—

इस वेदमें ब्रह्मका वर्णन विशेषरूपसे हुआ है। ब्रह्मका वर्णन इस वेदमें जितने विस्तार और सूक्ष्मतासे हुआ है, उतने विस्तारसे एव सूक्ष्मतासे किसी वेदमे नहीं हुआ है। उपनिषदामे ब्रह्मविद्याका जो विकसित रूप मिलता है उसका स्रोत अथर्ववेद ही है यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी। विविध दृष्टिकोणसे इसमें ब्रह्मतत्त्वका विवेचन हुआ है। ब्रह्म क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसकी प्राप्तिके साधन क्या हैं? वह एक है या अनेक? उसका अन्य देवोंके साथ क्या सम्बन्ध है? आदि सभी विषयोके साथ-साथ जीवात्मा और प्रकृतिका भी विवेचन हुआ है। इसमें विराट्, ब्रह्म स्कम्भ, रोहित, व्रात्य उच्छिष्ट प्राण, स्वर्गौदन आदि ब्रह्मके विविध स्वरूपोके विस्तृत वर्णन मिलते हैं।

इसमें ससारकी उत्पत्ति जलसे बतायी गयी है। प्रारम्भमे ईश्वरने जलमें बीज डाला। उससे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति हुई और उससे सृष्टिका प्रारम्भ हुआ (अथर्ववेद ४।२।६।८)।

इस प्रकार अध्यात्मविषयक दार्शनिक चिन्तन ही अथर्ववेदका मूल प्रतिपाद्य विषय है।

२-भैषज्यकर्म—

प्रतिपाद्य विषयोकी दूसरी कोटिमे विविध रोगांके उपचारार्थ प्रयोग किये जानेवाले भैषज्य सूक्त आते हैं। जिनके मन्त्रोंके द्वारा देवताआका आह्वान तथा प्रार्थना आदि किये जाते हैं। साथमें विभिन्न रोगोके नाम तथा उनके निराकरणके लिये विविध प्रकारकी औषधियोंके नाम भी उक्त सूक्तोमें प्राप्त होते हैं। जल-चिकित्सा सूर्यकिरण-चिकित्सा और मानसिक चिकित्साके विषयापर इस वेदमे विस्तृत वर्णन मिलता है।

३-शान्तिक तथा पौष्टिक कर्म—

विभिन्न प्रकारकी क्षति, आपत्ति या अवाञ्छित क्रियाकलापोसे मुक्त होनेके लिये किये जानेवाले कर्मोंको शान्तिक कर्म कहते हैं। दु स्वप्ननाशन दु शकुन-निवारण आदिके लिये किये जानेवाले देव-प्रार्थनादि विभिन्न सूक्तोंके जप आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

ऐश्वर्यप्राप्ति और विपन्निवृत्तिके लिये प्रयोग किये जानेवाले सूक्त पौष्टिक कर्मके अन्तर्गत आते हैं। जैसे पुष्टिवर्धक मणिबन्धन तथा देव-प्रार्थना आदि।

४-राजकर्म [राजनीति]—

अथर्ववेदमे राजनीतिक विषयाका भरपूर उल्लेख मिलता है। राजा कैसा होना चाहिये? राजा और प्रजाका कर्तव्य शासनके प्रकार, राजाका निर्वाचन और राज्याभिषेक राजाके अधिकार एव कर्तव्य, सभा और समिति तथा उनके स्वरूप, न्याय और दण्डविधान सेना और सेनापति सैनिकाके भेद एव उनके कार्य, सैनिक-शिक्षा, शस्त्रास्त्र युद्धका स्वरूप शत्रुनाशन विजयप्राप्तिके साधन आदि विविध विषय इसके अन्तर्गत आते हैं।

५-सामनस्यकर्म—

अथर्ववेदमे राष्ट्रिय, सामाजिक, पारिवारिक राजनीतिक तथा धार्मिक सामञ्जस्यके लिय विशेष महत्त्व दिया गया है और परस्परमे सौहार्द-भावना स्थापित करनेके लिये विभिन्न सूक्तोका स्मरण करनेका विधान किया गया है।

६-प्रायश्चित्त [आत्मालोचना]—

ज्ञात-अज्ञात-अवस्थामें किये हुए विभिन्न त्रुटिपूर्ण कर्मोंके कारण उत्पन्न होनेवाले सम्भावित अनिष्टाको दूर करनेके लिये क्षमा-याचना, देव-प्रार्थना, प्रायश्चित्तहोम, चारित्रिक बदनामोका प्रायश्चित्त और अशुभ नक्षत्रामें जन्मे हुए बच्चांके प्रायश्चित्त आदि विविध प्रायश्चित्ताका उल्लेख इसम मिलता है।

७-आयुष्यकर्म—

स्वास्थ्य तथा दीर्घायुके लिये देवताओकी प्रसन्नतापर विश्वास करते हुए विभिन्न सूक्ताके द्वारा दीर्घायुष्य-प्राप्ति-हेतु प्रार्थना की गयी है। इसके अतिरिक्त दीर्घायु-प्राप्तिके लिये हाथ तथा गलेमें रक्षासूत्र एव मणियोंको बाँधनका विधान है।

८-अभिचार-कर्म—

दैत्य-राक्षस तथा शत्रु आदिके उद्देश्यसे किये जानेवाले विभिन्न प्रयोग एव विधियाँ इसके अन्तर्गत आती हैं। मारण मोहन उच्चाटन वशीकरण आदि विषयोंको अभिचार कहते हैं। अथर्ववेदमें आभिचारिक मन्त्रोंकी संख्या बहुत कम

मात्राम उपलब्ध है परतु कतिपय पाश्चात्त्य विद्वान् अथर्ववेदको अभिचारकर्म-प्रधान वेदके रूपमें भी स्वीकारते हैं। हमारी दृष्टिमें तो यह बात बिलकुल युक्तिसगत नहीं है, क्योंकि अथर्ववेदमें कितने मन्त्र किस कर्ममें विनियुक्त हैं प्रथमत यह देखना चाहिये। इसके बाद कौन-कौनसे मन्त्रामे किन-किन विषयोंका वर्णन है—यह देखनेसे पता चलता है कि अथर्ववेदमें अधिकतम मन्त्र अध्यात्मदर्शन-विषयक हैं। इसी कारण अथर्ववदको 'ब्रह्मवेद' कहा जाता है।

इस प्रकार अथर्ववदके विषय-विवेचनसे यह पता चलता है कि इसम धर्म अर्थ काम तथा मोक्षरूपी पुरुषार्थ-चतुष्टयके सभी अङ्गाका वर्णन है। शास्त्रीय दृष्टिसे धर्मदर्शन, अध्यात्म और तत्त्वमीमासासे सम्बद्ध सभी तत्त्व इसमें विद्यमान हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिसे राजनीति अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र और ज्ञान-विज्ञानका यह भण्डार है। साहित्यिक दृष्टिसे रस अलकार, छन्द तथा भाव एवं भाषासौन्दर्य आदि विषय इनमें विद्यमान हैं। व्यवहारोपयोगिताकी दृष्टिसे भावात्मक प्रेरणा मनन-चिन्तन कर्तव्योपदेश, आचारशिक्षा और नीतिशिक्षाका इसमें विपुल भण्डार है। सस्कृतिकी दृष्टिसे इसमें उच्च मध्यम और निम्न—इन तीनों स्तराका स्वरूप परिलक्षित हाता है। अत अथर्ववेद वैदिक वाङ्मयका शिरोभूषण है। विषयकी विविधता स्थूलसे सूक्ष्मतम तत्त्वाका प्रतिपादन, शास्त्रीयताके साथ व्यावहारिकताका सम्मिश्रण इसकी मुख्य विशेषता है।

कुछ आथर्वणिक ग्रन्थोका विवरण

अथर्ववेदकी नौ शाखाओंक ब्राह्मण-ग्रन्थामें आज एक 'गोपथ-ब्राह्मण' ही उपलब्ध है। यह ग्रन्थ भी पैप्पलाद शाखासे सम्बद्ध है। इसके दा भाग हैं—पूर्वभाग तथा उत्तरभाग। पूर्वभागमें ५ प्रपाठक तथा उत्तरभागमें ६ प्रपाठक हैं। प्रपाठक कण्डिकाओंमें विभक्त हैं। पूर्वभागके प्रपाठकाम १३५ तथा उत्तरभागके प्रपाठकोंमें १२३ कण्डिकाएँ हैं। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय श्रौतयज्ञोंका वर्णन हा है। इसमें प्रतिपादित निर्वचन-प्रक्रिया भी अत्यन्त रोचक है।

अथर्ववेदसे सम्बद्ध श्रौतसूत्रोंमें एकमात्र श्रौतसूत्र 'वैतानसूत्र' के नामसे प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ शौनक-शाखासे सम्बद्ध है। इसमें श्रौतकर्मोंका विनियोग बताया गया है और इसम आठ अध्याय हैं। अथर्ववेदके गृह्यसूत्रामें 'सहिता-विधि'-के नामसे प्रसिद्ध 'कौशिक-गृह्यसूत्र' उपलब्ध है। यह ग्रन्थ शौनक-सहिताका प्रत्यक्ष विनियाग बताता है। श्रौतसूत्र भी इसीके आश्रित हैं। १४ अध्याय तथा १४१ कण्डिकाओंमें विभक्त कौशिक-सूत्र आथर्वण साहित्यका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। शिक्षाग्रन्थोंम 'माण्डूकी शिक्षा' उपलब्ध है। १७९ श्लोकास युक्त यह शिक्षाग्रन्थ अथर्ववेदके स्वर तथा वर्णोंके विषयमें जानकारी देता है।

इसी प्रकार अथर्ववेदस सम्बद्ध ५ कल्पसूत्र तथा ५ लक्षणग्रन्थ हैं। पाँच कल्पसूत्र य हैं—(१) नक्षत्रकल्प, (२) वैतानकल्प (वैतान श्रौतसूत्र), (३) संहिताविधि (कौशिक-गृह्यसूत्र), (४) आङ्गिरस-कल्प और (५) शान्तिकल्प। इनमेंसे आजकल केवल दो ही कल्पसूत्र उपलब्ध हैं। लक्षणग्रन्थाम 'शौनकीया चतुरध्यायिका' चार अध्यायाम विभक्त है। यह सबसे प्राचीन अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य है। सन् १८८२ में अमेरिकन विद्वान् डॉ॰ ह्विट्नीने इसे सानुवाद प्रकाशित किया था। अभी १९९८में वाणी-मन्दिर, नई सडक, वाराणसी 'निर्मल' और 'शशिकला' ने सस्कृत तथा हिन्दी दोनो भाष्य-सहित इसको प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त 'अथर्वप्रातिशाख्य' नामक दूसरा प्रातिशाख्य भी उपलब्ध है। इसमें १९२३ में श्रीविश्वबन्धु शास्त्रीजीद्वारा प्रकाशित केवल सूत्राका मूल पाठ और डॉ॰ श्रीसूर्यकान्तजी शास्त्रीद्वारा १९४० में लाहौरसे प्रकाशित—इस प्रकार दो प्रातिशाख्य उपलब्ध हाते हैं। श्रीसूर्यकान्तजीद्वारा प्रकाशित प्रातिशाख्यमें उदाहरण-सहित कुछ टिप्पणियाँ भी हैं। तीसरे लक्षणग्रन्थमें 'पञ्चपटलिका', चौथेमें 'दन्त्योष्ठविधि' और पाँचवम 'बृहत्सर्वानुक्रमणिका' भी आजकल उपलब्ध हैं। पञ्चपटलिकामें अथर्ववेदके काण्डों तथा तद्गत मन्त्रोंकी सख्याका विवरण दन्त्योष्ठविधिमें वकार तथा बकारका उच्चारणगत नियम तथा बृहत्सर्वानुक्रमणिकामें अथर्ववेदके ऋषि, देवता तथा छन्दोंका परिचय प्रस्तुत किया गया है।

अथर्ववदके प्रमुख उपनिषदोंम पैप्पलाद-शाखाका प्रश्नोपनिषद् उपलब्ध है और शौनक-शाखाके मुण्डक तथा माण्डूक्य दो उपनिषद् हैं। इनके अतिरिक्त अथर्ववेदसे सम्बद्ध अन्य उपनिषदोंकी संख्या भी अधिक है। मुक्तिकोपनिषद्के अनुसार १०८ उपनिषदोंमें ३१ उपनिषद् अथर्ववदसे सम्बद्ध हैं।

[श्रीअभिरामजी रेग्मी, अथर्ववेदाचार्य]

अथर्ववेदीयगोपथ ब्राह्मण—एक परिचय

अथर्ववेदकी नौ शाखाओमे आज केवल दो ही शाखाएँ उपलब्ध होती हैं—शौनक शाखा तथा पैप्पलाद शाखा। इनमें शौनक शाखा ही आजकल पूर्णरूपसे उपलब्ध तथा प्रचलित है। पैप्पलाद शाखाकी संहिता पूर्णरूपसे उपलब्ध नहीं है। पातञ्जल-महाभाष्य (१। १। १) तथा गोपथब्राह्मण (१। १। २९)-के आधारपर यह ब्राह्मण पैप्पलाद शाखासे सम्बद्ध है, परतु सम्प्रति उपलब्ध अथर्ववेदका एकमात्र ब्राह्मण 'गोपथ' ही है।

नामकरण—

'गोपथ' के नामकरणके विषयमे विविध मत उपलब्ध होते हैं परतु इस लेखमें अधिक विश्वसनीय एकमात्र मत प्रस्तुत किया जाता है।

ऐतरेय कौषीतकि, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणग्रन्थोकी प्रसिद्धि प्रवचनकर्ता आचार्योंके नामपर है। अत गोपथ-ब्राह्मणकी प्रसिद्धि भी इसके प्रवचनकर्ता ऋषि 'गोपथ' के आधारपर हुई क्योकि अथर्ववेद शौनकसंहिता (काण्ड-१९के ४७—५० तक चार सूक्तों)-के द्रष्टा ऋषि गोपथ हैं। इस आधारपर गोपथब्राह्मणके प्रवचनकर्ता गोपथ ऋषिके होनेकी सम्भावना अधिक है।

स्वरूप—

यह ब्राह्मण 'पूर्व-गोपथ' और 'उत्तर-गोपथ'—इन दो भागोमे विभक्त है। पूर्वभागमे पाँच तथा उत्तरभागमें छ प्रपाठक—इस प्रकार कुल ग्यारह प्रपाठक हैं। प्रपाठकाका विभाजन कण्डिकाओमें हुआ है। पूर्वभागके पाँच प्रपाठकोंमें १३५ और उत्तरभागके छ प्रपाठकोमें १२३ कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार इसमे कुल ग्यारह प्रपाठक और २५८ कण्डिकाएँ हैं।

अथर्ववेद-परिशिष्टके ४९वें परिशिष्ट 'चरणव्यूह' का कथन है कि किसी समयमें गोपथब्राह्मण १०० प्रपाठकोंमे विभक्त था।

प्रतिपाद्य विषय—

पूर्वभागके प्रथम प्रपाठकमें सृष्टि-प्रक्रियाका निरूपण है। तदनुसार स्वयम्भू-ब्रह्माका तप जलकी सृष्टि जलमें रेत स्खलन शान्त जलके समुद्रसे भृगु, अथर्वा आथर्वण ऋषि तथा अथर्ववेद ॐकार, लोक और त्रयीका आविर्भाव वर्णित है। अशान्त जलसे वरुण, मृत्यु, अङ्गिरा अङ्गिरसी ऋषि अङ्गिरस वेद पाँच व्याहृति तथा यज्ञकी उत्पत्ति बतलायी गयी हैं। तदनन्तर पुष्करमे ब्रह्मके द्वारा ब्रह्माकी सृष्टि, ॐकारका महत्त्व, ॐकार-जपका फल ॐकारके विषयमे ३६ प्रश्न तथा उनके उत्तर, गायत्री मन्त्रकी विशद व्याख्या एव आचमनविधि आदि विषयाका वर्णन है।

द्वितीय प्रपाठकमें ब्रह्मचारीके महत्त्व तथा उनके कर्तव्योका निरूपण करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचारीको ऐन्द्रिक रागो तथा आकर्षणोसे बचना चाहिये। इसके साथ ही स्त्रीसम्पर्क, दूसरोको कष्ट पहुँचाने तथा ऊँचे आसनपर बैठनेका निषेध आदि विविध आचार-दर्शनके विषय इसमें प्रतिपादित हैं। तदनन्तर यज्ञमे होता प्रभृति चारा ऋत्विजोंकी भूमिका भी इसमे वर्णित हैं।

तृतीयस लेकर पञ्चम प्रपाठकतक यज्ञसम्बन्धी विभिन्न विषयोका वर्णन है। जैसे—ब्रह्माके महत्त्व अथर्ववेदवित्को ब्रह्मा बनाना चाहिये, व्रतभङ्ग होनेपर प्रायश्चित करना चाहिये दर्शपूर्णमास तथा अग्निहोत्रकी रहस्यमयी व्याख्या ऋत्विजोकी दीक्षाका विशेष वर्णन अग्निष्टोम, सवनीय पशु, इष्टियाँ गवामयन अश्वमेध पुरुषमेध आदि विभिन्न यज्ञाका विवरण।

उत्तरभागमें भी विभिन्न यज्ञा तथा तत्सम्बद्ध आख्यायिकाओका उल्लेख है। जैसे—प्रथम प्रपाठकमें कण्डिका १—१२ तक दर्शपूर्णमास १३—१६ तक काम्येष्टियाँ, १७—२६ तक आग्रयण, अग्निचयन और चातुर्मास्योंका वर्णन है। द्वितीय प्रपाठकके प्रथम कण्डिकामें काम्येष्टि, २ से ४ तक तानूनप्त्रेष्टि ५-६ तक प्रवर्ग्येष्टि ७—१२ तक यज्ञशरीरके भेद, सोमस्कन्द-प्रायश्चित्त १३—१५ तक आग्नीध्रविभाग प्रवृत्ताहुतिआ, प्रस्थितग्रहों तथा १६—२३ तक दर्शपूर्णमासका निरूपण है। तृतीय प्रपाठकके प्रथमसे षष्ठ कण्डिका तक वषट्कार-अनुवषट्कार, ७—११ तक ऋतुग्रहादि १२—१९ तक एकाह प्रात सवन, २०—२३ एकाह माध्यन्दिनसवनका उल्लेख है। चतुर्थ प्रपाठकमें तृतीयसवन तथा षोडशी यागका विधान है। पञ्चमसे षष्ठ प्रपाठकोंमें अतिरात्र, सौत्रामणि, वाजपय, अप्तोर्याम, अग्निचयन और सत्रयागका निरूपण है।

इस प्रकार अन्य ब्राह्मणग्रन्थोंके समान गोपथब्राह्मणमें भी मुख्यरूपसे यज्ञकर्मोंका प्रतिपादन हुआ है। इस ब्राह्मणकी जो अलग विशेषताएँ हैं उनको भी संक्षिप्त रूपमें यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

गोपथब्राह्मणकी विशेषताएँ—

१-पूर्वब्राह्मणके प्रारम्भमें ही सृष्टि-प्रक्रियाका निरूपण है (१। १। १—१५)।

२-ॐकारसे जगत्की सृष्टि (१। १। १६—३०)। यद्यपि पूर्ववर्णित सृष्टि-प्रक्रियासे यह भिन्न प्रतीत होता है तथापि इसका अलग महत्त्व है।

३-इसमें ॐकारके विषयमें जितनी व्याख्या उपलब्ध होती है, उतनी व्याख्या अन्यत्र नहीं है। प्रत्येक वेदमें ॐकारोच्चारणका भेद (१।१।२५), प्रत्येक वेदमन्त्रके उच्चारणसे पूर्व ॐकारका उच्चारण (१।१।२८) करना चाहिये।

४-किसी अनुष्ठानके आरम्भ करनेके पहले तीन बार आचमन करना चाहिये (इसके लिये विशिष्ट मन्त्रका संकेत है—१। १। ३९)।

५-ब्राह्मणको गाना और नाचना नहीं चाहिये 'आग्लागृध' नहीं कहलाना चाहिये (य एष ब्राह्मणो गायनो वा नर्तनो वा भवति तमाग्लागृध इत्याचक्षते, तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेन्नानृत्येन्माग्लागृधः स्यात् १। २। २१)।

६-गायत्री-मन्त्रकी प्राचीनतम व्याख्या इसमें मिलती है।

७-व्याकरण महाभाष्यमें उपलब्ध अव्यय-कारिकाका प्रथम पाठ इसी ब्राह्मणमें दिखायी पड़ता है—'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्' (१।१।२६) इसके अतिरिक्त धातु, प्रातिपदिक, विभक्ति विकार, विकारी स्थानानुप्रदान आदि व्याकरण-सम्बन्धी शब्दोंका भी उल्लेख है (१। १। २५—२७)।

८-आथर्वणश्रुति (अ० ११।५)-का अवलम्बन करके ब्रह्मचारीके विभिन्न कृत्योंका उल्लेख है (१। २। १—९)। वेदाध्ययनके लिये ४८ वर्षतक ब्रह्मचारी-व्रतमें रहनेके विधान (१। २। ५)-के साथ प्रत्येक वेदके लिये बारह-बारह वर्षोंकी अवधि निर्धारित की गयी है।

निर्वचन-प्रक्रिया—

अन्य ब्राह्मणोंकी तरह गोपथब्राह्मणमें भी शब्दोंकी निर्वचन-प्रक्रिया अत्यन्त रोचक प्रतीत होती है। जैसे—

१-यज्ञार्थक 'मख' शब्दकी व्युत्पत्ति—'छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः, मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति।' (गोपथब्रा० २। २। ५)। 'ख' का अर्थ छिद्र है, इसका 'मा' शब्दके द्वारा निषेध किया गया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि यज्ञमें कोई अशुद्धि या भूल नहीं होनी चाहिये।

२-'रथ' शब्दकी व्युत्पत्ति—'तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते' (१। २। २१) रसपूर्ण अर्थात् आनन्दमय होनेसे इसका नाम 'रथ' हो गया।

३-'दीक्षित' शब्दकी व्युत्पत्ति—'श्रेष्ठां धियं क्षियतीति—दीक्षित' (१। ३। १९) श्रेष्ठ बुद्धिका निवास होनेके कारण 'दीक्षित' हो गया।

४-'स्वेद' शब्दकी व्युत्पत्ति—'सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते' (१। १। १) वेदके अच्छे जानकार होनेसे ही पसीनेको 'स्वेद' कहा जाता है। इसपर एक आख्यायिका भी है।

५-'कुन्ताप' शब्दकी व्युत्पत्ति—'कुयं भवति यै नाम कुत्सितं तद्यत्तपति, तस्मात् कुन्ताप' (२। ६। १२)। अथर्ववेदके २०।१२७—१३६ तकके सूक्तोंका नाम 'कुन्ताप सूक्त' है। इसीका अर्थ यहाँ दिया गया है। पापकर्मको जलानेवाले सूक्त या मन्त्रका नाम 'कुन्ताप' है।

इसके अतिरिक्त धारण करनेसे 'धरा', जन्म देनेके कारण 'जाया' वरणसे 'वरुण', मधुमें 'मृत्यु', भरण करनेके कारण 'भृगु' अथ-अर्वाक्-'अथर्वा', अङ्ग-रस-अङ्गरस या 'अङ्गिरस' आदि विभिन्न प्रसंगोंमें विभिन्न शब्दोंकी निरुक्ति है। इस तरह भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे भी गोपथब्राह्मणका अपना पृथक् महत्त्व है।

गोपथब्राह्मणका सम्बन्ध—

वैदिक वाङ्मयमें सामान्यतः संहिता ब्राह्मण श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र ऐसा क्रम उपलब्ध होता है किंतु आथर्वण वाङ्मयमें ऐसा क्रम न होकर इससे भिन्न क्रम या विपर्यस्त क्रम उपलब्ध होता है। आथर्वणिक वाङ्मयके अध्ययनसे यह पता चलता है कि इसका क्रम भिन्न है। अन्य वेदोंके श्रौतसूत्र संहिता या ब्राह्मणग्रन्थोंपर आश्रित हैं, और गृह्यसूत्र श्रौतसूत्रोंपर। परंतु अथर्ववेदका वैतानश्रौतसूत्र कौशिकगृह्यसूत्रपर आधारित है और गृह्यसूत्र पूर्णतः संहितापर आश्रित है। इसी प्रकार ब्राह्मण और श्रौतसूत्रके कुछ अंशोंकी तुलना करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि गोपथब्राह्मण भी वैतानश्रौतसूत्रसे सम्बद्ध है।

[श्रीप्रियव्रतजी शर्मा, अथर्ववेदाचार्य]

वेदाङ्गोका परिचय

(डॉ० श्रीनरेशजी झा शास्त्रचूडामणि)

वेद समस्त ज्ञानराशिके अक्षय भण्डार हैं। इतना ही नहीं हम भारतीयोकी प्राचीन सभ्यता संस्कृति और धर्मके आधारभूत स्तम्भ हैं। अत समस्त जन-मानस इन्हें अतिशय आदर-सम्मान एव पवित्रताकी दृष्टिसे देखता है। इनकी महनीयता तो स्वत सिद्ध है।

ये वेद अनादि और अपौरुषेय हैं, साक्षात्कृतधर्मा ईश्वरके नि श्वासभूत हैं—'यस्य नि श्वसित वेदा ।' वस्तुत ये ईश्वरप्रदत्त ज्ञानके निष्पादक हैं। वेद शब्दकी व्युत्पत्ति ही 'विद ज्ञाने' धातुसे हुई है। इनमे ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक समस्त पक्षोका प्रतिपादन है। ये तप पूत ब्रह्मनिष्ठ मन्त्रद्रष्टा ऋषियाद्वारा उनके अपने तपोबलसे अनुभूत हैं।

वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंके प्रतिपादक हैं। ये वेद भी अङ्गोंके द्वारा ही व्याख्यात होते हैं, अत वेदाङ्गोंका अतिशय महत्त्व है।

काव्यशास्त्रमें 'अङ्ग' शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है उपकार करनेवाला—अर्थात् वेदोंके वास्तविक अर्थका भलीभाँति दिग्दर्शन करानेवाला। जैसा कि कहा गया है—'अङ्ग्यन्ते-ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि।' अर्थात् जिन उपकरणोंसे किसी तत्त्वके परिज्ञानमे सहायता प्राप्त होती है, वे 'अङ्ग' कहलाते हैं। निष्कर्ष यह है कि वेदोंके अर्थ-ज्ञानम और उनके कर्मकाण्डके प्रतिपादनमें भरपूर सहायता प्रदान करनेमें जो सक्षम और सार्थक शास्त्र हैं, उन्हे ही विद्वान् 'वेदाङ्ग'के नामसे व्यवहृत करते हैं। वेदाङ्ग छ प्रकारके होते हैं—शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्यौतिष।

वेद-मन्त्रोंका समुचित रूपसे उच्चारण करना प्रथमत परमावश्यक है। अत इस निमित्त जो व्यवहारमें आनेवाली पद्धति है, वही वेदाङ्गकी 'शिक्षा' कही जाती है। वेदका मुख्य प्रयोजन है—वैदिक कर्मकाण्ड, जिससे यज्ञ-यागादिका यथार्थ अनुष्ठान किया जाता है। इस प्रयोजनके लिये प्रवृत्त जो अङ्ग है, उसे 'कल्प' कहते हैं। कल्पका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है—यज्ञ-यागके प्रयोगोंका समर्थक शास्त्र। जैसा कि कहा गया है—

'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति कल्प ।'

इसी प्रकार व्याकरण शास्त्रका वेदाङ्गत्व-प्रयोजन इसलिये सिद्ध है कि वह पदोका, प्रकृतिका और प्रत्ययका विवरण प्रस्तुत कर पदके यथार्थ स्वरूपका परिचय देता है। साथ ही अर्थका विश्लेषण भी करता है—

'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।'

—इस प्रयोजनके लिये व्याकरणकी उपयोगिता निर्विवाद है।

चौथे अङ्ग निरुक्तका कार्य है—पदाका निरुक्ति-कथन और व्युत्पत्ति-प्रदर्शन। निरुक्तिकी विभिन्नतासे अर्थमें भी भिन्नता होती है। अत अर्थ-निरूपण-प्रसगमे इसकी वेदाङ्गता सिद्ध होती है।

दूसरी बात यह कि वेद छन्दोमयी वाणीमें हैं। अत छन्दके परिचयके बिना वेदार्थका ज्ञान कैसे हो सकता है। परिज्ञान प्राप्त होनेपर ही मन्त्रोका समुचित उच्चारण और पाठका सुस्पष्ट ज्ञान होगा।

इसी प्रकार छठा वेदाङ्ग ज्यौतिष शास्त्र है जिसे प्रत्यक्ष शास्त्र कहा गया है—'प्रत्यक्ष ज्यौतिष शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ' अर्थात् ज्यौतिष शास्त्र प्रत्यक्ष है, चन्द्र और सूर्य इसके साक्षी हैं। यह शास्त्र यज्ञ-यागादिके समुचित समयका निरूपण करता है। जैसे—श्रौतयागका अनुष्ठान किसी विशिष्ट ऋतु और किसी विशिष्ट नक्षत्रमें करनेका विधान है। साथ ही विवाहादि गृह्यकर्मके लिये नक्षत्रोंका ज्ञान हम ज्यौतिष शास्त्रसे ही प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार सक्षेपम यह कथन समीचीन होगा कि मन्त्रोंके समुचित उच्चारणके लिये शिक्षाका, कर्मकाण्डीय यज्ञ-यागादि अनुष्ठानके लिये कल्पका शब्दस्वरूप और व्युत्पत्ति-ज्ञानके लिय व्याकरणशास्त्रका,

लिये—शब्दोंके स्फोटनपूर्वक निर्वचन एवं निरुक्तिके लिये निरुक्तका, वैदिक छन्दोंके यथार्थ ज्ञानके लिये छन्दका और विविध अनुष्ठानोंके काल-ज्ञानके लिये ज्यौतिषका समुचित उपयोग होनेके कारण विद्वद्वर्ग इन्हें 'वेदाङ्ग' कहते हैं।

शिक्षा

वेदोंके प्राणभूत वेदाङ्गोंमें शिक्षाका प्राथमिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। यह शिक्षा वेदपुरुषका घ्राण (नाक) है—'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।' जिस प्रकार पुरुष सभी अङ्गोंके यथास्थिति रहनेपर एवं मुख-सौन्दर्य आदिसे परिपुष्ट होनेपर भी घ्राण (नाक)-के बिना चमत्कारपूर्ण स्वरूपको नहीं प्राप्त करता है, निन्दित ही होता है,उसी प्रकार वेदपुरुषका स्वरूप शिक्षारूपी घ्राणके बिना अत्यन्त अशोभनीय और विकृत आकारवाला दिखायी देगा।

शिक्षाका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए वेद-भाष्यकार सायणाचार्यजी कहते हैं—'*स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा*' अर्थात् स्वर एवं वर्ण आदिके उच्चारण-प्रकारकी जहाँ शिक्षा दी जाती हो उपदेश दिया जाता हो, उसे '*शिक्षा*' कहते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि वेदाङ्गोंमें उस शास्त्रको शिक्षा कहते हैं, जिससे ऋग्वेद आदि वेद-मन्त्रोंका अविकल यथास्थिति विशुद्ध उच्चारण हो।

इस महनीय शिक्षा-शास्त्रका प्रयोजन तैत्तिरीयोपनिषद्में इस प्रकार वर्णित है—'*अथ शीक्षां व्याख्यास्यामः*—वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, संतान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः' अर्थात् वर्ण इस पदसे अकारादिका, स्वरसे उदात्तादिका, मात्रासे ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतका, बलसे स्थान-प्रयत्नका, सामसे निषाद आदि स्वरका और संतानसे विकर्षण आदिका ग्रहण होता है। संक्षेपमें यही शिक्षाका प्रयोजन है। इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि वेदाध्ययनकी अच्छी प्राचीन प्रणाली यह है कि प्रारम्भमें गुरु (शिक्षक) किसी मन्त्रका सस्वर उच्चारण स्वयं करे, तत्पश्चात् शिष्य सावधानीसे सुनकर और अवधारणा करके उसका उच्चारण—अनुसरण करे। अतएव वेदका एक नाम 'अनुश्रव' भी है अर्थात् अनु—पश्चात् जो सुना जाय वह है 'अनुश्रव'। इसीलिये कहा गया—'गुरोर्मुखाद् अनुश्रूयते इति अनुश्रवो वेदः।'

वेदके समुचित उच्चारणके लिये स्वरका ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित होता है। मुख्यतः स्वर तीन होते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ऊँचे स्वरमें उच्चारणके कारण उदात्त, मन्द स्वरमें उच्चारण होनेसे अनुदात्त और दोनोंके समावेशसे उच्चरित होनेके कारण स्वरित कहा गया है।

प्रायः देखा जाता है कि वेदके प्रत्येक शब्दमें उदात्त स्वर अवश्य रहता है, शेष स्वर अनुदात्त होते हैं। इन अनुदात्तोंमेंसे कुछ अनुदात्त स्वर विशेष अवस्थामें स्वरित हो जाते हैं। वेदमें स्वर-प्रधानताका मुख्य कारण है अर्थका नियमन। यहाँ तात्पर्य यह है कि शब्दके एकत्व होनेपर भी स्वरके भेदसे उनमें अर्थ-भेद हो जाता है। स्वरमें एक सामान्य त्रुटि भी यदि हो जाती है तो अर्थान्तर अथवा अनर्थ हो जायगा। अतएव यज्ञका विधिपूर्वक निर्वाह करना कठिन हो जायगा। अतः स्वरका सावधानीपूर्वक व्यवहार करना चाहिये क्योंकि यथार्थ उच्चारणके लिये प्रत्येक वेदकी अपनी-अपनी शिक्षा है। जिन शिक्षाओंमें वेदानुकूल शिक्षाका विधान है।

कल्प

विपुल वेदाङ्ग-साहित्यमें कल्पका दूसरा स्थान है। कहीं-कहीं इतिहासमें यह तीसरे स्थानमें भी चर्चित है। वैदिक साहित्यमें इसका अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान है। कल्पकी प्रयोजनीयताका अनुभव तब हुआ, जब शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थोंमें यज्ञ-यागादिके कर्मकाण्डीय व्यवस्थामें विस्तार होनेसे उसके व्यवहारमें कठिनताकी अनुभूति होने लगी। उसकी पूर्तिके लिये कल्पसूत्रोंकी प्रतिशाखामें रचना हुई। ऋग्वेद प्रातिशाख्यके वर्गद्वय-वृत्तिमें कल्पके विषयमें कहा गया है—'*कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्*' अर्थात् कल्प वेद-प्रतिपादित कर्मोंका भलीभाँति विचार प्रस्तुत करनेवाला शास्त्र है। इसीलिये इसे वेदका हाथ कहा गया है—'*हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।*'

निष्कर्ष यह है कि जिन यज्ञ-यागादि विधानोंका विवाह-उपनयन आदि कर्मोंका महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थोंमें किया गया है, उन सूत्र ग्रन्थोंका नाम है—'कल्प'। इसकी प्राचीनताके विषयमें ऐतरेयारण्यकमें विपुल प्रमाण हैं।

कल्पसूत्रकी व्युत्पत्ति और व्यापकता—

सामान्य नियमके अनुसार कल्प और सूत्र इन दोनो शब्दोंमे सयोगसे कल्पसूत्रकी रचना होती है। कल्प वह विलक्षण शब्द है, जो किसी विशिष्ट अर्थको प्रकट करता है। वह विलक्षण अर्थ है—विधि, नियम न्याय, कर्म और आदेशके अर्थमें प्रयुक्त परिव्याप्ति। इसी प्रकार 'सूत्र' शब्दका विशिष्ट अर्थ होता है—सक्षेप।

सूत्र-रचनाका उद्देश्य—

वैदिक वाङ्मयके इतिहासम कल्पसूत्राका आविर्भाव नवीन युगका सूत्रपात है। यह भी एक विशिष्ट उद्देश्य था कि प्राचीन वैदिक युगमे उसके साहित्यका विस्तार दुर्गम और रहस्यमय होनेसे उसका यथार्थ ज्ञान कठिन था, उसी दुरूहताको दूर करनेके लिये सूत्र-युगका आविर्भाव हुआ।

कल्पसूत्रोंके भेद—

कल्पसूत्रोके मुख्यत तीन भेद होते हैं—श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। किन्हींके मतमे चौथा भेद भी है। वे शुल्बसूत्रको भी कल्पसूत्रोंमें ही मानते हैं, परतु इसमें 'ज्यामिति आदि विज्ञान'के समन्वित होनेके कारण इसे पृथक् कहा गया है।

श्रौतसूत्रोमें श्रुति-प्रोक्त चौदह यज्ञोका मुख्य रूपसे कर्तव्य-विधान है। इनमें ऋग्वेदके आश्वलायन और शाखायन दो श्रौतसूत्र हैं। इसी प्रकार गृह्यसूत्रोंमें आश्वलायन और पारस्कर गृह्यसूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। वैसे प्रत्येक वेदके अलग-अलग गृह्यसूत्र हैं। धर्मसूत्रोंमें चारों वर्णोंके कर्तव्यकर्म और व्यवहारके साथ राजधर्मका वर्णन मुख्य है। इनम मानव-धर्मसूत्र, जिसके आधारपर मनुस्मृतिकी रचना हुई अभी भी अनुपलब्ध है। प्राप्त धर्मसूत्रोंमें—गौतमधर्मसूत्र, बौधायन-धर्मसूत्र, आपस्तम्ब-धर्मसूत्र हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र वसिष्ठ-धर्मशास्त्र वैखानस-धर्मसूत्र और विष्णु-धर्मसूत्र आदि मुख्य हैं। ये वेदोके अनुपूरक हैं।

व्याकरण

वेदके छ अङ्गोमे व्याकरणशास्त्र तीसरा अङ्ग है और वह वेदपुरुषका प्रमुख अङ्ग है। पाणिनीय शिक्षामें मुखं व्याकरणं स्मृतम्' कहा गया है। मुख होनेके कारण व्याकरणशास्त्रका मुख्यत्व स्वयसिद्ध है।

व्याकरणका प्रयोजन—

किसी भी शास्त्रके अध्ययनके लिये यह आवश्यक होता है कि उस शास्त्रका प्रयोजन जाने, क्योंकि प्रयोजनके बिना किसी कार्यम मन्द पुरुषकी भी प्रवृत्ति नहीं होती—'प्रयोजनमनुद्दिश्य मूढोऽपि न प्रवर्तते।' अत उस शास्त्रका प्रयोजन-ज्ञान आवश्यक होता है। आचार्य कुमारिल भट्टने अपने श्लोकवार्तिकमें ठीक ही कहा है—

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते॥

अर्थात् सब शास्त्र या किसी कर्मका जबतक प्रयोजन न कहा जाय, तबतक उसमे किसीकी प्रवृत्ति कैसे होगी? यह ठीक है किंतु इस विषयमें श्रुति कहती है कि 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' अर्थात् ब्राह्मण (द्विजमात्र)-के द्वारा अनिवार्य सध्या-वन्दनादिकी तरह धर्माचरण तथा षडङ्ग वेदोका अध्ययन एव मनन किया जाना चाहिये। फिर भी मुनिवर कात्यायनने प्रयोजनका उद्देश्य बतलाते हुए कहा—'रक्षोहागमलघ्वसदेहा व्याकरणप्रयोजनम्।' अर्थात् रक्षा ऊह, आगम, लघु और असदेह—ये व्याकरण-अध्ययनके प्रयोजन हैं।

रक्षा—इस विषयमे भाष्यकार पतञ्जलिने कहा है कि 'वेदोकी रक्षाके लिये व्याकरण पढना चाहिये। लोप आगम और वर्ण-विकारको जाननेवाला ही वेदोकी रक्षा कर सकेगा।' कहनेका अभिप्राय यह है कि व्याकरणके नियमानुसार वर्ण-लोपादिके ज्ञानक बिना शास्त्रोंके आकर-स्वरूप वेदका परिपालन नहीं हो सकता। इतना ही नहीं कात्यायन और पतञ्जलिका मत है कि व्याकरण-ज्ञानके अभावमें मन्त्रोमे विकार उत्पन्न होगा। निष्कर्ष यह है कि व्याकरण पुरुषार्थका साधक उपाय है, क्योंकि वेदार्थ-ज्ञान कर्मानुष्ठानजनित और उपनिषद्-जनित सुख वस्तुत व्याकरण-अध्ययनका ही फल है।

ऊह—ऊहका अर्थ होता है तर्क-वितर्क अर्थात् नूतन पदोकी कल्पना। मीमासकोंका कहना है कि यह विषय तो मीमासा-शास्त्रका है। इस विषयम भाष्यकार पतञ्जलिका मत है कि 'वेदम जो मन्त्र कथित हैं वे सब लिङ्गों एवं विभक्तियोंमें नहीं हैं। अत उन मन्त्रोंम यज्ञमें अपेक्षित रूपम

लिङ्ग और विभक्तिका व्यतिहार करना चाहिये और यह दुष्कर कार्य वैयाकरणके द्वारा ही सम्भव है। अत व्याकरण अवश्य पढना चाहिये।'

आगम—व्याकरणके अध्ययनके लिये स्वय श्रुति ही प्रमाणभूत है। श्रुति कहती है कि ब्राह्मण (द्विज)-का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह 'निष्कारणधर्मका आचरण तथा अङ्गसहित वेदका अध्ययन करे। वेदके षडङ्गमें व्याकरण ही मुख्य है। मुख्य विषयमें किया गया प्रयत्न विशेष फलवान् होता है। अत श्रुति-प्रामाण्यको ध्यानमें रखकर व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये।'

लघु—इस विषयमें श्रुति कहती है कि देवगुरु बृहस्पतिने इन्द्रको दिव्य सहस्र वर्ष-पर्यन्त अध्यापन किया, फिर भी विद्याका अन्त नहीं हुआ। सक्षेपीकरणकी आवश्यकता थी। अतएव महर्षि पतञ्जलिने कहा कि शास्त्रका लघुता-सम्पादन भी व्याकरणका प्रयोजन है।

असंदेह—व्याकरण-प्रयोजनके विषयमें अन्तिम कारण है—असदेह। संदेहको दूर करनेके लिये व्याकरणका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। जैसे—'स्थूलपृषतीम्' यहाँ बहुव्रीहिसमास होगा अथवा तत्पुरुष? यही सदेहका स्थान है। निष्कर्ष यह है कि अवैयाकरण मन्त्रोके स्वर-विचारमें कदापि समर्थ नहीं हो सकेगा, इसलिये व्याकरणशास्त्र सप्रयोजन है। भले ही मीमासक इस विषयमें आक्षेप करते हों। वैयाकरण तो स्पष्टरूपसे कहते हैं—

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजन श्वजनो मा भूत् सकल शकल सकृच्छकृत्॥

अर्थात् हे पुत्र! तुमने अनेक अन्य शास्त्रोंका तो अध्ययन किया, फिर भी व्याकरणशास्त्र अवश्य पढो, जिससे तुम्हें शब्दोंका यथार्थ ज्ञान हो सके।

महर्षि पतञ्जलिने तो उपर्युक्त प्रयोजनाके अतिरिक्त म्लेच्छता-निवारणको भी प्रयोजन कहा है जिससे अपशब्दोंका प्रयोग सम्भव न हो। इस विषयमें शतपथ-ब्राह्मण भी सहमत है। अत व्याकरणका अध्ययन सप्रयोजन है क्योंकि कहा गया है—'एक शब्द सम्यग् ज्ञात शास्त्रान्वित सुप्रयुक्त स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।' अर्थात् एक शब्दका भी अच्छी तरहसे ज्ञान प्राप्त करके यदि शास्त्रानुसार उसका प्रयोग किया जाय तो स्वर्गलोकमें तथा इस लोकमें सफलता प्राप्त होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ऐन्द्र आदि आठ व्याकरणोंमें कौन-सा व्याकरण वेदाङ्गका प्रतिनिधित्व करता है। अब तक प्रचलित और प्राप्त व्याकरणामें पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम है। साथ ही अन्य व्याकरणोंमे पाणिनीय व्याकरण अधिक लोक-प्रचलित और लोकप्रिय है। अत. प्राचीन तथा सर्वाङ्गपूर्ण होनेके कारण पाणिनीय व्याकरण ही वेदाङ्गका प्रतिनिधित्व करता है। इससे ऐन्द्र आदि व्याकरणोंकी प्राचीनताके विषयमें कोई सदेह नहीं करना चाहिये।

निरुक्त

छ वेदाङ्गोंमें निरुक्त चौथे स्थानपर है, जो कि वेद पुरुषका श्रोत्र (कान) कहा गया है—'निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते' इस विषयमे वेद-भाष्यकार सायणाचार्य अपनी ऋग्वेद भाष्य-भूमिकामे कहते हैं कि 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजात यत्रोक्त तन्निरुक्तम्' अर्थात् अर्थ-ज्ञानमें निरपेक्ष पदाकी व्युत्पत्ति जहाँ कही गयी है, वह निरुक्त है। निरुक्तकी शाब्दिकी निरुक्ति होगी—नि शेषरूपसे [illegible] हो, वह निरुक्त है। अत जहाँ शिक्षा आदि वेदाङ्ग वेदके बाह्य तत्त्वोंका निरूपण करते हैं, वहीं निरुक्त वेद [illegible] आन्तरिक स्वरूपको स्पष्टत उद्घाटित करता है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि दूसरे वेदाङ्ग प्राय विभिन्न [illegible] लिखे गये हैं किंतु यह निरुक्त गद्य-शैलीमें लिखा है। दूसरी बात यह भी है कि वेदार्थको [illegible] निघण्टुके अनन्तर निरुक्तका ही प्रमाण है। [illegible] भाष्यभूत टीका है। निघण्टुमें वेदके कठिन [illegible] समुच्चय है। इसे वैदिक कोश भी कह सकते हैं। निघण्टुकी सख्याके विषयमे पर्याप्त मतभेद है। अभी उपलब्ध निघण्टु एक ही है और इसके ऊपर महर्षि यास्क विरचित निरुक्त है। कुछ विद्वान् ऋषिप्रवर यास्कको ही निघण्टुका रचयिता मानते हैं, किंतु प्राचीन परम्पराके अनुशीलनसे यह धारणा प्रमाणित नहीं होती। निरुक्तके प्रारम्भमें [illegible] 'समाम्नाय' कहा गया है। इस [illegible] महाशयने की है, उस व्याख्यासे तो उसकी [illegible] सिद्ध होती है। महाभारतके मोक्षधर्मपर्वमें प्रजापति

इस निघण्टुके रचयिता कहे गये हैं। निघण्टुमे पाँच अध्याय हैं। उनम एकसे तीन अध्यायतक नैघण्टुककाण्ड चौथा अध्याय नैगमकाण्ड और पाँचवाँ अध्याय दैवतकाण्ड है। अभी निघण्टुकी एक ही व्याख्या प्राप्त होती है जिसके व्याख्याकार हैं 'देवराजयज्वा'।

निरुक्तकाल—

ऐतिहासिक दृष्टिसे निघण्टुकालके बाद ही निरुक्तकाल माना जाता है। इसी युगमें निरुक्तका वेदाङ्गत्व सिद्ध होता है। दुर्गाचार्यकृत दुर्गवृत्तिके अनुसार निरुक्तोंका सख्या चौदह थी। यास्कके उपलब्ध निरुक्तमे बारह निरुक्तकारोका उल्लेख है। सम्प्रति यास्क-विरचित यही निरुक्त वेदाङ्गका प्रतिनिधि-स्वरूप ग्रन्थ है। निरुक्तमे बारह अध्याय हैं और अन्तमे परिशिष्ट-रूप दो अध्याय हैं। इस प्रकार समग्र ग्रन्थ चौदह अध्यायामे विभक्त है।

यास्ककी प्राचीनताके विषयमे किसी प्रकारका सदेह नहीं है। ये महर्षि पाणिनिसे भी प्राचान हैं। महाभारतके शान्तिपर्वमे निरुक्तकारके रूपमे यास्कका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

निरुक्तम वैदिक शब्दोकी निरुक्ति है। निरुक्ति-शब्दका अर्थ है 'व्युत्पत्ति'। निरुक्तका यह सर्वमान्य मत है कि प्रत्येक शब्द किसी-न-किसी धातुके साथ अवश्य सम्बद्ध रहता है। अत निरुक्तकार शब्दोकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर धातुके साथ विभिन्न प्रत्ययाका निर्देश देते हैं। निरुक्तक अनुसार सभी शब्द व्युत्पन्न हैं। अर्थात् व सभी शब्द किसी-न-किसी धातुसे निर्मित हैं। वैयाकरण शाकटायनका भी यही मत है कि सभी शब्द धातुसे उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक सज्ञापदके धातुमे व्युत्पन्न होनेके कारण यह आधार नितान्त वैज्ञानिक है। आजकल इसीका नाम 'भाषा-विज्ञान' है। इस विज्ञानकी उन्नति पाश्चात्य जगत्मे लगभग सौ वर्षके भीतर ही हुई है। जबकि आजसे तीन हजार वर्ष-पूर्व वैदिक ऋषियोंके द्वारा इस शास्त्रके सिद्धान्ताका वैज्ञानिक-रीतिस निरूपण किया गया था।

निरुक्त और व्याकरणका सामञ्जस्य—

निरुक्त-प्रणेता यास्काचार्यन निरुक्तके प्रथम अध्यायम कहा है कि तदिद विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्। इसी कारण वेदोके सम्यक् ज्ञान और अध्ययनके लिये निरुक्त तथा व्याकरण—इन दानोंकी साहचर्यरूपसे आवश्यकता होती है। व्याकरणका मुख्य प्रयोजन है शब्दाका शुद्धीकरण। निरुक्त व्याकरणके सभी प्रयोजनाको ता सिद्ध करता ही है, किंतु इसकी मुख्य विशेषता है शब्दार्थका विवेचन करना। निरुक्त साधित शब्दों—धातुओंकी एक विलक्षण कल्पना करके मौलिक अर्थके अन्वेषणमें सतत प्रयत्नशील रहता है। दूसरी बात यह है कि निरुक्तसे धातु-पाठके सभी अर्थ उत्पन्न होते हैं किंतु धातुओंके परिज्ञानके लिये निरुक्त भी व्याकरणके अधीन है। अत दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

छन्द

छन्द वदका पाँचवाँ अङ्ग है। पाणिनीय शिक्षाम कहा गया है कि 'छन्द पादौ तु वेदस्य।' अर्थात् छन्द वेद-पुरुषके पैर हैं। जिस प्रकार पाद (पैर)-से हीन मनुष्य लँगडा कहा जाता है उसी प्रकार छन्दासे हीन वेद पुरुष लँगडा होता है। अत वद-मन्त्राके उच्चारणक लिये छन्दोंका ज्ञान आवश्यक है। छन्दोंके ज्ञानके अभावमे मन्त्रोका उच्चारण और पाठ समुचित रूपसे नहीं हो पाता। प्रत्येक सूक्तमे देवता ऋषि और छन्दका ज्ञान आवश्यक होता है। महर्षि कात्यायनका यह सुस्पष्ट मत है कि जो वेदपाठी अथवा याजक (यज्ञ करनेवाला) छन्द ऋषि और देवताके ज्ञानसे हीन होकर मन्त्रका अध्ययन अध्यापन या यजन करता है, उसका वह प्रत्येक कार्य निष्फल ही हाता है। जैसा कि सर्वानुक्रमणी (१। १)-म कहा गया है—

'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणु वर्च्छति गर्ते वा पात्यत या पापीयान् भवति।'

वदाङ्गमे उपयुक्त मुख्य छन्दाके नाम सहिता और ब्राह्मणग्रन्थोम उपलब्ध होते हैं। जिसस प्रतात हाता है कि इस अङ्गकी उत्पत्ति वैदिक युगम ही हुई। इस पाँचवे वेदाङ्गका आधार-ग्रन्थ है पिङ्गलाचार्यकृत 'छन्द सूत्रम्'।

इस महनीय ग्रन्थ 'छन्द सूत्रम्'क रचयिता आचार्य पिङ्गल हैं। यह ग्रन्थ सूत्ररूपम है और आठ अध्यायामें विभक्त है। प्रारम्भस चौथ अध्यायके सातवें सूत्रतक वैदिक छन्दाके लक्षण हैं। तदनन्तर लौकिक छन्दाका वर्णन है।

प्रचलित लौकिक काव्याम छन्द और पादबद्धताका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि पद्योंमें ही छन्दाकी योजना होती है और गद्य छन्दरहित होते हैं, परतु वैदिक छन्दके विषयमें यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। प्राचीन आर्य-परम्पराके अनुसार गद्य भी छन्दयुक्त माना जाता है। दुर्गाचार्यने निरुक्तकी वृत्तिमें लिखा है कि छन्दके बिना वाणी उच्चरित नहीं होती। यथा—'नाच्छन्दसि वागुच्चरति।'

भरतमुनि भी छन्दसे रहित शब्दको स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है—

छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्द शब्दवर्जितम्।

कात्यायनमुनिने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि वेदका ऐसा कोई मन्त्र नहीं है, जो छन्दोंके माध्यमसे न बना हो। फलत यजुर्वेदक मन्त्र भी जो निश्चय ही गद्यात्मक हैं, वे छन्दोसे रहित नहीं हैं। अतएव प्राचीन आचार्योंन एक अक्षरसे लेकर १०४ अक्षरोंतकके छन्दाका विधान अपने ग्रन्थामे किया है।

'छन्द' शब्दकी व्युत्पत्ति—

महर्षि यास्कने 'छन्द' शब्दकी व्युत्पत्ति छद्' धातुसे की है। 'छन्दासि छन्द ' इस कथनका अभिप्राय यह है कि ये छन्द वेदके आवरण हैं, आवरणके साधन हैं।

वैदिक छन्द—

वैदिक छन्दोंकी यह विशेषता है कि ये अक्षर-गणनाम नियत होते हैं अर्थात् अक्षरोंसे गुरु-लघुके क्रमका कोई विशेष नियम नहीं रहता। अतएव कात्यायनन सर्वानुक्रमणीम इसका लक्षण किया है—'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्द ।' यहाँ यह ध्यातव्य है कि अनक शताब्दियाके अनन्तर वैदिक छन्दोसे ही लौकिक छन्दाका आविर्भाव हुआ। लौकिक छन्दोमें चार पाद होते हैं और वैदिक छन्दाम एसा कोई नियम नहीं है। वेद-प्रयुक्त छन्दाम कहीं लघु-गुरु मात्राओका अनुगमन नहीं है। वहाँ केवल अक्षराकी गणना होती है जिससे समस्त वैदिक छन्द अक्षरापर ही आश्रित हैं। अक्षरसे यहाँ तात्पर्य स्वरस है।

वैदिक छन्दाके मुख्य भेद—

वैदिक छन्दाके मुख्य भेदाक विषयमे एकमत्य नहीं है परतु समस्त वैदिक छन्दोकी सख्या २६ है। इनमें प्राथमिक ५ छन्द वदमें अप्रयुक्त हैं। उनका छाडकर अवशिष्ट छन्दोंको हम तीन सप्तकाम बाँट सकते हैं। प्रयुक्त छन्दोंमें गायत्री प्रथम छन्द है, जिसके प्रत्यक पादम ६ अक्षर होते हैं। अत प्रथम सप्तक गायत्रीसे प्रारम्भ होता है। इसके पूर्वके पाँच छन्द गायत्री पूर्वपञ्चक' के नामस विख्यात हैं। उनके नाम हैं—(१) मा (अ० स० ४) (२) प्रमा (अ० स० ८) (३) प्रतिमा (अ० स० १२) (४) उपमा (अ० स० १६) और (५) समा (अ० स० ३०)—ये नाम ऋक् प्रातिशाख्यके अनुसार हैं। अन्य ग्रन्थोम इनसे भिन्न नाम हैं, जैसे—भरतमुनिके नाट्यशास्त्रम उनके क्रमानुसार नाम ये हैं—उक्त अत्युक्त मध्यम, प्रतिष्ठा और सुप्रतिष्ठा। प्रथम सप्तकके सात छन्दाके नाम हैं—गायत्री (२४ अक्षर), उष्णिक् (२८ अक्षर), अनुष्टुप् (३२ अक्षर) बृहती (३६ अक्षर) पङ्क्ति (४० अक्षर) त्रिष्टुप् (४४ अक्षर) और जगती (४८ अक्षर)।

इस प्रकार सक्षेपमे वैदिक छन्दोंका विवरण उपस्थित किया गया है। विस्तारसे 'पिङ्गलछन्द सूत्र' म देखना चाहिये।

ज्यौतिष

वेदाङ्गोमें ज्यौतिष छठा और अन्तिम वदाङ्ग है। जिस प्रकार व्याकरण वदपुरुषका मुख है उसी प्रकार ज्यौतिषका उसका नेत्र कहा गया है—'ज्योतिषामयन चक्षु ।' नेत्रके बिना जिस प्रकार कोई मनुष्य स्वयमव एक पैर भी नहीं चल सकता, उसी प्रकार ज्यौतिष शास्त्रके बिना वेदपुरुषमें अन्धता आ जाती है। वदकी प्रवृत्ति विशषरूपसे यज्ञ-सम्पादनके लिय हाती है। यज्ञका विधान विशिष्ट कालकी अपेक्षा करता है। यज्ञ-यागके सम्पादनके लिय समय शुद्धिकी विशेष आवश्यकता होती है। कुछ कर्मकाण्डीय विधान ऐसे हात हैं जिनका सम्बन्ध सवत्सरस होता है और कुछका ऋतुसे। यहाँ आशय यह है कि निश्चित रूपसे नक्षत्र तिथि पक्ष मास ऋतु और सवत्सरके समस्त अशोंके साथ यज्ञ-यागके विधान वदाम प्राप्त होते हैं। अत इन नियमाक पालनक लिय और निश्चितरूपसे निर्वाहके लिये ज्यौतिष शास्त्रका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिय विद्वान् ज्यौतिषका 'कालविज्ञापक शास्त्र' कहते हैं क्योंकि मुहूर्त निकालकर की जानेवाली यज्ञादि-क्रिया-विशेष फलदायिका हाता है। अतएव वेदाङ्ग ज्यौतिषका विशेष आग्रह है कि जो मनुष्य ज्यौतिष शास्त्रका अच्छी तरह जानता

है, वही यज्ञके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान रखता है। वेदाङ्ग ज्यौतिषका यह डिण्डिम घोष मनुष्योंको प्रेरित करता है कि—

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता
कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञा।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्॥

यज्ञकी सफलता केवल समुचित विधानसे ही नहीं होती, प्रत्युत उचित निर्दिष्ट नक्षत्रमें और समुचित कालमें प्रयोगसे ही होती है।

ज्यौतिषका वेदाङ्गत्व—

वैदिक यज्ञ-विधानके लिये ज्यौतिषके अतिशय महत्त्वको स्वीकार कर सुविख्यात ज्यौतिष-मार्तण्ड भास्कराचार्यने अपने 'सिद्धान्तशिरोमणि' नामक ग्रन्थमें स्पष्ट घोषित किया कि—

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञा
प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्यात्
वेदाङ्गत्वं ज्यौतिषस्योक्तमस्मात्॥

अर्थात् वेद यज्ञकर्ममें प्रवृत्त होते हैं और यज्ञ कालके आश्रित होते हैं तथा ज्यौतिष शास्त्रसे कालज्ञान होता है, इससे ज्यौतिष शास्त्रका वेदाङ्गत्व सिद्ध होता है।

प्राचीन समयमें चारों वेदोंका अलग-अलग ज्यौतिष शास्त्र था। उनमें अभी सामवेदका ज्यौतिष उपलब्ध नहीं है। अवशिष्ट तीन वेदोंके ज्यौतिष प्राप्त होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) ऋग्वेद-ज्यौतिष—आर्च ज्यौतिष ३६ पद्यात्मक।
(२) यजुर्वेद-ज्यौतिष—याजुष ज्यौतिष ३९ पद्यात्मक।
(३) अथर्ववेद-ज्यौतिष—आथर्वण ज्यौतिष १६२ पद्यात्मक।

वस्तुतः आर्च ज्यौतिष और याजुष ज्यौतिषमें समानता ही प्रतीत होती है, क्योंकि दोनोंमें अनेकत्र समता है। कहीं-कहीं इतिहासमें दो ज्यौतिषोंका ही उल्लेख मिलता है। आथर्वण ज्यौतिषकी चर्चा ही नहीं है। संख्याके विषयमें भी मतैक्य नहीं है। याजुष ज्यौतिषकी पद्य-संख्या ऊपर ३९ कही गयी है, कहीं-कहीं ४९ है। इसी प्रकार आथर्वण ज्यौतिषके स्थानपर 'अथर्व ज्यौतिष' यह नाम भी मिलता है।

उपर्युक्त विवेचनसे वेदोंके अध्ययन-मनन-चिन्तन एवं वेदार्थके सम्यक् बोध तथा गूढ वैदिक रहस्योंके उद्घाटनमें वेदाङ्गोंकी अपरिहार्य निरतिशय महत्ता स्वयमेव प्रतिपादित है।

वैदिक साहित्यका परिचय

'कल्पसूत्र'

(पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

'कल्प' शब्दके कितने ही अर्थ हैं—विधि, नियम और न्याय आदि। थोड़े अक्षरोंवाले साररूप तथा निर्दोष वाक्यका नाम सूत्र है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विधियों, नियमों अथवा न्यायोंके जो संक्षिप्त, सारवान् और दोषशून्य वाक्यसमूह हैं, उनका नाम कल्पसूत्र है। कल्पसूत्रोंको वेदाङ्ग भी कहा जाता है। मतलब यह कि कल्पसूत्र वेदोंके अंश या हिस्से हैं।

वस्तुतः हिंदुत्व, हिंदू-धर्म और हिंदू-संस्कृतिके प्राण कल्पसूत्र ही हैं। हिंदू-धर्म ही क्या, संसारके सभी प्रसिद्ध धर्मोंकी जड़ कर्मकाण्ड है—उनका मूल क्रियात्मक रूप ही है। कल्पसूत्रोंकी तो आधारशिला ही कर्मकाण्ड है तथा हिंदू-धर्मके सारे कर्म, सब संस्कार, निखिल अनुष्ठान और समूचे रीति-रस्म प्रायः कल्पसूत्रोंसे ही उत्पन्न हैं। इसलिये हिंदू-जीवनके समस्त नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निष्काम कर्म, सारी क्रियाएँ, सम्पूर्ण संस्कृति तथा अशेष अनुष्ठान समझनेके लिये एकमात्र अवलम्ब ये सूत्र ही हैं। प्राचीन हिंदुओंके सामाजिक आचार-विचार, उनकी जीवनचर्या और उनके कर्मानुष्ठान आदिको ये सूत्र बड़ी ही सुन्दरता और प्राञ्जलतासे बताते हैं। धर्मानुष्ठानोंमें मानव-वृत्तियोंको संलग्न करना तथा धार्मिक विधियों और नियमोंमें व्यक्तियों और समाजको जीवन संयत करना इन सूत्रोंका प्रधान उद्देश्य है और सचमुच नियमबद्ध एवं संयत करके इन सूत्रोंने हिंदू-जीवन और समाजको दिव्य तथा भव्य बनानेमें बड़ी सहायता की है।

कल्पसूत्र तीन तरहके होते हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। वस्तुतः संहिताओंमें कहे गये यज्ञादि-विषयक

विधान और विवरण देनेवाले सूत्राको 'श्रौतसूत्र' कहा जाता है। गृहस्थके जन्मसे लेकर मृत्युतकके समस्त कर्तव्यो और अनुष्ठानोंका जिनमे वर्णन है उन्हें 'गृह्यसूत्र' नाम दिया गया है। विभिन्न पारमार्थिक सामाजिक और राजनीतिक कर्तव्यो आश्रमों, विविध जातियोंके कर्तव्यो विवाह उत्तराधिकार आदिका जिनमें विवरण है, उनकी सज्ञा 'धर्मसूत्र' है। पातञ्जल महाभाष्य (पस्पशाह्निक)-मे लिखा है—ऋग्वेदकी २१ यजुर्वेदकी १०० सामवेदकी १ ००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं अर्थात् सब मिलाकर चारों वेदोकी १ १३० शाखाएँ हैं, परतु इन दिनो हमारी इतनी दयनीय दशा है कि इन शाखाओके नामतक नहीं मिलते। प्राचीन साहित्यसे पता चलता है कि जितनी शाखाएँ थीं, उतनी ही सहिताएँ थीं उतने ही ब्राह्मण और आरण्यक थे, उतनी ही उपनिषद थीं और उतने ही कल्पसूत्र भी थे परतु आजकल इनमसे कोई भी पूरा-का-पूरा नहीं मिलता। किसी शाखाकी सहिता मिलती है किसीकी नहीं, किसीका केवल ब्राह्मण-ग्रन्थ मिलता है तो किसीका कल्पसूत्रमात्र। आश्वलायन शाखावालोंकी अपनी कोई सहिता नहीं मिलती, उनके कवल कल्पसूत्र मिलते हैं। बेचारे शाकल-सहिताको ही अपनी सहिता मानते हैं और ऐतरेय शाखावालोके ब्राह्मणो आरण्यको और उपनिषदोसे ही अपने काम चलाते हैं। शौनकके 'चरण-व्यूह' मे चरक-शाखाको विशिष्ट स्थान दिया गया है परतु न तो इस शाखाकी कोई सहिता या ब्राह्मण ही मिलते हैं न उसकी उपनिषदे आदि ही उपलब्ध हैं। काठक शाखाकी सहिता तो मिलती है परतु ब्राह्मण आरण्यक नहीं। मैत्रायणी और राणायणीय शाखाओंकी भी यही बात है। अथर्ववेदकी पिप्पलाद-शाखाकी तो केवल सहिता ही मिलती है। सक्षेपमे यह समझिये कि जैसे न्याय और वैशेषिक दर्शन तो मिलते हैं परतु उनके सम्प्रदाय नहीं मिलते तथा सौर और गाणपत्य सम्प्रदाय तो मिलते हैं, परतु उनके दर्शनशास्त्र नहीं मिलते ठीक इसी तरह किसीकी केवल शाखा ही मिलती है, किसीकी सहिता किसीका ब्राह्मण तथा किसीकी कवल सज्ञाभर मिलती है और किसीका तो नाम तक भी नहीं मिलता। कल्पसूत्र भी तो शाखाओके अनुसार १,१३० उपलब्ध होने चाहिये परतु इन दिनों प्राय ४० पाये जाते हैं।

कहनेको तो हम सभी गला फाडकर अपनेको वैदिक धर्मानुयायी कहते नहीं अघाते परतु वैदिक साहित्यके प्रति जो हमारी उपेक्षा है वेदाध्ययनके लिये जो हमारी निरादर-बुद्धि है उसको देखते हुए हम ऐसा विश्वास हो रहा है कि मिले हुए ग्रन्थ भी लुप्त और उच्छिन्न हो जायँगे। चारों वेदोकी जो सब मिलाकर ११ सहिताएँ मिली हैं, वे भी यूरोपियनोकी कृपासे। लाखो रुपये खर्च करके यूरोपियनोंने ही यूरोपके विविध देशोमे इन सहिताओको छापा है। भारतवर्षमें तो ११ मसे केवल ५ सहिताएँ ही छापी गयी हैं तो भी कदाचित् विश्वसनीय पाठ नहीं हैं सबमें अशुद्धियाँ हैं। व्याकरण रट लिया और बन पडा तो कुछ ज्योतिष तथा कुछ काव्यकी पोथियाँ देख डालीं और यदि महापण्डित या धर्मगुरु बननेकी इच्छा हुई तो न्याय-वेदान्तकी परीक्षाएँ दे दीं। बस भोली जनतामे चारो वेदोके वक्ता—ज्ञाता बन गये वेद-विज्ञानकी घटा और छटा बाँधने लगे— 'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ' 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'। जनताको शिष्यो और यजमानोको क्या पता कि, ये 'महापण्डित 'धर्म-गुरु' वेद तो क्या वेदका 'व' भी नहीं जानते। मनुजीने तो स्पष्ट ही लिखा है कि 'जो वेद नहीं जानता वह शूद्र है जो वेदज्ञ नहीं, उसको विवाह मत करो और जो वेद-ज्ञाता नहीं उस ब्राह्मणको न पूजो न खिलाओ न उससे श्राद्ध कराओ।' परतु यहाँ जब धर्म और उस वेदकी ही परवा नहीं जिसे हमारे शास्त्र और पूर्वज नित्य मानते हैं तब मनु और याज्ञवल्क्यको कौन पूछता है? सक्षेपमें यह समझिये कि यदि कुछ वेद और धर्मके भक्त इस दिशामे महासाहस लेकर वेद-प्रचार और वेद-प्रकाशनकी ओर नहीं पडते तो उपलब्ध वैदिक साहित्यके भी लुप्त हो जानेका डर है।

यहाँ मुख्य बात यह समझिये कि यदि यूरोपीय विद्वानोकी कृपा नहीं हुई होती तो इन दिनों वैदिक साहित्यके अमूल्य ग्रन्थ इन कल्पसूत्रोके दर्शन भी हमें दुर्लभ होते। यूरोपियनोके अथक परिश्रमके ही कारण इन

सूत्रोंके दर्शन हमें मिल रहे हैं। यदि विद्या-व्यसनी यूरोपीय भी इस क्षेत्रसे उदास रहते, तो हमे कदाचित् एक भी कल्पसूत्र नहीं दिखायी देता और हिंदू-धर्मके प्रति हम भीषण अधकारमे ही रहते। तो वेदो और हिंदू-धर्मके सेवक हम हुए या यूरोपियन?

अब इस बातपर ध्यान दीजिये कि हिंदू-धर्म और हिंदू-सस्कृतिके प्राण ये कल्पसूत्र क्या हैं? श्रौत या वैदिक यज्ञ चौदह प्रकारके हैं—सात 'हविर्यज्ञ' और सात 'सोमयज्ञ'। अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आग्रहायण चातुर्मास्य निरूढपशुबन्ध और सौत्रामणी—ये सातों चरु पुरोडाशद्वारा हविसे सम्पन्न होते हैं, इसलिये ये 'हविर्यज्ञ' कहलाते हैं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य षोडशी वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्यामको 'सोमयज्ञ' कहा जाता है। इन सातोमे सोमरसका प्राधान्य रहता है।

कई सहिताओ और आश्वलायन लाट्यायन आदि श्रौत-सूत्रोंमें इन चौदहो यज्ञोंका विस्तृत विवरण मिलता है। इसमे सदेह नहीं कि इन दिनो इन यज्ञोंका प्रचार नहीं है परतु गृह्यसूत्रोंके यज्ञ नित्यकर्म अर्थात् आवश्यक कर्तव्य माने जाते हैं इसलिये उन्हे पाक या प्रधान यज्ञ कहा जाता है। पाक-यज्ञोंमेसे कुछ तो ज्यो-के-त्यो हिंदू समाजमे प्रचलित हैं और कुछ रूपान्तरित होकर।

गृह्यसूत्रकारोने सात प्रकारके गृह्य या पाक-यज्ञ माने हैं जैसे—'पितृ-यज्ञ' या 'पितृ-श्राद्ध'—यह सभी हिंदुओंमे मूलरूपमें ही प्रचलित है। 'पार्वण-यज्ञ' अर्थात् पूर्णिमा और अमावस्याके दिन किया जानेवाला यज्ञ। इसे इस समय भी यथावत् किया जाता है। 'अष्टका-यज्ञ'—यह अवश्य ही बहुत रूपान्तर प्राप्त कर चुका है। 'श्रावणी-यज्ञ'—यह अबतक काफी प्रचलित है। 'आश्वयुजी-यज्ञ' अर्थात् आश्विन मासमे किया जानेवाला यज्ञ, जो कोजागरा लक्ष्मीपूजाका रूप धारण कर चुका है। 'आग्रहायणी यज्ञ'—यह अगहनमे किया जानेवाला यज्ञ 'नवान्न' का अनुकल्प बन चुका है। 'चैत्री-यज्ञ' अर्थात् चैत्रमे किया जानेवाला यज्ञ जो बिलकुल दूसरा रूप ग्रहण कर चुका है।

चौदह श्रौत-यज्ञों और सात पाक-यज्ञोके सिवा धर्म-सूत्रो और गृह्यसूत्रोंमें इन पाँच महायज्ञोका वर्णन है—देवयज्ञ भूतयज्ञ, पितृयज्ञ ब्रह्मयज्ञ और मनुष्ययज्ञ। हवनको 'देवयज्ञ' बलिरूपमे अन्न आदि दान करनेको 'भूतयज्ञ', पिण्ड-दान और तर्पणको 'पितृयज्ञ', वेदोक्त अध्ययन-अध्यापन अथवा मन्त्रपाठको 'ब्रह्मयज्ञ' तथा अतिथिको अन्न आदि देनेको 'मनुष्ययज्ञ' कहा जाता है। ये पाँचो महायज्ञ भी अबतक ज्यो-के-त्यो प्रचलित हैं।

उक्त सूत्रोमे इन सस्कारोका बहुत सुन्दर विवरण है—गर्भाधान पुसवन अर्थात् पुत्रजन्मानुष्ठान, सीमन्तोन्नयन अर्थात् गर्भवती स्त्रीका केशविन्यास जातकर्म अर्थात् सतान होनेपर आवश्यकीय अनुष्ठान नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन चूडाकरण, उपनयन, वेदाध्ययनके समय महानाम्नीव्रत महाव्रत उपनिषद्व्रत गोदानव्रत समावर्तन अर्थात् पठनके अन्तमे स्नानविशेष, विवाह, अन्त्येष्टि अर्थात् मृतसस्कार। ये सोलहो सस्कार भी प्रचलित हैं।

इस प्रकार १४ श्रौतयज्ञ, ७ पाकयज्ञ ५ महायज्ञ और १६ सस्कार मिलकर ४२ कर्म हमारे लिये कल्पसूत्रकारोने बताये हैं। सूत्रोमे इन बयालीसोका विस्तृत विवरण पढनेपर अपने पूर्वजोकी सारी जीवन-लीला दर्पणकी तरह दिखायी देने लगती है। ससारकी सबसे प्राचीन आर्यजातिकी इस जीवन-लीलाका इतिहास जानने और उसका सम्यक् अध्ययन-परिशीलन करनेके लिये ही यूरोपकी जातियोने पानीकी तरह रुपये बहाकर इन समस्त सूत्रोको टीका-टिप्पणियोंके साथ सुसम्पादित कर प्रकाशित किया है। कहाँ उनकी आदर्श ज्ञान-पिपासा तथा विद्या-प्रेम और कहाँ अपने बाप-दादाके धर्म-कर्म सभ्यता-सस्कृति और स्वरूप-इतिहास जाननेके बारेमे हमारी घृणित उपेक्षा! धिग् जीवनम्!!

हाँ तो हम कह रहे थे कि सूत्रकारोने ४२ कर्म बताये हैं परतु साथ ही सूत्रकार ऋषियोने सत्य सद्गुण और सदाचारपर भी बहुत जोर दिया है। धर्मसूत्रकार गौतम चत्वारिंशत् कर्मवादी हैं—उन्होने अन्त्येष्टि और निष्क्रमणको सस्कार नहीं माना है—सोलहमे १४ ही सस्कार माने हैं। अत उन्होने गौतमधर्मसूत्र (८। २४। २५)-मे लिखा है— जो ४० सस्कारोमे तो युक्त हैं परतु सद्गुणोमे शून्य

हैं, वे न तो ब्रह्मलोक जा सकगे न ब्रह्मको पा सकगे। हाँ, जो नित्य-नैमित्तिक यज्ञोको करते हैं और काम्य-कर्मोके लिये कोई चेष्टा नहीं करते अथवा चेष्टा करनेमे असमर्थ हैं, वे भी सद्गुणो (सत्य, सदाचार आदि)-से युक्त होनेपर ब्रह्मलोकको जा सकेंगे तथा ब्रह्मको भी पा सकगे।' इसी तरह वसिष्ठधर्मसूत्र (६। ३)-मे भी कहा गया है—'जैसे चिडियाके बच्चे पख हो जानेपर घोंसलेको छोडकर चले जाते हैं, वैसे ही वेद और वेदाङ्ग भी सद्गुण-शून्य मनुष्यका त्याग कर देते हैं।' इन वचनोसे मालूम होता है कि सत्य और सदाचारको हमारे सूत्रकारोंने कितना महत्त्व दिया है—एक तरहसे उन्होने सत्य और सदाचारको हिंदू-धर्मकी भित्ति ही माना है और हमको उनसे यही महती शिक्षा भी मिलती है।

जैसे ऋग्वेदके ऐतरेय और कौषीतकि नामके दो ब्राह्मण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं वैसे ही इसके आश्वलायन और शाखायन नामके दो कल्पसूत्र भी अतीव विख्यात हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्रमे १२ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय वैदिक यज्ञोंके विवरणसे पूर्ण है। कहा जाता है कि आश्वलायन ऋषि शौनक ऋषिके शिष्य थे और ऐतरेय आरण्यकके अन्तिम दो अध्याय गुरु और शिष्यने मिलकर बनाये थे। ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यकमे जो वैदिक यज्ञ विस्तृतरूपसे विवृत किये गये हैं, सक्षेपमे उन्हींके विधान आदिका निर्देश करना इस श्रौतसूत्रका उद्देश्य है। इसपर गार्ग्यनारायणिकी सस्कृत-वृत्ति है।

आश्वलायन-गृह्यसूत्र चार अध्यायोंमे विभक्त है। प्रथम अध्यायमे विवाह, पार्वण पशुयज्ञ चैत्ययज्ञ गर्भाधान पुसवन सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन चूडाकरण, गोदानकर्म उपनयन और ब्रह्मचर्याश्रमकी विवृति है। द्वितीयमें श्रावणी, आश्वयुजी, आग्रहायणी अष्टका गृहनिर्माण और गृहप्रवेशका विवरण है। तृतीयमे पञ्चमहायज्ञोका वर्णन है। इन यज्ञोको प्रतिदिन सम्पन्न करके हमारे पूर्वज अन्न-जल ग्रहण करते थे और इन दिनो भी कुछ लोग ऐसा ही करते हैं। इसी अध्यायमे ऋग्वेदके विभिन्न मण्डलोके ऋषियोंके नाम पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त सुमन्तु, जैमिनि वैशम्पायन पैल तथा सूत्रों भाष्यों और भारत एव महाभारतके प्रणेताओंके भी नाम पाये जाते हैं। चतुर्थ अध्यायमे अन्त्येष्टि और श्राद्धका वर्णन है।

आश्वलायन गृह्यसूत्रपर गार्ग्यनारायणि कुमारिल भट्ट और हरदत्त मिश्रकी वृत्ति, कारिका और व्याख्या है। शाखायन श्रौतसूत्र अठारह अध्यायोंमें विभाजित है। दर्शपूर्णमास आदि वैदिक यज्ञोका इसमे भी विवरण है, साथ ही वाजपेय राजसूय अश्वमेध पुरुषमेध और सर्वमेध आदि विशाल यज्ञोकी विस्तृत विवृति भी है।

शाखायन गृह्यसूत्र छ अध्यायोमे पूर्ण हुआ है। प्रथम अध्यायमे पार्वण, विवाह गर्भाधान पुसवन, गर्भरक्षण, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, अन्नप्राशन, चूडाकरण और गोदानकर्मका विवरण है। द्वितीयमे उपनयन और ब्रह्मचर्याश्रमका वर्णन है। तृतीयमे स्नान गृहनिर्माण, गृहप्रवेश वृषोत्सर्ग, आग्रहायणी और अष्टका आदिका विवरण है। चतुर्थमें श्राद्ध अध्यायोपाकरण, श्रावणी, आश्वयुजी आग्रहायणी और चैत्रीका उल्लेख है। पञ्चम और षष्ठ अध्यायोमे कुछ प्रायश्चित्तोका वर्णन है। शाखायन-शाखाकी सहिता नहीं पायी जाती। इस वेदकी केवल शाकल-सहिता ही छपा है।

बहुत लोगोंका मत है कि वसिष्ठधर्मसूत्र ऋग्वेदका ही धर्मसूत्र है। इसके टीकाकार गोविन्द स्वामीका भी ऐसा ही मत है। यह तीस अध्यायोमे विभक्त है। प्रथममें साधारण विधि आर्यावर्तकी सीमा पञ्चमहापातक और छ विवाह-पद्धतियोका वर्णन है। द्वितीयमे विविध जातियोके कर्तव्यका निर्देश है। तृतीयमे वेद-पाठकी आवश्यकता और चतुर्थमें अशुद्धियोका विचार है। चौथे अध्यायमे सूत्रकारने मनुके अनेक वचनोको उद्धृत किया है जिससे विदित होता है कि अत्यन्त प्राचीन कालमे कोई मनु-सूत्र भी था, जिसके आधारपर ही वर्तमान मनुस्मृति बनी है। पाँचवेंमे स्त्रियोंका कर्तव्य छठेमे सदाचार सातवेमे ब्रह्मचर्य आठवेंमे गृहस्थ-धर्म नवेमे वानप्रस्थ-धर्म और दसवेमे भिक्षुधर्म वर्णित हैं। ग्यारहवेमे अतिथि-सेवा श्राद्ध और उपनयनकी बातें हैं। बारहवेमे स्नातक-धर्म तेरहवेमें वेद-पाठ और चौदहवेमें खाद्य-विचार विवृत हैं। पद्रहवेमे दत्तक-पुत्र-ग्रहण, सोलहवेंमें राजकार्य-विधि और सतरहवेमे उत्तराधिकारका वर्णन है। अठारहवेमे चाण्डाल वैण अन्त्यावसायी राभक पुल्कस

सूत, अम्बष्ठ उग्र, निषाद, पारशव आदि दस मिश्र या मिली हुई जातियोका विवरण है। उन्नीसवेमे राजधर्म विवृत है। बीसवेंसे अट्ठाईसवेंतकमे प्रायश्चित्त और उनतीसवे तथा तीसवें अध्यायोंमे दान-दक्षिणाका विवरण है।

सामवेदकी दो शाखाओके दो श्रौतसूत्र अत्यन्त विख्यात हैं—कौथुमशाखाका लाट्यायन श्रौतसूत्र या मशक श्रौतसूत्र और राणायणीय शाखाका द्राह्यायण श्रौतसूत्र। दोनोमे वैदिक यज्ञोका खूब सुन्दर विश्लेषण और विवरण है।

सामवेद (कौथुमशाखा)-का गोभिलगृह्यसूत्र चार प्रपाठकोंमें विभक्त है। प्रथम प्रपाठकमे साधारण विधि ब्रह्मयज्ञ, दर्शपूर्णमास आदिका विवरण है। द्वितीयमे विवाह गर्भाधान, पुसवन जातकर्म, नामकरण चूडाकरण और उपनयन आदि विवृत हैं। तृतीयमें ब्रह्मचर्य गोपालन, गोयज्ञ अश्वयज्ञ और श्रावणी आदिका वर्णन है। चतुर्थमे विविध अन्वष्टका-काम्यसिद्धियोंके उपयोगी कर्म गृहनिर्माण आदिकी विवृति है।

सामवेदका गौतमधर्मसूत्र अत्यन्त विख्यात है। यह अट्ठाईस अध्यायोमे पूर्ण हुआ है। प्रथम और द्वितीय अध्यायोमे उपनयन और ब्रह्मचर्य तृतीयमे भिक्षु (सन्यासी) एव वैखानस (वानप्रस्थ)-का धर्म और चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायोमें गृहस्थका धर्म विवृत है। इस प्रसगमे गौतमने इन आठ प्रकारके विवाहोंका उल्लेख किया है—ब्राह्म प्राजापत्य आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। प्रथमके चार उत्तम हैं और अन्तके चार अधम हैं। पञ्चम अध्यायमे अठारह प्रकारकी मिली हुई जातियोका या मिश्र जातिका उल्लेख है। षष्ठमे अभिवादन सप्तममे आपत्कालीन वृत्ति-समूह और अष्टममे चालीस सस्कारोका उल्लेख है। नवममे स्नातक-धर्म दशममे विभिन्न जाति-धर्म एकादशमें राजधर्म द्वादशमें राजकीय विधि, त्रयोदशमे विचार और साक्ष्य-ग्रहण चतुर्दशमें अशुद्धि-विचार, पञ्चदशमे श्राद्ध-नियम षोडशमे वेद-पाठ, सप्तदशमें खाद्य-विचार और अष्टादशमे स्त्री-विवाह आदि हैं। उन्नीससे सत्ताईस अध्यायोमे प्रायश्चित्त-विवरण है। अट्ठाईसवेमे उत्तराधिकारका विचार है।

यजुर्वेदके दो भेद हैं—कृष्ण और शुक्ल। कृष्ण-यजुर्वेदके ग्रन्थ अन्य सभी वेदोसे अधिक मिलते हैं। इसकी सहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र प्रातिशाख्य आदि प्राय अधिकाश मिलते हैं। इस वेदकी मैत्रायणी शाखाका मानवधर्मसूत्र पाया जाता है। इसके अतिरिक्त बौधायन आपस्तम्ब हिरण्यकेशी भारद्वाज काठक आदि कितने ही सूत्र-ग्रन्थ इस वेदके मिले हैं।

बौधायन-श्रौतसूत्र उन्नीस प्रश्नोमें पूर्ण हुआ है। बौधायन गृह्यसूत्र और बौधायन-धर्मसूत्रमे चार-चार प्रश्न या खण्ड हैं। बौधायन-कल्पसूत्रमे कर्मान्तसूत्र द्वैधसूत्र तथा शुल्बसूत्र (यज्ञवेदी-निर्माणके लिये रेखागणितके नियम) आदि भी पाये जाते हैं। बौधायनने लिखा है—'अवन्ती मगध सौराष्ट्र दक्षिण उपावृत सिन्धु और सौवीरके निवासी मिश्रजाति हैं।' इससे विदित होता है कि बौधायनके समय, १,२५० ख्रीष्टपूर्वमे इन प्रदेशोमे अनार्य भी रहते थे। आगे चलकर लिखा गया है—'जिन्होने आरट्ट कारस्कर पुण्ड्र सौवीर, बङ्ग कलिङ्ग आदिका भ्रमण किया है, उन्हे पुनस्तोम और सर्वपृष्ठा यज्ञ करने पडते हैं।' इससे मालूम पडता है कि आर्य लोग इन प्रदेशोको हीन समझते थे।

बौधायन-धर्मसूत्रके प्रथम प्रश्नमें ब्रह्मचर्य-विवरण शुद्धा-शुद्ध-विचार, मिश्रजाति-वर्णन राजकीय विधि और आठ तरहके विवाहोकी बात हैं। द्वितीय प्रश्नमे प्रायश्चित्त उत्तराधिकार तथा स्त्रीधर्म गृहस्थधर्म चार आश्रम और श्राद्धका विवरण है। तृतीयमे वैखानस आदिके कर्तव्य और चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तोका वर्णन है। चतुर्थमें काम्य-सिद्धि आदि विवृत हैं।

आपस्तम्बके भी सारे कल्पसूत्र पाये जाते हैं। आपस्तम्ब आन्ध्रमे उत्पन्न हुए थे। द्रविड और तैलङ्ग ब्राह्मण अपनेको आपस्तम्ब-शाखी और अपनी सहिताको तैत्तिरीय सहिता कहते हैं। आपस्तम्बकल्पसूत्र तीस प्रश्नोमे परिपूर्ण हुआ है। प्रथम चौबीस प्रश्न श्रौतसूत्र हैं पचीसवाँ प्रश्न परिभाषा है छब्बीसवाँ और सत्ताईसवाँ प्रश्न गृह्यसूत्र हैं। अट्ठाईसवाँ और उनतीसवाँ प्रश्न धर्मसूत्र है और तीसवाँ शुल्बसूत्र है। आपस्तम्बगृह्यसूत्रमे ब्रह्मचर्यद्वारा शास्त्रशिक्षा गृह-निर्माण मासिक श्राद्ध विवाह आदि सस्कार तथा श्रावणी अष्टका

आदिका विवरण है। आपस्तम्बधर्मसूत्रके प्रथम प्रश्नमे ब्रह्मचर्य शास्त्रशिक्षा, खाद्य-विचार और प्रायश्चित्तकी बाते हैं। द्वितीयमें चार आश्रमों और राजकीय विधिकी बात हैं।

हिरण्यकेशी आपस्तम्बके पीछेके पुरुष हैं। हिरण्यकेशी-कल्पसूत्रोंकी रचना आपस्तम्बके कल्पसूत्रोंका सामन रखकर की गयी है। ये सब तैत्तिरीय शाखाके कल्पसूत्र हैं। हिरण्यकेशीका दूसरा नाम सत्याषाढ है। शुक्लयजुर्वेदके (माध्यन्दिन और काण्व दोनोंके) दो कल्पसूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—कात्यायन-श्रौतसूत्र और पारस्कर-गृह्यसूत्र। कात्यायन-श्रौतसूत्रके अठारह अध्याय इस वेदके शतपथ-ब्राह्मणके नौ काण्डोंके क्रमानुवर्ती हैं। अवशिष्ट अध्याय सौत्रामणी, अश्वमेध, नरमेध सर्वमेध आदिक विवरणोसे पूर्ण हैं। व्रात्याके विवरणमें मगधके ब्रह्मबन्धुओका भी उल्लेख है। ब्रह्मण्यानुष्ठानसे शून्य अधम ब्राह्मणोको ब्रह्मबन्धु कहा गया है।

पारस्कर-गृह्यसूत्र नौ काण्डोमें पूर्ण हुआ है। प्रथममें विवाह, गर्भाधान आदि सस्काराका विवरण है। द्वितीयमे कृषि-प्रारम्भ विद्या-शिक्षा श्रावणी आदिका विवेचन है। तृतीयम गृह-निर्माण, वृषोत्सर्ग श्राद्ध आदिका वर्णन है। अन्य गृह्यसूत्रोंकी तरह ही इसक भी अन्यान्य काण्डोंके विवरण हैं।

अवतक जितने कल्पसूत्रोका उल्लेख हो चुका है, उनके अतिरिक्त भी कुछ कल्पसूत्र पाये जात हैं किंतु उनकी प्रामाणिकताम सदेह है। इसीलिये यहाँ इनका उल्लेख नहीं किया गया है। उल्लिखित कल्पसूत्रोंपर अनेकानेक खण्डित और अखण्डित भाष्य-टीकाएँ भी मिलती हैं परंतु अधिकाश हस्तलिखित और अप्रकाशित दशामे ब्रिटिश म्यूजियम (लदन), इम्पीरियल लाइब्रेरी (कलकत्ता और दिल्ली) भाडारकर ओरियटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट (पूना) तथा देश विदेशकी विभिन्न लाइब्रेरियामें पडी हैं। यदि उन्हें छापें तो यूरोपीय विद्वान् ही हम हिंदुओको तो कुछ भी परवा नहीं।

वैदिक सहिताओंका अर्थ तत्त्व और रहस्य समझनेके लिये जैसे ब्राह्मण आरण्यक प्रातिशाख्य, निरुक्त, निघण्टु, मीमासा, बृहद्देवता अनुक्रमणी शिक्षा चरणव्यूह आदि-आदिका अध्ययन आवश्यक है वैसे ही बल्कि कहीं-कहीं इनसे भी अधिक आवश्यक कल्पसूत्रोका पठन है। श्रौतसूत्रोंसे यज्ञ-रहस्य समझनेमे आश्चर्यजनक सहायता मिलती है। गृह्यसूत्रोंसे स्थल-विशेषमे अद्भुत साहाय्य प्राप्त होता है। प्राचीन हिंदू-जीवन, प्राचीन हिंदूसमाज और प्राचीन हिंदूधर्म समझनेके लिये तो ये सूत्र अद्वितीय हैं ही। धार्मिक नियमोंमें अपना और अपने समाजका जीवन सयत तथा उन्नत करनेके लिये तथा नि श्रेयसकी प्राप्तिके लिये तो ये सूत्र अनूठे साधन हैं।

यहाँ यह भी ध्यान देनेकी बात है कि मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति, वसिष्ठस्मृति, पाराशरस्मृति आदि बीसों प्रसिद्ध स्मृतियोकी उत्पत्ति और रचना इन्हीं कल्पसूत्रोंसे हुई है। समस्त हिंदू-सस्कारों राजधर्मों व्यवहार-दर्शनों दाम्पत्य-धर्मों दाय-भागों सकर-जाति-विवरणो और प्रायश्चित्तोंके आधार भी ये ही कल्पसूत्र हैं। इनके बिना प्राचीन नियमों और प्रथाओंका समझना दुरूह कठिन जटिल और विकट है। इसलिये इनका स्वाध्याय करना प्रत्येक हिंदूके लिये आवश्यक और अनिवार्य है।*

---

* शौनकके चरणव्यूहके महीदासके भाष्यमें लिखा है—'कृष्णा तथा गोदावरीके तटोंपर और आन्ध्रप्रदेशमें आश्वलायनी शाखा आपस्तम्बी शाखा और हिरण्यकेशी शाखा प्रचलित है, गुजरातमें शांखायनी शाखा और मैत्रायणी शाखा प्रचलित है तथा अङ्ग वङ्ग, कलिङ्गमें माध्यन्दिनी शाखा और कौथुम-शाखा प्रचलित है। परंतु इन दिनों प्रधानतया महाराष्ट्रमें ऋग्वेदकी शाकल शाखा गुजरात और दक्षिणमें कृष्णयजुर्वेदकी मैत्रायणी शाखा दक्षिण तैलङ्ग और द्रविणमें कृष्णयजुर्वेदकी आपस्तम्बी या तैत्तिरीय शाखा उत्तर भारत मिथिला और महाराष्ट्रमें शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनी शाखा दाक्षिणात्यमें इसी वेदका काण्वशाखा गुजरात और बंगालमें सामवेदकी कौथुम-शाखा दक्षिणमें (सेतुबन्ध रामेश्वरमें) सामवेदकी राणायणीय शाखा कर्णाटकमें सामवेदकी जैमिनीय शाखा और गुजरात (नागर ब्राह्मणों)-में अथर्ववेदकी शौनक शाखा प्रचलित है। जहाँ जो शाखा प्रचलित है वहाँ उसी शाखाके कल्पसूत्रोंके अनुसार सारे श्रौत स्मार्त कार्य और संस्कार आदि होते हैं; इसीलिये विभिन्न प्रदेशोंके ऐसे कार्यों और संस्कारोंमें भेद दिखायी देते हैं। किंतु ये भेद साधारण-से ही होते हैं।

वेदके विविध छन्द और छन्दोऽनुशासन-ग्रन्थ

(डॉ० आचार्य श्रीरामकिशोरजी मिश्र)

छन्द वेदके छ अङ्गोमें एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। जैस वेदके अन्य अङ्गों—शिक्षा कल्प निरुक्त ज्योतिष और व्याकरणका महत्त्व है, वैसे ही छन्दका महत्त्व भी किसी अङ्गसे कम नहीं है। छन्द वेदके चरण हैं[१]। जिस प्रकार चरणरहित व्यक्ति चलनेमें असमर्थ होता है उसी प्रकार छन्दोरहित वेदकी गति भी नहीं होती। जब छन्दोका विकास हुआ था तब उनकी सुरक्षाके लिये छान्दस-आचार्योंने उनपर नियम लिखने प्रारम्भ किये।

ब्राह्मणग्रन्थामे छन्दोंके उल्लेखके बाद शाखायनश्रौतसूत्रम सर्वप्रथम छन्द शास्त्रीय चर्चा प्राप्त होती है। इस ग्रन्थमें गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती नामसे सात छन्दोंका उल्लेख मिलता है। छन्दोंके नामसे पूर्व त्रिपदा पुर. ककुभ्, विराट्, सत , निचृत् और भुरिक् इत्यादि उपनामाके साथ किन्हीं छन्दाके पादा और वर्णोंकी गणना भी मिलती है[२]। इसक बाद पातञ्जलनिदानसूत्र शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य तथा कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणीमे भी उक्त सातो छन्दोपर विचार किया गया है। कुछ छन्द -प्रवक्ताओ—ताण्डी क्रौष्टुकि, यास्क सैतव, काश्यप शाकल्य रात तथा माण्डव्यका नामोल्लेख पिङ्गलीय छन्द सूत्रम मिलता है[३] किंतु उनके छन्द शास्त्रीय ग्रन्थोका विवरण प्राप्त नहीं होता।

वैदिक युगके प्रारम्भसे वैदिक युगकी समाप्तितक प्रसिद्ध छन्दोको छान्दस-आचार्योंने पादवर्णनियमोंसे बाँधकर नियन्त्रित किया। प्राचीन संस्कृत वाङ्मयमे छन्द शास्त्रके अनेक नाम [—छन्दोविचिति छन्दानाम छन्दोभाषा छन्दोविजिनी, छन्दाविजिति तथा छन्दोव्याख्यान] मिलते हैं[४]। वेदाङ्गोका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थामें प्राप्त होता है[५]। पिङ्गलने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ छन्द सूत्रमें अनक छन्द -प्रवक्ताआका उल्लेख किया है[६]। निदानसूत्र[७] तथा उपनिदानसूत्रम[८] सात और चार छान्दस-आचार्योंके मताका उल्लेख है। पिङ्गलसे पूर्व छन्द शास्त्रविषयक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ तो प्राप्त नहीं होता किंतु पिङ्गलसे पूर्व जिन चार आचार्योंने अपने-अपने ग्रन्थम छन्दोपर विचार किया है, उनके नाम हैं—भरत, पतञ्जलि, शौनक और कात्यायन। पिङ्गलने अपने ग्रन्थमें जिन आठ छान्दस-आचार्योंका उल्लेख किया है, उनके छन्दोग्रन्थ तो प्राप्त नहीं होते, किंतु उनके नामसे एक-एक छन्द अवश्य मिलता है जिनका विवरण अधोलिखित है—

१-क्रौष्टुकिकृत छन्द—स्कन्धोग्रीवी [छन्द सूत्रम् ३। २९]

२-यास्ककृत छन्द—उरोबृहती (न्यङ्कुसारिणी) [छन्द सूत्रम् ३। ३०]

३-ताण्डिकृत छन्द—सतोबृहती (महाबृहती) [छन्द सूत्रम् ३। ३६]

४-सैतवकृत छन्द—विपुलानुष्टुप् और उद्धर्षिणी, [छन्द सूत्रम् ५। १८ ७। १०]

५-काश्यपकृत छन्द—सिंहोन्नता (वसन्ततिलका) [छन्द सूत्रम् ७। ९]

६-शाकल्यकृत छन्द—मधुमाधवा (वसन्ततिलका) [छन्द सूत्रम् ७। ११]

७-माण्डव्यकृत छन्द—चण्डवृष्टिप्रपात (दण्डक) [छन्द सूत्रम् ७। ३५]

१- छन्द पादौ तु वेदस्य' (पाणिनायशिक्षा ४१)।

२-शाखायनश्रौतसूत्रम् (६। ४। ५६ ७२। २२ २५—२८ ७। २७। १२ ३० १६। २७। २ १६। २८। २)।

३-छन्द सूत्रम् (६। २९ ३० ३४ ४। १८ ७। ९ ११ ३३-३४)।

४-पाणिनीयगणपाठ ४। ३। ७३ जैनेन्द्रगणपाठ ३। ३। ४७ जैनशाकटायनगणपाठ ३। १। १३६ चान्द्रगणपाठ ३। १। ४५ गणरत्नमहोदधि ५। ३४४ सरस्वतीकण्ठाभरणम् ४। ३।

५-बौधायनधर्मसूत्रम् २। १४। २ गौतमधर्मसूत्रम् १५। २८ गोपथब्राह्मण १। १। २७ [illegible] ७। १५।

६-छन्द सूत्रम् (३। २९-३० ३६ ५। १८ ७। ९—११ ३५)।

७-निदानसूत्रम् (१—७ पृष्ठोंपर पाञ्चाला एक उदाहरन्ति यद्भुया आचक्षत बुवत [illegible] ७ मत)।

८-ज्योतिष्मतीति पाञ्चाला उरोबृहतीति यास्क महाबृहतीत्येके [illegible]।

८-रातकृत छन्द—चण्डवृष्टिप्रपात (दण्डक)

[छन्द सूत्रम् ७। ३६]

इनमेंसे यास्क काश्यप, ताण्डी और माण्डव्य मूलछन्द-प्रवक्ता हैं और शेष हैं नामान्तरकर्ता। यास्कके छन्द उरोबृहतीको क्रौष्टुकि स्कन्धोग्रीवी नाम देते हैं और पिङ्गल उसे न्यङ्कुसारिणी कहते हैं। ताण्डीके छन्द सतोबृहतीको पिङ्गलने महाबृहती नाम दिया है। काश्यपके छन्द सिहोन्नताको शाकल्यने मधुमाधवी नाम दिया है और पिङ्गलने उस वसन्ततिलका कहा है। माण्डव्य रातसे प्राचीन हैं। अत चण्डवृष्टिप्रपात (दण्डक) माण्डव्यका है रातका नहीं। छन्द-प्रवक्ता ऋषि नामान्तरकर्ता ऋषियोंसे प्राचीन हैं।

छन्दके दो अर्थ हैं—एक तो आच्छादन और दूसरा आह्लादन। छन्दकी व्युत्पत्ति 'छदि संवरणे' और 'चदि आह्लादने' से मानी जाती है[१]। यास्कने छन्दकी व्युत्पति 'छद् संवरणे' से मानी है[२], जिसके अनुसार छन्द वेदोंके आवरण अर्थात् आच्छादन हैं। आच्छादनसे आशय यह है कि छन्दके द्वारा रस, भाव तथा वर्ण्यविषयको आच्छादित किया जाता है। जो विद्वान् छन्दकी व्युत्पत्ति 'चदि आह्लादने' से मानते हैं,[३] उनके अनुसार आह्लादनका अर्थ मनोरञ्जन हाता है, अर्थात् छन्द मानव-मनका मनोरञ्जन करते हैं। अत छन्द वेदोंके आवरण और मानव-मनके आह्लादनके साधन हैं।

वेदामे २६ छन्द प्राप्त हाते हैं जिनका विवरण निम्नाङ्कित है—

ऋग्वेदके १३ छन्द

आचार्य शौनकक मतानुसार ऋग्वेदमें गायत्रीसे अतिधृतितक १४ छन्दाका प्रयाग मिलता है[४] किंतु ऋग्वेदम किये गये अन्वेपणसे ज्ञात हुआ है कि उसमें गायत्रास धृतितक १३ छन्दाका ही प्रयोग है। अतिधृति छन्दकी अक्षर-गणना तो ऋग्वेदके किसी भी मन्त्रमें प्राप्त नहीं होती। समस्त ऋग्वेदमें केवल एक मन्त्रमे ही अतिधृति छन्द माना जाता है और वह है ऋग्वेदके मण्डल १ सूक्त १२७ वका छठा मन्त्र। इसी मन्त्रम शौनक कात्यायन और वकटमाधवने अतिधृति छन्द माना है किंतु इसम अतिधृति छन्दकी वर्ण-संख्या ७६ प्राप्त नहीं होती, अपितु ६८ वर्ण मिलते हैं, जो व्यूहद्वारा भी ७६ रूपमे सगत नहीं हाते। एक या दो अक्षरोंसे न्यून छन्दकी वर्णपूर्ति तो व्यूहद्वारा सगत मानी जाती है, किंतु छह वर्णोंकी कमीको व्यूहद्वारा पूरा करना सर्वथा असगत ही है। अत ऋग्वदम निम्नाङ्कित १३ छन्द प्राप्त होते हैं—

१-गायत्री [२४ वर्ण] (ऋक्० १। १। १)
२-उष्णिक् [२८ वर्ण] (ऋक्० १। ९२। १६)
३-अनुष्टुप् [३२ वर्ण] (ऋक्० १। १०। ७)
४-बृहती [३६ वर्ण] (ऋक्० १। ३६। ७)
५-पक्ति [४० वर्ण] (ऋक्० ९। ११३। ४)
६-त्रिष्टुप् [४४ वर्ण] (ऋक्० १। २४। १)
७-जगती [४८ वर्ण] (ऋक्० ९। ८४। ४)
८-अतिजगती [५२ वर्ण] (ऋक्० ४। १। २)
९-शक्वरी [५६ वर्ण] (ऋक्० ८। ३६। १)
१०-अतिशक्वरी [६० वर्ण] (ऋक्० १। १३७। १)
११-अष्टि [६४ वर्ण] (ऋक्० १। १२७। १)
१२-अत्यष्टि [६८ वर्ण] (ऋक्० १। १२७। ६)
१३-धृति [७० वर्ण, व्यूहसे ७२] (ऋक्० १। १३३। ६)

यजुर्वेदके ८ छन्द

पद्यके अतिरिक्त गद्य भी प्राचीन आर्य परम्पराके अनुसार छन्दोबद्ध माने जाते हैं क्याकि विना छन्दके वाणी उच्चरित नहीं हाती[५]। छन्दसे रहित काई शब्द भी नहीं होता

१-युधिष्ठिर मीमासक वैदिक छन्दोमीमासा, पृष्ठ ११—१३ अमृतसर १९५९।
२-'छन्दांसि छादनात् (यास्क निरुक्त ७। १२)।
३-अयोध्यानाथ पिङ्गलछन्द सूत्र २। १ का टिप्पणी।
४- सर्वादाशतयाध्वेता उत्तरान्तु सुभपजे (शौनक ऋक्प्रातिशाख्य १६। ८७-८८)।
५- नाच्छन्दसि वागुच्चरति (आचार्यदुर्गकृत निरुक्तवृत्ति ७। २)।

और शब्दसे रहित कोई छन्द भी नहीं होता[1]। सम्पूर्ण वाङ्मय छन्दोयुक्त है और छन्दके बिना कुछ भी नहीं है, जिससे स्पष्ट हाता है कि गद्य भी छन्दोबद्ध होते हैं। अत याजुपगद्यके मन्त्र भी छन्दोबद्ध हैं। यही कारण है कि पतञ्जलि, शौनक और कात्यायन आदि आचार्योंने एक अक्षरसे १०४ अक्षरतकके छन्दोंके विधान अपने-अपने ग्रन्थोंमें किया है, जिनमेंसे गायत्रीसे धृतितक १३ छन्द ऋग्वेदमे प्राप्त हैं और अतिधृतिस उत्कृतिपर्यन्त ८ छन्दोके उदाहरण यजुर्वेदम मिलते हैं, जिनका विवरण निमाङ्कित है—

१-अतिधृति [७६ वर्ण] (यजु० २२। ५)
२-कृति [८० वर्ण] (यजु० ९। ३२)
३-प्रकृति [८४ वर्ण] (यजु० १५। १६)
४-आकृति [८८ वर्ण] (यजु० १५। ६४)
५-विकृति [९२ वर्ण] (यजु० १५। १५)
६-सकृति [९६ वर्ण] (यजु० २४। १-२)
७-अभिकृति [१०० वर्ण] (यजु० २६। १)
८-उत्कृति [१०४ वर्ण] (यजु० ११। ५८)

अथर्ववेदके ५ छन्द

१-उक्ता [४ वर्ण] (अथर्व० २। १२९। ८)
२-अत्युक्ता [८ वर्ण] (अथर्व० २। १२९। १)
३-मध्या [१२ वर्ण] (अथर्व० २०। १२९। १३)
४-प्रतिष्ठा [१६ वर्ण] (अथर्व० २०। १३१। ५)
५-सुप्रतिष्ठा [२० वर्ण] (अथर्व० २०। १३४। २)

इनके अतिरिक्त सामवेद और अथर्ववदमे ऋग्वेद और यजुर्वेदमें प्रयुक्त छन्दोका ही प्रयोग मिलता है जिनके २६१ भेद-प्रभेद हैं।

छन्दोऽनुशासन-ग्रन्थ

वैदिक छन्दोका विवरण तीन प्रकारके छन्दोग्रन्थामे प्राप्त होता है उनमसे एक तो वे ग्रन्थ हैं जा अन्य विषयाक साथ छन्दोंके विषयोंपर भी विवेचन प्रस्तुत करत हैं। एस ग्रन्थोंमें निदानसूत्र ऋक्प्रातिशाख्य और अग्निपुराण मुख्य हैं। दूसरे प्रकारके वे ग्रन्थ हैं जा अनुक्रमणी-साहित्यके अन्तर्गत आते हैं जिनमें शौनककृत छन्दाऽनुक्रमणी कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणी, शुक्लयजु -सर्वाऽनुक्रमसूत्र बृहत्सर्वानुक्रमणी माधवभट्टकृत ऋग्वदानुक्रमणी और वेकटमाधवकृत छन्दोऽनुक्रमणी प्रमुख हैं किंतु इनमस केवल दो ग्रन्था—कात्यायनकी ऋक्सर्वानुक्रमणी और वेकटमाधवकी छन्दाऽनुक्रमणीमे ही छन्दाके लक्षण मिलत हैं। तीसरे प्रकारके वे ग्रन्थ हैं, जो छन्दोंके विषयपर स्वतन्त्ररूपसे लिखे गये हैं, जिनम छन्द सूत्र, उपनिदानसूत्र, जयदेवछन्द और श्रीकृष्णभट्टकृत वृत्तमुक्तावलि मुख्य हैं। अत इनका सामान्य परिचय यहाँ प्रस्तुत है—

१-निदानसूत्र

निदानसूत्रके रचयिता महर्षि पतञ्जलि हैं। इस ग्रन्थमे १० प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठकम १३, १३ खण्ड हैं। इसके प्रथम प्रपाठकके प्रथम सात खण्डामे छन्दाका वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम छ खण्डाम मूल २६ छन्दोंके १४३ भेद-प्रभेदाके लक्षण मिलते हैं और सप्तम खण्डमे यति-विषयक वर्णन है।

२-ऋक्प्रातिशाख्य

ऋक्प्रातिशाख्यके रचयिता आचार्य शौनक हैं। इसम १८ पटल हैं, जिनमें अन्तिम तीन १६ से १८ तकके पटलोंमें मूल २६ छन्दाके १८८ भेद-प्रभेदाक लक्षण प्राप्त होते हैं, जिनमें आचार्य शौनकके ६४ स्वतन्त्र लक्षित छन्द हैं शेष १२४ छन्द निदानसूत्रमे लक्षित हा चुक हैं।

३-ऋक्सर्वानुक्रमणी

ऋक्सर्वानुक्रमणीके रचयिता आचार्य कात्यायन हैं। यह सूत्ररूपमें निबद्ध है। इसम ६८ छन्दाभेदाके लक्षण मिलते हैं जिनमे ९ छन्द कात्यायनक स्वतन्त्ररूपमे लक्षित हैं शेष ५९ छन्द पूर्वरचनाओंम लक्षित हो चुके हैं।

४-छन्द सूत्र

छन्द सूत्रके रचयिता महर्षि पिङ्गल हैं। यह सूत्रोंमें उपनिबद्ध है। इसमे ८ अध्याय हैं जिनम ३२९ सूत्र हैं। यह ग्रन्थ वैदिक तथा लौकिक छन्दाका विवेचन करता है। इसम प्रथमस चतुर्थ अध्यायक सातव सूत्रतक ११० वैदिक छन्दाके लक्षण मिलते हैं जिनमं महर्षि पिङ्गलक स्वतन्त्ररूपम

१- छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्द शब्दवर्जितम् (नाट्यशास्त्रम् १५। ४०)।

लक्षित ११ छन्द हैं। शेष १०८ छन्द पूर्व-रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

५-उपनिदानसूत्र

उपनिदानसूत्रके रचयिता अज्ञात हैं। ग्रन्थके अन्तिम पद्यचतुष्टयके प्रथम पद्यमें पिङ्गलके[1] उल्लेखसे इस रचनाको छन्द सूत्रसे परवर्ती माना जाता है। इसमें ६६ वैदिक छन्दोभेदोंके लक्षण मिलते हैं, जिनमें उपनिदानकारके स्वतन्त्ररूपसे लक्षित २ छन्द हैं। शेष ६४ छन्द पूर्वरचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

६-अग्निपुराण

अग्निपुराणमें ३८३ अध्याय हैं। इसमें पिङ्गलके[2] उल्लेखसे इस रचनाको छन्द सूत्रसे परवर्ती माना जाता है। इसके ३२८वें अध्यायसे ३३५वें अध्यायतक ८ अध्यायोंमें छन्दोविवरण प्राप्त होता है, जिनमेंसे प्रथम तीन (३२८—३३०) अध्यायोंमें वैदिक छन्दोंका विवरण है जिसमें अग्निपुराणकारके स्वतन्त्ररूपसे लक्षित ४ छन्द हैं। शेष छन्द पूर्ववर्ती रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

७-जयदेवछन्द

जयदेवछन्द के रचयिता जयदेव हैं। इसमें ८ अध्याय हैं, जिनमेंसे द्वितीय और तृतीय अध्यायमें वैदिक छन्दोंका विवेचन है जिसमें जयदेवके १३ स्वतन्त्र लक्षित छन्द हैं। शेष छन्द पूर्ववर्ती छन्दोग्रन्थोंमें लक्षित हो चुके हैं।

८-छन्दोऽनुक्रमणी

छन्दोऽनुक्रमणीके रचयिता वेंकटमाधव हैं। इन्होंने ऋग्वेद-संहितापर भाष्य लिखा है। इस भाष्यमें वैदिक छन्दोंका जो उल्लेख किया है, उसे ही 'छन्दोऽनुक्रमणी' कहते हैं। इसमें ५८ छन्दोभेदोंके लक्षण मिलते हैं, जिनमें इनका कोई भी स्वतन्त्रलक्षित छन्द नहीं है। समस्त छन्द पूर्व-रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

९-वृत्तमुक्तावलि

वृत्तमुक्तावलिके रचयिता श्रीकृष्णभट्ट हैं। इस रचनामें ३ गुम्फ हैं। प्रथम गुम्फमें २०५ वैदिक छन्दोभेदोंका विवेचन है जिसमें इनके स्वतन्त्ररूपसे लक्षित ४ छन्द हैं। शेष छन्द पूर्ववर्ती रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

उपसंहार

इस प्रकार द्वापरयुगान्तके महर्षि पतञ्जलिकी छन्दोरचना निदानसूत्रसे लेकर विक्रम संवत् १,८०० के श्रीकृष्णभट्टकी छन्दोरचना वृत्तमुक्तावलितक ९ छन्दोऽनुशासन ग्रन्थोंमें ऋग्वेदके १३, यजुर्वेदके ८ और अथर्ववेदके ५— इस प्रकार कुल २६ वैदिक मूलछन्दोंके लक्षणोंके साथ, उनके २२४ भेद-प्रभेदोंका लक्षणसहित विवेचन किया गया है।

सकल जग हरि कौ रूप निहार।
हरि बिनु बिस्व कतहुँ कोउ नाहीं, मिथ्या भ्रम-संसार॥
अलख-निरंजन, सब जग ब्यापक सब जग कौ आधार।
नहिं आधार, नाहिं कोउ हरि महँ केवल हरि-विस्तार॥
अति समीप अति दूर, अनोखे, जग महँ जग तें पार।
पय-घृत, पावक काष्ठ बीज महँ तरु-फल पल्लव-डार॥
तिमि हरि ब्यापक अखिल बिस्व महँ, आनँद पूर्न अपार।
एहि बिधि एक बार निरखत ही भव बारिधि हो पार॥
(पद रत्नाकर १२५८)

१-'ब्राह्मणतारिम्नश्चैव पिङ्गलाय्य महात्मन (उपनिदानसूत्रम् ८।१)।
२-'छन्दो वक्ष्ये मूलजैस्तैः पिङ्गलोक्तं यथाक्रमम् (अग्निपुराणम् ३२८।१)।

वेदोमे ज्योतिष

(श्रीओमप्रकाशजी पालीवाल एम्०ए० एल्-एल्० बी०)

ज्योतिष क्या है? यह ज्योतिका शास्त्र है। ज्योति आकाशीय पिण्डों—नक्षत्र ग्रह आदिसे आती है परतु ज्योतिषमे हम सब पिण्डोका अध्ययन नहीं करते। यह अध्ययन केवल सौरमण्डलतक ही सीमित रखते हैं। ज्योतिषका मूलभूत सिद्धान्त है कि आकाशीय पिण्डोका प्रभाव सम्पूर्ण ब्रह्माण्डपर पडता है। इस प्रकार मानव-संसारपर भी इन नक्षत्रों एव ग्रहो आदिका प्रभाव पडता है। दूसरे शब्दोंमें आकाशीय पिण्डों एव मानव-ससारमें पारस्परिक सम्बन्ध है। इस सम्बन्धको अथर्ववेदके तीन मन्त्र स्पष्टरूपसे दर्शाते हैं—

पहला मन्त्र है—

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम्॥
(अथर्व० १९। ७। १)

अर्थात् 'द्युलोक—सौरमण्डलमे चमकते हुए विशिष्ट गुणवाले अनेक नक्षत्र हैं जो साथ मिलकर अत्यन्त तीव्र गतिसे टेढे-मेढे चलते हैं। सुमतिकी इच्छा करता हुआ मैं प्रतिदिन उनको पूजता हूँ, जिससे मुझे सुखकी प्राप्ति हो।' इस प्रकार इस मन्त्रमे नक्षत्राको सुख तथा सुमति देनम समर्थ माना गया है। यह सुमति मनुष्योको नक्षत्राकी पूजासे प्राप्त होती है। यह मनुष्योपर नक्षत्रोका प्रभाव हुआ जिसे ज्योतिष शास्त्र ही मानता है।

दूसरा मन्त्र है—

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥
(अथर्व० १९। ८। १)

अर्थात् 'जिन नक्षत्राको चन्द्रमा समर्थ करता हुआ चलता है वे सब नक्षत्र मेरे लिये आकाशमे अन्तरिक्षम जलमें पृथ्वीपर पर्वतापर और सब दिशाआमे सुखदायी हों।'

अब प्रश्न उठता है कि चन्द्रमा किन नक्षत्राका समर्थ करता हुआ चलता है। वदोम इन नक्षत्राकी सख्या २८ बताया गया है। इनक नाम अथर्ववदक १९ व काण्डक ७वें सूक्तमें मन्त्र-सख्या २ से ५ तक (४ मन्त्रा)-में दिये गये हैं। अश्विनी भरणी आदि २८ नाम वहा हैं जा ज्योतिषग्रन्थाम हैं। इस प्रकार नक्षत्राक नाम तथा क्रमम पूरी समानता है। इस आधारपर हम कह सकते हैं कि ज्योतिषका मूल वेदामें है।

तीसरा मन्त्र है—

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥
(अथर्व० १९। ८। २)

अर्थात् 'अट्ठाइस नक्षत्र मुझे वह सब प्रदान करे जो कल्याणकारी और सुखदायक हैं। मुझे प्राप्ति-सामर्थ्य और रक्षा-सामर्थ्य प्रदान कर। दूसर शब्दाम पानेके सामर्थ्यक साथ-साथ रक्षाक सामर्थ्यका पाऊँ और रक्षाक सामर्थ्यके साथ ही पानेके सामर्थ्यको भी मैं पाऊँ। दाना अहोरात्र (दिवा और रात्रि)-को नमस्कार हा।'

इस मन्त्रमें योग और क्षेमकी प्राप्तिक लिये प्रार्थना है। साधारणतया जो वस्तु मिली नहीं है उसको जुटानेका नाम 'योग' है। जा वस्तु मिल गयी है उसकी रक्षा करना ही 'क्षेम' है। नक्षत्रासे इनका दनकी प्रार्थनासे स्पष्ट है कि नक्षत्र प्रसन्न होकर यह दे सकते हैं। इस प्रकार इस मन्त्रका भी ज्यातिषसे सम्बन्ध है।

इस मन्त्रम जा 'अहारात्र' पद आया है उसका ज्योतिषके होराशास्त्रम अत्यन्त महत्त्व है। यथा—

अहोरात्राद्यन्तलोपाद्धोरेति प्रोच्यते बुधैः।
तस्य हि ज्ञानमात्रेण जातकर्मफलं वदेत्॥
(बृ० पा० हो० शा० पू० ३। २)

अर्थात् 'अहारात्र पदके आदिम (अ) और अन्तिम (त्र) वर्णके लापसे 'होरा' शब्द बनता है। इस होरा (लग्न)-के ज्ञानमात्रस जातकका शुभाशुभ कर्मफल कहना चाहिय।'

आकाशीय पिण्डाम नक्षत्र आर ग्रह गिना जाते हैं। ज्योतिषने इन दानाम कुछ अन्तर किया है जा निम्न श्लाकास स्पष्ट है—

तेजःपुञ्जा नु वीक्ष्यन्ते गगने रजनीषु ये।
नक्षत्रसञ्ज्ञकास्ते तु न क्षरन्तीति निश्चला॥
विपुलाकारवन्तोऽन्ये गतिमन्तो ग्रहा किल।
स्वगत्या भानि गृह्णन्ति यतोऽतस्ते ग्रहाभिधाः॥
(बृ० पा० हो० शा० अध्याय ३। ४-५)

अर्थात् 'रात्रिके समय आकाशमे जो तेज पुञ्ज दीखते हैं वे ही निश्चल तारागण नहीं चलनेके कारण 'नक्षत्र' कहे जाते हैं। कुछ अन्य विपुल आकारवाले गतिशील वे तेज पुञ्ज अपनी गतिके द्वारा निश्चल नक्षत्राको पकड लेते हैं अत वे 'ग्रह' कहलाते हैं।'

ऊपर तीन मन्त्रामे नक्षत्रासे सुख, सुमति, याग, क्षेम देनेकी प्रार्थना की गयी। अब ग्रहासे दो मन्त्राम इसी प्रकारकी प्रार्थनाका वर्णन है। दोना मन्त्र अथर्ववेदके उन्नीसवे काण्डके नवम सूक्तमे हैं। इस सूक्तके सातवें मन्त्रका अन्तिम चरण 'श नो दिविचरा ग्रहा ' है, जिसका अर्थ है आकाशमे घूमनेवाले सब ग्रह हमारे लिये शान्तिदायक हो। यह प्रार्थना सामूहिक है। इस सूक्तका दसवाँ मन्त्र है—

श नो ग्रहाश्चान्द्रमसा शमादित्यश्च राहुणा।
श नो मृत्युर्धूमकेतु श रुद्रास्तिग्मतेजस ॥

अर्थात 'चन्द्रमाके समान सब ग्रह हमारे लिये शान्तिदायक हो। राहुके साथ सूर्य भी शान्तिदायक हो। मृत्यु, धूम और केतु भी शान्तिदायक हों। तीक्ष्ण तेजवाले रुद्र भी शान्तिदायक हो।' अब प्रश्न उठता है चन्द्रके समान अन्य ग्रह कौन हैं? इसका उत्तर एक ही है कि पाँच ताराग्रह—मगल, बुध गुरु, शुक्र एव शनि हैं, जो चन्द्रके समान सूर्यकी परिक्रमा करनेसे एक ही श्रेणीमे आते हैं। सूर्य किसीकी परिक्रमा नहीं करता। इसलिये इसको भिन्न श्रेणीमें रखा गया है। राहु और केतु प्रत्यक्ष दीखनेवाले ग्रह नहीं हैं। इसलिये ज्योतिषमे इसे 'छायाग्रह' कहा जाता है, परतु वेदोंने इन्हें ग्रहकी श्रेणीमे ही रखा है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र मगल, बुध गुरु शुक्र, शनि राहु और केतुको ज्योतिषमे 'नवग्रह' कहा जाता है। कुछ भाष्यकारोंने 'चान्द्रमसा का अर्थ 'चन्द्रमाके ग्रह' भी किया है और उसमें नक्षत्रा (कृत्तिका आदि)-की गणना की है परतु यह तर्क-सगत नहीं लगता। इस मन्त्रमे आये हुए मृत्यु एव धूमको महर्षि पराशरने अप्रकाशग्रह कहा है। ये पाप ग्रह हैं और अशुभ फल देनेवाले हैं। कुछके अनुसार गुलिकको ही 'मृत्यु कहते हैं। उपर्युक्त मन्त्रमे इनकी प्रार्थनासे यह स्पष्ट है कि इनका प्रभाव भी मानवपर पडता है।

श्रीपराशरके अनुसार पितामह ब्रह्माजीने वेदोंमे लेकर ज्योतिष शास्त्रका विस्तारपूर्वक कहा है—

वेदेभ्यश्च समुद्धृत्य ब्रह्मा प्रोवाच विस्तृतम्।

(बृ० पा० हो० सारांश उत्तरखड अध्याय २०। ३)

वेद-मन्त्रोके उच्चारण-प्रकार—प्रकृतिपाठ एव विकृतिपाठ

अपौरुषेय एव ईश्वरोक्त वाणी वेद-शब्दराशिको सुरक्षित तथा पूर्णत अपरिवर्तित-रूपमे मानवसमाजके कल्याणके लिये अक्षुण्ण रखनेहेतु ऋषियाने इसकी पाठ-विधियाका उपदेश किया है। ये सभी पाठ ऋषियाके द्वारा दृष्ट हैं, अत अपौरुषेय हैं। इनमे तीन प्रकृतिपाठ तथा आठ विकृतिपाठ हैं। सहितापाठ पदपाठ तथा क्रमपाठ—ये तीन प्रकृतिपाठ हैं। आठ विकृतिपाठोके नाम हैं—जटा माला शिखा रेखा ध्वज दण्ड रथ और घन। इन पाठोंके द्वारा विविध प्रकारसे अभ्यास किये जानेके कारण वेदको आम्नाय ('आसमन्तात् म्नायते अभ्यस्यते) कहा गया है। इन विविध पाठोंकी महिमाके कारण ही आज भी मूल वेद-शब्दराशि एक भी वर्ण अथवा मात्राका विपर्यय न होते हुए हमको उपलब्ध हो रही है। सम्पूर्ण विश्वमे ऐसी कोई अविच्छिन्न उच्चारण-परम्परा दृष्टिगोचर नहीं होती। यह वैदिक शब्दराशिका वैशिष्ट्य है।

वेदके सहितापाठका जिन ऋषियोंने दर्शन किया, उनका स्मरण विनियोग आदिमे किया जाता है। वस्तुत सर्वप्रथम परमेश्वरने ही वेदशब्द-सहिताका दर्शन किया तथा उन्होंने इसका उपदेश किया। इसी प्रकार पदपाठके आद्य द्रष्टा रावण और क्रमपाठके बाभ्रव्य ऋषि हैं। मधुशिक्षाका वचन है—

भगवान् संहितां प्राह पदपाठं तु रावण।
बाभ्रव्यर्षि क्रमं प्राह जटां व्याडिरवोचत्॥

प्रत्येक शाखाके पृथक् पदपाठके ऋषि भी उल्लिखित हैं यथा—ऋग्वेदकी शाकलशाखाके शाकल्य यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाके आत्रेय तथा सामवेदकी कौथुमशाखाके

गार्ग्य ऋषि पदपाठके द्रष्टा हैं। इसी प्रकार प्रातिशाख्यमे विकृतियोके सम्बन्धमे भी श्लोक है—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घन ।
अष्टौ विकृतय प्रोक्ता क्रमपूर्वा महर्षिभि ॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि महर्षियोने क्रमपाठ एव विकृतिपाठाका दर्शन करनेके अनन्तर उनका उपदेश किया। मधुशिक्षाके अनुसार जटापाठक ऋषि व्याडि मालापाठके ऋषि वसिष्ठ, शिखापाठके ऋषि भृगु, रेखापाठके ऋषि अष्टावक्र, ध्वजापाठके ऋषि विश्वामित्र दण्डपाठके ऋषि पराशर रथपाठके ऋषि कश्यप तथा घनपाठके द्रष्टा ऋषि अत्रि हैं। इस प्रकार ये सभी पाठ ऋषिदृष्ट होनेके कारण अपौरुषेय हैं।

सहितापाठ तथा उसकी महिमा—'वर्णानामेकप्राणयोग सहिता' (कात्यायन) पर सन्निकर्ष सहिता' (पाणिनि) आदि सूत्रोंके द्वारा सहिताका स्वरूप बतलाया गया है। वेदवाणीका प्रथमपाठ जो गुरुओकी परम्परासे अध्ययनीय है और जिसमें वर्णों तथा पदाकी एकश्वासरूपता अर्थात् अत्यन्त सानिध्यके लिये सम्प्रदायानुगत सन्धियो तथा अवसानो (निश्चित स्थलोपर विराम)-से युक्त एव उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित—इन तीन स्वराम अपरिवर्तनीयतासे पठनीय वेदपाठको 'सहिता' कहते हैं। इसका स्वरूप है—

गुरुक्रमेणाध्येतव्य ससन्धि सावसानक ।
त्रिस्वरोऽपरिवर्त्यश्च पाठ आद्यस्तु सहिता॥

यह सहिता नामक वेदपाठ पुण्यप्रदा यमुना नदीका स्वरूप है तथा सहितापाठसे यमुनाके स्नानका पुण्य मिलता है—'कालिन्दी सहिता ज्ञेया' (या० शि०)। सहितारूप वेदका पाठ सूर्यलोकको प्राप्ति कराता है—'सहिता नयते सूर्यपदम्,(या०शि०)। सहिता-पाठ पदपाठका मूल है। 'पदप्रकृति सहिता' (यास्क) 'सहिता पदप्रकृति (दुर्गाचार्य) आदि वचनोंके आधारपर यह प्रथम प्रकृतिपाठ है। ऋषियाने मन्त्राके सहितारूप वेदपाठका ही दर्शन किया और यज्ञ देवता-स्तुति आदि कार्योमे वेदके सहिता-पाठका प्रयोग किया जाता है। कहा भी गया है—'आचार्या समिमिच्छन्ति पदच्छेदं तु पण्डिता '। सहिता प्रथम प्रकृतिपाठ है।

पदपाठ तथा उसकी महिमा—'अर्थ पदम् '(वा०प्रा०) 'सुप्तिङन्तं पदम्' (पाणिनि) आदि सूत्रोके द्वारा पदका स्वरूप बतलाया गया है। इसका तात्पर्य है कि किसी अर्थका बोध करानेके लिये पाणिनीय आदि व्याकरणके अनुसार 'सुप्-तिङ्' आदि प्रत्ययासे युक्त वर्णात्मक इकाईको 'पद' कहते हैं। वदके सहितापाठकी परम्पराके अनुसार स्वरवर्णोकी सन्धिका विच्छेद करके वैदिक मन्त्रोंका सस्वर पाठ पदपाठ कहा जाता है। वेदमन्त्रोका पदपाठ द्वितीय प्रकृतिपाठ माना जाता है। यद्यपि पदपाठका आधार सहितापाठ है तथापि अग्रिम क्रमपाठका आधार (प्रकृति) पदपाठ होनेके कारण यह प्रकृतिपाठ है। स्वरके सम्बन्धके अनुसार पदके ग्यारह प्रकार होते हैं। शिक्षा-ग्रन्थोमे कहा गया है—

नव पदशय्या एकादश पदभक्तय '

वेदमन्त्राका पदपाठ पुण्यप्रदा सरस्वती देवनदीका स्वरूप है। पदपाठ करनेसे सरस्वतीके स्नानका फल प्राप्त होता है—'पदमुक्ता सरस्वती ' (या० शि०)। पदपाठका अध्ययन करनेवाला व्यक्ति चन्द्रलोककी प्राप्ति करता है—'पद च शशिन पदम्' (या० शि०)। विद्वज्जन अर्थज्ञानकी सुविधाके लिये पदपाठको विशेषरूपसे ग्रहण करते हैं। वदमन्त्रोके पदपाठसे आराध्य देवके गुणाका गान किया जाता है।

तैत्तिरीय आदि अनेक शाखाओमे सहिताके प्रत्येक पदका पदपाठमें साम्प्रदायिक उच्चारण है। ऋग्वेदमे भिन्न पदगर्भित पदाम अनानुपूर्वी सहिताका स्पष्ट पद-स्वरूप देकर पढा जाता है। शुक्लयजुर्वेदकी शाखाओमें प्रातिशाख्यके नियमाके अनुसार एकाधिक बार आये हुए विशेष पदाको पदपाठमे विलुप्त कर दिया जाता है। शास्त्रीय परिभाषामे ऐसे विलुप्त पदोको गलत्पद तथा ऐसे स्थलके पाठको सक्रम कहा जाता है।

पदपाठमे प्रत्येक पदको अलग करनेके साथ यदि कोई पद दो पदाके समाससे बना हो तो उसे माध्यन्दिनीय शाखाम 'इतिकरण' के साथ दोहरा करके स्पष्ट किया जाता है। प्रातिशाख्यके नियमाके अनुसार कतिपय विभक्तियोमे तथा वैदिक लोप आगम वर्णविकार प्रकृतिभाव आदिमें भी इतिकरण के साथ पदका मूल स्वरूप स्पष्ट किया जाता है। जैसे— सहस्रशीर्षेति सहस्रऽशीर्षा। इसे 'अवग्रह' कहते हैं।

पदपाठमें स्वरवर्णोंकी सन्धिका विच्छेद तथा अवग्रह आदि विशेष विधियाके प्रभावस यह पाठ सहितासे भी अधिक कठिन हा जाता है। इन नियमाके कारण ही यह पदच्छेद नहीं है, किंतु पदपाठ कहा जाता है।

क्रमपाठ तथा उसकी महिमा—'द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरभावसानमपृक्तवर्जम्' (वा०प्रा०) आदि सूत्रोंके द्वारा क्रमपाठका स्वरूप बतलाया गया है। अपृक्त आदि विशेष स्थलाको छोडकर सामान्यत दो-दो पदोका सन्धियुक्त अवसानपर्यन्त सस्वर पाठ 'क्रमपाठ' कहलाता है। पाणिनिके धातुपाठके अनुसार एक-एक पैरको बढाना क्रम है। उसी भावसे क्रमपाठम भी एक-एक पदको आगे बढाकर पढते हैं। इस कारण इस पाठको क्रमपाठ कहा जाता है। क्रमपाठ यद्यपि पदपाठक आधारसे ही है तथापि जटा आदि विकृतिपाठोका मूल क्रमपाठ है। अत आठा विकृतिपाठोका प्रकृतिपाठ क्रमपाठ है तथा यह तृतीय प्रकृतिपाठ है।

एतरय आरण्यक (३। १। ३) तथा ऋग्वेद प्रातिशाख्य वर्गद्वयवृत्तिके अनुसार अन्नकामनाकी पूर्तिके लिये सहिता-पाठ, स्वर्गकामनाकी पूर्तिके लिये पदपाठ तथा अन्न-स्वर्ग दोना कामनाआकी पूर्तिके लिये क्रमपाठका विधान है। वाराहपुराणमे कहा गया है कि सहितापाठसे दोगुना पुण्य पदपाठसे तिगुना पुण्य तथा क्रमपाठसे एव जटादि विकृतियोंके पाठसे छ गुना पुण्य प्राप्त होता है—

सहितापाठत पुण्यं द्विगुणं पदपाठत ।
त्रिगुण क्रमपाठेन जटापाठेन षड्गुणम्॥

आठ विकृतिपाठ और उनकी महिमा—मन्त्रात्मक वैदिक शब्दराशिकी अक्षुण्ण तथा निर्भ्रान्त परम्पराकी सुरक्षा इन जटा आदि आठ विकृतिपाठासे ही हो सकी है। इसलिये जटादि विकृतिपाठोमें निरत विद्वानोको 'पंक्तिपावन' माना गया है—

जटादिविकृतीनां ये पारायणपरायणा ।
महात्मानो द्विजश्रेष्ठास्ते ज्ञेया पङ्क्तिपावना ॥

यद्यपि कुछ व्यक्ति इन वचनाके आधारपर भी मात्र ऋग्वेदमें अष्टविकृतिपाठ होता है यह कहत हैं परंतु माध्यन्दिन आदि शाखाओंके अध्यता वैदिक विद्वानाकी अत्यन्त प्राचीन अविच्छिन्न परम्परासे सभी विकृतिपाठाका अध्ययनाध्यापन प्रचलित है। कात्यायनीय चरणव्यूह आदि ग्रन्थोंके (वारे शास्त्री प्रभृतिद्वारा सम्पादित) प्रामाणिक संस्करणामे विकृतियोका उल्लख होनेके कारण अन्य शाखाआम भी विकृतिपाठ करना अत्यन्त प्रामाणिक है। इसक लिये स्कन्दपुराणके ब्रह्मखण्डम जगत्की आधारभूता वेदात्मिका गौ जटा-घन आदि विकृतियोंसे विभूषित है, यह उल्लेख है—

सर्वस्याधारभूताया यत्तस्थेनुस्त्रयीमया।
अस्या प्रतिष्ठित विश्वं विश्वहेतुश्च या मता॥
ऋक्पृष्ठासौ यजुर्मध्या सामकुक्षिपयोधरा।
इष्टापूर्तविषाणा च साधुसूक्ततनूरुहा॥
शान्तिपुष्टि शकृन्मूत्रा वर्णपादप्रतिष्ठिता।
उपजीव्यमाना जगतां पदक्रमजटाघनै ॥

इसके द्वारा चतुर्वेदात्मिका त्रयीवाणी जटा-घन आदि विकृतिपाठोसे प्राणियापर अनुग्रह करती है यह स्पष्ट निर्देश है। विकृतिपाठ-सम्बन्धी इन वचनाका वैदिक परम्परामे प्रामाणिक माना जाता है क्योकि वेदसम्मत स्मृतिवचना तथा आचाराका प्रामाण्य मीमासा एव धर्मशास्त्रमें सर्वांशत माना गया है।

जटापाठ—इस प्रथम विकृतिपाठम दो पदोको अनुक्रम, व्युत्क्रम तथा सक्रम इस प्रकार तीन बार सन्धिपूर्वक अवसानरहित पढा जाता है। जैसे—'विष्णो , कर्माणि विष्णोर्विष्णो कर्माणि।' इत्यादि। जटापाठ पञ्चसन्धियुक्त भी होता है। इसमें अनुक्रम उत्क्रम व्युत्क्रम अभिक्रम तथा सक्रम—ये पाँच क्रम होते हैं। पदाको सख्याके साथ प्रदर्शित करते हुए इसका स्वरूप इस प्रकार है—'विष्णो कर्माणि (अनुक्रम), कर्माणि, कर्माणि (उत्क्रम) कर्माणि विष्णो (व्युत्क्रम), विष्णोर्विष्णो (अभिक्रम) और विष्णो कर्माणि (सक्रम)।'

मालापाठ—इसक दो भेद हैं—पुष्पमाला और क्रममाला। अधिक प्रचलित पुष्पमालापाठम जटाकी भाँति ही तीनों क्रम पढ जाते हैं किंतु प्रत्यकके बीचमें विराम किया जाता है। जैसे—'विष्णो कर्माणि। कर्माणि विष्णो। विष्णो कर्माणि।' इत्यादि।

शिखापाठ—जटापाठके त्रिविध क्रमोंके बाद एक आगेका पद ग्रहण करनेपर शिखापाठ हो जाता है। जैसे—*'विष्णो कर्माणि कर्माणि विष्णोर्विष्णो कर्माणि पश्यत।'* इत्यादि।

रखापाठ—इसमें आधी ऋचा अथवा सम्पूर्ण ऋचाके दो पदोका क्रमपाठ, तीन पदोका क्रमपाठ चार पदोका क्रमपाठ—इस प्रकार क्रमश किया जाता है। इसी प्रकार व्युत्क्रममें भी करनेके बाद सक्रमम दो-दो पदोका ही पाठ होता है। प्रत्येक क्रमके आरम्भमें एक पूर्ववर्तिपद छोडते हुए *अवसानपूर्वक* यह पाठ होता है। जैसे—

ओषधय स। समोषधय। ओषधय सं॥
सं वदन्ते सोमेन। सोमेन वदन्ते सं। स वदन्ते॥
वदन्ते सोमेन सह राज्ञा। राज्ञा सह सोमेन वदन्त।
वदन्ते सोमेन॥ सोमेन सह। सह राज्ञा। इत्यादि।

ध्वजपाठ—इसके अन्तर्गत प्रथम दो पदोका क्रम तथा अन्तिम पदोका क्रम इस प्रकार साथ-साथ आदिसे अन्त और अन्तसे आदितक पाठ होता है। यह एक मन्त्रम अथवा एक वर्गमे आदिसे अन्ततक हो सकता है। जैसे—

ओषधय सं। पारयामसीति पारयामसि। स वदन्ते। राजन् पारयामसि। वदन्ते सोमेन। त राजन्। इत्यादि।

दण्डपाठ—अनुक्रमसे दो पदोंके पाठके अनन्तर व्युत्क्रममें क्रमश एक-एक पद बढाते हुए पाठ करना दण्डपाठ है। यह विधि अर्धर्च तक चलती है। जैसे—'ओषधय स। समोषधय। ओषधय स। सं वदन्ते॥ वदन्ते समोषधय। ओषधय सं। स वदन्ते। वदन्ते सोमेन॥ सोमेन वदन्ते समोषधय। इत्यादि।

रथपाठ—इसके तीन भेद हैं—द्विचक्र, त्रिचक्र तथा चतुश्चक्र। द्विचक्र रथ अर्धर्चश होता है। त्रिचक्र रथ समानपद सख्यावाले तीन पदोकी गायत्री छन्दकी ऋचाम ही पादश होता है। चतुश्चक्र रथ भी पादश होता है। त्रिचक्र रथका उदाहरण यह है—

प्रथम अनुक्रम—विष्णो कर्माणि। यतो व्रतानि। इन्द्रस्य युज्य।

व्युत्क्रम—कर्माणि विष्णो। व्रतानि यत। युज्य इन्द्रस्य।

द्वितीय अनुक्रम—विष्णो कर्माणि। यतो व्रतानि। इन्द्रस्य युज्य। कर्माणि पश्यत। व्रतानि पस्पशे। युज्य सखा।

व्युत्क्रम—पश्यत कर्माणि विष्णो। पस्पशे व्रतानि यत। सखा युज्य इन्द्रस्य। इत्यादि।

घनपाठ—वैदिक विद्वानाम सर्वाधिक समादृत घनपाठ भी चार प्रकारका है। घनके दो भेद तथा घनवल्लभके भी दो भेद हैं। घनपाठम शिखापाठ करके उमका विपर्यास करनेक बाद पुन उन तीन पदोका पाठ किया जाता है। जैसे—'ओषधय स समोषधय ओषधय स वदन्ते वदन्ते समोषधय ओषधय स वदन्ते॥' इत्यादि। घनवल्लभम पञ्चसन्धियुक्त पाठ होता है। अनुक्रम उत्क्रम व्युत्क्रम अभिक्रम और सक्रम—इन पाँच प्रकारकी सन्धियास युक्त *होनेक कारण इस पञ्चसन्धियुक्त घन भी कहते हैं। इसका* उदाहरण इस प्रकार है—

'पावका न। नो न। न पावका। पावका पावका। पावकान। पावका नो न पावका पावका न सरस्वती सरस्वती न पावका पावका न सरस्वती। इत्यादि। इनके अतिरिक्त अन्य भी अवान्तर भेद हैं, जो ज्योत्स्नावृत्ति आदि ग्रन्थोसे ज्ञातव्य हैं।

उपर्युक्त अष्टविकृतिक प्रकारोस यह स्पष्ट है कि महर्षियोने इन वैज्ञानिक पाठ-प्रकारोके आधारपर वेदमन्त्रोकी रक्षा अत्यन्त परिश्रमपूर्वक की तथा इसमें एक भी स्वर-वर्ण अथवा मात्राकी त्रुटि न हो इसका उपदेश दिया। इन पाठोके कारण आज भी विश्वकी धरोहरके रूपम वेद शुद्ध रूपसे प्राप्त हो रहे हैं।

[डॉ० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र]

जो नित सबमें देखता चिन्मय श्रीभगवान्।
होता कभी न वह पर हरि-दृगम विद्वान्॥
ले जाते हरि स्वय आ, उसको निज परधाम।
देते नित्य स्वरूप निज चिदानन्द अभिराम॥

माध्यन्दिनीय यजुर्वेद एवं सामवेदकी पाठ-परम्परा

(गोलोकवासी प्रो० डॉ० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र भूतपूर्व वेदविभागाध्यक्ष वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

पूर्वकालमें हमारे तपःपूत साक्षात्कृतधर्मा ऋषि-महर्षियोंने अनन्त कष्ट सहकर भी जिस महान् वेद-साहित्यकी स्वाध्याय-परम्परा अक्षुण्ण रखी उसीका फल है कि आज हम कुछ थोड़ा-बहुत उस वेदभगवान्का भाग यथावत् सुरक्षित पा रहे हैं किंतु आज हमारा समाज अपने धर्मके मूलभूत वेद-साहित्यकी उपेक्षा कर तत्-शाखा-साहित्य (वेदके अङ्ग-उपाङ्ग)-में ही अलंबुद्धि मानकर वेद-साहित्यसे प्राय उदासीन हो गया है। सम्प्रति यह सनातन-धर्मका प्राण एवं ज्ञान-भण्डार वेद-साहित्य क्षत्रिय वैश्य तो क्या ब्राह्मण जातिके लिये भी प्राय अज्ञात-सा होकर दिनानुदिन केवल कुछ विशिष्ट स्थान एवं पुस्तकालयोंमें दर्शनीय मात्र अवस्थामें पहुँच रहा है यदि यही अवस्था रही तो इस धर्ममूल वेद-साहित्यका केवल नाम ही शेष रह जायगा वर्तमान समयमें इसका पठन-पाठन तो क्या शिक्षितोंमें उदात्तादि स्वरोंका एवं उनकी हस्तमुद्राओंका यथावत् ज्ञान भी लुप्तप्राय होता जा रहा है। अत इस परिस्थितिमें द्विजमात्र (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य) जो कि इसके अधिकारी हैं और विशेष करके ब्राह्मण-समाजको इस परम्पराकी रक्षा करनेके लिये अङ्गसहित वेदाध्ययनपर अवश्य ध्यान देना एवं यत्न करना चाहिये क्योंकि कहा भी गया है—

'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

तथा—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रित ।
तं ह्यस्याहु परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(मनु० ४। १४७)

अर्थात् आलस्य रहित होकर यथासमय वेदका प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि यही मुख्य धर्म है अन्य धर्म तो गौण हैं।

वेदपाठका फल

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयु प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥
(अथर्ववेद १९। ७१। १)

तात्पर्य यह कि यथेच्छ वर देनेवाली वेदवाणी, अपने स्वाध्याय करने (पाठ करने)-वाले द्विजमात्रको पाप (दुःख)-रहित करती हुई पूर्ण आयु, रोगादि क्लेश-रहित जीवन पुत्र-पौत्रादि संतान कीर्ति (यश), विपुल धन बल एवं तेज आदि इस लोकके सम्पूर्ण सुख देती हुई अन्तमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराकर ब्रह्मलोकका अनन्त सुख प्राप्त कराती है।

वेदपाठ-विधि

वेदपाठमें नीचे लिखे नियमोंपर ध्यान रखना चाहिये—

वेदमन्त्रोच्चारणके लिये प्रसन्न-मन एवं विनीतभावसे हस्तमुद्रापर दृष्टि रखते हुए चित्रमें दिखाये गये ढंगके

चित्र सं० १

अनुसार शुद्ध आसनपर स्वस्तिक या पद्मासनसे बैठकर बायें हाथकी मुट्ठीपर दाहिना हाथ रख सब अँगुलियाँ मिलाकर गोकर्णाकृति हाथ रखते हुए बैठना चाहिये।

वेदपाठ करनेमें न बहुत शीघ्रता करे, न मन्दता करे। शान्तभावसे स्वरको बिना ऊँचा-नीचा किये एक लयमें उच्चारण करे। मन्त्रपाठ आरम्भ करते समय प्रथम हरि-ॐ का उच्चारण करे।

शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनीय शाखामें उदात्तादि स्वरोंका हाथसे बोधन कराया जाता है। इन उदात्त अनुदात्त स्वरित

आदि स्वरोंका उच्चारण तथा हस्तमुद्रा दोनों एक साथ रहनी चाहिये। क्योंकि लिखा है—

'हस्तभ्रष्ट स्वराद् भ्रष्टा न वेदफलमश्नुते।'

हस्त-स्वरकी बड़ी महिमा है, इसके ज्ञानके बिना वेद-पाठका यथार्थ फल प्राप्त नहीं होता। आचार्योंने कहा है कि—

ऋचो यजूंषि सामानि हस्तहीनानि यः पठेत्।
अनृचो ब्राह्मणस्तावद् यावत् स्वारं न विन्दति॥

जो दिखावा मात्रके लिये अर्थात् स्वरज्ञानके बिना हस्त-स्वरका प्रदर्शन करता है वह पापका भागी होता है।

हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति॥

हाथको ठीक गोकर्णाकृति रखना चाहिये।

उदात्त स्वरका कोई चिह्न नहीं होता स्वरितमें वर्णके ऊपर खड़ी रेखा होती है तथा अनुदात्तमें वर्णके नीचे तिरछी रेखा होती है।

उदात्तमें हाथ मस्तकतक तथा स्वरितमें नासिकाग्र या मुखकी सीधमें एवं अनुदात्तमें हृदयकी सीधमें हाथ जाना चाहिये। जात्यादि स्वरोंमें हाथ तिरछा जाना चाहिये। साधारणतया हाथ उदात्तमें ऊपर (कन्धेके पास) स्वरितमें मध्यमें तथा अनुदात्तमें नीचे रहना चाहिये।

माध्यन्दिनीय यजुर्वेदमें वर्णोच्चारण-सम्बन्धी कुछ नियम

१-'ऋ' कारका उच्चारण 'र' कारके समान करना चाहिये।

२-अनुस्वारके भेद—

१-जहाँपर 'ॡ' यह चिह्न हो वहाँपर लघु (एकमात्रिक) अनुस्वार जानना।

२-उपर्युक्त चिह्नके बाद यदि संयोग (संयुक्त वर्ण) हो तो गुरु जानना।

३-'ꣳ' चिह्न हो तो वह भी दीर्घसंज्ञक है।

उपर्युक्त चिह्नित अनुस्वारका उच्चारण 'गुं' इस ध्वनिसे (लघु या दीर्घानुसार) होना चाहिये 'ग्व' रूपसे नहीं।

४-विसर्गका उच्चारण हकारके समान होता है पर इसको हकार नहीं मानना चाहिये। यथा—

'देवो वः सविता'	हकारके समान उच्चारण होगा।	
'देवो'	हिकारके समान	
'आखुस्ते पशुः'	हुकारके समान	उच्चारण होगा।
'अग्ने'	हेकारके समान	,,
'वाह्वो'	होकारके समान	,, ,,
'स्वैः'	हिकारके समान	,, ,,
'द्यौः'	हुकारके समान	,,

५-'रंग' अर्थात् अर्धानुस्वारके दो भेद हैं, यथा—

'शत्रू १॥' 'लोकाँ २॥' (इसमें ह्रस्व या दीर्घ रंगका उच्चारण पूर्वस्वरके साथ सानुनासिक होता है)।

६-जहाँ दो स्वरके मध्य 'ऽ' चिह्न हो वहाँ एक मात्रा काल विराम होता है।

७-जहाँ यकारके पेटमें तिरछी रेखा हो वहाँ जकारके समान उसका उच्चारण होता है।

८-हल् रकारका उच्चारण—

श ष और ह वर्णोंके पूर्वके हल् रकारको 'रे' उच्चारण करना।

९-मूर्धन्य षकारका उच्चारण—

यदि ट-वर्ग-(ट ठ ड ढ ण)-से युक्त न हो तो क-वर्गीय 'ख' कारके समान उच्चारण होता है।

१०-ज्ञकारका उच्चारण 'ज्ञ -(ज् ञ')—मिश्रितके समान होना चाहिये महाराष्ट्रीय सम्प्रदायमें 'ग्न्य' भी कहा जाता है।

माध्यन्दिनीय यजुर्वेदमें प्रयुक्त विशेष चिह्न—

उदात्त—चिह्नरहित होता है—क
स्वरित—वर्णके ऊपर खड़ी रेखा—कं
अनुदात्त—वर्णके नीचे तिरछी रेखा—ख
अनुस्वार ह्रस्व—ॡ
अनुस्वार दीर्घ या ꣳ
विसर्ग उदात्तके आगे—
विसर्ग अनुदात्तके आगे—
मध्यावर्ती स्वरित—L या ४
अर्धन्युब्ज तथा पूर्णन्युब्ज—•

उदात्तादि स्वरोंकी मुद्राओंका विवरण

उदात्तस्वरके दो भेद—

उदात्तस्वरके मुख्यरूपसे दो भेद हैं ऊर्ध्वगामी' और वामगामी' उदात्तवर्णका परिचायक कोई चिह्न नहीं होता।

प्रथम—

(क) स्वरित (ऊर्ध्व रेखा-चिह्नित) वर्णसे पूर्व जो वर्ण चिह्नरहित हो तो हाथ ऊपर जायगा।

उदाहरण—'आहमजानि' (रुद्री १। १)

चित्र सं० २

(ख) न्युब्ज चिह्नवाले स्वरितसे आगे और ऊर्ध्व रेखायुक्त स्वरितसे पूर्व जो वर्ण चिह्नरहित हो तो हाथ ऊपर जायगा।

उदाहरण—'बृहत्पृष्ठिमाहो' (रुद्री १। २)

द्वितीय—

वामगामी उदात्तके तीन अवान्तर भेद—

(क) दो अनुदात्तोंके मध्यम उदात्त (चिह्नरहित वर्ण) हो तो हाथ अपनी बाँयी ओर जायगा।

उदाहरण—'गायत्री त्रिष्टुब्ज०' (रुद्री १। २)

(ख) वामगामी उदात्त—

चित्र सं० ३

मन्त्रके मध्यके निश्चित अवसान या समाप्तिके अवसानके चिह्नरहित वर्ण यदि अनुदात्तसे परे तथा अग्रिम मन्त्रांश अनुदात्तसे प्रारम्भ हो तो हाथ बायीं तरफ जायगा।

उदाहरण— गर्भंधम्' (रुद्री १। १)

(ग) वामगामी उदात्त—

मन्त्रारम्भका वर्ण जो अनुदात्त चिह्न (नीचे तिरछी रेखा)-से पूर्व हो तो हाथ बाँयी ओर जायगा।

उदाहरण—'य एतावन्तश्च' (रुद्री ५। ६३)

इस प्रकार दो प्रकारका ऊर्ध्वगामी और तीन प्रकारका वामगामी उदात्त स्वर होता है, इसके ऊपर या नीचे कोई चिह्न नहीं रहता।

अनुदात्तके पाँच भेद

अनुदात्त स्वरके नीचे तिरछी रेखा (क इस प्रकार) रहती है। अनुदात्त स्वरके पाँच भेद हैं। यथा—१-निम्नगामी २-अन्त्यदर्शी, ३-दक्षगामी, ४- तिर्यग्दर्शी और ५- अन्तर्गामी। इनका विवरण—

१-*निम्नगामी अनुदात्त*—'अनुदात्त उदात्त, और स्वरित'— इस क्रमसे वर्ण हो तो अनुदात्त चिह्नमें हाथ नीचे जायगा।

उदाहरण— गणानान्त्वा (रुद्री १। १)

चित्र सं० ४

२-अन्त्यदर्शी अनुदात्त—अनेक अनुदात्त स्वर (निम्न रेखावाले) हों तो अन्तिम अनुदात्तमें हाथ नीचे जायगा।

उदाहरण— य स्त विज्ञाय स्थविरं (रुद्री ३। ५)

[निम्नगामी एवं अन्त्यदर्शी—इन दोनो अनुदात्तोका चित्र-सं० ४ मे ही अन्तर्भाव है।]

चित्र सं० ५

३-दक्षगामी अनुदात्त—'अनुदात्त उदात्त और अनुदात्त' इस क्रमसे स्वर हो तो प्रथम अनुदात्तमें हाथ दाहिनी ओर जायगा।

उदाहरण—'पङ्क्त्या सह' (रुद्री १। २)

४-अन्तर्गामी अनुदात्त—यदि मध्यावर्ती स्वर (जिस स्वरके नीचे चार '४' अंक अथवा 'L यह चिह्न हो वह 'मध्यावर्ती' कहा जाता है)-से अव्यवहित पूर्व अनुदात्त स्वर हो तो हाथ पेटकी तरफ घूम जायगा।

उदाहरण—'च व्युप्तकेशाय' (रुद्री ५। २९)

चित्र सं० ६

५-तिर्यग्दर्शी अनुदात्त—यदि अनुदात्तसे परे 'न्युब्ज' चिह्न (ω) हो तो अनुदात्तमें हाथ पिण्डदानके समान दाहिनी ओर झुकेगा।

उदाहरण—'बृहत्युष्णिहा' (रुद्री १। २)

चित्र सं० ७

स्वरितके पाँच भेद

स्वरित स्वरके निम्नलिखित पाँच भेद होते हैं—१-मध्यपाती २-मध्यदर्शी ३-मध्यावर्ती ४-पूर्णन्युब्ज और ५-अर्धन्युब्ज। इसका मुख्य चिह्न (।) वर्णके ऊपर खडी रेखा होती है।

१-मध्यपाती स्वरित

जहाँ स्वरित चिह्न (खडी रेखा) हो, वहाँपर हाथ मध्यमें (हृदयकी सीधमें) जाता है।

उदाहरण—'गणानां त्वा' (रुद्री १। १)

चित्र सं० ८

२-मध्यदर्शी स्वरित—स्वरित वर्णके बाद बिना चिह्नके वर्ण 'प्रचय' संज्ञक होते हैं और वे स्वरितके स्थानमें ही दिखाये जाते हैं इनपर कोई चिह्न नहीं होता।

उदाहरण—गणपतिं हवामहे (रुद्री १। १)

३-मध्यावर्ती स्वरित—(चिह्न L या ४ वर्णके नीचे होता है) जिस पदमें वर्णके नीचे L अथवा ४ यह चिह्न हो उसके पूर्वमें अनुदात्त चिह्न अवश्य रहेगा। यहाँ हाथ

छातीके सामने रहकर अनुदात्त चिह्नमें भीतरकी ओर घूमेगा और मध्यावर्ती स्वरित चिह्नमें पूरा घुमाव करके बाहर आयेगा।

उदाहरण— च् व्युप्तकेशाय (रुद्री ५। २९)

४-पूर्णन्युब्ज स्वरित—(चिह्न '‿' यह है) अनुदात्त स्वरसे आगे वर्णके नीचे '‿' यह चिह्न हो तथा उसके आगे अचिह्न वर्णके बाद 'मध्यपाती' स्वरित चिह्न '।' हो तो न्युब्जबोधी चिह्न '‿' में हाथ नीचेकी ओर उलट जायगा।

उदाहरण—'बृहत्युष्णिहा' (रुद्री १। २)

चित्र सं० ९

५-अर्धन्युब्ज स्वरित—(चिह्न‿) अनुदात्त चिह्नके आगे '‿' यह चिह्न हो और उसके आगे अचिह्न वर्णके बाद अनुदात्त चिह्न हो तो न्युब्ज-बोधी चिह्नमें हाथ दाहिनी ओर उलटा किया जायगा।

उदाहरण—'रथ्यो न रश्मीन् (रुद्री १। ४)

चित्र सं० १०

विशेष—'न्युब्ज' चिह्नमें अग्रिम स्वरोंके सहयोगसे हाथ नीचे या दाहिनी ओर जाता है। (१) अधोगामी पूर्णन्युब्जके उदाहरणके अनुदात्तमें नीचेकी ओर पिण्डदानके समान हाथ झुकेगा। (२) दक्षगामी अर्धन्युब्जके उदाहरणके अनुदात्तमें हाथ दाहिनी ओर जाकर पिण्डदानके समान झुकेगा।

विसर्गकी हस्तमुद्राएँ—

विसर्गमें ये तीन चिह्न होते हैं—

१-विसर्ग—[क] जहाँ विसर्गके मध्यकी रेखा ऊपरकी ओर अंकित हो और ऊर्ध्वगामी उदात्त हो तो वहाँपर तर्जनी अँगुली ऊपरकी ओर करना।

उदाहरण—आशुः शिशानो (रुद्री ३। १)

चित्र सं० ११ (क)

[ख] और यही विसर्ग यदि वामगामी उदात्तके बाद हो तो बायीं ओर हाथ रखते हुए तर्जनी अँगुली बाहर निकालना।

उदाहरण— सहस्राक्षः' (रुद्री २। १)

चित्र सं० ११ (ख)

२-विसर्ग—जहाँ विसर्गके मध्यमें तिरछी रेखा हो वहाँपर कनिष्ठा और तर्जनीको सीधी रखते हुए मध्यमा और अनामिकाको हथेलीकी तरफ मोड़ना।

उदाहरण—'सूचीभि+' (रुद्री १। २)

चित्र सं० १२

३-विसर्ग—जहाँपर विसर्गके मध्यकी रेखा नीचेकी ओर हो वहाँपर कनिष्ठा अँगुलीको नीचकी ओर करना।

उदाहरण—'पुरुष (रुद्री २। १)
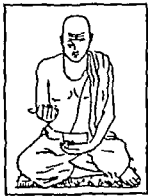
चित्र सं० १३

अनुस्वारकी मुद्राके दो भेद—

१-अनुस्वार—जहाँ अनुस्वारको '॥' इस रूपमे दिखाया गया हो वह एकमात्रिक या लघु है, वहाँ तर्जनी अँगूठा मिलाना चाहिये।

उदाहरण—'छन्दा॑ꣳसि' (रुद्री २। ७)

चित्र सं० १४

२-अनुस्वार जहाँपर 'ꣳ' इस रूपमे दिखाया गया हो वहाँपर केवल तर्जनी सीधी करके दिखाना चाहिये।

उदाहरण—'सुभूमि ꣳ' (रुद्री २। १)

चित्र सं० १५

अन्तिम हल् वर्णोंकी हस्तमुद्राके पाँच भेद

१-अवसान मन्त्रार्ध या मन्त्रान्त पदपाठमें पदान्तमे हल् 'क् ट्, ङ् ण्' हो तो तर्जनीको झुकाकर दिखाना चाहिये।

उदाहरण—पदपाठमे—'भिषक् सम्राट्, प्राङ्, वृषण्'

चित्र सं० १६

२-अवसानमे हल् 'त्' हो तो तर्जनीको अँगूठसे मिलाकर कुण्डलकी आकृति करना।

उदाहरण—'सहस्रपात्' (रुद्री २। १)

चित्र सं० १७

३-अवसानमें हल् 'न्' हो तो तर्जनाके बगलसे अँगूठाके नखका स्पर्श करना।

उदाहरण—'रश्मीन्' (रुद्री १। ४)

चित्र सं० १८

४-अवसानके हल् 'म्' में मुट्ठी बाँधकर दिखाना।

उदाहरण—'गर्भधम्।' (रुद्री १। १)

चित्र सं० १९

५-अवसानके हल् 'प्' म पाँचों अँगुली मिलाना।

उदाहरण—पदपाठमें 'ककुप्'

चित्र सं० २०

वर्जित हस्तमुद्रा

आजकल प्राय. देखा जाता है कि अधिकतर स्वरसञ्चालन शिक्षारहित कर्मठवृन्द मिथ्या स्वाकृतियुक्त हस्तमुद्राका प्रदर्शन करते हैं, अत कम-से-कम शुद्धरूपसे हस्तमुद्राके स्वरूपका ज्ञान होनेमें सहायक हो इसलिये वर्जित हस्तमुद्राके स्वरूप भी बतलाये जाते हैं। जैसा कि शास्त्रमें उल्लेख है—

चुलुर्नौका स्फुटो दण्ड स्वस्तिको मुष्टिकाकृति।
परशुर्हस्तदोषा स्युस्तथाङ्गुल्या प्रदर्शनम्॥

(सम्प्रदाय प्रबोधिनी शिक्षा)

१-चुलु (चुल्लू—आचमनमुद्रा)	५-स्वस्तिक (अभय मुद्रा)
२-नौका (नौकाके समान हाथ)	६-मुष्टिक (मुट्ठी बन्द हाथ)
३-स्फुट (सीधा हाथ)	७-परशु (फरसे-जैसा हाथ)
४-दण्ड (चपटाके समान हाथ)	८-तर्जन (अँगुलीसे स्वरप्रद)

—इन ऊपर लिखे विवरणके अनुसार नीचे क्रमिकरूपसे हस्तदोषके चित्र दिखाये जाते हैं—

हस्तदोष १-चुलु

हस्तदोष २-नौका

हस्तदोष ३–स्फुट
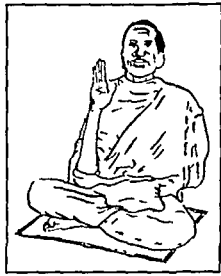
हस्तदोष ४–दण्ड

हस्तदोष ५–स्वस्तिक

हस्तदोष ६–मुष्टिक

हस्तदोष ७–परशु

हस्तदोष ८–तर्जन

सामगानकी संक्षिप्त विधि

सामवेद संहिताके दो भाग हैं—प्रथम भाग आर्चिक या 'पूर्वार्चिक' है दूसरा 'उत्तरार्चिक' है। दोनोमें मन्त्र-सख्या १,८१० है। यदि एक ही मन्त्र जो कि दो बार आया है उसको छोड दें तो केवल १५४९ ही मन्त्र हैं। सब मन्त्र ऋग्वेदके हैं उनमें ७५ स्वतन्त्र हैं। पूर्वार्चिकमें ५८५ ऋचाएँ हैं। इसके बाद एक आरण्यकाण्ड है, उसमें ५५ मन्त्र हैं। उसके बाद 'महानाम्नी आर्चिक' है तत्पश्चात् 'उत्तरार्चिक' है उसमें १२२५ मन्त्र हैं।

सामका अर्थ है 'गान' या 'संगीत'। 'ऋचि अध्यूढं साम गीयते।' ऋचाके आधारपर ही सामका गान होता है। उत्तरार्चिकमें प्राय ४०० 'प्रगाथ' अर्थात् गेय सूक्त हैं। पूर्वार्चिकमें अग्नि इन्द्र, सोम देवताओकी ऋचाएँ हैं। इनमें ग्रामगेय (जो ग्राममे गाये जायँ) और आरण्यगेय (जो वनमें गाये जायँ)-का वर्णन है। आरण्यगेयको 'रहस्यगेय' भी कहते हैं।

दो ऋचाओंके समूहको 'प्रगाथ' कहते हैं। ऊहगान—ग्रामगेयके तथा ऊह्यगान—आरण्यगेयके विकृति-गान कहे जाते हैं। सामवेद आर्चिकमे स्वर उदात्त[१] अनुदात्त[२] और स्वरित[२] के अंकसे दिखाये जाते हैं। दो अनुदात्त (३) चिह्नोंके मध्यम रहनेवाला उदात्त (२) अंकसे दिखाया जाता है तथा ओंकारको सामवेदी 'उद्गीथ' कहते हैं। इन गानोंमें अक्षरोंके ऊपर—१ २ ३ ४,५—इन अंकोसे संगीतके स्वरोका निर्देश किया जाता है। प्राय मन्त्रोमे ५ ही स्वर लगते हैं। कुछ थोडी ऋचाओमे ७ तक भी स्वर लगते हैं। इन सात स्वरोंका वशोके ७ स्वरोसे इस प्रकार सम्बन्ध है—

१-(म) मध्यम २-(ग) गांधार
३-(रे) ऋषभ ४-(स) षड्ज
५-(नी) निषाद ६-(ध) धैवत
७-(प) पञ्चम

इन्हीं स्वरोंके अनुसार उद्गाता लोग यज्ञोंमे सामगान करते हैं।

स्तोभ—ऋचामें जो वर्ण नहीं हैं उन्हें आलापके लिये जोड़कर गान करना ही 'स्तोभ' कहलाता है। स्तोभ अनेक हैं। यथा—औ हो वा। हा उ। ए हाऊ। होयि। औहोइ। ओहाइ आदि।

अनेक ऋषियोंने मन्त्रोंका अपने ढंगसे या लयसे गान किया ये गीतियाँ उन्हींके नामसे प्रसिद्ध हुईं। जैसे—वामदेव्य, माधुच्छन्दस रथंत रौधस आदि इनके अनेक नाम हैं। सामगानका उदाहरण—

३१२ ३२ ३२३ १२ ३१२ ३१२३ १२
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
२ ३ १२३ २उ ३१२ ३२उ ३१२ ३१२
यो मा ददाति स इदेयमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥५९४॥

इस ऋचाके सामगानका विस्तार—

२र र र १रर २ २१
हाउ हाउ हाउ। सेतूं स्तर। (त्रि)। दुस्त। रान्। (द्वे त्रि)
ररररररर
दानेनादानम्। (त्रि)।
र र र र १ २ १११
हाउ हाउ हाउ। अहमस्मिप्रथमजाऋताऽ२३स्याऽ३४५॥
२र र र १रर २ १
हाउ हाउ हाउ सेतूं स्तर। (त्रि) दुस्त। रान्। (द्वे त्रि)।
र२र १र२र १र २र र
अक्रोधेनक्रोधम्। (द्वि) अक्रोधेनक्रोधम्। हाउ हाउ
र र र र र १ २ १११
हाउ। पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्यनाऽ२३ माऽ ३४५॥
२र र र १रर २ १
हाउ हाउ हाउ। सेतूं स्तर। (त्रि)। दुस्त। रान्। (द्वे त्रि)।
२ १र २र
श्रद्धयाऽश्रद्धाम्। (त्रि)।
र र र र र र २र २ १ १ १
हाउ हाउ हाउ। योमा ददाति सईदेयमाऽ २३ वा॰३४५ त्॥
२र र र १रर २
हाउ हाउ हाउ। सेतूं स्तर। (त्रि)।
१ २१र र २ र र र
दुस्त। रान्। (द्वे त्रि)। सत्येनानृतम्। (त्रि)। हाउहाउहाउ।
१ २ १११ २ऽ ऽ ऽ
अहमन्नमन्नमदन्तामाऽ २३ द्मीऽ ३४५। हाउ हाउ हाउ वा॥
र१र
एषागति। (त्रि)।
२र१२१ १ २ १र२
एतदमृतम्। (त्रि)। स्वर्गच्छ। (त्रि)। ज्योतिर्गच्छ। (त्रि)।
१रर २र१र२१ १११
सेतूं स्तीर्त्वा चतुरा २३४५॥

किसी भी मन्त्रका सामगानमें गानके उपयुक्त करनेके लिये नीचे लिखे आठ प्रकारके विकारोका भी प्रयोग किया जाता है—

सं० सज्ञा	विवरण	उदाहरण
१-विकार	—एक वर्णके स्थानमे दूसरा बोलना	अग्ने-ओग्नायि
२-विश्लेष	—सन्धिका विच्छेद करना	'वीतये-वोयि तोया २ यि'
३-विकर्षण	—लम्बा खींचना	ये-या २३ यि
४-अभ्यास	—बार-बार उच्चारण करना	'तो या २ यि तोया २ यि
५-विराम	—पदके मध्यमें भी ठहरना—	'गृणानो हव्यदातये- गृणानोहा व्यदातये
६-स्तोभ	—निरर्थक वर्णका प्रयोग	औ हो वा, हा उ, हावु'
७-आगम	—अधिक वर्ण-प्रयोग	वरेण्यम्-वरेणियोम्
८-लोप	—वर्णका उच्चारण न करना	'प्रचोदयात् प्रचो ऽ१२ऽ१२। हुम्।आ २।दायो।आ ३४५

नीचे लिखे मन्त्रमे इन आठ विकारोंके उदाहरण देखिये। मूल-मन्त्र ऋग्वेदमें इस प्रकार हैं—

'अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि॥ (ऋग्वेद ६। १६। १०)

सामगानके प्रयोगमें यही मन्त्र—

१ ४ २र १ – १ – १ र २र
ओं। ओऽग्नाई॥आयाहिऽ३ वोइतोयाऽ२इ।तोयाऽ२इ। गृणानोह।
१ १ १ २र १
व्यदातोयाऽ२इ। तोयाऽ२इ॥नाइहोता साऽ२३॥
५र र ३ ५
त्साऽ२इबा २३४औहोवा। ही ऽ२३४ षी

इस प्रकार सक्षपमे सामगानकी रूपरेखा दिखायी गयी है।

ऋक् तथा यजुर्वेदमे उदात्त अनुदात्त और स्वरित इनमेंसे उदात्तको चिह्नरहित रूपसे और अनुदात्तको वर्णके नीचे तिरछी रेखा तथा स्वरितवर्णको ऊपर खडी रेखासे अकित किया जाता है। किंतु सामवेदमे यही मन्त्र सहितामे इस प्रकार लिखा जाता है—

२३ १ २ ३१२ ३२ ३१२ १ २र
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि
३१२
बर्हिषि॥ (सामवेद ६६०)

सामगानके विशेष चिह्न—

१-सामवेदमें कहीं-कहीं वर्णोपर 'र' 'क' और 'उ' के चिह्न देखे जाते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जब दो उदात्त एकत्र हो जाते हैं तब पहले उदात्तके ऊपर[१] का अक लगता है और दूसरा बिना चिह्नके ही रहता है। परतु इस दूसरे उदात्तके आगेवालेपर रकार सहित[२] का अक लगेगा।

२-अनुदात्तके बादके स्वरितपर भी '२र' यही चिह्न होता है, किंतु तब स्वरितके पहले अनुदात्तपर '३क' यह चिह्न होता है।

३-यदि दो उदात्त सन्निकृष्ट हो और बादमे अनुदात्तस्वर हो तो प्रथम उदात्तके ऊपर '२उ' यह चिह्न दिया जाता है और दूसरा स्वर चिह्नरहित होता है।

वेदपाठकी रक्षा एव आवश्यकता—

वेदपाठके सम्बन्धमे हमारे धार्मिक कृत्य (कर्मकाण्ड)-मे यजुर्वेदकी हस्तस्वर-प्रक्रिया और सामवेदकी गान-शैली—ये दोनो प्रकार ही आजकल अति कठिन होनेके कारण दिन-प्रतिदिन क्षीण होते जा रहे हैं। सम्प्रति इस कठिन समयमें सर्वसाधारणको बडे-बडे यज्ञ-यागादि देखनेका अवसर ही यदा-कदा प्राप्त होता है और कभी कदाचित् यदि देखते भी हैं तो उनके लिये एक खेल-सा ही रहता है। इसीलिये इस आजीविकासे जीवनयापन करनेवाले हमारे पूज्य कर्मठ याज्ञिकवृन्द भी इस अति आवश्यक शिक्षा-ग्रहणमे शिथिल होते जा रहे हैं। अत सर्वसाधारण चाहे स्वय यथावत् शिक्षा ग्रहण न भी करे तो भी अपनी अमूल्यनिधिका ज्ञान तो कम-से-कम होनी चाहिये, क्योंकि वेदोच्चारणका यह आर्ष प्रकार है। यद्यपि वर्तमानमे बहुत श्रद्धालु नहीं हैं जो इस कठिन परिपाटीमे पडना पसन्द करे पर सनातनधर्म महान् है आज भी श्रद्धालुओंकी कमी नहीं है। क्या बिना श्रद्धाके ही बदरी केदार आदिकी महाकठिन एव अति व्ययसाध्य यात्रा प्रतिवर्ष लाखों मनुष्यों-द्वारा होना सम्भव है? इसी प्रकार कुम्भ आदि पर्वपर पचासों लाख जनसमूहका समवेत होना भी इसका प्रमाण है तथा दूसरा प्रयोजन यह भी है कि इस शिक्षाकी इच्छावाला विद्यार्थी गुरूपदिष्ट शिक्षाको इसकी सहायतासे सहजमें हृदयङ्गम करता हुआ अभ्यास कर सके। इससे पाठक और विद्यार्थी दोनोंको ही सरलता होगी पाठको बारम्बार आलोडनके परिश्रमसे मुक्ति मिलेगी और विद्यार्थी इसके द्वारा अपने विस्मृत स्वरका ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। वेदसाहित्य-विषयक ज्ञातव्य विषय तो महान् हैं किंतु नित्य-नैमित्तिक और काम्य कर्म तथा देवपूजा आदिमे व्यवहृत होनेवाले वेदमन्त्रोंका यथाविधि पाठ करनेकी इच्छावाले श्रद्धालु धार्मिकोंके लिये यह एक सरणि या निदर्शन है।

हम चाहते यही हैं कि शिक्षाप्राप्त वेदपाठीका यथायोग्य सत्कार हो और धार्मिक जनोंको धर्मकी प्राप्ति हो। वेदपाठके विषयमें यह सर्वजन-विदित है कि उपनीत द्विज (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य)-मात्र इसके अधिकारी हैं द्विजमात्रका यह परम धर्म है अत वेदज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

वेद-तत्त्व-मीमांसा

वेदोकी नित्यता

नित्य-पदार्थ दो प्रकारक होत हैं। एक अपरिणामी नित्य, जिसके स्वरूप अथवा गुणम कोई परिवर्तन नहीं होता और दूसरा प्रवाह-नित्य, जा लाखो हेर-फेर होनपर भी सदा रहता है। पहलका उदाहरण परमात्मा है और दूसरका उदाहरण प्रकृति अथवा जगत्। जगत् किसी-न-किसी रूपम सर्वदा रहता है, चाहे उसम लाखों हेर-फेर हुआ करे। सृष्टिक प्रारम्भम भी वह प्रकृति अथवा परमाणुके रूपम विद्यमान रहता है, अतएव वह प्रवाह-नित्य है। पर उसे अनित्य इसलिय कहत हैं कि उसका परिणाम होता है अथवा वह प्रकृति अथवा परमाणुका कार्य है, पर कारण-रूपसे नित्य है।

वेद शब्दमय हैं। न्याय और वैशेषिकक मतमें शब्द कार्य तथा अनित्य हैं, किंतु वे भी मन्वन्तर अथवा युगान्तरमें गुरु-शिष्य-परम्परासे उनका पठन-पाठन स्वीकार कर उन्हें नित्य बना देत हैं। परमेश्वर प्रत्येक कल्पम वेदोका स्मरण कर उन्हींका प्रकटित करत हैं व वेद बनाते नहीं।

'ऋच सामानि जज्ञिरे। छन्दा॰सि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।' (यजुर्वेद ३१। ७)

इस मन्त्रने वेदाको ईश्वरकृत नहीं माना है, प्रत्युत उनको वेदाका प्रादुर्भाव-कर्ता माना है। वे उनके द्वारा प्रकटित हुए, इसीसे ईश्वरकृत कहलाते हैं। जैसे ईश्वर नित्य हैं, वैस ही उनके ज्ञान वद भी नित्य हैं। वेद शब्दका अर्थ ज्ञान है। जैस माता-पिता अपनी सतानका शिक्षा दत हैं वैसे हा जगत्के माता-पिता परमात्मा सृष्टिके आदिम मनुष्योको वैदिक शिक्षा प्रदान करते हैं जिससे वे भलीभाँति अपनी जीवन-यात्राका निर्वाह कर सक।

मीमांसाकार जैमिनि तथा व्याकरण-तत्त्वज्ञ पतञ्जलिने शब्दोंका नित्य सिद्ध करनेक लिय कई युक्तियाँ लिखी हैं। शब्दमय वेदाकी नित्यता प्रतिपादित हाती है। हम उनसे शब्दमय वेदाकी नित्यता प्रतिपादित हाता है। हम उनकी चर्चा न कर विद्वानोंका ध्यान फानोग्राफ तथा रडियाको आर आकृष्ट करते हैं जिनक द्वारा दूसरोंके शब्द ज्यो-के-त्यों सुन लनपर किसाका यह सन्देह नहीं हो सकता कि शब्द अनित्य हैं।

वेदामे स्थाना, मनुष्या तथा नदियोंके नाम मिलते हैं जिनका वर्णन वर्तमान भूगोल तथा इतिहासमें भी प्राप्त होता है। इससे वेद वर्तमान भूगोल-स्थान तथा एतिहासिक पुरुषोंके समयके बाद रचित हैं। अत वे नित्य नहीं हो सकत यह प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि वेदोंमें रूढ़िवाले शब्द नहीं जिनके द्वारा स्थान, नदी तथा राज्य और ऋषिके नाम दिखाकर कोई उनकी नित्यताका खण्डन करे। वैदिक शब्द व्याकरण—निरुक्तके अनुसार सामान्य अर्थोंको कहते हैं—

परं तु श्रुतिसामान्यम्।' (जैमिनि-सूत्र १। १। ३१)

वेदोंम लोक-प्रसिद्ध इतिहास अथवा भूगोलका वर्णन उपलब्ध नहीं होता। वे त्रिकाल-सिद्ध पदार्थ—ज्ञान तथा शिक्षाओंके भडार हैं। उनसे लाक-परलोक दोनोंका बोध होता है। वेदोंके वाच्य अर्थ तीनों कालोंमें एक-समान होते हैं। उनमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। लाग उनके ध्वनि-रूप अर्थोंमें इतिहास अथवा भविष्यत्कथाके अस्तित्वकी कल्पना करते हैं। उनसे नित्यताकी हानि नहीं होती। वेदाङ्ग निरुक्त और व्याकरण उनके वाच्य अर्थ बतलाते हैं। उनमें कहीं इतिहास आदि नहीं है। ध्वनि-बलसे जा मन्त्रोंके विविध अर्थ प्रकाशित होत हैं, उनकी चर्चा निरुक्तकार यास्क महर्षिने 'इति याज्ञिका, इति ऐतिह्यम् इत्यादि रूपसे की है। वे अर्थ सर्वमान्य नहीं किंतु यह ईश्वरीय ज्ञानका चमत्कार ही है कि एक ही शब्दम कितने अर्थ भरे हुए हैं कि समय पाकर उनसे इतिहास-भूगोलका तत्त्व भी ज्ञात होता रहता है। वेद महत्त्वक ग्रन्थ हैं। जो ईश्वरको नहीं मानते वे भी वेदोंको नित्य मानते हैं। उनका कहना है कि कोई निरपेक्ष विद्वान् वेदोंका किसीका बनाया हुआ नहीं कहते। व पौरुषेय नहीं—

'न पौरुषयत्वं तत्कर्तु पुरुषस्याभावात्।'

(सांख्यसूत्र)

उपनिषदोंका सिद्धान्त है कि मनुष्य जिस प्रकार अपने श्वासोको उत्पन्न नहीं करता पर उसका स्वामी कहलाता है वैस ही ब्रह्म भी वदोंकी अध्यक्षता करते हैं, क्योंकि

उनमें एक ब्रह्मकी ही विचारधारा है।

'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस ।' (बृहदारण्यक २। ४। १०)

इसपर कुछ लोग सदेह करते हैं कि निराकार ब्रह्म शब्द-रूपमें अपनी विचारधारा कैसे प्रकट करते हैं? यह बात बडी तुच्छ है। जिन्होन निराकार होकर साकार जगत् बनाया, वे क्या नहीं कर सकते! योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षुने लिखा है कि परमात्मा कभी-कभी करुणामय शरीर धारण कर लेते हैं—

'अद्भुतशरीरो देवो भावग्राह्य ।

(योगवार्तिक)

यदि वेद नित्य हैं तो ब्रह्म तथा ऋषि-महर्षियोके नामसे उनकी प्रसिद्धि क्यों हुई? इस प्रश्नका उत्तर निरुक्त तथा मीमासादर्शनने दिया है कि ऋषियोंने उनकी व्याख्या भी लोगोको समझायी है, उनका प्रवचन भी किया है। यही कारण है कि लोग उनके नामसे वेदोको प्रसिद्ध करते हैं—

'आख्या प्रवचनात्।'

(जैमिनि १। १। ३०)

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार ।

(यास्क)

सृष्टिके आदिमें परमेश्वरने चारो वेद ब्रह्माको एव एक-एक वेद अग्नि, वायु, रवि तथा अथर्वाको सिखलाया—

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।'

(श्वेताश्वतर उप० ६। १८)

'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद सूर्यात् सामवेद ।

(शतपथ)

'अथर्वाङ्गिरस ।

(गोपथ)

यदि वे एक साथ चाराकी शिक्षा ब्रह्माको नहीं देत तो लोग कह सकते थे कि वेदको अग्नि आदिने बनाया और भगवान्के नामसे प्रसिद्ध किया। जो वेद ब्रह्माको प्राप्त थ वे ही अग्नि आदि महर्षियाको मिले। इसीसे किसीको यह कहनेका अवसर नहीं मिल सकता कि उन्होने ईश्वरके नामसे मनगढत बाते लोगाको समझायीं। किसी-किसीका यह कहना है कि वेदाके भिन्न-भिन्न भागामे भिन्न-भिन्न प्रकारकी भाषा है जिससे अनुमान करना पडता है कि वे विविध समयाम बनाये गय हैं। किंतु यह तर्क बडा तुच्छ है क्याकि एक ही सम्पादक अग्रलेख टिप्पणी तथा समाचाराकी भाषा भिन्न-भिन्न प्रकारकी अपने समाचार-पत्रम रखता है। तब विद्यानिधि सर्वज्ञ ब्रह्म अपने ज्ञानको कठिन तथा सरल भाषाम क्यों नहीं प्रकाशित कर सकते! उनक लिय क्या दो-चार शैलियाको भाषाएँ प्रकट करना कठिन कार्य है?

सृष्टिके आदिम कोई भाषा नहीं थी। इसलिये परमात्माने अपनी मनचाही बोलीमे शिक्षा दी जो परमात्माकी भाषा देववाणी कहलाती है। उन्होने उसीके द्वारा लोगाको बोलना सिखलाया। माता-पिता अपने बच्चाको पानी शब्दका उच्चारण करना बतलात हैं। उन्होन अशुद्ध उच्चारणके द्वारा अपभ्रश भाषा उत्पन्न की। उसे शुद्ध कर जो बोलने लगे, वे अपनी भाषाको सस्कृत—सुधारी हुई कहते थे। सुधारी हुई भाषाके लिय सस्कृत शब्द वाल्मीकिजीकी रामायणके पहले किसी साहित्यम नहीं मिलता। प्राचीन साहित्यम वैदिक भाषा और विषय दोनाके लिये वद छन्द तथा श्रुति शब्द व्यवहृत होत थे। लौकिक भाषाक लिये कवल भाषा (सस्कृत) शब्द प्रयुक्त होता था। लौकिक सस्कृतसे वेद-वाणीकी कई अशाम एकता है पर उनक व्याकरण नियम और कोष भिन्न हैं—यद्यपि सस्कृतकी उत्पत्ति वद-वाणासे हुई है।

कुछ लोगोकी यह आपत्ति है कि वेदकी नित्यता इसलिये सिद्ध नहीं होती कि व त्रयी कहे जाते हैं, पर हैं चार। आरम्भम वे तीन थे पीछ व चार हो गय। उनमें एक अवश्य नवीन होगा। उनकी दृष्टिम अथर्ववेद नया ठहरता है क्योंकि ऋक् यजु और साम इन्हींक नाम सस्कृत-साहित्यम बार-बार मिलत हैं अथर्वके नहीं। जो छन्दोबद्ध हैं उनका नाम ऋक् है जो गान योग्य हैं उन्हें साम कहते हैं और अवशिष्ट यजु कहलात हैं। अथर्वमें ऋक् यजु —ये दोनों मिलते हैं उसम साम भी हैं। इसलिय वह ऋक्, यजु और साम-रूप है। वह उक्त नामासे प्रसिद्ध नहीं हुआ कि उसम तीनाका सामञ्जस्य हो गया है। तब कौन-सी विशेष सज्ञा उसे दी जाय। ऋक् यजु और सामवद अपन प्रसिद्ध नामास व्यवहृत होन हैं क्याकि उन नामोंक योग्य उनमें एक गुण विशेष रूपम है—

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजु शब्द । (जैमिनिसूत्र २। १। ३५—३७)

अर्थात् त्रयी कहनेसे ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद—इन चारोंका बोध होता है और ये चारों ही नित्य हैं। इसमे सदेहका कोई अवसर नहीं है।

मनुजीने कहा है कि वेदोंसे सब कार्य सिद्ध होते हैं—'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।'

ऐसे गौरवशाली लाभदायक वेदोंपर जनताकी श्रद्धा क्यों नहीं, जो उनके नित्यानित्यक विचारम प्रवृत्त होती है?

उक्त वेदाम परा और अपरा विद्याओंकी चर्चा है। उनसे पदार्थविद्या और आत्मविद्या—दोनोंका ज्ञान होता है। उनके अर्थ समझनेके प्रधान साधन व्याकरण और निरुक्त हैं। शाकपूणि तथा और्णनाभ आदिके निरुक्त अब नहीं मिलते। इस समय जो भाष्य मिलते हैं, उनम उपलब्ध यास्क-निरुक्तका विद्वानोंने भी पूरा आदर नहीं किया। उन्होंने गृह्यसूत्र तथा श्रौतसूत्रपर अपनी दृष्टि रखी। इससे उनके अर्थ केवल यज्ञपरक हो गये। वैदिक महत्त्व लुप्त हो गया। वेद सब विद्याओंकी जड़ है। वर्तमान भाष्य इस बातको सिद्ध नहीं कर सके। यदि विद्वन्मण्डली वैदिक महत्त्वकी निरन्तर आलोचना करे तो अर्थशक्ति उन्हें पूर्व प्रतिष्ठा दिला सकती है। विदेशी विद्वान् नहीं चाहते कि वेदोंका मर्याद अक्षुण्ण रहे। उसकी रक्षा भारतीयोंको करनी चाहिये।

भारतीय महर्षि यास्ककी यह सम्मति याद रखें कि ईश्वरकी विद्या नित्य है, जो कर्तव्यशिक्षाके लिये वेदोंमें विद्यमान है—

'पुरुषविद्याया नित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिमन्त्रो वेदे।

आशा है, पाठक यदि उपर्युक्त पंक्तियोंपर ध्यान देंगे तो वे वेदोंकी नित्यता स्वीकार करेंगे।

व्युत्पत्ति-मूलक वेद-शब्दार्थ

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥[1]

अर्थात् वेदोंने जिन कर्मोंका विधान किया है वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है, वे अधर्म हैं। वेद स्वयं भगवान्‌के स्वरूप हैं। वे उनके स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास एवं स्वयम्प्रकाश ज्ञान हैं—ऐसा हमने सुना है।

साक्षात्कृतधर्मा तपोलीन महर्षियोंद्वारा वेद प्रत्यक्षदृष्ट हैं।[2] विद्यमान पदार्थ ही दृष्ट होता है, अतः वेद पूर्वसे ही विद्यमान हैं। तपस्यमान ऋषि-विशेषको कालविशेषमें वेद प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। यही उन ऋषियोंका ऋषित्व है, ऐसा जानना चाहिये।

'वेद' शब्दके व्युत्पत्तिमूलक अर्थोंसे उपर्युक्त सभी विषय स्पष्ट होते हैं। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार विभिन्नार्थक पाँच 'विद' धातुओंसे 'वेद' शब्द निष्पन्न होता है, जो विभिन्न अर्थोंको अभिव्यक्त करता है।

(१) अदादिगणीय 'विद ज्ञाने' धातुसे करणमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे निष्पन्न वेदका अर्थ होता है—'वेत्ति—जानाति धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपायान् अनेन इति वेदः।' अर्थात् जिसके द्वारा धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष-रूप पुरुषार्थ-चतुष्टयको प्राप्त करनेके उपायोंको जानते हैं, उसे 'वेद' कहा जाता है। प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे अगम्य उपायोंको चूँकि वेदके द्वारा जानते हैं, यही वेदका वेदत्व अर्थात् अज्ञातार्थज्ञापकत्व है[3]। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भी जिन विषयोंका ज्ञान नहीं हो सकता उनका भी ज्ञान वेदके द्वारा हो जाता है।

(२) दिवादिगणमें पठित 'विद सत्तायाम्' धातुसे भावमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे निष्पन्न 'वेद' शब्द अपने सनातन सत्-रूपको बतलाता है। महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने वेद शब्दके इसी सत् रूपको स्पष्ट प्रतिपादित

१-श्रीमद्भागवत (६। १। ४०)।
२ (क)-तद् यद् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते (निरुक्त २। ११)।
(ख)-युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥
३-प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

करते हुए महाभारतमे कहा है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यत सर्वा प्रवृत्तय ॥

(३) तौदादिक 'विद्लृ लाभे' धातुसे करणमे 'घञ्' प्रत्यय करनेपर निष्पन्न 'वेद' शब्द 'विन्दति अथवा विन्दते लभते धर्मादिपुरुषार्थान् अनेन इति वेद ' इस तरह पुरुषार्थ-चतुष्टय-लाभरूप अर्थको व्यक्त करता है। अर्थात् वेदसे न केवल धर्मादि पुरुषार्थोंको जानते हैं अपितु उनके उपायाको समझते हैं तथा वेदके द्वारा उन्हे प्राप्त भी करते हैं। वेद-निर्दिष्ट उपायोंके द्वारा सविधि अनुष्ठान करनेसे पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है।

(४) रुधादिगणीय 'विद विचारणे' धातुसे करण-अर्थमे 'घञ्' प्रत्ययके योगसे निष्पन्न 'वेद' शब्द 'विन्ते-विचारयति सृष्ट्यादिप्रक्रियाम् अनेन इति वेद '—इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया-विचाररूप अर्थको अभिव्यक्त करता है। तात्पर्य यह है कि युगके आरम्भमें विधाता जब नूतन सृष्टि-निर्माणकी प्रक्रियाके विचारमें उलझे रहते हैं तब नारायण अपने वेद-स्वरूपसे ही उनकी समस्याका समाधान करते हैं और विधाता वेद-निर्देशानुसार पूर्वकल्पकी तरह नयी सृष्टि करते हैं[१]।

महर्षि व्यासने श्रीमद्भागवतमे इस विषयको स्पष्ट करते हुए कहा है—

सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना ।
प्रजा सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते॥[२]

परमात्मयोगी भगवान् नारायणने अपने सर्ववेद-स्वरूपसे सृष्टि-प्रक्रियामें किंकर्तव्यविमूढ स्रष्टाको निर्देश दिया कि कल्पान्त-कालसे मेरे स्वरूपमें अवस्थित जो प्राणी हैं उनकी यथापूर्व—पूर्वकल्पके अनुसार ही सृष्टि करे। ऐसा उपदेश कर भगवान्के अन्तर्हित हो जानेपर लोकपितामह ब्रह्माने दैहिक तथा मानसिक विभिन्न प्रकारकी प्रजाओकी सृष्टि की[३]। इससे स्पष्ट होता है कि वेदके द्वारा ही सृष्टि-प्रक्रियाका निर्देश मिलता है।

(५) चुरादिगणीय 'विद चेतनाख्याननिवासेषु' इस 'विद' धातुसे चेतन-ज्ञान आख्यान तथा निवास—इन तीन अर्थोंका करण-अर्थमें 'घञ् प्रत्यय करनेसे निष्पन्न 'वेद' शब्द सृष्टिके आदिम पूर्वकल्पके अनुसार कर्म नाम आदिका आख्यान होना अर्थ प्रतीत होता है।

वेद शब्दके इसी अर्थको सुव्यक्त करते हुए महर्षि मनुने लिखा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

(मनु० १। २१)

अर्थात् प्रलयके बाद नूतन सृष्टिके आरम्भमें विधाता वेदाख्यानके अनुसार वस्तु-जगत्के नाम कर्म, स्वरूप आदिका विधान करते हैं, जिसमे पूर्वकल्पके अनुसार ही इस कल्पमे भी नामादिका व्यवहार होता है।

उपर्युक्त विभिन्नार्थक पाँच धातुओंसे निष्पन्न वेद शब्दके अर्थोंमें सभी विषय समाविष्ट हो जाते हैं। विशेषत सत्तार्थक ज्ञानार्थक तथा लाभार्थक 'विद' धातुओंसे निष्पन्न वेद शब्दार्थसे सन्मयत्व चिन्मयत्व एव आनन्दमयत्वका बोध होनेसे वेदका सच्चिदानन्दमय—'वेदा नारायण साक्षात्'—यह रूप सिद्ध होता है। अतएव शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म दोनोके एकत्व-प्रतिपादक 'ओमित्येकाक्षर ब्रह्म' तथा 'गिरामस्म्येकमक्षरम्'—ये भगवद्वचन[४] सुसंगत ही होते हैं। इसी विषयकी ओर कठोपनिषद्का भी स्पष्ट संकेत है—

एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षर परम्।
एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥[५]

इस तरह मन्त्र-ब्राह्मणात्मक[६] वेद आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक त्रिविध अर्थोंके प्रतिपादक हैं, पुरुषार्थचतुष्टयके साधक हैं समस्त ज्ञान-विज्ञानके संग्राहक हैं तथा भारतीय ऋषि-महर्षि-मनीषियोके प्रत्यक्षज्ञानके महान् आदर्श हैं।

१-धाता यथापूर्वमकल्पयत् (ऋक्० १०। १९०। ३)।
२-श्रीमद्भा० (३। ९। ४३)।
३-अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामह । प्रजा ससर्ज कतिधा दैहिकार्मानसैर्विभु ॥ (श्रीमद्भा० ३। १०। १)
४ गीता ८। १३ तथा गीता १०। २५।
५-कठोपनिषद् (१। २। १६)।
६ मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

अर्थात् त्रयी कहनेसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन चारोंका बोध होता है और ये चारों ही नित्य हैं। इसमें सदेहका कोई अवसर नहीं है।

मनुजीने कहा है कि वेदोंसे सब कार्य सिद्ध होते हैं—'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।'

ऐसे गौरवशाली लाभदायक वेदोपर जनताकी श्रद्धा क्यों नहीं, जो उनक नित्यानित्यके विचारमें प्रवृत्त होती है? उक्त वेदोंमे परा और अपरा विद्याआकी चर्चा है। उनसे पदार्थविद्या और आत्मविद्या—दोनाका ज्ञान होता है। उनके अर्थ समझनेके प्रधान साधन व्याकरण और निरुक्त हैं। शाकपूणि तथा और्णनाभ आदिके निरुक्त अब नहीं मिलते। इस समय जो भाष्य मिलते हैं, उनमे उपलब्ध यास्क-निरुक्तका विद्वानोंने भी पूरा आदर नहीं किया। उन्होने गृह्यसूत्र तथा श्रौतसूत्रपर अपनी दृष्टि रखी। इससे उनके अर्थ केवल यज्ञपरक हो गये। वैदिक महत्त्व लुप्त हो गया। वेद सब विद्याओंकी जड है। वर्तमान भाष्य इस बातको सिद्ध नहीं कर सके। यदि विद्वन्मण्डली वैदिक साहित्यकी निरन्तर आलोचना करे तो अर्थशक्ति उन्हें पूर्व प्रतिष्ठा दिला सकती है। विदेशी विद्वान् नहीं चाहते कि वेदोंकी मर्यादा अक्षुण्ण रहे। उसकी रक्षा भारतीयाको करनी चाहिये।

भारतीय महर्षि यास्कका यह सम्मति याद रखें कि ईश्वरकी विद्या नित्य है, जो कर्तव्यशिक्षाके लिये वेदोंमें विद्यमान है—

'पुरुषविद्याया नित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिमन्त्रो वेदे।

आशा है, पाठक यदि उपर्युक्त पक्तियापर ध्यान देंगे तो वे वेदोंकी नित्यता स्वीकार करेंगे।

व्युत्पत्ति-मूलक वेद-शब्दार्थ

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय ।
वेदो नारायण साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥[1]

अर्थात् वेदोने जिन कर्मोंका विधान किया है वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है, वे अधर्म हैं। वेद स्वय भगवान्‌के स्वरूप हैं। वे उनके स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास एव स्वयम्प्रकाश ज्ञान हैं—ऐसा हमने सुना है।

साक्षात्कृतधर्मा तपोलीन महर्षियोद्वारा वेद प्रत्यक्षदृष्ट हैं।[2] विद्यमान पदार्थ ही दृष्ट होता है अत वेद पूर्वसे ही विद्यमान हैं। तपस्यमान ऋषि-विशेषको कालविशेषमे वेद प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। यही उन ऋषियोका ऋषित्व है, ऐसा जानना चाहिये।

'वेद' शब्दके व्युत्पत्तिमूलक अर्थोंसे उपर्युक्त सभी विषय स्पष्ट होते हैं। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार विभिन्नार्थक पाँच 'विद' धातुआसे 'वेद' शब्द निष्पन्न होता है, जो विभिन्न अर्थोंको अभिव्यक्त करता है।

(१) अदादिगणीय 'विद ज्ञाने' धातुसे करणमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे निष्पन्न वेदका अर्थ होता है—'वत्ति—जानाति धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपायान् अनेन इति वेद ।' अर्थात् जिसके द्वारा धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष-रूप पुरुषार्थ-चतुष्टयको प्राप्त करनेके उपायाको जानते हैं, उसे 'वेद' कहा जाता है। प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे अगम्य उपायाको चूँकि वेदके द्वारा जानते हैं यही वेदका वदत्व अर्थात् अज्ञातार्थज्ञापकत्व है[3]। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षादि प्रमाणासे भी जिन विषयाका ज्ञान नहीं हो सकता उनका भी ज्ञान वेदके द्वारा हो जाता है।

(२) दिवादिगणम पठित 'विद सत्तायाम्' धातुसे भावमें 'घञ्' प्रत्यय करनसे निष्पन्न 'वेद' शब्द अपने सनातन सत्-रूपको बतलाता है। महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने वेद शब्दक इसी सत्-रूपका स्पष्ट प्रतिपादन

१-श्रीमद्भागवत (६। १। ४०)।
२ (क)-तद् यद् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते (निरुक्त २। ११)।
(ख)-युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥
३-प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विन्दन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

करते हुए महाभारतमें कहा है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

(३) तौदादिक 'विद्लृ लाभे' धातुसे करणमें 'घञ्' प्रत्यय करनेपर निष्पन्न 'वेद' शब्द 'विन्दति अथवा विन्दते लभते धर्मादिपुरुषार्थान् अनेन इति वेदः' इस तरह पुरुषार्थ-चतुष्टय-लाभरूप अर्थको व्यक्त करता है। अर्थात् वेदसे न केवल धर्मादि पुरुषार्थोंको जानते हैं अपितु उनके उपायोंको समझते हैं तथा वेदके द्वारा उन्हें प्राप्त भी करते हैं। वेद-निर्दिष्ट उपायोंके द्वारा सविधि अनुष्ठान करनेसे पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है।

(४) रुधादिगणीय 'विद विचारणे' धातुसे करण-अर्थमें 'घञ्' प्रत्ययके योगसे निष्पन्न 'वेद' शब्द 'विन्ते-विचारयति सृष्ट्यादिप्रक्रियाम् अनेन इति वेदः'—इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया-विचाररूप अर्थको अभिव्यक्त करता है। तात्पर्य यह है कि युगके आरम्भमें विधाता जब नूतन सृष्टि-निर्माणकी प्रक्रियाके विचारमें उलझे रहते हैं, तब नारायण अपने वेद-स्वरूपसे ही उनकी समस्याका समाधान करते हैं और विधाता वेद-निर्देशानुसार पूर्वकल्पकी तरह नयी सृष्टि करते हैं[1]।

महर्षि व्यासने श्रीमद्भागवतमें इस विषयको स्पष्ट करते हुए कहा है—

सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना।
प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते॥[2]

परमात्मयोगी भगवान् नारायणने अपने सर्ववेद-स्वरूपसे सृष्टि-प्रक्रियामें किंकर्तव्यविमूढ स्रष्टाको निर्देश दिया कि कल्पान्त-कालसे मेरे स्वरूपमें अवस्थित जो प्राणी हैं उनकी यथापूर्व—पूर्वकल्पके अनुसार ही सृष्टि करो। ऐसा उपदेश कर भगवान्‌के अन्तर्हित हो जानेपर लोकपितामह ब्रह्माने दैहिक तथा मानसिक विभिन्न प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि की[3]। इससे स्पष्ट होता है कि वेदके द्वारा ही सृष्टि-प्रक्रियाका निर्देश मिलता है।

(५) चुरादिगणीय 'विद चेतनाख्याननिवासेषु' इस 'विद' धातुसे चेतन-ज्ञान, आख्यान तथा निवास—इन तीन अर्थोंका करण-अर्थमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे निष्पन्न 'वेद' शब्द सृष्टिके आदिमें पूर्वकल्पके अनुसार कर्म, नाम आदिका आख्यान होना अर्थ प्रतीत होता है।

वेद शब्दके इसी अर्थको सुव्यक्त करते हुए महर्षि मनुने लिखा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

(मनु० १। २१)

अर्थात् प्रलयके बाद नूतन सृष्टिके आरम्भमें विधाता वेदाख्यानके अनुसार वस्तु-जगत्के नाम, कर्म, स्वरूप आदिका विधान करते हैं जिसमें पूर्वकल्पके अनुसार ही इस कल्पमें भी नामादिका व्यवहार होता है।

उपर्युक्त विभिन्नार्थक पाँच धातुओंसे निष्पन्न वेद शब्दके अर्थोंमें सभी विषय समाविष्ट हो जाते हैं। विशेषतः सत्तार्थक, ज्ञानार्थक तथा लाभार्थक 'विद' धातुओंसे निष्पन्न वेद शब्दार्थसे सन्मयत्व, चिन्मयत्व एवं आनन्दमयत्वका बोध होनेसे वेदका सच्चिदानन्दमय—यदा नारायण साक्षात्—यह रूप सिद्ध होता है। अतएव शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म दोनोंके एकत्व-प्रतिपादक 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' तथा 'गिरामस्म्येकमक्षरम्'—ये भगवद्वचन[4] सुसंगत ही होते हैं। इसी विषयको और कठोपनिषद्का भी स्पष्ट संकेत है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥[5]

इस तरह मन्त्र-ब्राह्मणात्मक[6] वेद आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक त्रिविध अर्थोंके प्रतिपादक हैं, पुरुषार्थचतुष्टयके साधक हैं, समस्त ज्ञान-विज्ञानके संवाहक हैं तथा भारतीय ऋषि-महर्षि-मनीषियोंके प्रत्यक्षज्ञानके महान् आदर्श हैं।

१-धाता यथापूर्वमकल्पयत् (ऋक्० १०। १९०। ३)।

२-श्रीमद्भा० (३। ९। ४३)।

३-अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः। प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः॥ (श्रीमद्भा० ३। १०। १)

४-गीता ८। १३ तथा गीता १०। २५।

५-कठोपनिषद् (१। २। १६)।

६-मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

वैदिक ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग

(पं० श्रीयागीन्द्रजी झा वेद व्याकरणाचार्य)

वेदका अध्ययन ऋषि छन्द, देवता और विनियोगक अर्थज्ञानके साथ करना चाहिये। ऋष्यादिज्ञानके बिना वेदाध्ययनादि कर्म करनेसे शौनककी अनुक्रमणीम दोष लिखा है—

'एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामम्भवत्यथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति' (अनुक्रमणी १। १)। 'जो मनुष्य ऋषि, छन्द दवता और विनियागको जाने विना वेदका अध्ययन अध्यापन, जप हवन यजन, याजन आदि करते हैं उनका वेदाध्ययन निष्फल तथा दोपयुक्त होता है और वे मनुष्य अश्वगर्त नामक नरकम पडत हैं अथवा मरनपर शुष्क वृक्ष हाते हैं (स्थावरयोनिमे जाते हैं) अथवा कदाचित् यदि मनुष्ययोनिम भी उत्पन्न होत हैं तो अल्पायु होकर थोडे ही दिनाम मर जात हैं अथवा पापात्मा होते हैं।' जो मनुष्य ऋष्यादिको जानकर वदाध्ययनादि करत हैं, वे फलभाक् हाते हैं—

'अथ विज्ञायैतानि योऽधीत तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित् तस्य वीर्यवत्तरम्भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते (अनुक्रमणी १। १)। 'जो मनुष्य ऋष्यादिको जानकर वेदाध्ययनादि करते हैं उनका वेद बलवान् (अर्थात् फलप्रद) होता है। जा ऋष्यादिके साथ वेदका अर्थ भी जानते हैं,उनका वेद अतिशय फलप्रद होता है। व मनुष्य जप हवन यजन आदि कर्म करके उनके फलसे युक्त हात हैं।' याज्ञवल्क्य व्यास आदिन भी ऋष्यादिकी आवश्यकता अपनी-अपना स्मृतियाम बतलायी है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—

> 'आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च।
> वेदितव्य प्रयत्नेन ब्राह्मणन विशेषत ॥
> अविदित्वा तु य कुर्याद्याजनाध्यापने जपम्।
> होममन्तर्जलादीनि तस्य चाल्पफलम्भवेत्॥'

'मन्त्रोंके ऋषि, छन्द देवता विनियोग आदि ब्राह्मणको अवश्य जानना चाहिये। जो ब्राह्मण ऋष्यादिको बिना जाने याजन, अध्यापन, जप होम आदि करते हैं, उनके कर्मोंका फल अल्प होता है।' व्यासन लिखा है—

> अविदित्वा ऋषिश्छन्दो दैवतं योगमेव च।
> योऽध्यापयेद् याजयेद् वा पापीयान् जायते तु स ॥

'जो ब्राह्मण ऋषि छन्द देवता और विनियोगका बिना जाने याजन तथा अध्यापन करते हैं, वे अतिशय पापी होते हैं।'

पाणिनीय व्याकरणके अनुसार गतिका अर्थ ज्ञान मानकर गत्यर्थक 'ऋष्' धातुसे 'इगुपधात्कित्' (उणादि ४। ५६९) सूत्रसे इन्' प्रत्यय करनेपर ऋषि शब्द बनता है। मन्त्रोंकि द्रष्टा अथवा स्मर्ता ऋषि कहलाते हैं। अतएव सर्वानुक्रम-सूत्रम महर्षि कात्यायनने लिखा है—'द्रष्टार ऋषय स्मर्तार.।' औपमन्यवाचार्यन भी निरुक्तम इसी प्रकार 'ऋषि' शब्दका निर्वचन बतलाया है—

'हात्रमृषिर्निर्यादृषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यव। तद्यदेनास्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयाऽभवस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते।' (निरुक्त २। ११)। 'मन्त्र-समूहका देखनेवाले अर्थात् साक्षात्कार करनेवाले ऋषि कहलाते हैं। हिरण्यगर्भादिने सृष्टिके आदिमें आविर्भूत होकर पूर्वकल्पम अनुभूत वेदपदार्थोंको कठिन तपश्चर्यासे सस्कार, सम्मान तथा स्मरणके द्वारा 'सुप्तप्रबुद्धन्याय'से पूर्ववत् प्राप्त किया अत वे वेदमन्त्रोंके ऋषि कहलाये। आज भी स्मरणार्थ वे मन्त्राके आदिमे दिये जाते हैं। श्रुतियाम भी ऋषि शब्दका (मन्त्रद्रष्टा) अर्थ प्रतिपादित है— 'तत एतम्परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्यद्दर्शपौर्णमासाविति।' 'तब दर्श-पौर्णमास यज्ञगत द्रव्य देवता मन्त्रादिको परमेष्ठीने दखा।' 'दध्यङ् ह वा आथर्वण एत शुक्रमेतं यज्ञं विदाञ्चकार यहाँसे लेकर 'न तदुहाश्विनोरनुश्रुतमास' यहाँतकके इतिहाससे मालूम होता है कि प्रवर्ग्य-यागगत मन्त्रोंके दध्यङाथर्वण ऋषि हैं। याज्ञवल्क्यने भी ऋषि शब्दका अर्थ मन्त्रद्रष्टा ही माना है—

> 'येन य ऋषिणा दृष्टो मन्त्र सिद्धिश्च तेन वै।
> मन्त्रेण तस्य सम्प्रोक्त ऋषिभावस्तदात्मक ॥'

'जो मन्त्र जिस ऋषिसे देखा गया, उस ऋषिका स्मरणपूर्वक यज्ञादिमें मन्त्रका प्रयोग करनेसे फलकी प्राप्ति होती है।' मन्त्रादिमें ऋषि-ज्ञान आवश्यक है, यह विषय श्रुतिम भी प्रतिपादित है—

'प्रजापति प्रथमां चितिमपश्यत् प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयम्। दवा द्वितीया चितिमपश्यन् दवा एव तस्या आर्षेयम्। इन्द्राग्नी विश्वकर्मा च तृतीयां चितिमपश्यस्त एव तस्या आर्षेयम्। ऋषयश्चतुर्थीं चितिमपश्यन्नृषय एव तस्या आर्षेयम्। परमेष्ठी

पञ्चमीं चितिमपश्यत् परमेष्ठ्येव तस्या आर्षेयम्।'

अर्थात् 'अग्निचयन-यागमे पाँच चितियाँ होती हैं, उनमें प्रजापतिने प्रथम चितिको देखा, इसलिये वे प्रथम चितिके ऋषि हुए। देवगणने द्वितीय चितिको देखा इसलिये वे द्वितीय चितिके ऋषि हुए। इन्द्राग्नी तथा विश्वकर्माने तृतीय चितिको देखा इसलिय वे तृतीय चितिके ऋषि हुए। ऋषिगणने चतुर्थ चितिका देखा इसलिये वे चतुर्थ चितिके ऋषि हुए। परमेष्ठीने पञ्चम चितिको देखा इसलिये वे पञ्चम चितिके ऋषि हुए।' यह विषय शतपथब्राह्मणमें प्रतिपादित है। इसके बाद वहाँ ही लिखा है—'स यो हैतदेव चितीनामार्षेयं वेद' इत्यादि। 'जो इस प्रकार पाँचा चितियाके ऋषियोंको जानते हैं, वे पूत होकर स्वर्गादिको प्राप्त करते हैं।'

अब 'देवता' पदका निर्वचन दिखलाया जाता है। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार क्रीडाद्यर्थक 'दिव्' धातुसे 'हलश्च' सूत्रसे 'घञ्' प्रत्यय करके देव शब्द बनता है। उससे 'बहुल छन्दसि' इस वैदिक प्रकरणके सूत्रसे स्वार्थमें 'तल्' प्रत्यय करके तथा 'टाप्' करके देवता शब्द बनता है। निरुक्तकार यास्कन भी दानार्थक 'दा' धातुसे या 'द्युत्' धातुस अथवा 'दीप्' धातुस 'व' प्रत्यय करके वर्णका विकार तथा लोप करके 'देव' शब्द बनाया है—'देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद्वा।' देव और देवताका अर्थ एक ही है क्योंकि स्वार्थमें 'तल्' प्रत्यय किया गया है। जो तीनों लोकोंमें भ्रमण करें, प्रकाशित हों अथवा वृष्ट्यादिद्वारा भक्ष्य-भोज्यादि चतुर्विध पदार्थ मनुष्योका दें, उनका नाम देवता है। वेदम ऐसे देवता तीन ही माने गये हैं—

'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता । अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थान, सूर्यो द्युस्थान । तासा महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।' (निरुक्त० ७।२।५) अर्थात् 'पृथिवीस्थानीय अग्नि, (२) अन्तरिक्षस्थानीय वायु या इन्द्र और (३) द्यु-स्थानीय सूर्य—ये तीन देवता वेदम माने गये हैं। उन्हींकी अनेक नामसे स्तुतियाँ की गयी हैं। सारार्थ यह है कि मन्त्रके प्रतिपादनीय विषयका देवता कहत हैं। 'अग्निर्मूर्धा दिव ककुत्पति ।' इस मन्त्रम अग्नि देवता हैं। 'इषे त्वा' इस मन्त्रमें शाखाएँ देवता हैं। यहाँ पूर्व-पक्ष है—'महाभाग्यत्वात्' अग्नि देवता हो सकते हैं, परतु शाखाएँ तो स्थावर पदार्थ हैं, वे कैसे देवता हो सकती हैं?' उत्तर सुनिये—'वेदमे रूढि देवता नहीं लिया जाता है, किंतु जिसको जिस मन्त्रमं हविके विषयमें कहा जाता है या जिसकी स्तुति की जाती है वह पदार्थ उस मन्त्रका देवता होता है। इस प्रकारसे शाखादि अचेतन पदार्थको भी देवत्व प्राप्त हुआ। निरुक्तकारने भी ऐसा ही कहा है—'अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते, यथाश्वप्रभृतीन्यौषधिपर्यन्तानि।' (निरुक्त० ७।१।४) 'कहीं अदेवता भी देवताकी तरह स्तुत होते हैं, जैसे अश्व आदि औषधि-पर्यन्त वस्तुएँ।' जो पूर्वपक्षीने कहा है कि स्थावर होनेके कारण शाखादिको देवत्व कैसे प्राप्त हुआ वहाँ यह उत्तर है कि 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' इस वैयासिक सूत्रसे तथा 'मृदब्रवीत्', 'आपोऽब्रुवन्' इत्यादि श्रुतियोसे यहाँ शाखाद्यभिमानी देवता लिया जाता है। प्रतिमाभूत शाखादि पदार्थ फलका साधन करता है।*

आह्लादार्थक चौरादिक 'चदि' धातुसे 'चन्देरादेश्च छ ' (३।४।६६८) सूत्रसे 'असुन्' प्रत्यय करके तथा चकारको छकारादेश करके छन्द शब्द बनता है। अर्थ है—'छन्दयति आह्लादयति चन्द्यतेऽनेन या छन्द ', 'जो मनुष्योंको प्रसन्न करे, उसका नाम छन्द है' अथवा छादनार्थक चौरादिक 'छद्' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय करके 'पृषोदरादित्वात् नुमागम करके छन्द पद बनता है। 'छादयति मन्त्रप्रतिपाद्ययज्ञादीनीतिच्छन्द ।' जो यज्ञादिकी असुरादिकोंके उपद्रवसे रक्षा करे, उसे छन्द कहत हैं। निरुक्तकार यास्कने भी छन्द शब्दका ऐसा ही अर्थ बतलाया है—'मन्त्रा मननात्। छन्दासि छादनात् (स्तोम स्तवनात्)। यजुर्यजतेरित्यादि।' (निरुक्त० ७।३।१२) 'मनन करनेस त्राण करनेवाले शब्दसमूहको मन्त्र कहत हैं। जिसस यज्ञादि छादित हों (रक्षित हों) उस छन्द कहते हैं (जिससे दवताकी स्तुति की जाय उसे स्ताम कहत हैं)। जिससे यज्ञ किया जाय उसे यजु कहत हैं।

श्रुतिम भी छन्दका यही अर्थ प्रतिपादित है—

* ऋग्वेद, प्रथम अष्टकके ३४वें सूक्तके ११वें मन्त्रम और इसी अष्टकके ४५वें सूक्तके दूसरे मन्त्रमें ३३ देवोंका उल्लेख है। ऐतरेयब्राह्मण (२। २८) और शतपथब्राह्मण (४।५।७।२)-में भी ३३ देवोंकी कथा है। तैत्तिरीयसंहिता (१।४।१०।१)-में स्पष्ट उल्लेख है कि आकाश, पृथिवी और अन्तरिक्षमें ११-११ देवता रहते हैं। —सम्पादक

दक्षिणतोऽसुरान् रक्षांसि त्वाष्ट्रान्यपहन्ति त्रिष्टुब्भिर्वज्रो वै त्रिष्टुप्' इत्यादि। 'यज्ञमें कुण्डकी दक्षिण परिधिको त्रिष्टुप्-स्वरूप माना है और त्रिष्टुप् वज्रस्वरूप है, अत उससे असुरोंका नाश होता है।' मन्त्रोंका छन्दोज्ञान कात्यायनादिप्रणीत सर्वानुक्रम, पिङ्गल-सूत्रादि ग्रन्थोसे करना चाहिये—

'छन्दांसि गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगत्यतिजगती शक्वर्यतिशक्वर्यष्ट्यत्यष्टिधृत्यतिधृतय कृतिप्रकृत्याकृतिविकृति-संकृत्यभिकृत्युत्कृतयश्चतुर्विंशत्यक्षरादीनि चतुरुत्तराण्यूनाधिकेनैकेन निचृद्भूरिजौ द्वाभ्यां विराट् स्वराजावित्यादि।' (अनु० अ० १। १) '२४ अक्षरोंका गायत्री, २८ का उष्णिक्, ३२ का अनुष्टुप्, ३६ का बृहती, ४० का पंक्ति, ४४ का त्रिष्टुप्, ४८ का जगती ५२ का अतिजगती, ५६ का शक्वरी, ६० का अतिशक्वरी, ६४ का अष्टि, ६८ का अत्यष्टि, ७२ का धृति, ७६ का अतिधृति, ८० का कृति ८४ का प्रकृति, ८८ का आकृति, ९२ का विकृति ९६ का संकृति १०० का अभिकृति और १०४ अक्षरोका उत्कृति छन्द होता है। इस प्रकार २४ अक्षरसे लेकर १०४ अक्षरतक गायत्री आदि २१ छन्द होते हैं। इनमें प्रत्येकम एक अक्षर कम होनेसे 'निचृत्' विशेषण लगता है और एक अक्षर अधिक होनेसे 'भूरिज्' विशेषण लगता है। दा अक्षर कम होनेसे 'विराट्' विशेषण लगता है और दो अक्षर अधिक होनेसे 'स्वराट्' विशेषण लगता है। इस प्रकार उन पूर्वोक्त छन्दाके अनेक भेद सर्वानुक्रमसूत्र, पिङ्गल-सूत्रादिम वर्णित हैं। विशेष जिज्ञासु वहाँ देख लें। लेख विस्तारके भयसे यहाँ उन सबका विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है।

जिस कामके लिये मन्त्रोंका प्रयोग किया जाता है, उसे विनियोग कहते हैं। इसके विषयमें याज्ञवल्क्यने कहा है—

पुराकल्पे समुत्पन्ना मन्त्रा कर्मार्थमेव च।
अनेनेदं तु कर्तव्यं विनियोग स उच्यते॥

प्रत्येक मन्त्रका विनियोग तथा ऋष्यादि भी तत्-तत् वेदके ब्राह्मण तथा कल्पसूत्रसे जानना चाहिये। विनियोग सबसे अधिक प्रयोजक है। मन्त्रमें अर्थान्तर अथवा विषयान्तर होनेपर भी विनियोगद्वारा उसका किसी अन्य कार्यमें विनियोग करना, कर्मपारवश्यसे पूर्वाचार्योंने माना है अर्थात् विनियोगके सामने शब्दार्थका कुछ आधिपत्य नहीं है। इसलिये मन्त्रोंमें मुख्य विनियोग है,जो कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके द्वारा समय समयपर विनियुक्त हुआ था।

वेद-रहस्य

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—इस मनुप्रोक्त वचनसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि निखिल धर्मोंका[१] मूल वेद है। वेद शब्द 'विद ज्ञाने' धातुसे निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञान। वेद ज्ञान तथा विज्ञानका अनादि भण्डार है। भारतीय धर्म एव दर्शनके मूलभूत सिद्धान्तोंका उद्गम-स्थल वेद ही है। वेद भारतीय संस्कृतिका प्राण है। यह भी सत्य है कि वेद-मन्त्र नितान्त ही गूढार्थक हैं, इसलिये उनके अर्थ-प्रकाशके लिये हमारे क्रान्तदर्शी ऋषि-महर्षियोंने अनेक स्मृतियाका दर्शन, धर्मसूत्र तथा पुराणादि ग्रन्थोकी रचना करके उनका उपबृंहण किया है। यही कारण है कि भारतीय धर्मम जा जीवन्त-शक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका कारण भी वेद ही है। इसलिये कहा जाता है कि जिस ज्ञान-विज्ञानके कारण किसी समय भारत सर्वोच्च अवस्थाको प्राप्त हुआ था तथा जिस परम-तत्त्वका साक्षात्कार करके तत्त्वदर्शी ऋषियाने सब कुछ पाया था जिसके प्रभावसे विश्वमे सुख-समृद्धि तथा शान्तिकी स्थापना की थी और इस पुण्यभूमि आर्यावर्त देशको 'स्वर्गादपि गरीयसी' बनाया था वह सारी सम्पदा वेदमें ही सनिहित है। वेद अपौरुषेय एव ईश्वरीय ज्ञान तथा समस्त विद्याओंका मूल स्रोत है। मनुमहाराजने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमा पृथक्।
भूत भव्य भविष्य च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥
(मनु० १२। ९७)

'वेदसे ही चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और

१-यहाँ निखिल धर्मका तात्पर्य वेदकी ११३१ शाखाओंम कथित धर्म ही समझा जाता है न कि इतर धर्म-समूह।

शूद्र), तीनों लोक (भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक), चारों आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम)- की व्यवस्था की गयी है। केवल यही नहीं, अपितु भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान-कालिक धर्म-कर्मोंकी व्यवस्था भी वेदके अनुसार ही की गयी है।' वेद-धर्म उस ईश्वरीय ज्ञानकोशसे ही प्रकट हुआ है, जो अनादि और अनन्त है। इसलिये बृहदारण्यक श्रुतिमे कहा गया है—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस ॥ (बृहदारण्यकोप० ४। ५। ११)

'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चारो उस महान् परमेश्वरके श्वाससे ही प्रकट हुए हैं।' ऐतरेय ब्राह्मणमें भी कहा गया है—'प्रजापतिर्वा इमान् वेदानसृजत्॥' 'प्रजापतिने समस्त प्रजाओके कल्याणके लिये ही वेदोका सृजन किया है।' यहाँपर शका हो सकती है कि वह ईश्वरीय वेदज्ञान मनुष्योको कैसे प्राप्त हुआ? इसके लिये कहा जाता है कि सृष्टिके आदिकालमें कुछ उर्वर-मस्तिष्कवाले क्रान्तदर्शी ऋषि समाधिमें बैठकर उस दिव्य वेदज्ञानका प्रत्यक्ष दर्शन कर पाये थे। यास्काचार्यने निरुक्तमे लिखा है—

ऋषिर्दर्शनात्……… स्तोमान् ददर्श॥

(निरुक्त० २। ३। ११)

अर्थात् ऋषियोंने मन्त्रोको देखा है इसलिये उनका नाम ऋषि पडा है। जो मन्त्रद्रष्टा है वही ऋषि है। कात्यायनने 'सर्वानुक्रमसूत्र'मे लिखा है—'द्रष्टार ऋषय स्मर्तार ॥' अभिप्राय यह है कि 'ऋषि लोग मन्त्रोके द्रष्टा या स्मर्ता हैं कर्ता नहीं।' मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी एक-दो नहीं अपितु अनेक हुए हैं, जैसे गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव अत्रि वसिष्ठ तथा भारद्वाज आदि। उनमें कुछ ऋषिकाएँ भी थीं, जैसे-ब्रह्मवादिनी घोषा लोपामुद्रा अपाला विश्ववारा सूर्या तथा जुहू आदि। वेदज्ञान ईश्वरीय है, मन्त्रद्रष्टा ऋषि साक्षात्कृत जिस ईश्वरीय ज्ञानराशिको छोड़ गये हैं, वही वेद हैं। प्रारम्भमें सगृहीत-रूपम वेद एक ही था बादम महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासजीने ऋक्, यजु साम तथा अथर्ववेदके रूपमें उसका चार विभाग किया और अपने चार शिष्योंको पढाया। अर्थात् पैलको ऋग्वेद, जैमिनिको यजुर्वेद वैशम्पायनको सामवेद और सुमन्तुको अथर्ववेद पढाया। उक्त महर्षियोंने भी अपने-अपने शिष्यो-प्रशिष्योको वेद पढाकर गुरु-शिष्यके मध्यकी श्रुति-परम्परासे वेदज्ञानको फैलाया है।

वेदकी प्राचीनता

'अनन्ता वै वेदा ' इस श्रुति-वचनसे ज्ञात होता है कि वेदज्ञान अनन्त है। कारण यह है कि वेदकी शाखाएँ ही इतनी विस्तृत हैं कि उनका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन एक ही जीवनम सम्भव नहीं। इसीलिये 'महाभाष्य-पस्पशाह्निक' में उल्लेख है—

एकशतमध्वर्युशाखा सहस्रवर्त्मा सामवेद ।
एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽऽथर्वणो वेद ॥

अर्थात् बह्वृच (ऋग्वेद)-की २१ शाखा, अध्वर्यु (यजुर्वेद)-की १०१ शाखा सामवेदकी १००० शाखा और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं। इस प्रकारसे कुल मिलाकर वेदकी ११३१ शाखाएँ हैं। यद्यपि आज इन शाखाओमसे अधिकाश भाग लुप्त हैं, फिर भी जो कुछ शेष बचे हैं, उनकी रक्षा तो प्रत्येक हिन्दूको किसी भी कीमतपर करनी ही चाहिये।

वेद गद्य पद्य और गीतिके रूपमें विद्यमान हैं। ऋग्वेद पद्यमे, यजुर्वेद गद्यम और सामवेद गीति-रूपम है। वेदोमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड विशेष-रूपमें होनेके कारण इनको 'वेदत्रयी' या 'त्रयीविद्या' के नामसे भी अभिहित किया जाता है। आरम्भम शिष्यगण गुरुमुखसे सुन-सुनकर वेदोंका पाठ किया करते थे इसलिये वेदोका एक नाम 'श्रुति' भी है। तभीसे भिन्न-भिन्न वेदपाठोका विधान भी किया गया है और मन्त्राम एक-एक मात्राओकी रक्षा करनेके लिये ऐसा करना आवश्यक भी था। यथा—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घन ।
अष्टौ विकृतय प्रोक्ता क्रमपूर्वा महर्षिभि ॥

अर्थात् महर्षियोने वेद-पाठ करनेके आठ प्रकार बताये हैं—(१) जटा (२) माला (३) शिखा (४) रेखा (५) ध्वज (६) दण्ड (७) रथ और (८) घन—ये क्रमश आठ विकृतियाँ कही जाती हैं। इन्हीं भेदोंसे वेदपाठी वेदमन्त्रोका उच्चारण किया करते हैं। वेद अनन्त होनेके साथ-साथ अनादि भी हैं। इसलिये कहा जाता है कि ईश्वरीय ज्ञान होनेके कारण किसी भी कालमें वेदका नाश

नहीं होता, क्योंकि नित्य-अनादि परमेश्वरका ज्ञान भला अन्तवाला कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता। इसीलिये कहा भी है—'नैव वेदा प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि॥' (मेधातिथि) अर्थात् 'महाप्रलयकालमे भी वेदका लोप (नाश) नहीं होता।' अन्यत्र भी इसका उल्लेख है—

प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशि स्थित ॥

(मनुस्मृति, कुल्लूक भट्टकी व्याख्या)

अभिप्राय यह कि 'प्रलयकालम भी वेदज्ञानका अभाव नहीं होता, प्रत्युत वेदाकी ज्ञानराशि परमात्मामें सूक्ष्मरूपस पहले भी विद्यमान थी, अब भी है और आग भी रहेगी—यह ध्रुव सत्य है।' अत वेदका प्रादुर्भाव-काल निश्चित करना असम्भव-सा ही है।

वैदिक वाङ्मयका परिचय

वेद चार हैं—ऋक् यजु, साम और अथर्व। इनको 'मन्त्रसहिता' भी कहते हैं। इन चार मूल वेदांके चार उपवेद भी हैं—स्थापत्यवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और आयुर्वेद। इनमेसे ऋग्वेदका उपवेद स्थापत्यवेद यजुर्वेदका धनुर्वेद सामवेदका गान्धर्ववेद और अथर्ववेदका उपवेद आयुर्वेद है। वेदके प्राचीन विभाग मुख्य रूपमे दो हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मणक अन्तर्गत आ जाते हैं। इसीलिये कहा है कि—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्॥' (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र)

आपस्ताम्बके कथनानुसार मन्त्र और ब्राह्मण—ये दोनों वेद हैं। मन्त्रभागको 'संहिता' कहते हैं और अर्थस्मारक वाक्याको 'ब्राह्मण'। वृक्ष और शाखाकी तरह जैसे शब्द और अर्थकी पृथक् सत्ता नहीं है ठीक उसी प्रकार ब्राह्मण-भाग भी वेद ही है, वेदसे पृथक् नहीं। ब्राह्मणका तात्पर्य है ब्रह्मसे सम्बन्धित विचार। इस विचारका प्राचीन नाम है 'ब्रह्माद्य'। याग-यज्ञोंका विधि-विधान भी ब्राह्मण-ग्रन्थोके अनुसार ही होता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ अनेक हैं जिनमेसे बहुत ग्रन्थ आज लुप्त हैं। ऋग्वेदके ब्राह्मण हैं ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि (शाखायन) ब्राह्मण। शुक्लयजुर्वेदका शतपथब्राह्मण प्रसिद्ध है। कृष्णयजुर्वेदका भी तैत्तिरीय ब्राह्मण अत्यन्त प्रसिद्ध है। सामवेदके कई ब्राह्मण हैं, जैसे ताण्ड्यब्राह्मण आर्येय-ब्राह्मण, षड्विंशब्राह्मण, सामविधानब्राह्मण वशब्राह्मण तथा जैमिनीय ब्राह्मण आदि। अथर्ववदका गोपथब्राह्मण अति प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त भी और अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। जैसे दैवतब्राह्मण कादेयब्राह्मण भाल्लविब्राह्मण काठक ब्राह्मण मैत्रायणी ब्राह्मण, शाट्यायनि ब्राह्मण, खाण्डिकेय ब्राह्मण तथा पैङ्गायणि ब्राह्मण इत्यादि। ब्राह्मण-भागमें भी तीन विभाग हैं—ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। तात्पर्य यह है कि जिस विभागम याग-यज्ञादिका विशेप विधान किया गया हो, वह ब्राह्मण है और जिस विभागम ब्रह्मतत्त्वका विशेष विचार किया गया हो, वह आरण्यक और उपनिषद् है।

आरण्यक ग्रन्थ भी अनेक हैं, जिनमें ऐतरेय आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक कौषीतकि आरण्यक, शाखायन आरण्यक आदि प्रसिद्ध हैं। कुछ आरण्यक लुप्त हैं। वास्तवम इनका आरण्यक नाम इसलिये पडा है कि ये ग्रन्थ अरण्यमें ही पठन-पाठन करने योग्य हैं, ग्राम-नगर आदि कोलाहलयुक्त स्थानमे नहीं। इसलिये सायणाचार्यने तैत्तिरीय आरण्यकके पाठ्यश्लोकमें लिखा है—

अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते ।
अरण्ये तदधीयीतेत्येव वाक्य प्रवक्ष्यते॥

(तै० आर० भाष्य-मङ्गलश्लोक ६)

गहन अरण्यमे ब्रह्मचर्य-व्रतमें प्रतिष्ठित आर्य ऋषिगण जिस ब्रह्मविद्याका गम्भीर रूपसे अनुशीलन अर्थात् पठन पाठन किये वे ही ग्रन्थ आरण्यकक नामसे प्रसिद्ध हैं। अरण्यमे ही निर्मित तथा पठित होनेके कारण इनका 'आरण्यक' नाम सार्थक ही है।

आरण्यकका ही दूसरा भाग उपनिषद् है। इसका अर्थ है ब्रह्मविद्या और प्राय इसी अर्थमें यह शब्द रूढ है। विशरण गति और शिथिलीकरण जिसके द्वारा हो वही ब्रह्मविद्या उपनिषद् है। उपनिषद् भी सख्यामें बहुत हैं। अबतकके अनुसधानसे दो सौसे भी अधिक उपनिषद्-ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं और प्रकाशित भी हो चुके हैं। उनमेंसे प्राचीन एकादश उपनिषद् अति प्रसिद्ध हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—ईश कन कठ, प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य एतरेय, तैत्तिरीय श्वेताश्वतर छान्दोग्य और बृहदारण्यक। इन एकादश उपनिषदोपर आचार्य शंकरने भाष्य किया है।

वेदाङ्ग अर्थात् वेदके अङ्गभूत होनेसे या सहायक ग्रन्थ होनेसे इनको 'वेदाङ्ग' कहते हैं। जैसे (१) शिक्षा (२) कल्प, (३) व्याकरण (४) निरुक्त (५) छन्द और (६)

ज्योतिष। इनके द्वारा वेदार्थका ज्ञान होता है या वेदार्थको समझा जाता है। इसीलिये इनका नाम वेदाङ्ग पडा। आर्ष वाङ्मय बहुत विस्तृत है, परतु इस सदर्भम हमें कतिपय प्रमुख वैदिक साहित्योंका नामोल्लेख मात्र करके ही सतोष करना पडा है।

वेदोके भाष्यकार

वेद-मन्त्रोंके अर्थ तीन प्रकारसे किये जाते हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। वेदोका भाष्य यद्यपि अति प्राचीन कालसे होता आया है, परतु किसी भी प्राचीन भाष्यकारने चारो वेदोका पूर्ण भाष्य नहीं किया है। प्राचीन वेद-भाष्यकारोंमें—स्कन्दस्वामी उद्‌गीथ हरिस्वामी वररुचि भट्टभास्कर, वेकटमाधव आत्मानन्द आनन्दतीर्थ, माधव तथा भरतस्वामी आदिका नाम उल्लखनीय है परतु इनमस किसीका भी चारों वेदोका पूर्ण भाष्य नहीं मिलता। वेदोका पूर्ण भाष्य तो सायणाचार्यके कालम ही हुआ है उसके पूर्व नहीं। वेद-भाष्यकारोमें सायणाचार्य ही एक ऐसे प्रौढ भाष्यकार हुए हैं, जिन्होने चारो वेदो ब्राह्मणग्रन्थों तथा कुछ आरण्यक-ग्रन्थोका महत्त्वपूर्ण सुविस्तृत भाष्य लिखा है। अन्य अनेक विषयोपर भी वे ग्रन्थ लिखे हैं। सायणाचार्य वेदके मूर्धन्य विद्वानोंमसे एक थे इसम किंचिन्मात्र सदह नहीं है।

सायणके वेदभाष्योम व्याकरण आदिका प्रयोग बहुल रूपम हुआ है। सायण-भाष्यके आधारपर ही कुछ भारतोय तथा पाश्चात्य विद्वानोने वेदभाष्योंकी रचना की है। यास्काचार्यने 'निरुक्त' मे वेदभाष्यके मार्गको प्रशस्त तो किया है किंतु कतिपय मन्त्रार्थके अतिरिक्त किसी भी वेदका भाष्य उन्होने नहीं किया है। सायणने 'निरुक्त' का भी अपने वेदभाष्योम बहुल रूपम प्रयोग किया है तथा प्राचीन परम्परागत अर्थ-शैलीको ही अपनाया है और उसकी पुष्टिके लिये श्रुति स्मृति पुराण तथा महाभारतादि ग्रन्थोका ही प्रमाण उद्‌धृत किया है।

यज्ञ

'यज' धातुस यज्ञ शब्द बनता है जिसका अर्थ है—देवपूजा सगतिकरण और दान। इसलिये कहा गया है कि—'अध्वरो वै यज्ञ ॥' (शतपथ० १। २। ४। ५) इन शब्दोंके द्वारा यज्ञका महत्त्व प्रकट किया गया है। अथर्ववेदम भी कहा गया है— अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि ॥ अर्थात् भुवनकी उत्पत्तिका स्थान यह यज्ञ ही है। शतपथब्राह्मण (१। ७। ४। ५)-म कहा गया है कि समस्त कर्मोंमे श्रेष्ठ कर्म यज्ञ ही है। इसी कारण यज्ञको ईश्वरीय यज्ञ भी बताया गया है—'प्रजापतिर्वै यज्ञ ॥' ऐतरय ब्राह्मण (१। ४। ३)-ने कहा है कि यज्ञ करनेवाले सभी पापोंसे छूट जाते हैं।

यज्ञमे देवता हविर्द्रव्य मन्त्र (ऋचाएँ) ऋत्विज् (होता), अध्वर्यु, उद्‌गाता ब्रह्मा और दक्षिणा आदिका ही विशेष प्राधान्य माना जाता है। यज्ञ और मन्त्रोच्चारणसे वायुमण्डलम परिवर्तन हो जाता है, अखिल विश्वमें धर्मचक्र पूर्ववत् चलने लगता है। यज्ञमे मन्त्रोच्चारणसे चित्त शान्त और मन सबल होता है। यज्ञाग्निम दी हुई आहुति वायुमण्डलके साथ मिलकर समस्त अन्तरिक्ष-मण्डलम व्याप्त हो जाती है। उससे पर्जन्य उत्पन्न होता है। पर्जन्यसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी वृद्धि होती है। यज्ञसे देवता प्रसन्न होते हैं जिससे देवता यज्ञ करनेवालेको मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हैं।

आर्य लोग यज्ञप्रेमी थे। छोटे-छोटे यज्ञोंसे लेकर महारुद्रयाग महाविष्णुयाग तथा महीनोंतक चलनेवाले अश्वमेधादिक बड-बडे यज्ञोको अत्यन्त धैर्यके साथ सम्पन्न करते थे। यथासमय उसका फल भी प्राप्त करते थे। अत आर्यावर्त-देशवासियोके लिये आज भी यज्ञका महत्त्व है हो इसमें किंचिन्मात्र सदह नहीं है।

परमात्मतत्त्वका विचार

वेदमे तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इन काण्डोंमसे अन्तिम ज्ञानकाण्डका महत्त्व सर्वोपरि है। ज्ञानकाण्डम केवल ब्रह्म या परमात्मतत्त्वका ही विचार किया गया है। वेदोके अनुशीलनसे ज्ञान होता है। वेदोम केवल ब्रह्मवादका ही प्रतिपादन हुआ है। इसलिये वेद ब्रह्मवादसे ओतप्रोत हैं क्योंकि वेदम यत्र-तत्र-सर्वत्र ब्रह्मवादकी ही उद्‌घोषणा की गयी है। वेदमें अनेक सूक्त हैं जो ब्रह्मवादके ही पोषक हैं। इनमें पुरुषसूक्त हिरण्यगर्भसूक्त अस्यवामीय सूक्त तथा नासदीय सूक्त आदि उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेदका नासदीय सूक्त एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है जो ससार-बीजकी ओर सकेत करता है। यथा—

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीव कुह कस्य शर्मन्नम्भ. किमासीद्गहनं गभीरम्॥

न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥
(ऋक्० १०। १२०। १-२)

'उस समय प्रलयकालमे न असत् था न सत्। प्राणधारी जीवादि भी नहीं थे। पृथिवी भी नहीं थी और आकाश तथा आकाशमें स्थित भूरादि साता लोक भी नहीं थे। तब कौन कहाँ विद्यमान था? ब्रह्माण्ड कहाँ था? क्या दुर्गम तथा गम्भीर जल-समूह उस समय था? कुछ भी नहीं था। उस समय न मृत्यु थी और न अमरता, रात और दिनका भी भेद नहीं था। उस समय प्राण एव क्रियादिसे रहित केवल एकमात्र सर्वशक्तिमान् ब्रह्म मात्र था ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं था।'

वेदमे आये '**स्वधा**' शब्दका अर्थ माया है, जो शक्तिमान्मे रहती है। स्वतन्त्र न होनेके कारण उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है इसलिये शक्ति और शक्तिमान्में अभेद है। इसीलिये 'तदेकम्' शब्दसे 'एकमात्र ब्रह्म था' ऐसा कहा गया है। इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि सृष्टिके मूलम जगत्का कारण अनेक नहीं प्रत्युत एक ही है। अत वेदका ब्रह्मवाद या अद्वयवाद उक्त ऋचाओसे स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है।

आचार्य शकरको कुछ लाग मायावादी मानते हैं, परतु शकराचार्य मायावादी नहीं प्रत्युत ब्रह्मवादी हैं। वह ब्रह्मवाद उनका अपना नहीं, बल्कि वेदका है। पुरुषसूक्तमे स्पष्ट कहा गया है—'पुरुष एवेद सर्वं यद् भूत यच्च भव्यम्। (ऋक्० १०। ९०। २) अर्थात् 'जो भूतकालमे उत्पन्न हुआ है तथा भविष्यत्कालमे उत्पन्न होगा और जो कुछ वर्तमान कालमें है, वह सब पुरुषरूप ही है।' अत वह ब्रह्मवाद नहीं तो और क्या है? ऋग्वेद (१। १६४। ४६)-में उल्लेख है—

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥

सत् ब्रह्म एक ही है। मेधावी लोग उस एक सत्-तत्त्वको ही इन्द्र, मित्र वरुण और अग्नि आदि अनेक नामोंसे अभिहित करते हैं। सुन्दर पखवाले तीव्रगामी गरुड भी वही हैं। उसी तत्त्वको यम तथा मातरिश्वाके नामसे भी कहते हैं। क्या वह सत् (ब्रह्म)-तत्त्व एक ही है या अनेक? नहीं, वह एक ही है। और उसीके अनेक नाम तथा रूप हैं। इस ऋचामें एकत्वम बहुत्व और बहुत्वमें एकत्वका दर्शन होता है। एकश्वरवाद भी वहींपर स्पष्ट परिज्ञात हो जाता है। हसवती ऋचा (४। ४०। ५)-में सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर विद्यमान और समस्त उपाधियोसे रहित हस (आदित्य)-के रूपम परमात्माका वर्णन हुआ है।

ऋग्वेद (४। २६। १-२)-में '**अहं मनुरभव०**' आदि ऋचाओंमे ऋषि वामदेवजी कहते हैं कि—'हम ही प्रजापति हैं, हम सबके प्रेरक सविता हैं, एक ही दीर्घतमाके पुत्र मेधावी कक्षीवान् ऋषि हैं। हमने ही अर्जुनीके पुत्र कुत्सको भलीभाँति अलकृत किया था। हम ही उशना कवि हैं। हे मनुष्यो! हमें अच्छी तरहसे देखो। हमने ही आर्यको पृथ्वी दान किया था। हमने हव्यदाता मनुष्यके सत्यकी अभिवृद्धिके लिये वृष्टि-दान किया था। हमने शब्दायमान जलका आनयन किया था। देवगण हमारे सकल्पका अनुगमन करते हैं।' ऋषि वामदेवके इन उद्गारोंसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वेदका ब्रह्मवाद ऋषियाकी वाणीम किस प्रकार मुखरित हो उठा था।

ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १२५ वें सूक्तकी ऋचाओंमें अम्भृण ऋषिकी पुत्री वागाम्भृणी (वाग्देवी)-की उक्ति भी ब्रह्मवादसे ओतप्रोत है। वे स्वय कहती हैं—'मैं रुद्रों और वसुआके साथ विचरण करती हूँ। मैं आदित्यों और देवोंको तथा मित्र और वरुण एव इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्विनीकुमारोंका धारण करती हूँ।' इस सूक्तमें ८ ऋचाएँ हैं और सभी ऋचाओंमे डिण्डिमघोषसे कवल एक ब्रह्मवादकी ही उद्घोषणा की गयी है अर्थात् सर्वात्मभावको ही अभिव्यक्त किया गया है।

ऋग्वेद (१। १६४। २०)-के '**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**' मन्त्रम शरीररूपी वृक्षमे जीवात्मा एवं परमात्मारूप दो पक्षियोंके विद्यमान होनेकी बात कही गयी है। उनमेंसे एक फलभोक्ता है और दूसरा साक्षी। दोनोंको परस्पर अभिन्न-सखा भी बताया गया है। इसका वास्तविक तत्त्व-रहस्य वस्तुत विम्बस्थानीय अधिष्ठान चेतन या कूटस्थ चेतन और प्रतिबिम्बस्थानीय चिदाभास अथवा जीव चेतनमें घटित हो जाता है। अत वहाँ जीव और ब्रह्ममें वैसे ही भेद सिद्ध नहीं होता जैसे प्रतिबिम्ब बिम्बसे भिन्न सिद्ध नहीं होता। इसलिये श्रुतिमें कहा गया है—'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ वह ब्रह्म एक भी है और बहुधा

भी जैसे चन्द्रमा विम्बरूपमे एक ही है किंतु प्रतिविम्ब-रूपमें अनेक भी है। वेदमे भी कहा गया है—'इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते॥' (ऋक्० ६। ४७। १८) 'इन्द्र अर्थात् ब्रह्म अपनी मायाशक्तिके द्वारा अनेक रूपोंमें हो जाते हैं।' वहाँ एकसे अनेक हो जानेका तात्पर्य परिणाम-भावको प्राप्त हो जाना नहीं है, अपितु औपाधिक मात्र है। श्वेताश्वतर-श्रुतिमें भी वर्णित है—'एको देव सर्वभूतेषु गूढ ।' (श्वेता० ६। ११) 'वह एक देव (ब्रह्म) ही समस्त प्राणियोंमें छिपा हुआ विद्यमान है।' यजुर्वेदमे भी कहा गया है—'योऽसावादित्ये पुरुष सोऽसावहम्॥' (यजु० माध्यन्दिनीय० ४०। १७) 'आदित्यमे जो वह पुरुष है वह मैं ही हूँ।' वही वैदिकोका अद्वयवाद या ब्रह्मवाद है। अथर्ववेदमे भी इसका वर्णन प्राप्त है—

'स एति सविता महेन्द्र.', 'स धाता स विधर्ता स वायु ', 'सोऽर्यमा स वरुण स रुद्र स महादेव ।सोऽग्नि स उ सूर्य स उ एव महायम ॥' (अथर्व० १३। ४। ५)

'भाव यह कि वह इन्द्र अर्थात् महान् ब्रह्म ही सविता है, वही धाता तथा विधाता है वही वायु है। वह अर्यमा है, वह वरुण है, वह रुद्र है वह महादेव है। वह अग्नि है, वही सूर्य है और वही महायम भी है। तात्पर्य यह कि जगत्मे सब कुछ वही है।' इससे बढकर वैदिक ब्रह्मवादका प्रमाण और क्या हो सकता है? इसलिये ऋग्वेदमे एक तत्त्वदर्शी ऋषि अपने इष्टदेवके साथ एकरूपताकी प्राप्तिके लिये उत्कट अभिलाषाको व्यक्त करते हुए कहते हैं—

यदग्ने स्यामह त्व त्व वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिष ॥ (ऋक्० ८। ४४। २३)

'हे अग्ने। यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय (द्वैतभाव सदाके लिये मिट जाय) तो इसी जीवनमें तेरे आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जायँ।' यही वेदोंका ब्रह्मवाद है और यह ब्रह्मवाद सहिता-भागसे लेकर ब्राह्मणग्रन्था आरण्यकों उपनिषदों स्मृति-ग्रन्थों धर्मसूत्रा, महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थों तथा समस्त पुराण-ग्रन्थाम आतप्रोत हाकर विद्यमान है। यदि एक शब्दमें कहा जाय तो हमारे समस्त आर्य वाड्मयमें ही वैदिक ब्रह्मवादकी उद्घोषणा तत्त्वदर्शी ऋषि-महर्षियाने बहुत पहले ही कर रखी है, यह निर्विवाद सत्य है।

'स वेदैतत् परम ब्रह्मधाम'—ऐसा कहकर वैदिकोंने कैवल्य-मोक्षको भी स्वीकारा है और उसीको ही ब्रह्मधामके नामसे भी कहा है। उस ब्रह्मधाम या मोक्षपदको प्राप्त होकर वहाँसे पुन न लौटनेको ही वैदिकोंने परम मोक्ष माना है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
(गीता १५। ६)

वैदिक सप्त मर्यादा

वेदोंमे मानव-जीवन-सम्बन्धी असख्य उपयोगी उपदेश भरे पडे हैं परतु इस सदर्भमें हम केवल दो मन्त्रोका उपदेशमात्र प्रस्तुत करके सतोष करेगे। यथा—

सप्त मर्यादा कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथा विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥
(ऋक्० १०। ५। ६)

तात्पर्य यह कि हिसा, चोरी व्यभिचार, मद्यपान जुआ असत्य-भाषण तथा बारम्बार पापकर्ममें लिप्त होना—ये सातों ही महापातक हैं। बुद्धिमान् मनुष्योका चाहिये कि वे इनका सर्वथा परित्याग कर द। इनमसे प्रत्येक ही मानव-जीवनक लिये महान् घातक हैं। यदि कोई एकमे भी फँस जाता है तो उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, किंतु जो इनसे निकल जाता है वह नि सदह आदर्श मानव बन जाता है, यह निश्चित है।

उलूकयातु शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥
(ऋक्० ७। १०४। २२)

भाव यह कि 'हे परमात्मन्! उलूककी भाँति जिन लोगाको दिनके दोपहरम भी न दीखता हो तथा जो भेडियकी तरह हर समय निर्बलाको दबोच कर खा जानेकी घात लगाये रहता हो जो चकवा पक्षीके समान सदा स्त्रैण रहता हो एव जो गरुडके समान अभिमानमें चूर रहता हो और गीधके समान सर्वभक्षी हो तथा श्वान (कुत्ते)-की तरह परस्पर गृहयुद्धमें ही लगा रहता हो—ऐसे आसुरी वृत्तिवाले मनुष्यासे हमारी रक्षा करो उन दुष्टोंको पत्थरसे मार डालो।' प्रत्येक मनुष्यको वेदके इन दिव्य उपदेशोका पालन अवश्य करना चाहिये इसीमे सबका कल्याण है।

वेद ज्ञानका अगाध समुद्र है। उसका थाह पाना भला किसके लिये सम्भव हो सकता है? अर्थात् किसीके लिये भी नहीं। इसीलिये वेदका अनन्तता सिद्ध होती है।

वेदोकी रचना किसने की?

(शास्त्रार्थ-पञ्चानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

'वेदोका आविर्भाव कब हुआ?' इस प्रश्नकी भाँति 'वेदोकी रचना किसने की?' यह जिज्ञासा भी पाश्चात्त्य एव पौरस्त्य सभी वेदानुसधाताओंको अनादि-कालसे आकुल किये हुए है। भारतीय दार्शनिक भी वेदोके अनिर्वचनीय माहात्म्यके सम्मुख जहाँ एकमतसे नतमस्तक हैं वहीं उनके कर्तृत्वके विषयम पर्याप्त विवादग्रस्त दिखायी पडते हैं। पाश्चात्त्य वेदज्ञोने तो ईसासे ५ से ६ हजार वर्ष पूर्वकी रचना मानकर उनकी पौरुषेयताका स्पष्ट प्रतिपादन कर दिया है। उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार रामायण, महाभारत रघुवश आदि लौकिक सस्कृत-ग्रन्थ वाल्मीकि, व्यास एव कालिदास आदिक द्वारा प्रणीत हैं, उसी प्रकार वेदाकी काठक, कौथुम तैत्तिरीय आदि शाखाएँ भी कठ आदि ऋषियोंद्वारा रचित हैं। इसलिये पुरुषकर्तृक होनेके कारण वद पौरुषेय एव अनित्य हैं।

कुछ विद्वान् वेदाका पौरुषेय होना दूसरे प्रकारसे सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि वेदामें यत्र-तत्र विशेषकर नाराशसी गाथाओके अन्तर्गत ऐतिहासिक सम्राटों एव व्यक्तियोंके नाम आते हैं। जैसे—

बबर प्रावाहणिरकामयत (तै०सं० ७। १। १०। २)

कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत (तै०स० ७।२।२।२)

—इत्यादि प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि बबर, कुसुरुबिन्द आदि ऐतिहासिक व्यक्तियोंके बाद ही वेदोका निर्माण हुआ होगा। उससे पूर्व वेदोकी सत्ताका प्रश्न ही नहीं होता। इस प्रकार वेदोंमे इतिहास स्वीकार करनेवालाकी दृष्टिमे भी वेद पौरुषेय हैं।

—इस सम्बन्धम एक तीसरी विचारधारा और भी है। इस विचारधाराके विद्वानाका कथन है कि वदामे कई परस्पर असम्बद्ध एव तथ्यहीन वाक्य उपलब्ध होते हैं। उदाहरणके लिये निम्न वाक्य देख जा सकते हैं—

(क) वनस्पतय सत्रमासत।

(ख) सर्पा सत्रमासत।

(ग) गवा मण्डूका ददत शतानि।

—इन वाक्यामे वर्णित जड वनस्पतियोद्वारा एवं चेतन होते हुए भी ज्ञानहीन सर्प, मण्डूक प्रभृति जीवाद्वारा यज्ञानुष्ठान किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इसलिये उक्त वाक्य उन्मत्तके प्रलापकी भाँति जिस-किसीके द्वारा रचे गये हैं। अत वेद नित्य अथवा अपौरुषेय कथमपि नहीं हो सकते।

इस विषयमे भारतीय दर्शनशास्त्राने जो विचार किया, वह बहुत ही क्रमबद्ध और सोपपत्तिक है। उन विश्लेषणोंकी छायामें देखें तो उपर्युक्त तर्क बहुत ही सारहीन एवं तथ्यहीन प्रतीत होते हैं।

पूर्वमीमासामें महर्षि जैमिनिन 'वेदांश्चैके सन्निकर्ष पुरुषाख्या' और 'अनित्यदर्शनाच्च' (जैमिनिसूत्र १। १। २७-२८)—इन दो सूत्रांके अन्तर्गत वेदोंको अनित्य तथा पौरुषेय माननेवालोंके तर्कका उपस्थापन करके फिर एक-एकका युक्तिप्रमाण-पुरस्सर खण्डन किया है। रामायण, महाभारतकी भाँति काठक, तैत्तिरीय आदि वेदशाखाओंको भी मनुष्यकृत माननेवालोके लिये जैमिनि ऋषि कहते हैं कि वेदोंकी जिन शाखाओंके साथ ऋषियोका नाम सम्बद्ध है, वह उन शाखाओके कर्तृत्वके कारण नहीं, अपितु प्रवचनके कारण है—'आख्या प्रवचनात्' (जैमिनिसूत्र १। १। ३०)। प्रवचनका तात्पर्य है कि उन ऋषियोने उन मन्त्र-सहिताओंका उपदेश किया था प्रणयन नहीं। इसलिय मन्त्रोंका साक्षात्कार करनके कारण विश्वामित्र प्रभृतियोंको 'ऋषि' कहा जाता है, मन्त्राका 'निर्माता' नहीं। निरुक्तकार यास्कने भी 'साक्षात् कृतधर्माण ऋषयो बभूवु ॥' 'ऋषिर्दर्शनात्' (निरुक्त १। ६। २० २। ३। १२)—ऐसा कहकर उक्त अर्थकी उपादेयता स्वीकार की है।

वेदोम इतिहास माननवालाक सम्बन्धमें जैमिनिका कहना है कि तैत्तिरीयसहितामें जो बबर, कुसुरुबिन्द आदि नाम उपलब्ध होते हैं, वे सब ऐतिहासिक व्यक्तियोंके ही हों यह आवश्यक नहीं है। यहाँ बबर नामक किसी पुरुषविशेषका वर्णन नहीं है अपितु ब-ब-र ध्वनि करनेवाले प्रवहणशील वायुका ही यहाँ निर्देश है। इसी प्रकार अन्य भी जो शब्द हैं वे सब शब्द-सामान्यमात्र ही समझने चाहिय— पर तु श्रुतिसामान्यम्' (जैमिनिसूत्र १। १। ३१)।

परतु वेदाम 'इतिहासका सर्वथा अभाव है' जैमिनिकी

यह स्थापना यास्क आदि पुरातन वेद-व्याख्याताओके मतसे विरुद्ध है। यास्क वेदोंमें इतिहास स्वीकार करते हैं। 'कुशिकस्य सूनु ' (ऋक्० ३। ३३। ५)-की व्याख्या करते हुए यास्क स्पष्ट कहते हैं—'कुशिको राजा बभूव' (नि०अ० २, ख० २५)। किंतु वेदोंमें इतिहास स्वीकार करते हुए भी यास्क वेदाको पौरुषेय अथवा अनित्य नहीं मानते। उनका अभिप्राय है कि वेदोमे तत्तत् ऐतिहासिक व्यक्तियोंके होनेके कारण वेदोंको उनके बादकी वस्तु नहीं कहा जा सकता। वेदोंका ज्ञान त्रिकालाबाधित है। कर-बदरके समान भूत-भव्य-भविष्य—तीनों कालोके सूक्ष्म वर्णनकी शक्ति है। अत लौकिक दृष्टिसे भविष्यमें होनेवाले व्यक्तियोके वर्णन वेदोंकी नित्यता अथवा अपौरुषेयताके विरुद्ध नहीं है। व्यास-सूत्रोमें वेदव्यासजीने भी यही पक्ष स्थापित किया है कि वेदामें आये ऐतिहासिक पुरावृत्त-सम्बन्धी पदोको भावी अर्थका ज्ञापक समझना चाहिये। 'भूत भव्य भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।' 'वनस्पतय सत्रमासत'—इत्यादि वाक्योंको उन्मत्त-वाक्योंकी भाँति अनर्थक और मनुष्यकर्तृक बतलानेवालाके लिये मीमासाका उत्तर है कि उक्त वाक्य उन्मत्त-प्रलापकी तरह अर्थहीन नहीं हैं, अपितु उनम अर्थवाद होनेके कारण यज्ञकी प्रशसामे तात्पर्य है। वहाँ केवल इतना ही अभीप्सित अर्थ है कि जब जड वनस्पति और अज्ञानी सर्प भी यज्ञ करते हैं तब चेतन ज्ञानवान् ब्राह्मणाको तो यज्ञ करना ही चाहिये।

यज्ञ-प्रशसापरक इन वाक्योको मनुष्यकर्तृक भी नहीं कहा जा सकता, क्योकि यदि ज्योतिष्टोमादि यज्ञाके विधायक वाक्योंको मनुष्यनिर्मित मान भी लिया जाय ता भी 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्यादि वाक्याम ज्योतिष्टाम यज्ञको स्वर्ग-साधन-स्वरूपम जो वर्णित किया है यह विनियोग किसी मनुष्यद्वारा निर्मित नहीं हो सकता। अर्थात् तत्तत् यज्ञोंसे तत्तत् फल होते हैं—यह साध्य-साधन-प्रक्रिया किसी साधारण पुरुषके द्वारा ज्ञात नहीं हो सकती। इसलिये वनस्पत्यादि सत्र-वाक्य भी ज्योतिष्टोमादि-विधायक वाक्याके समान ही हैं—

'कृते वा नियोग स्यात् कर्मण सम्बन्धात् (जैमिनिसूत्र १। १। ३२)। अत ये सभी वेद-वाक्य पुरुषकर्तृक न होनेके कारण अपौरुषेय ही हैं।

उत्तरमीमासामें व्यासजीने भी वेदाको नित्य तथा अपौरुषेय बताया है। वस्तुत है भी यही बात।

वेदोकी शाश्वतवाणी नित्य एव अपौरुषेय है। उसके प्रणयनम साक्षात् परमेश्वर भी कारण नहीं हैं, जहाँ श्रुति 'वाचा विरूप नित्यया' (ऋक्० ८। ७५। ६) कहकर अपनी नित्यताका स्वय उद्घोष करती है, वहीं स्मृतियाँ भी 'अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' कहकर वेदाके नित्यत्वका प्रतिपादन करती हैं। जिस प्रकार साधारण प्राणाको भी श्वास-प्रश्वास-क्रियाम किसी विशेष प्रयत्नका आश्रय नहीं लेना पडता जैसे निद्राके समय भी श्वास-क्रिया स्वाभाविक रूपमे स्वत सम्पन्न होती रहती है उसी प्रकार वेद भी उस महान् भूतके नि श्वासभूत हैं—अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस । (बृहदारण्यकोप० ४। ५। ११)

महाप्रलयके बाद तिराभूत हुए वेदोको क्रान्तदर्शी ऋषि अपने उदात्त तपोबलसे पुन साक्षात्कार करके प्रकट कर देते हैं—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥

पूर्व-पुण्यक द्वारा जब मनुष्य वेद-ग्रहणकी योग्यता प्राप्त करते हैं, तब ऋषियाम प्रविष्ट उस दिव्य वेद-वाणीको वे खोज पाते हैं—

यज्ञेन वाच पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
(ऋक्० १०। ७१। ३)

—इस मन्त्रमें पहलेसे ही विद्यमान वेदवाणाका ऋषियोंमें प्रविष्ट होना तथा उसका मनुष्योंद्वारा पुन ढूँढ पाना वर्णित है। अत वेद नित्य हैं। प्रलयके समय भी उनका विनाश नहीं होता प्रत्युत तिरोधान मात्र होता है।

वेद अपौरुषेय हैं। दृष्टके समान अदृष्ट वस्तुमे भी बुद्धिपूर्वक निर्माण होनेपर ही पौरुषेयता होती है— यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् (सा० सूत्र ५। ५०) परतु महाभूतके नि श्वास-रूप वेद तो अदृष्टवश स्वत आविर्भूत होते हैं उनमें बुद्धिपूर्वकता नहीं होती। अत वेद किसी पुरुषद्वारा रचित कदापि नहीं हो सकते।

मीमासकाने शब्दकी नित्यता बताते हुए नित्य एवं स्वत प्रमाण कहकर उनकी अपौरुषेयता सिद्ध की थी परंतु उनके शब्द-नित्यत्वका नैयायिकाने प्रबल तर्कोंसे खण्डित कर दिया है। नैयायिक शब्दको नित्य नहीं अनित्य मानते

है। तब क्या वेद भी अनित्य हैं? नहीं, वेद तो नित्य ही हैं। नैयायिक कहते हैं कि शब्दकी नित्यताक कारण वेद तो नित्य नहीं हैं अपितु नित्य सर्वज्ञ परमेश्वरद्वारा प्रणीत होनेके कारण नित्य हैं।

आजके वैज्ञानिकोंने न्यायविदोंके शब्दकी अनित्यता-सम्बन्धी तर्कोंको निराधार सिद्ध कर दिखाया है और मीमासकोंके मतको अर्थात् शब्दकी नित्यताको प्रमाणित किया है। आजका भौतिक विज्ञान भी कहता है कि उच्चरित होनेके बाद शब्द नष्ट नहीं होता अपितु वायुमण्डलमे बिखर जाता है। वैज्ञानिक यन्त्रोंके सहारे उसे पुन प्रकट किया जा सकता है। रेडियो, टेलीफोन आदि यन्त्रोने उनके इस कथनको प्रत्यक्ष भी कर दिखाया है।

आजका विज्ञान तो यहाँतक दावा करता है कि भविष्यमे इस प्रकारके यन्त्रोंका आविष्कार हो जानेपर वायुमण्डलम तैरते उन शब्दाको भी पकडना सम्भव हो सकेगा, जिन शब्दोमे भगवान् श्रीकृष्णने आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुनको गीताका उपदेश दिया था। वैज्ञानिकोका विश्वास है कि वे शब्द विनष्ट कदापि नहीं हुए हैं, अपितु वायुमण्डलमें कहीं दूर निकल गये हैं। शान्त जलमें ककड फेंकनेपर जैसे लहरोका क्रम परिधियाँ बनाता चलता है, उसी प्रकार वायुमण्डलमे भी शब्द-लहरियाँ बनती हैं। अभिप्राय यह है कि आजके विज्ञानके अनुसार भी शब्द नित्य होता है। ऐसी स्थितिमे मीमासकाका जो अभिमत है कि नित्य-शब्दाका समुदाय होनेके कारण वेद भी नित्य हैं और नित्य होनेके कारण अपौरुषेय भी हैं। वे विज्ञानमूलक होनेके कारण सुतरा प्रमाण-सगत ही हैं।

उपर्युक्त विवेचनका मथितार्थ यही है कि सभी भारतीय दार्शनिकोने एकमतसे वेदोको स्वत आविर्भूत होनेवाला नित्य-अपौरुषेय पदार्थ माना है। नैयायिक भी नित्य-सर्वज्ञ-पुरुष-परमेश्वरद्वारा प्रणीत होनेके कारण पौरुषेय कहते हैं, किसी साधारण पुरुषद्वारा निर्मित होनेके कारण नहीं। अपन तप-पूत हृदयोंमे क्रान्तदर्शी महर्षियोने अपनी विलक्षण मेधाके बलपर वेदाका दर्शन किया था। उस दिव्य शाश्वत वेदवाणीमें लोकोत्तर निनादका श्रवण किया था। तथ्य यह है कि वेद अपौरुषेय हैं, नित्य हैं भारतीय दर्शना एव वेदानुरागियोंका यही अभिमत और यही शाश्वत सत्य भी है।

वैदिक धर्म-दर्शनका मूल प्रणव (ॐ)

(डॉ० सुश्री आभा रानी)

वेद सम्पूर्ण मानव जातिकी अमूल्य सम्पत्ति है। हमार साहित्यमें वेदका जा स्थान है, वह अन्य किसी ग्रन्थका नहीं है। मनुकी दृष्टिमें वद सनातन चक्षु है। उसमें जा कुछ भी कहा गया है, वही धर्म है। उसके विपरीत आचरण करना अधर्म है। वदक किसी भी मन्त्रक प्रारम्भम 'ॐ' का उच्चारण हाता है। 'ॐ' ब्रह्मका वाचक है। 'ॐ' शब्द ब्रह्मका सर्वश्रेष्ठ रूप है। 'ॐ' का 'अ' कार वैश्वानर है। इसका उपासनासे समस्त लौकिक कामनाएँ पूर्ण होती हैं। 'उ कार तेजस् है इसका अर्थ वैश्वानर है तथा इसकी क्रिया तजमे है अर्थकी पुष्टि क्रियासे होती है। क्रियासे ही अन्नका परिपाक हाता है। क्रियाके विना मन भी निर्बल रह जाता है। तेजस् उत्कर्षको बताता है। तेजम् वैश्वानर और प्रज्ञा दोनासे जुडकर उनका सचालन करता है। जा तेजसकी उपामना करता है उसक सब मित्र हा जाते हैं। उसके वशम काई मूर्ख नहीं होता। तीसरा वर्ण 'म्' है। 'म्' का अर्थ सीमा है। जो 'म् की उपासना करता है वह समस्त वैभवको पा लेता है। अ-उ तथा म्—इनके अतिरिक्त एक चतुर्थ मात्रा है जो अखण्ड और अव्यवहार्य है वही तुरीय स्थिति है।

इस प्रकार 'ॐ' मे हमारे व्यक्तित्वके चारो स्तराका प्रतिनिधित्व हा जाता है। जो 'ॐ' को जानता है, वह अपनेको जान लता है और जो अपनेको जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है। अतएव 'ॐ' का ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। कठोपनिषद्में वर्णित है कि समस्त वद इसी 'ॐ' की व्याख्या करते हैं। समस्त तपस्या इसीकी प्राप्तिक लिये की जाती है और इसीकी इच्छासे ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति
तपा सि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्त पद॰ सग्रहेण ब्रवीम्योमित्यतत्॥

(कठापनिषद् १।२।१५)

वैदिक विचारधारामे प्रभुके सर्वोत्तम नाम 'ॐ' की मान्यता थी। परवर्तीकालमें इससे भिन्न विचारधाराएँ चल पड़ीं। बौद्ध तथा जैन विचारधाराओमें 'ॐ' की प्रतिष्ठा बनी रही। शैव-सम्प्रदायमें 'ॐ नम शिवाय' मन्त्रका प्रचार है, जो वेदके अनुकूल है। शाक्त-सम्प्रदाय भी 'ॐ' का परित्याग नहीं कर सका। शक्तिकी प्रधानता होते हुए भी तान्त्रिक मन्त्रोमें सर्वत्र 'ॐ' का प्रथम उच्चारण विहित है। 'ॐ' यह मूल ध्वनि है। यह ध्वनि अ+उ+म् नामकी तीन ध्वनियामें फैल जाती है। 'अ' आविर्भाव है, 'उ' उठना या उडना है और 'म्' चुप हो जाना या अपनेमें लीन हो जाना है। ऋक्-यजु -सामकी वेदत्रयी इन्हीं तीन मात्राओका उपबृहण है। तीन महाव्याहृतियाँ—भू , भुव और स्व इन्हीं तीन मात्राओसे निकली हैं। सृष्टि, स्थिति और प्रलयका प्रकाशन भी इन्हीं तीन मात्राओसे होता है। सत्, चित्, आनन्दकी तीन सत्ताएँ भी इन्हींसे प्रकट हो जाती हैं।

'ॐ' ब्रह्मका वाचक है, इसमें तीन वर्ण हैं—अ, उ तथा म्—इनके अनन्तर एक चतुर्थ वर्ण भी है, जो अर्धमात्रा-रूप है, इसलिये वह सुनायी नहीं पडता। 'ॐ' कारके ये चार वर्ण ब्रह्मके चारो पादोंके सूचक हैं जैसे—

'अ'-अव्यय पुरुष 'उ'-अक्षर पुरुष, 'म्'-क्षर पुरुष और अर्धमात्रा-परात्पर पुरुष है।

इस प्रकार 'ॐ' ब्रह्मके चारो पादोंके सूचक हैं। इनमें प्रथम 'अ' को ले। 'अ' का ऊष्मा-भाग विकासको बतलाता है, स्पर्श-भाग सकोचको बतलाता है। विकास अग्नि है तथा सकोच सोम। इन दोनोके मिश्रणसे पूरी सृष्टि बनी है। जिस प्रकार अर्थसृष्टि अग्नि और सोमसे बनी है, उसी प्रकार सारी शब्द-सृष्टि भी स्पर्श तथा ऊष्माके सयोगसे बनी है। ऐतरेय आरण्यकमें कहा गया है कि 'अ'- से ही सब शब्द बने हैं—'अकारो वै सर्वा वाक्।' 'अ'की इसी महिमाके कारण गीतामें भगवान्ने स्वयको 'अ' कार बताया है—'अक्षराणामकारोऽस्मि।' 'अ वर्ण असंग है इसलिये इसे अव्यय पुरुषके रूपमें माना गया है। 'उ' में मुखका सकोच होता है। यह ससगासंग है। यह न तो 'अ' की तरह पूरी तरह असग है और न 'म्' की तरह पूरी तरह ससग है। यह अक्षर पुरुषका वाचक है। 'म्' क्षर पुरुष है। इसमें मुखका सर्वथा सकोच हो जाता है। इसके अनन्तर अर्धमात्रा परात्परकी सूचक है। इसमें शास्त्रकी गति नहीं। इस प्रकार 'ॐ' समस्त वेदाका सार है, क्योंकि यह पूर्ण ब्रह्मका वाचक है। समस्त तप और ब्रह्मचर्यका पालन इस 'ॐ' की प्राप्तिके लिये ही किया जाता है।

ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

परब्रह्मके वाचक 'ॐ' की व्याख्या करते हुए शास्त्र कहते हैं—'वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है और पूर्णमेसे पूर्ण निकल जानेके बाद पूर्ण ही शेष रह जाता है।' यहाँ 'वह' परोक्षको बताता है 'यह' प्रत्यक्षको। ईश्वर परोक्ष है, जीव प्रत्यक्ष है। ईश्वरकी पूर्णता तो प्रसिद्ध है, किंतु जीव भी पूर्ण ही है—इसका कारण यह है कि जीव ईश्वरका ही अश है और यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसका अंश जीव भी अपूर्ण नहीं हो सकता। पूर्णसे जो भी उत्पन्न होगा वह पूर्ण ही होगा। अत जीव भी पूर्ण है। पूर्णमसे पूर्ण निकाल लेनेसे पूर्ण ही शेष रहता है। गणितका सिद्धान्त है कि पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर पूर्णमें कोई अपूर्णता नहीं आती। हमारा व्यक्तित्व विश्वका प्रतिबिम्ब है। विश्वमे पृथिवी है, हमम शरीर। विश्वमें चन्द्रमा है, हममें मन। विश्वमें सूर्य है, हममें बुद्धि। विश्वमें परमेष्ठी है, हममें महत्। विश्वमें स्वयम्भू है हममें अव्यक्त। इस प्रकार हममें पूरे विश्वका प्रतिनिधित्व हो रहा है। विश्व पूर्ण है इसलिये हम भी पूर्ण हैं। जैसे ही हमें अपनी पूर्णताका ज्ञान होता है वैसे ही त्रिविध शान्ति सामने आ जाती है क्योंकि अशान्ति अपूर्णतामें होती है, पूर्णतामें नहीं। आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक—इस तीन प्रकारकी शान्तिका सूचक मन्त्र है—ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि 'ॐ' प्रणव वैदिक धर्म-दर्शनका मूल है।

भगवान्‌के साक्षात् वाङ्मय स्वरूप है 'वेद'

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी पिलखुवा)

हमारे भगवान् वेद कोई पुस्तक नहीं हैं, किताब या ग्रन्थ नहीं हैं, बल्कि वे साक्षात् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान्‌के श्रीवाङ्मय-स्वरूप हैं। वेदभगवान्‌की अद्भुत महिमाके सम्बन्धमे जब साक्षात् श्रीब्रह्माजी श्रीविष्णु, भगवान् श्रीशकरजी, भगवान् शेष और शारदा भी कहने-लिखनेमे असमर्थ हैं तब फिर भला मुझ-जैसा तुच्छ व्यक्ति वेदभगवान्‌की अद्भुत महिमाके विषयमें क्या कह सकता है और क्या लिख सकता है?

भगवान् श्रीवेद सनातन धर्मके, मानवमात्रके और भारतके प्राण हैं। यदि भारतके पास वेदभगवान् नहीं हैं तो फिर इस देशकी न कोई कीमत है और न ही कोई मूल्य। भगवान् वेदकी एकमात्र अद्भुत विशेषता यही है कि वेदानुसार चलने और वेदाज्ञा शिरोधार्य करनेके कारण ही भारत आजतक जगद्गुरु माना जाता रहा है तथा वेदोंके कारण ही हिन्दू जाति सर्वश्रेष्ठ जाति मानी जाती रही है। वेदोंके कारण ही सत्य सनातन धर्म सारे विश्वका सच्चा ईश्वरीय धर्म और सिरमौर माना जाता रहा है। जो भी देश अथवा जाति वेदभगवान्‌की आज्ञापर नहीं चले और वेदभगवान्‌की कृपासे वचित रह गये वे देश तथा जाति जगलियाकी श्रेणीमें चले गये और सभ्य होनेसे वचित हो गये तथा वास्तविक उन्नति भी नहीं कर सके। वेदभगवान्‌की ऐसी विलक्षण महिमा है कि उनके समक्ष किसी भी अन्य वेद-विरुद्ध बातको सनातनधर्मी हो अथवा अन्य कोई बड़े-से-बडा नेता या चक्रवर्ती सम्राट् ही क्यों न हो साक्षात् अपने अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परात्पर ब्रह्म भगवान् तककी भी बात माननेके लिये तैयार नहीं हो सकता। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि हम सनातनधर्मियाने भगवान् बुद्धको साक्षात् भगवान्‌का अवतार माना है पर वेद-विरुद्ध बात कहनेके कारण हमने स्वीकार नहीं किया और भगवान् जगद्गुरु श्रीशकराचार्यजी महाराजने भी बुद्ध-भगवान्‌की बातको स्वीकार नहीं किया। जगद्गुरु श्रीशकराचार्यजी महाराजने विरोधी बौद्धोंसे शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त किया तथा सनातन वैदिक धर्मकी पताका चढ़ गर्वसे फहरायी। साक्षात् भगवान् बुद्धकी भी बात जब वेदोंके सामने नहीं मानी जा सकती तो इससे बढकर वेदभगवान्‌की अद्भुत महिमाका प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या होगा? बादमें जो भी जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य, जगद्गुरु श्रीशकराचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीमाधवाचार्य श्रीनिम्बार्काचार्य आदि पूज्य आचार्यचरण हुए हैं, सभी वेदाके सामने नतमस्तक हुए हैं और वेदाको सभीने माना है। किसी भी धर्माचार्य सत-महात्माने बौद्धमतकी बातको स्वीकार नहीं किया और एक स्वरसे वेदभगवान्‌की आज्ञाको ही सर्वोपरि माना है। वेदभगवान् ही हमारे लिये सब कुछ हैं।

वेदभगवान् साक्षात् परात्पर ब्रह्म हैं। इनके समान न कोई हुआ है और न होगा—'न भूतो न भविष्यति' यह एक अकाट्य सत्य सिद्धान्त है। ३३ करोड देवी-देवता वेदभगवान्‌के सामने नतमस्तक होते है और साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भी वेदाज्ञाका पालन करते हैं। वे सनातन वैदिक धर्मकी रक्षाके लिये ही तो अपना अवतार ग्रहण करते हैं तथा वैदिक सत्कर्तव्योंका पालन कर इसे महिमामण्डित करते हैं। वदभगवान्‌का अवतार भी होता है।

जिस प्रकार भगवान् निराकार हैं और वे समय-समयपर भगवान् श्रीराम कृष्णके रूपमे अवतार लेते हैं, जिस प्रकार श्रीगङ्गा जलके रूपमे हैं पर समय-समयपर अपने भक्तोको चतुर्भुजी-रूपमे दर्शन देती हैं। इसी प्रकार परब्रह्म भगवान् श्रीरामके राज्याभिषेकके समय भगवान् वेदने देवताओंके रूपमे प्रकट होकर उनकी स्तुति की थी। वेदभगवान्‌ने साकाररूपमे श्रीकृष्णावतारके समयमें भी अवतरित होकर उनकी स्तुति की थी। वेदभगवान्‌का अवतार श्रीवाल्मीकिरामायणके रूपमे हुआ था। वेदोंके वास्तविक अर्थों एवं रहस्योंको सनातनधर्मियोंके अतिरिक्त आजतक सारे विश्वका कोई भी व्यक्ति समझ ही नहीं सका है और न समझ सकेगा। वेदभगवान् पूर्ण हैं। इसीलिये वे साक्षात् धर्मप्राण दिव्य दश भारतमें और देववाणी सस्कृतमें विराजमान रहकर जगत्‌का परम कल्याण किया करते हैं। हम भारतवासी सनातनधर्मी हिन्दू परम सौभाग्यशाली हैं कि हमे वेदभगवान् मिले हैं जिनकी छत्रच्छायामे रहकर हम

अपना परम कल्याण किया करते हैं। वेदभगवान्‌की कृपा और वेदोंके दिव्य प्रकाशके कारण ही सारा विश्व भारतको जगद्गुरु मानकर, भारतके सामने नतमस्तक हुआ करता है और घोर विपत्ति पडनेपर भारतसे प्रकाश प्राप्त करता है।

वेदभगवान्‌के बिना विश्वका कल्याण कभी भी नहीं हो सकता और वेदोंसे बढकर सारे विश्वमे कल्याणका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। यह हम नहीं कह रहे हैं बल्कि इसे तो २५ सौ वर्ष पूर्व अरबी भाषी कवि लाबीने ही कह दिया था। लखनऊके एक पत्र 'आर्यमित्र'में अक्टूबर १९६८ में उनकी वह कविता छपी थी, जिसमें वेदोंकी अद्भुत महिमाका वर्णन इस प्रकार है—

मूल अरबी कविता *

अया मुबारकल जर्जे योशेय्ये नुहामिनल्।
हिन्दे फाराद कल्ला हो मैय्यो नज्जेला जिक्रतुन॥ १॥
वहल नजल्ले यतुन् एनाने सहबी अखातुन्।
हाजे ही युनज्जेलर स्लोजिफतार मिनल हिन्दुतुन्॥ २॥
यक्लून ल्लाहया अहलल् अर्जे आलमीन कुल्लहुम्।
फत्त निऊ जिक्र वुल वेदहक्कन् मालम् युनज्जे लहुन॥ ३॥
वदो वालम् नुस्स साभवल युजर मिन ल्लहेतन जीलन्।
फ़ ऐनमा अखैयो मुत्तने अस्यो वशेरपों न जातुन्॥ ४॥
व अस् नैने हुआ ऋक न अतर वा सदीनक अखूवतुन्।
न अस्नात अला अदन व होन मश आतुन्॥ ५॥

१-हे हिन्दुस्तानकी धन्य भूमि! तू आदर करने योग्य है, क्योंकि तुझमे ही ईश्वरने सत्य-ज्ञानका प्रकाश किया।

२-ईश्वरीय ज्ञानरूपी ये चारों वेद हमारी मानसिक नेत्रोकी किस आकर्षक और शीतल उषाकी ज्योतिको देते हैं। परमेश्वरने पैगम्बरा अर्थात् ऋषियोंके रूपोमे इन चारों वेदोका प्रकाश किया।

३-पृथ्वीपर रहनेवाली सब जातियोंको ईश्वर उपदेश करता है कि मैंने वेदोंमे जिस ज्ञानको प्रकाशित किया है, उसे तुम अपने जीवनमें क्रियान्वित करो। उसके अनुसार आचरण करो! निश्चयरूपसे परमेश्वरने ही वेदोंका ज्ञान दिया है।

४-साम् और यजु वे खजाने (कोष) हैं, जिन्हें परमेश्वरने दिया है। हे मेरे भाइयो! तुम इनका आदर करो क्योंकि वे हमें मुक्तिका शुभ समाचार देते हैं।

५-चारो वेदोंमें ऋक् और अतर (अथर्व०) हमें विश्व-भ्रातृत्वका पाठ पढाते हैं। ये दो ज्योति-स्तम्भ हैं जो हमें उस लक्ष्य—विश्वभ्रातृत्वकी ओर अपना मुँह मोडनेकी चेतावनी देते हैं। [प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

वेदोका स्वरूप और पारमार्थिक महत्त्व

(प्रो० डॉ० श्रीश्याम शर्माजी वाशिष्ठ)

'वेद' शब्द ज्ञानार्थक 'विद' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय होकर बना है। अत वेदका सामान्य अर्थ है ज्ञान। इस ज्ञानमे ज्ञानका विषय ज्ञानका महत्त्व तथा ज्ञेय आदि सभी कुछ समवेत-रूपमें समाहित हैं। ज्ञानके अतिरिक्त 'विद' धातु सत्ता-अर्थमे लाभ-अर्थमे तथा विचारणा आदि अर्थोमे भी प्रयुक्त होता है। अतएव वेदका अर्थ अत्यन्त व्यापक हो जाता है। इस व्यापक अर्थको लक्ष्यमे रखकर ही वेदकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेद ।' अर्थात् धर्मादिपुरुषार्थ जिसमे हैं, जिससे ज्ञात होते हैं तथा जिससे प्राप्त होते हैं वे 'वेद' हैं।

भारतीयोंके लिये वेद चरम सत्य हैं। यह सामान्य ज्ञान या विद्यामात्र ही नहीं अपितु लौकिक-अलौकिक समस्त ज्ञानस्वरूप या ज्ञानका बोधक है। अतएव कहा गया है—'सर्वज्ञानमयो हि स (मनु० २।७)। बादमें यही वेद शब्द ज्ञानके संग्रहभूत ग्रन्थके लिये भी प्रयुक्त होने लगा जिसे भारतीय आस्थाका प्रतीक माना जाता है।

वेदका प्रादुर्भाव

वेदके प्रादुर्भावके सम्बन्धमे अनेक मत हैं। पाश्चात्य एव पाश्चात्य-दृष्टिकोणसे प्रभावित लोग विभिन्न आधारोंपर वेदोका समय निर्धारित करते हैं, जबकि भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओंमें आस्था रखनेवाले लोग वेदोंको अपौरुषेय

* मूल अरबी कविता आबुके विद्वान् कवि लाबीने लिखी थी। यह कविता [illegible] संगृहीत सिहल उकुल नामक पुस्तकके पृष्ठ ११८ पर अंकित है।

तथा सनातन मानते हैं। इनम भी कुछ वेदाको स्वत आविर्भूत एव अपौरुषेय मानते हैं, कुछ ईश्वररूप मानते हैं, कुछ ईश्वरके अनुग्रहसे महर्षियाको प्राप्त (अर्थात् सर्वप्रथम प्रजापति ब्रह्माको या अग्नि, वायु तथा सूर्यको प्राप्त) हुआ—ऐसा मानते हैं। सम्प्रति, आस्थावादी समस्त भारतीय यही मानते हैं कि वेदका प्रादुर्भाव ईश्वरीय ज्ञानके रूपमे हुआ है। अतएव वेद अपौरुषेय, नित्य तथा सनातन हैं। जिस प्रकार ईश्वर अनादि-अनन्त तथा अविनश्वर है वैसे ही वेद भी अनादि-अनन्त तथा अविनश्वर हैं। स्वय वेदमं इसे ईश्वरकृत बताते हुए लिखा गया है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(ऋक्० १०। ९०। ९)

अर्थात् उस सर्वहुत यज्ञ (-रूप परमात्मा)-से ऋग्वेदके मन्त्र तथा सामगान बने, अथर्ववेदके मन्त्र उसीसे उत्पन्न हुए और उसीसे यजुर्वेदके मन्त्र भी उत्पन्न हुए। उपनिषद्ने कहा है कि सृष्टिके आदिमें परमात्माने ही ब्रह्माको प्रकट किया तथा उन्हे समस्त वेदोंका ज्ञान प्राप्त कराया—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्वतर० ६। १८)

बृहदारण्यकोपनिषद्में भी वेदोंको परमात्माका नि श्वास कहा गया है—

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस। (बृ० उ० २। ४। १०)

वेदको ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें ही साक्षात्कृतधर्मा ऋषि-महर्षियोंने अपने अन्तश्चक्षुओंसे प्रत्यक्ष दर्शन किया और तदनन्तर उसे प्रकट किया। इसी कारण महर्षि यास्कने ऋषियोको मन्त्रद्रष्टा कहा है—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार।'

सामान्य लोग जिस वैखरी वाक्का वेदके रूपमें जानते हैं और अनुशीलन करते हैं वे वैदिक सूक्तोंके द्रष्टा ऋषि-महर्षियोको ही वेदोका कर्ता मानते हैं। इसीलिये कहा गया है—'इमे सर्वे वेदा निर्मिता सकल्पा सरहस्या।' जबकि इन ऋषियाने वेदाको प्राप्त किया है, यही इनका ऋषित्व है—तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्‌ तद् ऋषीणामृषित्वम्॥ (निरुक्त २। ३। ११)

तपस्वी ऋषियोके हृदयमें जो ज्ञान प्रकट हुआ, उसे ही उन्होने वैखरी वाक्के रूपमें पढाया एव प्रचार किया—

यो वै ज्ञातोऽनूचान स ऋषि॥

(श० प० ब्रा० ४। ३। ९)

महर्षि यास्कने इसी तथ्यको प्रकट करते हुए लिखा है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु। ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु। (निरुक्त १। ६। २०)

वेद-सख्या

ऋषियोने वेदका मनन किया, अत वे 'मन्त्र' कहलाये छन्दोंमें आच्छादित होनेसे 'छन्द' कहलाये ('मन्त्रा मननात्', 'छन्दांसि छादनात्।')। वह ज्ञान मूलत एक था, किंतु शाखाओके भेदसे विभिन्न सहिताओम सगृहीत हुआ—'वेदं तावदेकं सत अतिमहत्त्वात् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषु।' (निरुक्त)

यद्यपि 'वेदास्त्रयस्त्रयी' तथा 'चत्वारो वेदा' दोनों मान्यताएँ प्रचलित हैं। अत कुछ तीन वेद तो कुछ चार मानते हैं। वस्तुत रचनाभेद अर्थात् गद्य-पद्य एव गान-रूपके कारण तीन वेद माने गये हैं। अर्थवश पाद-व्यवस्थित छन्दोबद्ध मन्त्र ऋक् कहलाये—'तेषामृक् यत्रार्थवशेषपादव्यवस्था।' (जै० सू०) ऋचाएँ साम कहलायीं 'गीतिषु सामाख्या।' (जै० सू०), गद्य-प्रधान होनेसे यजुष् कहलाये 'गद्यात्मको यजु।' अत यजुर्वेदमे जो भी छन्दोबद्ध मन्त्र हैं, वे ऋक् ही कहलाते हैं और अथर्वका गद्य-भाग यजु कहलायेगा।

किंतु यज्ञके कार्य-सम्पादनमे चार विशिष्ट वेद-मन्त्रज्ञ ऋत्विक् होते हैं—होता, अध्वर्यु और उद्गाता तथा ब्रह्मा। वेद भी चार होते हैं। माना जाता है कि वेदके ये विभाग वेदव्यासने किये ('वेदान् विव्यास वेदव्यास')।

वेद भारतीयाके लिये परम पवित्र पारमार्थिक ग्रन्थ हैं, किंतु ये गहन एवं गूढ हैं। वेद-ज्ञानके द्रष्टा ऋषि महर्षियोको इनका तात्त्विक ज्ञान था परतु कालक्रमसे ये जब और भी कठिन तथा पहुँचके बाहर होते गये तो उनके व्याख्याग्रन्थ रचे गये। कुछ लोग मन्त्रभागको ही वेद मानते हैं तथा वेदोंके सर्वप्रथम रचे गये व्याख्याग्रन्थ-ब्राह्मणाको पृथक् ग्रन्थ मानते हैं, जबकि विस्तृत अर्थमं मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद कहे जाते हैं। अत कहा भी है—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।' धीरे-धीरे ये भी दुरूह होते गये, बादमे आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग आदि भी व्याख्याक्रमसे अस्तित्वमें आये। अतएव आचार्य यास्कने लिखा—'उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इम ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेद च वेदाङ्गानि च॥' यही नहीं परवर्ती कालमे इतिहास-पुराण भी इनके रहस्योद्घाटनके क्रमम रचे गये। इसीलिये माना जाता है कि इतिहास-पुराणोके अनुशीलनद्वारा ही सम्प्रति वेदोंका वास्तविक ज्ञान सम्भव है अन्यथा वेद स्वय डरते हैं कि कहीं अल्पश्रुत व्यक्ति (अर्थात् भारतीय साहित्य-परम्परासे अनभिज्ञ व्यक्ति) हमपर प्रहार (अनर्थ) न कर दे—

इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेद मामयं प्रहरिष्यति॥

तात्पर्य यही है कि जो लोग भारतीय साहित्य और परम्पराओसे अनभिज्ञ हैं या आस्था नहीं रखत, वे वेदोके साथ न्याय नहीं कर सकते।

वस्तुत वेद अज्ञात-पुराकालकी ऐसी सारस्वत रचना है जो भारतीयोंके आस्तिक-नास्तिक धर्मदर्शन तन्त्र-पुराण शैव-शाक्त एव वैष्णव यहाँतक कि बौद्ध एव जैन-मान्यताओ एव प्रेरणाआका भी स्रोत रहा है। वेद-रूपा विग्रहवती पय स्विनी सरस्वतीके ज्ञानामृतमय पयोधराका पान करके ही परवर्ती युगोंमे निरन्तर भारतवर्षकी सततियाँ निरपक्षभावसे अपनी ज्ञान-ऊर्जा एव मनीषाका समृद्ध करती रही हैं।

पाश्चात्त्य विद्वानोने भी नि सदेह वेदानुशीलनमे पर्याप्त रुचि ली है और उन्हाने एकमतस वेदाके महत्त्वका स्वीकार किया है। किंतु यूरोपीय भौतिकवादी व्याख्या-पद्धतिस उनकी शाब्दिक विसगतियाँ स्वच्छन्द कल्पनाएँ तथा पूर्वाग्रहासे विजडित बौद्धिक नि सारता ही प्रमाणित हुई है वैदिक सत्य वाह्य आवरणसे आवृत ही रहा है। विश्वभरके विद्वान् अपने-अपने प्रयासोंसे प्राप्त तथाकथित सत्यपर भले ही मुग्ध रहे हों पर आधारभूत पारमार्थिक सत्य उनकी पहुँचस बहुत दूर ही रहा है—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।' क्योंकि उस सत्यधर्मको अधिगत करनके लिय भारतीय परम्परागत पद्धतिसे अनुशीलन करना ही मुतरा आवश्यक है।

वेद भारतीयाका आस्थाके आधार, जावनके सर्वस्व तथा परम पवित्र और परम सम्मान्य हैं। मनुमहाराजने इन्हे देव, पितृ एव मनुष्याका सनातन चक्षु कहा है—'देवपितृमनुष्याणा वेदश्चक्षु सनातन।' मनुके अनुसार इनकी उपयोगिता त्रैकालिक है—'भूत भव्य भविष्य च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।'

वेदाका भारतमें जैसा शीर्ष—सम्मान्य स्थान है, विश्वक किसी भी देशम किसी भी ग्रन्थको वैसा नहीं है। वेद भारतवर्षकी अमूल्य सम्पत्ति हैं। भारतके विद्वानों एव ऋषि-महर्षियोने सहस्रा वर्षोसे बडी निष्ठा एव साधनाके साथ इन्ह कण्ठस्थ-परम्पराद्वारा पूर्ण शुद्ध रूपम सुरक्षित रखा है। वेदाके स्वर मात्रा एव ध्वनि तकम लेशमात्र अन्तर न पड जाय इसी भावनासे गुरुपरम्परा एव कुलक्रमसे पीढी-दर-पीढी पदपाठ, जटापाठ घनपाठ आदिके क्रममें लोगामे विलोम-रीतिसे बिन्दुसे विसर्ग तककी शुद्धिको सुरक्षित रखत हुए सम्पूर्ण भारतम वेदाका अनुशीलन होता रहा है। यहाँतक कि व्याकरण ज्योतिष आदि भी वेदज्ञानके लिये अपरिहार्य मानकर पढे-लिखे जाते रह हैं। फिर भी कालक्रमसे वेद दुर्गम तथा दुरूह होत गये, जिसके परिणाम-स्वरूप इनका सूक्ष्म पारमार्थिक गुह्य विषय अज्ञेय होता गया। सौभाग्यस फिर भी नि स्पृह भारतीय विद्वान् निरन्तर ही वैदिक अनुसंधान एव सत्यानुशीलनमें लगे रहे हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थाके व्याख्याक्रममे आशिक सत्यान्वेषण हानेके कारण ही कर्मकाण्डोन्मुखताका चरम विकास हुआ। इसी कालखण्डम वेदार्थको जाननेका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयास महर्षि यास्कने किया किंतु यह प्रयास भी शब्दाकी सगति एव अर्थका समझनकी सीमातक सीमित था। इन्हान यथाप्रसग ऋचाआ एवं शब्दाके सामान्य अर्थके साथ-साथ अनकत्र आध्यात्मिक अर्थके उद्घाटनका भी बहुमूल्य प्रयास किया है। इनक भी बहुत बाद आचार्य सायण और माधवन वेदभाष्यक रूपमें वेदार्थको समझनेकी बहुमूल्य कुजी दी किंतु उन्होंने जहाँ-तहाँ वेदब्रह्मके आध्यात्मिक तत्त्वक उद्घाटनक सार्थक प्रयास करनेपर भी मुख्यत समग्र रूपमें देववादको ही स्थापना की है। फलत परवर्ती कालम वेदके तात्त्विक ज्ञानका समन्वय और भी दुरूहतर होता गया।

पारमार्थिक स्वरूप

भारतीय मान्यताके अनुसार वेद ब्रह्मविद्याके ग्रन्थमात्र नहीं स्वय ब्रह्म हैं, शब्द-ब्रह्म है। ब्रह्मानुभूतिके विना वेद-ब्रह्मका ज्ञान सम्भव ही नहीं है। कहा भी है कि वेद-ब्रह्मके साक्षात्कर्ता ही वेदकी स्तुति (व्याख्या)-के अधिकारी होते हैं—'अथापि प्रत्यक्षकृता स्तोतारो भवन्ति' (निरुक्त ७। १। २)। जो ऋषि नहीं हैं उनका वेदमन्त्र प्रत्यक्ष (स्पष्ट) नहीं होते है—'न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्' (बृ० देवता ८। १२६)। स्वय ऋग्वेदमें उल्लेख है कि ब्रह्मज्ञानी ही ऋचाओंके अर्थको साक्षात् कर सकता है, अन्यथा ऋचाआसे उसे कोई लाभ नहीं है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥
(ऋक्० १। १६४। ३९)

अर्थात् ऋचाओका प्रतिपाद्य अक्षर और परम व्योम है, जिसमे सारे देवता समाये हुए हैं। जो उसे नहीं जानता, वह ऋक्से क्या करेगा। जो उसे जान लेता है, वह उसमें समाहित हो जाता है। तात्पर्य है कि जिन्ह तप पूत आर्ष-दृष्टि प्राप्त है वे ही वेद-ब्रह्मके सत्यका दर्शन कर सकते हैं और वे ही वैदिक प्रतीकों, सकेतोको समझ सकते हैं तथा वैदिक अलकृत-शैली एवं अर्थगुम्फित वैदिक भाषाके रहस्य-गर्भित सत्यका दर्शन कर सकते हैं।

वैदिक ज्ञान-विज्ञानका स्वरूप—सामान्यत जिस विद्यासे परमात्माकी व्यापकताको देखा या जाना जाता है, वह ज्ञान है और जिससे उस एकके प्रपञ्चात्मक विस्तारका ज्ञान होता है, वह विज्ञान है। दूसरे शब्दोम अनेक रूपोमे व्याप्त एक-तत्वका जानना ज्ञान है तो एक-तत्त्वकी बहुविध व्यापकताको समझना विज्ञान है। वेदोंम ब्रह्मतत्त्व ज्ञान है और यज्ञ-प्रक्रिया विज्ञान है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म अमृतमय तथा आनन्दमय है, जबकि विनानका तात्पर्य है सृष्टिके लिये कल्याणकारी होना।

वैदिक यज्ञ एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसम सजातीय और विजातीय पदार्थोंके मिश्रणसे नये पदार्थकी उत्पत्ति होती है। यज्ञमें अधिभूत अधिदैव और अध्यात्मका समन्वय आवश्यक है। प्रकृति ब्रह्मका व्यक्त रूप है। यज्ञसे प्रकृतिकी प्रतिकूलता भी अनुकूल हो जाती है। यज्ञ जीवनका अभिन्न अङ्ग है। यज्ञके अनेक रूप हैं। पञ्चतत्त्वोका मिश्रण भी यज्ञ है। भौतिक दृष्टिसे यज्ञ-प्रक्रिया पूर्णत वैज्ञानिक है। यज्ञ वेदका केन्द्रिय विषय है। अग्नि-विद्या अर्थात् शक्तितत्त्व संवत्सर-विद्या अर्थात् कालतत्त्व—इन दोनोंका सयुक्त रूप ही यज्ञ-विद्या है। वेद-विद्यामें यज्ञ-विद्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। विश्व-रचना तथा पुरुषकी अध्यात्म-रचनाको जाननेके लिये यह आवश्यक है।

वेदमे भूत-विज्ञान एव दृष्टि-विज्ञानका ही विस्तार है। वेद-विद्या ही सृष्टि-विद्या है। वेद-विद्याके अनुसार विश्वके दो मूल तत्त्व हैं—देवतत्त्व और भूततत्त्व। एक सूक्ष्म है, दूसरा दृश्य। सूक्ष्म देवतत्त्व ही शक्तितत्त्व है। प्रजापति ही वह मूल शक्तितत्त्व है। यही अनिरुक्त-निरुक्त, अमूर्त-मूर्त ऊर्ध्व-अध आदि रूपोंसे सृष्टिमे परिव्याप्त है। इसीलिये प्रजापतिको अजायमान' तथा '**बहुधा वि जायते**' के रूपमें कहा गया है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते। तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ (यजु० ३१। १९)

अर्थात् प्रजापालक परमात्मा सब पदार्थोंके अदर विचरता रहता है वह अजन्मा होकर भी अनेक प्रकारसे (वेदादिरूपोम) प्रकट होता है, उसके मूलस्वरूपको ज्ञानीजन देखते हैं उसीसे सभी भुवन व्याप्त हैं।

सृष्टि-विद्यामे भूततत्त्व ही क्षरतत्त्व है। क्षरसे ही अक्षर जन्म लेता है— तत क्षरत्यक्षरम्।' अर्थात् क्षरके अदर ही अक्षर निवास भी करता है। कहा है— क्षर. सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।' यह क्षर-अक्षर ही सृष्टि है। क्षर भूततत्त्व है तो अक्षर प्राणतत्त्व है, इसे ही अग्नि आदि कहा जाता है। सृष्टिमें त्रिकका अर्थात् त्रिगुण त्रिलोक, त्रिदेव त्रिमात्रा छन्दत्रय, त्रिलिङ्ग एवं त्रिकाल आदिका सविशेष महत्त्व है। मन प्राण एवं पञ्चभूत भी त्रिकके रूपमें आत्मतत्त्व या जीवनतत्त्व है। कहा गया है— वाङ्मय प्राणमयो मनोमय एष आत्मा।' विराट् ब्रह्माण्ड भी इस त्रिक-प्रपञ्चका विस्तार है।

विराट् और अणु अर्थात् 'अणोरणीयान्' और 'महतो

महीयान्'—इन दोनोका मूल अक्षर-तत्त्व है। वेद-विद्याम सृष्टि-विद्याके रूपम इसीका विवेचन है। अक्षर-ब्रह्म अयौगिक है और यज्ञ यौगिक। अयौगिक तत्त्व ही सृष्टिका आधार है। अयौगिक ब्रह्म ही सृष्टिमे अनेक रूपांमे व्यक्त है। यही सहस्रात्मा अनन्त है। वैदिक ज्ञान-विज्ञानक रूपम व्याख्यायित इस गुह्य वेद-विद्या तथा वेद-ब्रह्मकी अनुभूति एव अभिज्ञानके लिये आर्य-पद्धतिका अनुसरण अपरिहार्य है। आर्ष-पद्धतिके अनुरूप मानसिकतासे ही अर्थगूढ आलकारिक शैली एव प्रतीकों तथा साकेतिक मिथकोके रहस्योद्घाटन होनेपर वेदके गुह्य अर्थकी सगति बैठती है और वेद-ब्रह्म तथा वेद-विद्याके सत्यदर्शनसे आधुनिक भौतिकवादसे कुण्ठित तथा पाश्चात्त्य भोगवादी सस्कृतिसे आक्रान्त लोगोंके विरोध-अन्तर्विरोध, आरोप-प्रत्यारोप एव आक्षेपोका स्वत समाधान हो जाता है। जैसे—वदमें पशु, रश्मि एव प्रकाशवाचक 'गो' शब्दका बहुश प्रयोग हुआ है किंतु इसका अर्थ आत्मज्योति करनेपर ही सर्वत्र सगति बैठनेके साथ अर्थकी गरिमा भी प्राप्त होती है। 'अश्व' का अर्थ आत्मशक्ति करनेपर गोमेध और अश्वमेधको लेकर किये जानेवाले कुतर्क स्वत शान्त हो जाते हैं।

वेद-प्रयुक्त इन्द्र-अग्नि आदिका परमात्मशक्ति, वृत्रका मलिनतासे आवृत करनवाला अर्णव शब्दका तेज पुज क्षीरसागरका अमृतमय अनन्तसत्ता आदि अर्थ करनेपर वेदके गुह्यार्थका अनुभूति होती है। इसी प्रकार 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्.......' तथा 'अग्निमीळे पुरोहितं.......'—आदि मन्त्रांका लौकिक-शाब्दिक ही नहीं आध्यात्मिक अर्थ करनेपर वैदिक ऊर्जा एव वेद-ब्रह्मकी अनुभूति होती है और वेदार्थको आध्यात्मिक आयाम मिलता है तथा 'चत्वारि शृगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य.......' एवं 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते.......' आदि मन्त्रांके आध्यात्मिक अर्थ करनेसे ही इनके सम्बन्धमें कुतर्क करनेवाले स्वत निरुत्तर हो जाते हैं।

निष्कर्षत वेदामे लौकिक जीवनोपयोगी विविध सामग्री प्राप्त होनेपर भी वेद मानव-जातिकी सास्कृतिक धरोहर हैं और सनातन ज्ञानगर्भित आध्यात्मिक सुमेरु हैं। अत इनके अनुशीलनसे प्राप्त ज्ञान-विज्ञान-सम्मत तत्त्वज्ञानसे ही मानव-जातिका अमृतत्व और दिव्यत्व प्राप्त हो सकता है तथा विश्वभरका सुतरा कल्याण हो सकता है। यही इनका पारमार्थिक महत्त्व है।

वेद-महिमा

(महाकवि डॉ० श्रीयोगेश्वरप्रसादजी सिंह 'योगेश')

वेद मूल है सब धर्मोका अखिल विश्वकी थाती,
इसके पृष्ठोपर सस्कृतिकी गरिमा है लहराती।
पहला महाकाव्य संस्कृतका, धरतीपर प्राचीन,
शब्द-शब्दमें भाव भरे हैं, अनुपम और नवीन,
ज्ञान-किरण अक्षर-अक्षरमें, मोहक ली फैलाती॥ १॥

सृष्टि-चक्रके साथ वेदका है अटूट सम्बन्ध,
काट रहा युग-युगसे भवरोगोका दारुण बन्ध,
वेद मन्त्र पढ़ बार-बार रसना है नहीं अघाती॥ २॥
जिसने इसको जान लिया, फिर उसको क्या है शेष?
वेद बनाता है इस धरतीका पावन परिवेश,
भारत क्या, यह सारी दुनिया, इसको शीश झुकाती॥ ३॥
अपौरुषेय रही जो रचना गरिमासे भरपूर।
मानवताके पथकी बाधाओको करती दूर
जहाँ विद्वत्ता, ज्ञान-दक्षता सुखसे आदर पाती॥ ४॥

वेद वृक्षकी शाखाएँ हैं ब्राह्मण औ आरण्यक,
उपनिषद जिसके मन्त्रोकी व्याख्या करती सम्यक्
ज्ञान-दीपकी जलती रहती जहाँ हमेशा बाती॥ ५॥
अमर ख्याति फैलानवाला है यह वेद महान्
ऋषि-मुनि, देव और भूपाका शिक्षाप्रद आख्यान
नारीका सम्मान जहाँ ऋषिकाएँ खूब बढ़ाती॥ ६॥
वन्दनीय यह वेद, ज्ञेय है जन-जनका यह धन है
मुझको लगता मानो वसुधाका ही यह दर्पन है
मौन आज विज्ञान वदकी महिमा कही न जाती॥ ७॥

'निगमकल्पतरोर्गलित फलम्'

[वेदार्थकी सरस अभिव्यक्ति—श्रीमद्भागवत]

(डॉ० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र विनय)

वेद समग्र आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ज्ञानकी निधि हैं। भारतीय परम्परामें वेदोके मथितार्थ-रूपमे निर्भ्रान्त-रूपसे 'ब्रह्म' या 'परमात्मतत्त्व' की ही अभिस्वीकृति, श्रुति-स्मृति-उभय प्रमाणासे सिद्ध है।

'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति'[१] अथवा 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य'[२]—प्रभृति वचनोंके प्रकाशम इस सिद्धान्तमे तनिक भी विप्रपत्ति माननेवाला 'परम्परा-बाह्य' अथवा 'वेद-बाह्य' होनेसे सर्वथा उपक्षा-योग्य है, किंतु वेदक इस मथितार्थ-तक पहुँचनेके लिये 'सोपानक्रम'स अनेक प्रणालियाँ तथा सम्प्रदायादिके भेद, परम्पराका भी मान्य रहे हैं। इतिहास-पुराणोंकी पद्धति उन्हींमसे एक तथा अन्यतम पद्धति रही है। महाभारतके अनुसार 'इतिहास और पुराण वेदार्थके ही उपबृहण हैं।[३] जो इन्ह सम्यक् रूपसे नहीं जानता वह (अन्य क्षेत्रोंमें 'बहुश्रुत' हानेपर भी) 'अल्पश्रुत अर्थात् सीमित ज्ञानवाला माना जाता है और स्वयं वेद उससे शकित या भीत रहते हैं कि यह अज्ञ कहीं हमपर प्रहार न कर दे—हमारे मूल अर्थको ही तिरोहित न कर दे।'

या तो समग्र पुराण तथा महाभारत भी वस्तुत वेदार्थ निरूपण-परक ही हैं[४], किंतु पुराणमुकुटमणि श्रीमद्भागवत तो निगमकल्पतरुका पूर्ण परिणत रसरूप फल ही है[५]। दूसरे शब्दामे यह समस्त वेदार्थका 'रसप्रस्थान' है। सृष्टिके आदि (ब्राह्मकल्प)-मे अपने नाभिकमलपर किंकर्तव्यविमूढताको स्थितिम खिन्न आदिकवि ब्रह्माको जिस तत्त्वरूप-ब्रह्म (वेद)-का हृदयकी भावात्मक एकतानताके द्वारा परमपुरुष नारायणने उपदेश दिया था[६], श्रीमद्भागवत—श्रीवदव्यासक माध्यमसे प्रवन्धरूपताको प्राप्त उसी वेदार्थकी पुनरभिव्यक्ति है। इसके वक्ता व्यासनन्दन श्रीशुकदेव इसे 'ब्रह्मसम्मित (वेदतुल्य) पुराण' की समाख्यासे मण्डित करते हैं—

इदं भागवत नाम पुराण ब्रह्मसम्मितम्।

(श्रीमद्भा० २।१।८)

वेदसार 'गायत्री' के भाष्यरूपमें[७] प्रसिद्ध यह महापुराण स्वयको सम्पूर्ण वेदों और इतिहासाका 'सार-सर्वस्व'[८], 'सर्ववेदान्तसार'[९] तथा 'सात्वतीश्रुति'[१०] के अभिधानोसे मण्डित करता है। इसके अनुसार सारे वेदोंके निसृष्टार्थ भगवान् वासुदेव ही हैं[११], हृदयेश्वर प्रभुके जन्म-कर्मादि-लीलाचरित्र वेदोंमें गुप्तरूपसे विराजमान हैं[१२]। श्रीमद्भागवतमें पदे-पदे वेदो ब्राह्मणों, आरण्यक और उपनिषदोंके मन्त्रोंका यथावसर अनुवाद व्याख्यान एव तत्त्वनिरूपण प्राप्त होता है। वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादिका तात्त्विक विवेचन वेदोके प्राकट्य, शाखाविभाग तथा प्रवचन-परम्परा आदिके साथ इसमें वेदाङ्गोके सूक्ष्मतत्त्वोका सनिवश वेदविषयक अनेक अनुसन्धेय तथ्या और रहस्योंका सकेत देता है। दशमस्कन्धके सत्तासीवें अध्यायकी 'वेदस्तुति' तो साक्षात् श्रुति-मन्त्रोका ज्ञान-भक्ति और वैराग्यपरक, रस-रहस्यात्मक सुललित भाष्य ही है। श्रीमद्भागवतके प्रमुख एव सर्वमान्य टीकाकार श्रीश्रीधरस्वामीने इस अध्यायमं वर्णित स्तुतिके प्रत्येक श्लोकपर समानार्थक श्रुति-मन्त्राको उद्धृत कर इस तथ्यको प्रमाणित किया है।

यहाँ अत्यन्त सक्षपम श्रीमद्भागवतम वैदिक सूक्तोंके निर्देश उनके अर्थसनिवेश और व्याख्याके साथ ब्राह्मणवचनोंकी व्याख्या विभिन्न उपनिपदोके मन्त्रोंका शब्दान्तर सनिवेश आदि प्रदर्शित कर 'वेदस्तुति' म अभिव्यक्त वेदार्थका संकेत

१-कठोपनिषद् (१। २। १५)।
२-श्रीमद्भगवद्गीता (१५। १५)।
३-इतिहासपुराणाभ्या वर्ं समुपबृहयत्॥ (महाभारत आदिपर्व १। २६७)
४-भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शित (श्रीमद्भा० १। ४। २९)।
५-निगमकल्पतरोर्गलितं फलम् (श्रीमद्भा० १। १। ३)।
६-तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवय० (श्रीमद्भा० १। १। १)।
७- गायत्रीभाष्यरूपोऽयम् ।
८-सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् (श्रीमद्भा० १। ३। ४२)।
९-सर्ववेदान्तसार यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् (श्रीमद्भा० १२। १३। १२)।
१० यत्रैषा सात्वता श्रुति ॥ (श्रीमद्भा० १। ४। ७)
११-वासुदेवपरा वेदा (श्रीमद्भा० १। २। २८)।
१२-एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च। वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पते ॥ (श्रीमद्भा० १। ३। ३५)

मात्र करके इस तथ्यके प्रति विद्वज्जनोके ध्यानाकर्षणका प्रयास किया जा रहा है।

(क) श्रीमद्भागवतमे विभिन्न वैदिक सूक्तोंका नामत निर्देश अनेकत्र शब्दान्तरसमन्विति तथा व्याख्या—

वेदचतुष्टयमे समुपलभ्यमाण तथा अत्यन्त प्रसिद्ध 'पुरुषसूक्त'के नाम्ना उल्लेखके साथ श्रीमद्भागवतकी अधिसख्य भगवत्स्तुतियोंमें इसका व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है, जैसे—

पुरुष पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहित ॥

(श्रीमद्भा० १०। १। २०)

अर्थात् पुरुषसूक्तके द्वारा उन्हीं परम पुरुष सर्वान्तर्यामी प्रभुकी स्तुति की। स्तुति करते-करते ब्रह्माजी समाधिस्थ हो गये। तथा—

पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभि ॥

(श्रीमद्भा० ११। २७। ३१)

भाव यह कि पुरुषसूक्तादि मन्त्रोंसे राजनादि-सज्ञक सामका गायन करना चाहिये।

यहाँ तो साक्षात् सकेत है ही अन्यत्र श्लोकामें विभिन्न मन्त्रोंका अर्थसाम्य इस प्रकार देखा जा सकता है—

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।

(यजुर्वेद ३१। १)

अर्थात् वह परम पुरुष हजारा शिरो नेत्रो और पादोंवाला है। इसीका भावानुवाद श्रीमद्भागवतम इस प्रकार किया गया है—

पुरुष सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम्।

(३। ७। २२)

स भूमि॰ सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(यजुर्वेद ३१। १)

अर्थात् वह परमात्मा अपने हृदयदेशमें ही सारे विश्वको धारण कर रखा है। इसका भावानुवाद श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार द्रष्टव्य है—

तेनेदमावृतं विश्व वितस्तिमधितिष्ठति॥

(२। ६। १५)

पुरुष एवेद॰ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

(यजुर्वेद ३१। २)

अर्थात् भूत भविष्य और वर्तमान जो कुछ (दीख रहा) है वह सब परम पुरुष ही है। श्रीमद्भागवतमे इसका भावसाम्य देखिये—

सर्वं पुरुष एवेद भूत भव्य भवच्च यत्।

(२। ६। १५)

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुष ।

(यजुर्वेद ३१। ३)

अर्थात् 'इस परमात्म पुरुषकी महिमा अत्यन्त विशाल है।' श्रीमद्भागवतमें इसीका तत्त्वानुवाद प्रस्तुत करते हुए कहा गया कि 'अमृत एवं अभयपदका स्वामी होनेके कारण उस (परम पुरुष)-की महिमाका पार लगाना मानवमात्रके लिये दुष्कर है'—

महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्यय ॥

(२। ६। १७)

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

(यजुर्वेद ३१। ३)

'सम्पूर्ण भूतमात्र जो इस विश्वमे है, वह सब इस श्रेष्ठ पुरुषका चतुर्थ भाग ही है। इसके तीन भाग दिव्य लोकम अमृतरूप हैं।' श्रीमद्भागवत (२। ६। १८)-मे इसको इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—

पादेषु सर्वभूतानि पुस स्थितिपदो विदु ।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु॥

अर्थात् 'सम्पूर्ण लोक भगवान्के एक पादमात्र (अशमात्र) हैं तथा उनके अशमात्र लोकोमे समस्त प्राणी निवास करते हैं। भूर्लोक भुवर्लोक और स्वर्लोकके ऊपर महर्लोक है। उसके भी ऊपर जन तप और सत्य लाकोमें क्रमश अमृत क्षेम एवं अभयका नित्य निवास है।'

ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥

(यजुर्वेद ३१। ४)

भाव यह कि उस परम पुरुषने अन्न खानेवाले (सकाम कर्म करनेवाले) और अन्न न खानेवाले (निष्काम कर्म करनेवाले) विश्वको चारा ओरसे व्याप्त कर रखा है। इसीका भावात्मक अर्थ प्रस्तुत करते हुए श्रीमद्भागवत (२। ६। २०)-में कहा गया है—

सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे।

अर्थात् अविद्यारूप कर्म-मार्ग और उपासनारूप विद्या-मार्ग दोनोंको उस परम पुरुषने व्याप्त कर रखा है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्०। (यजुर्वेद ३१। ११)

इस मन्त्रमें बताया गया कि ब्राह्मणकी उत्पत्ति उस परम पुरुषके मुखसे हुई है। इसी भावको श्रीमद्भागवतके कई स्थलोंपर प्रदर्शित किया गया है—

ब्रह्माननम् (२।१।३७), विप्रो मुखम् (८।५।४१)।

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह।
यस्तून्मुखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः॥

(श्रीमद्भा० ३।६।३०)

अर्थात् वेद और ब्राह्मण भगवान्‌के मुखसे प्रकट हुए। मुखसे प्रकट होनेके कारण ही ब्राह्मण सब वर्णोंमें श्रेष्ठ और सबका गुरु है।

"""बाहू राजन्य कृत।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या॰ शूद्रो अजायत॥

(यजुर्वेद ३१। ११)

'उक्त प्रकारसे उस पुरुषके बाहुसे क्षत्रिय अर्थात् शूर उत्पन्न हुए, ऊरू भागसे वैश्य और पादोंसे शूद्र उत्पन्न हुए।' श्रीमद्भागवतके निम्न प्रसगोंमे भी ठीक इसीका विस्तार किया गया है—

"क्षत्रभुजो महात्मा विड्रूरुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्ण।

(२।१।३७)

बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्र क्षत्रियस्तदनुव्रत।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुष कण्टकक्षतात्॥
विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभो।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणा य समवर्तयत्॥
पद्भ्या भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये।
तस्या जात पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरि॥

(३।६।३१—३३)

स्पष्ट है कि इन वचनामें केवल मन्त्रार्थका अनुवाद मात्र नहीं किया गया, अपितु भगवान् वेदव्यासने प्रत्येक मन्त्रपर अपनी सार्थक व्याख्या भी प्रस्तुत कर दी है। इसी प्रकार कुछ और भी उद्धृतियाँ द्रष्टव्य हैं—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥

(यजुर्वेद ३१। १२)

अर्थात् उस परम पुरुषके मनसे चन्द्रमाकी नेत्रासे सूर्यकी, श्रवणेन्द्रियोंसे वायुकी, नासिकासे प्राणकी और मुखसे अग्निकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रसिद्ध मन्त्रका अर्थसादृश्य इन श्लोकोंमें सहजरूपसे दिखलायी पडता है—

सोमो मनो द्यौर्भगवञ्छिरस्ते॥ (श्रीमद्भा० ८।७।२७)

अर्थात् हे प्रभो! चन्द्रमा आपका मन और स्वर्ग सिर है।

सोम मनो यस्य समामनन्ति (श्रीमद्भा० ८।५।३४)।
(श्रुतियाँ कहती हैं कि चन्द्रमा उस प्रभुका मन है।)

अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा
जात क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा।

(श्रीमद्भा० ८।५।३५)

(अग्नि प्रभुका मुख है। इसकी उत्पत्ति ही इसलिये हुई है कि वेदके यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड पूर्णरूपसे सम्पन्न हो सके।)

और भी—

अग्निर्मुख तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं
सूर्यो नभो नाभिरथो दिश श्रुति।

(श्रीमद्भा० १०। ४०। १३)

(अर्थात् अग्नि आपका मुख है। पृथ्वी चरण है। सूर्य और चन्द्रमा नेत्र हैं। आकाश नाभि है। दिशाएँ कान हैं।)

इसी प्रकार विष्णुसूक्त (ऋग्वेद १। १५४। १)-के इस मन्त्रकी छाया भी श्रीमद्भागवतमें अवलोकनीय है—

मन्त्र—विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोचं
य पार्थिवानि विममे रजासि।

श्रीमद्भागवतस्थ श्लोक—

विष्णोर्नु वीर्यगणना कतमोऽर्हतीह
य पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।

(२।७।४०)

भाव यह कि 'अपनी प्रतिभाके यत्नसे पृथ्वीके एक-एक धूलिकणको गिन चुकनेपर भी जगत्‌मे ऐसा कौन पुरुष है जो परम पुरुषकी शक्तियाकी गणना कर सके।'

ऋग्वेदके दशममण्डलके ९५व सूक्तकी 'उर्वशी-कथा' श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धमें न केवल वर्णित हुई है अपितु यहाँ इसकी पौराणिक (प्रतीकवादकी) रीतिसे सुन्दर व्याख्या भी की गयी है। मन्त्रवर्णोंका श्लोकमे अनुसरण, अत्यन्त आवर्जक और सहज उन्नेय है, यथा—

'हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे""' इस मन्त्रका श्लोकानुवाद इस प्रकार है—

अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ (श्रीमद्भा० ९। १४। ३४)।
(अर्थात् प्रिये! तनिक ठहर जाओ।)

इसी प्रकार प्रसिद्ध 'सरमासूक्त[१]' की समन्विति भी श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धमें देखी जा सकती है।[२]

१ ऋग्वेद (१। ६२। ३ १। ७२। २८ १०। १०८ तथा अथर्ववेद ९। ४। १६ एवं २०। ७७। ८)।
२ श्रीमद्भा० (५। २४। ३०)।

(ख) ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदोंके मन्त्रोंकी समन्विति और व्याख्या—

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध (दशम अध्यायके बारहवें श्लोक)-में आचार्य तथा अन्तेवासीको 'अरणिरूप' बतलाया गया है तथा प्रवचनको दोनोंका 'सधान' कहा गया है। यह पूरी व्याख्या तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] का प्रसङ्गोपात्त अनुवाद है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत[2] में सत्यानृतकी व्याख्याका प्रसङ्ग ऐतरेय आरण्यकके एक अंशकी मार्मिक व्याख्या है। उपनिषदोंके अनेक मन्त्र श्रीमद्भागवतमें शब्दान्तरसे उद्धृत तथा व्याख्यात हुए हैं जैसे—

ॐ ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥
(ईशावास्योपनिषद् १)

अर्थात् इस अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक (इसे) भोगते रहो (इसमें) आसक्त मत होओ क्योंकि भोग्य-पदार्थ किसका है? अर्थात् किसीका नहीं है।

इस मन्त्रकी शब्दान्तर-सन्निविष्टि श्रीमद्भागवत (८।१।१०)-में ज्यों-की-त्यों इस प्रकार की गयी है—

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किंचिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

इसी प्रकार—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(मुण्डक० ३।१।१ श्वेताश्वतर० ४।६)

तात्पर्य यह कि 'सदा साथ रहनेवाले (तथा) परस्पर सख्य-भाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा एवं परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर)-का आश्रय लेकर रहते हैं उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके फलों (कर्मफलों)-को स्वाद ले-लेकर खाता है (किंतु) दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।'

—इस प्रसिद्ध जीवेश्वरसम्बन्धके प्रतिपादक मन्त्रकी व्याख्या भागवतकारने अत्यन्त सुन्दर रीतिसे की है जिसमें शब्दशः उपर्युक्त अर्थ ही प्रतिपादित है तनिक भी अर्थभेद नहीं है—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥
(श्रीमद्भा० ११।११।६)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(मुण्डक० २।२।८)

मुण्डकोपनिषद्में परमात्म-ज्ञानके सम्बन्धमें कहा गया है कि 'कार्यकारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर इस जीवात्माके हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं (अर्थात् यह जीव सब सम्बन्धोंसे सदा मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है)।' ठीक यही बात कठोपनिषद् (२।३।१५)-में इस प्रकार कही गयी है—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।

इन औपनिषदिक् मन्त्रोंका अक्षरशः श्लोकानुवाद प्रस्तुत करते हुए श्रीमद्भागवत (१।२।२१)-में लिखा गया—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

तथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥
(११।२०।३०)

उपर्युक्त दोनों श्लोकोंका प्रायः एक ही अर्थ है—अर्थात् 'हृदयमें आत्मस्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार होते ही हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है सारे संदेह मिट जाते हैं और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है।'

वेदार्थोंकी इतनी सम्यक् मान्यता तो अन्यत्र दुर्लभ ही है। तैत्तिरीयोपनिषद्के नवम अनुवाकमें वर्णन किया गया कि मनके साथ वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ उसे न पाकर जहाँसे लौट आती हैं उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भी भय नहीं करता। जैसे—

१-तैत्तिरीय ब्रा० (२।३)। २-श्रीमद्भा० (८।१९।३८—४२)।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति॥

इस मन्त्र एव मन्त्रार्थकी साम्यता श्रीमद्भागवत (३। ६। ४०)-में देखिये—

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह।

अर्थात् जहाँ न पहुँचकर मनके साथ वाणी भी लौट आती है। (उन श्रीभगवान्‌को हम नमस्कार करते हैं।)

कठोपनिषद् (१। २। २०)-ने इस जीवात्माके हृदयरूप गुफामे रहनेवाले परमात्माको सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म और महान्‌से भी महान् बतात हुए कहा—

'अणोरणीयान्महतो महीयान्।'

श्रीमद्भागवत (८। ६। ८)-में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया—

'अणोरणिम्नेपरिगण्यधाम्ने० ॥'

अर्थात् वह परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और अनन्त स्वरूपोंवाला है।

ऐतरेयोपनिषद् (१। १)-मे कहा गया कि इस जगत्‌के प्रकट होनेसे पहले एकमात्र परमात्मा ही था—

ॐ आत्मा या इदमेक एवाग्र आसीत्।

इसीका श्लाकानुवाद करते हुए श्रीमद्भागवत (३। ५। २३)-मे कहा गया—

भगवानेक आसेदमग्र आत्माऽऽत्मना विभु।

अर्थात् सृष्टि-रचनाक पूर्व समस्त आत्माआके आत्मा एक पूर्ण परमात्मा ही थे।

परब्रह्म परमात्माके परमधाममे कौन साधक पहुँच सकता है, इस बातको रथ एवं रथीक रूपककी कल्पना करके कठोपनिषद् (१। ३। ३-४)-म समझाया गया—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मन प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।

अर्थात् 'जीवात्मा तो रथका स्वामी है और शरीर ही रथ है, बुद्धि सारथी है तथा मन लगाम है। ज्ञानीजन (इस रूपकमे) इन्द्रियोको घोडे बतलाते हैं और विषयोंको उन घोडोके विचरनेका मार्ग।'

श्रीमद्भागवतमे इसका छायानुवाद देखिये—

आहु शरीर रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम्।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं
सत्त्व बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम्॥
अक्ष दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम्।
(७। १५। ४१ ४२)

अर्थात् '*उपनिषदोंमें कहा गया है कि शरीर रथ है*, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियोका स्वामी मन लगाम है, शब्दादि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथि है, चित्त ही भगवान्‌के द्वारा निर्मित बाँधनेकी विशाल रस्सी है, दस प्राण धुरी हैं, धर्म-अधर्म पहिये हैं और इनका अभिमानी जीव रथी कहा गया है।'

इसके अतिरिक्त अन्य प्रसङ्गोमे गर्भोपनिषद्‌में वर्णित डिम्भके विकासकी प्रक्रिया, श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें ज्यो-की-त्या देखी जा सकती है[1]।

(ग) वैदिक कर्मकाण्ड तथा यज्ञ-यागादिका तात्त्विक विवेचन—

महर्षि व्यासने श्रीमद्भागवतमे अनेक स्थानोंपर वेदके कर्मकाण्डीय पक्ष तथा यज्ञविधानका शास्त्रीय विश्लेषण किया है *निबन्ध-कलेवरके विस्तार-भयसे यहाँ केवल* स्थल-निर्देशमात्र किया जा रहा है। जैसे—

(१) वैदिककर्म, यज्ञ, इष्टापूर्त आदिके लक्षण— ७। १५। ४७ से ५२ मं।

(२) अङ्गिरागोत्रीय ऋषियोके सत्रमें वैश्वदेवसूक्तके द्वारा होनाङ्गपूर्ति तथा यज्ञिय उच्छिष्टतत्त्वका निरूपण— ९। ४। ३ से ८ तक।

१-ऋतुकाले सम्प्रयोगादेकरात्रोषित कललं भवति। सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति। अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति। ××××× सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति (गर्भोपनिषद् ३)।

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये। स्त्रिया प्रविष्ट उदर पुसो रेत कणाश्रय ॥
कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम्।
× × ×
आरभ्यसप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि वेपित ।
(श्रीमद्भा० ३। ३१। १—१०)

(३) 'यज्ञो वै विष्णु', 'विष्णुर्वै यज्ञ' प्रभृति ब्राह्मणवचनोंको भगवान् यज्ञ वराहके स्वरूप वर्णनमे श्रीमद्भा० ३। १३। ३४ से ३९ तक सगति।

(४) यज्ञके 'अध्वर' अभिधानकी सगतिहेतु हिसात्मक पशुयागोकी निन्दा ४। २५। ७-८ तथा ४। २९। ४५ से ४९ तक—इन प्रसगोंमे द्रष्टव्य है।

(घ) वेदोंके प्राकट्य, शाखाविभाग और प्रवचनपरम्परा तथा उपवेदों एव वेदाङ्गोका सूक्ष्म विवेचन—यथा—

(१) वेदोका प्राकट्य—द्वादशस्कन्धके षष्ठ अध्यायमें श्लोक ३७ से ४६ तक।

(२) शाखाविभाग और प्रवचनपरम्परा—द्वादशस्कन्धके षष्ठ अध्यायमे श्लोक ४९ मे ८० (अध्यायान्त) तक तथा द्वादशस्कन्धके ही सप्तम अध्यायमे।

(३) उपवेदोंका वर्णन—तृतीयस्कन्ध तथा द्वादश अध्यायके ३८ वें श्लोकमे।

(४) वेदाङ्गोंके सन्दर्भ—श्रीमद्भागवतम षड्वेदाङ्गोकी भी सम्यक् समन्विति इस प्रकार देखी जा सकती है—

शिक्षा—११। २१। ३७ से ३९ तक।

कल्प—११। २७। ३६ तथा ५० से ५२ श्लोकोंतक।

निरुक्त—३। १२। २०।

व्याकरण—११। २१। ३६।

छन्द—११। २१। ४१।

ज्योतिष—१०। ८। ५ १२। २। २४ १२। २। २७-२८ तथा १२। २। ३१-३२ मे।

(ङ) वेदोके परम तात्पर्यकी प्रतिपादिका वेदस्तुति—

जैसा कि आरम्भमे ही निवेदन किया जा चुका है श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध (अध्याय ८७)-म वर्णित 'वेदस्तुति' तो समस्त श्रुतिसिद्धान्तके परम रस और परम रहस्य दोनोंका ही मणिकाञ्चनसयोग है। 'अनिर्देश्य गुणातीत और सद्-असद् दोनोसे अतीत परब्रह्म त्रिगुणविषयिणा श्रुतियाँ कैसे चरितार्थ होती हैं[१]?'—महाराज परीक्षित्के इस गम्भीर प्रश्नके उत्तरमें इस प्रसङ्गका प्रवचन भगवान् शुकने किया है—

'जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणाम्'[२] इस श्लोकसे आरम्भ करके—

खइव रजासि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधना ॥[३]

—यहाँतक अट्ठाइस श्लोकों (नर्कुटक छन्दों)-म मायागुणसवलित परमात्माके तटस्थलक्षण, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'[४] इत्यादिसे आरम्भ करके 'यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्च'[५] आदि श्रुति साराशसे उपलक्षित ब्रह्मके 'परमार्थलक्षणके' प्रतिपादन तकका यह प्रसङ्ग अत्यन्त गहन तात्त्विक एवं ज्ञान भक्ति, वैराग्यकी साधनाओसे ही अनुभवगम्य है। यह सब अत्यन्त वैदुष्य एव विस्तारकी अपेक्षा रखता है तथा एक विस्तृत निबन्धका विषय है।

वस्तुत इसका सार यही है कि श्रीमद्भागवत वेदके परमार्थतत्त्वक रूपमें एकमात्र श्रीहरिको ही व्यवस्थापित करता है। वे ही श्रीहरि, सगुण-साकार सच्चिदानन्दघन-विग्रह धारण कर भक्तोंके भावालम्बन 'रसरूप' नारायण श्रीराम नृसिह, वामन या नन्दनन्दन श्रीकृष्ण बनकर लीलाएँ करनेके लिये धराधामम युग-विशेषके अनुसार अवतीर्ण होते हैं। उनका यह रसस्वरूप काल और देशकी सीमासे आगे बढकर भक्तोंके हृदयमें शाश्वत प्रेमाराधना बनकर प्रतिफलित हो, इस हेतु भगवान् व्यासदेवने परम मनोहर श्रीमद्भागवतमें वेदार्थनिष्पन्दके रूपमें उनके चरित्र एव लीलाओको निर्णीत किया है। इस दृष्टिसे श्रीमद्भागवत-महापुराणको वेदोका 'रस-भाष्य' और वेदान्तका 'रस-प्रस्थान' मानना असमीचीन नहीं है।

सारे वेद परमार्थत ब्रह्मात्म-विषयक हैं व्यवहारत उनमें कर्म उपासना और ज्ञानक काण्डत्रय पृथक्-पृथक् परिलक्षित होते हैं। समग्र श्रुतियाँ परमात्मा श्रीहरिका ही विधान करके अपने मन्त्रोंद्वारा उन्हींको अभिहित करता हैं

१-ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तय। कथं चरन्ति श्रुतय साक्षात् सदसत परे॥ (श्रीमद्भा० १०। ८७। १)

२-श्रीमद्भागवत (१०। ८७। १४)।

३-श्रीमद्भा० (१०। ८७। ४१)।

४-तैत्तिरीय० भृगुवल्ली अध्याय।

५-बृहदारण्यक० (३। ८। ७)।

उनके विकल्प और अपोहन (निषध)-की शैलीमे भी उन्हीं प्रभुका गुणगान व्याप्त है। वेदोका परम तात्पर्य भी यही है, श्रीमद्भागवतम स्वय भगवद्वचन भी तो इसीका समर्थन करते हैं—

'वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे।'

(११। २१। ३५)

अर्थात् वदोमें तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनो काण्डोंके द्वारा ब्रह्म एव आत्माकी एकता ही प्रतिपादित है।

और भी—

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थ शब्द आस्थाय मा भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति॥

(११। २१। ४३)

तात्पर्य यह है कि 'सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें परमात्माका ही विधान करती हैं। उपासनाकाण्डमें उपास्य देवताओंके रूपम उन परब्रह्मका ही वे वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्डमें आकाशादिरूपसे उन्हींमे अन्य वस्तुओंका आरोप करके उनका निषेध कर देती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियोका बस, इतना ही तात्पर्य है कि वे परम प्रभु परमात्माका ही आश्रय लेकर उन्हींमें भेदाका आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्तम सबका निषेध करके उन्हींमें शान्त (समाहित) हो जाती हैं, तत्पश्चात् केवल वे परम पुरुष ही अधिष्ठानरूपम शेष रह जाते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमे वेदस्तुति

(मानसमराल डॉ० श्रीजगेशनारायणजी भोजपुरी)

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डम रामराज्यके पावन प्रसगमे वेदोने वन्दीवेष धारण कर भगवान् श्रीराम (राजा राम)-की प्रशस्त स्तुति की है। जिस पूज्यपाद गोस्वामीजी इस प्रकार लिखते हैं—

भिन्न भिन्न अस्तुति करि गए सुर निज निज धाम।
बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम॥
प्रभु सर्बग्य कीन्ह अति आदर कृपानिधान।
लखेउ न काहूँ मरम कछु लगे करन गुन गान॥

(रा०च०मा० ७। १२ ख-ग)

वेद वन्दीवषमे आये क्योंकि वदोको भगवान्का भाट कहा गया है। वन्दाका काम राजाका यशोगान करना है। राजाके समीप जानेकी वन्दियोंको छूट होती है। जन रामका राज्याभिषेक सम्पन्न हो गया ता वदोंने साचा कि सद्य -सिंहासनारूढ भगवान्का दर्शन करना चाहिये किंतु दरबारम इतनी भीड है कि प्रभुतक पहुँच पाना कठिन कार्य है। अत उन्होंने निश्चय किया कि यदि वन्दीका वष धारण कर लिया जाय, तब कोई रोक नहीं पायगा। अत वे वन्दीवेषमें आये इसलिये भगवान् श्रीरामके अतिरिक्त अन्य कोई उन्हें पहचान नहीं पाया। प्रभु सर्वज्ञ हैं अत उन्होंने पहचान लिया और वेदोंको समुचित आदर दिया।

चारा वेदोने सम्मिलित स्वरमे जो स्तुति की वह अति मङ्गलमयी है—

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज बल हने॥
अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे॥

(रा०च०मा० ७। १३ छं० १)

वेदोंने भगवान् श्रीरामको सगुण और निर्गुणका समन्वित रूप कहा है। व्यापक ब्रह्म होनेके कारण श्रीराम सगुण भी हैं और निर्गुण भी। दोनोंकी पृथक् सत्ता होनेपर भी वे दोनोंके समुच्चय हैं। इतना ही नहीं निर्गुण-सगुण और समन्वयके अतिरिक्त भी वे हैं, इसीलिये अनूप-रूप (अपूर्व एव दिव्य रूपवाला) भी कहा गया।

उपनिषदामें छ हेयगुणोंस रहित होनेके कारण ब्रह्मको

अगुण अथवा निर्गुण कहा गया है और दो दिव्यगुण-विशिष्ट होनेसे सगुण कहा गया है—'य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपास सत्यकाम सत्यसंकल्प ०। (छान्दोग्य० ८। ७। १)

अर्थात् ब्रह्म पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन विशोक, क्षुधारहित एव पिपासारहित—इन छ हेय-गुणासे रहित और सत्यकाम तथा सत्यसकल्प—इन दो गुणास युक्त है।

श्रीरामचरितमानसके उक्त *'जय सगुन निर्गुन* छन्दमे परमात्माको पहले सगुण पुन निर्गुण कहा गया क्योंकि प्राप्तिके बिना त्याग नहीं बनता। पुन दोनोसे भिन्न भी कहा गया जो साकेतवासी परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी हैं।

श्रीरामने नर-अवतार ग्रहण कर पृथिवीको भाररहित कर दिया। तात्पर्य यह कि रावण आदि पापियोंका वध कर पृथिवीको भारमुक्त कर दिया। ऐसे प्रणतपाल दयालु परमात्माको वेद सयुक्तरूपसे नमस्कार कर रहे हैं। राज्याभिषिक्त हो जानेपर राजाकी स्तुति करनेकी परम्परा है—

तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिधि दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे॥

(रा०च०मा० ७। १३ छं० २)

वेदोने कहा कि हे हरि! आपका विषम मायाके वशीभूत होकर सुर-असुर नर-नाग और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही रात-दिन काल-कर्म और गुणोके अधान भ्रमित हो रहा है। जिसपर आपकी कृपा-दृष्टि होती है वही मायासे मुक्त होता है। ससारके कष्टोंका छेदन करनेम (निर्मूल करनेमें) आप दक्ष हैं प्रभो! हमारी रक्षा कीजिय।

वेदांके कहनेका तात्पर्य यह है कि सारा ससार ही मायाके अधीन है—*'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल।'* परतु माया भगवान्‌की दासी है। अत वे ही मायासे मुक्त कर सकते हैं—

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥

(रा च०मा० ७। ७१ ख)

जो शरणागत हो जाता है उसे भगवान् अवश्य मायामुक्त कर देते हैं। इतिहास-पुराण इसके साक्षा हैं—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥

(रा०च०मा० ७। १३ छं० ३)

—वेदाने स्तुति करते हुए कहा—जो ज्ञानके अभिमानमें डूबे हैं तथा जिन्हाने भगवान्‌की भक्तिका आदर नहीं किया वे सुर-दुर्लभ पदका पाकर भी भवकूपमे गिर जाते हैं। ऐसा हमने देखा है। वेद स्वत परम प्रमाण हैं, उनकी बातोंकी सत्यताके लिये किसी दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

अत जो ससारकी आशाका त्याग करके केवल परमात्माका दास बन जाता है वह मात्र आपका नाम जप कर बिना किसी परिश्रमके ससार-सागरको पार कर जाता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानमें अहकारकी सम्भावना है, इसलिय दासभावकी भक्तिका आश्रय लेना अनिवार्य है। जो ऐसा नहीं करता उसका पतन होता है—

जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी।
नख निर्गता मुनि बंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी॥
ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥

(रा०च०मा० ७। १३ छं० ४)

प्रभु! आपके चरण शिव-ब्रह्मादिद्वारा पूजित हैं। आपके पावन पद-रजको पाकर मुनि-पत्नी अहल्या तर गयी। आपके नखम निर्गत सुरसरि त्रैलोक्य-पावन बन गयी। आपके पावन चरणोंमें ध्वज कुलिश अकुश कज आदि दिव्य चिह्न अकित हैं, परतु आप इतने भक्तवत्सल हैं कि भक्तोंके उद्धार और दुष्टोंके सहारक लिय कटकित वनके मार्गोंपर चल पडे जिससे आपके चरण लहू-लुहान हो गय। वेदाके कहनका तात्पर्य यह कि एक ओर जहाँ भगवान्‌में ऐश्वय है वहीं दूसरी आर परम कृपालुता भा है—

अब्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥

(रा०च०मा० छं० ५)

वेदशास्त्र कहते हैं कि ससाररूपी वृक्षका मूल अव्यक्त (प्रकृति) है। यह वृक्ष अनादि-कालसे है। इसम चार त्वचाएँ (खाल या छिलका), छ स्कन्ध (तना), पच्चीस शाखाएँ, अनेक पत्ते और अनन्त पुष्प हैं। इस विटपके आश्रित एक बेल है जिसमे कटु और मधु दो प्रकारक फल फूलते-फलते रहते हैं—ऐस ससाररूपी वृक्ष (परब्रह्म श्रीराम)-को हम नमस्कार करत हैं।

वेदोंने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको ही अनादि वृक्ष कहकर उनकी स्तुति का। सतोंन अनेक प्रकारसे इसकी विशद व्याख्या की है—

> जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
> ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
> करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं।
> मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥
> (रा०च०मा० ७। १३ छ० ६)

जो आपको अज-अद्वैत, अनुभवगम्य कहते हैं और आपका ध्यान भी करते हैं वे वैसा ही कहें, कर, हमें कोई आपत्ति नहीं है। परतु हम तो नित्य-निरन्तर आपके सगुण यशका गान करे, ऐसी कृपा कीजिये। अन्तमें वेदोंने करुणानिधान तथा सद्गुणोंके भण्डार भगवान् श्रीरामसे यह वरदान माँगा कि हम मन वाणी तथा क्रियाजनित विकारोंको त्याग कर आपके चरणोंमें अनुराग कर।

वेदोकी इस स्तुतिसे स्पष्ट होता है कि भगवान्के चरणोम अनुरागके बिना जीवका कल्याण नहीं। क्योंकि—

> मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥
> (रा०च०मा० ७। ६२। १)

वेद ज्ञानके चरम रूप तथा अन्तिम प्रमाण हैं, परतु चारो वदोका यही मत है कि भगवान्के चरणकमलोंमें अनुरागके बिना ज्ञान-विज्ञान स्वाध्याय, जप-तप आदि सार साधन अधूरे हैं।

सर्वाधाररूपा, कल्याणस्वरूपा वेद-कथा

(महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरङ्गबलीजी ब्रह्मचारी)

भक्ति-मुक्ति और शाश्वत शान्ति तथा अखण्ड आनन्दकी प्राप्तिके प्रमुख तीन मार्ग—भक्तिकी गङ्गा कर्मकी यमुना और ज्ञानकी सरस्वतीका उद्गम एव आधार-स्थान वेद और वेद-कथाओको ही माना जाता है।

वेद-कथाएँ ही ज्ञान-विज्ञानके धाम सम्पूर्ण आर्य-वाङ्मयके प्राण तथा भारतीय सभ्यता और हिन्दू-सस्कृतिका मूलाधार—सर्वाधार मानी जाती हैं।

जो स्थान बौद्ध और जैनोंमे अहिसाका इसाइयाम दयाका और इस्लाममें नमाजका है उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान हिन्दुओंम वद और वद-कथाआम वर्णित रीति-नीति आचार-विचार, सयम-साधना भाषा-भाव सभ्यता-सस्कृतिका मानने अपनान और तदनुसार चलनेपर दिया जाता है।

ईश्वरकी सत्ता-महत्ताको नकारनवाला भी हिन्दू हो सकता है किंतु वेदाकी सत्ता-महत्ता, उपयोगिता-आवश्यकता और मान्यताका स्वीकार न करनेवाला हिन्दू नहीं माना जा सकता। इसीलिये तिलकजीन वदोंक स्वत -प्रामाण्यम अडिग निष्ठा होनेको ही हिन्दू होनेकी कसौटी माना है—'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु । अनेन कारणेन वेदानां वेदकथानाञ्च महत्त्वमनादिकालादद्यावधि भगवत्या सुरसर्या स्रोत इव निरवच्छिन्नं वरीवर्ति।

वदाके नित्यत्वपर मनुस्मृतिके टीकाकार कुल्लूकभट्टकी ता स्पष्ट धारणा है कि प्रलयकालम भी वेद और वेद-कथाएँ परमात्माम अवस्थित रहती हैं। यथा—

'प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशि स्थित ।'

ईश्वरका खण्डन करनेवाला साख्यशास्त्र भी वेदोंके अपौरुषेयत्वका प्रतिपादन करता हुआ कहता है—

'न पौरुषेयत्वं तत्कर्तु पुरुषस्याभावात्' अर्थात् वेदकर्ताका कहीं भी वर्णन न हानस वेदाकी अपौरुषेयता स्वत सिद्ध हाता है।

भारतीयाका तो मान्यता है कि तपश्चरणद्वारा पवित्र एवं अत्यन्त निर्मल महर्षियाके हृदयम वेद स्वत प्रकाशित हुए— यदा भारतीयाना महर्षीणामतिनिर्मले तप पूते हृदि स्वत प्रतिभाता ।

इसी भावको निरुक्तके नैघण्टुककाण्ड (२। ३। ११)-में निरुक्तकार यास्कने लिखा है कि ऋषियोने मन्त्रोंको देखा—'ऋषिर्दर्शनात्……स्तोमान् ददर्श' इसीलिये उनका नाम 'ऋषि' पडा।

सर्वानुक्रमसूत्रमें कात्यायनने भी लिखा है—'द्रष्टार ऋषय स्मर्तार, न कर्तार' ये ऋषि वेदमन्त्रोंके द्रष्टा और स्मर्ता हैं, कर्ता नहीं।

वेदों और वेद-कथाओंके प्रति अटूट श्रद्धा तथा निष्ठा इस देशके जनमानसमे इतने भीतरतक समा गयी है कि मनुस्मृतिमें वर्णित 'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' की सूक्ति सदुक्ति हमारी भारतीय जीवनमालाका सुमेरु बन गयी है।

इस देशमे, गृहकार्यसम्पादनमें लगी हुई एक साधारण महिलासे लेकर सर्वशक्ति-सम्पन्न राजाधिराजकी अति स्नेहिल राजकुमारी तक वेदोकी उच्छिन्नताकी सम्भावना-मात्रसे आकुल-व्याकुल होकर पुकार उठती है—'को वेदानुद्धरिष्यति।' वेदोका उद्धार कौन करेगा? वेदोंकी रक्षा और उनके प्रचार-प्रसारके प्रति उच्च उदात्त-भाव केवल भारतवासियोमें ही नहीं, अपितु मैक्समूलर मैक्डॉनल ग्रिफिथ, विल्सन और राथ आदि पाश्चात्य विदेशी विद्वानोमे भी देखनेको मिलते हैं। इन विद्वानाने तो वेद और वेद-कथाओके रहस्योद्घाटनमे अपना सम्पूर्ण जीवन ही लगा दिया।

ऋग्वेदकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए विदेशी विद्वान् मैक्समूलरने लिखा है कि—

यावत् स्थास्यन्ति गिरय सरितश्च महीतले।
तावद् ऋग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

यद्यपि यह श्लोक मौलिक रूपसे मैक्समूलरका बनाया हुआ नहीं है। वाल्मीकि-रामायणके इस श्लोकमें कुछ शब्दोंका परिवर्तन कर मैक्समूलरने इस श्लोकके द्वारा ऋग्वेदकी प्रशसामे अपना हृदयोद्गार प्रकट किया है जो विदेशियोके हृदयमें भी वेदोंके प्रामाण्य और वैशिष्ट्यका जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करता है।

सर्वाधार स्वय निराधार अथवा स्वाधाराधृत ही होता है क्योंकि ऐसा न होनेपर अनवस्थादोष उत्पन्न हो जायगा। यही कारण है कि वेद और वेद-कथाओका रचयिता किसी भ्रम, प्रमाद, करुणापाटव और विप्रलिप्सा आदि दोषयुक्त तथाकथित आप्तपुरुषको कौन कहे स्वय सर्वदोषरहित भगवान्को भी नहीं माना गया है। वेदो और वेद-कथाओका भगवान्का नि श्वास कहा गया है। श्वासकी गति स्वाभाविक होती है, इसमें प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं होती। इसीलिये वेद और वेदकथाओकी अपौरुषेयताका प्रतिपादन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है—

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।'

(रा०च०मा० १। २०४। ५)

वैदिक कथाएँ देश काल और घटनाओका अनुसरण नहीं करतीं, अपितु किसी अशमें घटनाक्रम ही वैदिक आख्यायिकाओ और कथाओका अनुसरण करते हैं।

भगवान् वेदव्यासने भी कहा है—

'शब्द इति चेन्नात प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥'

(वेदान्तसूत्र १। ३। २८)

अर्थात् प्रत्यक्ष (वेद) और अनुमान (स्मृति)—इन दोनों प्रमाणासे सिद्ध होता है कि वेदोक्त शब्दसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है।

आगेके सूत्रमें वे वेदका नित्यत्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

'अतएव च नित्यत्वम्॥' (वेदान्तसूत्र १। ३। २९)

इसीसे वेदोकी स्वत सिद्ध-नित्यता प्रतिपादित हो जाती है। मनुजीने भी इसी वेदानुसारी सृष्टि-सिद्धान्तको स्वीकार करते हुए कहा है—

सर्वेषा तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

(मनु० १। २१)

अर्थात् उन सृष्टिकर्ता परमात्माने सृष्टिके प्रारम्भमे सबके नाम कर्म तथा उन सबकी व्यवस्था अलग-अलग वेदोक्त शब्दोंके अनुसार ही बनायी।

सम्पूर्ण विश्वमें एकता अखण्डता और भ्रातृभावना‌का सञ्चार करनेवाली वर्णोंमें वर्णित यजुर्वेदका कथाओंमें एक …

परमात्माकी भिन्न-भिन्न ढगस पुकार की गयी है। इस सम्बन्धमें वेदभाष्यकार सायणाचार्यकी यह उक्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—

तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते॥

यास्कने भी इसी बातको सिद्ध किया है, जिसे ऋग्वेद (१। १६४। ४६)-में 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' कहा गया है। अर्थात् एक ही परमात्माका विद्वानोंने बहुत प्रकारस वर्णन किया है।

जिस प्रकार घटाकाशका मूल महाकाश, बिन्दुका मूलाधार सिन्धु, आभूषणोंका स्वर्ण और शरावादिक पात्रोका मूलाधार मृत्तिकाको माना जाता है उसी प्रकार उपवेद, वेदाङ्ग दर्शन, मन्त्र, तन्त्र, सूत्र काव्य, गीत पद्यात्मक-गद्यात्मक-आख्यान, व्याख्यान कथादि सम्पूर्ण परवर्ती वाङ्मय (साहित्य)-का आधार वेद और वेद-कथाओंको ही माना जाता है। धर्म और ब्रह्मके सम्बन्धम तो एकमात्र वेद-प्रमाण ही स्वीकार्य माना गया है।

देश काल परिस्थितिके अनुसार समय-समयपर वेद-कथाओने ही विविध रूप धारण कर कुछ लोगाको एक नयी ज्योति नयी जागृति नयी स्फुरणा, नयी प्रेरणा और नयी चेतना प्रदान की है।

'इतिहासपुराणाभ्या वेदं समुपबृंहयेत्' के अनुसार इतिहास-पुराणोंकी रचना कर वदका ही विस्तार और सरलार्थ किया गया है।

वेदपुरुष भगवान् रामके नरोत्तम पुरुषोत्तम-रूप धारण करनेपर वेद-कथाको ही आदिलौकिक काव्य वाल्मीकि-रामायणके रूपम प्रकट होना माना जाता है। यथा—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेद प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

कुछ लोगाकी यह भी मान्यता है कि वाल्मीकिरामायणके २४ हजार श्लोक वेदाम वर्णित गायत्री-छन्दके २४ अक्षरोकी प्रत्येक अक्षरपर एक-एक हजार श्लोकोंद्वारा की गयी व्याख्या है।

इसी प्रकार गीताकी भी प्रामाणिकता एव मान्यता भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे नि सृत होनेके साथ ही प्रमुख रूपसे गीताका वेदमूलक होना ही है।

'सर्वोपनिषदो गावो ...... दुग्धं गीतामृतं महत्' की उद्घोषणाक पश्चात् ही गीताकी इतनी व्यापकता हुई और प्रस्थानत्रयीम उसे प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ।

वेदव्यास-जैसे सर्वज्ञ महर्षिके द्वारा रचित श्रीमद्भागवत-महापुराणकी भी मान्यता वेद-कथारूपी कल्पवृक्षका फल होनेके कारण ही हुई है—'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्।'

संतशिरोमणि श्रीतुलसीदासजीकी श्रीरामचरितमानस-कथा आज जन-जनम व्याप्त है किंतु इसकी भी मान्यता एवं प्रचारका मूल कारण एव आधार इसका वेद-कथा-मूलक होना ही है। इसीलिय तुलसीदासजीको कथाके प्रारम्भमें ही लिखना पडा—

'नानापुराणनिगमागमसम्मतम् ...... इद रामचरितमानसम्' तभी लोगोंने उसे ललकपूर्वक अपनाया।

इस प्रकार 'सर्वाधाररूपा एव कल्याणस्वरूपा वेद कथा' के विभिन्न रूपाम विस्तार तथा निष्ठापूर्वक उसके श्रवण मनन निदिध्यासनके परिणामपर सत्पुरुषों, साधुपुरुषों, महापुरुषों आचार्यों और शास्त्रोकी सम्मति प्रकट करते हुए इस संक्षिप्त लेखका उपसहार निम्नलिखित पद्यके रूपमें प्रस्तुत किया जा रहा है—

वेद कथा मेटती कलंकन के अंकन को
वेद कथा रंकन को रिद्धि-सिद्धि देनी है।
वेद कथा मेटती सकल जग ताप शाप
वेद कथा पापपुञ्ज काटन को छेनी है॥
वेद कथा गंग-यमुना की है तीजी बहन
वेद कथा जगमें सुखमय त्रिवेनी है।
वेद कथा धर्म अर्थ काम मोक्ष देती सब
(यह) वेद-कथा अंक ब्रह्मज्ञान की निसेनी है॥

वेद-दृष्टि और दृष्टि-निष्ठा

(प्रो० श्रीसिद्धेश्वरप्रसादजी राज्यपाल—त्रिपुरा)

(१)

दो तटोंके मध्य जिस प्रकार नदीकी धारा प्रवाहित होती है, उसी प्रकार वेद-दृष्टि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋक्० १। १६४। ४६) और 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' (ऋक्० ९। ६३। ५)-रूपी इन दो मन्त्र-तटोंके बीच उद्भावित हो अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको आलोकित करती है, जिसमे सम्पूर्ण सृष्टिका समस्त रहस्य समाहित है। हिन्दू-धर्म या सनातन-धर्म अथवा वैदिक धर्मकी सज्ञासे जिस धर्मको जाना जाता है, उसके मूल वेद ही हैं, जिन्हे श्रुति, सहिता, मन्त्र या छन्दस् नामसे भी जाना जाता है और परम्परासे जिन्हें अपौरुपेय माना जाता रहा है। ब्राह्मणों आरण्यकों उपनिषदों स्मृतियां धर्मसूत्रों, पुराणों तथा रामायण-महाभारत आदि सम्पूर्ण भारतीय परम्पराकी मूल धाराके आधार-स्तम्भ वेद ही हैं, यहाँतक कि जैन, बौद्ध सिख आदि परम्पराएँ भी वैदिक परम्पराके ही रूप-रूपान्तरण हैं वैष्णव, शैव, शाक्त भी इसी मूल धाराकी शाखाएँ हैं और वेदाङ्ग, उपवेद, षड्दर्शन आदि वेदको ही विभिन्न रूपोंम समझने-समझानेके युगोंसे चले आ रहे प्रयासके अङ्ग हैं।

'वेद-दृष्टि' पश्चिमी अर्थमे दर्शन नहीं है। पाश्चात्य-परम्पराम दर्शनका अर्थ है जानकारी (इन्फॉरमेशन) जो मूलत तर्कपर आश्रित है अन्तर्दर्शनपर नहीं। भारतीय परम्परामे दर्शनका अर्थ है रूपान्तरण (ट्रासफॉरमेशन) यह मूलत उस अन्तर्दर्शनपर आधारित है, जो द्रष्टाकी दृष्टिको ही नहीं प्रत्युत जीवनको भी रूपान्तरित कर दता है। 'जानकारी' की परम्पराके कारण ही पश्चिममें भौतिक विज्ञानका और भारतम धर्मकी उस धारणाका विकास हुआ है जो जीवन और जगत्को उनकी सम्पूर्णताम ग्रहण कर उनके रूपान्तरणके लिये सतत सचेष्ट रहता है। पिछली दो शताब्दियामें यातायात और सचारके साधनाकि अभूतपूर्व विकासक कारण यद्यपि सभी परम्पराओके मूल रूप मिश्रित होते आ रहे हैं, फिर भी मूल धाराएँ अभी भी अपने मूल स्रोतास ही जुडा हुई हैं। अत वेदका अध्ययन आज भी उतना ही प्रासगिक एव सार्थक है।

श्रुति-स्मृति एव विज्ञानकी एकात्मता [मात्र एकवाक्यता नहीं] न तो आज कोरी कल्पनाकी वस्तु रह गयी है, न वे सर्वथा परस्पर-विरोधी हैं। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन जीवनके अन्तिम अमूल्य चालीस वर्षोंमें जिस 'एकीकृत क्षेत्र-सिद्धान्त' (यूनीफाइड फील्ड थियरी)-की खाज करते रहे—वह उस 'वेद-दृष्टि' मे निहित है जिस आजकी शैलीमें 'दृष्टि-निष्ठा' कहा जायगा। 'दृष्टि-निष्ठा' वस्तुपरक [निरपेक्ष—अनासक्त] होती है और 'व्यष्टि-निष्ठा' व्यक्तिके राग-द्वेषासे सीमित और प्रभावित हाती है। विज्ञानकी शक्ति उसकी वस्तुपरकता निरपेक्षता अर्थात् 'दृष्टि-निष्ठा' म है और 'वेद-दृष्टि' भी मूलत इसी सत्यकी स्थापना तथा स्वीकृति है [परतु प्रक्रिया भिन्न है]। अन्य धर्मोंके ग्रन्थाकी तरह वद 'व्यष्टि' नहीं अपितु 'दृष्टि' के प्रति निष्ठाक प्रतिपादक हैं। अत वैदिक प्रवक्ता कोई अवतार, नबी अथवा पैगंबर नहीं प्रत्युत शताधिक ऋषि हैं, जिन्होंने 'सत्' के विभिन्न रूपाके साक्षात्कार किय उनकी यही 'दृष्टि' वेदके मन्त्र हैं, जिनकी 'श्रुति' उन्हें आत्माका उच्चतम अवस्थामें ग्रहण किये हुई थी। 'दृष्टि-निष्ठा' मं व्यक्ति माध्यम तो है पर उस दशामें उसकी स्थिति निर्वैयक्तिक हा जाती है 'व्यष्टि-निष्ठा' का धरातल उठकर जब 'दृष्टि-निष्ठा' में रूपान्तरित हो जाता है तब उस दशाम व्यष्टि और समष्टिक भेदका विलय हो जाता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'सोऽहम्' म अद्वैतकी एकात्मताकी प्रतीति होती है। यह कल्पना अथवा भावुकता नहीं अपितु मानव-जीवनका सर्वोपरि मनोवैज्ञानिक यथार्थ है। अत 'वेद-दृष्टि' वस्तुत 'दृष्टि-निष्ठा' का पर्याय है और ऋचाओंके मन्त्रद्रष्टा 'ऋषि' शब्दके पूर्णतम अर्थमें वैज्ञानिक हैं जिन्होंने अपनी विशिष्ट साधना-पद्धतिरूपी यन्त्रपर अपने जीवनको ही आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रसे भी अधिक निर्वैयक्तिक बना लिया था। इसलिये ऋचाएँ प्राचीनतम होकर भी आधुनिकतम हैं सनातन और नूतन हैं।

'दृष्टि-निष्ठा' और 'व्यष्टि-निष्ठा' के इस मूल अन्तरको ध्यानमें न रखनेके कारण ही उनकी सही व्याख्या नहीं हो

पा रही है। आजकलके लोगोंके गले यह बात उतरती ही नहीं कि इतिहासके उस आरम्भ-कालमें वैसी निर्वैयक्तिकताका विकास सम्भव था जो आधुनिक विज्ञानके लिये भी अभी पूरी तरहसे सुलभ नहीं है। 'दृष्टि-निष्ठा' और 'व्यष्टि-निष्ठा'-मे एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर भाषाके प्रयोगकी दृष्टिसे है। 'दृष्टि-निष्ठा' मे भाषाका प्रयोग यौगिक है 'व्यष्टि-निष्ठा' में रूढ। जैसे दृष्टि सीमित-सकुचित होनपर सिमट-चिमट जाती है वैसे ही 'दृष्टि-निष्ठा' स 'व्यष्टि-निष्ठा' के धरातलपर उतरनेसे शब्द भी यौगिकरूपस रूढ हो जाते हैं उनकी शक्ति व्यापकताको खो देती है और कवि भी मात्र शिल्पी रह जाता है क्योंकि शब्दके नैरुक्तिक अर्थका विस्मरण कर उनके प्रचलित रूढ अर्थसे ही भाषाको बाँध दिया जाता है।

(२)

आधुनिक भौतिक विज्ञान 'बहुधा वदन्ति' के रूपमें अभी हमारे सामने है पर वह 'एकं सद्' तक नहीं पहुँचा है, क्योंकि इस निष्पत्तिकी दार्शनिक एव सामाजिक परिणतिको ग्रहण करनेके लिये अभी पश्चिमी मानस तैयार नहीं है। वैदिक ऋषिका मानस इससे भिन्न था। वे 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के साथ-साथ 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'-के भी द्रष्टा थे जिसके लिये अन्य धार्मिक एव सास्कृतिक परम्पराओंमें आज भी मानसिक तैयारी नहीं है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' भौतिकशास्त्र (फिजिक्स)-का परभौतिकशास्त्र (मेटाफिजिक्स) है और 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' उसका (भौतिक विज्ञानका) पूरक समाजविज्ञान है जो पूरे मानव-समाजको श्रेष्ठतम स्तर तकके विकासका अधिकारी मानकर सबके लिये एक ऐसे निर्वैयक्तिक मार्गको सुलभ करता है जो आधुनिक विज्ञानके पूर्ण अर्थमें वैज्ञानिक है। इसलिये 'वेद-दृष्टि' सनातन ही नहीं सर्वजनीन है, क्योंकि यह 'व्यष्टि-निष्ठा' का मार्ग नहीं, अपितु 'दृष्टि-निष्ठा' का मार्ग है।

वैदिक ऋषियोंने तथा सनातन धर्मने 'दृष्टि-निष्ठा' किस प्रकार विकसित की—प्राप्त की? ध्यानयोगके द्वारा। [illegible] (१। ३)-ने इसे 'ध्यानयोगानुगता' कहा है। ध्यानयोग 'दृष्टि-निष्ठा' की पद्धति है प्रक्रिया है क्रियायोग है। यद्यपि योगपर भारतमें विशाल साहित्य उपलब्ध है परतु पतञ्जलिकृत 'योगसूत्र' इनमें सर्वाधिक प्रामाणिक एवं लोकप्रिय है। जिसे बृहदारण्यकोपनिषद् (२। १। २०)-मे 'सत्यस्य सत्यम्' कहा गया है। ध्यान-योग जिसकी प्राप्तिकी प्रक्रिया है, यही वह मार्ग है जिसका अवलम्ब लेकर कोई भी व्यक्ति 'आर्यत्व' प्राप्त कर सकता है। इसी मार्गके अनुसरणसे अर्जित शक्तिके भरोसे वैदिक ऋषियाने 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का उद्घोष किया था। इस मार्गके अनुसरणके बिना 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' (यजुर्वेद ३२। ८)-की उपलब्धि सम्भव नहीं है।

आज विश्वमे जो बेचैनी, छटपटाहट और पीड़ा है तथा व्याकुलता और व्यथा है वह भेद-भावमूलक सकीर्ण जीवन-दृष्टिके कारण है। वदमें इस जीवन-दृष्टिसे भिन्न 'सत्यं बृहदृतम्' (अथर्व० १२। १। १)-की बात कही गयी है। इसी परम्पराम 'भूमा' (छान्दोग्य० ७। २३। १)-को सुखका कारण बताते हुए कहा गया है कि 'अल्प' में सुख नहीं है भूमा अमृत है और अल्प मर्त्य।

'वेद-दृष्टि' सम्पूर्ण मानव-जीवन ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको उच्चतर चेतनाके विकासके माध्यमसे उन्नत और समृद्ध बनानेके लिय मार्गको सुलभ बनाती है। यह ससारके अन्य धर्मोंकी तरह मात्र मनोवैज्ञानिक नैतिक आचार-शास्त्रीय सामाजिक या आध्यात्मिक ही नहीं बल्कि जैवी विकासकी सम्भावनाओंको भी ध्यानमें रखकर विकसित की गयी है। योगकी साधनासे सुप्त कुडलिनीशक्ति जाग्रत् होती है जो एक जैवी प्रक्रिया है। इस योग साधनामें मरुदण्डकी तीन नाडिया (इडा, पिंगला और सुषुम्ना)-का विशेष योग होता है। यह योग-साधना ऋषियातक ही सीमित नहीं थी बल्कि जन-साधारणमें भी प्रचलित हो चुकी थी इसका सबस प्राचीन प्रमाण यह है कि मोहनजोदडो और हडप्पा ही नहीं, अपितु सरस्वती-सिन्धु-घाटी-सभ्यताकी खुदाईके अन्य स्थानोंस भी योगध्यानमग्न मूर्तियाँ प्रचुर मात्राम पायी गयी हैं। योग-साधनासे मूलाधारमें कुडलीके आकारमें स्थिर प्राण-रस उत्थापित होकर जब मस्तिष्कमें पहुँचता है, तब उससे मस्तिष्कको जो अतिरिक्त ऊर्जा प्राप्त होती है उसीसे हर प्रकारके रचनात्मक कार्य

सम्भव होते हैं और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न उच्चतर अन्तश्चेतनाका विकास होता है [जिसे तृतीय नेत्र कहा गया है]। अन्य धर्मोंमें यह अत्यन्त विरल रही है क्योंकि भारतके अतिरिक्त कहीं और योग-साधनाका आविष्कार नहीं हो पाया। इसीलिये अन्य परम्पराओंमें जबकि धर्म 'व्यष्टि-निष्ठा' तक ही सीमित रह गया, भारतमें यह 'दृष्टि-निष्ठा' के उच्च स्तरतक विकसित हो सका। पतञ्जलिने योगसूत्रमें योग-साधनासे प्राप्त होनेवाली जिन विभूतियोंका विवरण दिया, उन्हें यहाँ गिनानेकी आवश्यकता नहीं है परंतु जिसे प्राप्त कराना पतञ्जलिकी योग-साधनाका लक्ष्य था वह है विवेक-ख्याति अर्थात् प्रकृति एवं पुरुषके विवेकको प्राप्त करना और तत्पश्चात् 'स्वरूप' को प्राप्त करना।

(३)

'वेद-दृष्टि' एवं 'दृष्टि-निष्ठा' की तरह 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' भी एक समीकरण है—एकीकृत सूत्र है। जिसकी गहराईमें गये बिना न वेदकी समुचित व्याख्या सम्भव है, न अध्यात्म एवं विज्ञानकी और न मानव-समाजकी वर्तमान चुनौतियोंका समाधान ही ढूँढ पाना सम्भव है। अध्यात्म-विज्ञान और भौतिक विज्ञानके समन्वय तथा सामञ्जस्यसे ही समाज-विज्ञानकी रचना होती है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' यदि अध्यात्म-विज्ञान और भौतिक विज्ञानके 'सत्' को सूत्ररूपमें अभिव्यक्त करता है तो 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' उसके आधारपर विकसित समाज-विज्ञानको सूत्ररूपमें अभिव्यक्ति प्रदान करता है। 'एकं सद्' में 'एक-से अनेक' की जो प्रवृत्ति लक्षित होती है, उस वैदिक समाज-विज्ञानका यह सूत्र पुन 'अनेकसे एक' की ओर उन्मुख करता है जिसकी परिणति 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' में होती है। इस आत्मसाक्षात्कारके लिये किसी अन्य लोकमें जानेकी आवश्यकता नहीं है अपितु इसी लोकमें इसे प्राप्त करना होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥
(४।४।१४)

अर्थात् 'हम इस शरीरमें रहते हुए ही यदि उसे जान लेते हैं तो कृतार्थ हो गये यदि उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है। जो उसे जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं किंतु दूसरे लोग तो दुःखको ही प्राप्त होते हैं।'

'वेद-दृष्टि' कितनी व्यापक थी, कितनी यथार्थपरक थी इसकी कल्पना भी आज आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। किसी अन्य परम्परामें वेदकी इस उदात्तताको ढूँढ पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
(यजुर्वेद २६।२)

कुछ लोगोंकी इस धारणाका निराकरण आवश्यक है कि 'वेद-दृष्टि' के अनुरूप जीवन मात्र कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्थापर ही आधारित हो सकता है। इसे स्वीकार करनेका अर्थ यह होगा कि वेद नित्य और सनातन सत्यकी अभिव्यक्ति नहीं हैं। ऋत या सनातन नियम अर्थात् वेद (श्रुति) कालातीत हैं। इसलिये कोई आर्षवचन भी यदि श्रुति-विरुद्ध हों तो उन्हें मान्यता नहीं दी जा सकती क्योंकि इस परम्परामें वेदका सर्वोपरित्व निर्विवाद है। इसीलिये भारतीय परम्परामें वेदमन्त्रोंकी अक्षर-रक्षा ही नहीं, बल्कि स्वर-रक्षाके लिये हजारों वर्षोंसे जो प्रयत्न किये जाते रहे—वैसे प्रयत्न संसारमें कहीं और किसीके लिये नहीं किये गये।

वेद-दृष्टि और सनातन-धर्मके नव-जागरणके लिये आज ऐसे ऋषियोंकी आवश्यकता है जिसके लिये यास्कने 'ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' (निरुक्त ७।१।३) कहा है। इसके लिये साधनाका मार्ग अपनानेके बदले आन्दोलनोंमें शक्तिका अपव्यय किया जा रहा है। धर्म तो वेदके ज्ञानके ऊपर टिका है किसी औरपर नहीं।

ज्ञान कर्म और भक्ति सनातन-धर्मके आयाम हो सकते हैं पर ये 'वेद-दृष्टि' के सम्पूर्ण सत्यको उजागर नहीं करते क्योंकि उसमें इन तीनोंके योगके अतिरिक्त भी और बहुत कुछ समाविष्ट है। आधुनिक लोकतन्त्र बहुमतपर आधारित शासन-पद्धति है। यजुर्वेद (२६।२)-का 'इमां वाचं कल्याणीम्...जनेभ्यः' सबके लिये है इसीलिये वैदिक ऋषिने 'सह चित्तमेषाम्' (ऋक्० १०।१९१।३)-की ऊँची बात कही है। यह 'सहचित्तता' 'समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः' (ऋक्० १०।१९१।३) के बिना सम्भव नहीं है। परंतु आज संसारकी संसदियोंमें लोक-सभाओं और विधान-सभाओंमें समान मन्त्र कहाँ

पा रही है। आजकलके लोगोंके गले यह बात उतरती ही नहीं कि इतिहासके उस आरम्भ-कालमें वैसी निर्वैयक्तिकताका विकास सम्भव था जो आधुनिक विज्ञानके लिये भी अभी पूरी तरहसे सुलभ नहीं है। 'दृष्टि-निष्ठा' और 'व्यष्टि-निष्ठा'-में एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर भाषाके प्रयोगका दृष्टिसे है। 'दृष्टि-निष्ठा' में भाषाका प्रयोग यौगिक है 'व्यष्टि-निष्ठा' में रूढ। जैसे दृष्टि सीमित-सकुचित होनेपर सिमट-चिमट जाती है, वैसे ही 'दृष्टि-निष्ठा' से 'व्यष्टि-निष्ठा' के धरातलपर उतरनेसे शब्द भी यौगिकरूपसे रूढ हो जाते हैं, उनकी शक्ति व्यापकताको खो देती है और कवि भी मात्र शिल्पी रह जाता है, क्योंकि शब्दके नैरुक्तिक अर्थका विस्मरण कर उनके प्रचलित रूढ अर्थसे ही भाषाको बाँध दिया जाता है।

(२)

आधुनिक भौतिक विज्ञान 'बहुधा वदन्ति' के रूपमें अभी हमारे सामने है पर वह 'एकं सद्' तक नहीं पहुँचा है, क्योंकि इस निष्पत्तिकी दार्शनिक एवं सामाजिक परिणतिको ग्रहण करनेके लिये अभी पश्चिमी मानस तैयार नहीं है। वैदिक ऋषिका मानस इससे भिन्न था। वे 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के साथ-साथ 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'-के भी द्रष्टा थे जिसके लिये अन्य धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओंमें आज भी मानसिक तैयारी नहीं है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' भौतिकशास्त्र (फिजिक्स)-का पराभौतिकशास्त्र (मेटाफिजिक्स) है और 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' उसका (भौतिक विज्ञानका) पूरक समाजविज्ञान है, जो पूरे मानव-समाजको श्रेष्ठतम स्तर तकके विकासका अधिकारी मानकर सबके लिये एक ऐसे निर्वैयक्तिक मार्गको सुलभ करता है जो आधुनिक विज्ञानके पूर्ण अर्थमें वैज्ञानिक है। इसलिये 'वेद-दृष्टि' सनातन ही नहीं सर्वजनीन है क्योंकि यह 'व्यष्टि-निष्ठा' का मार्ग नहीं अपितु 'दृष्टि-निष्ठा' का मार्ग है।

वैदिक ऋषियोंने तथा सनातन धर्मने 'दृष्टि-निष्ठा' किस प्रकार विकसित की—प्राप्त की? ध्यानयोगके द्वारा। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१। ३)-ने इसे 'ध्यानयोगानुगता' कहा है। ध्यानयोग 'दृष्टि-निष्ठा' की पद्धति है प्रक्रिया है क्रियायोग है। यद्यपि योगपर भारतमें विशाल साहित्य उपलब्ध है, परंतु पतञ्जलिकृत 'योगसूत्र' इनमें सर्वाधिक प्रामाणिक एवं लोकप्रिय है। जिसे बृहदारण्यकोपनिषद् (२। १। २०)-में 'सत्यस्य सत्यम्' कहा गया है। ध्यान-योग जिसकी प्राप्तिकी प्रक्रिया है, यही वह मार्ग है जिसका अवलम्ब लेकर कोई भी व्यक्ति 'आर्यत्व' प्राप्त कर सकता है। इसी मार्गके अनुसरणसे अर्जित शक्तिके भरोसे वैदिक ऋषियोंने 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का उद्घोष किया था। इस मार्गके अनुसरणके बिना 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' (यजुर्वेद ३२। ८)-की उपलब्धि सम्भव नहीं है।

आज विश्वमें जो बेचैनी छटपटाहट और पीडा है तथा व्याकुलता और व्यथा है, वह भेद-भावमूलक संकीर्ण जीवन-दृष्टिके कारण है। वेदमें इस जीवन-दृष्टिसे भिन्न 'सत्यं बृहद्तम्' (अथर्व० १२। १। १)-की बात कही गयी है। इसी परम्परामें 'भूमा' (छान्दोग्य० ७। २३। १)-को सुखका कारण बताते हुए कहा गया है कि 'अल्प' में सुख नहीं है भूमा अमृत है और अल्प मर्त्य।

'वेद-दृष्टि' सम्पूर्ण मानव-जीवन ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको उच्चतर चेतनाके विकासके माध्यमसे उन्नत और समृद्ध बनानेके लिये मार्गको सुलभ बनाती है। वह संसारके अन्य धर्मोंकी तरह मात्र मनोवैज्ञानिक नैतिक, आचार-शास्त्रीय सामाजिक या आध्यात्मिक ही नहीं, बल्कि जैवी विकासकी सम्भावनाओंको भी ध्यानमें रखकर विकसित की गयी है। योगकी साधनासे सुप्त कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् होती है जो एक जैवी प्रक्रिया है। इस योग-साधनामें मेरुदण्डकी तीन नाडियों (इडा, पिंगला और सुषुम्ना)-का विशेष योग होता है। यह योग-साधना ऋषियोंतक ही सीमित नहीं थी बल्कि जन-साधारणमें भी प्रचलित हो चुकी थी, इसका सबसे प्राचीन प्रमाण यह है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा ही नहीं अपितु सरस्वती-सिन्धु-घाटी-सभ्यताकी खुदाईके अन्य स्थानोंसे भी योगध्यानमग्न मूर्तियाँ प्रचुर मात्रामें पायी गयी हैं। योग-साधनासे मूलाधारमें कुंडलीके आकारमें स्थिर प्राण-रस उत्थापित होकर जब मस्तिष्कमें पहुँचता है तब उससे मस्तिष्कको जो अतिरिक्त ऊर्जा प्राप्त होती है, उसीसे हर प्रकारके रचनात्मक कार्य

सम्भव होते हैं और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न उच्चतर अन्तश्चेतनाका विकास होता है [जिसे तृतीय नेत्र कहा गया है]। अन्य धर्मोंमें यह अत्यन्त विरल रही है, क्योंकि भारतके अतिरिक्त कहीं और योग-साधनाका आविष्कार नहीं हो पाया। इसीलिये अन्य परम्पराओंमें जबकि धर्म 'व्यष्टि-निष्ठा' तक ही सीमित रह गया भारतमें यह 'दृष्टि-निष्ठा' के उच्च स्तरतक विकसित हो सका। पतञ्जलिने योगसूत्रमें योग-साधनासे प्राप्त होनेवाली जिन विभूतियोंका विवरण दिया, उन्हें यहाँ गिनानेकी आवश्यकता नहीं है परंतु जिसे प्राप्त कराना पतञ्जलिकी योग-साधनाका लक्ष्य था, वह है विवेक-ख्याति अर्थात् प्रकृति एवं पुरुषके विवेकको प्राप्त करना और तत्पश्चात् 'स्वरूप' को प्राप्त करना।

(३)

'वेद-दृष्टि' एवं 'दृष्टि-निष्ठा' की तरह 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' भी एक समीकरण है—एकीकृत सूत्र है। जिसकी गहराईमें गये बिना न वेदकी समुचित व्याख्या सम्भव है न अध्यात्म एवं विज्ञानकी और न मानव-समाजकी वर्तमान चुनौतियोंका समाधान ही ढूँढ पाना सम्भव है। अध्यात्म-विज्ञान और भौतिक विज्ञानके समन्वय तथा सामञ्जस्यसे ही समाज-विज्ञानकी रचना होती है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' यदि अध्यात्म-विज्ञान और भौतिक विज्ञानके 'सत्' का सूत्ररूपमें अभिव्यक्त करता है तो 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' उसके आधारपर विकसित समाज-विज्ञानका सूत्ररूपमें अभिव्यक्ति प्रदान करता है। 'एकं सद्' में 'एक-से अनेक' की जो प्रवृत्ति लक्षित होती है उस वैदिक समाज-विज्ञानका यह सूत्र पुनः 'अनेकसे एक' की ओर उन्मुख करता है जिसकी परिणति 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' में होती है। इस आत्मसाक्षात्कारके लिये किसी अन्य लोकमें जानेकी आवश्यकता नहीं है अपितु इसी लोकमें इसे प्राप्त करना होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥
(४। ४। १४)

अर्थात् 'हम इस शरीरमें रहते हुए ही यदि उसे जान लेते हैं तो कृतार्थ हो गये यदि उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है। जो उसे जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं किंतु दूसरे लोग तो दुःखको ही प्राप्त होते हैं।'

'वेद-दृष्टि' कितनी व्यापक थी, कितनी यथार्थपरक थी, इसकी कल्पना भी आज आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। किसी अन्य परम्परामें वेदकी इस उदात्तताको ढूँढ पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याः शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
(यजुर्वेद २६। २)

कुछ लोगोंकी इस धारणाका निराकरण आवश्यक है कि 'वेद-दृष्टि' के अनुरूप जीवन मात्र कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्थापर ही आधारित हो सकता है। इसे स्वीकार करनेका अर्थ यह होगा कि वेद नित्य और सनातन सत्यकी अभिव्यक्ति नहीं हैं। ऋत या सनातन नियम अर्थात् वेद (श्रुति) कालातीत हैं। इसलिये कोई आर्षवचन भी यदि श्रुति-विरुद्ध हो तो उन्हें मान्यता नहीं दी जा सकती क्योंकि इस परम्परामें वेदका सर्वोपरित्व निर्विवाद है। इसीलिये भारतीय परम्परामें वेदमन्त्रोंकी अक्षर-रक्षा ही नहीं बल्कि स्वर-रक्षाके लिये हजारों वर्षोंसे जो प्रयत्न किये जाते रहे—वैसे प्रयत्न संसारमें कहीं और किसीके लिये नहीं किये गये।

वेद-दृष्टि और सनातन-धर्मके नव-जागरणके लिये आज ऐसे ऋषियोंकी आवश्यकता है जिसके लिये यास्कने 'ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' (निरुक्त ७। १। ३) कहा है। इसके लिये साधनाका मार्ग अपनानेके बदले आन्दोलनोंमें शक्तिका अपव्यय किया जा रहा है। धर्म तो वेदके ज्ञानके ऊपर टिका है किसी औरपर नहीं।

ज्ञान कर्म और भक्ति सनातन-धर्मके आयाम हो सकते हैं पर ये 'वेद-दृष्टि' के सम्पूर्ण सत्यको उजागर नहीं करते क्योंकि उसमें इन तीनोंके योगके अतिरिक्त भी और बहुत कुछ समाविष्ट है। आधुनिक लोकतन्त्र बहुमतपर आधारित शासन-पद्धति है। यजुर्वेद (२६। २)-का 'इमां वाचं कल्याणीम्'''जनेभ्यः' सबके लिये है इसलिये वैदिक ऋषिने 'सह चित्तमेषाम्' (ऋक्० १०। १९१। ३)-को ऊँचा स्थान दिया है। यह 'सहचित्तता' 'समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः' (ऋक्० १०। १९१। ३)-के बिना सम्भव नहीं है। परंतु आज संसारकी समितियोंमें लोक-सभाओं और विधान सभाओंमें समान मन्त्र कहाँ

दृष्टिगोचर हो रहा है क्या? और जब समिति समान मन्त्र न हो तो जन-मन कैसे समान हो सकता है?

वेद-दृष्टि मध्य कालमे जिसे प्राप्त नहीं कर सकी अब प्राप्त कर सकती है। आधुनिक विज्ञान और टेक्नालाजीके सहयोगसे यह सम्भव है। भारतकी स्वतन्त्रताका प्रयोजन यही है। भारत इस दायित्वको निभानेसे मुकर या भाग नहीं सकता। 'तृष्णा' के भयसे सृष्टिकी उपेक्षा 'अज्ञान' है। इस 'अज्ञान' को 'वेद-दृष्टि'के 'ज्ञान' से ही दूर किया जा सकता है।

(४)

भारतने श्रद्धा क्यो खो दी है, अपना इतना अवमूल्यन क्यो कर दिया है? छान्दोग्योपनिषद् (५। ३। २)-में कहा गया है कि 'यह (ज्ञान) एकाध सूखे ठूँठको भी यदि कहा जाय तो उसमें शाखाएँ और पत्ते निकल सकते हैं तो भारत और सनातन-धर्मका कायाकल्प क्यों नहीं हो सकता? यदि इसे प्राप्त करना हो तो इस 'महत्'की प्राप्तिके लिये दीक्षित होकर तपस्या करनी पड़ेगी, व्रत लेना पड़ेगा— व्रतेन दीक्षामाप्नोति' (यजुर्वेद १९। ३०), साथ ही श्रद्धा करनी पड़ेगी, क्योंकि श्रद्धा करनेपर ही सत्यताकी प्राप्ति होती है—'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुर्वेद १९। ३०)।

विश्व वेदकी ओर या सनातन-धर्मकी ओर तबतक उन्मुख नहीं होगा, जबतक हम पुन 'वेद-दृष्टि और दृष्टि-निष्ठा' को नहीं प्राप्त करते। हम ब्रह्मज्ञान आत्मविद्या या अध्यात्मके महत्त्वकी चाहे जितनी बाते करें। आधुनिक विश्वमे तबतक हमारी बात कोई नहीं सुनेगा जबतक भारत अपनेको स्वय उस ऊँचाई तक नहीं उठाता। दूसरी ओर पश्चिमी देशोकी हू-बहू नकलकी हम चाहे जितनी कोशिश करें—विश्व हमारी ओर कभी आकृष्ट नहीं होगा, बल्कि हमारी नकलची प्रवृत्तिका मजाक ही उड़ायगा। हर राष्ट्रको अपनी परम्परा और परिस्थितिके आधारपर अपने विकासका मार्ग तय करना होता है। अत भारतको 'वेद-दृष्टि' एव 'दृष्टि-निष्ठा'के अनुरूप ही अपने विकासकी दिशा एवं मार्गका निर्धारण करना होगा।

वैदिक दृष्टि-निष्ठाने सरस्वती-घाटी सिन्धु-घाटीमे जिस कोटिकी आध्यात्मिक संस्कृति और भौतिक सभ्यताका विकास किया वह ससारके इतिहासमे अनुपम है। वह विश्व-इतिहासकी एकमात्र सर्वाङ्गीण संस्कृति और सभ्यता थी जिसकी नींव इतनी मजबूत थी कि हजारों थपेड़ोंके बावजूद आज भी भारत अद्वितीय और अप्रतिम है। यह स्वतन्त्र विषय है और इसका उल्लेख यहाँ इसलिये आवश्यक प्रतीत हुआ कि इसका अक्सर विस्मरण कर दिया जाता है।

रूसमे वेदका अध्ययन और अनुसधान

(श्रीउदयनारायण सिंहजी)

वैदिक धर्म भारतमे धार्मिक विश्वासोकी सबसे प्राचीन प्रणाली है जिसने इस उपमहाद्वीपमे प्रकट होनेवाली धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक शिक्षाओपर गहनतम प्रभाव डाला है। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्त तथा बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें रूसी अध्येताओ और विद्वानोका ध्यान वेदोकी ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने उसका अध्ययन प्रारम्भ किया। इस वृहद् और [illegible] कार्यका समारम्भ सुप्रसिद्ध रूसी साहित्यकार और मानवतावादी लियो टालस्टॉयने किया जिनका भारतके राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीसे सम्पर्क—व्यवहार भी था और महात्मा गाँधीके प्रारम्भिक जीवनको उन्हे [illegible] प्रभावित भी किया था। गाँधीजी [illegible] गुरु मानते थे। लियो टालस्टॉय एक दार्शनिक और मानवतावादी विचारक भी थे जिन्होंने रूसकी जनतामें भारतीय साहित्य दर्शन और संस्कृतिमे गहरी अभिरुचि पैदा की थी। इस महान् मतका ध्यान सर्वप्रथम वेदोंके समृद्ध ज्ञान-भंडारकी ओर आकृष्ट हुआ। टालस्टॉयने वेदोका अध्ययन १९०५ [illegible] माध्यमसे नहीं वरन् उस समय भारतके गुरु[illegible] नामक स्थानसे [illegible] उस वैदिक [illegible] [illegible]सिक पत्रिका)-के [illegible] जा। [illegible] उनकी [illegible] पोल्याना [illegible] थी [illegible]

टालस्टॉयका योगदान

लियो टालस्टॅायने वेदामें सनिहित गहन ज्ञानकी सराहना करते हुए इस गौरव-ग्रन्थके उन अशाको विशष महत्त्व दिया, जिनमें नीतिशास्त्रकी बाते बतायी गयी हैं। मानवतावादी होनेके नाते टालस्टॉयने मानव-प्रेमसे सम्बन्धित वेदकी ऋचाओका भी अत्यधिक रुचिके साथ अध्ययन किया तथा उनकी अनेक बातोको स्वीकार भी किया। भारतीय पौराणिक ग्रन्थाकी कलात्मकता तथा काव्य-सौन्दर्यने उन्हें विशेष प्रभावित किया। वेद तथा उपनिषद्‌की प्रशसाम उन्होंने अपनी अमर कृतियोमे अनेक स्थानोपर किसी-न-किसी रूपमें अवश्य ही कुछ पक्तियाँ लिखी हैं। उदाहरणार्थ 'कला क्या है'? शीर्षक-निबन्धमें उन्हाने लिखा है—'शाक्य मुनिके इतिहास तथा वेदमन्त्रोमें अत्यधिक गहरे विचार प्रकट किये गये हैं और चाहे हम शिक्षित हो अथवा नहीं ये हम अब भी प्रभावित करते हैं।' टालस्टॉयने न कवल वेदोंका अध्ययन ही किया, वरन् उनकी शिक्षाआका रूसमें प्रचार भी किया। उन्होने अपनी कृतियामें यत्र-तत्र इसके उद्धरण भी प्रस्तुत किय हैं। उनकी कुछ उक्तियोंके भावानुवाद इस प्रकार हैं—

'उस प्रकारके धन (ज्ञान)-का सग्रह करो जिसे न तो चोर चुरा सके और न जुल्म करनवाले छीन ही सक। दिनमें इस प्रकार काम कर कि रातमें नींद आरामसे ले सकें। जो कुछ भी नहीं करता, वह केवल बुराई करता है। वास्तवमें वही व्यक्ति शक्तिशाली है, जो अपनेपर विजय प्राप्त कर लेता है।'

—टालस्टॉयकी ये उक्तियाँ वेदकी गहन शिक्षाआके अधिक निकट हैं। टालस्टॉयने जीवनपर्यन्त भारतीय साहित्य और संस्कृतिम रुचि प्रकट की। 'ललित-विस्तर' तथा गीता और शकराचार्यकी दार्शनिक रचनाआका उन्होंने अध्ययन किया। 'ऋग्वेद' के सम्बन्धमें उन्होंने लिखा— वेदोंमें उदात्त भावनाएँ निहित हैं।' भारतके अनेक लेखकोंपर टालस्टॉयका गहरा प्रभाव पड़ा था। प० जवाहरलाल नेहरूने लिखा है—'टालस्टॉय उन लेखकामसे हैं जिनका नाम और जिनकी रचनाएँ भारतमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

परवर्ती साहित्यपर प्रभाव

रूसके अन्य अनेक अध्येताआने वेदाका अध्ययन एव मनन किया है, जिनम मि० म० बागर्द लेविनका प्रमुख रूपसे उल्लेख किया जा सकता है। वैदिक साहित्यके बारेमें उन्हाने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—'वेद भारतके प्राचीन ग्रन्थ हैं, यद्यपि इनकी विषय-वस्तु बहुत व्यापक है और उसमें समाविष्ट अश भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक कालोंके हैं, तथापि प्राचीन परम्पराके अनुसार उन्हें अनेक समूहोम विभाजित किया जाता है। यथा—'ऋग्वेद' (ऋचा-सकलन), 'सामवेद' (मन्त्र-सकलन), 'यजुर्वेद' (स्तुति तथा यज्ञ-विधि-सकलन) और 'अथर्ववेद' (मन्त्र एव जादूमन्त्र-सकलन)। इनम सबस प्राचीन 'ऋग्वेद' है, इसमें विश्वोत्पत्ति तथा विवाह-विषयक ऋचाओंसहित अनेक विषयोंपर १०२८ ऋचाएँ हैं। रूसी विद्वान्‌ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वेदाम नाट्य-तत्त्व पाये जाते हैं, जिनका साहित्यक उत्तरवर्ती कालोंमें अधिक पूर्णताके साथ परिष्करण होता है। इसका एक अत्यन्त रोचक उदाहरण 'ऋग्वेद' का तथाकथित 'सवाद-स्तोत्र' है। इसके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि ये मात्र धार्मिक मन्त्र नहीं थे वरन् नाट्य-प्रस्तुतियोके लिये रचे गये थे। 'ऋग्वेद' की कुछ कथाओंने उत्तरवर्ती कालके लेखकोंका नाट्य-रचनाओंके लिये सामग्री प्रदान की। उदाहरणके लिये महाकवि कालिदासने अपने नाटक 'विक्रमोर्वशीय'-का आधार पुरूरवा और उर्वशीके प्रेमकी वैदिक कथाको बनाया है। इससे यह निष्कर्ष सहजम ही निकाला जा सकता है कि वैदिक साहित्यका भारतक परवर्ती साहित्यपर गहरा प्रभाव पड़ा था।

भारत-विद्या-सम्बन्धी अनुसधान

भारतकी विद्याके सम्बन्धमें अध्ययन और अनुसंधान करनेवालोंमें रूसी भाषाविद् अकाम्पारियन फोर्तुनातोव (सन् १८४८—१९१४)-का विशेष रूपसे उल्लेख किया जा सकता है। मास्को विश्वविद्यालयकी पढ़ाई पूरा करनेके बाद सन् १८७२-७३ में उन्होंने यूरोपके [illegible] संस्कृतविदों ट्यूबिंगनमें रोथ बर्लिनमें वेबर एवं पेरिसमें [illegible] पाया। मध्ययुगीन भाषाओंका भी उन्होंने अध्ययन किया। सन् १८७५में प्रकाशित उनका [illegible]—'[illegible]

आरण्यक-संहिता' के पाठका प्रकाशन था जिसके साथ रूसी-अनुवाद, व्यापक टिप्पणियाँ, अनुसंधान-कार्य तथा यूरोपीय भाषाओंके तुलनात्मक व्याकरणकी कुछ समस्याओंपर परिशिष्ट भी था। यूरोपमें 'सामवेद' सदा उसके 'आरण्यकों'के बिना छापा जाता था। इस प्रकार फोर्तुनातोव 'सामवेद'के आरण्यकोंके प्रथम रूसी प्रकाशक थे। उनके इस ठोस एवं गहन अनुसंधान-कार्यमें वैदिक साहित्यका सिंहावलोकन तथा उसके इतिहासके कुछ प्रश्नोंपर प्रकाश डाला गया था। विशेषतः यजुर्वेदके मन्त्रोंमें और यज्ञ-कृत्योंके बीच सह-सम्बन्धके प्रश्नपर लेखकने यह निष्कर्ष निकाला है कि यज्ञ-कृत्य सदा ही उच्चरित मन्त्रोंसे अधिक पुराने नहीं होते थे। उलटे कतिपय कृत्योंकी व्याख्या वैदिक पाठोंके आधारपर ही की जा सकती है। उन्होंने 'सामवेद' की टीकाओं और उसके भाष्योंकी ओर विशेष ध्यान देते हुए इंगित किया है कि कुछ मामलोंमें 'सामवेद' के मन्त्र 'ऋग्वेद' के मन्त्रोंसे अधिक पुराने हैं। फोर्तुनातोवने यह लिखा है—'वर्तमान समयमें वैदिक ग्रन्थोंके प्रकाशनका कार्यभार उस पाठको प्रस्तुत करना है जो वास्तवमें है और जहाँतक हम पता लगा सकते हैं, प्राचीन युगमें भी वह अस्तित्वमें था।'

वैदिक समाज

एक अन्य रूसी भारतीय विद्याविद् अकादमीशियन व्सेवोलोदमिल्लर (सन् १८४८—१९१३) भी पत्रोवके शिष्य थे जिन्होंने अपनी शिक्षा बर्लिनके वेबर और ट्यूबिंगनके रॉथके निर्देशनमें वेदों और 'अवस्ता' का अध्ययन करते हुए जारी रखी। प्राग नामक नगरमें काम कर रहे 'ऋग्वेद'-के प्रसिद्ध विशेषज्ञ अल्फ्रेड लुडविगके साथ विशेषतः उनके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। मिल्लरका शोध-प्रबन्ध 'आर्य मिथक और प्राचीनतम संस्कृतिके साथ उनका सम्बन्ध—एक रूपरेखा भाग—१' शीर्षकसे सन् १८७६ में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थकी योजना व्यापक थी जिसमें न केवल वैदिक साहित्य और मिथकोंपर वरन् वैदिक समाजपर भी सामग्री थी। कुछ हदतक मिल्लरका यह ग्रन्थ जर्मन विद्वान् हनरिक जिमरकी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्राचीन भारतीय जीवनकी पूर्वगामी थी। रूसी विद्वान्ने वैदिक पाठोंके आधारपर आर्योंके सामाजिक जीवन उनके परिवार, शिल्प शस्त्र-अस्त्र आदिका विवरण प्रस्तुत किया। वेदोंमें प्रतिबिम्बित अवधारणाओंपर उन्होंने यूनानी रोमन और ईरानी मिथकोंसे तुलना की है। मिल्लरके ग्रन्थमें कतिपय वैदिक श्लोकोंका अनुवाद और उनकी विवेचना की गयी है। यह स्मरणीय है कि अनेक वर्षोंतक मिल्लर मास्को विश्वविद्यालयमें संस्कृत पढ़ाते रहे।

ऋचाओंकी विशेषता

एक अन्य रूसी भारतीय विद्याविद् दमीत्री ओव्स्यानिको-कुलिकाव्स्की (सन् १८५३—१९२०)-ने भी वैदिक साहित्यके क्षेत्रमें कार्य किया है। उन्होंने ओदेसामें इ० यागिच पाटर्सबर्गमें प्रोफेसर मिनाएव तथा पेरिसमें बेर्गेनसे संस्कृत सीखी। उन्होंने 'अवस्ता' का भी अध्ययन किया। वे खार्कोव विश्वविद्यालयमें संस्कृतके अध्यापक भी थे। उन्होंने वैदिक साहित्यपर कई पुस्तकें लिखीं यथा—'सामपुष्प लानेवाले गरुडका वैदिक मिथक—वाणी और उन्मादकी अवधारणाके प्रसंगमें', 'भारोपीय युगके सुरादेवोपासना पंथोंके अध्ययनका प्रयास' और 'प्राचीन भारतमें वैदिक युगमें सोमदेवकी उपासना ओदेस्सा' (सन् १८८४)। अन्तिम पुस्तकमें लेखकद्वारा वैदिक सोमदेवकी ईरानी पंथोंके अहोम (हाम) और यूनानी डायोनिशसकी उपासनासे व्यापक तुलना की गयी है तथा मिथकोंके अध्ययनमें सौर और ऋतु-सम्बन्धी धाराओंके प्रमुख प्रतिनिधियोंके विचारोंकी आलोचना की गयी है। कुलिकाव्स्कीकी मान्यता थी कि वैदिक ऋचाओंमें वाणी अपनी लयबद्धताके कारण द्रव-सी प्रवाहित होती थी। लयबद्ध वाणीका आदिम मानवके मानसपर प्रबल प्रभाव पड़ता था और इससे उसकी चिन्तन और सृजन-शक्ति जाग्रत् होती थी। लेखकने 'ऋग्वेद'-की ऋचाओंके भाषा वैज्ञानिक विश्लेषणकी सहायतासे पुरातन भाषा और चिन्तनकी विशिष्टताओंका पता लगानेकी चेष्टा की थी। सन् १८८७ में कुलिकाव्स्कीने एक अन्य पुस्तक 'वैदिक युगमें हिन्दुओंकी अग्निपूजाके इतिहासपर कुछ विचार' शीर्षकसे प्रकाशित की। इसमें उन्होंने वेदोंमें अग्निके तीन रूप निर्धारित किये—गृहपति, विशाम्पति और वैश्वानर। उनके विचारमें यह विभेदन केवल मिथकीय लक्षणोंके अनुसार नहीं हुआ वरन् इसका सामाजिक आधार था। गृहपति एक अलग परिवारके गृहका अग्निदेव था विशाम्पति ग्राम एवं समुदायका और वैश्वानर समुदायोंके संघका

अग्निदेव था। पुस्तकका जो भाग तीन अग्नियाकी पूजाको समर्पित है, उसका मुख्य निष्कर्ष यही है कि पथा और धार्मिक अवधारणाआका विकास आर्योंके नागरिक गठनक विकासके साथ-साथ ही हुआ। इस पुस्तकके दूसरे भागमे उन्हाने वैदिक साहित्यमे अग्निकी उपमाआकी सूची दी है, जिसमे ८०० उपमाएँ सकलित हैं। इसकी सहायतास वैदिक धर्म और साहित्यमें अग्निके महत्त्व, कार्यों और लक्षणाका सही-सही पता लगाया जा सकता है। इस ग्रन्थका फ्रासीसी अनुवाद भी पेरिससे प्रकाशित हुआ है।

वैदिक भाषाका व्याकरण

कुलिकोव्स्कीके शिष्य पावेल रित्तेर (सन् १८७२—१९३९)-ने खार्कोव विश्वविद्यालयके स्लाव-रूसी सकायम शिक्षा प्राप्त की। उनकी प्रथम ऐतिहासिक कृति 'विष्णुको समर्पित ऋग्वेदकी ऋचाआका अध्ययन' है। रित्तेरने जर्मनीमे 'ऋग्वेद' के प्रसिद्ध ज्ञाता कार्ल गेल्डनरसे भी शिक्षा प्राप्त कर सस्कृतक अतिरिक्त पालि और बँगला-भाषा भी सीखी। उन्हाने ऋग्वेदसे लकर बीसवीं शताब्दीके बँगला कवियाकी कृतियाका अनुवाद भी किया है। वर्तमान समयमे रूसी महिला भारत-विद्याविद् त० येलिजारन्कोवा वैदिक साहित्यपर कार्य कर रही हैं। उन्हाने वैदिक भाषा—'ऋग्वद' की शैली और 'अथर्ववेद' के मन्त्रा आदिपर कई लेख प्रकाशित किया है। उन्हाने सन् १९८२ मे 'वैदिक भाषाका व्याकरण' लिखा है जिसम मन्त्राकी भाषाका सभी स्तरापर एककालिक वर्णन किया गया है। इसमें वैदिक पाठाको शब्द तथा अर्थ-रचनाका अध्ययन किया गया है। इस समय वे 'ऋग्वेद' का विस्तृत टीकासहित पूर्ण अनुवाद तैयार कर रही हैं। एक अन्य विद्वान् एर्मनकी पुस्तक 'वैदिक साहित्यके इतिहासकी रूपरेखा' म ऋग्वेदसे उपनिषदा और वदाङ्गा तकका सविस्तार सिहावलोकन किया गया है। सेरेब्रयाकोव नामक एक अन्य रूसी भारत-विद्याविद्ने 'प्राचीन भारतीय साहित्यकी रूपरेखा' पुस्तक सन् १९७१ में प्रकाशित करायी, जिसम वैदिक युगसे लेकर क्षेमेन्द्र और सामदेव-जैसे मध्ययुगीन लेखकोंतकके भारतीय साहित्यके इतिहासकी परिघटनाओंका विवरण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसी भारत-विद्याविद् कितने लगन कठार परिश्रम और गहन अध्ययनक साथ वेदोंका चिन्तन-मनन कर रह हैं। ये वेदमें सनिहित ज्ञानक अथाह भडारकी न केवल खोज कर उसका विश्लेषण ही कर रहे हैं वरन् रूसम निवास करनेवाली करोडा जनताको भी इससे सुपरिचित करानेका प्रयास कर रहे हैं, जो वदाके यारेमें यहुत कुछ जानन-समयनेके लिय उत्सुक हैं। निस्सदेह यह भारतके प्राचीन ग्रन्थ वेदके प्रति रूसी जनताकी गहरी आस्था ज्ञान-पिपासा एव अभिरुचिका द्योतक है।

वेदविद्या—विदेशोमे

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी डी०लिट्०)

शोपेन हायर, मैक्समूलर, हेनरिक जिमर, हर्मन ओल्डेनवर्ग, अल्फ्रेड हिलब्राट के० एफ० गेल्डनर हरमैन लौमस हरमैन बरमर, हरमैन ग्रासमैन अल्फ्रेड लुडविग याल्टरयुस्ट, स्कर्ट पालड्यूसेन आदि जमन विद्वानाकी सुदीर्घ परम्परा है, जिन्होंने वदविद्याके अध्ययनकी महत्ता प्रतिपादित की। सन् १८४६ म मैक्समूलरन आचार्य सायणक भाष्यसहित सम्पूर्ण ऋग्वेदसहिताका सम्पादन कर उसे प्रकाशित किया था। इस दिशामें मैक्समूलरको प्रेरित करनेवाले फ्रासासी विद्वान् थे यूजीन बर्नाफ।

रूडोल्फ फान रॉथकी कृति वदाके साहित्य और इतिहासके विषयमं मैक्समूलरस तान वर्ष पहल ही आ चुकी थी। रॉथके शिष्यामे कार्ल एफ गल्डनर (सन् १८५२—१९२९)-ने ऋग्वदका अनुवाद किया था। बादमे इसका अनुवाद अल्फ्रड लुडविग (सन् १८३२—१९११)-न प्रकाशित कराया।

जर्मनामें सबमे पहले सामवेदका सम्पादन और अनुवाद किया गया था। थिआडर बन्फ (सन् १८०९—१८८१)-न सन् १८४८ में उसका प्रकाशन किया था। अल्ब्रेख्त वेबरने शुक्ल यजुर्वेदका मूल पाठ (सन् १८५२—५९ के बीच) प्रकाशित कराया था। लाओपोल्ड श्रोडर (सन् १८५१—१९२०)-न (सन् १८८१—१८८६ में) मैत्रायणी-संहिताका सम्पादन किया। यूलियुस गिल (सन् १८८०— १९१८) न अथर्ववेद

सौ मन्त्रोंका अनुवाद किया।

अल्फ्रेड हिलब्राट (सन् १८५३—१९२७)-ने दो खण्डोंमें 'वैदिक-पुराण-कथा' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया। हर्मन ओल्डनबर्ग (सन् १८५४—१९२०)-ने वेदोंके धर्मपर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की थी और ऋग्वेदपर जो व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ लिखीं, वैदिक अध्ययनके क्षेत्रमें उन्हें महत्त्वपूर्ण माना जाता है। हेनरिक जिमरने 'प्राचीन भारतमें जीवन' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें वैदिक भारतके सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्षोंका चित्रण है।

मैक्समूलर वेदविद्याके अनुसंधानद्वारा भारतवर्षके उस स्वरूपको पहचान सके थे, जिसके सम्बन्धमें उन्होंने लिखा है कि 'यदि मुझसे पूछा जाय कि सम्पूर्ण मानव-समाजमें सबसे अधिक बौद्धिक विकास कहाँ हुआ? कहाँ सबसे बड़ी जटिल समस्याओंपर विचार हुआ? तो मैं भारतवर्षकी ओर संकेत करूँगा। यदि मुझसे यह पूछा जाय कि वह कौन-सा साहित्य है, जो हमारे आन्तरिक जीवनको पूर्ण और सार्वभौम बना सकता है, तो मैं वैदिक साहित्यकी ओर संकेत करूँगा।' हेनरिक जिमरने (सन् १८७९ में) ऐंसियंट लाइफ—द कल्चर ऑफ द वैदिक आर्यन्स प्रकाशित किया था। स्कर्टने अथर्ववेदका अनुवाद सन् १९२३ में प्रकाशित किया। पालड्यूसनने सन् १९०७ में 'द सीक्रेट टीचिंग ऑफ द वेद' और सन् १८८३ में 'द सिस्टम ऑफ वेद' प्रकाशित किया था।

ओवस्यानिको कुलिकोव्स्की एक रूसी विद्वान् थे जिन्होंने (सन् १८८४) सोम-उपासनापर कार्य किया था। वे पहले रूसी विद्वान् थे जिन्होंने वेदके मिथकों एवं दर्शनशास्त्रका अध्ययन किया और भारतीय सभ्यताके विकासका एकल सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उन्होंने पी-एच्०डी०के लिये 'वेदकालीन भारतमें अग्निपूजा' विषयपर अनुसंधान किया वैदिक अनुष्ठानों और अन्य जातियोंके अनुष्ठानोंमें अनेक समानताओंका उल्लेख किया तथा भारतीय एवं यूरोपीय जातियोंकी संस्कृतियोंके मूल उद्गमोंकी खोज की।

वैदिक उपाख्यानोंपर रूसी विद्वान् व्लादीमिर तापोरोवकी कृति ग्रिगोरी इलिनकी वैदिक संस्कृतिके भौतिक आधारोंकी खोज और ग्रिगोरी बोन्गार्ड लेविनकी वैदिक दर्शन-विषयक कृतियाँ उच्च अकादमिक स्तरकी हैं। लेनिनग्राद राज्य-विश्वविद्यालयके प्रोफेसर व्लादीमिर एमनिने 'वैदिक साहित्यके इतिहास-सम्बन्धी निबन्ध' नामक कृति प्रकाशित की है। पुस्तकके प्रारम्भमें वे लिखते हैं कि भारतमें अतीत और वर्तमानके अटूट सम्बन्ध तथा इसकी प्राचीन संस्कृतिके विचार आदर्श जनताकी चेतनामें आज भी जीवित हैं और समाजके आत्मिक जीवनको प्रभावित करते हैं। व्लादीमिर तिखोमिरोवने 'सुनो पृथ्वी, सुनो आकाश' नामक कृतिमें ऋग्वेद और अथर्ववेदके पद्योंका रूसी भाषामें अनुवाद किया है।

तात्याना येलिजारेन्कोवाने रूसी भाषामें ऋग्वेदका सम्पादन-प्रकाशन किया है। वे ऋग्वेदके मिथक शास्त्र एवं वरुण आदि देवी-देवताओंकी छविपर अनेक निबन्ध प्रकाशित करा चुकी हैं। येलिजारेन्कोवाद्वारा प्रकाशित ऋग्वेदके अनुवादका पहला खण्ड मास्को तथा लेनिनग्रादमें हाथों-हाथ बिक गया था उसकी चालीस हजार प्रतियाँ छापी गयी थीं।

इसी भारी माँगके कारणोंपर प्रकाश डालते हुए येलिजारेन्कोवाने कहा कि 'हमें वैदिक साहित्यकी आवश्यकता इसलिये है कि उसका हमारे जनगणके इतिहाससे सम्बन्ध है।' उन्होंने काला सागर क्षेत्र-स्थित स्थानों और नदियोंके नामोंमें, काकेशससे प्राप्त रथोंके आलेखोंमें तथा मध्य एशियाके पवित्र पात्रोंमें वैदिक कालके अवशेष चिह्नित किये हैं। रूसी पुरातत्त्वविज्ञानी इस आशासे वैदिक पाठोंका अध्ययन कर रहे हैं कि उनके सहारे वे धरतीमें समायी हुई प्राचीन सभ्यताके इंडोआर्यन मिथक शास्त्रीय एवं आनुष्ठानिक पैटर्नको खोज पानेमें सफल हों। डॉ० वासिल्कोवके अनुसार 'ऋग्वेद वास्तवमें भारतीय संस्कृतिकी महान् शुरुआत है, इतिवृत्तात्मक दृष्टिसे इसको प्राचीनतम स्मारक है जिसमें धर्म एवं दर्शनशास्त्रके क्षेत्रमें विकासके अपेक्षाकृत ऊँचे चरणका तथा आध्यात्मिक पराकाष्ठाका उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही इसमें स्लावजनके साथ-साथ सल्ट ग्रीक, जर्मन तथा अन्य इंडोयूरोपीय जातियोंकी संस्कृतिकी प्राचीन आधार-शिलाओंके साथ सादृश्य भी दिखाया पड़ता है।'

तुलसी-साहित्य और वेद

(श्रीरामपदारथ सिंहजी)

वेद सभ्यता और संस्कृतिका केन्द्र है। काव्यमीमांसाकार श्रीराजशेखरजीने ठीक ही कहा है कि 'उस श्रुतिको प्रणाम है जिसका मन्त्रद्रष्टा ऋषि, शास्त्रकार और कविजन पद-पदपर आश्रय ग्रहण करते हैं'—

नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति॥

विश्वके साहित्यमें अनुपम स्थान रखनेवाला गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका साहित्य भी वेदोंके अवदानपर अवलम्बित है। उनके साहित्यका वर्ण्य-विषय भगवान् श्रीरामका सुयश है, जो वेदमूलक है। अपने साहित्यके वर्ण्य-विषयकी वेदमूलकताकी बात स्वयं कविने श्रीरामचरितमानसकी उत्पत्ति, स्वरूप और उसके प्रचारके प्रसंगका वर्णन करते हुए कही है—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥

×

मेधा महि गत सो जल पावन। सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥

(रा०च०मा० १। ३६। ३-४, ८-९; १। ३९। ९—११)

श्रीरामचरितमानसमें विन्यस्त बृहत् रूपकसे उद्धृत इस संक्षिप्तांशका सारांश यह है कि गोस्वामीजीके मनमें श्रीरामचरितमानसरूपी सरोवरका निर्माण साधु-मुखसे वेद-पुराणोंकी कथाएँ सुननेसे ही हुआ। उसकी मानसिक रचना हो जानेपर कविने मनकी आँखोंसे उसका अवलोकन किया और बुद्धिको उसमें अवगाहन कराया अर्थात् कविने श्रवणोपरान्त मन-बुद्धिसे क्रमशः मनन और निदिध्यासन किया। कविकी बुद्धि श्रीराम-सुयशरूपी मधुर, मनोहर, मङ्गलकारी वर-वारिमें गोता लगानेसे निर्मल हो गयी। उनके मनमें आनन्दोत्साहका उद्रेक हुआ, प्रेम और प्रमोदकी बाढ़ आ गयी, जिससे श्रीराम-सुयशरूपी जलवाली कविता-सरिता बह चली। यथार्थतः जब वेदार्थका मनन किया जाता है, तब वह श्रीरामचरितरूपमें परिणत हो जाता है। इसीलिये कहा गया है—

'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना'

गोस्वामीजीकी भी समाधिलीन बुद्धिमें वेदार्थ श्रीरामचरित-रूपमें झलक उठा। उनकी उक्तिसे सिद्ध होता है कि उनके साहित्यके वर्ण्य-विषयका स्रोत वेद-पुराण हैं। पुराण वेदोंके उपबृंहण हैं, इसलिये यह कहना अनुचित नहीं कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके साहित्यका मुख्य स्रोत वेद ही हैं।

सम्भवतः वेदोंके अमूल्य अवदानके कारण ही गोस्वामीजीके सभी ग्रन्थोंमें वेदोंके प्रति अपार आदर अर्पित किया गया है। श्रीरामचरितमानसमें महाकविकी वेद-वन्दना अवलोकनीय है—

बंदउँ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जसु॥

(रा०च०मा० १। १४ ङ)

प्रस्तुत सोरठामें वेदोंकी वन्दनाके साथ वेदविषयक तीन महत्त्वपूर्ण बातें हैं—(१) वेद चार हैं, (२) वेद भववारिधिके लिये जहाजके समान हैं और (३) वेद श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशका वर्णन करते स्वप्नमें भी नहीं थकते। इन बातोंमें वेदोंकी संख्या, स्वरूप तथा उनके स्वभावके सूचक सारगर्भित सूत्र संनिविष्ट हैं।

वेद अनन्त हैं—'अनन्ता वै वेदाः'। ये मन्त्र-रचनाकी दृष्टिसे पद्यात्मक, गद्यात्मक और गेय तीन प्रकारके हैं, जो क्रमशः ऋक्, यजु और साम कहे जाते हैं। पहले तीनोंका मिला-जुला संग्रह था। द्विज उसे याद करके वैदिक सिद्धान्तोंको प्रयोगशालारूप यज्ञमें प्रयोग करते थे। काल-प्रभावसे लोगोंकी धारणाशक्ति क्षीण होने लगी। अतः जब वेदके मिले-जुले सम्पूर्ण संग्रहको याद करना कठिन लगने लगा, तब भगवान् वेदव्यासने कृपा करके यज्ञमें काम करनेवाले होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा नामक चार ऋत्विजोंकी सुविधाके लिये वेदोंका चार भागोंमें विभाजन किया जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी चार संहिताओं तथा उनके ब्राह्मण ग्रन्थोंके रूपमें विद्यमान हैं। अतः वेद रचनाकी दृष्टिसे तीन और व्यवहारकी दृष्टिसे चार हैं।

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् वेदव्यासके व्यावहारिक वर्गीकरणको महत्त्वपूर्ण मानकर कहा गया है—*'बंदउँ चारिउ बेद'*। वेदोंकी चार संख्याका दृढ़तापूर्वक उल्लेख करके उनकी वन्दना करनेका अभिप्राय यह है कि वेद चार हैं और चारों समान-भावसे वन्दनीय हैं। यहाँ संकेत है कि चौथा वेद अथर्ववेद भी अनादि वेद है। वह स्वतन्त्र होते हुए भी वेदत्रयीके अन्तर्गत ही है।

'भव बारिधि बोहित सरिस'—इस उल्लिखित सोरठाका यह चरण वेदोंका स्वरूप-ज्ञापक सूत्र है। वेदोंको संसार-सागरके लिये जहाज कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जहाजपर चढ़कर यात्रा करनेवाले लोग महासागरको भी पार कर जाते हैं, उसी प्रकार जन्म-मरणकी अविच्छिन्न परम्परारूप संसार-सागरको वे लोग अनायास पार कर जाते हैं जो वेद-प्रतिपादित ज्ञान-कर्मोपासनापर आरूढ हो जीवन-यात्रा करते हैं। ऐसा होनेका कारण यह है कि वेद सामान्य शब्द-राशि नहीं हैं वे श्रीभगवान्‌की निज वाणी हैं—*'निगम निज बानी'* (रा०च०मा० ६। १५। ४) और उनके सहज श्वास हैं—*'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी'* (रा०च०मा० १। २०४। ५)। अत वेद परम प्रमाण और अपौरुषेय हैं। अपौरुषेय होनेसे उनमें जीव-सम्भव राग-द्वेष नहीं हैं। राग-द्वेषसे पक्षपात पैदा होता है। वेद-वचन बिलकुल निष्पक्ष है। अतएव उनमें जगत्‌का उद्धार करनेकी शक्ति निहित है। इसीलिये कहा गया कि राग-द्वेषरहित जन उद्धारक होते हैं—

सो जन जगत जहाज है जाके राग न दोष।
(वैराग्य संदीपनी १६)

जैसे जहाजका कोई-न-कोई संचालक होता है, वैसे ही शब्दसमूहरूप वेदोंके भी अभिमानी देवता हैं जो काम-रूप हैं। उनकी अव्याहत गति है। श्रीरामचरितमानसमें वर्णित है कि वेदभगवान् श्रीसीतारामके विवाहके अवसरपर विप्रवेषमें जनकपुरमें आकर विवाहकी विधियाँ बताते हैं—*'बिप्र बेष धरि बेद सब कहि बिबाह बिधि देहिं'* (रा०च०मा० १। ३२३) और श्रीरामराज्याभिषेकके समय बन्दीवेषमें विनती करने अयोध्या पहुँच जाते हैं—*'बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम'* (रा०च०मा० ७। १२ (ख))। इन वार्तासे यह भी विदित होता है कि वेदोंके अभिमानी देवता वैदिक विधिके निर्वाहकोंके लिये सहायक-स्वरूप हैं।

वेदोंको श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशका वर्णन करते स्वप्नमें भी खेद नहीं होता। यह कथन वेदोंका स्वभाव दर्शाता है। सम्पूर्ण वेदोंका मुख्य तात्पर्य परात्पर ब्रह्म श्रीभगवान्‌में ही है। यह तथ्य श्रुति-स्मृतियोंमें अनेकत्र उल्लिखित है, यथा—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५। १५), 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' (कठोप० १। २। १५)। श्रीभगवान् ही वेद-प्रतिपादित सम्पूर्ण ज्ञान-कर्मोपासनाद्वारा प्रधानत प्राप्तव्य हैं। वेदोंमें वर्णित ब्रह्मेन्द्रादि अनेक नाम उन्हींके हैं। प्रमाणके लिये यजुर्वेदका एक मन्त्र पर्याप्त होगा—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आप स प्रजापतिः॥
(यजु० ३२। १)

अर्थात् 'वे ही अग्नि आदित्य वायु और निश्चयरूपसे वे ही चन्द्रमा भी हैं तथा वे ही शुक्र, ब्रह्म अप् और प्रजापति भी हैं।' इसका निष्कर्ष है कि वैदिक देवताओंके नाम परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीरामके भी बोधक हैं। अत उन नामोंसे वेदोंमें उनका ही यश वर्णित हुआ है।

यह भी ध्यातव्य है कि ऋक् यजु, साम शब्द मन्त्रके वाचक हैं। मात्र मन्त्र ही वेद नहीं हैं। वेद शब्द मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंका वाचक है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। ब्राह्मणोंके ही भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं। अनेक उपनिषदोंमें विस्तृत श्रीराम-कथाएँ मिलती हैं। इसलिये श्रीरामचरितमानसकी इस उक्तिसे कि चारों वेदोंको श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशका वर्णन करते स्वप्नमें भी खेद नहीं होता, आश्चर्य नहीं होना चाहिये। महाराज श्रीदशरथके चारों पुत्र वेदके तत्त्व हैं— *वेद तत्त्व नृप तव सुत चारी'* (मानस १। १९८। १)। इसलिये उनका चरित्र वेदोंमें होना ही चाहिये। श्रीरामचरितमानसका *'बंदउँ चारिउ बेद'*—यह सोरठा वेदोंका स्वरूप-स्वभावादि दर्शानेवाला दर्पण है।

गोस्वामीजीके साहित्यमें वेदोंकी महिमा विविध विधियोंसे निरूपित है। उनमें प्रकरणोंके प्रमाणमें प्राय वेदोंका साक्ष्य दिया गया है। अयोध्यामें रघुवंशशिरोमणि श्रीदशरथ नामक राजा हुए। वे वेदोंमें विख्यात हैं—

अवधपुरीं रघुकुलमनि राऊ । बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ॥
(रा०च०मा० १। १८८। ७)

श्रीरामचरितमानस विनय-पत्रिका आदि ग्रन्थोंमें सामाजिक मर्यादाओंको वेदके अनुरूप स्थापित करनेका प्रयत्न है। वहाँ

बताया गया है कि वेदबोधित मार्गके अनुसरणसे सकल सुखोंकी प्राप्ति सम्भव है—

जो मारग श्रुति साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै॥

(विनय-पत्रिका १३६। १२)

श्रीरामराज्यमें लोग वर्णाश्रमके अनुकूल धर्मोंमें तत्पर हुए सदा वेदमार्गपर चलते थे। परिणामस्वरूप वे सुख पाते थे तथा निर्भय एवं निःशोक और नीरोग थे—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

(रा०च०मा० ७। २०)

तर्क-वितर्क करके वेदोंपर दोषारोपण करनेवालोंकी दुर्गति बतायी गयी है—

कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥

(रा०च०मा० ७। १००। ४)

वेद पूर्ण हैं। सभी मतावलम्बी वेद-प्रमाणसे अपने मतोंकी पुष्टि करते हैं—

बुध किसान सर बेद निज मतं खेत सब सींच।

(दोहावली ४६५)

अतः जब वेद साक्षात् परमात्मस्वरूप ही हैं, तब उनके निरतिशय महिमाका गुणगान ही कहाँतक किया जा सकता है?—

अतुलित महिमा बेद की तुलसी किएँ बिचार।

(दोहावली ४६४)

इससे वेदोंकी अतुलित महिमा सिद्ध होती है।

श्रीगुरुग्रन्थ साहिब और वेद

(प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय)

श्रीगुरुग्रन्थ साहिबके वाणीकारोंमें वेदोंके प्रति अपार श्रद्धा है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें वेद-ज्ञानकी परम्परासे सम्बन्ध स्थापित करनेका एकमात्र उपाय सच्चा बोलना माना गया है।

सिख साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० तारण सिंहने अपनी पुस्तक 'भक्तिते शक्ति' (पृष्ठ १९)-में लिखा है—'सिख धर्म अपनी धर्म-पुस्तकमें बिलकुल भारतीय है और राष्ट्रिय दृष्टिकोणको धारण करनेवाला है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब अपने-आपमें एक वेद है।'

इतना ही नहीं डॉ० तारण सिंह अपनी एक अन्य पुस्तक (श्रीगुरुग्रन्थ साहिबका साहित्यिक इतिहास-पृष्ठ ३१)-में लिखते हैं—'वेद प्रभुके बारेमें परम्परागत ज्ञानका स्रोत है। जबतक किसी मनुष्यको भारतीय धर्मग्रन्थोंका सम्यक् ज्ञान नहीं जो हमारी परम्परागत निधि हैं तबतक वह इस वेद (गुरुग्रन्थ)-को नहीं समझ सकेगा। यह महान् ग्रन्थ उसी प्राचीन सनातन ज्ञानसे आविर्भूत हुआ है तथा उसी परम्पराको विकास प्रदान करता है। इस तरह यह नयी कृति भी है परंतु सर्वथा नयी नहीं है क्योंकि इसकी जड़ वेदमें है। भारतीय ब्रह्मविद्याका सम्यक् ज्ञान ही किसी मनुष्यको श्रीगुरुग्रन्थ साहिबकी वाणीका बोध प्राप्त करनेके लिये सहायक सिद्ध हो सकता है। इसके बिना इस ग्रन्थके रहस्यमय भेदोंको समझना कठिन है।'

सही बात तो यह है कि श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें वेद-ज्ञानकी परम्परासे सम्बन्ध स्थापित करनेका एकमात्र उपाय सच बोलना कहा गया है। इसीलिये तो गुरु नानकदेवजीने वेदोंकी महिमाका बखान करते हुए कहा है—

केहा कंचन तुटै सारु अगनी गंढु पाए लोहारु।
गोरी सेती तुटै भतारु पुतीं गंढु पवै संसारि।
राजा मंगै दितै गंढु पाई भुखिआ गंढु पवै जा खाई।
काला गंढु नदीआ मीह झोल गंढु परीती मीठे बोल।
बेदा गंढु बोले सचु कोई मुइआ गंढु नेकी सतु होई।

अर्थात् यदि काँसा, लोहा, स्वर्ण टूट जाय तो सोनार अग्निसे गाँठ लगा देते हैं यदि पत्नीके साथ पति टूट जाय तब संसारमें पुत्रोंसे गाँठ बँध जाती है। यदि राजा कुछ माँगे तब देनेसे सम्बन्ध बनता है। भूखे प्राणीका सुख-साथ तब बनता है, यदि कुछ खाय। अकालमें टूटे हुए जीवोंका सम्बन्ध तब होता है यदि अत्यन्त वर्षा हो जाय और नदियाँ उमड़ कर चलें। प्रीतिमें मीठे बोलसे बन्धन बँधता है। यदि कोई सत्य बोले तो उसका वेदोंके साथ सम्बन्ध बन जाता है।

वेदोंके प्रति श्रीगुरुग्रन्थ साहिबके सम्मान—सिख

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् वेदव्यासके व्यावहारिक वर्गीकरणको महत्त्वपूर्ण मानकर कहा गया है—*'बदउँ चारिउ बेद'*। वेदोकी चार सख्याका दृढतापूर्वक उल्लेख करके उनकी वन्दना करनेका अभिप्राय यह है कि वेद चार हैं और चारा समान-भावसे वन्दनीय हैं। यहाँ सकेत है कि चौथा वेद अथर्ववेद भी अनादि वेद है। वह स्वतन्त्र होते हुए भी वेदत्रयीके अन्तर्गत ही है।

'भव बारिधि बोहित सरिस'—इस उल्लिखित सोरठाका यह चरण वेदोका स्वरूप-ज्ञापक सूत्र है। वेदोको संसार-सागरके लिये जहाज कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जहाजपर चढकर यात्रा करनेवाले लोग महासागरोको भी पार कर जाते हैं, उसी प्रकार जन्म-मरणकी अविच्छिन्न परम्परारूप ससार-सागरको वे लोग अनायास पार कर जाते हैं, जो वेद-प्रतिपादित ज्ञान-कर्मोपासनापर आरूढ हो जीवन-यात्रा करते हैं। ऐसा होनेका कारण यह है कि वेद सामान्य शब्द-राशि नहीं हैं वे श्रीभगवान्‌की निज वाणी हैं—*'निगम निज बानी'* (रा०च०मा० ६। १५। ४) और उनके सहज श्वास हैं—*'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी'* (रा०च०मा० १। २०४। ५)। अत वेद परम प्रमाण और अपौरुषेय हैं। अपौरुषेय होनेसे उनमे जीव-सम्भव राग-द्वेष नहीं हैं। राग-द्वेषसे पक्षपात पैदा होता है। वेद-वचन बिलकुल निष्पक्ष है। अतएव उनमे जगत्‌का उद्धार करनेकी शक्ति निहित है। इसीलिये कहा गया कि राग-द्वेषरहित जन उद्धारक होते हैं—

सो जन जगत जहाज है जाके राग न दोष।

(वैराग्य-संदीपनी १६)

जैसे जहाजका कोई-न-कोई सचालक होता है, वैसे ही शब्दसमूहरूप वेदाके भी अभिमानी देवता हैं जो काम-रूप हैं। उनकी अव्याहत गति है। श्रीरामचरितमानसमे वर्णित है कि वेदभगवान् श्रीसीतारामके विवाहके अवसरपर विप्रवेषमे जनकपुरमें आकर विवाहकी विधियाँ बताते हैं—*'बिप्र बेष धरि बेद सब कहि बिबाह बिधि देहिं'* (रा०च०मा० १। ३२३) और श्रीरामराज्याभिषेकके समय वन्दीवेषमे विनती करने अयोध्या पहुँच जाते हैं—*'बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम'* (रा०च०मा० ७। १२ (ख))। इन बातासे यह भी विदित हाता है कि वेदोंके अभिमानी देवता वैदिक विधिके निर्वाहकोके लिये सहायक-स्वरूप हैं।

वेदाको श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशका वर्णन करते स्वप्नमें भी खेद नहीं होता। यह कथन वेदोका स्वभाव दर्शाता है। सम्पूर्ण वेदोंका मुख्य तात्पर्य परात्पर ब्रह्म श्रीभगवान्‌में ही है। यह तथ्य श्रुति-स्मृतियोमे अनेकत्र उल्लिखित है, यथा—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य ' (गीता १५। १५), 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' (कठोप० १। २। १५)। श्रीभगवान् ही वेद-प्रतिपादित सम्पूर्ण ज्ञान-कर्मोपासनाद्वारा प्रधानत प्राप्तव्य हैं। वेदामें वर्णित ब्रह्मेन्द्रादि अनेक नाम उन्हींके हैं। प्रमाणके लिये यजुर्वेदका एक मन्त्र पर्याप्त होगा—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्र तद् ब्रह्म ता आप स प्रजापति ॥

(यजु० ३२। १)

अर्थात् 'वे ही अग्नि आदित्य, वायु और निश्चयरूपसे वे ही चन्द्रमा भी हैं तथा वे ही शुक्र, ब्रह्म अप् और प्रजापति भी हैं।' इसका निष्कर्ष है कि वैदिक देवताओंके नाम परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीरामके भी बोधक हैं। अत उन नामोंसे वेदोंमें उनका ही यश वर्णित हुआ है।

यह भी ध्यातव्य है कि ऋक्, यजु साम शब्द मन्त्रके वाचक हैं। मात्र मन्त्र ही वेद नहीं हैं। वेद शब्द मन्त्र और ब्राह्मण दोनाका वाचक है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। ब्राह्मणोंके ही भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं। अनेक उपनिषदोमे विस्तृत श्रीराम-कथाएँ मिलती हैं। इसलिये श्रीरामचरितमानसकी इस उक्तिसे कि चारों वेदोंको श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशका वर्णन करते स्वप्नमें भी खेद नहीं होता आश्चर्य नहीं होना चाहिये। महाराज श्रीदशरथके चारों पुत्र वेदके तत्त्व हैं—*'बेद तत्व नृप तव सुत चारी'* (मानस १। १९८। १)। इसलिये उनका चरित्र वेदोंमे होना ही चाहिये। *श्रीरामचरितमानसका 'बंदउँ चारिउ बेद'—यह सोरठा वेदोंका* स्वरूप-स्वभावादि दर्शानेवाला दर्पण है।

गोस्वामीजीके साहित्यमें वेदोंकी महिमा विविध विधियोंसे निरूपित है। उनमें प्रकरणाके प्रमाणमे प्राय वेदाका साक्ष्य दिया गया है। अयोध्यामे रघुवशशिरोमणि श्रीदशरथ नामक राजा हुए। वे वेदामें विख्यात हैं—

अवधपुरीं रघुकुलमनि राऊ । बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ॥

(रा०च०मा० १। १८८। ७)

श्रीरामचरितमानस विनय-पत्रिका आदि ग्रन्थोंमें सामाजिक मर्यादाओको वेदके अनुरूप स्थापित करनेका प्रयत्न है। *यहाँ*

बताया गया है कि वेदबोधित मार्गके अनुसरणसे सकल सुखोंकी प्राप्ति सम्भव है—

जो मारग श्रुति-साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै॥
(विनय-पत्रिका १३६। १२)

श्रीरामराज्यमें लोग वर्णाश्रमके अनुकूल धर्मोंमे तत्पर हुए सदा वेदमार्गपर चलते थे। परिणामस्वरूप वे सुख पाते थे तथा निर्भय एव नि शोक और नीरोग थे—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
(रा०च०मा० ७। २०)

तर्क-वितर्क करक वेदापर दोषारोपण करनेवालाकी दुर्गति बतायी गयी है—

कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥
(रा०च०मा० ७। १००। ४)

वेद पूर्ण हैं। सभी मतावलम्बी वेद-प्रमाणसे अपने मताकी पुष्टि करते हैं—

बुध किसान सर बेद निज मतें खेत सब सींच।
(दोहावली ४६५)

अत जब वेद साक्षात् परमात्मस्वरूप ही हैं तब उनके निरतिशय महिमाका गुणगान ही कहाँतक किया जा सकता है?—

अतुलित महिमा बेद की तुलसी किएँ बिचार।
(दोहावली ४६४)

इससे वेदाकी अतुलित महिमा सिद्ध होती है।

श्रीगुरुग्रन्थ साहिब और वेद

(प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय)

श्रीगुरुग्रन्थ साहिबके वाणीकाराम वेदाके प्रति अपार श्रद्धा है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमे वेद-ज्ञानकी परम्परासे सम्बन्ध स्थापित करनेका एकमात्र उपाय सच्चा बोलना माना गया है।

सिख साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० तारण सिहने अपनी पुस्तक 'भक्तिते शक्ति' (पृष्ठ १९)-में लिखा है—'सिख धर्म अपनी धर्म-पुस्तकमें बिलकुल भारताय है और राष्ट्रिय दृष्टिकोणको धारण करनेवाला है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब अपने-आपमे एक वेद है।'

इतना ही नहीं डॉ० तारण सिंह अपनी एक अन्य पुस्तक(श्रीगुरुग्रन्थ साहिबका साहित्यिक इतिहास-पृष्ठ ३१)-म लिखते हैं—'वेद प्रभुके बारेम परम्परागत ज्ञानका स्रोत है। जबतक किसी मनुष्यको भारतीय धर्मग्रन्थोंका सम्यक् ज्ञान नहीं जो हमारी परम्परागत निधि हैं तबतक वह इस वेद (गुरुग्रन्थ)-का नहीं समझ सकेगा। यह महान् ग्रन्थ उसी प्राचीन सनातन ज्ञानसे आविर्भूत हुआ है तथा उसी परम्पराको विकास प्रदान करता है। इस तरह यह नया कृति भी है परंतु सर्वथा नयी नहीं है क्योंकि इसकी जड वेदमें है। भारतीय ब्रह्मविद्याका सम्यक् ज्ञान ही किसी मनुष्यको श्रीगुरुग्रन्थ साहिबकी वाणीका बोध प्राप्त करनेके लिये सहायक सिद्ध हो सकता है। इसके बिना इस ग्रन्थके रहस्यमय भेदाको समझना कठिन है।'

सही बात तो यह है कि श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें वेद-ज्ञानकी परम्परासे सम्बन्ध स्थापित करनेका एकमात्र उपाय सच बोलना कहा गया है। इसीलिये तो गुरु नानकदेवजीने वेदाकी महिमाका बखान करते हुए कहा है—

केहा कंचन तुटै सारु अगनी गंढु पाए लोहारु।
गोरी सेती तुटै भतारु पुतीं गंढु पवै संसारि।
राजा मंगै दितै गंढु पाइ भुखिआ गंढु पवै जा खाइ।
काला गंढु नदीआ मीह झोल गंढु परीती मीठे बोल।
बेदा गंढु बोले सचु कोइ मुइआ गंढु नेकी सतु होइ।

अर्थात् यदि कासा लोहा स्वर्ण टूट जाय तो सोनार अग्निसे गाँठ लगा देते हैं यदि पत्नीके साथ पति टूट जाय तब संसारमें पुत्रोंसे गाँठ बँध जाती है। यदि राजा कुछ माँगे तब देनेसे सम्बन्ध बनता है। भूखे प्राणीका सुख-साथ तब बनता है यदि कुछ खाय। अकालमें टूटे हुए जीवोंका सम्बन्ध तब होता है, यदि अत्यन्त वर्षा हो जाय और नदियाँ उमड़ कर चलें। प्रीतिमें गाँठ मीठे बोलनेसे बँधती है। यदि कोई सत्य बोले तो उसका वेदोंसे साथ सम्बन्ध बन जाता है।

वेदोंके प्रति श्रीगुरुग्रन्थ साहिबके वाणीकारों—सिख

धर्मगुरुओंकी अपार श्रद्धा है। वे तो ऊँचे स्वरसे घोषणा करते हैं कि वेदशास्त्र तो पुकार-पुकार कर मनुष्यका सीधे मार्गपर आनेको कहते हैं, परंतु यदि कोई बहरा सुने ही न, तो इसमें वेदशास्त्रोंका क्या दोष है?

सिख-पंथके पञ्चम गुरु अर्जुनदेवकी वाणी श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (पृ० ४०८)-में इस प्रकार है—

वेद सास्त्रन जन पुकारहि सुनै नाही डोरा।
निपटि बाजी हारि मूका पछताइओ मनि भोरा।

अर्थात् वेदशास्त्र, संत-मन आदि पुकार-पुकार कर बतलाते हैं, पर मायाके नशेके कारण बहरा हो चुका मनुष्य उनके उपदेशको सुनता नहीं। जब बिलकुल ही जीवन-बाजी हारकर अन्त समयपर आ पहुँचता है, तब यह मूर्ख अपने मनमें पछताता है।

सिख-धर्मके नवम गुरु तेग बहादुरजीने वेदोंके श्रवण-मननको भी साधु मार्ग अथवा संत-मतमें अनिवार्य माना है। इसीलिये तो वे गुरुमति-साधना-मार्गमें वेदोंको महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। इस सम्बन्धमें श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (पृ० २२०)-में उनकी वाणी इस प्रकार है—

कोऊ भाई भूलियो मनु समझावै।
वेद पुरान साध मग सुनि करि निमख न हरि गुन गावै।

वेद कहता है कि जो उस अक्षर-ब्रह्मको नहीं जानता, वह ऋचाओंके पाठसे क्या प्राप्त कर सकता है? ब्रह्मवेत्ता ही ब्रह्मके आनन्दधाममें समासीन होता है।

श्रीगुरु तेगबहादुरजीका कहना है कि वेद-पुराण पढ़नेका यही लाभ होना चाहिये कि प्रभुका नाम-स्मरण किया जाय, क्योंकि रामशरणमें ही सुख-शान्ति है—

(१) साधो राम सरनि बिसरामा।
वेद पुरान पढ़े को इह गुन सिमरे हरि का नामा।
(२) वेद पुरान जास गुन गावत ता को नामु हीऐ मो धरू रे।
(श्रीगुरुग्रन्थ साहिब—पृ० २२०)

श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें वेदको त्रैगुण्य कहा गया है और उसके बिना बूझे पाठ करनेके कारण दुःखी होनेकी बात इस ग्रन्थमें कही गयी है। इस सम्बन्धमें सिख-धर्मके तृतीय गुरु अमरदासकी वाणी श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (पृष्ठ १२८)-में इस प्रकार है—

वेद पुकारै त्रिविध माया।
मन मुख न बूझहि दूजै भाइआ।
त्रै गुन पड़हि हरि एकु।
न जाणहि बिनु बूझे दुखु पावणिआ।

त्रिगुणात्मक मायाके लिये वेद पढ़ते हैं। मन एवं मुख द्वैतभावके कारण परमेश्वरको नहीं समझते। त्रैगुणी मायाके लिये वेदोंका पठन-पाठन करते हुए एक हरिको नहीं जानते, इसीलिये जाने बिना दुःख पाते हैं।

गीताके सातवें अध्यायमें वर्णन आया है कि सब वेदोंमें मैं 'ॐ' नाम हूँ, आकाशमें मैं शब्द हूँ और पुरुषोंमें पौरुष हूँ। इस विचारकी ध्वनि श्रीगुरु अमरदासकी वाणी (श्रीगुरुग्रन्थ साहिब पृ० १९९)-में भी सुनायी देती है, जो इस प्रकार है—

वेदा महि नामु उत्तमु सो सुणहि नाही फिरहि जिउ बेतालिआ।

श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (पृ० १३५०)-में भक्त कबीरकी भी एक वाणीमें वेदोंकी महिमा पूर्णरूपसे देखी जा सकती है—

बेद कतेब कहहु मत झूठे झूठा जो न बिचारै।

सच तो यह है कि इसके अतिरिक्त भी श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें सिख-धर्म-गुरुओंकी विविध वाणियाँ संकलित हैं, जिनके माध्यमसे उन लोगोंने वेदकी महिमा मुक्त-कण्ठसे स्वीकार की है और वेदविहित सत्योंके कारण उन्हें महान् ज्योतिपुञ्ज माना है—

(१) चारो वेद होए सचिआर। पड़हि गुणहि तिनु चार विचार।
(पृ० ४७० श्रीगुरु नानकदेव)

(२) वेद पुरान सिम्रिति हरि जपिआ। मुखि पंडित हरि गाइआ।
नाम रसालु जिन मनि वसिआ ते गुर मुखि पारि पाइआ।
(पृ० ९९५ श्रीगुरु रामदास)

(३) दीवा बले अँधेरा जाई। वेद पाठ मति पापा खाई।
उगवै सूरु न जापै चंदु। जह गिआन प्रगास अगिआन मिटंत।
वेद पाठ संसार की कार। पड़ि पड़ि पंडित करे विचार।
बिन बूझे सभ होई खुआरू। नानक गुर मुखि उतरसि पार।
(पृ० ७९१ श्रीगुरु नानकदेव)

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिख-धर्मके श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें वेदोंकी महिमा अपरम्पार है, जिसको सिख-धर्म-गुरुओंने मुक्तकण्ठसे अपनी वाणीके द्वारा स्वीकार किया है।

जाम्भेश्वरवाणीमें वेद-मीमांसा

(आचार्य संत श्रीगोवर्धनरामजी शिक्षा-शास्त्री व्याकरणाचार्य एम्० ए० स्वर्णपदक-प्राप्त)

प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार सृष्टिके आदिमें परमपिता परमात्माने मनुष्योंके कल्याणार्थ चार ऋषियोंके माध्यमसे उन्हें वेदका ज्ञान प्रदान किया था। सृष्टिके प्रारम्भसे इस ज्ञानके आलोकमें मानवीय गुणोंका, उसके ज्ञान-विज्ञानका विकास होता रहा, परंतु कालक्रमसे मनुष्य अपने स्वभावके वशीभूत हो उस ज्ञानसे विरत हो गया, तब विभिन्न ऋषियों तथा आचार्योंने उस मार्गको पुनः प्रशस्त किया। ऋषियोंकी यह परम्परा महाभारत-कालतक अविच्छिन्न-रूपसे प्राप्त होती है।

महाभारत-कालके अनन्तर एक दीर्घ कालावधितक ऋषियोंकी वह परम्परा समाप्त होनेके बाद वेदके विभिन्न चिन्तकों और आचार्योंका क्रम दिखायी देता है, जिन्होंने बार-बार वेदोंकी ओर चलनेकी बात कही है और ज्ञान, कर्म एवं उपासनाके आधारभूत ग्रन्थ वेदोंको प्रतिपादित किया है।

गुप्तकालके अनन्तर यह परम्परा भी समाप्त हो गया और सम्पूर्ण राष्ट्र अनेक प्रकारके अज्ञान एवं सामाजिक दुर्व्यवस्थामें डूब गया, परिणामतः एक लंबी अवधिका कालखण्ड परतन्त्रताकी स्थितिमें बिताना पड़ा। प्रशासनिक अत्याचार अपनी चरम सीमापर था, इस अवधिमें भी निराश एवं हताश हिन्दू जातिमें अनेक प्रकारके विचारक हुए, जिन्होंने समय-समयपर हिन्दू जातिका मार्ग प्रशस्त किया। इन विचारकोंमें एक नाम आता है जाम्भोजीका।

यवनोंके शासन-कालमें भारतीय संस्कृति, परम्परा तथा तत्त्व-चिन्तन सर्वथा लुप्त हो चुका था। अन्याय-अनाचार, और पाखण्डका साम्राज्य था। ऐसे समयमें संतोंकी एक परम्परा जाग्रत् हुई, जिसने इस सुप्त जातिको जगानेका प्रयास किया।

श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजका संक्षिप्त जीवन-परिचय

मध्यकालीन १५वीं शताब्दीके प्रारम्भमें निर्गुणोपासक महापुरुषोंमें वैदिक धर्मके सम्प्रसारमें अक्षुण्ण योगदान करनेवाले श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजका प्रादुर्भाव वि०सं० १५०८ के भाद्रपद मासके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथिको कृत्तिका नक्षत्रमें राजस्थानके तत्कालीन नागौर परगनेके पीपासर नामक ग्रामके ग्रामाधिपति क्षत्रिय परिवारमें हुआ था। उनके पिताका नाम श्रीलौहटजी पँवार और माताका नाम हंसादेवी (अपर नाम केसर) था।

जाम्भोजी जन्मसे ७ वर्षतक मौन रहे एवं २७ वर्षोंतक उन्होंने गोचारण-लीला की तथा ५१ वर्षोंतक वैदिक ज्ञानका उपदेश किया। उनकी मान्यताओंके अनुसार वेद-ज्ञानके वे मान-सरोवर हैं, जहाँसे ज्ञानकी विमल धाराएँ विभिन्न मार्गोंसे बहकर भारतके ही नहीं समस्त जगत्‌के प्रदेशोंको उर्वर बनाती हैं।

इसी ज्ञान-राशि वेदकी परम्पराका अनुपालन करनेवाले संतोंकी भारतभूमिमें एक लंबी शृंखला मिलती है। इसी शृंखलामें श्रीगुरु जाम्भोजीद्वारा प्रस्तावित 'जम्भवाणी' मिलती है। वैदिक संहिताओंके अनुरूप ही संतोंकी वाणियोंके संकलन प्रायः उनके नामसे प्राप्त होते हैं। 'जम्भवाणी' भी एक ऐसा ही अनोखा वेद-सम्मत विचारों, उपदेशों एवं विषयोंका उपदेश करनेवाला परम सम्मानित ग्रन्थ है।

वेदोंका रचना-काल

श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजके अनुसार यह एक ऐसा पारावार है, जो परमपिता—परमात्माके मुखारविन्दसे निःसृत होनेके प्रमाण-स्वरूप अपौरुषेय है, अनादि है, ईश्वरीय कृति है। उनकी दृष्टिमें वेद मनुष्यकृत है ही नहीं, प्रत्युत इनका प्रकाश सृष्टिके आरम्भमें उत्कृष्ट आचार-विचारवाले, शुद्ध और सात्त्विक शान्त-चित्तवाले जन-जीवनका नेतृत्व करनेवाले अलौकिक आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न ऋषियोंकी ध्यानावस्थामें हुआ। यथा—

> सरै न बैठा सीख न पूछी।
> निरत सुरत सब जाणी॥
>
> (जम्भवाणी १२०।६।४)

उनके मतानुसार ऋषि वेदोंके कर्ता न होकर द्रष्टा हैं— ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। इन मन्त्र-द्रष्टाओंके हृदयमें जिन सत्योंका जिस रूप और भाषामें प्रकाश हुआ उसी रूप एवं भाषामें उन्होंने दूसरोंको सुनाया, इसीलिये वेदोंको 'श्रुति' भी कहते हैं।

वेदोंके ईश्वरीय ज्ञान एवं अपौरुषेय होनेमें वेदों और उसके बादके साहित्यमें पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। यथा—

> तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
> छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
>
> (ऋग्० १०।९०।९, यजु० ३१।७)

वेदोके पश्चात् जिस साहित्यकी रचना हुई, उसमे भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। जिनमे वेदाको अपौरुषेय नित्य एव ईश्वरकृत प्रतिपादित किया गया है। यथा—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्वतर० ६। १८)

एव वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस ॥ (बृहदारण्यक० २। ४। १०)

परंतु वेदाका अध्ययन करनेवाले पाश्चात्त्य विद्वानोने एव इन्हींका अनुकरण करनेवाले वर्तमान भारतीय आलोचकोने वेदाको ईश्वरकृत और नित्य होनेके सिद्धान्तको स्वीकार नहीं किया। पाश्चात्त्य विद्वान् मैक्समूलरने १२०० ई० पूर्व ऋग्वेदका रचनाकाल माना है। जबकि भारतीय विद्वान् लोकमान्य तिलकने ऋग्वेदमें आये नक्षत्राकी स्थितिके आधारपर गणना करके ४००० ई० से ६००० ई० पूर्वके मध्य इसका रचनाकाल माना है। वेदोंमें जो भूगर्भ-विद्या-सम्बन्धी सिद्धान्त पाये जाते हैं, उनके आधारपर डॉ० अविनाशचन्द्र गुप्तका यह मत है कि वेदोकी रचना लाखो वर्ष पूर्व हुई होगी।

सभी विद्वानोने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं, परतु यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि वेदोंका प्रादुर्भाव कब हुआ। श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजने अपनी वाणीमें परमात्माके प्रथम उपाख्यानको वेदकी सज्ञा प्रदान करते हुए कहा है—

'ओ३म् मोरा उपाख्यान वेदू

(जम्भवाणी १२०। १४। १)

इसी प्रकार ऋग्वेदमें वेद-वाणीके स्वरूपको निम्न प्रकारसे अभिव्यक्ति दी गयी है—

बृहस्पते प्रथम वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेय दधाना ।
यदेषां श्रेष्ठ यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहित गुहावि ॥

(ऋक्० १०। ७१। १)

परमात्माका एकत्व

वेदके 'भूतस्य जात पतिरेक आसीत् (ऋग्वेद १०। १२१। १ यजुर्वेद १३। ४, २३। १, २५। १० अथर्ववेद ४। २। ७)—इस मन्त्रके अनुसार परमेश्वरकी एकताका जा प्रतिपादन किया गया है। उसीकी परिपुष्टि श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजकी वाणीमे *तद होता एक निरजन शिभूं'* (ज० वा० १३०। ४। १३)-के उल्लेखसे होता है।

यज्ञ

यज्ञ नि सदेह सब प्राणियोका, सब देवताआकी आत्मा (जीवन) है। उस यज्ञकी समृद्धिसे यज्ञ करनेवालेकी प्रजा और पशुओमें वृद्धि होती है (शत० १। ७। ३। ५)। जो विद्वान् अग्निहोत्र करता रहता है, वह सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है (शत० २। ३। १। ६)। यज्ञ-विषयक वाणीका अभिलेख विचारणीय है—

होम हित चित प्रीत सूं होय बास बैकुण्ठा पावो

(ज० वा० २१। ६)

अर्थात् श्रद्धा-विश्वास एव निष्ठाके साथ साय-प्रात अच्छी तरहसे किया गया यज्ञ वैकुण्ठ तककी ज्योति है। यज्ञ-त्यागके सम्बन्धमे जम्भेश्वर-वाणीमें कहा गया है कि जब किसी कामधेनुको यह पता चलता है कि मेरे पालकने आज जप-तप-रूप यज्ञ नहीं किया है, उसी समय वह उसका द्वार छोडकर चली जाती है—

जां दिन तेरे होम न जाप न तप न किरिया।
जान के भागी कपिला गाई॥

(ज० वा १२०। ७। ५)

दान

वेदोम दानको यज्ञका आधार कहा गया है। दानसे शत्रु दब जाते हैं। दानसे द्वेषी मित्र हो जाते हैं। दानमें सब प्रतिष्ठित हैं। इसलिये दानको सर्वश्रेष्ठ कहते हैं (तै०आ० १०। ६३)।

श्रीगुरु जाम्भोजी महाराज दानकी महत्ता बतलाते हुए कहते हैं कि कुपात्रको दान नहीं देना चाहिये कुपात्रको दिया गया दान निष्फल होता है। यथा—

ओ३म् कुपात्र कूं दान जु दीयो।
जाणे रैण अन्धेरी चोर जु लीयो॥

(ज० वा० १२०। ५६। १)

सुयोग्य पात्रका दिये गये दानकी प्रशसामें भी जम्भ-वाणी कहती है कि सुपात्रको ही दिया गया दान और सुक्षेत्रम ही बोया गया बीज सार्थक एव सफल होता है—

दान सुपाते बीज सुखेते अमृत फूल फलीजै।
काया कसोटी मन जो गूंटो जरणा ठाकण दीजै॥

(ज० वा० १२०। ५६। ३-४)

अपनी शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये, शक्ति ज्यादा हो तो अधिक दान कर—यदि कम हो तो कम ही करे पर करे अवश्य।

ऋग्वद एव अथर्ववेदमे भी दानकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'जिसके दानमें कभी भी कमी नहीं होती, ऐसा धनदाता इन्द्रकी स्तुति करे क्योकि इन्द्रके प्रति किये गये दान कल्याण करनेवाल हैं। अत मनको

दानके लिये प्रेरित कर। इन्द्रके अनुकूल कार्य करनेवालेपर वह कदापि रोष नहीं करता—

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातय।
सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन्॥
(ऋक्० ८। ९९। ४, अथर्व० २०। ५८। २)

ब्रह्म

समस्त जगत्का आदि कारण और नियामक परब्रह्म हमारे भीतर आत्मरूप होकर स्थित है, उसका अनुभव करना ही हमारा परम कर्तव्य है। इस विषयमें जम्भेश्वर-वाणीमें पर्याप्त विचार विद्यमान है। यथा—

ओ३म् रूप अरूप रमू पिण्डे ब्रह्मण्डे।
घट-घट अघट रहायो॥
(ज० वा० १२०। १९। १-२)

अर्थात् उस परम सत्तासे यह सम्पूर्ण जगत् सदा व्याप्त है, जो ज्ञान-स्वरूप परमेश्वर निश्चय ही कालका भी महाकाल सर्वगुणसम्पन्न और सबको जाननेवाला है उसके द्वारा ही शासित हुआ यह जगत्-रूप व्यापार विभिन्न प्रकारसे चल रहा है और पृथ्वी जल तेज, वायु तथा आकाश भी उसीके द्वारा शासित होते हैं। यथा—

तिल में तेल पहुप में बास
पाँच तत्त्व में लियो प्रकाश॥
(ज० वा० १२०। १०१। ८)

उपर्युक्त जम्भेश्वर-वाणी, निम्नलिखित उपनिषद्-वचनका रूपान्तरण जान पड़ता है, जिसमे परब्रह्मकी परम सत्ताका स्वरूप प्रतिपादित किया गया है—

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं
ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्॥
(श्वेताश्वतर० ६। २)

मुक्ति

जम्भेश्वर-वाणीके अनुसार साधकको जब सबसे परे और सबसे श्रेष्ठ आत्माका ज्ञान हो जाता है, तब उसके हृदयमे पड़ी अज्ञानकी ग्रन्थिका छेदन हो जाता है तथा वह समस्त सशयोसे निवृत्त हो मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। यथा—

सतगुरु ऐसा तंत बतावै।
जुग-जुग जीव बहुरि न आवै॥
(ज० वा० १२०। १०१। ११)

ऐसा ही उल्लेख ऋग्वेदमें मिलता है—

'मुमुक्ष्वो मनवे मानवस्यते' (ऋक्० १। १४०। ४)।

ऐसी विकट परिस्थितिमें श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजने सामाजिक चेतना जगायी, जिनका मूल आधार परम्परासे प्राप्त वेद-ज्ञान था।

वेदार्थका उपबृहण

(पं० श्रीजानकीनाथजी कौल 'कमल')

पुराणोंमें वेदके अर्थका उपबृंहण अर्थात् किसी तथ्यकी पुष्टि करना तथा उसका विस्तार करनेका उपदेश है। यह तथ्य महाभारत-कालमें अवश्य प्रादुर्भूत हो गया था, क्योंकि महाभारतमें इस तथ्यके साधक अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। जैसे—

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता।
(आदिपर्व १। ८६)

यह प्रख्यात श्लोक, जिसमें इतिहास-पुराणके द्वारा वेदार्थके उपबृंहण करनेका उपदेश है कि अल्पश्रुत व्यक्तिसे वेद सदा डरा करते हैं कि कहीं यह मुझपर प्रहार न कर दे—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्॥
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।
(महा० आदिपर्व १। २६७-२६८)

'बृह' धातुका मुख्य अर्थ वर्धन है। वेदके मन्त्रोद्वारा प्रतिपादित अर्थका, सिद्धान्तका तथा तथ्यका विस्तार एवं पोषण पुराणोंमें किया गया है। श्रीमद्भागवतने (१। १। ३ में) अपनेको निगम-कल्पवृक्षका गलित सुपरिपक्व अतएव मधुरतम फल माना है— निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्। ग्रन्थके अन्त (१२। १३। १५)-में यह अपनेको 'सर्ववेदान्तसारम्' बतलाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य पुराणोंकी अपेक्षा श्रीमद्भागवतमें विशदरूपसे वेदार्थका उपबृंहण किया गया है।

उपबृंहणके प्रकार

(१) विष्णुस्तुतियोंमें विष्णु-मन्त्रोंके विशिष्ट पद तथा विष्णुसूक्तोंके विशिष्ट पद एवं समग्र भाव अपनाकर सीधे

किये गये हैं। उदाहरण—वायुपुराणके ५५ वें अध्यायमे दी गयी दार्शनिक शिवस्तुति वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेद-संहिताके रुद्राध्यायमें १६वें अध्यायके मन्त्रोंके भाव तथा पद बहुश परिगृहीत हैं। वैष्णवोंमें पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०। ९०)-की महिमा अपरिमेय तथा असीम है। श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्ध (अ० ६, श्लोक १५—३० तथा १०। १। २०)-मे नारायणकी स्तुतिके अवसरपर पुरुषसूक्तका विस्तारसे उपयोग किया गया है। इस सूक्तके 'पुरुष' का समीकरण कभी 'नारायण' के साथ और कभी 'कृष्ण' के साथ किया गया है। द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत—२। ५। ३५—४२, विष्णुपुराण १। १२। ५६—६४, ब्रह्मपुराण १६१। ४१—५०, पद्मपुराण ५। ४। ११६—१२४ तथा ६। २५४। ६२—८३। श्रीमद्भागवतमें विष्णुके लिये प्रयुक्त 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' विशेषण पूर्णत वैदिक हैं—द्रष्टव्य ऋग्वेद १। १५४ सू०।

पुराणोमे वैदिक मन्त्राकी व्याख्या

मूल अर्थकी असंदिग्ध तथा परिबृंहित व्याख्या पुराणोका निजी वैशिष्ट्य है—

(१) विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोचम्०

(ऋग्वेद १। १५४। १)

—इस मन्त्रकी विशद व्याख्या श्रीमद्भागवत (२।७।४०)-में की गयी है, जिससे मूल तात्पर्यका स्पष्टीकरण नितान्त श्लाघ्य और ग्राह्य है—

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
य पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजासि।
चस्कम्भ य स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम्॥

अर्थात् अपनी प्रतिभाके बलसे पृथ्वीके एक-एक धूलि-कणको गिन चुकनेपर भी जगत्में ऐसा कौन पुरुष है, जो भगवान्की शक्तियोकी गणना कर सके। जब वे त्रिविक्रम-अवतार लेकर त्रिलाकीको नाप रहे थे उस समय उनके चरणाके अदम्य वेगसे प्रकृतिरूप अन्तिम आवरणसे लेकर सत्यलाकतकका सारा ब्रह्माण्ड काँपने लगा था। तब उन्होने ही अपनी शक्तिसे उसे स्थिर किया था।

(२) ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईशावास्य० १)

अर्थात् जगत्मे जो कुछ स्थावर-जगम ससार है वह सब ईश्वरके द्वारा आच्छादनीय है।

इसी उपनिषद्-मन्त्रका साकेतिक अर्थ श्रीमद्भागवत-महापुराण (८। १। १०)-मे मिलता है—

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्।

अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व और इस विश्वमें रहनेवाले समस्त चर-अचर प्राणी, उन परमात्मासे ही ओतप्रोत हैं। इसलिये ससारके किसी भी पदार्थमें मोह न करके उसका त्याग करते हुए ही जीवन-निर्वाहमात्रके लिये उपभोग करना चाहिये। भला ये ससारकी सम्पत्तियाँ किसकी हैं?

(३) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।

(ऋग्वेद १। १६४। २० अथर्व० ९। ९। २०)

भाव यह कि सदा साथ रहनेवाले तथा परस्पर सख्यभाव रखनेवाले जीवात्मा-परमात्मारूप दो पक्षी एक ही वृक्षरूपी शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। (उन दोनोंमेंसे जीवात्मा तो उस वृक्षके फलोंको स्वादपूर्वक खाता है जबकि परमात्मा उसका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।)

श्वेताश्वतर (४। ६)-के इस विख्यात मन्त्रकी व्याख्या श्रीमद्भागवत (११। ११। ६)-मे बडे वैशद्यसे की गयी है। वायुपुराणमें भी इसका साकेतिक अर्थ इस प्रकार किया गया है—

दिव्यौ सुपर्णौ सशाखौ वटविद्रुमौ।
एकस्तु यो द्रुम वेत्ति नान्य सर्वात्मनस्तत॥

(४) तत् सवितुर्वरेण्यम्

(ऋग्वेद ३। ६२। १०)

अग्निपुराण (२१३। १—८)-में इस प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्रकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि शिव, शक्ति सूर्य तथा अग्नि-जैसे विविध विकल्पोंका परिहार कर विष्णुको ही गायत्री-मन्त्रद्वारा साकेतिक देव माना गया है।

(५) प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(मुण्डक० २। २। ४)

मुण्डकोपनिषद्के इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार है—प्रणव धनुष है (सोपाधिक) आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। उसका सावधानतापूर्वक वेधन करना चाहिये और बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये।

इसी श्लोककी व्याख्या श्रीमद्भागवत (७। १५। ४२)-मे इस प्रकार की गयी है—

धनुर्हि तस्य प्रणव पठन्ति
शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्॥

अर्थात् ॐकार ही उस रथीका धनुष है, शुद्ध जीवात्मा बाण है और परमात्मा लक्ष्य है।

यह व्याख्या मूलगत सदेहको दूर करती है कि शर यहाँ जीव है, प्रत्यगात्मा ही है परमात्मा नहीं। श्रीमद्भागवतमें ही एक दूसरे (७।१५।४१) श्लोकमे 'रथ-शरीर' की कल्पना कठोपनिषद्के आधारपर की गयी है।

(६) आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः॥
(श्रीमद्भा० ७।१५।४०)

अर्थात् आत्माके द्वारा जिसकी सारी वासनाएँ निर्मूल हो गयी हैं और जिसने अपने आत्माको परब्रह्म-स्वरूप जान लिया है, वह किस इच्छा तथा किस भोक्ताकी तृप्तिहेतु इन्द्रियलोलुप होकर अपने शरीरका पोषण करेगा?

श्रीमद्भागवत-महापुराणके इसी श्लोकमें बृहदारण्यकोपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रके अर्थका परोक्षरूपेण स्पष्टीकरण है—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत्॥
(४।४।१२)

अर्थात् यदि पुरुष आत्माको 'यह मैं हूँ' इस प्रकार विशेषरूपसे जाने, तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके पीछे सतप्त हो?

(७) मुण्डकोपनिषद् (१।२।४)-में अग्निकी सप्त जिह्वाओंका समुल्लेख है—

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥

अर्थात् काली, कराली मनोजवा सुलोहिता सुधूम्रवर्णा स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुची देवी—ये सात अग्निकी लपलपाती हुई जिह्वाएँ हैं।

इसकी विशद व्याख्या मार्कण्डेयपुराण (९९।५२—५८)-में भी की गयी है।

(८) चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
(ऋग्वेद ४।५८।३)

—यह बड़ा ही गम्भीरार्थक मन्त्र माना गया है। इस रहस्यार्थक मन्त्रकी विविध व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। महाभाष्यके पस्पशाह्निकमें पतञ्जलिने इसे शब्दकी स्तुति माना है, मीमासासूत्र (१।२।४६)-में यज्ञकी स्तुति तथा राजशेखरके काव्यमीमासामे काव्यपुरुषकी स्तुति मानी गयी है। गोपथ-ब्राह्मण (१।२।१६)-में यागपरक अर्थ ही माना गया है जो निरुक्तमे भी स्वीकृत है। इस मन्त्रकी दो प्रकारकी व्याख्याएँ पुराणमें मिलती हैं। स्कन्दपुराणके काशीखण्ड (अ० ७३,श्लोक ९३—९६)-में इसका शिवपरक अर्थ किया गया है। श्रीमद्भागवत (८।१६।३१)-मे इस मन्त्रकी यज्ञपरक व्याख्या कर मानो इसी अर्थके प्राधान्यकी घोषणा की है—

नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृङ्गाय तन्तवे।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः॥

अर्थात् आप वह यज्ञ हैं जिसके प्रायणीय और उदयनीय—ये दो कर्म सिर हैं। प्रातः मध्याह्न और सायं—ये तीन सवन ही तीन पाद हैं, चारों वेद चार सींग हैं। गायत्री आदि सात छन्द ही सात हाथ हैं। यह धर्ममय वृषभरूप यज्ञ वेदोंके द्वारा प्रतिपादित है और इसका आत्मा स्वयं आप हैं। आपको मेरा नमस्कार है।

'यज्ञो वै विष्णुः' के अनुसार विष्णु-भक्तिके पुरस्कर्ता श्रीमद्भागवतकी दृष्टिमे यह व्याख्या स्वाभिप्रायानुकूल तो है ही, साथ-ही-साथ मूल तात्पर्यकी भी द्योतिका है। यज्ञ ही वेदके द्वारा मुख्यतया प्रतिपाद्य होनेसे इस मन्त्रकी यज्ञिय व्याख्या ही नितान्त समीचीन तथा ऐतिहासिक महत्त्वशाली प्रतीत होती है।

(९) त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥
(ऋक्० ७।५९।१२ शुक्लयजु० ३।६०)

यह महामृत्युञ्जय भगवान् शिवका नितान्त प्रख्यात मन्त्र है। इस मन्त्रकी व्याख्या लिङ्गपुराणमें दो बार की गयी है। वहाँ मन्त्रके पदोंकी विस्तृत व्याख्या दर्शनीय तथा मननीय है।

उपर्युक्त विवेचन-प्रसंगमें 'इतिहास और पुराण वेदोंके उपबृंहण हैं अथवा वेदार्थके प्रतिपादक हैं'—इस उक्तिकी अक्षरशः तर्कसंगतता सिद्ध होती है।

अनन्ता वै वेदा

(डॉ० श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी रत्नमालीय एम्०ए० पी-एच्०डी०)

महान् गो भक्त स्वाध्यायनिष्ठ, वेदविद्याव्रती, बृहस्पतितनय, ब्रह्मचारी 'भरद्वाज' ब्राह्म-मुहूर्तमे गम्भीर चिन्तन-मुद्रामें बैठे थे। इधर अनेक दिनोसे उनके मानस-क्षितिजपर अहर्निश आर्य आदर्श वाक्य—'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (इस ससारमें ज्ञानके समान पवित्र कोई अन्य वस्तु नहीं है)-की आँधी उमड रही थी। सोते-जागते उठते-बैठते बारबार वे शोकमे पड जाते थे—'मेरे श्रेष्ठातिश्रेष्ठ सुरदुर्लभ मानव-जीवन धारण करनेकी सार्थकता क्या है? मुझे अपने चिर-अभिलषित लक्ष्यकी प्राप्ति किस प्रकार होगी?' वे विचारते—'यह सही है कि वेदकी अनेक ऋचाएँ मुझे कण्ठाग्र हैं, अनेक गूढ सूक्तोका अति गोपनीय रहस्य भी गुरुकृपासे मेरे लिये हस्तामलकवत् सुस्पष्ट है, किंतु अभी भी अनन्त आकाशकी तरह असख्य वैदिक विज्ञान मेरी पकडके बाहर हैं। जिधर भी दृष्टि जाती है, उधर ही सब कुछ अविज्ञात अनवाप्त ही नजर आता है। अभी तो मैं अगाध रत्नाकरके मुट्ठीभर रत्नकण ही चुन पाया हूँ।' वे विलखते—'कैसे कृतकृत्य होऊँगा मैं अपनी महत्त्वाकाक्षाकी पूर्तिमें? क्या उपाय है अपनी अल्पज्ञता दूर करनेका? कैसे मैं अक्षुण्ण रख पाऊँगा तेजोनिधान पितृदेवकी गौरवमयी परम्पराको?'

ऊहापोह एवं असमञ्जसकी इस कुहेलिकाका चीरती अन्तरात्माकी आवाज आयी—'हे सौम्य! हे अमृतपुत्र! तुम तप और स्वाध्यायकी शरण लो। तपस्यासे सभी दुर्लभ वस्तुओंकी प्राप्ति सम्भव है। इस वृत्तिका आश्रयण कर देवोंने मृत्युपर भी विजय प्राप्त की है—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत' घबराओ मत। जहाँ चाह वहाँ राह है। शिष्ट और तपोनिष्ठ बने रहो। तुम वेद व्याकरण, वेद, आयुर्वेदके विश्वविश्रुत विद्वान् बनोगे। शिल्प, [illegible]शिकी, वैमानिकीमें भी तुम निष्णात होओगे।'

[illegible]को वैसे ही नया आलोक प्राप्त हुआ जैसे [illegible] ही प्राप्त हो गयी हों। दृढ़व्रत भरद्वाज [illegible] गये। क्षण-प्रतिक्षण बीतने लगे। दिन-[illegible] रातें आयीं और चली गयीं। तन सूख कर काँटा हो गया, किंतु उनका विनिश्चय दृढसे-दृढतर होता गया। उनकी ज्ञाननिष्ठा अविचल थी—'*कार्यं साधयामि शरीरं पातयामि वा*'—*कार्य सिद्ध करूँगा या* शरीर ही समाप्त हो जायगा—यह उनका जीवन-मन्त्र बन गया। उनके जीवन-घटकी एक-एक बूँद, उनकी एक-एक साँस लक्ष्य-प्राप्तिका पावन पाथेय बन गयी। २४ घंटेमें एक बार थोडा-सा दुग्धाहार कर वे ज्ञान-साधना एव तपस्यामें निमग्न हो जाते थे। कालान्तरमें एक दिन एकाएक ब्राह्मवेलामे ही उनके नेत्राके समक्ष दिव्य आलोक फैल गया। दिव्यवसनधारी तेजोमूर्ति अनुपम मुकुटयुक्त, वज्रबाहु, वज्रपाणि इन्द्रदेव साक्षात् सम्मुख खड़े थे। वे मुसकरा रहे थे और कह रहे थे—'**वरं ब्रूहि वत्स! वरं ब्रूहि! प्रसन्नोऽस्मि**'—'वर माँगो वत्स! वर माँगो! मैं प्रसन्न हूँ।' अमृत-मधुर, मेघ-मन्द्र-गिरा गूँज उठी। आँखें खोलते ही ऋषि भरद्वाज साष्टाङ्ग प्रणाम-मुद्रामे चरण-नत हो गये। उन्होने निवेदन किया—'हे अन्तर्यामिन्! हे भक्तवाञ्छा-कल्पतरु! हे देवाधिप! मेरी महत्त्वाकाक्षा तो आपको विदित ही है। मेरे हृदयका कौन-सा कोना आपका निहारा हुआ नहीं है? मेरी एकमात्र इच्छा वेदोंका समग्र ज्ञान प्राप्त *करनेकी है। मुझे भौतिक अभ्युदयकी अभिलाषा नहीं है।* मुझे मोक्ष-अवाप्तिकी कामना भी नहीं है। अत आप मुझे वेद-विद्याकी साधनाके लिये सौ वर्षोंकी अतिरिक्त आयु प्रदान करें।'

इन्द्रदेवने वत्सलतापूर्वक कहा—'साधु वत्स! साधु! तुम्हारा उद्देश्य अति पवित्र है।' 'तथास्तु' कहकर वे अन्तर्धान हो गये। ऋषि भरद्वाज फूले नहीं समाये। वे अनन्य उत्साहसे जुट गये अपनी ज्ञान-साधनामें। जीवनका प्रत्येक क्षण उनके लिये ज्ञान-अवाप्तिका शुभ मुहूर्त बन गया। उनके तपोनिरत कलेवरसे ज्ञानकी विमल आभा बिखरने लगी। उनके ज्ञानार्जनमें व्यस्त जीवनके १०० वर्ष कब बीत गये कुछ पता ही नहीं चला।

इसी क्रममें एक दिन अकस्मात् अपराह्न-कालमें आलोकमूर्ति, देवाधिप इन्द्रदेव पुन प्रकट हुए। भरद्वाजजीका कुशल-क्षेम पूछकर उन्होंने उनसे उनकी ज्ञान-साधनाके

विषयम प्रश्न किया—'वत्स! तुम्हारा तप एव स्वाध्याय निर्विघ्न चल रहा है न?'

ऋषि भरद्वाजने सकोचपूर्वक कहा—'भगवन्! वेद-विद्या-सचयनमें मेरी साँस-साँस सलग्न रही है। एकनिष्ठ मनसे बरसोंसे मैं इस साधनाम निरत हूँ। आपके आशीर्वादसे मैंने महत्त्वपूर्ण ज्ञानराशि भा अर्जित कर ली ह, किंतु व्यापक-दृष्टिसे विचार करनेपर यह उपलब्धि अत्यल्प आभासित होती है। इस निमित्त कृपया आप मुझे २०० वर्षोंकी अतिरिक्त आयु प्रदान करनेका अनुग्रह कर।' इन्द्रदवने कहा—'साधु वत्स! साधु! तुम्हारा प्रस्ताव अभिनन्दनीय है। मैं तुम्हारी प्रगतिसे सतुष्ट हूँ। मैं तुम्ह सौ वर्षोंका अतिरिक्त आयु सहर्ष प्रदान करता हूँ।'—इतना कहकर इन्द्रदव तिरोहित हो गये। ऋषि भरद्वाजकी ज्ञानोपासना तीव्रतम वेगसे चल पडी। उन्होने वैदिक मन्त्रोंके रहस्य अधिदैवत बीज-सहित सम्पूर्ण वैदिक विज्ञानको आयत्त एव आत्मसात् करनेमें कोई कसर नहीं रखी। उनकी देहयष्टि कान्तिमयी होती गयी, उनका मस्तिष्क उर्वरतर होता गया। किंतु २०० वर्षोंकी यह परिवर्तित कालावधि किस प्रकार बीत गयी इसका कुछ पता नहीं चला। ऋषिकी ज्ञान-पिपासा तीव्रतर होती जा रही थी। ऋषिवर कुछ अधीर भी हो रहे थे कि जीवनकी साध्य-वेला चली आयी। अभी भी ज्ञान-साधना अधूरी ही है।

इसी मन स्थितिम वे पडे थे कि उनक सम्मुख तजोमूर्ति इन्द्रका दिव्य विग्रह पुन प्रकट हुआ। श्रद्धालु कृतज्ञ ऋषिने पाद्य अर्घ्य, आचमनीयादि यथोपलब्ध उपचारोंसे उनका सविधि पूजनपूर्वक स्वागत-सत्कार किया। स्वागतादिसे सतृप्त देवराजन आत्मीयतापूर्वक पूछा—'वत्स! तुम्हारी वेद-विद्योपासनामें कितनी प्रगति हुई? इस पुण्य प्रयासमें किसी प्रकारकी बाधा तो नहीं है?'

ऋषिने भावविह्वल-कण्ठस कहा—'भगवन्! आपकी कृपासे अभी भा मैंने ज्ञानके थोडे ही कण बटोर पानेमें सफलता पायी है। कालचक्रकी गति अत्यन्त तीव्र है और मानव-क्षमता कितनी सीमित!' दवराज मुसकराये। उन्होने कहा—'चिन्ता न करो वत्स! मैं तुम्हारी ज्ञान-निष्ठासे प्रसन्न हूँ। सामनकी ओर देखो।'

चकित-नयन ऋषिने निहारा। उनके नेत्रोंके समक्ष अत्यन्त उन्नत शिखरवाले तीन पर्वत खडे थे। उनसे प्रतिफलित होनेवाले तेज-प्रकर्षसे आँखें चौंधिया रही थीं। पुन देवराजने एक मुट्ठी धूल हाथमे लेकर भरद्वाजसे प्रश्न किया—'वत्स! मेरी मुट्ठीमें क्या है?'

ऋषिन हँसते हुए उत्तर दिया—'भगवन्! मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार आपकी मुट्ठीमें तो थोडी-सी धूलमात्र है। वैसे महात्माओंके निगूढ अभिप्रायको भला मैं कैसे जान सकता हूँ!' इन्द्रने समर्थन किया—'साधु वत्स! मेरी मुट्ठीमें थोडी-सी धूलमात्र है। उत्तुग पर्वतोंकी तुलनामे यह नगण्य-सी है। इसी प्रकार तुम्हारा अद्यावधिपर्यन्त अर्जित ज्ञान अत्यल्प है। ज्ञानकी कोई सीमा नहीं उसका कोई अन्त नहीं' 'अनन्ता वै वेदा —वेद अनन्त हैं (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। १०। ११। ४)।

'तुम्हारा उत्तम प्रयास अनवरत एव अविच्छिन्न है। अत तुम्हारी साधनाका फल मिलेगा ही, किंतु इसके निमित्त तुम्हें सवितृदेवकी आराधना करनी पडेगी। सकल-ज्ञान-निधान वे 'त्रयी रूप' ही हैं। वे वेदमूर्ति हैं। उनकी प्रसन्नता-हेतु तुम्ह 'सावित्र-अग्निचयन-यज्ञ' करना चाहिये। तुम यथाशीघ्र इस पुण्य आयोजनमें लग जाओ।'

नयी दिशा पाकर ऋषि दूने उत्साहसे सविताकी साधनाम लग गये। तपोवनमें स्थल-स्थलपर यज्ञवेदियाँ बनायी गयीं। हवन कुण्डोम मन्त्रोच्चारणपूर्वक आहुतियाँ डाली जाने लगीं।—'ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्र तन्न आ सुव॥ —हे सवितादेव! आप हमारे सम्पूर्ण दुरितोंका विनाश करके हमारे लिये मङ्गलका विस्तार-विधान कर। इस होमयज्ञके कारण पर्यावरण दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण एव परिपूत हो गया। कुछ महीनोंकी मनोयोगमयी साधनाके फलस्वरूप भगवान् सवितादेव प्रकट हुए।

'वर ब्रूहि, वरं ब्रूहि' के रूपमें मङ्गल-वाणी गूँज उठी। ऋषि भरद्वाज श्रद्धा-समन्वित हो उठ खडे हुए। यथाप्राप्त उपचारपूर्वक उन्होने 'सवितादेव' का पूजन किया। उन्होंने करुणापूर्वक ऋषिको आश्वस्त किया—'वत्स! तुम निष्ठापूर्वक मेरी आराधनामें कुछ दिन और लगे रहो। मेरे अनुग्रहसे तुम्ह समग्र वेदज्ञान प्राप्त होगा। कृतज्ञ जगत् तुम्हें ऋषि-

अनन्ता वै वेदा

(डॉ० श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी रत्नमालीय एम्०ए० पी-एच्०डी०)

महान् गो भक्त, स्वाध्यायनिष्ठ, वेदविद्याव्रती बृहस्पतितनय, ब्रह्मचारी 'भरद्वाज' ब्राह्म-मुहूर्तमे गम्भीर चिन्तन-मुद्रामें बैठे थे। इधर अनेक दिनासे उनके मानस-क्षितिजपर अहर्निश, आर्ष आदर्श वाक्य—'**नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते**' (इस ससारमे ज्ञानके समान पवित्र कोई अन्य वस्तु नहीं है)-की आँधी उमड़ रही थी। सोते-जागते, उठते-बैठते बारबार वे शोकमे पड जाते थे—'मेरे श्रेष्ठातिश्रेष्ठ सुरदुर्लभ मानव-जीवन धारण करनेकी सार्थकता क्या है? मुझे अपने चिर-अभिलषित लक्ष्यकी प्राप्ति किस प्रकार होगी?' वे विचारते—'यह सही है कि वेदकी अनेक ऋचाएँ मुझे कण्ठाग्र हैं, अनेक गूढ सूक्तोका अति गोपनीय रहस्य भी गुरुकृपासे मेरे लिये हस्तामलकवत् सुस्पष्ट है, किंतु अभी भी अनन्त आकाशकी तरह असख्य वैदिक विज्ञान मेरी पकडके बाहर हैं। जिधर भी दृष्टि जाती है, उधर ही सब कुछ अविज्ञात, अनवाप्त ही नजर आता है। अभी तो मैं अगाध रत्नाकरके मुट्ठीभर रत्नकण ही चुन पाया हूँ।' वे विलखते—'कैसे कृतकृत्य होऊँगा मैं अपनी महत्त्वाकांक्षाकी पूर्तिमें? क्या उपाय है अपनी अल्पज्ञता दूर करनेका? कैसे मैं अक्षुण्ण रख पाऊँगा तेजोनिधान पितृदेवकी गौरवमयी परम्पराको?'

ऊहापोह एव असमञ्जसकी इस कुहेलिकाको चीरती अन्तरात्माकी आवाज आयी—'ह सौम्य! हे अमृतपुत्र! तुम तप और स्वाध्यायकी शरण लो। तपस्यासे सभी दुर्लभ वस्तुआकी प्राप्ति सम्भव है। इस वृत्तिका आश्रयण कर देवोंने मृत्युपर भी विजय प्राप्त की है—'**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत**' घबराओ मत। जहाँ चाह वहीं राह है। आशिष्ठ और तपोनिष्ठ बने रहो। तुम वेद, व्याकरण धनुर्वेद, आयुर्वेदके विश्वविश्रुत विद्वान् बनोगे। शिल्प प्रौद्योगिकी, वैमानिकीम भी तुम निष्णात होओगे।'

ब्रह्मचारीका वैसे ही नया आलोक प्राप्त हुआ जैसे अंधेको नयी आँखे ही प्राप्त हो गयी हों। दृढव्रत भरद्वाज तपश्चर्यामें लीन हो गये। क्षण-प्रतिक्षण बीतने लगे। दिन-पर-दिन बीते। कितनी राते आयीं और चली गयीं। तन सूख कर काँटा हो गया किंतु उनका विनिश्चय दृढसे-दृढतर होता गया। उनकी ज्ञाननिष्ठा अविचल थी—'**कार्यं साधयामि शरीरं पातयामि वा**'—कार्य सिद्ध करूँगा या शरीर ही समाप्त हो जायगा—यह उनका जीवन-मन्त्र बन गया। उनके जीवन-घटकी एक-एक बूँद, उनकी एक-एक साँस लक्ष्य-प्राप्तिका पावन पाथेय बन गयी। २४ घटेमें एक बार थोडा-सा दुग्धाहार कर वे ज्ञान-साधना एव तपस्यामें निमग्न हा जाते थे। कालान्तरमे एक दिन एकाएक ब्राह्मवेलामे ही उनके नेत्रोके समक्ष दिव्य आलोक फैल गया। दिव्यवसनधारी तेजोमूर्ति, अनुपम मुकुटयुक्त वज्रबाहु, वज्रपाणि इन्द्रदेव साक्षात् सम्मुख खडे थे। वे मुसकरा रहे थे और कह रहे थे—'**वरं ब्रूहि वत्स! वरं ब्रूहि! प्रसन्नोऽस्मि**'—'वर माँगो वत्स! वर माँगो! मैं प्रसन्न हूँ।' अमृत-मधुर, मेघ-मन्द्र-गिरा गूँज उठी। आँखें खोलते ही ऋषि भरद्वाज साष्टाङ्ग प्रणाम-मुद्रामे चरण-नत हो गये। उन्हाने निवेदन किया—'हे अन्तर्यामिन्! हे भक्तवाञ्छा-कल्पतरु! हे देवाधिप! मेरी महत्त्वाकाक्षा तो आपको विदित ही है। मेरे हृदयका कौन-सा कोना आपका निहारा हुआ नहीं है? मेरी एकमात्र इच्छा वेदोका समग्र ज्ञान प्राप्त करनेकी है। मुझे भौतिक अभ्युदयकी अभिलाषा नहीं है। मुझे मोक्ष-अवाप्तिकी कामना भी नहीं है। अत आप मुझे वेद-विद्याकी साधनाके लिये सौ वर्षोंकी अतिरिक्त आयु प्रदान कर।'

इन्द्रदेवने वत्सलतापूर्वक कहा—'साधु वत्स! साधु! तुम्हारा उद्देश्य अति पवित्र है।' '**तथास्तु**' कहकर वे अन्तर्धान हो गये। ऋषि भरद्वाज फूले नहीं समाये। वे अनन्य उत्साहसे जुट गये अपनी ज्ञान-साधनामें। जीवनका प्रत्येक क्षण उनके लिये ज्ञान-अवाप्तिका शुभ मुहूर्त बन गया। उनके तपोनिरत कलेवरसे ज्ञानकी विमल आभा बिखरने लगी। उनके ज्ञानार्जनमे व्यस्त जीवनके १०० वर्ष कब बीत गये कुछ पता ही नहीं चला।

इसी क्रममें एक दिन अकस्मात् अपराह्न-कालमें आलोकमूर्ति देवाधिप इन्द्रदेव पुन प्रकट हुए। भरद्वाजजीका कुशल-क्षेम पूछकर उन्होन उनसे उनकी ज्ञान-साधनाके

विपयमे प्रश्न किया—'वत्स! तुम्हारा तप एव स्वाध्याय निर्विघ्न चल रहा है न?'

ऋषि भरद्वाजने सकोचपूर्वक कहा—'भगवन्! वेद-विद्या-सचयनमे मेरी साँस-साँस सलग्न रही है। एकनिष्ठ मनसे, बरसोंसे मैं इस साधनामें निरत हूँ। आपके आशीर्वादसे मैंने महत्त्वपूर्ण ज्ञानराशि भी अर्जित कर ली है किंतु व्यापक-दृष्टिसे विचार करनेपर यह उपलब्धि अत्यल्प आभासित होती है। इस निमित्त कृपया आप मुझे २०० वर्षोंकी अतिरिक्त आयु प्रदान करनेका अनुग्रह कर।' इन्द्रदेवने कहा—'साधु वत्स! साधु! तुम्हारा प्रस्ताव अभिनन्दनीय है। मैं तुम्हारी प्रगतिसे सतुष्ट हूँ। मैं तुम्हे सौ वर्षोंकी अतिरिक्त आयु सहर्ष प्रदान करता हूँ।'—इतना कहकर इन्द्रदेव तिरोहित हो गये। ऋषि भरद्वाजकी ज्ञानोपासना तीव्रतम वेगस चल पडी। उन्हाने वैदिक मन्त्रोके रहस्य अधिदैवत, बीज-सहित सम्पूर्ण वैदिक विज्ञानको आयत्त एवं आत्मसात् करनेम कोई कसर नहीं रखी। उनकी देहयष्टि कान्तिमयी होती गयी उनका मस्तिष्क उर्वरतर होता गया। किंतु २०० वर्षोंकी यह परिवर्तित कालावधि किस प्रकार बीत गयी इसका कुछ पता नहीं चला। ऋषिकी ज्ञान-पिपासा तीव्रतर होती जा रही थी। ऋषिवर कुछ अधीर भी हो रहे थे कि जीवनकी साध्य-वेला चली आयी। अभी भी ज्ञान-साधना अधूरी ही है।

इसी मन स्थितिम वे पडे थे कि उनके सम्मुख तेजोमूर्ति इन्द्रका दिव्य विग्रह पुन प्रकट हुआ। श्रद्धालु कृतज्ञ ऋषिने पाद्य अर्घ्य आचमनीयादि यथोपलब्ध उपचारोंसे उनका सविधि पूजनपूर्वक स्वागत-सत्कार किया। स्वागतादिसे सतृप्त देवराजने आत्मीयतापूर्वक पूछा—'वत्स! तुम्हारी वेद-विद्योपासनाम कितनी प्रगति हुई? इस पुण्य प्रयासम किसी प्रकारकी बाधा तो नहीं है?'

ऋषिने भावविह्वल-कण्ठसे कहा—'भगवन्! आपकी कृपासे अभी भी मैंने ज्ञानके थोडे ही कण बटोर पानेमें सफलता पायी है। कालचक्रकी गति अत्यन्त तीव्र है और मानव-क्षमता कितनी सीमित!' देवराज मुसकराये। उन्होंने कहा—'चिन्ता न करो वत्स! मैं तुम्हारी ज्ञान-निष्ठासे प्रसन्न हूँ। सामनेकी ओर देखो।'

चकित-नयन ऋषिने निहारा। उनके नेत्रोके समक्ष अत्यन्त उन्नत शिखरवाले तीन पर्वत खडे थे। उनसे प्रतिफलित होनेवाले तेज-प्रकर्षसे आँखें चौंधिया रही थीं। पुन देवराजने एक मुट्ठी धूल हाथमे लेकर भरद्वाजसे प्रश्न किया—'वत्स! मेरी मुट्ठीम क्या है?'

ऋषिने हँसते हुए उत्तर दिया—'भगवन्! मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार आपकी मुट्ठीमे तो थोडी-सी धूलमात्र है। वैस महात्माआके निगूढ अभिप्रायको भला मैं कैसे जान सकता हूँ!' इन्द्रने समर्थन किया—'साधु वत्स! मेरी मुट्ठीमें थोडी-सी धूलमात्र है। उत्तुग पर्वताकी तुलनामे यह नगण्य-सी है। इसी प्रकार तुम्हारा अद्यावधिपर्यन्त अर्जित ज्ञान अत्यल्प है। ज्ञानकी कोई सीमा नहीं उसका कोई अन्त नहीं' 'अनन्ता वै वेदा'—वेद अनन्त हैं (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। १०। ११। ४)।

'तुम्हारा उत्तम प्रयास अनवरत एव अविच्छिन्न है। अत तुम्हारी साधनाका फल मिलेगा ही, किंतु इसके निमित्त तुम्हे सवितृदेवकी आराधना करनी पडेगी। सकल-ज्ञान-निधान वे 'त्रयी रूप' ही हैं। वे वेदमूर्ति हैं। उनकी प्रसन्नता-हेतु तुम्हे 'सावित्र-अग्निचयन-यज्ञ' करना चाहिये। तुम यथाशीघ्र इस पुण्य आयोजनम लग जाओ।'

नयी दिशा पाकर ऋषि दूने उत्साहसे सविताकी साधनाम लग गये। तपोवनमें स्थल-स्थलपर यज्ञवेदियाँ बनायी गयीं। हवन कुण्डोम मन्त्रोच्चारणपूर्वक आहुतियाँ डाली जाने लगीं।—'ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्र तन्न आ सुव॥'—हे सवितादेव! आप हमारे सम्पूर्ण दुरितोंका विनाश करके हमारे लिये मङ्गलका विस्तार-विधान करे। इस होमयज्ञके कारण पर्यावरण दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण एव परिपूत हो गया। कुछ महीनोंकी मनोयागमयी साधनाके फलस्वरूप भगवान् सवितादेव प्रकट हुए।

'वर ब्रूहि, वर ब्रूहि' क रूपम मङ्गल-वाणी गूँज उठी। ऋषि भरद्वाज श्रद्धा-समन्वित हो उठ खडे हुए। यथाप्राप्त उपचारपूर्वक उन्होंने 'सवितादेव' का पूजन किया। उन्हाने करुणापूर्वक ऋषिको आश्वस्त किया— वत्स! तुम निष्ठापूर्वक मेरी आराधनामे कुछ दिन और लगे रहो। मरे अनुग्रहसे तुम्हे समग्र वेदज्ञान प्राप्त हागा। कृतज्ञ जगत् तुम्हे ऋषि-

समूहमें अग्रगण्य सप्तर्षि-मण्डलम स्थान देकर सादर स्मरण करेगा। तुम कुछ दिन और निष्ठापूर्वक गायत्री-पुरश्चरण करो। यदि तुम्हे कहीं विप्रतिपत्ति एवं संशय हो तो तुम मेरे अन्यतम शिष्यों—हनुमान् एव याज्ञवल्क्यसे भी परामर्श कर लेना। तुम यशस्वी बनोगे। कर्म, ज्ञान, भक्तिकी त्रिवेणी प्रवाहित करनेमें तुम्हारी भूमिका अन्यतम रूपसे महत्त्वपूर्ण रहेगी।'

श्रद्धान्वित तथा आशान्वित ऋषि 'ज्ञानेष्टि' म पुन लीन हो गये। विपुल वैदिक ज्ञान-राशि उनके सम्मुख अपनी विराटतामें प्रतिफलित होने लगी। ऋग्वेदके षष्ठ मण्डलके अनेक सूक्ताके द्रष्टा—सफलयिताके रूपमें उन्हे अक्षय कीर्ति प्राप्त हुई।

ऐसी ही दिव्य सततियोको जन्म देकर भारत-भूमि—'भारत'—(ज्योतिकी साधनाम लीन) सज्ञाको चरितार्थ कर सकी है। वेद व्याकरण प्रौद्योगिकी, धनुर्वेद, आयुर्वेदके लब्धकीर्ति विद्वान्, 'वैदिक सूक्तो', 'भरद्वाज-स्मृति', 'यन्त्रसर्वस्व' 'अशुमतन्त्र', 'आकाशतन्त्र', 'भारद्वाज श्रौतसूत्र' एव 'भारद्वाज गृह्यसूत्र' के यशस्वी प्रणेताको शतश नमन।
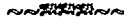
~~~~~

वेदोमे राष्ट्रियताकी उदात्त भावना

(डॉ० श्रीमुरारीलालजी द्विवेदी एम्०ए० पी-एच्०डी०)

'वेद' भारत ही नहीं अपितु विश्वके समस्त मनीषियोंके लिये ज्ञान-स्रोत है। ज्ञानार्थक 'विद' धातुसे 'वेद' शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है ज्ञान प्राप्त करना। किसी विषयका ज्ञान उसे जानकर ही किया जा सकता है। इस प्रकार 'वेद' शब्द ज्ञानका पर्याय है।

वेदोंकी महिमा अपार है। वे ज्ञानके भण्डार, धर्मके मूल स्रोत और भारतीय सस्कृतिके मूल आधार हैं। वेद-वाक्य स्वत प्रमाण हैं तथा अनादि और अपौरुषेय हैं, अत वेद ब्रह्मस्वरूप हैं।

वैदिक साहित्यमें मुख्यत चार वेद हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेदमे १०५५२ मन्त्र हैं, इनका लक्ष्य मनुष्यको ज्ञान देना ही है। यजुर्वेदम १९७५ मन्त्र हैं जो उत्तम कर्मोंकी ओर प्रेरित करते हैं। सामवेदमे १८७५ मन्त्र हैं जिनमे ईश्वर-स्मरण और साधनाका वर्णन है। अथर्ववेदका विषय योग है। 'अथर्व' शब्दका शाब्दिक अर्थ (अ+थर्व) एकाग्रतासे है। इस वेदके ५९७७ मन्त्रोंमें राष्ट्रधर्म, समाजव्यवस्था गृहस्थधर्म, अध्यात्मवाद, प्रकृतिवर्णन आदिका विस्तृत एव व्यावहारिक ज्ञान समाहित है।

वेद-वाक्य राष्ट्रप्रेम देशसेवा और उत्सर्गके प्रेरक हैं, इसलिये वेद आर्योंके सर्वप्रधान तथा सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ हैं। इसी कारण वेदोका आज भी राष्ट्रव्यापी प्रचार है। हमारे देवालयो एवं तीर्थस्थानोमें आज भी उनका प्रभाव अक्षुण्ण है। वेदोम अपने गौरवशाली अतीतकी झाँकी देखकर आज भी हम अपना मस्तक गर्वोन्नत कर सकते हैं।

वेदोंमें राष्ट्रियताकी उदात्त भावनाका भरपूर समावेश है। ऋग्वेद (१०।१९१।२)-मे जगदीश्वरसे प्रार्थना की गयी है—

सं गच्छध्वं स वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सजानाना उपासते॥

अर्थात् 'हे जगदीश्वर! आप हमें ऐसी बुद्धि दे कि हम सब परस्पर हिलमिल कर एक साथ चलें, एक-समान मीठी वाणी बोलें और एक-समान हृदयवाले होकर स्वराष्ट्रमें उत्पन्न धन-धान्य और सम्पत्तिको परस्पर समानरूपसे बाँटकर भोगें। हमारी हर प्रवृत्ति राग-द्वेषरहित परस्पर प्रीति बढानेवाली हो।'

ऋग्वेदके 'इन्द्र-सूक्त' (१०।४७।२)-में जगदीश्वरसे स्वराष्ट्रके लिये धन-धान्यवान् पुत्रोसे समृद्ध होनेकी कामना की गयी है—

स्यायुधं स्ववसं सुनीथं चतु समुद्र धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शस्य भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दा॥

तात्पर्य यह कि 'हे परमैश्वर्यवान् परमात्मन्! आप हमें धन-धान्यसे सम्पन्न ऐसी संतान प्रदान कीजिये जो उत्तम एव अमोघ शस्त्रधारी हो अपनी और अपने राष्ट्रकी रक्षा करनेमे समर्थ हो तथा न्याय दया-दाक्षिण्य और सदाचारके
~~~~~

साथ जन-समूहका नेतृत्व करनेवाली हो, साथ ही नाना प्रकारके धनोको धारण कर परोपकारमे रत एव प्रशसनीय हो तथा लोकप्रिय एवं अद्भुत गुणासे सम्पन्न हाकर जन-समाजपर कल्याणकारी गुणोकी वर्षा करनेवाली हो।'

राष्ट्रकी रक्षामे और उसकी महत्तामें ऐसी ही अनेक ऋचाएँ पर्यवसित हैं, जिनमेसे यहाँ कुछका उल्लेख किया जा रहा है, जैसे—

उप सर्प मातर भूमिम्।

(ऋग्वेद १०।१८।१०)

'मातृभूमिकी सेवा करो।'

निम्न मन्त्रसे मातृभूमिको नमन करते हुए कहा गया है—

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या।

(यजुर्वेद ९।२२)

अर्थात् 'मातृभूमिको नमस्कार है मातृभूमिको नमस्कार है।' यहाँ 'पृथ्वी' का अर्थ मातृभूमि या स्वदेश ही उपयुक्त है। अत हमें अपने राष्ट्रमें सजग होकर नेतृत्व करने-हेतु एक ऋचा यह उद्घोष करती है—

वयःराष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता ॥

(यजुर्वेद ९।२३)

अर्थात् 'हम अपने राष्ट्रमें सावधान हाकर नेता बने।'

क्रान्तदर्शी, शत्रुधातक अग्निकी उपासना-हेतु निम्न मन्त्रमें प्रेरित किया गया है—

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥

(सामवेद १।१।३२)

'हे स्तोताओ! यज्ञमें सत्यधर्मा क्रान्तदर्शी मेधावी तेजस्वी और रोगोका शमन करनेवाले शत्रुघातक अग्निकी स्तुति करो।'

अथर्ववेदके 'भूमि-सूक्त' मे ईश्वरने यह उपदेश दिया है कि अपनी मातृभूमिके प्रति मनुष्याको किस प्रकारके भाव रखने चाहिये। यहाँ अपने देशको माता समझने और उसके प्रति नमस्कार करनेका स्पष्ट शब्दामें उल्लेख किया गया है—

सा नो भूमिर्वि सृजता माता पुत्राय मे पय ॥

(अथर्व० १२।१।१०)

'पृथ्वीमाता अर्थात् मातृभूमि, मुझ पुत्रके लिये दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थ प्रदान करे।'

माता भूमि पुत्रो अहं पृथिव्या ।

(अथर्व० १२।१।१२)

'भूमि (स्वदेश) मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।'

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।

(अथर्व० १२।१।६३)

'हे मातृभूमि! तू मुझे अच्छी तरह प्रतिष्ठित करके रख।'

सहृदय सामनस्यमविद्वेष कृणोमि व ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्स जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्व० ३।३०।१)

'परस्पर हृदय खोलकर एकमना होकर कर्मशील बने रहो। तुरत जन्मे बछडेको छेडनेपर गौ जैसे सिंहिनी बनकर आक्रमण करनेको दौडती है, एसे तुम लोग सहृदयजनाकी आपत्तिम रक्षाके लिये कमर कसे रहो।'

अतएव हम चाहिये कि अपनी मातृभूमिकी रक्षा-हेतु आत्मबलिदान करनेके लिये हम सदा तत्पर रहे—

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूता ।
दीर्घं न आयु प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्य बलिहृत स्याम॥

(अथर्व० १२।१।६२)

'हे मातृभूमि! तेरी सेवा करनेवाले हम नीरोग और आरोग्यपूर्ण हा। तुमसे उत्पन्न हुए समस्त भोग हमे प्राप्त हो हम ज्ञानी बनकर दीर्घायु हो तथा तेरी सुरक्षा-हेतु अपना आत्मोत्सर्ग करनेके लिये भी सदा सनद्ध रह।'

इस प्रकार वेद ज्ञानके महासागर हैं तथा विश्व-वाङ्मयकी अमूल्यनिधि एव भारतीय आर्यसस्कृतिक मूल आधार हैं। उनमें राष्ट्रियताकी उदात्त भावनाका भरपूर समावेश है। अत हम सभी राष्ट्रवासियाका चाहिये कि हम राष्ट्ररक्षामे समर्थ हो सकें, इसके लिय वेदकी शिक्षाओको समग्ररूपसे ग्रहण कर।

सभी शास्त्र वेदका ही अनुसरण करते है

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री)

समस्त शास्त्र, पुराण इतिहास, रामायण गीता और महाभारत आदि जा भी हमारे धर्मग्रन्थ हैं, उनके मूल आधार भगवान् वेद ही हैं। क्योंकि वेदके पश्चात् ही ये सब ग्रन्थ लिखे गये एवं इन ग्रन्थामे जो धर्मकी व्याख्या हुई उनके आधार वेद ही हैं—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।' भगवान् वेदकी भापा सर्वगम्य न होनेके कारण आर्पग्रन्थोंके द्वारा ही वेदार्थ प्रकट किया गया। वेदार्थ-ज्ञापक हमारे धर्मग्रन्थ ये हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता ।
वेदा स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश॥

(याज्ञ०स्मृ० १। ३)

'पुराण न्याय मीमासा धर्मशास्त्राङ्गोंसे युक्त चारा वेद—य धर्म और विद्याआंके चौदह स्थान हैं।' इमी कारण वेदार्थ निश्चय करनेके लिये इनका अनुशीलन तथा परिशीलन अनिवार्य एव अपरिहार्य है—

वेदार्थो निश्चेतव्य स्मृतीतिहासपुराणै ।

वेदार्थका निश्चय स्मृति इतिहास एव पुराणोंक द्वारा ही किया जाना चाहिये, क्योंकि इतिहास-पुराणाका उपबृहण वेदार्थीकी बोधगम्यताके लिये ही हुआ है—

इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्॥

(महाभारत आदिपर्व १। २६७)

वाल्मीकिरामायण महाभारत समस्त पुराण उपपुराण और धर्मशास्त्र आदि आर्पग्रन्थोंमें सर्वत्र ही वेदका अनुसरण किया गया है। यही आर्पग्रन्थोकी महत्ता है। जिन्होंने वेदोको नहीं माना उनका ग्रन्थ अप्रामाण्य ही माना गया—

अतुलित महिमा वेद की तुलसी किएँ बिचार।
जो निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥

(दो० ४६४)

वेद अनादि अपौरुपेय तथा नित्य शाश्वत और त्रैकालिक घटनाओंके दर्पण एव हमारे पथ-प्रदर्शक हैं अतएव सनातन सत्य हैं। उपनिपद्का कहना है कि वेद भगवान्क नि श्वासभूत हैं— यस्य नि श्वसित वेदा तथा गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी उक्ति है— *जाकी सहज स्वास श्रुति चारी'।*

वेदकी शाखाआका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिता ।
तेपा शाखा ह्यनेका स्युस्तासूपनिपदस्तथा॥
ऋग्वेदस्य शाखा स्युरेकविंशतिसख्यका ।
नवाधिक शत शाखा यजुपो मारुतात्मज॥
सहस्रं सख्यया जाता शाखा साम्न परतप।
अथर्वणस्य शाखा स्यु पञ्चाशद् भेदता हरे ॥
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिपन्मता।

ये ही वेद भगवान्की इच्छा एव प्रेरणासे रामायणके रूपमे महर्षि वाल्मीकिजीक श्रीमुखस प्रकट हुए, क्योंकि भगवान्को जब धराधामपर प्रकट होना होता है तो अपने अवतारकी पृष्ठभूमि वे स्वय ही बना लेते हैं। यहाँ भगवदवतारके साथ वेदावतार भी कैसे हुआ ? यह स्पष्ट किया जा रहा है। अगस्त्य-सहितामे इसका स्पष्ट वर्णन है—

वेदवेद्ये परे पुसि जाते दशरथात्मजे।
वेद प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

वेदाके द्वारा जानने याग्य भगवान् जब दशरथनन्दनके रूपम धराधामपर पधारे ता वदाने भी प्राचेतस भगवान् वाल्मीकिजीके श्रीमुखस स्वय रामायणक रूपमे अवतार लिया। इस कारण भगवान् शकरजो भगवती पार्वतीजीसे कहते हैं—'देवि! इस प्रकारसे रामायण स्वय वेद है इसम सशय नहीं है —

तस्माद् रामायण देवि वेद एव न सशय ।

उस रामायणके परम विशिष्ट पात्राका भी वर्णन किन-किन रूपोंमे किया, उसका भी स्पष्ट सकेत कर दिया है—

तासा क्रिया तु कैकेयी सुमित्रोपासनात्मिका।
ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या वेदा दशरथो नृप ॥
क्रियायां कलहो दृष्टो दृष्टा प्रीतिरुपासने।
ज्ञानेनात्मसुख नित्यं दृष्ट निर्हेतुनिर्मलम्॥

(शिवसहिता १८। ४६-४७)

'वेदोंकी क्रिया कैकेयी, उपासना सुमित्रा तथा ज्ञानशक्ति कौसल्या हैं एव महाराज श्रीदशरथजी साक्षात् वेद हैं। क्रियामे कलह उपासनामें प्रीति, निर्हेतुक ज्ञानमें निर्मल आत्मसुख देखा—पाया गया। इसी क्रमसे रामायणका स्वरूप भी है। क्रिया महारानी कैकेयी ही श्रीरामावतारके समस्त प्रयोजनको सिद्ध करानेके लिये महाराज दशरथजीसे हठपूर्वक रामको वनवास दिलाती हैं, क्योंकि ये सभी कार्य क्रियाके ही हैं। सुमित्रा उपासना एव प्रेम हैं।' वे लक्ष्मणजीसे कहती हैं—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥
(वा० रा० २। ४०। ९)

ज्ञानशक्ति कौसल्या हैं। समस्त परिस्थितियोंके बिगड जानेपर भी वे स्पष्ट आत्माके वास्तविक स्वरूपको पहचान कर परम शान्त, दान्त एव गम्भीर-मुद्रामें किसीपर भी दोषारोपण न करके स्वात्माराम हैं क्योंकि—

ब्रह्मणा निर्मितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम्।
वाल्मीकिना च यत् प्रोक्त रामोपाख्यानमुत्तमम्॥
(स्कन्दपुराण)

इसीके आधारपर यह भी वर्णन किया गया कि साक्षात् ब्रह्माजीने कहा—'महर्षे! मेरी ही प्रेरणासे तुम्हारे मुखसे 'मा निषाद प्रतिष्ठां०' इस श्लोकके रूपम रामायण ग्रन्थ वेदके रूपमें प्रकट हुआ। तुमने महर्षि नारदजीके मुखसे जैसा श्रवण किया है वैसा ही वर्णन करो। आगेका सारा चरित तुम्हारी ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा तुम्हे स्वय ही ज्ञात हो जायगा। तुम्हारी कोई भी वाणी इस काव्यम मिथ्या नहीं होगा।' ब्रह्माजीने कहा—

तच्चाप्यविदितं सर्वं विदित ते भविष्यति।
न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति॥
(वा० रा० १। २। ३५)

इस प्रकार ब्रह्माजीसे आदेश पाकर महर्षि वाल्मीकिजीने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा समस्त रामचरितका जैसा साक्षात्कार किया वैसा ही वर्णन कर दिया है।

स्कन्दपुराणमे तो ऐसा भी वर्णन किया गया है कि—

वाल्मीकिरभवद् ब्रह्मा वाणी वक्त्रुत्वरूपिणी।
चकार रामचरितं पावन चरितव्रत ॥

'स्वय ब्रह्मा ही वाल्मीकि हुए, सरस्वती ही उनकी वाणी—वक्ता बनकर स्फुटित हुई, जिससे वेद-रूप श्रीरामायणकी रचना सम्पन्न हुई।'

फिर भगवान् शकर पार्वतीजीसे कहत हैं—

वाल्मीकिस्तुलसीदास कलौ देवि भविष्यति।
रामचन्द्रकथा साध्वी भाषारूपा करिष्यति॥
(शिवसंहिता)

पुन —

वाल्मीकिस्तुलसीदासो भविष्यति कलौ युगे।
शिवनात्र कृतो ग्रन्थ पार्वतीं प्रतिबोधितुम्॥
रामभक्तिप्रवाहार्थं भाषाकाव्य करिष्यति।
रामायणं मानसाख्य सर्वसिद्धिकर नृणाम्॥
(ब्रह्मरामायण)

अर्थात् 'देवि! वाल्मीकिजीने वेद-रूप जो रामायण लिखी सस्कृतमें होनके कारण उससे भविष्यमें समस्त समाज लाभान्वित नहीं हो पायेगा। इसलिये स्वय वाल्मीकिजीने कलियुगी प्राणियोंका कल्याण करनेके लिये श्रीरामचरितमानसके रूपमें तुलसीदास बनकर उसी वेद-रूप रामायणकी रचना 'भाषा'में की। जिससे आबाल-वृद्ध नर-नारी, जन-सामान्यसे लेकर सुयोग्य विद्वान्तक लाभ उठा सकें।'—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई॥
भाषा बद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई॥

नाभादासजीने भी अपने भक्तमाल नामक ग्रन्थम इसीको पुष्ट किया है—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो।

इस प्रकारसे ब्रह्माजी ही प्राचेतस मुनि हुए और उनके द्वारा लिखी *रामायण श्रीमद्वाल्मीकिरामायण* है। जिसके सम्बन्धमे स्कन्दपुराणमे कहा गया है—

रामायणमादिकाव्यं सर्ववेदार्थसम्मतम्।
सर्वपापहर पुण्यं सर्वदु खनिवर्हणम्॥

महर्षि वाल्मीकिकृत आदिकाव्य रामायण साक्षात् वेदरूप ही है अतएव परवर्ती समस्त रामायण-लेखकोंने अपनी-अपनी भाषा एव परम्परानुसार इसी वेद-रूप रामायणका

अनुकरण एव अनुसरण किया है। वेदव्यासजीकी घोषणा है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

इसीलिये कहा गया—'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।' फिर जितने शास्त्र-पुराणादि लिखे गये तत्तद् ग्रन्थोंके उन सभी लेखकोंने श्रीव्यास एव वाल्मीकिजीकी ही रचनाओंको आधार मानकर अपने-अपने ग्रन्थोंको लिखा है। श्रीमद्भागवतके वेदान्त-निरूपण एव वर्षा शरद्-वर्णनके प्रसगको लेकर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहीं-कहीं तो अक्षरश तथा अन्यत्र आधाररूपमें आलकारिक वर्णन किया है। श्रीमद्भगवद्गीता तो सभी उपनिषदोंका सार ही है उसके श्लोक (१८। ६६)-का अनुवाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने ज्यों-का-त्यों किया है जैसे—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥

गोस्वामीजीका अनुवाद—

नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू॥

पुन —

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनय ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परा गतिम्॥
(गीता ९। ३२)

गोस्वामीजीका अनुवाद—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

उपनिषद्में—

यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रे-
ऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्त
परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ८)

गोस्वामीजीका अनुवाद—

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥

गीता (१५। ४)-में जैसे 'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूय ' कहा गया है इसी प्रकार वेद एव वेदार्थका ही अनुकरण अनुवर्णन अद्यावधि सभीने अपनी-अपनी भाषा एव परम्परानुसार किया है। भगवान् वेदके अतिरिक्त कोई कहेगा भी क्या? अत —

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरि सर्वत्र गीयते॥

गोस्वामीजी—

जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

—इस प्रकार वेद हमारे आर्ष मूल अपौरुषेय, अनादि अनन्त, धर्ममूल सर्वाधार, साक्षात् नारायणरूप, सर्वगुणगण-सम्पन्न, सर्वाभीष्टदायक, सर्वारिष्टनिवारक एवं सर्वज्ञान-विज्ञान-प्रदाता हैं और सभी वेद भगवान्का ही प्रतिपादन करते हैं। इसीलिये शास्त्रका वचन है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य वै पुन पुन ।
इदमेकं सुनिष्पन्न ध्येयो नारायण सदा॥

अत यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त शास्त्र वेदका ही अनुसरण करते हैं। यह सर्वविध प्रमाणित, स्वत सिद्ध एवं शाश्वत सत्य है।
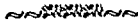
येन देवा स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोक घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यव ॥
(अथर्व० ४। ११। ६)

जिस परमात्माकी कृपासे विद्वान् लोग अपना शरीर त्यागकर अमृतके केन्द्र-रूप मोक्षको प्राप्त हुए हैं उस प्रकाशपूर्ण परमात्माके व्रत और तपस्यासे यशके इच्छुक हम उस पुण्यलोकको (मोक्षको) प्राप्त करेंगे।

वैदिक आख्यान, लक्षण और स्वरूप

(डॉ० श्रीविद्यानिवासजी मिश्र)

'आख्यान' शब्दका अर्थ है किसी पूर्वज्ञात (प्रत्यक्ष या प्रामाणिक रूपसे या परम्परागत) घटना या अवस्थितिको समझानेकी क्रिया। 'ख्या' का अर्थ होता है प्रकट करना और 'आ' जोडनेसे उसका अर्थ होता है भलीभाँति प्रकट करना। अभिनवगुप्तने आख्यानका लक्षण बतलाते हुए कहा कि आख्यान दृष्टार्थकथन है। 'अर्थ' शब्द वस्तुओं और घटनाओंकी तथ्यता है। वस्तुत जो वस्तु दिखायी पडती है या जो घटना घटती है, उसका आधा ही ज्ञान होता है। इन्द्रियोंसे या मनसे आधा ही ज्ञात हो पाता है। उसकी वास्तविकताका पूरा ज्ञान नहीं होता क्योंकि वह वास्तविकता केवल इन्द्रियगोचर या केवल मनोगोचर नहीं है। कभी-कभी वह बुद्धिगोचर भी नहीं होती। वह चेतनाके सबसे भीतरके प्रकाशसे उन्मीलित होती है। इसलिये दृष्टार्थ-कथनकी परिभाषा अत्यन्त व्यापक है और इस परिभाषामे यह निहित है कि वह न तो किसी घटनाका इतिहास है और न किसी घटनाका आधिभौतिक विवरण। हमारी प्रवृत्ति हर विषयको उसकी समग्रतासे समझनेकी रही है। इतिहास इस समझका अशमात्र है। जब आख्यायिकाका संस्कृतमे लक्षण यह किया जाता है कि वह प्रसिद्ध इतिवृत्तोपर आधारित होता है, तब उसका अर्थ यह होता है कि यह प्रसिद्धि केवल ऐतिहासिक दृष्टिसे नहीं है। यह आभ्यन्तर चक्षुसे प्रमाणपुरुषोंके द्वारा की गयी अपरोक्ष अनुभूतिका परिणाम है। वैदिक आख्यान वैसे तो सहिता भागमें ही मिलने लगते हैं, पर ब्राह्मणो आरण्यकों और उपनिषदोंमे आये आख्यान विशेष महत्त्व रखते हैं। ब्राह्मणोंम जब किसी अनुष्ठानकी प्रक्रियाको समझाना होता था तो एक आख्यान सुनाया जाता था। वह आख्यान क्रियाकी अभिव्याप्ति स्पष्ट करता था। इस प्रकारसे यह आख्यान प्रत्येक आनुष्ठानिक सोपानको समझनेक लिये एक बडा चौखटा प्रदान करता था। कभी यह आख्यान सादृश्य-मूलक है, कभी प्रतीकात्मक है कभी अन्योक्तिपरक है, कभी कार्य-विशेषमें घटी घटनाको देशातीत और कालातीत प्रस्तुत करनेवाला है। ऐसे ही आख्यानोका उपबृहण पुराणोंमे हुआ है। ये ही हमारे काव्य-साहित्य और नाट्यशास्त्रके बीज बनते हैं और ये ही हमारी कलाओके सदर्भ बनते हैं। वैदिक आख्यानोका सौन्दर्य तीन बातोम है। एक तो ये अत्यन्त सक्षिप्त हैं, इनम नाटकीय चढाव-उतार है और मुख्य प्रतिपाद्य ही दिया गया है। उसको सजानेकी कोशिश नहीं की गयी है। भाषा बडी ही पारदर्शी है, पर उसके साथ-साथ बडी गहरी है बहुस्तरीय है। उसमे प्रवेश करते ही पटल-पर-पटल खुलते चले जाते हैं। कहीं भी शब्दका अपव्यय नहीं है। हर आख्यानका अन्त किसी-न-किसी प्रकारकी पूर्णताके भावसे होता है, इसीलिय ये आख्यान कालातीत हैं और परिणामत इतिहाससे भी बाहर हैं। एक प्रकारसे सनातन हैं। इन आख्यानोमे इतिवृत्तोका विस्तार सीधी रेखामे नहीं है। जैसे—इस घटनाके बाद यह घटना आदि। न इनका विस्तार एक वृत्तके रूपम होता है जहाँसे घटना शुरू हो वहींपर लौट आये। यहाँ जो कुछ भी है, वह एक खुला वृत्त है अर्थात् ऐसा विवरण है जिसमें आगे बढानेकी गुजाइश मौजूद है। शखवलय-जैसे होता है। उसमे छोटे वृत्तका विस्तार बडे-से-बडे वृत्तोमे होता चला जाता है। वैसे ही इन आख्यानोंका विस्तार सम्भव होता है। ३-४ पक्तियोका आख्यान एक बहुत बडी कथा बन जाती है। दो पक्ति—भरतका आख्यान अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक बना। पुरूरवा-उर्वशीके आख्यानम अरणि-मन्थन (आग धधकानेके लिये जिन लकडियोका प्रयोग होता है, उन्हें 'अरणि' कहते हैं)-के प्रसगमे और विस्तृत होकर मनुष्य और प्रकृतिके बीच रूपान्तरकी सम्भावनाओका अत्यन्त सश्लिष्ट रूपक बन जाता है। उत्तरवर्ती साहित्यका पूरी तरह समझनेके लिये ये वैदिक आख्यान चाभी हैं। उदाहरणके लिये छान्दाग्योपनिषद्के घोर आगिरस और देवकीपुत्र कृष्ण-सवादका आख्यान ही गीताकी आधारपीठिका है। यहाँ इस आख्यानको पूरा देना सगत होगा। आख्यान इस प्रकार है—

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षा ॥ अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति॥ अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति॥ अथ यत्तपो दानमार्जवमहि॰सा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा ॥ तस्मादाहु सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवावभृथ ॥ तद्धैतद्घोर आङ्गिरस कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत ताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणस॰शितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवत ॥ आदित्प्रत्नस्य रेतस । उद्वय तमसस्परि ज्योति पश्यन्त उत्तर॰स्व पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति॥

(छान्दोग्य० ३। १७। १–७)

इसका अर्थ यह है कि इस आभ्यन्तर पुरुषको जब भूख लगी होती है, प्यास लगी होती है, कहीं उसे चैन नहीं पडता, कहीं वह रम नहीं पाता तभी जीवन-यज्ञमें उसकी दीक्षा होती है। जीवन-यज्ञके लिये वह अपनेको सौंपता है, क्योंकि यह व्याकुलता उसे दीखती है। यह सबकी व्याकुलता है। अकेली उसकी नहीं है। दीक्षाका अर्थ ही है अपनेको पूरी तरह खाली करना और भरे जानेके लिये प्रस्तुत करना।

जो वह खाता है, पीता है और रमता है, वही जीवन-यज्ञकी यज्ञ-वेदीके पास पहुँचना होता है। वही उपसद् मन्त्रोंका उपयोग होता है। जब वह खा-पीकर रमकर प्रसन्न होता है हँसता है, जब वह विविध प्रकारके भोगको आत्मसात् करता है, जब वह अत्यन्त निजत्वको सम्पूर्णत्वमे विलीन करता होता है, जब वह मिथुनीभावके साथ अद्वैतात्मक क्षणम प्रविष्ट होता रहता है। अमावस्याकी इष्टिके सम्बन्धमें उसकी जो बात कही गयी है उससे रूपक-शब्दावली लेकर कह सकते हैं कि अग्नि-सोमस्वरूपमें वह निगीर्ण होता रहता है और सोमाभिषव होता रहता है। यह स्थिति ही शास्त्रमन्त्रोंके उपयोगकी स्थिति है, जिनके द्वारा अन्तिम आहुति दी जाती है। वषट्कारके उच्चारणके साथ अन्तिम आहुति दी जाती है कि यह हम सबकी ओरसे सर्वात्मक देवताके लिये आहुति दे रहे हैं। हम सबके लिये यह आहुति कर्मोंका सूक्ष्म रूप है। समस्त जीवोंका साररूप है। समस्त सृष्टिका बीजरूप है। इस यज्ञसे जो तप दान, आर्जव (निश्छल व्यवहार), अहिंसा और सत्यके आचरणका संस्कार उत्पन्न होता है, वही इस जीवन-यज्ञकी दक्षिणा है। इस यज्ञ-भावनासे जिया गया जीवन मानो अहकारकी मृत्यु है और यह यज्ञ मृत्युके बाद पुनरुत्पादन है। सृष्टिका पुन अनुकीर्तन है। इस यज्ञके बाद अवभृथ-स्नान किया जाता है, वह देहकी मृत्यु है। इसके बाद और अधिक स्फूर्तिके साथ नये यज्ञकी तैयारी होती है। इस यज्ञपुरुष-रूप विद्याका उपदेश घोर आङ्गिरसने देवकीपुत्र श्रीकृष्णको दी तो उनकी तृष्णा-रूप प्यास बुझ गयी। वे इस भावमे आजीवन भरे रहे। इस उपदेशसे भरे रहे कि अनिकेतन हो तुम्हारे लिये कोई घरका घेरा नहीं है। तुम अच्युत हो तुम्हारा कुछ भी नहीं घटता। तुम अव्यय हो और तुम्हारे प्राण निरन्तर सानपर चढकर नये-नये रूपमे ओजस्वी होते रहते हैं। तुम प्राण-सचित हो। यही तुम अनुभव करते रहो। इस सम्बन्धमे दो ऋचाएँ हैं—

प्राचीन बीजका अकुरण होता रहता है। एक जीवनदीप दूसरे जीवनदीपका प्रदीपक होता है। कुछ भी मूलरूपसे नष्ट नहीं होता। हम अन्धकारके पार जाते रहें। बराबर अपने अङ्ग-ज्योतिका दर्शन करते रहें। अपने आगे प्रकाशात्माको देखते रहे—यही देवताको देखना है। यही स्वय द्युतिमान् होना है। यही उत्तम-से-उत्तम ज्योतिकी ओर अभिमुख होना है। इसी मार्गसे देवता भी परम प्रकाशके पास पहुँचते रहे हैं और उनसे प्रकाश पाते रहे हैं।

यज्ञके अर्थका विस्तार देते हुए इस छोटेसे आख्यानमें भारतीय जीवनका मूलमन्त्र बड़े ही क्रमबद्ध ढगसे समझाया गया है—यह अपने-आप स्पष्ट है। जो इस उपदेशको नहीं समझेगा वह श्रीकृष्णके बालजीवन, कैशोरजीवनकी लीलाओंका रहस्य और उनके उत्तरवर्ती जीवनके नि सग कर्म-शृखलाको तथा उनके चुपचाप जराके तीरसे आबद्ध होकर एकान्त 'रूप' में महाप्रयाणके रहस्यको नहीं समझ सकता।

यह आख्यान तो एक इतिहास-पुरुषके स्वरूप और

उनके सदेशको समझनेके लिये बीजके रूपमें है। एक दूसरा आख्यान हम दे रहे हैं, जो मनुष्यके स्वभावकी पहचानसे सम्बद्ध है। यह आख्यान बृहदारण्यकोपनिषद् (५। २। १—३)-मे इस प्रकार है—

त्रया प्राजापत्या प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत् त्रय*शिक्षेद्दम दान दयामिति॥

तात्पर्य यह है कि प्रजापतिके तीन सतान—देवता मनुष्य और असुर अपने पिता प्रजापतिक आगे ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर तप करने गये। ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करनेके बाद देवताओंने कहा—'अब हम उपदेश कर'। उनके लिये एक अक्षर पिता बोले—'द' और पूछा—'तुमने समझा'। हाँ हमने समझा। हमें 'दमन' करना चाहिये (अपन भोगपर नियन्त्रण करना चाहिये)—यही आपने कहा। 'हाँ, तुमने ठीक समझा।' यह पिताने कहा।

इसक बाद मनुष्य व्रत करके गये और बोले—'हमें उपदेश करे'। उनको भी ब्रह्माने एक ही अक्षरका उपदेश दिया—'द' और पूछा—'तुमने समझा'? हाँ, हमने समझा कि आपने कहा 'दान करो'। हाँ, तुमन ठीक समझा।

अब इसके बाद असुर व्रत करके पहुँच। आप हमे उपदेश कर। उनको भी एक अक्षरका उपदेश दिया—'द'। पूछा—'तुमने क्या समझा?' हाँ हमने समझा आपने कहा—'दया करो'। हाँ तुमने ठाक समझा।

यह उपदेश दैवी वाणीके रूपम बराबर होता रहता है। जब बादल गरजता है और उसमें 'द-द-द' का स्वर निकलता है। यही ध्वनि निकलती है—'दमन करो', 'दान करो', 'दया करो'। इससे शिक्षा लेनी चाहिये कि ये तीनों आवश्यक हैं। ये तीनो जीवनके मन्त्र हैं। अब इसका व्याख्यान करने बैठे तो मनुष्यक लिये दान ही व्रतका फल है। यह बीजमन्त्र है। इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि दानकी परिभाषा है ममत्वका त्याग करना। अपनेपनका दावा छोडना किसी वस्तुके साथ ममत्व न रखना और रखना तो यह समझ कर कि यह वस्तु जितनी मेरी है, उतनी ही दूसरेकी भी और जितनी ममता मेरी है, उतनी ही दूसरेकी भी। यह दान अपने-परायेको जोडनवाला व्यापार है। यही मानवका उसकी दुर्बलताओंसे उद्धार है। दान देकर मनुष्य एकदम बडा हो जाता है। दानका कण वह पारसमणि है जो लोहेको भी सोना बना देती है, पर शर्त यह है कि अपनेपनका नि शेष-भावसे समर्पण होना चाहिये। उसके बिना दान दान नहीं। हमारे यहाँ दानपात्रासे पीढी-दर-पीढीको बाँधा गया है। उससे यह पता चलता है कि दानकी नींव हमारी सस्कृतिकी कितनी गहराईमें पडी है। जो दान ऋणके रूपम ब्याजके लिये दिया जाता है—वह दान दान नहीं दानका उपहास है। मनुष्यके लिये 'दान', असुरोके लिये 'दया' और देवताआके लिये 'दमन' क्या इतना महत्त्वपूर्ण है? इसका कारण है कि मनुष्यके स्वभावमे ममता है। इसलिये दान उस ममताका स्वाभाविक विस्तार होता है जो मनुष्यके उन्नयनका कारण है। देवताकी योनि भोगयोनि है। उसमे केवल सुख-भोग है। यदि उस भोगका स्वभाव इस रूपमें परिवर्तित न किया जाय कि हम दूसरेके भागकी बात सोचते हुए भोग कर तो वह भोग देवताकी कमजोरी हो जाता है। उसी प्रकार असुर-वृत्तिका स्वभाव है दूसरको दु ख देकर सुख पाना। अत उसके लिये यह आवश्यक है कि वह दूसरेक दु खसे दु ख भी पाये। उसके लिये वहाँ दयाका उपदेश है। दानवृत्तिका विस्तार ही मानव-सस्कृतिमात्रका विस्तार है केवल भारतीय सस्कृतिका नहीं।

इन दो उदाहरणासे वैदिक आख्यानकी व्याप्तिका कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है और यह भी सकेत मिल

सकता है कि सरल तथा सीधी भाषाम गहरे-से-गहरे सत्यका प्रकाशन जितना हो सकता है, उतना लबे-चौडे व्याख्यानसे नहीं। आज भी लोकजीवनमें जो व्रतकथाएँ प्रचलित हैं, उनका साँचा भी इन्हीं आख्यानों-जैसा सारात्मक और प्रश्नोत्तरके रूपम मिलता है। वहाँपर अनावश्यक विवरण नहीं है। आख्यानोकी सरचनामें जो एक ही शब्दकी बार-बार पुनरावृत्ति मिलती है, एक ही वाक्यविन्यासकी बार-बार पुनरावृत्ति मिलती है उससे उक्तिमे अपने-आप बल पैदा होता है उक्ति पुष्ट होती है, उसका प्रभाव अनुरणन या बीजके रूपमें होता है।

वैदिक आख्यानोको किसी गोटीमें बाँधना चाहें ता नहीं बाँध सकते। मोटे रूपम कह तो सकते हैं कि कुछ आख्यान मनुष्य और देवताके सम्बन्धको समझानेवाले हैं कुछ आख्यान सृष्टिके क्रमको समझानेवाले हैं सृष्टिक रहस्यको समझानेवाले हैं, कुछ आख्यान प्रकृतिमे घट रहे विभिन्न परिवर्तनोंके अनुभवको समझानेवाले हैं, कुछ आख्यान देवताआ और असुरोंके प्रतिस्पर्धासे सम्बद्ध हैं, कुछ आख्यान देवताओंके परस्पर तारतम्य-सम्बन्धको और तारतम्यसे अधिक परस्पर अवलम्बनके सम्बन्धको स्थापित करनेवाले हैं और अनेक आख्यान ऐसे भी हैं, जिनम कई उद्देश्याका सश्लेष है।

वाक्तत्त्वसे सम्बद्ध आख्यान ऐसे ही सश्लिष्ट आख्यान हैं और सृष्टितत्त्वके भी ख्यापक हैं। मनुष्य और देवताके सम्बन्धके भी ख्यापक हैं। विभिन्न सत्ताओके परस्पर अवलम्यनके भी ख्यापक हैं। उदाहरणके लिये प्रजापति और वाक्का प्रसिद्ध आख्यान है, जिसमें कहा गया है कि प्रजापतिने वाक्की रचना की और वे वाक्पर मोहित हो गये। यह मोह रुद्रसे सहन नहीं हुआ। उन्हाने ऐसे प्रजापतिका सिर काटना चाहा और बाण लेकर दौडे। प्रजापतिने मृगका रूप धारण किया। रुद्र व्याध बने और मृगका सिर काट कर रख दिया। वही 'मृगशिरा' नक्षत्र हुआ। ब्रह्माका वह शरीर सध्याके रूपमे रूपान्तरित हुआ। ऊपरस देखनेपर यह आख्यान एक वर्जित सम्बन्धकी बात करता है और साधारण लोगोंको इससे बड़ा धक्का लगता है, पर यह किसी बडी घटनाको समझनेका प्रयासमात्र है। समझानेके लिये ही धक्कामार भाषाका उपयोग किया गया है। रचना या सृष्टि दूसरेके लिये होती है। उसपर आधिपत्य करना रचनाकारके लिये सर्वथा अनुचित है और उतना ही अनुचित है, जितना उपर्युक्त वर्जित सम्बन्ध। अनौचित्यकी तीव्रताको द्योतित करनेके लिये यह बात कही गयी है।

यह बात केवल ब्रह्माकी सृष्टिपर ही लागू नहीं है, प्रत्येक रचनाके लिये लागू होती है। यदि रचनाकारका सिर, उसका अहकार अलग नहीं हो जाता और रचना अपने कर्तासे विच्छिन्न नहीं हो जाती, वह कोई अर्थ नहीं रखती। रचनाकारका भोक्ताके रूपमे मृत्यु ही रचनाका धर्म है। इस प्रकार यह आख्यान एक सनातन सत्यका ख्यापन है। ऐसे ही सैकड़ा आख्यान वैदिक वाङ्मयमें हैं। उनके गहरे अर्थका अन्वेषण जितना भी करे, उतना कम है क्योकि उसमे असीम अर्थकी सम्भावनाएँ हैं। जो लोग उसे तर्ककी कसौटीपर या अवधारणाओकी नूतन कसौटीपर कसते हैं, वे इन आख्यानोके भीतर निहित अत्यन्त सघन आध्यात्मिक उत्साहको नहीं पकड पाते। वस्तुत ये आख्यान अपर्याप्त भाषाको पर्याप्त करनेवाले हैं। इनमे केवल सामाजिक, ऐतिहासिक और भौतिक अर्थ ढूँढना इनके समग्र सौन्दर्यको खण्डित करना है। वेदाख्यानको समझनेके लिये—'ये किस व्यापारसे सम्बद्ध हैं किन-किन ब्राह्मणा तथा आख्यानोमे आये हैं'—इस सम्बन्धसे कटकर समझनेका प्रयत्न ठीक प्रयत्न नहीं कहा जायगा। उसी प्रकार जिस प्रकार विवाहके अवसरपर मधुबनीमें जो राम-सीताके विवाहकी विविध छवियाँ भीतपर अंकित होती हैं। उन छवियाको यदि उत्सवके क्षणसे काटकर देखगे और उत्सव-देशसे काट कर देखगे तो हम उसकी सजीवता नष्ट कर दगे। निष्कर्ष-रूपसे हम यह कह सकते हैं कि वेदाख्यान उक्तिमात्र नहीं हैं, कथामात्र नहीं हैं अपितु ये आख्यान एक बडे व्यापारके अविभाज्य अङ्ग हैं।

वेदोंमें शिक्षाप्रद आख्यान

[वेदोमे यत्र-तत्र कुछ आख्यान प्राप्त होते हैं जो भारतकी सास्कृतिक धरोहरके रूपमे हमारी अमूल्य निधि हैं। इनमे मानव-जीवनको ऊँचा उठानेवाली अनेक सारगर्भित सरल तथा विचित्र कथाएँ भरी पडी हैं। वैदिक मन्त्रो ब्राह्मणो, आरण्यको एव उपनिषदोमे हमारे ऋषियोने ऋचाओ, सूत्रो सूक्तियो तथा कथाओके माध्यमसे ऐसे मानदण्ड निर्धारित किये जिनका आधार प्राप्त कर भारतीय सस्कृति विकसित हुई।

वेदो शास्त्रो एव उपनिषदोकी ये कथाएँ केवल कथाएँ ही नहीं हैं जो मनोरञ्जन करती हो, इनमे एक ऐसी दृष्टि है जो हमें जीवन-दर्शनका ज्ञान कराती हैं भले-बुरेका विवेक देती है। जीवनकी अनेक ऊहापोहकी विकट परिस्थितियोमे जब हम किकर्तव्यविमूढ हो जाते हे, हमारी विवेकशक्ति भ्रमित हो जाती है, तब ये कथाएँ हमारा मार्गदर्शन करती हैं, सही निर्णय लेनेकी शक्ति प्रदान करती हैं, साथ ही सत्कार्य करने तथा सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देती हैं।

इन कथाआमें देवो, दानवो, ऋषियो मुनियो तथा राजाओकी ही नहीं, प्रत्युत समस्त जड-चेतन पशु-पक्षी, नदी-पर्वत तथा समुद्र आदिसे सम्बन्धित कथाएँ हैं जो हमे कर्तव्याकर्तव्यका बोध कराती हुई सुखद जीवन जीनेकी प्रेरणा प्रदान करती हैं। अत वेदोके कुछ शिक्षाप्रद आख्यान पाठकोके लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं। —सम्पादक]

वेद-कथामृत-कुञ्ज

(डॉ० श्रीइदयरंजनजी शर्मा)

अपौरुषेयरूप वेदाम ऋग्वेदकी महत्ता प्रामाणिकता तथा प्रधानताको विशेषरूपसे मान्यता प्रदान की गयी है। ईश्वरके नि श्वाससे प्रकाशित चारों वेदकि क्रमम भी ऋग्वेदकी प्रथम आविर्भावरूप श्रुति प्राप्त होती है। यथा—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
(ऋक्० १०। ९०। ९)

अर्थात् (साध्यदेवाने सृष्टिके आरम्भमें जो मानसिक दिव्य यज्ञ सम्पन्न किया) उस सर्वहोमरूप यज्ञसे ऋचाएँ एव सोम उत्पन्न हुए। उस यज्ञसे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए तथा उससे यजुर्मन्त्र उत्पन्न हुए।

वैदिक वाङ्मयके ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थोमे किसी बातकी महत्ता एव प्रामाणिकताकी पुष्टिके लिये 'तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्' अर्थात् 'यह बात ऋक्-मन्त्रके द्वारा निरूपित होनेके कारण मान्य है'—ऐसा विशेषरूपसे कहा गया है। सायणाचार्य आदि प्रामाणिक आचार्योंने भी ऋग्वेदके प्राथम्यको सर्वत्र स्वीकार किया है। केवल श्रौत आदि यज्ञोके प्रयोग (अनुष्ठान)-कालमें पूर्वापर-व्यवस्थाके निर्धारण-हेतु यजुर्वेदका प्राधम्य निर्दशित हुआ है।

इस प्रकारके सर्वातिशायी ऋग्वेदमें अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाप्रद आख्यान एव कथा-प्रसगाका वर्णन प्राप्त होता है। इन आख्यान-प्रसगोंके माध्यमसे ईश्वरकी बात 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' अर्थात् अप्रतिहत दिव्य-शक्तिका तथा वेदोक्त धर्म-रूप कर्मकी महत्ताका तात्पर्यरूप प्रतिपादन अधिगत होता है इस कथामृतरूप सरोवरके कतिपय पुष्पराग यहाँ निम्नलिखितरूपसे अभिव्यञ्जित हुए हैं—

१-नाभानेदिष्ठ-आख्यान

सदर्भ—

यह आख्यान ऋग्वेद सहिताके दशम मण्डलके अन्तर्गत ६१वे एवं ६२व—इन दो सूक्तोंम वर्णित हुआ है। इसके माध्यमसे यह बतलानेका प्रयास हुआ है कि इस सृष्टिमें चेतन-अचेतनरूप जितने भी पदार्थ हैं उनके स्वामित्व एव उपभोगका सम्बन्ध तथा कार्य-क्षेत्रका विस्तार केवल मनुष्यतक ही सीमित नहीं है, अपितु सूक्ष्मरूपसे तत्तद् देवता भी उसके स्वामी एव अधिकारी हैं। अत उनकी आज्ञा लेकर ही इन पदार्थोंका ग्रहण एव उपभोग करनेपर हानिरहित परिपूर्णताकी प्राप्ति होती है।

आख्यान—

नाभानेदिष्ठ मनुके पुत्र थे। वे ब्रह्मचर्य-आश्रमके अन्तर्गत विधीयमान सस्कारोंसे युक्त होकर अपने गुरुके समीप

वेदाध्ययनमें रत रहते। जब पिताकी सम्पत्तिके बँटवारेका समय आया तो नाभानेदिष्ठके अन्य भाइयोंने आपसमें सारी सम्पत्तिका भाग बाँट लिया और उन्हें कुछ भी नहीं दिया। जब उन्हें इस बातका पता लगा तो उन्होंने अपने पिता मनुके पास जाकर पूछा कि क्या आपने मेरे लिये अपनी सम्पत्तिका कोई भी भाग स्वीकृत नहीं किया है? उसके उत्तरमें मनुने उनसे कहा कि यदि पैतृक सम्पत्तिमेंसे तुम्हें भाग नहीं मिला तो कोई बात नहीं, तुम उससे बड़ी एवं उत्कृष्ट सम्पत्तिको पानेके अधिकारी हो। इस उत्तम सम्पत्तिको प्राप्त करनेका उपाय बतलाते हुए उन्होंने उनसे कहा कि आंगिरस ऋषिगण स्वर्गफलकी कामनासे सत्रयाग (बारह दिनसे अधिक चलनेवाला सोम-याग)-का संकल्प लेकर आरम्भके छः दिनका अनुष्ठान पूरा कर चुके हैं। इसके आगे अवशिष्ट दिनोंके विधि-सम्मत अनुष्ठानको सम्पन्न करनेमें वे दिग्भ्रमित एवं मोहित हो रहे हैं। तुम उन ऋषिगणोंके पास जाओ और उनके सत्र-यागको पूर्ण करनेमें सहायक बनो—'इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यामन्तराजौ। क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठाः पर्षत् पक्थे अहन्ना सप्त होतॄन्'—इस मन्त्रसे प्रारम्भ कर अड़तीस मन्त्र युक्त दो सूक्तों (ऋक्० १०। ६१-६२)-का पाठ वहाँ शस्त्ररूपमें करो। (श्रौत यागोंमें होता नामक ऋत्विक्द्वारा यज्ञसे सम्बन्धित देवताओंकी दिव्य स्तुतिरूप शंसना (प्रशंसा)-का 'शस्त्र' के नामसे अभिहित किया जाता है।) श्रीमनुने आगे कहा कि इस शस्त्र-पाठके बदलेमें वे ऋषिगण तुम्हें एक हजार गायोंसे युक्त उत्तम सम्पत्तिको प्रदान करेंगे।

अपने पिताकी प्रेरणासे उत्साहित नाभानेदिष्ठ आंगिरसोंके पास गये और उनकी यथाविधि सहायता की। वे आंगिरस इन (ऋक्० १०। ६१-६२) दो सूक्तोंके दिव्य सामर्थ्यसे यज्ञकी पूर्णताको प्राप्त किये और स्वर्ग जानेकी सफलतासे युक्त होकर उन्हें सहस्र गोरूप-सम्पत्ति प्रदान की।

इस सम्पत्तिको लेनेके लिये नाभानेदिष्ठ जब तत्पर हुए तो उसी समय एक कृष्णवर्णका अत्यन्त बलशाली पुरुष यज्ञस्थलके उत्तर तरफसे उत्पन्न हुआ और उनसे बोला कि 'यज्ञके समस्त अवशिष्ट भागका अधिकारी मैं हूँ। अतः इन गायोंको तुम स्वीकार न करो।' इसपर नाभानेदिष्ठने यह कहा कि 'आंगिरसोंने ये गायें मुझे प्रदान की हैं।' यह सुनकर उस कृष्ण-पुरुषने नाभानेदिष्ठसे कहा कि 'हे ब्रह्मवेत्ता! तुम अपने पिता श्रीमनुसे ही इसका समाधान पूछो कि यह भाग किसे मिलना चाहिये?'

इस समस्याके समाधान-हेतु नाभानेदिष्ठ अपने पिताके पास आये और उनसे न्याय-सम्मत निर्णय देनेका निवेदन किया। इसके उत्तरमें श्रीमनुने कहा कि न्यायतः यज्ञके शेष-भागपर उस कृष्ण-पुरुष (रुद्र)-का ही अधिकार बनता है। इस न्याययुक्त समाधानको नाभानेदिष्ठने सहजरूपसे स्वीकार किया और पुनः यज्ञस्थलपर जाकर उस कृष्ण-पुरुषसे निवेदन किया कि इस यज्ञ-भागपर आपका ही अधिकार बनता है। उनके इस सहज-भाव एवं सत्यनिष्ठाको देखकर कृष्ण-पुरुष-रूप रुद्रदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने वह समस्त गो-सम्पत्ति उन्हें आशीर्वादके साथ प्रदान कर दी।

(यहाँ यह विशेषरूपसे ध्यातव्य है कि कृष्ण-वर्णके रूपमें उपस्थित रुद्रदेव ही वस्तुतः वास्तु-देवता (वास्तुपुरुष) हैं। ये वास्तु-विज्ञानके मूल आधार हैं। विद्वान् पाठकोंकी जिज्ञासा-शान्ति-हेतु इनके मौलिक-स्वरूप एवं शान्ति-प्रक्रियाके संकेतको द्वितीय कथामृतके रूपमें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—)

२-वास्तुपुरुष-आख्यान

संदर्भ—

वेदोंमें वास्तुपुरुषके सम्बन्धमें अनेक स्थलोंपर सारगर्भित विवेचन उपलब्ध होता है। इसके अनुसार वे इस पृथिवीके समस्त भू-भागके अभिमानी (अधिकारी) देवता हैं। वे अत्यन्त शक्तिशाली एवं तेजस्वी देव हैं। प्राकृतिक एवं मानवीय समस्त रचनाओंमें उनका उग्र तेज प्रभावी रहता है। उनके इस उग्र तेजको शान्त करके जब किसी वस्तुका उपयोग तथा उपभोग किया जाता है तो वह सबके लिये लाभकारी एवं कल्याणकारी सिद्ध होता है। इस प्रक्रियाके अभावमें किसी वस्तुका उपयोग छोटेसे बड़े स्तरतककी हानिका कारण बन सकता है। भवन-निर्माण, उसमें रहने तथा उसके लाभकारी होनेके संदर्भमें इसका विचार इसलिये और आवश्यक हो जाता है, क्योंकि मनुष्यके प्रकाशित एवं अप्रकाशित (ज्ञात-अज्ञात) समस्त जीवन-वृत्तों (प्रतिदिनके क्रिया-कलापों)-का यह भवन साक्षी तथा आश्रय-स्थल बनता है। किसी भी भवनका अन्तः एवं बाह्य रूप, आकार एवं प्रकार व्यक्तित्वके विकास तथा

सुख-समृद्धि-हेतु अत्यन्त प्रभावकारी माना गया है। वेदोंमें इस रहस्यमय कडीको सुलझाने एव अनुकूल बनानेकी महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रक्रिया आज भी सुरक्षित है।

आख्यान—

सृष्टि-प्रक्रियाके सतत क्रममें परमेश्वर अपने लीला-जगत्‌के विस्तारको सस्नेह दिशा प्रदान करते हैं। इसमें सर्वप्रथम आधिदैविक सत्ता-क्रममें पृथिवीके भू-भागपर उष कालकी लालिमामय पवित्र-आस्थाकी उत्तम वेलामे भूमिके अधिपति वास्तोष्पति (वास्तुपुरुष)-का आविर्भाव होता है।

उपर्युक्त ईश्वरीय सदेशको ऋग्वेदकी यह ऋचा निदर्शित कर रही है—

पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेत संजग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥

(ऋक्० १०। ६१। ७)

वस्तुत ईश्वरकी सृष्टि-प्रक्रियाका दिव्य स्वरूप ही यज्ञ-प्रक्रिया है। इस ससारमे स्थूलरूपसे जो भी सृष्टि-क्रम घटित होता है, वह आधिदैविक स्तरपर पहले ही पूर्णतया सकल्पित तथा घटित हो जाता है। जैसे कोई मूर्तिकार या कोई अन्य कलाकार अपनी स्थूल रचनाको मानसिक स्तरपर सूक्ष्मरूपसे बहुत पहले ही एक आकार प्रदान करनेमें समर्थ होता है, वैसे ही आधिभौतिक सत्तासे पहले आधिदैविक सत्तापर प्रत्येक सृष्टिक्रम घटित होता है। अत वास्तुपुरुषकी सत्ता एव प्रतिष्ठाकी प्रक्रियाका शुभारम्भ यहींसे (आधिदैविक स्तरसे) ही शुरू हो जाता है। यथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाक महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा ॥

(ऋक्० १०। ९०। १६)

अर्थात् देवताओंने आधिदैविक स्तरपर मानसिक सकल्पके द्वारा सृष्टि-प्रक्रियाके सूक्ष्म स्वरूपको सम्पन्न किया। इस मानसिक यज्ञ-प्रक्रियाको सम्पन्न करनेके लिये जो उपाय 'इतिकर्तव्यता' (दोषरहित क्रियात्मक तकनीक या तरीका)-के साथ अपनाये गये वही स्थूल सृष्टि-प्रक्रियाके मुख्य धर्म (आचरण-योग्य कर्तव्य) स्वीकृत हुए। इस दोषरहित प्रक्रियाका अन्वेषण तथा निर्धारण करके महान् देवगण द्यावापृथिवी (द्युलोक-सूर्य तथा पृथिवी)-की सीमाके ऊर्ध्वभागमे स्थित अमृतमय नाक (स्वर्गलोक)-को प्राप्त हुए। स्वर्गलोकका एक नाम 'नाक' भी है, क्योंकि 'नास्ति अकं दु खं यत्र' अर्थात् जहाँ किसी प्रकारका दु ख न हो वह नाक—स्वर्ग है। इस अमृतमय दिव्य स्थानमें सूर्य चन्द्र इन्द्र आदि अनेक कल्पोंके साध्यदेव महात्मा सदा निवास करते हैं।

उपर्युक्त आधिदैविक यज्ञ-प्रक्रियाके दोष-रहित अन्वेषण एव निर्धारणका तात्पर्य यज्ञादि कार्योंमें उस 'वास्तुपुरुष'-की सत्ताको पहचानना तथा उसकी उग्रताको शान्त करनेकी वैज्ञानिक प्रक्रियाको सनिहित करना है। इस मूल कडीका समाधान निम्नलिखित आख्यान-चर्चा (शतपथ ब्राह्मण १। ६। १। १—२०)-के माध्यमसे और अधिक स्पष्ट होता है। यथा—

आधिदैविक यज्ञ-प्रक्रियाके माध्यमसे देवगण अपने अभीष्ट स्वर्गलोकको प्राप्त किये और पशुओं (सासारिक-बन्धनासे आबद्ध जीवो)-का अधिपति देवता यहीं रह गया। अर्थात् यज्ञरूपी वास्तु (भूमि)-पर वास करनेके कारण वह रुद्ररूप देव द्युलोकके स्वर्ग-फलस वचित रह गया। इस प्रकार वास्तु अर्थात् भूमिपर रहनेके कारण वह 'वास्तव्य' कहलाया। इसके बाद जिस यज्ञ-प्रक्रियाके माध्यमसे देवगण स्वर्ग-फलको प्राप्त किये, उसी यज्ञ-प्रक्रियाको उन्होने पुन सम्पन्न किया परतु अत्यन्त परिश्रम करनेपर भी वे इस बार यज्ञ-फलको प्राप्त नहीं कर सके क्योकि वास्तु (भूमि)-के अधिपति देवने जब यह देखा कि देवगण उसे छोडकर यज्ञ कर रहे हैं तो उसने यज्ञ-भूमि (वेदि)-के उत्तर भागसे सहसा उत्क्रमण (बाहर निकल) कर उस यज्ञ-प्रक्रियासे स्वयको अलग कर लिया। यज्ञ-प्रक्रियाके अन्तर्गत 'स्विष्टकृत्' आहुति प्रदान करनेका यह महत्त्वपूर्ण समय था। 'स्विष्टकृत्' आहुतिका मतलब है, वह आहुति जिसको देनेसे यज्ञमें दी गयी समस्त आहुतियाँ अच्छी प्रकारसे इस याग-प्रक्रियाद्वारा देवताओंके भक्षण-योग्य बन जाती हैं, अर्थात् रुद्रदेवद्वारा स्वाकृत होती हैं। यज्ञमें 'स्विष्टकृत्' आहुतिका विधान जबतक दोषरहित रूपसे सम्पन्न नहीं होता तबतक यज्ञम दी गयी समस्त आहुतियाँ देवताओको प्राप्त नहीं होतीं और जबतक देवताओंको आहुतियाँ प्राप्त नहीं होतीं, तबतक यज्ञ अपूर्ण तथा फलरहित ही रहता है।

नहीं पहुँचा जा सकता' (स्क० पु० मा० कुमा०)।

बच्चेका विवेकपूर्ण आश्वासन पाकर माँका बहुत संतोष हुआ। इस बीच भगवान् विष्णु अर्चा-विग्रहसे साक्षात् प्रकट हो गये। भगवान्के दर्शन पाकर माता विह्वल हो गयी और अपना जन्म लेना सफल समझने लगी। उस दर्शनका ऐतरेयपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वह रोमांचित हो गया। आनन्दसे उसकी आँखोंमें आँसू छलक आये। उसने गद्‌गद-स्वरसे भगवान्‌की वह स्तुति की, जो इतिहासमें प्रसिद्ध है।

भगवान्ने ऐतरेयको अपने आशीर्वादसे प्रफुल्लित कर दिया। अन्तमें उसकी माताकी इच्छाकी पूर्ति भी करनी चाहिये, यह सोचकर भगवान्ने ऐतरेयको आदेश दिया कि 'तुम अब सभी वैदिक धर्मोंका आचरण करो। सभी काम निष्काम-भावसे करो और मुझे समर्पित करते जाओ। माताकी इच्छाकी पूर्तिमें बाधक न बनो। विवाह करो। यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करो और माताकी प्रसन्नताको बढ़ाओ। यद्यपि तुमने वेदोंका अध्ययन नहीं किया है फिर भी सम्पूर्ण वेद तुम्हें प्रतिभासित हो जायँगे। अब तुम कोटितीर्थमें जाओ। वहाँ हरिमेधाका यज्ञ हो रहा है। वहाँ जानेपर तुम्हारी माताकी सम्पूर्ण इच्छाएँ पूरी हो जायँगी।'

भगवान्के दर्शन और अपने ऊपर उनका स्नेह देखकर इतराका हृदय गद्‌गद हो गया। जिस पुत्रको वह जड मानती थी, उसका महान् प्रभाव देखकर वात्सल्यकी जगह उसमें श्रद्धाका भाव भर गया।

भगवान्के आदेशके अनुसार माता और पुत्र हरिमेधाके यज्ञमें पहुँचे। वहाँ ऐतरेय बोले—

नमस्तस्मै भगवते विष्णवेऽकुण्ठमेधसे।
यन्मायामोहितधियो भ्रमाम कर्मसागरे॥

इस श्लोकके गम्भीर आशयसे हरिमेधा आदि सारे विद्वान् चमत्कृत हो गये। सभीने ऐतरेयको ऊँचे आसनपर बैठाकर उनकी विधिवत् पूजा की। ऐतरेयने वेदके उस भागको भी निर्भ्रान्त सुनाया जो वहाँके विद्वानोंको उपस्थित (ज्ञात) थे और वेदके उस भागको भी सुनाया जो अभी पृथ्वीपर उपलब्ध नहीं थे। हरिमेधाने ऐतरेयसे अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया। सारे विद्वानोंने ऐतरेयकी माताको ऐतरेयसे बढ़कर सम्मानित किया (स्क० पु० मा० कुमा०)।

सायणने अपनी भूमिकामें किसी अन्य कल्पकी रोचक घटना दी है। जब पिताने यज्ञ-सभाके बीचमें ऐतरेयका घोर अपमान किया और उसको झटककर पिङ्गाके पुत्रोंको अपनी गोदमें बैठाया तो माताका हृदय इसको सह न सका। माता तो भगवान्‌को पृथ्वीमाताके रूपमें भजती ही थी। उसने अपनी उसी कुल-देवताका स्मरण किया। पृथ्वी देवी दिव्यमूर्ति धारण कर उस सभामें आ गयीं। उन्होंने वहाँ एक ऐसा सिंहासन रखवाया, जिसे किसीने कभी देखा न था। उसी दिव्य आसनपर पृथ्वीमाताने ऐतरेयको बैठाया और सबके सामने घोषित किया कि ऐतरेयके पाण्डित्यके समान किसीका पाण्डित्य नहीं है। इसको मैं वरदान देती हूँ कि यह 'ऐतरेय ब्राह्मण' का द्रष्टा हो जाय। वरदान देते ही ऐतरेयको ४० अध्यायोंवाला ब्राह्मण प्रतिभासित हो गया। तभीसे इस ब्राह्मण-भागका नाम 'ऐतरेय ब्राह्मण' पड़ा।[१]

---

१ तदानीं खिन्नवदनं महिदासमवगत्य इतराख्या तन्माता स्वकीयकुलदेवतां भूमिमनुसस्मार। सा च भूमिर्देवता दिव्यमूर्तिधरा सती यज्ञसभायां समागत्य महिदासाय दिव्यं सिंहासनं दत्त्वा तत्र एनमुपवेश्य सर्वेष्वपि कुमारेषु पाण्डित्याधिक्यमवगम्य एतद् (ऐतरेय) ब्राह्मण प्रतिभासमानरूपं वरं ददौ। तदनुग्रहात् तस्य मनसा चत्वारिंशदध्यायोपेतं ब्राह्मणं प्रादुरभूत्।

धर्ममे विलम्ब अनुचित

इन्द्रने अगस्त्य ऋषिके साथ सवादमें धर्मका गूढ रहस्य बताते हुए कहा है कि किसी भी धार्मिक कार्यको करनेमे कभी विलम्ब न करे। कारण चित्त बडा चचल होता है। अभी धर्म करनेका निश्चय करनेवाला चित्त दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है—

विलम्ब नाचरेद् धर्मे चलं चित्त विनश्यति।
इन्द्रेणागस्त्यसवाद एष धर्म उदाहृत ॥

अपने यहाँ 'शुभस्य शीघ्रम्' जो कहा जाता है, यह उपदेश उसीकी छाया है। यहाँ तो चित्तकी चंचलताको लक्ष्य कर वैदिक कथा (ऋक्० १।१६९।१, १।१७०।१) भी इसी बातको पुष्ट करती है पर अन्यत्र मृत्युको भी लक्ष्य कर ऐसा उपदेश है। कहा गया है कि कलका काम आज करो और अपराह्णका काम पूर्वाह्णम। मृत्यु आपकी कभी प्रतीक्षा नहीं करेगी कि आपने यह काम पूरा किया है या नहीं। मरणधर्मा मानवके लिये यह कहना उचित नहीं कि 'आज यह कर लें कल उसे करेगे।' माना कि यह काम कल हो जायगा पर उसके करनेवाले आप ही रहेगे या नहीं, यह कैसे कह सकते हैं? अवश्य ही जिसने मृत्युके साथ मित्रता जाड ली है या जो अमृत पिये हुए हैं, वे यदि कहें कि 'यह काम तो कल किया जायगा' तो उचित भी होगा। ध्यान रहे कि कर्तव्य-कर्मका आदान या प्रदान शीघ्र नहीं किया जाता तो मृत्यु उसका सारा रस पी जाती है चूस लेती है और वह कर्म सीठी-सा निरुपयोगी बन जाता है। इसीलिये प्राणिमात्रका कर्तव्य है कि जो शुभ कार्य है जिससे धर्म और पुण्य होनेवाला है उसे आज और अभी पूरा कर। अन्यथा पहले तो आपका चित्त ही आपको धोखा देगा और उससे बचे तो मृत्यु आपका घात करेगी फिर आप हाथ मलते कलपते ही रह जायँग कि हाय मैंन यह काम भला क्यो नहीं कर डाला!

इसके निदर्शनम वैदिक कथा इस प्रकार है—एक बार अगस्त्य ऋषि कोई यज्ञ कर रहे थे। उस समय उन्होने 'महश्चित्' (ऋक्० १।१६९।१)—इस मन्त्रसे पहले इन्द्रकी स्तुति कर उनके लिये हवि आगे किया पर राज्याभिमानवश इन्द्रके आनेमे विलम्ब हो जानेपर उन्होने वही हवि मरुतोका देनेकी ठान ली। देरसे पहुँचनेपर इन्द्रने जब यह रहस्य जाना तो वे शोकाकुल हो बिलखने लगे। अगस्त्यन समझाया—'घबरायें नहीं, आगे मिल जायगा।'

इसपर इन्द्र कहने लगे—'ऋष! जो आज उपस्थित है, जब वही हम नहीं मिल पाता तो आगामी दिनोम वह मिलेगा इसका क्या निश्चय? जो अभूतपूर्व है उसे कौन जानेगा? भला क्षण-क्षण सहस्रा विषयोमे भटकनेवाले किसीके चित्तको कोई जान सकता है?'

इसपर अगस्त्य ऋषिने कहा—'देवेन्द्र! मरुद्गण तो आपके भाई हैं। आप उनसे समझ लीजिये।'

इन्द्र फिर भी क्रुद्ध ही रहे और उन्हें उपालम्भ देने लगे। अगस्त्यने पुन उन्हें शान्त किया विश्वास दिलाया। इस प्रकार वह हवि मरुद्गणोको दे दिया गया। ऋग्वेदमे वर्णित इस कथाकी सूचक ऋचा इस प्रकार है—

न नूनमस्ति नो श्व कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीत वि नश्यति॥
(ऋक्० १।१७०।१)

अर्थात् इन्द्र कहते हैं कि जो अद्यतन है, वह निश्चय ही आज नहीं। कल भी उसका निश्चय नहीं। जा अभूतपूर्व है अर्थात् दूसरेके लिये रखा और दिया दूसरेको, उस कौन जानगा? तब भावीकी आशा ही क्या? चारो ओर भटकनेवाले परचित्तको भला कौन जान सकता है? फिर, जो चिरकालसे सोचा-समझा भी नष्ट हो जाता है ता अचानक साचे हुएकी बात ही क्या?

ऋग्वदके अतिरिक्त बृहद्वता (४।४९—५३) एव निरुक्त (१। ५)-म भी इस कथाके सकत प्राप्त होते हैं।

इस वैदिक कथासे मानवमात्रका यही शिक्षा मिलती है कि वह आलस्य-प्रमादसे रहित हाकर शास्त्रविहित समस्त अवश्यकरणीय कर्तव्य-कर्मोंके सम्पादनम सदैव तत्पर रहे क्षणमात्रके लिये भी उसम शिथिलता न वरत।

[वेदोपदेश-चन्द्रिका]

गुरुभक्तके देवता भी सहायक

जिस घरमें गुरुका आदर-सम्मान किया जाता है, दक्षिणा-भोजन-वसन आदिसे उन्हें परितुष्ट किया जाता है, वहाँ इन्द्रादि देव भी सदैव सहायतार्थ प्रस्तुत रहा करते हैं। अभ्यावर्ती नामक राजाने अपने गुरु भरद्वाज ऋषिको नमन आदिसे परितुष्ट किया, फलस्वरूप देवराज इन्द्रकी सहायता प्राप्त करके वह वारशिख असुरोंके वधमें सफल हुआ—

देवा कुर्वन्ति साहाय्य गुरुर्यत्र प्रणम्यते।
जघानेन्द्रसहायोऽरीनभ्यावर्ती गुरोर्नते ॥

एक अन्य श्लोकद्वारा गुरुभक्तिका बहुमूल्य लाभ बतलाते हुए कहा गया है—

गुरु सतोषयेद् भक्त्या विद्याविनयतत्परम्।
प्रस्तोकाय ददौ पायु स्तुत्या तुष्टोऽस्त्रमण्डलम्॥

अर्थात् मानवका कर्तव्य है कि विद्या एव विनयसे सम्पन्न अपने गुरुको भक्ति-श्रद्धापूर्वक पूर्ण सतुष्ट करे। प्रसिद्ध है कि राजा प्रस्तोकने अपने गुरु पायु ऋषिको भक्तिपूर्वक धनादि देकर परितुष्ट किया तो ऋषिने उसे दिव्य अस्त्रमण्डल प्रदान किया, जिसका प्रयोग करके महाराज प्रस्तोकने वारशिख असुरोंपर शानदार विजय प्राप्त की।

वेदमें उल्लेख है कि अभ्यावर्ती और प्रस्तोक इन दोनों राजाओंने वारशिख असुरोंका वध किया। ये असुर अत्यन्त प्रबल थे। जिन्हें जीतना दोनों राजाओंके वशकी बात न थी। एक बार वे उनसे हार भी चुके थे किंतु जब उन्होंने अपने-अपने कुलगुरु महर्षि भरद्वाज और गुरुपुत्र पायु ऋषिको श्रद्धा-भक्तिके द्वारा पूर्ण सतुष्ट कर लिया तो गुरुजन प्रसन्न हो गये। फलस्वरूप जहाँ भरद्वाजने देवराज इन्द्रसे अभ्यावर्तीके सहायतार्थ पधारनेकी प्रार्थना की, वहीं उनके पुत्र पायु ऋषिने प्रस्तोकको दिव्य अस्त्र प्रदान किया, जिससे दोनों राजा शत्रुओंको मार भगानेमें पूर्ण सफल रहे।

यह रोचक वैदिक कथा इस प्रकार है—

प्राचीन कालमें चायमान अभ्यावर्ती और सजयके पुत्र प्रस्तोक नामके दो परम प्रतापी अत्यन्त धर्मात्मा एव परम उदार प्रजापालक राजा हुए हैं। दोनोंके राज्य अत्यन्त निकट एक-दूसरेसे सटकर थे। दोनोंकी सीमाएँ एक-दूसरेसे मिलती थीं। दोनोंके राज्योंमें सदैव यज्ञ-होम जप-तप दान-दक्षिणारूप धर्मानुष्ठान चलते रहते। राजा और प्रजाजनोंके बीच ऐसा स्पृहणीय ऐकमत्य पाया जाता, जिसके कारण दोनों राज्य सभी प्रकारके धन-धान्य, शान्ति-सौमनस्य आदिसे सर्वथा सम्पन्न थे। राज्यमें किसीपर शासन करनेकी आवश्यकता ही न पड़ती। सभी अपने-आपमें शासित थे। मात्र बाह्य आक्रमणसे बचनेके लिये दोनों राज्योंका सयुक्त सुरक्षा-मोर्चा बनाया गया था, जिसका सचालन महाराज प्रस्तोक करते रहे।

असुर तो स्वभावत धर्म-विद्वेषी और परोत्कर्षासहिष्णु होते ही हैं। दोनों राजाओंकी यह सुख-समृद्धि और धर्मनिष्ठा वरशिखके पुत्र वारशिख असुरोंसे देखी नहीं गयी, अत उन्होंने पूरी तैयारीके साथ इनपर आक्रमण कर दिया। राजाओंका सयुक्त मोर्चा होते हुए भी असुर शत्रु इतने प्रबल थे कि अन्तत उन्हें पराजयका सामना करना पड़ा। असुर उनका बहुत सारा धन और अनेक दुर्लभतम वस्तुएँ उठा ले गये।

महाराज अभ्यावर्ती और प्रस्तोक इस दु खद घटनासे अत्यन्त खिन्न हुए। क्या किया जाय, किस तरह असुरोंसे प्रतिशोध लिया जाय और अपहृत सम्पदा वापस प्राप्त की जाय? यह उनके समक्ष यक्ष-प्रश्न रहा। सोचते-सोचते ध्यानमें आया कि कुलगुरु भरद्वाज ऋषिके पास जाकर उनसे प्रार्थना की जाय, यदि वे सतुष्ट हुए और उनकी सहायता मिली तो निश्चय ही हमारा मनोरथ पूर्ण हो सकेगा।

फिर क्या था? शीघ्र ही महाराज अभ्यावर्ती और प्रस्तोक गुरु भरद्वाज ऋषिकी सेवामें पहुँचे। अत्यन्त नम्र हो सरस, भावभरी स्तुतिके साथ उन्होंने अपने-अपने नामोच्चारणके साथ ऋषिका अभिवादन किया।

ऋषिने स्वागतपूर्वक उन्हें आसन दिया। कुशल-वृत्तके पश्चात् आगमनका हेतु पूछनेपर दोनोंने कहा—'ब्रह्मन्, वारशिख असुरोंने हमें बुरी तरह हराया और हमारी कितनी ही बहुमूल्य सम्पदाएँ छीन ली हैं। आपसे यह छिपा नहीं है कि हम लोग शक्तिभर अपने प्रजावर्गके साथ पुत्रवत् व्यवहार करते आये हैं और सदैव धर्मपर अधिष्ठित रहते हैं। खेद है कि फिर भी हमें यह पराजय झेलनी पड़ रही है।'

वेद-प्रतिपाद्य अक्षर ब्रह्म और अनुग्रह शक्ति

ऋषि-यज्ञ
देव-यज्ञ
पितृ-यज्ञ
मनुष्य-यज्ञ
भूत-यज्ञ
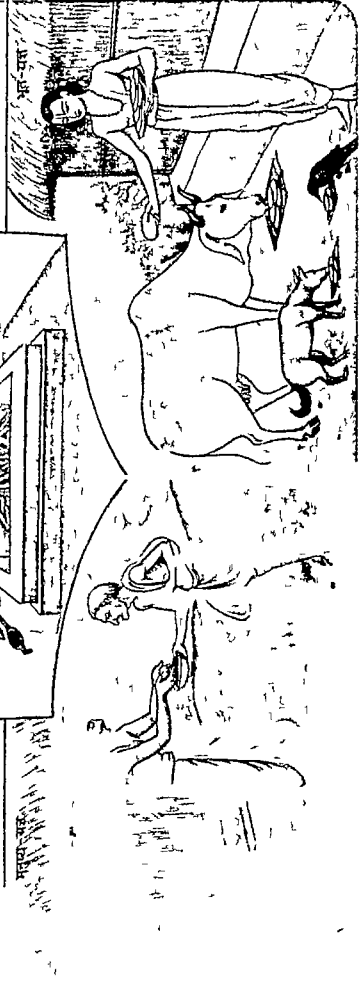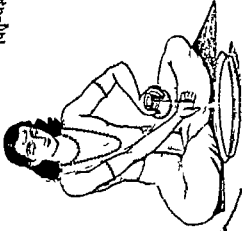
यज्ञानुष्ठानद्वारा देवोपासना
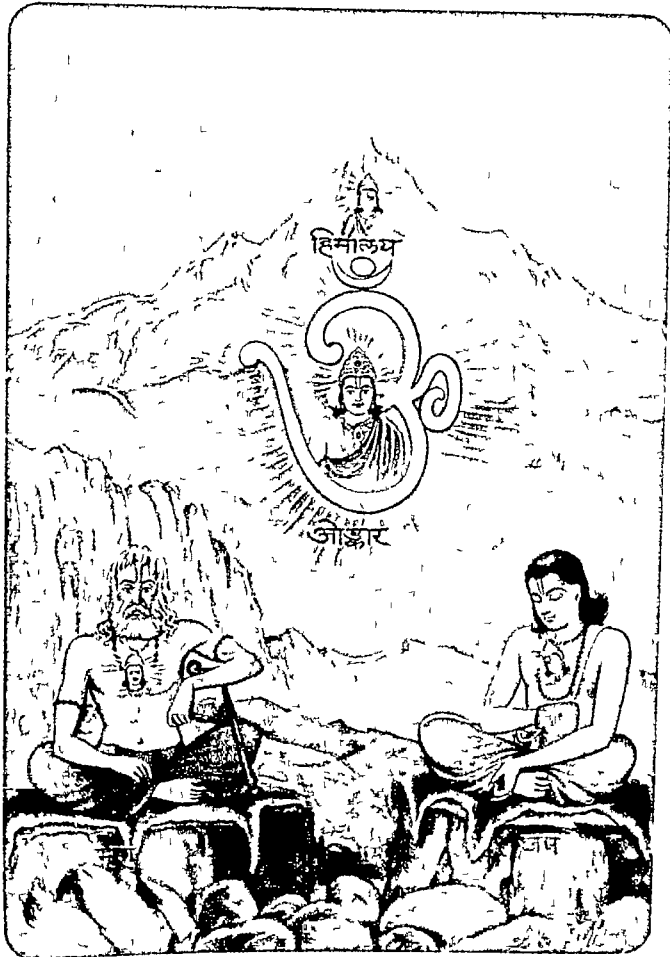
वेदस्वरूप परमात्मतत्त्व 'ॐ'कारका ध्यान

अपनी वेदना व्यक्त कर दोनों नरेशोने अभीष्ट उपायका सूचन करते हुए कहा—'प्रभो, विचार-विमर्शके बाद हम इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि अब आप-जैसे गुरुजनाकी कृपाके बिना उद्धार सम्भव नहीं। यदि आप इस कार्यमे पुरोहित बनकर हमे बल दें तो निश्चय ही हम पुन शत्रुको जीत लेगे। 'क्षत्र' वही है, जिसका निरन्तर ब्रह्मतेज सगोपन किया करता है।'

ऋषि भरद्वाजने कहा—'नृपतियो, आप लोग चिन्ता न करें। आनन्दसे घर पधारे। मैं आपका अभीष्ट पूर्ण किये देता हूँ।'

दोनों राजा ऋषिको प्रणाम कर वापस लौट गये।

भरद्वाज ऋषिने अपने पुत्र पायु ऋषिको बुलाकर कहा कि 'इन दोनो राजाओको ऐसा बना दो कि कोई भी शत्रु इन्हें कभी पराजित ही न कर सके। मैं भी इन्द्रदेवसे इन्हें सहायता देनेके लिये प्रार्थना करूँगा।'

अभ्यावर्ती और प्रस्तोक अपने-अपने राज्यामे लौटे तो सही, पर उन्हें चैन न थी। असुराने जिस प्रकार उनकी सारी प्रतिष्ठा मिट्टीमें मिला दी थी, वह उन्हें रह-रहकर शल्य-सा चुभता रहता। यह शका भी बनी रहती कि ये असुर पुन आक्रमण न कर दें और इससे भी अधिक मूल्य चुकानेके लिये विवश न कर दें। अवश्य ही महर्षि भरद्वाजके कथनपर उन्हें विश्वास था, पर स्नेह सदैव पापशकी हुआ करता है।

एक दिन इसी चिन्तामे महाराज अभ्यावर्ती प्रस्तोकके घर पहुँचकर परस्पर विचार कर रहे थे कि उन्हे दूरसे अपनी ओर आते हुए एक ऋषि दीख पडे। पास आनेपर वे समझ गये कि पायु[1] ऋषि पधार रहे हैं।

दोनों राजाओने उठकर ऋषिका अभिवादन किया एवं स्वागतमें आसनादि दिये। अकस्मात् अपने घर पधारे कुलगुरुके पुत्रको देख प्रस्तोककी श्रद्धा-भक्ति उद्बुद्ध हो उठी और उसने पूर्वमें शम्बरयुद्धमें प्राप्त शत्रुकी सचित सम्पत्तिसे विपुल सम्पदा गुप्त-कोशसे निकलवाकर ऋषिके सामने रख दी। ऋग्वेद कहता है कि 'दश रथान् प्रष्टिमत शतं गा अथर्वभ्य । अश्वथ (प्रस्तोक) पायवेऽदात्' (६।४७।२४)। ऋषिके सामने सेवा-सामग्री रखकर प्रस्तोकने कहा—'ऋषे हम लोग वारशिखाके भय एव अपमानसे अत्यन्त त्रस्त हैं। अतएव आपके पूज्य पिताके पास पहुँचे थे। उन्होने आश्वासन भी दिया, किंतु हम लोगोका पापी मन अभी चैन नहीं पा रहा है।'

पायु ऋषिने कहा—'घबरायें नहीं। पूज्य पिताजीने इसीलिये आपके पास मुझे भेजा है। मैं आपके अस्त्र ऐसे दिव्य किये देता हूँ कि स्वप्नमें भी आपकी पराजय न हो सकेगी। अब आप लोग विजय-यात्रार्थ तैयार हो जायँ। कल प्रात मैं अभिमन्त्रणके साथ आपके अस्त्राको दिव्यास्त्र बना देता हूँ।'

प्रस्तोकने कहा—'जो आज्ञा!' दोनो राजा अपनी-अपनी रण-योजनामे लग गये। ऋषिकी समुचित व्यवस्थाका भार प्रधान मन्त्रीने सँभाल लिया और वे उन्हे सादर अतिथिशालामे ले गये।

दूसरे दिन दोनो राजाओके तत्परतापूर्ण प्रयत्नसे विजय-यात्रार्थ सेना तैयार हो गयी। ऋषि पायु गङ्गाजल और कुश लेकर सामने आये और उन्होने ऋग्वेदके प्रसिद्ध विजयप्रद सूक्त 'जीमूतस्य०' (६।७५।१)-से, जो अन्तिम आशीर्वचन-सहित १९ ऋचाओका है एक-एक युद्धोपकरणका अभिमन्त्रण कर उनमें दिव्यास्त्र-शक्तिका आधान करना प्रारम्भ कर दिया।

वैदिक मान्यता है कि जो भी वेद-ऋचाद्वारा स्तुत होते हैं, वे सभी 'देवता' बन जाते हैं। पायु ऋषिने इन उपकरणोका न केवल अभिमन्त्रण किया, आर्ष-वाणीमें उन प्रत्येककी स्तुति भी की जिससे वे सभी देवतारूप दिव्यास्त्र बन गये जो युद्धमे सदैव अमोघ होते हैं।

ऋषिने उक्त सूक्तको जिस-जिस ऋचासे जिस-जिस युद्धोपकरणका स्तवन एव अभिमन्त्रण किया ऋक्-सख्याके क्रमसे उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) कवच-सहित योद्धा (२) धनुष (३) प्रत्यञ्चा (४) धनुषकी कोटियाँ (किनारे), (५) तरकस, (६) सारथि और वल्गाएँ, (७) अश्व (८) आयुधागार, (९) रथरक्षक, (१०) रणदेवता (११) बाण (१२) कवच (१३) कशा (१४) हस्तत्राण, (१५) (ऋचाके पूर्वार्धके दो पादोंसे क्रमश) विषलिप्त इषु, अयोमुख बाण तथा (शेष अर्धऋचासे) वारणास्त्र (१६) धनुर्मुक्त बाण, (१७) युद्धारम्भमे कवच बाँधनेवाला एवं (१८) युयुत्सु।

[1] 'पायु शब्द 'पा रक्षणे धातुसे उणादिक 'उण्' प्रत्यय करनेसे बना है जिसका अर्थ है पीडितोकी मन्त्रशक्तिद्वारा पीडासे रक्षा करनेवाला।

इस प्रकार पायु ऋषिने युद्धके समस्त उपकरणाके अभिमन्त्रणके साथ उन्हें देवत्वशक्तियुक्त बना दिया और दोनों राजाओको लेकर पिता भरद्वाज ऋषिके निकट पहुँचे। ऋषिकुमारने पिताको उनके द्वारा आदिष्ट कार्य पूर्ण होनेकी सूचना दी।

भरद्वाज-ऋषिने राजाओसे कहा—'चिरजीव अभ्यावर्तिन् और प्रस्तोक! अब आप लोग निर्द्वन्द्व होकर शत्रुपर चढाई कर दें। आपकी विजय सुनिश्चित है। मुझे पता चला है कि आपके शत्रु वारशिख आपको पराजित करनेके पश्चात् निश्चिन्त हो विश्राम कर रहे हैं। उन्हें कल्पना ही नहीं कि आप उनपर आक्रमण कर सकते हैं। रणनीतिकी दृष्टिसे यह स्थिति किसी प्रहर्ताके लिये स्वर्णसुयोग होती है। इसलिये अब तनिक भी देर न करें।'

ऋषिने आगे कहा—'एक बात और! कदाचित् शत्रुसे कडा मुकाबला पड जाय तो उसकी भी व्यवस्था किये देता हूँ। देवराज इन्द्रसे अनुरोध करता हूँ कि वे अभ्यावर्तीके सहायतार्थ रणाङ्गणमें स्वय उतर आयें'—'शुभास्ते पन्थान सन्तु!'

ऋषिका आदेश शिरसा धारण कर अभ्यावर्ती और प्रस्तोक राजाओने अपने शत्रु वारशिखापर जोरदार आक्रमण कर दिया। भरद्वाज ऋषिके कथनानुसार सचमुच शत्रु विजयके गर्वमे अचेत पडे थे। उन्ह इस आकस्मिक आक्रमणन चक्करम डाल दिया किंतु कुछ ही समयम वे सावधान हो गये तथा पूरे जोर-शोरके साथ जूझने लगे। लडाईका समाचार पा शीघ्र ही असुरोके अन्य साथी भी अपनी-अपनी तैयारीके साथ कुछ ही समयमें रणागणमें उतर आये।

इधर भरद्वाज ऋषिने 'एतत् त्यत् ते०' आदि चार ऋचाओं (६। २७। ४—७)-द्वारा राजा चायमान अभ्यावर्तीके सहायतार्थ देवराज इन्द्रकी स्तुति की। ऋषिकी स्तुतिसे प्रसन्न हो देवराज उसक सहायतार्थ हर्युपीया नदीक तटपर, जहाँ इन दोना राजाआका वारशिखाके साथ युद्ध चल रहा था आ पहुँचे।

मन्त्राभिमन्त्रित दिव्यास्त्र तो युद्धमें अपना तेज दिखा ही रहे थे। अतिशीघ्र पूरी तैयारीसे असुराके आ कूदनपर भी असुराके प्रहार इस बार माघ हो चले, जबकि राजवर्गका एक-एक अस्त्र लक्ष्यसे अधिक काम करने लगा, फिर जब स्वय देवराज पहुँच गये तो पूछना ही क्या? उनके वज्रके निर्घोषसे ही वारशिखोंके सर्वप्रमुख योद्धाका हृदय विदीर्ण हा गया। देखते-देखते सारे असुरोका सफाया हो गया।

असुरोका वध कर देवराजने उनकी सारी सम्पदा राजाओको सौंप दी। दोनाने आकर कुलगुरु भरद्वाज एव इन्द्रका अभिवादन किया और शत्रुसे प्राप्त सम्पत्तिका विपुल भाग गुरुके चरणामें निवेदित कर उनसे विदा ली।

ऋग्वेदकी निम्न ऋचाओमें इस कथाका इस प्रकार सकेत किया गया है—

एतत् त्यत् त इन्द्रियमचेति येनावधीर्वरशिखस्य शेप ।
वज्रस्य यत् ते निहतस्य शुष्मात् स्वनाच्चिदिन्द्र परमो ददार॥
(६। २७। ४)

अर्थात् भरद्वाज ऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि 'हे इन्द्र! हम आपके उस पराक्रमको जानते हैं जिसके बलपर आपने वारशिख असुरके पुत्राका वध कर डाला। आपद्वारा प्रयुक्त वज्रके निर्घोष-मात्रसे वारशिखोके सर्वश्रेष्ठ बलीका हृदय विदीर्ण हो गया।'

जीमूतस्येव भवति प्रतीक यद् वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्व स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु॥
(६। ७५। १)

अर्थात् पायु ऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे वर्मकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि 'सग्राम छिडनेपर जय यह राजा कवच धारण कर आता है तो लोहमय वर्मसे सनद्ध इस राजाका रूप मेघ-सा दीखने लगता है। हे राजन्! आप शत्रुसे अबाधित-शरीर हाकर उन्ह जीतें। वर्मकी यह अपूर्व महिमा आपका रक्षण करे।'

ऋग्वेदकी इन कथासूचक ऋचाओंके अतिरिक्त 'बृहद्देवता' (५। १२४—४०)-में भी इस कथाका स्पष्टरूपमें उल्लेख हुआ है।

[वेदोपदेश-चन्द्रिका]

ऐतेरयब्राह्मणकी एक सदाचार-कथा

(डॉ० श्रीइन्द्रदेवसिंहजी आर्य एम्०ए०,एल् एल्०बी० साहित्यरत्न आर०एम्०पी०)

ब्राह्मणग्रन्थोमे सदाचारके अनेक प्रेरणा-स्रोत हैं ऐतेरयब्राह्मणका हरिश्चन्द्रोपाख्यान वैदिक साहित्यका अमूल्य रत्न है। इसमे इन्द्रने रोहितको जो शिक्षा दी है, उसका टेक (Refrain) है—'चरैवेति', 'चरैवेति'—चलते रहो, बढते रहो। इस उपाख्यानके अनुसार सैकड़ा स्त्रियोके रहते हुए भी राजा हरिश्चन्द्रके कोई सतान न थी। उन्हाने पर्वत और नारद—इन दो ऋषियासे इसका उपाय पूछा। देवर्षि नारदने उन्हे वरुणदेवकी आराधना करनेकी सलाह दी। राजाने वरुणकी आराधना की और पुत्र-प्राप्तिपर उससे उनके यजनकी भी प्रतिज्ञा की। इससे उन्हं पुत्र प्राप्त हुआ और उसका नाम रोहित रखा। कुछ दिन बाद जब वरुणने हरिश्चन्द्रको अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण कराया तो उन्होने उत्तर दिया—'जबतक शिशुके दाँत नहीं उत्पन्न होते, वह शिशु अमेध्य रहता है, अत दाँत निकलनेपर यज्ञ करना उचित होगा' (ऐतेरय० ७। ३३। १-२)।

वरुणने बच्चेके दाँत निकलनेपर जब उन्हं पुन स्मरण दिलाया तब हरिश्चन्द्रने कहा—'अभी तो इसके दूधके ही दाँत निकले हैं, यह अभी निरा बच्चा ही है। दूधके दाँत गिरकर नये दाँत आ जाने दीजिये तब यज्ञ करूँगा।' फिर दाँत निकलनेपर वरुणने कहा—'अब तो बालकके स्थायी दाँत भी निकल आये अब तो यज्ञ करा।' इसपर हरिश्चन्द्रने कहा—'यह क्षत्रियकुलोत्पन्न बालक है। क्षत्रिय जबतक कवच धारण नहीं करता, तबतक किसी यज्ञिय कार्यक लिये उपयुक्त नहीं होता। बस, इसे कवच-शस्त्र धारण करने योग्य हो जाने दीजिय, फिर आपके आदेशानुसार यज्ञ करूँगा।' वरुणने उत्तर दिया—'बहुत ठीक।' इस प्रकार रोहित सोलह-सत्तरह वर्षोंका हो गया और शस्त्र-कवच भी धारण करने लगा। तब वरुणने फिर टोका। हरिश्चन्द्रने कहा—'अच्छी बात है। आप फल पधारें। सब यज्ञिय व्यवस्था हो जायगी' (ऐतेरय० ७। ३३। १४)।

हरिश्चन्द्रने रोहितको बुलाकर कहा—'तुम वरुणदेवकी कृपासे मुझे प्राप्त हुए हो इसलिये मैं तुम्हारे द्वारा उनका यजन करूँगा।' किंतु रोहितने यह बात स्वीकार नहीं की और अपना धनुष-बाण लेकर वनमें चला गया। अब वरुणदेवकी शक्तियोने हरिश्चन्द्रको पकड़ा और वे जलोदर-रोगस ग्रस्त हो गये। पिताकी व्याधिका समाचार जब रोहितने अरण्यम सुना तब वह नगरकी ओर चल पडा। परतु बीच मार्गमे ही इन्द्र पुरुषका वेष धारण कर उसके समक्ष प्रकट हुए और प्रतिवर्ष उसे एक-एक श्लोकद्वारा उपदेश देते रहे। यह उपदेश पाँच वर्षोंमें पूरा हुआ और तबतक रोहित अरण्यमें ही निवास करते हुए उनके उपदेशका लाभ उठाता रहा। इन्द्रके पाँच श्लोकोका वह उपदेश-गीत इस प्रकार है—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरत सखा चरैवेति॥

'रोहित! हमने विद्वानासे सुना है कि श्रमसे थककर चूर हुए बिना किसीको धन-सम्पदा प्राप्त नहीं होती। बैठे-ठाले पुरुषको पाप धर दबाता है। इन्द्र उसीका मित्र है, जो बराबर चलता रहता है—थककर निराश होकर बैठ नहीं जाता। इसलिये चलते रहो।'

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहि ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मान श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति॥

'जो व्यक्ति चलता रहता है उसकी पिडलियाँ (जाँघें) फूल देती हैं (अन्योंद्वारा सेवा होती है)। उसकी आत्मा वृद्धिगत होकर आरोग्यादि फलकी भागी होती है तथा धर्मार्थ प्रभासादि तीर्थोंम सतत चलनेवालेक अपराध और पाप थककर सो जाते हैं। अत चलते ही रहो।'

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठत ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति॥

'बैठनेवालेकी किस्मत बैठ जाती है, उठनेवालकी उठती, सोनेवालेकी सो जाती और चलनेवालेका भाग्य प्रतिदिन उत्तरोत्तर चमकने लगता है। अत चलते ही रहो।'

कलि शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापर ।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरंश्चरैवेति॥*

'सोनेवाला पुरुष माना कलियुगम रहता है अँगडाई लनेवाला व्यक्ति द्वापरम पहुँच जाता है और उठकर खडा हुआ व्यक्ति त्रेतामें आ जाता है तथा आशा और उत्साहसे भरपूर होकर अपन निश्चित मार्गपर चलनेवालके सामने

* यह मन्त्र स्वल्पान्तरसे मनुस्मृति (९। ३०२)-में भी प्राप्त होता है।

सतयुग उपस्थित हो जाता है। अत चलते ही रहो।'

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरश्चरैवेति॥

(ऐत० ब्रा० ७। ३३)

'उठकर कमर कसकर चल पडनेवाले पुरुषको ही मधु मिलता है। निरन्तर चलता हुआ ही स्वादिष्ट फलोका आनन्द प्राप्त करता है, सूर्यदेवको देखो जो सतत चलते रहते हैं, क्षणभर भी आलस्य नहीं करते। इसलिये जीवनमें भौतिक और आध्यात्मिक मार्गके पथिकको चाहिये कि बाधाओंसे संघर्ष करता हुआ चलता ही रहे आगे बढता ही रहे।

—इस सुन्दर उपदेशमें रोहितको इन्द्रने बराबर चलते रहनेकी शिक्षा दी है, जो उन्हें किसी ब्रह्मवेत्तासे प्राप्त हुई थी। गीताका मूल उद्देश्य आत्माका उद्बोधन है, जिसमे बताया गया है कि क्या अभ्युदय और क्या नि श्रेयस—दोनोकी उन्नतिके पथिकको बिना थके आगे बढते रहना चाहिये, क्योंकि चलते रहनेका ही नाम जीवन है। ठहरा हुआ जल, रुका हुआ वायु गंदा हो जाता है। बहते हुए झरनेके जलमें ताजगी और जिंदगी रहती है प्रवाहशील पवनमें प्राणोका भंडार रहता है। कोटि-कोटि वर्षोंसे अनन्त आकाशमें निरन्तर चलते हुए सूर्यदेवपर दृष्टि डालिये वह असंख्य लोक-लोकान्तरोका भ्रमण करता हुआ हमारे द्वारपर आकर हमें निरन्तर उपदेश दे रहा है। वेदभगवान् कहते हैं—'स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव' (ऋक्० ५। ५१। १५) अर्थात् कल्याण-मार्गपर चलते रहो, चलते रहो—जैसे सूर्य और चन्द्र सदा चलते रहते हैं। ऐतरेय भी कह रहा है—'चरैवेति, चरैवेति।' आत्मा उनका ही वरण करती है जो अपने मार्गमें आगे कदम उठाते बढते जाते हैं। भगवान् उनका कल्याण निश्चित-रूपसे स्वयं करते हैं।

अन्तमें रोहितको वनमें ही अजीगर्त मुनि अपने तीन पुत्रोके साथ भूखसे संतप्त दृष्टिगोचर हुए। रोहितने उन्हें सौ गायें देकर उनके एक पुत्र शुन शेपको यज्ञके लिये मोल ले लिया। हरिश्चन्द्रका यज्ञ आरम्भ हुआ। उनके यज्ञमें विश्वामित्र होता जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा और अयास्य उद्गाता बने। शुन शेपने विश्वामित्रके निर्देशसे 'कस्य नूनम् अभित्वादेव इत्यादि मन्त्रसे प्रजापति, अग्नि सविता और वरुण आदि देवोकी स्तुति—प्रार्थना की। इससे वह समस्त बन्धनोसे मुक्त हो गया। वरुणदेवने भी संतुष्ट होकर राजा हरिश्चन्द्रको रोगसे मुक्ति प्रदान की। इस प्रकार इन्द्रके उपदेशसे देवोकी स्तुति प्रार्थना और उपासना तथा यज्ञकी सफलतासे रोहितका जीवन भी सफल एवं आनन्दसे परिपूर्ण हो गया। ऐतरेयब्राह्मणके इस उपाख्यानका निष्कर्ष यह है कि सदाचारके मार्गपर सदा चलते रहना चाहिये। 'चरैवेति-चरैवेति' सदाचारका शाश्वत संदेश है।'

~~~

महत्ता गुणसे, धनसे नहीं

मात्र धनसे कोई महान् नहीं कहलाता। जो विनयादि निर्मल गुणोसे सम्पन्न हो वही महान् कहा जाता है। अर्थ-कष्टसे पीडित होते हुए भी अनेक गुणोंके आगार होनेसे वसिष्ठ ऋषि महान् माने गये पर मण्डूक (मेढक) धनिक होनेपर भी गुणोंके अभावमें क्षुद्र ही बने रहे।

महत्त्वं धनता नैव गुणतो वै महान् भवेत्। सीदन् ज्यायान् वसिष्ठोऽभून्मण्डूका धनिनोऽल्पका ॥

इस सम्बन्धमें कथा यह है कि वसिष्ठ ऋषिने पर्जन्य (वर्षा)-की स्तुति की। मण्डूक उसे सुनकर बडे प्रसन्न हुए और उन सभी मण्डूकोने जो कि गोमायु (गायकी तरह शब्द करनेवाले) अजमायु (अजाकी तरह शब्द करनेवाले), पृश्निवर्ण (चितकबरे) और हरित-वर्णके थे ऋषिको अपरिमित गायें दीं। बादमें ऋषिने उनकी स्तुति भी की। इस तरह विपुल धन होने और दान देनेपर भी मण्डूक गुणविहीन होनेसे क्षुद्र ही रहे जबकि गुणी वसिष्ठ प्रतिग्रहीता होनेपर भी महान् माने गये।

गोमायुरदादजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि। गवां मण्डूका ददत शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयु ॥

(ऋक्० ७। १०३। १०)

अर्थात् वसिष्ठ ऋषिने त्रिष्टुप् छन्दसे मण्डूकोकी स्तुति करते हुए कहा कि 'गोमायु, अजमायु, पृश्नि और हरित सभी प्रकारके मण्डूकोने हमें अपरिमित गायें दीं। (मैं कामना करता हूँ कि) ये वर्षा-ऋतुमें खूब बढे।'

~~~

नदियोका अधिदेवत्व

वेद प्रत्येक जडम उसके अभिमानी देवताका होना मानता है। भगवान् रामने समुद्रसे प्रार्थना की थी कि वह उन्हे लका जानेके लिये मार्ग दे दे। देवतात्मा समुद्रने उनकी प्रार्थना सुनी थी और लका पहुँचनेके लिये उपाय भी बताया था। इस तरह वेदका यह सिद्धान्त हिन्दुओके जीवनमे व्यवहारके रूपमें उतरा हुआ है। यहाँ वेदकी एक ऐसी घटना प्रस्तुत की जा रही है, जो इस तथ्यको भलीभाँति उजागर करती है।

महर्षि विश्वामित्र पिजवनके पुत्र सुदासके पुरोहित थे। एक बार सुदासने विश्वामित्रके पौरोहित्यमे बहुत बडा यज्ञ कराया। यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया। दक्षिणाके रूपमें विश्वामित्रको बहुत-सा धन प्राप्त हुआ। महर्षि विश्वामित्र उस धनको छकडेपर और रथपर लादकर अपने आश्रमपर लौट रहे थे। रास्तेमें व्यास (विपाशा) और सतलज (शतद्रु)-का सगम पडा। नदियाँ अगाध थीं और वेगसे बह रही थीं। रथसे उनको पार नहीं किया जा सकता था।

महर्षि विश्वामित्र अकेले न थे। उनके साथ अन्य लोग भी थे।[1] दूरसे आ रहे थे। थकानसे चूर-चूर हो रहे थे। अत महर्षिने नदियोसे मार्ग माँगना ही उचित समझा। उन्होने प्रार्थना करते हुए कहा—'हे शतद्रु और विपाशा! तुम दोनो मातासे भी बढकर ममतामयी ('सिन्धुं मातृतमाम्॰' ऋक्॰ ३। ३३। ३) हो। हम तुम्हारे पास आये हैं।'

महर्षि विश्वामित्रकी पुकार सुनकर दोनों नदियाँ विचार करने लगीं। यह विप्र क्या यह चाह रहा है कि हम इसे मार्ग दे दें। महर्षिकी माँगकी पूर्ति तो हमे करनी ही चाहिये, किंतु इसमें अडचन यह है कि हम दोनोको देवराज इन्द्रने जो यह आदेश दे रखा है कि हम दोनो वेगसे बहती हुई परिसर प्रदेशको निरन्तर सिंचित करती रहें इसमें त्रुटि हो सकती है (ऋक्॰ ३। ३३। ४)।

नदियोको चुप देखकर महर्षिने फिर विनती की—'हे जलसे लबालब भरी हुई नदियो! मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम अपने प्रबल वेगको बिलकुल रोक ही लो। मैं तो केवल यह कह रहा हूँ कि तुम अपने-अपने जलको इतना कम कर लो कि मैं रथ छकडे और लोगोके साथ पार उतर जाऊँ। फिर जैसी-की-तैसी हो जाओ। दूसरी बात यह है कि पार हो जानेके बाद यज्ञमें हम तुम्हें सोम-रस प्रदान करेंगे' (ऋक्॰ ३। ३३। ५)।

नदियोने कहा—'महर्षे! हम दोना देवराज इन्द्रकी आज्ञाके पालनमें कभी चूक नहीं होने देतीं क्योंकि उन्होने वज्रसे खोदकर हम जन्म दिया है मेघके द्वारा हमे जीवन दिया है और अपने कल्याणकारी हाथासे सहारा देते हुए हमको समुद्रतक पहुँचाया है तथा उसीके हाथमे हम सौंप दिया है। इस तरह हम दोना उनकी सदा ऋणी हैं। अत उन्हींकी आज्ञाका पालन करती हैं' (ऋक्॰ ३। ३६। ६)।

इस तरह नदियोने पहले तो महर्षि विश्वामित्रका प्रत्याख्यान कर दिया किंतु फिर उन्होंने उनकी माँगको स्वीकार कर लिया।[2] नदियाने कहा 'महर्षे! जैसे ममतामयी माँ अपने बच्चेको दूध पिलानेके लिये झुक जाती है वैसे ही हम भी तुम्हारे लिये कम जलवाली हो जाती हैं। जल इतना कम कर दे रही हैं कि तुम्हारे रथके धूरे ऊपर रहे तुम दूरसे आये हो थक भी गये हो इसलिये छकडे और रथ आदिके साथ पार हो जाओ' (ऋक्॰ ३। ३३। १०)।

इस तरह महर्षि विश्वामित्रने उन दोनो नदियोको जो 'मातृतमाम्' कहा था उसे नदियाने चरितार्थ कर दिखाया और अपनी वत्सलताका परिचय दिया।

आजके जडवादी युगको विश्वामित्र तथा नदियाका यह सवाद खटकता है और इसका दूसरा अर्थ किया जाता है।

किंतु सत्य तो सत्य ही रहता है और सत्य यह है कि यह दो चेतनोका सवाद है जैसे—विश्वामित्रका शरीर जड है और उसमे चेतनका आवास है, वैसे नदियाके जलीय शरीर तो जड हैं किंतु उनकी अधिष्ठात्री देवी चेतन हैं इस सम्बन्धमे कुछ आप्त वचन ये हैं—

१ निरुक्तने इसे इतिहास माना है—'तत्रेतिहासमाचक्षते' (निरुक्त २। ७)।

२ 'प्रपर्वतानां सप्तोना सवादो नदीभिर्विश्वामित्रस्योत्तितीर्षोरिति (अनुक्रमणी का॰ स॰ ३। ३३)।

३ सूक्ते प्रेति तु नद्यश्च विश्वामित्र समूदिरे।
पुरोहित सन्निय्यार्थं सुदासा स यन्नपि।
विपाट्छुतुद्र्यो सम्भेद शमित्येते उवाच ह॥
(बृहद्देवता ४। १०५-१०६)

४ 'विश्वामित्रस्य सवादं नद्यतिक्रमणे जपेद्॥'
(ऋक्-विधान १७७)

(ला॰ वि॰ मि॰)

---

१ (क) इतरे अनुययु (निरुक्त)। (ख) अनुययुरितरे (नीतिमजरी)।

२ प्रत्याख्यायान्तत आशुश्रुवु (निरुक्त २। ७)।

भगवान्की असीम दयालुता

मानव-मानसे ब्रह्माके ४ लाख ३२ हजार वर्ष बीत चुके थे। उनके दिनका अवसान हो चला था। रात आ गयी थी। ब्रह्माजीको नींद भी आ रही थी। इस तरह ब्राह्म-नामक नैमित्तिक प्रलयका काल आ पहुँचा था। कुछ ही दिनोमें संसारको समाप्त हो जाना था, किंतु विश्वके लोगोका ध्यान इधर नहीं जा रहा था। महाराज मनुको भी प्रलयका कोई भान न था। वे सदाकी भाँति अपने नित्य-कृत्यको दुहराने जा रहे थे। शतपथने लिखा है कि प्रातःकालका समय था। हाथ-मुख धोनेके लिये उनके नौकर जल ले आये थे। शिष्टाचारके अनुसार जलपात्र उनके दोनों हाथोंमें थे। मनुजीने जब हाथमे जल लिया तो उसके साथ एक मत्स्य आ गया। मत्स्यने मनुसे करुणाभरे स्वरमें कहा—'तुम मेरा भरण-पोषण करो, मैं भी तुम्हारा भरण-पोषण करूँगा।' मनुने पूछा—'तुम मेरा भरण-पोषण किस प्रकार करोगे?' मत्स्यने कहा—'एक भयानक बाढ आनेवाली है जो सारी प्रजाको बहा ले जायगी। कोई न बचेगा। उस समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।'

मनुने पूछा 'अब यह बताओ कि तुम्हारी रक्षाके लिये मुझे कौन-कौन कार्य करने होगे।' मत्स्यने कहा कि 'जबतक मैं छोटा हूँ, तबतक मुझे नष्ट करनेवाले बहुत-से जीव-जन्तु हैं। अपनी ही जातिकी बडी मछली भी मुझे निगल सकती है। इसलिये मुझे पाल-पोषकर बड़ा बना देना होगा। पहले मुझे घडेमें रखो। जब उसमे न आ सकूँ तो गड्ढा खोदकर जलाशय बनाकर उसमे रखो। इस तरह जैसे-जैसे मैं बढता जाऊँ, वैसे-वैसे बडे-बडे बनावटी जलाशय बनाकर मेरा पालन-पोषण करो। अन्तमें समुद्रमे पहुँचा देना, फिर मुझे किसीसे भय न होगा।'

मत्स्यकी बाते मीठी-मीठी और बहुत मोहक थीं। मत्स्य जो-जो कहता वह कार्य करनेको मनुका मन करता अतः उन्होने उसकी सुरक्षाकी सभी व्यवस्थाएँ कीं। श्रीमद्भागवत (९।८)-से पता चलता है कि मनुकी आँखें तब खुलीं जब वह मत्स्य एक ही दिनमें ४ सौ कोसोमें विस्तृत सरोवरके बराबर हो गया था। तब वे समझ गये कि भगवान् ही कोई लीला कर रहे हैं। शतपथके 'उपासासै' (मेरी उपासना करते रहो)—इस अंशके कथनका बीज निहित है। मनुको जब यह समझमें आ गया तो भगवान्की उस कृपापर उनका हृदय गद्गद हो गया। सोचने लगे कि जिनके दर्शन पानेके लिये मुनियोको कई जन्म बिताने पडते हैं, वे भगवान् मुझे निरन्तर दर्शन देते जा रहे हैं, मुझसे मिठास-भरी बातें कर रहे हैं, सर्वसमर्थ होते हुए भी मुझसे सुरक्षा माँगकर मेरा मान बढा रहे हैं, निरन्तर अपना सुखद स्पर्श प्रदान कर रहे हैं और मेरी सुरक्षाके लिये लंबी-लंबी योजनाएँ भी बना रहे हैं। मनुका गद्गद-हृदय अब आँकने लगा कि जितने देवता आदि पूज्य वर्ग हैं वे सब-के-सब मिलकर भी कृपा करें तो भगवान्की कृपाके दस हजारवें अंशके भी बराबर नहीं हो सकते।[1]

शतपथने आगे लिखा कि मत्स्यके कहनेपर मनुने उन्हें समुद्रमें पहुँचा दिया। मत्स्यभगवान्का रहस्य प्रकट हो गया था। उन्होने कहा कि इतने समयमे वह बाढ आयेगी। उस बाढके आनसे पहले ही एक नौका बनवा लो, मेरी उपासना भी करते रहना—

नावमुपकल्प्योपासासै। (श० ब्रा० १।८।१।४)

बाढ आनेपर उसी नौकापर चढ़ जाना। मैं तुझे पार कर दूँगा।

मनु महाराजने मत्स्यभगवान्की आज्ञाके अनुसार नाव बनाकर मत्स्यभगवान्की उपासना करने लगे—स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथींᳬ समां नावमुपकल्प्योपासाञ्चक्रे।

समयपर वह बाढ आयी। मनु महाराज नौकापर चढ़ गये। ठीक उसी समय मत्स्यभगवान् इस विचारसे कि मनुको मैं समीप खींच लूँगा नौकाके समीप आये। मनु महाराजने नावको मत्स्यके सींगमें बाँध दिया। मत्स्यभगवान् उस नावको उत्तर हिमालय पहाडपर ले गये। निरापद जगहपर पहुँचाकर भगवान् मत्स्यने मनुको याद दिलायी—'मैंने तुम्हारी रक्षा कर दी। तुम डूबनेसे बच गये। अब नौकाको वृक्षमें बाँध दो। आगे ध्यान देना कि जैसे-जैसे जल बढे वैसे-वैसे तुम भी पहाड़की ऊँचाईकी ओर बढ़ते जाना, ताकि जल तुमको पहाड़से अलग न कर सके।' हिमालय पर्वतपर जिस मार्गसे मनु महाराज गये थे, वही स्थान मनुका 'अवसर्पण' कहलाता है। वह इतनी प्रचण्ड बाढ थी कि सब कुछ बहाकर ले गयी। केवल मनु ही शेष रह गये। (ला० बि० मि०)

१-न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम्। कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंस०॥ (श्रीमद्भागवत ८।२४।४९)

असुरोका भ्रम

महाराज पृथुने जब पृथ्वीको धन-धान्य देनेवाली बनाया, पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियोके लिये जब अन्न जल, कृषि, वनस्पति, धन-धान्यकी व्यवस्था उन्होंने अपने पराक्रमसे की, तब सर्वप्रथम पृथ्वीपर नर-राज्यकी स्थापना हुई। देवों-ऋषियोंने महाराज पृथुसे एक बहुत बड़े यज्ञका आयोजन करनेके लिये कहा।

पृथुने यज्ञ प्रारम्भ किया। सभी प्रमुख ऋषियो तथा इन्द्रादि देवाने उसमें भाग लिया। यज्ञकी सफलताके लिये देवताओ तथा इन्द्रको भाग लेते देखकर असुरोने यज्ञको सफल न होने देनेके लिये एक योजना बनायी। क्याकि असुर तो चाहते थे कि इन्द्रकी प्रतिष्ठा बढे नहीं, इसलिये सोचा कि अगर इन्द्रको मार दिया जाय या अपहरण कर लिया जाय तो अन्य देवता भी यज्ञमे भाग न लेकर चले जायँगे। पृथुपर भी कलक लगेगा कि वे इन्द्रकी रक्षा न कर सके। इस प्रकार यज्ञ पूरा न होगा।

यज्ञ प्रारम्भ हो चुका था। इन्द्र-समेत सभी देवता यज्ञम हविष्य डाल रहे थे। यज्ञके प्रधान पुरोहित ऋषि गृत्समद थे। हविष्य डालनेके लिये मन्त्र-पाठ करते समय उन्हे लगा कि वातावरणमें कुछ ऐसा है, जो यज्ञमें बाधा डालनेका प्रयास कर रहा है। उन्हाने ध्यान लगाया तो देखा कि कुछ असुर इन्द्रको लक्ष्य कर द्वेष-भावसे देख रहे हैं। वे समझ गये कि ये असुर इन्द्रको यज्ञसे अपहृत कर या मार कर यज्ञको नष्ट करगे ही देव-प्रतिष्ठा भी नहीं रहने देंगे।

उन्होने इन्द्रसे कहा—'देवेन्द्र! आप निश्चिन्त होकर यज्ञमें भाग लेते रहे मैं अपने शिष्यको प्रधान ऋत्विज्का भार सौंपकर अभी थोडी देरमे आता हूँ।' ऐसा कहकर गृत्समद यज्ञ-वेदीसे उठे और उठते ही उन्होंने इन्द्रका रूप धारण कर लिया। उनको उठकर जाते देख घात लगाये असुरोंने समझा कि इन्द्र जा रहे हैं। बस उन्होने इन्द्ररूपधारी गृत्समदका पीछा किया। गृत्समदने असुरोंको अपने पीछे आते देख डरके मारे भागना शुरू किया। जब असुरानि इन्द्रको भागते देखा तब वे यह समझे कि इन्द्रने शायद हमें देख लिया है इसी कारण डरकर तेजीसे भाग रहे हैं, फिर तो वे और भी तेजीसे उनका पीछा करने लगे।

इन्द्ररूपधारी गृत्समद भागते गये और असुर उनका पीछा करते गये। ऋषिने उन्हें भगा-भगाकर खूब छकाया, परतु उनके हाथ न आये। दौडते-भागते असुर थककर हाँफने लगे। गृत्समदने जब देखा कि असुर असमर्थ हो गये हैं तो वे भी थकनेका बहाना कर बैठ गये और अपने तपोबलसे तत्काल अपने असली रूपमे आ गये।

असुराने इन्द्रके स्थानपर ऋषिको देखा ता चकित हो कहने लगे—'हमारे आगे-आगे तो इन्द्र भाग रहे थे यह तुम कौन हो?'

गृत्समदने कहा—'मैं तो वनवासी ऋषि हूँ। इन्द्र यहाँ कहाँ? इन्द्र तो महाराज पृथुके यज्ञमें देवाके साथ भाग ले रहे हैं। वे तो देवोके देव परम पराक्रमी तेजस्वी देवता हैं। भूमण्डलपर अच्छे कल्याणकारी तथा पुण्यके काम उन्हींके तेज-प्रतापसे सम्पन्न होते हैं। इन्द्रसे तुम्हे क्या काम है?'

असुरोंने कहा—'हम उनका अपहरण करके मारेगे। यज्ञमें भाग नहीं लेन देगे।'

गृत्समदने कहा—'इतना गर्व है तो जाओ, यज्ञ तो पूरा होनेवाला होगा। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ यज्ञ-स्थलतक।'

गृत्समद उठे और रास्तेमे इन्द्रके तप-तेज एव प्रतापकी इतनी बडाई करते रहे कि असुराका मनोबल टूट गया। यज्ञ-स्थलपर पहुँचे तो ऋषिने इशारेसे दिखाया कि वह देखो इन्द्र यज्ञवेदीपर बैठे हैं। फिर इन्द्रको आवाज देकर बुलाया कि आओ ये असुर तुम्ह मारने आये हैं।

इन्द्रने पलटकर देखा ता ऋषि असुरोंके पास खडे थे। इन्द्रने आते ही अपनी गदासे उन असुरोपर जब प्रहार किया तो वे असुर थके तो थे ही उनका मनोबल भी टूट चुका था अत वे इन्द्रका सामना न कर सके और वहीं धराशायी हो गये।

इन्द्रने कहा—'ऋषिवर! आप कहाँ चले गये थे?'

गृत्समदने जवाब दिया—'यज्ञ निरापद समाप्त हो जाय और ये असुर भी मारे जायँ इसलिये असुराको भ्रमम डालनेके लिये तुम्हारा रूप बनाकर मैं यहाँसे चला गया और इन्हें छकाता रहा। यज्ञ तो पूरा करना ही था। हम ऋषि-तपस्वी इसी प्रकार सबके कल्याणकारी कामोंमें लगे रह, इसी भावनासे भूमण्डलपर रहते हैं।' [ऋग्वेद]

(श्रीअमरनाथजी **शुक्ल**)

निर्मल मनकी प्रसन्नता

कनिष्ठा पुत्रवत् पाल्या भ्रात्रा ज्येष्ठेन निर्मला ।
प्रगाथो निर्मलो भ्रातु प्रागात् कण्वस्य पुत्रताम्॥

महर्षि घोरके पुत्र कण्व और प्रगाथको गुरुकुलसे लौटे कुछ ही दिन हुए थे। दोनों ऋषिकुमारोंका एक-दूसरेके प्रति हार्दिक प्रेम था। प्रगाथ अपने बडे भाई कण्वको पिताके समान समझते थे उनकी पत्नी प्रगाथसे स्नेह करती थी। उनकी उपस्थितिसे आश्रमका वातावरण बड़ा निर्मल और पवित्र हो गया था। यज्ञकी धूमशिखा आकाशको चूम-चूमकर निरन्तर महती सात्त्विकताकी विजयिनी पताका-सी लहराती रहती थी।

एक दिन आश्रममे विशेष शान्तिका साम्राज्य था। कण्व समिधा लेनेके लिये वनके अन्तरालम गये हुए थे। उनकी साध्वी पत्नी यज्ञवेदीक ठीक सामने बैठी हुई थी। उससे थोडी दूरपर ऋषिकुमार प्रगाथ साम-गान कर रहे थे। अत्यन्त शीतल और मधुर समीरणके सचारसे ऋषिकुमारके नयन अलसाने लगे और वे ऋषिपत्नीके अङ्कमें सिर रखकर विश्राम करते-करते सो गये। ऋषिपत्नी किसी चिन्तनमें तन्मय थी।

× × ×

'यह कौन है, इस नीचने तुम्हारे अङ्कमें विश्राम करनेका साहस किस प्रकार किया?' समिधा रखते ही कण्वके नेत्र लाल हो गये उनका अमित रुद्ररूप देखकर ऋषिपत्नी सहम गयी।

'देव!' वह कुछ और कहने हो जा रही थी कि कण्वने प्रगाथकी पीठपर पद प्रहार किया। ऋषिकुमारकी आँखें खुल गयीं। वह खड़ा हो गया। उसने कण्व ऋषिका प्रणाम किया।

'आजसे तुम्हारे लिये इस आश्रमका दरवाजा बद है प्रगाथ!' कण्व ऋषिकी वाणी क्रोधकी भयकर ज्वालासे प्रज्वलित थी, उनका रोम-रोम सिहर उठा था।

'भैया! आप तो मेरे पिताके समान हैं और ये तो साक्षात् मेरी माता हैं।' प्रगाथने ऋषिपत्नीके चरणोंमें श्रद्धा प्रकट कर कण्वका शंका-समाधान किया।

कण्व धीरे-धीरे स्वस्थ हो रहे थे, पर उनके सिरपर सशयका भूत अब भी नाच रहा था।

'ऋषिकुमार प्रगाथने सच कहा है देव! मैंने तो आश्रममें पैर रखते ही उनका सदा पुत्रके समान पालन किया है। बडे भाईकी पत्नी देवरको सदा पुत्र मानती हैं, इसको तो आप जानते ही हैं, पवित्र भारत देशका यही आदर्श है।' ऋषिपत्नीने कण्वका क्रोध शान्त किया।

'भाई प्रगाथ! दोष मेरे नेत्रोका ही है, मैंने महान् पाप कर डाला तुम्हारे ऊपर व्यर्थ शका कर बैठा।' ऋषि कण्वका शील समुत्थित हो उठा उन्होंने प्रगाथका आलिङ्गन करके स्नेह-दान दिया। प्रगाथने उनकी चरणधूलि मस्तकपर चढायी।

'भाई नहीं ऋषिकुमार प्रगाथ हमारा पुत्र है। ऋषिकुमारने हमारे सम्पूर्ण वात्सल्यका अधिकार पा लिया है।' ऋषिपत्नीकी ममताने कण्वका हृदय-स्पर्श किया।

'ठीक है प्रगाथ हमारा पुत्र है। आजसे हम दोनों इसके माता-पिता हैं।' कण्वने प्रगाथका मस्तक सूँघा।

आश्रमकी पवित्रतामें नवीन प्राण भर उठा—जिसमें सत्य वचनकी गरिमा निर्मल मनकी प्रसन्नता और हृदयकी सरलताका सरस सम्मिश्रण था।

—[बृहद्देवता अ० ६।३५—३९]

निर्गुण-निराकार हैं वे ही निर्विशेष वे ही पर-तत्त्व।
वही सगुण हैं निराकार सविशेष सृष्टि-संचालक तत्त्व॥
वही सगुण-साकार दिव्य लीलामय शुद्ध-सत्त्व भगवान।
अगुण-सगुण-साकार सभी हैं एक अभिन्न रूप सुमहान॥
(पद-रत्नाकर)

सुकन्याका कन्या-धर्म-पालन

सुकन्या राजा शर्यातिकी पुत्री थी। एक बार राजा गाँवोका दौरा कर रहे थे। उन्होंने जहाँ अपना शिविर लगाया था, वहाँ च्यवन ऋषि घोर तपस्यामें लीन थे। उनके देहपर मिट्टी जम गयी थी। इसलिये महर्षिका शरीर स्पष्ट दीखता न था। कुमारोंने समझा कि यह कोई अनर्थकारी तत्त्व है जिससे प्रजाका अहित होगा। ऐसा सोचकर उन लोगोंने ढेला मार-मारकर ऋषिको ढक दिया।

इस पापसे राजाके शिविरमें मतिभ्रम उत्पन्न हो गया। पिता-पुत्रसे लड़ने लगा और भाई-भाईसे। प्रत्येक व्यक्ति उपद्रवी हो उठा था। शिविरमे घोर अशान्ति फैल गयी थी। राजा शर्याति समझ गये कि यहाँपर हम लोगोमेंसे किसीके द्वारा कोई अपराध हो गया है। पूछनेपर पता चला कि कुमारोने ढेला मार-मारकर किसीको बहुत चोट पहुँचायी है। अन्तमें यह भी पता चला कि जिनको आहत किया गया है वे च्यवन ऋषि हैं। उनको प्रसन्न करनेके लिये राजा ऋषिके पास पहुँचे। उनके साथ उनकी लाडली कन्या सुकन्या भी थी। अपराधके लिये क्षमा-याचना करते हुए राजाने कहा—'महर्षि अनजानसे हम लोगोके द्वारा आपका तिरस्कार हो गया है। आप हम लोगोपर प्रसन्न हो जायँ।' महर्षिने कहा कि 'अपनी कन्याको मुझे दे दो, सेवाकी आवश्यकता आ पडी है। मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगा।' 'स होवाच—सु वै मे सुकन्या देहीति ।' राजा विवश थे। सबके हितके लिये उन्होने अपने हृदयके टुकड़ेको बूढे च्यवनके हाथमे दे दिया। उनको अपनी कन्यापर विश्वास था कि उदात्त विचारवाली उनकी लाडली कन्या प्रजाके हितके लिये अपना बलिदान स्वीकार कर लेगी।

सुकन्याको देते ही सब प्रकृतिस्थ हो गये। सर्वत्र पहलेकी तरह शान्ति छा गयी। सबका चित्त प्रसन्न हो गया। परस्पर एक-दूसरेके प्रति जो राग-राष उत्पन्न हो गया था उनकी याद भी उन्हें न रही।

उन दिनो दोनो अश्विनीकुमार रोगियोकी चिकित्साके लिये पृथ्वीपर घूम रहे थे।[१] उन्होंने सुकन्याको देखा। सुकन्या बहुत सुन्दरी थी। दोना अश्विनीकुमाराने उसे देखा और कहा—'सुकन्ये! इस जीर्ण-शीर्णको अपना पति क्या बनाना चाह रही हो?' हम दोनामेसे एकको पति बना लो।[२] सुकन्याने नम्रताके साथ हाथ जोडकर कहा—'पिताजीने जिस व्यक्तिको मुझे दे दिया है उसे मैं जीते जी कभी नहीं छोड़ूँगी'—(क) 'नेति होवाच। यस्मा एव मा पिताऽदात् तस्य जाया भविष्यामीति' (जै० ब्रा०)। (ख) 'सा होवाच यस्मै मा पिताऽदान्नैवाह त जीवन्त हास्यामीति' (श० ब्रा० ४।१।५।९)।

इस तरह सुकन्याने अपने पिताके वचनका पालन किया। जैसे पुत्रका कर्तव्य पिताके वचनका पालन करना होता है वैसे ही कन्याका भी कर्तव्य होता है कि सभी परिस्थितियामें अपने पिताके वचनका पालन करे। सुकन्याने बहुत धीरताके साथ अपने धर्मका पालन किया।

इसका परिणाम बहुत ही अच्छा हुआ। ऋषि दयालु होते हैं। उनसे सबका हित ही होता है। सुकन्याके जीवनको सरस बनानेके लिये एक उपाय बताया। वह उपाय सफल हो गया। अश्विनीकुमार भी सुकन्याके धर्म-पालनसे बहुत सतुष्ट थे। उन्हाने च्यवन ऋषिको युवा बना दिया केवल युवा ही नहीं बना दिया अपितु अपने-जैसा रूप और चिर-यौवन प्रदान किया।

(ला० बि० मि०)

१-एतस्मिन् समये भुवं विचरन्तौ भिषज्यतौ (श० ब्रा० ४।१।५।८ की व्याख्या)।

२-कुमारो स्थविरो वा अयम् असर्वो नाक पतित्वेनायावयोर जयैधीति (जै० ब्रा०)।

मनुष्य होकर भी देव कौन ?

जो यज्ञिय कर्म करते हैं, वे मनुष्य नहीं, देव होते हैं। और वे भी दूसरे देव हैं जिन्हें याचक पूछने आते हैं कि वह उदार मनुष्य कहाँ है ? कारण, वसिष्ठ ऋषि उनकी दववत् स्तुति करते हैं—

न ते मनुष्यास्ते देवा यज्ञिय कर्म कुर्वते।
याचकश्चेति य पृष्ट्वा वसिष्ठ. स्तौति देववत्॥

यज्ञिय कर्म करनेवाला और दान दनेवाला व्यक्ति मनुष्य होता हुआ भी देववत् स्तुतिपात्र होता है। कारण भारतीय सस्कृतिमें मनीषियांके पावन कर्मोंमें तीन ही कसौटीके प्रमुख कर्म माने गये हैं—

यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(गीता १८। ५)

अर्थात् गीताकार भगवान् श्रीकृष्ण प्रमाणित करते हैं कि यज्ञ, दान और तप मनीपियोके पावन कर्म हैं। बात भी ठीक है यज्ञ एक ऐसा रचनात्मक कार्य है, जो सर्ग और स्थिति दोनों काम करता है। जहाँ उसका एक पक्ष 'यज्ञाद्भवति पर्जन्य ' आदि कार्य-कारणभावद्वारा गीताकारने प्रस्तुत किया है वहीं दूसरा पक्ष जागतिक वस्तुआका उपयागजन्य ह्रास (छीजन) दूर कर सोमादिसे आप्यायन भी विज्ञजन मानते आये हैं। अतएव उभयथा उपकारक यह यज्ञिय कर्म जो लोग किया करते हैं वे निश्चय ही देववत् पूज्य होने चाहिये। यहाँ प्रसिद्ध उपमानकी दृष्टिसे देव प्रस्तुत हैं। भारतीय प्राचीन वाङ्मयकी तन्मयता रही है कि देव सदैव मानवका पाषण किया करते हैं। अत हमें भी देव बनना हो तो सदैव यज्ञादि कर्मों एवं दानमें तत्पर रहना चाहिये। वसिष्ठ ऋषिने इन्हीं मानवरूपधारी द्विविध देवोंकी इस ऋचासे स्तुति की है—

स मर्तो अग्ने स्वनीक रेवानमर्त्ये य आजुहोति हव्यम्।
स देवता वसुवनि दधाति य सूरिरर्थी पृच्छमान एति॥
(ऋक्० ७। १। २३)

अर्थात् वसिष्ठ ऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे अग्निकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे सुतेजा अग्ने! वही मनुष्य धनवान् है जा निर्धन होकर भी देवस्वरूप आपमे हविका हवन करता है। वही मानव देवताआका धनवान् बनाता है, जिसके लिये विद्वान् याचक यह पूछता जाता है कि 'कहाँ है वह उदारमना क्या कर रहा है वह मुक्तहस्त ?' वही अपर देवता है।

[वेदोपदेश-चन्द्रिका]

आपद्धर्म

एक समय कुरुदेशमे ओलोकी बडी भारी वर्षा हुई। इसस सारे उगते हुए पौधे नष्ट हो गये और भयानक अकाल पड गया। दुष्कालसे पीड़ित प्रजा अन्नके अभावसे देश छोड़कर भागने लगी। वहीं एक उपस्ति नामके ब्राह्मण भी रहते थे। उनकी पत्नीका नाम आटिकी था। वह अभी बालिका ही थी। उसे लेकर उपस्ति भी देश छोड़कर इधर-उधर भटकन लगे। भटकते-भटकते वे दोनो एक महावतके ग्राममें पहुँचे। भूखके मारे बेचारे उपस्ति उस समय मरणासन्न दशाको प्राप्त हो रहे थे। उन्हाने दखा कि एक महावत उबाले हुए उड़द खा रहा है। वे उसके पास गये और उससे कुछ उड़द देनेको कहा। महावतन कहा—'मैं इस बर्तनमें रखे हुए जो उडद खा रहा हूँ, इनके अतिरिक्त मेरे पास और उडद हैं ही नहीं, तब मैं कहाँस दूँ? उपस्तिने कहा—'मुझे इनमेंसे ही कुछ दे दा।' इसपर महावतने थोडा-सा उडद उपस्तिको दे दिया और सामने जल रखकर कहा कि 'लो, उडद खाकर जल पी लो।' उपस्ति बोले—'नहीं मैं यह जल नहीं पी सकता क्योंकि इसके पीनेस मुझ उच्छिष्ट-पानका दोष लगगा।'

महावतको इसपर बडा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा कि 'ये उड़द भी तो हमारे जूठे हैं फिर जलमें ही क्या रखा है जो इसमें जूँठनका दोष आ पडा?'

उपस्तिने कहा— भाई! मैं यदि यह उडद न खाता तो मेरे प्राण निकल जाते। प्राणोंकी रक्षाके लिये आपद्धर्मकी व्यवस्थानुसार ही मैं उड़द खा रहा हूँ, पर जल ता अन्यत्र भी मिल जायगा। यदि उडदकी तरह ही मैं तुम्हारा जूठा जल भी पी लूँ, तब ता वह स्वेच्छाचार हो जायगा। इसलिये भैया! मैं तुम्हारा जल नहीं पीऊँगा।' यों कहकर उपस्तिने कुछ उड़द स्वयं खा लिये और शेष अपनी पत्नीका द दिये। ब्राह्मणीको

पहले ही कुछ खानेको मिल गया था, इसलिये उन उडदोको उसने खाया नहीं अपने पास रख लिया।

दूसरे दिन प्रात काल उषस्तिने नित्यकृत्यके बाद अपनी पत्नीसे कहा—'क्या करूँ, मुझे जरा-सा भी अन्न कहींसे खानेको मिल जाय तो मैं अपना निर्वाह होने योग्य कुछ धन प्राप्त कर लूँ, क्योकि यहाँसे समीप ही एक राजा यज्ञ कर रहा है, वह ऋत्विक्के कार्यमे मेरा भी वरण कर लेगा।'

इसपर उनकी पत्नी आटिकीने कहा—'मेरे पास कलके बचे हुए उड़द हैं, लीजिये उन्हें खाकर आप यज्ञमे चले जाइये।' भूखसे सर्वथा अशक्त उषस्तिने उन्हें खा लिया और वे राजाके यज्ञमे चले गये। वहाँ जाकर वे उद्गाताओके पास बैठ गये और उनकी भूल देखकर बोले—'प्रस्तोतागण! आप जानते हैं—जिन देवताकी आप स्तुति कर रहे हैं वे कौन हैं? याद रखिये, आप यदि अधिष्ठाताको जाने बिना स्तुति करेंगे तो आपका मस्तक गिर पडेगा।' और इसी प्रकार उन्होंने उद्गाताओ एव प्रतिहर्ताओसे भी कहा। यह सुनते ही सभी ऋत्विज् अपने-अपने कर्म छोडकर बैठ गये।

राजाने अपने ऋत्विजोकी यह दशा देखकर उषस्तिसे पूछा—'भगवन्! आप कौन हैं? मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।' उषस्तिने कहा—'राजन्! मैं चक्रका पुत्र उषस्ति हूँ।' राजाने कहा—'आहो भगवन् उषस्ति आप ही हैं? मैंने आपके बहुत-से गुण सुने हैं। इसीलिये मैंने ऋत्विज्के कामके लिये आपकी बहुत खोज करवायी थी, पर आप न मिले और मुझे दूसरे ऋत्विजोंको वरण करना पडा। यह मेरा बडा सौभाग्य है, जा आप किसी प्रकार स्वय पधार गये। अब ऋत्विज्-सम्बन्धी समस्त कर्म आप ही करनेकी कृपा करे।'

उषस्तिने कहा—'बहुत अच्छा! परतु इन ऋत्विजाको हटाना नहीं, मेरे आज्ञानुसार ये अपना-अपना कार्य करे और दक्षिणा भी जो इन्ह दी जाय उतनी ही मुझे देना (न तो मैं इन लोगोको निकालना चाहता हूँ और न दक्षिणामें अधिक धन लेकर इनका अपमान ही करना चाहता हूँ। मेरी देख-रेखमें ये सब काम करते रहेगे)।' तदनन्तर सभी ऋत्विज् उषस्तिके पास जाकर तत्त्वाको जानकर यज्ञकार्यमें लग गये और विधिपूर्वक वह यज्ञ सम्पन्न हुआ।

[छान्दोग्य० १। १०-११]

अग्नियोद्वारा उपदेश

कमलका पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबालके यहाँ ब्रह्मचर्य ग्रहण करके अध्ययन करता था। बारह वर्षोंतक उसने आचार्य एव अग्नियोकी उपासना की। आचार्यने अन्य सभी ब्रह्मचारियोका समावर्तन-संस्कार कर दिया और उन्हे घर जानेकी आज्ञा दे दी। केवल उपकोसलको ऐसा नहीं किया।

उपकोसलके मनमें दु ख हुआ। गुरुपत्नीको उसपर दया आ गयी। उसने अपने पतिसे कहा—'इस ब्रह्मचारीने बड़ी तपस्या की है, ब्रह्मचर्यके नियमोका पालन करते हुए विद्याध्ययन किया है। साथ ही आपकी तथा अग्नियाकी विधिपूर्वक परिचर्या की है। अतएव कृपया इसको उपदेश कर इसका भी समावर्तन कर दीजिये। अन्यथा अग्नि आपको उलाहना दगे।' पर सत्यकामने बात अनसुनी कर दी और बिना कुछ कहे ही वे कहीं अन्यत्र यात्रामें चले गये।

उपकोसलको इससे बड़ा क्लेश हुआ। उसने अनशन आरम्भ किया। आचार्यपत्नीने कहा—'ब्रह्मचारी! तुम भोजन क्यो नहीं करते?' उसने कहा— माँ, मुझे बड़ा मानसिक क्लेश है इसलिये भोजन नहीं करूँगा।'

अग्नियाने सोचा—'इस तपस्वी ब्रह्मचारीने मन लगाकर हमारी बहुत सेवा की है। अतएव उपदेश करके इसके मानसिक क्लेशको मिटा दिया जाय।' ऐसा विचार करके उन्होने उपकोसलको ब्रह्मविद्याका यथोचित उपदेश दे दिया। तदनन्तर कुछ दिनो बाद उसके आचार्य सत्यकाम यात्रासे लौटे। इधर उपकोसलका मुखमण्डल ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहा था। आचार्यने पूछा—'सौम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता-जैसा दीख रहा है, बता तुझे किसने ब्रह्मका उपदेश किया?' उपकोसलने बड़े सकोचसे सारा समाचार सुनाया। इसपर आचार्यने कहा—'यह सब उपदश तो अलौकिक नहीं हैं। अब मुझसे उस अलौकिक ब्रह्मतत्त्वका उपदेश सुन जिसे भली प्रकार जान लेनेपर—साक्षात् कर लेनेपर पाप-ताप प्राणीको उसी प्रकार स्पर्श नहीं कर पाते, जैसे कमलके पत्तेको जल।

इतना कहकर आचार्यने उपकोसलको ब्रह्मतत्त्वका रहस्यमय उपदश किया और समावर्तन-सस्कार करके उसे घर जानेकी आज्ञा दे दी।

पूज्य सदैव सम्माननीय

वेद-शास्त्रादि विभिन्न ग्रन्थोंमें पूज्योंका आदर करने तथा उनका कभी अपमान न करनेके अनेक वचन और कितने ही उदाहरण मिलते हैं। इसीलिये नीति-वचनमें कहा गया है—

अप्युन्नतपदारूढ पूज्यान् नैवापमानयेत्।
इक्ष्वाकूणा ननाशाग्नेस्तेजो वृशावमानत ॥

अर्थात् कोई कितने ही ऊँचे पदपर पहुँच जाय भूलकर भी पूज्योका अपमान न करे, क्योंकि इक्ष्वाकुवशीय त्रैवृष्ण त्र्यरुण राजाने अपने पुरोहित वृशऋषिका अपमान किया तो उनके राज्यमें अग्निका तेज ही नष्ट हो गया। यह अद्भुत वैदिक कथा इस प्रकार है—

(१)

सप्तसिन्धवके प्रतापशाली सम्राटोंमें इक्ष्वाकुवशीय महाराज त्रैवृष्ण त्र्यरुण अत्यन्त प्रतापी और उच्च कोटिके विद्वान् राजा हुए हैं। सत्यनिष्ठा प्रजावत्सलता उदारता आदि सभी प्रशसनीय सद्गुण मानो उन-जैसे सत्पात्रमे बसनेक लिये अहमहमिकासे लालायित रहते। समन्वयके उस सेतुको पाकर ससारमें प्राय दीखनेवाला लक्ष्मी-सरस्वतीका विरोध भी माना सदाके लिये मिट गया।

महाराजकी तरह उनके पुरोहित वृशऋषि भी उच्च कोटिके अद्वितीय विद्वान्, मन्त्रद्रष्टा आभिचारिकादि कर्मोंमें अतिनिष्णात ब्रह्मवेत्ता थे। साथ ही व अत्यन्त शूर-वीर भी थे।

प्राचीन भार[illegible] पुरोहित राजाकी मन्त्रि-परिपद्का [illegible] राजाकी क्षात्र-शक्ति [illegible] प्रस्थापनार्थ [illegible] तत्त्वोका वि[illegible] आध्यात्मि[illegible]

एक बार महाराजने सोचा कि दिग्विजय-यात्रा की जाय। इसमे उनका एकमात्र अभिप्राय यही था कि सभी शासक एक राष्ट्रिय भावमें आबद्ध हो कार्य करें। वे किसी राजाको जीत करके उसकी सम्पत्तिसे अपना कोष भरना नहीं चाहते थे। प्रत्युत उनका यही लक्ष्य था कि इस अभियानमें विजित सम्पत्ति उसी विजित राजाको लौटाकर उसे आदर्श शासनपद्धतिका पाठ पढाया जाय और उसपर चलनेके लिये प्रेरित किया जाय। इस प्रसगमें जो सर्वथा दुष्ट, अभिमानी प्रजापीडक शासक मिलें उनका कण्टकशोधन भी एक आनुषगिक लक्ष्य मान लिया गया।

तुरंत पुरोहित वृशऋषिको बुलाकर उन्होने सादर प्रार्थना की कि 'प्रभो मैं दिग्विजय-यात्रा करना चाहता हूँ। इसमें स्वय आपको मेरा सारथ्य स्वीकार करना होगा।'

ऋषिने कहा—'जैसी महाराजकी इच्छा। क्या आप बता सकते हैं कि मैंने अपने यजमानकी कभी किसी इच्छाका सम्मान नहीं किया?'

महाराजने कहा—'ऋषे इस कृपाके लिये मैं अनुगृहीत हूँ।'

(२)

आज महाराज ऐक्ष्वाक त्रैवृष्ण त्र्यरुणकी विजय-यात्राका सुमुहूर्त है। इसके लिये कई दिनोसे तैयारियाँ चली आ रही हैं। चतुरगवाहिनी पूरे साज-सामानके साथ सज्ज है। सुन्दर भव्य रथ अनेकानेक अलंकरणोसे सजाया गया है। महाराज त्र्यरुणने प्राचीन वीरोका बाना पहन लिया है— सिरपर शिप्रा (लौहनिर्मित शिरस्त्राण) और शरीरमें द्रापि [illegible])। वामहस्तमें धनुप तो दक्षिण हस्तमें कुन्त [illegible]बाणखचित तूणीर पीठपर लटक रहा है तथा [illegible]चर्म निर्मित पादत्राण (जूते)। पुरोहित [illegible] वलकल वसनामें विराजते, आज [illegible] घोड़ाकी रास पकड़े रथके [illegible] विशां (प्रजा)-के [illegible] थी? रण-दुन्दुभि [illegible] लिये। [illegible] उधर ही [illegible] लगती।

एक नहीं दो नहीं—दसियों शतियो, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओंके जनपदोके सामन्त और पुरोंके राजा बहुमूल्य भेंटोंके साथ हृदयके भावसुमन महाराजके चरणोंपर चढाते, स्वागतके लिये पलक-पाँवडे बिछाते, तो कुछ ऐसे भी मिलते जो अपने-अपने सुरक्षित बलसे महाराज त्र्यरुणकी सेनाके साथ दो-दो हाथ करनेको तैयार रहते। महाराज जहाँ प्रजापीडक, मदमत्त शासकोका गर्व चूर कर उन्हें सन्मार्गका पथिक बनाते, वहीं पुत्रकी तरह प्रजाके पालक शासकोका अभिनन्दन करते और उन्हें सन्मार्गनिष्ठ बने रहनेके लिये प्रोत्साहित करते।

महाराज त्र्यरुणकी यह विजय-यात्रा किसीके लिये उत्पीडक नहीं हुई। उन्होंने प्रत्येक सत्पथ-पथिकका आप्यायन ही किया। यही कारण है कि इस विजय-यात्रासे सर्वत्र जनसाधारणमे उत्साहकी अपूर्व बाढ आ गयी। यात्रा जहाँ प्रस्थान करती, वहीं जनसाधारण नागरिक एव जनपदवासी सहस्रोकी सख्यामें उसकी शोभा देखने जुट जाते।

कुछ ही दिनोमे सर्वत्र विजय-वैजयन्ती फहराते हुए महाराज त्र्यरुण बडे उल्लासके साथ अपनी राजधानीकी ओर लौट रहे थे। राज्यकी सारी जनता उनके दर्शनार्थ उमड पडी। व्यवस्थापकोके लिये जनतापर नियन्त्रण पाना कठिन हो रहा था। सर्वत्र उत्साह और उल्लासका वातावरण छाया था कि अकस्मात् रगमे भग हो गया। लाख ध्यान देने और बचानेपर भी शोभायात्राके दर्शनार्थ उतावला एक अबोध ब्राह्मण-बालक रथ-चक्रके बीचमे आ गया और सारा मजा किरकिरा हो गया। सर्वत्र 'अब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्' की ध्वनि गूँज उठी।

राजकीय रथसे कुचलकर एक ब्राह्मण-बालककी हत्या हो जाय जिसपर आरूढ हो सम्राट् और जिसे हाँकनेवाले हों साम्राज्यके पुरोहित! अब अपराधी किसे माना जाय? प्रजाके लिये यह बहुत बड़ा यक्ष प्रश्न उपस्थित हो गया। वादी थे उनके सम्राट् त्रैवृष्ण और प्रतिवादी थे ब्रह्मवर्चस्वी पुरोहित ऋषि वृश।

उपस्थित जनसमुदाय ही न्यायकर्ता बना। उसके प्रमुख नायकके समक्ष दोनोंने अपने-अपने तर्क रखे। महाराजने कहा—'पुरोहित रथके चालक थे। उन्हें इसकी सावधानी रखनी चाहिये थी। ब्राह्मण-बालककी हत्याका दोष उनपर भी है।'

पुरोहितने कहा—'वास्तवमें रथके स्वामी रथी तो महाराज हैं और मैं तो हूँ सारथि। वे ही मुख्य हैं और मैं गौण। अवश्य ही रथकी बागडोर मेरे हाथमे रही पर फलके भागी तो महाराज ही हैं। जब सैनिकोके युद्ध जीतनेपर भी विजयफल, विजयका सेहरा राजाके ही सिरपर रखा जाता है, तो रथी होनेके कारण ब्राह्मण-बालककी हत्याका दोष भी उनपर ही मढा जाना चाहिये।'

निर्णायकोकी समझमे कुछ नहीं आ रहा था। पुरोहितका कहना न्यायसंगत तो लगता, पर महाराजका मोह और प्रभाव उन्हे न्यायसे विचलित करने लगता। अन्तत यही हुआ। निर्णायक सत्ताके प्रभावमे आ गये और उन्होंने महाराजको निर्दोष और पुरोहितको दोषी घोषित कर दिया।

पुरोहित राष्ट्रिय हितकी दृष्टिसे मौन रह गये। उन्होने प्रतिवादमें एक भी शब्द नहीं कहा।

सभी उपस्थित जन स्तब्ध थे। इसी बीच पुरोहितने वार्ष सामका मजुल गान गाया। फलस्वरूप अकस्मात् मृत ब्राह्मण-बालक जी उठा। सभी यह देख आश्चर्यचकित रह गये, पर पुरोहित यह कहते चले गये कि ऐसे राज्यमें रहना किसी मनस्वी पुरुषके लिये उचित नहीं। सबने रोकनेका बहुत प्रयत्न किया, परतु ऋषिने किसीकी एक न सुनी।

(३)

ब्राह्मण-बालकके जी जानेसे लोगोके आनन्दका ठिकाना न रहा पर पुरोहितको ही अपराधी घोषित करना और उनका राज्यसे चले जाना सबको खटकने लगा। कारण यह समस्त राज्यके लिये खतरेसे खाली नहीं था क्योंकि पुरोहितको 'राष्ट्रगोप' माना गया है। वे अपने तपोबल और मन्त्रशक्तिसे सारे राष्ट्रकी सब प्रकारसे रक्षा किया करते हैं। वे पाँच ज्वालाओसे युक्त वैश्वानर कहे गये हैं। उनकी वाणी-स्थित प्रथम ज्वाला स्वागत एव सम्मानपूर्ण वचनासे शान्त की जाती है। पाद्यके लिये जल लानेसे पादस्थित ज्वाला शान्त होती है। शरीरको नाना अलंकरणासे अलकृत कर देनपर त्वक्-स्थित ज्वालाका शमन होता है नितान्त

पूज्य सदैव सम्माननीय

वेद-शास्त्रादि विभिन्न ग्रन्थोंमे पूज्योका आदर करने तथा उनका कभी अपमान न करनेके अनेक वचन और कितने ही उदाहरण मिलते हैं। इसीलिये नीति-वचनमे कहा गया है—

अप्युन्नतपदारूढ पूज्यान् नैवापमानयेत्।
इक्ष्वाकूणा ननाशाग्नेस्तेजो वृशावमानत ॥

अर्थात् कोई कितने ही ऊँचे पदपर पहुँच जाय भूलकर भी पूज्याका अपमान न करे, क्योंकि इक्ष्वाकुवंशीय त्रैवृष्ण त्र्यरुण राजाने अपने पुरोहित वृशऋषिका अपमान किया तो उनके राज्यमें अग्निका तेज ही नष्ट हा गया। यह अद्भुत वैदिक कथा इस प्रकार है—

(१)

सप्तसिन्धवके प्रतापशाली सम्राटोमें इक्ष्वाकुवशीय महाराज त्रैवृष्ण त्र्यरुण अत्यन्त प्रतापी और उच्च कोटिके विद्वान् राजा हुए हैं। सत्यनिष्ठा, प्रजावत्सलता उदारता आदि सभी प्रशसनीय सद्गुण मानो उन-जैसे सत्पात्रमे बसनेके लिये अहमहमिकासे लालायित रहते। समन्वयके उस सेतुको पाकर ससारमें प्राय दीखनेवाला लक्ष्मी-सरस्वतीका विराध भी मानो सदाके लिये मिट गया।

महाराजकी तरह उनके पुरोहित वृशऋषि भी उच्च कोटिके अद्वितीय विद्वान्, मन्त्रद्रष्टा आभिचारिकादि कर्मोंमें अतिनिष्णात ब्रह्मवेत्ता थे। साथ ही वे अत्यन्त शूर-वीर भी थे।

प्राचीन भारतीय राजनीतिमें पुरोहित राजाकी मन्त्रि-परिषद्का प्रमुख घटक माना जाता था। जहाँ राजाकी क्षात्र-शक्ति प्रजामे आधिभौतिक सुख-सुविधा और शान्तिके प्रस्थापनार्थ समस्त लौकिक साधनोका सयोजन और बाधक तत्त्वोका विघटन करती थी वहाँ पुरोहितकी ब्राह्मशक्ति आध्यात्मिक एव आधिदैविक सुख-शान्तिके साधन जुटाने और आधिदैविक बाधाओके मिटा देनेके काम आती। इस तरह 'इदं ब्राह्ममिद क्षात्रम्' दोनो प्रकारसे पोपित महाराज त्रैवृष्णकी प्रजा सर्वविध सुख-सुविधाआसे परिपूर्ण रहा करती। वृशऋषि-जैसे सर्वसमर्थ पुराहितके मणि-काञ्चन-योगसे त्रैवृष्णके राज्यशकटके दोना चक्र सुपुष्ट सुदृढ बन गये थे। फलत प्रजावर्गमें सुख-शान्तिका साम्राज्य छाया हुआ था।

एक बार महाराजने सोचा कि दिग्विजय-यात्रा की जाय। इसमे उनका एकमात्र अभिप्राय यही था कि सभी शासक एक राष्ट्रिय भावमें आबद्ध हो कार्य करें। वे किसी राजाको जीत करके उसकी सम्पत्तिसे अपना कोष भरना नहीं चाहते थे। प्रत्युत उनका यही लक्ष्य था कि इस अभियानमें विजित सम्पत्ति उसी विजित राजाको लौटाकर उसे आदर्श शासनपद्धतिका पाठ पढाया जाय और उसपर चलनेके लिये प्रेरित किया जाय। इस प्रसगमें जो सर्वथा दुष्ट, अभिमानी प्रजापीडक शासक मिलें, उनका कण्टकशोधन भी एक आनुषगिक लक्ष्य मान लिया गया।

तुरत पुरोहित वृशऋषिको बुलाकर उन्होंने सादर प्रार्थना की कि 'प्रभो मैं दिग्विजय-यात्रा करना चाहता हूँ। इसमे स्वय आपको मेरा सारथ्य स्वीकार करना होगा।'

ऋषिने कहा—'जैसी महाराजकी इच्छा! क्या आप बता सकते हैं कि मैंने अपने यजमानकी कभी किसी इच्छाका सम्मान नहीं किया?'

महाराजने कहा—'ऋषे, इस कृपाके लिये मैं अनुगृहीत हूँ।'

(२)

आज महाराज ऐक्ष्वाक त्रैवृष्ण त्र्यरुणकी विजय-यात्राका सुमुहूर्त है। इसके लिये कई दिनासे तैयारियाँ चली आ रही हैं। चतुरगवाहिनी पूरे साज-सामानके साथ सज्ज है। सुन्दर भव्य रथ अनेकानेक अलंकरणोसे सजाया गया है। महाराज त्र्यरुणने प्राचीन वीरोका बाना पहन लिया है— सिरपर शिप्रा (लौहनिर्मित शिरस्त्राण) और शरीरमें द्रापि (कवच)। वामहस्तमें धनुष तो दक्षिण हस्तमे कुन्त (भाला) एव बाणखचित तूणीर पीठपर लटक रहा है तथा पैरोम पडे हैं वाराहचर्म निर्मित पादत्राण (जूते)। पुरोहित वृशऋषि भी, जा कभी वलकल वसनाम विराजते, आज कवच-शिरस्त्राणसे सुशोभित हो घोडोकी रास पकडे रथके अग्र भागपर विराजते दीख पड़े। विशा (प्रजा)-के आश्चर्यका ठिकाना न रहा फिर देर क्या थी? रण-दुन्दुभि बज उठी और सवारी निकल पडी विजयके लिये।

महाराज त्र्यरुणकी सवारी जिधर जाती उधर ही विजयश्री हाथमे जयमाला लिये अगवानी करने लगती।

एक नहीं दो नहीं—दसियों, शतिया पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण सभी दिशाओंके जनपदोंके सामन्त और पुरोके राजा बहुमूल्य भेटोंके साथ हृदयके भावसुमन महाराजके चरणोंपर चढ़ाते स्वागतके लिये पलक-पाँवडे बिछाते, तो कुछ ऐसे भी मिलते जो अपने-अपने सुरक्षित बलसे महाराज त्र्यरुणकी सेनाके साथ दो-दो हाथ करनेको तैयार रहते। महाराज जहाँ प्रजापीडक, मदमत्त शासकोका गर्व चूर कर उन्हें सन्मार्गका पथिक बनाते वहीं पुत्रकी तरह प्रजाके पालक शासकोंका अभिनन्दन करते और उन्हे सन्मार्गनिष्ठ बने रहनेके लिये प्रोत्साहित करते।

महाराज त्र्यरुणकी यह विजय-यात्रा किसीके लिये उत्पीडक नहीं हुई। उन्होने प्रत्येक सत्पथ-पथिकका आप्यायन ही किया। यही कारण है कि इस विजय-यात्रासे सर्वत्र जनसाधारणमे उत्साहकी अपूर्व बाढ आ गयी। यात्रा जहाँ प्रस्थान करती, वहीं जनसाधारण नागरिक एवं जनपदवासी सहस्रोकी सख्यामे उसकी शोभा देखने जुट जाते।

कुछ ही दिनामे सर्वत्र विजय-वैजयन्ती फहराते हुए महाराज त्र्यरुण बड़े उल्लासके साथ अपनी राजधानीकी ओर लौट रहे थे। राज्यकी सारी जनता उनके दर्शनार्थ उमड पडी। व्यवस्थापकोके लिये जनतापर नियन्त्रण पाना कठिन हो रहा था। सर्वत्र उत्साह और उल्लासका वातावरण छाया था कि अकस्मात् रगमें भग हो गया। लाख ध्यान देने और बचानेपर भी शोभायात्राके दर्शनार्थ उतावला एक अबोध ब्राह्मण-बालक रथ-चक्रके बीचमे आ गया और सारा मजा किरकिरा हो गया। सर्वत्र 'अब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्' की ध्वनि गूँज उठी।

राजकीय रथसे कुचलकर एक ब्राह्मण-बालककी हत्या हो जाय जिसपर आरूढ हो सम्राट् और जिसे हाँकनेवाले हो साम्राज्यके पुरोहित। अब अपराधी किसे माना जाय? प्रजाके लिये यह बहुत बड़ा यक्ष प्रश्न उपस्थित हो गया। वादी थे उनके सम्राट् त्रैवृष्ण और प्रतिवादी थे ब्रह्मवर्चस्वी पुरोहित ऋषि वृश।

उपस्थित जनसमुदाय ही न्यायकर्ता बना। उसके प्रमुख नायकके समक्ष दोनोंने अपने-अपने तर्क रखे। महाराजने कहा—'पुरोहित रथके चालक थे। उन्हे इसकी सावधानी रखनी चाहिये थी। ब्राह्मण-बालककी हत्याका दोष उनपर भी है।'

पुरोहितने कहा—'वास्तवमे रथके स्वामी रथी तो महाराज हैं और मैं तो हूँ सारथि। वे ही मुख्य हैं और मैं गौण। अवश्य ही रथकी बागडोर मेरे हाथमें रही पर फलके भागी तो महाराज ही हैं। जब सैनिकोंके युद्ध जीतनेपर भी विजयफल, विजयका सेहरा राजाके ही सिरपर रखा जाता है तो रथी होनेके कारण ब्राह्मण-बालककी हत्याका दोष भी उनपर ही मढा जाना चाहिये।'

निर्णायकोंकी समझमे कुछ नहीं आ रहा था। पुरोहितका कहना न्यायसगत तो लगता पर महाराजका मोह और प्रभाव उन्हे न्यायसे विचलित करने लगता। अन्तत वही हुआ। निर्णायक सत्ताके प्रभावमे आ गये और उन्होने महाराजको निर्दोष और पुरोहितको दोषी घोषित कर दिया।

पुरोहित राष्ट्रिय हितकी दृष्टिसे मौन रह गये। उन्होने प्रतिवादमें एक भी शब्द नहीं कहा।

सभी उपस्थित जन स्तब्ध थे। इसी बीच पुरोहितने वार्ष सामका मजुल गान गाया। फलस्वरूप अकस्मात् मृत ब्राह्मण-बालक जी उठा। सभी यह देख आश्चर्यचकित रह गये पर पुरोहित यह कहते चले गये कि ऐसे राज्यमें रहना किसी मनस्वी पुरुषके लिये उचित नहीं। सबने रोकनेका बहुत प्रयत्न किया परतु ऋषिने किसीकी एक न सुनी।

(३)

ब्राह्मण-बालकके जी जानेसे लोगोंके आनन्दका ठिकाना न रहा पर पुरोहितको ही अपराधी घोषित करना और उनका राज्यसे चले जाना सबको खटकने लगा। कारण यह समस्त राज्यके लिये खतरेसे खाली नहीं था क्योंकि पुरोहितको 'राष्ट्रगोप' माना गया है। ये अपने तपोबल और मन्त्रशक्तिसे सारे राष्ट्रकी सब प्रकारसे रक्षा किया करते हैं। ये पाँच ज्वालाओसे युक्त वैश्वानर कहे गये हैं। उनकी वाणी-स्थित प्रथम ज्वाला स्वागत एव सम्मानपूर्ण वचनासे शान्त की जाती है। पाद्यके लिये जल लानेसे पादस्थित ज्वाला शान्त होती है। शरीरको नाना अलकरणासे अलकृत कर देनेपर त्वक्-स्थित ज्वालाका शमन होता है नितान्त

तर्पणसे हृदयस्थित ज्वाला और घरम पूर्ण स्वातन्त्र्य देनेसे उनकी उपस्थकी ज्वाला शान्त होती है। अत राजाका कर्तव्य है कि वह पुरोहित-रूप वैश्वानरकी इन पाँचों ज्वालाओको उन-उन वस्तुओके सयोजनसे शान्त रखे। अन्यथा वह आग राष्ट्रको भस्म कर डालती है।

यहाँ तो ऋषि वृश पुरोहितके अपमान और उससे क्रुद्ध हो उनके चले जानेसे राष्ट्रको उनकी ज्वालाओने नहीं जलाया। कारण, वे स्वभावत बडे दयालु थे, पर उनके चले जानेके साथ पूरे राज्यसे ही अग्नि उठ गया।

सायकाल होते-होते राजभवनके बाहर प्रजाजनोका समुद्र उमड पडा और एक ही आक्रोश मचा—'हमे आग दो। सारे परिवार दिनभरसे भूखे हैं। आग सुलगाते-सुलगाते पूरा दिन बीत गया, पर उसमे तेज ही नहीं आता। चूल्हा जलता ही नहीं रसोई पके तो कैसे? हमार बाल-बच्चे भूखसे छटपटा रहे हैं।

महाराज त्रैवृष्ण बरामदेमें आ गये। अपनी प्रजाकी यह दशा देख उन्हे भी अत्यन्त दु ख हुआ। यह समझते देर न लगी कि यह पूज्य पुराहितके अपमानका ही दुष्परिणाम है। उन्होंने प्रजाजनोसे थोडा धैर्य रखनेको कहा और अपने प्रमुख अधिकारियाको आदेश दिया कि 'जहाँ-कहीं पुरोहितजी मिले, उन्हे बडे आदर और नम्रताके साथ मेरे पास शीघ्र-से-शीघ्र लाया जाय।'

सम्राट्का कठोरतम आदेश! उसके पालनमे देर कहाँ? चारो ओर चर भेजे गये और अन्तत पुरोहितको ढूँढ ही निकाला गया। वे निकटवर्ती दूसरे किसी सामन्तके राज्यम एक उद्यानम बैठे हुए थे।

राजकीय अधिकारी पुरोहितको ले आये तो महाराज उनके चरणापर गिर पडे और कहने लगे—'महाराज! क्षमा करे और किसी तरह प्रजाको उबारे। आपक चले जानेसे अग्निदेव भी क्रुद्ध हो राज्यभरसे लुप्त हो गये।'

ब्राह्मण-हृदय किसीकी पीडा देखते ही पिघल जाता है। प्रजाकी यह दुरवस्था देख ऋषि विचारमें पड कि आखिर हुआ क्या? उन्होने पाँच मिनट ध्यान किया और महाराजसे कहा कि 'अन्त पुरमें चले।'

महाराज आश्चर्यम पड़े कि ऋषि क्या कर रहे हैं! फिर भी चुपचाप वे उनके साथ अन्त पुरमें पधारे। ऋषिने एक खाटके नीचे छिपा रखा एक शिशु महाराजको दिखाया। महाराज कुछ समझ न पाये।

ऋषिने कहा—'महाराज आपकी पत्नियोंमें एक पिशाचिनी बन गयी है। मेरे रहते उसे अपना उत्पात मचानेका अवसर नहीं मिल पाता था। परंतु मेरे यहाँसे जाते ही उसने चट राज्यभरके अग्निसे सारा तेज उठाकर यहाँ शिशुरूपमें छिपा दिया है। यही कारण है कि पूरे राज्यके अग्निसे तेज जाता रहा।'

महाराज स्तब्ध रह गये। वे पुरोहितकी ओर देख करुणाभरी आँखोंसे इस सकटसे उबारनेकी विनम्र प्रार्थना करने लगे।

वृशऋषि शिशुरूपधारी अग्नि-तेजको सम्बुद्ध कर आर्ष-वाणीमे स्तुति करने लगे—

'अग्नि-नारायण! आप बृहत् ज्योतिके साथ प्रदीप्त होते और अपनी महिमासे समस्त सासारिक वस्तुआको प्रकाशित करत हैं। प्रभो, आप असुरोद्वारा फैलायी हुई मायाको दग्ध कर प्रजाजनाको उसके कष्टोंसे बचाते हैं। राक्षसोंके विनाशार्थ शृङ्गो-सी ऊपर उठनवाली अपनी ज्वालाएँ तीक्ष्ण करते है।

'जातवेदा! आप अनेक ज्वालाओसे युक्त हो निरन्तर बढते हुए अपने उपासकोकी कामनाएँ पूरी करते हैं और उन्हें निष्कण्टक धन-लाभ कराते हैं। स्वय अन्य देव आपकी स्तुति करते हैं। भगवन् वैश्वानर! हविको सिद्ध करनेवाले आप मानवमात्रका कल्याण कर। प्रभो, आपके तेजके अभावमें आज सारी प्रजा विपन्न हो बिलख रही है। दयामय दया करे।'

ज्यो ही पुरोहित वृशऋषिकी स्तुति पूर्ण हुई त्या ही वह शिशु अदृश्य पिशाचिनीके बाहुपाशसे छूट सामने अग्निरूपमें प्रकट हो गया। पुन जैसे ही पिशाचिनी उसे पकडने चली वैसे ही ऋषिके मन्त्र-प्रभावसे भस्म हो उसकी राखका ढेर वहाँ लग गया। इस प्रकार अग्निशिशुके मुक्त होनेके साथ घर-घरकी अग्नि प्रज्वलित हो उठी। प्रजावर्गके आनन्दका ठिकाना न रहा।

महाराजने अपने ब्रह्मवर्चस्वी पुरोहित वृशऋषिको

साष्टाङ्ग नमस्कार किया और क्षमा माँगने लगे—'प्रभो, अपने सम्राट् पदके गर्वम आकर मैंने अन्यायपूर्वक आपका घोर अपमान किया, फिर भी आपने कुछ नहीं कहा, चुपचाप ब्राह्मण-बालकके जीवनदानका मुझपर अनुग्रह करते हुए चले गये। परतु मैंने जो पाप किया उसका फल मेरी प्रजाको बुरी तरह भुगतना पडा इसका मुझे भारी खेद है। धन्य है आपकी क्षमाशीलता और प्रजावत्सलता, जो आज आपने मुझे और मेरी प्रजाको पुन उबार कर कृतार्थ किया।'

पुरोहितने राजाको यह कहकर उठाया और गले लगाया कि 'महाराज, इसमे मैंने क्या विशेष किया? आपके राज्यका पुरोहित होनेके नाते प्रजाका कष्ट-निवारण मेरा कर्तव्य ही है।'

महाराजके नेत्रोंसे दो अश्रु ऋषिके चरणोपर लुढक पडे।

ऋग्वेदमें इस कथाका इस प्रकार सकेत किया गया है—

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्माया सहते दुरेवा 'शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥
(ऋक्० ५।२।९)

अर्थात् वृशऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे अग्निकी स्तुति करते हुए कहते हैं—'हे अग्निदेव, आप अत्यन्त महत् तेजसे विद्योतित हाते हैं और अपनी इसी महिमासे सारे विश्वको प्रकाशित करते हैं। प्रदीप्त अग्नि दुस्सह आसुरी (अदेवी) मायाको नष्ट कर देते हैं। आप राक्षसोंके विनाशार्थ अपनी शृगसदृश ज्वालाओको तीक्ष्ण करते हैं।'

ऋग्वेदके अतिरिक्त बृहद्देवता (५।१४—२३), शाट्यायन ब्राह्मण एव ताण्ड्य महाब्राह्मण (१३। ३। १२)-मे भी इस कथाका निदर्शन हुआ है।

(श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी महाराज)
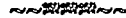
सगतिका फल

(१)

वासनाका राज्य अखण्ड है। वासनाका विराम नहीं। फल मिलनेपर यदि एक वासनाको हम समाप्त करनेमे समर्थ भी होते हैं, तो न जाने कहाँसे दूसरी और उससे भी प्रबल अनेकानेक वासनाएँ पनप जाती हैं। प्रबल कारणोसे कतिपय वासनाएँ कुछ कालके लिये सुप्त अवश्य हो जाती हैं, परतु किसी उत्तेजक कारणके आते ही वे जाग पड़ती हैं। भला, कोई स्वप्नमे भी सोच सकता था कि महर्षि सोभरि काण्वका दृढ वैराग्य मीनराजके सुखद गार्हस्थ्य-जीवनको देख वायुके एक हलके-से झकोरेसे जडसे उखड़कर भूतलशायी बन जायगा।

महर्षि सोभरि कण्व-वशके मुकुट थे उन्हाने वेद-वेदाङ्गका गुरु-मुखसे अध्ययन कर धर्मका रहस्य भली-भाँति जान लिया था। उनका शास्त्र-चिन्तन गहरा था परंतु उससे भी अधिक गहरा था उनका जगत्के प्रपञ्चोसे वैराग्य। जगत्के समग्र विषय-सुख क्षणिक हैं। चित्तको उनसे असली शान्ति नहीं मिल सकती। तब कोई विवेकी पुरुष अपने अनमोल जीवनको इन कौडीके तीन विषयाकी ओर क्यो लगायेगा? आजका विशाल सुख कल ही अतीतकी स्मृति बन जाता है। पलभरम सुखकी सरिता सूखकर मरुभूमिके विशाल बालूके ढेरके रूपमे परिणत हो जाती है तब कौन विज्ञ पुरुष इस सरिताके सहारे अपनी जीवन-वाटिकाको हरी-भरी रखनेका उद्योग करेगा? सोभरिका चित्त इन भावनाआकी रगडसे इतना चिकना बन गया था कि पिता-माताका विवाह करनेका प्रस्ताव चिकने घडेपर जल-बूँदके समान उसपर टिक न सका। उन्होने बहुत समझाया, 'अभी भरी जवानी है, अभिलाषाएँ उमडी हुई हैं तुम्हारे जीवनका यह नया वसन्त है, कामना-मञ्जरीके विकसित होनेका उपयुक्त समय है रस-लोलुप चित्त-भ्रमरको इधर-उधरसे हटाकर सरस माधवीके रसपानमें लगाना है। अभी वैराग्यका बाना धारण करनका अवसर नहीं।' परतु सोभरिने किसीके शब्दोपर कान न दिया। उनका कान तो वैराग्यसे भरे अध्यात्म-सुखमे सने मजुल गीताको सुननेमें न जाने कबमे लगा हुआ था।

पिता-माताका अपने पुत्रको गार्हस्थ्य-जीवनमें लानेका उद्योग सफल न हो सका। पुत्रके हृदयमे भी देरतक द्वन्द्व मचा रहा। एक बार चित्त कहता—माता-पिताके वचनाका अनादर करना पुत्रके लिये अत्यन्त हानिकारक है। परतु

दूसरी बार एक विरोधी वृत्ति धक्का देकर सुझाती— 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति।' आत्म-कल्याण ही सबसे बडी वस्तु ठहरी। गुरुजनोके वचनो और कल्याण-भावनामे विरोध होनेपर हमें आत्म-कल्याणसे पराङ्मुख नहीं होना चाहिये। सोभरि इस अन्तर्युद्धको अपने हृदयके कोनेमें बहुत देरतक छिपा न सके और घरसे सदाके लिये नाता तोडकर उन्होने इस युद्धको भी विराम दिया। महर्षिके जवानीमें ही वैराग्य और अकस्मात् घर छोडनेसे लोगोके हृदय विस्मित हो उठे।

(२)

पवित्र नदीतट था। कल्लोलिनी कालिन्दी कल-कल करती हुई बह रही थी। किनारेपर उगे हुए तमाल-वृक्षोंकी सघन छायामें रंग-बिरगी चिडियोंका चहकना कानामें अमृत उडेल रहा था। घने जगलके भीतर पशु स्वच्छन्द विचरण करते थे और नाना प्रकारके विघ्नोसे अलग रहकर विशेष सुखका अनुभव करते थे। सायकाल गोधूलिकी भव्य वेलामें गायें दूधसे भरे थनोंके भारसे झुकी हुई जब मन्द गतिसे दूरके गाँवाकी ओर जाती थीं, तब यह दृश्य अनुपम आनन्द उत्पन्न करता था। यमुनाकी सतहपर शीतल पवनके हलके झकोरोंसे छोटी-छोटी लहरियाँ उठती थीं और भीतर मछलियाके झुण्ड-के-झुण्ड इधर-से-उधर कूदते हुए स्वच्छन्दताके सुखका अनुभव कर रहे थे। यहाँ था शान्तिका अखण्ड राज्य। इसी एकान्त स्थानको सोभरिने अपनी तपस्याके लिये पसन्द किया।

सोभरिके हृदयमे तपस्याके प्रति महान् अनुराग तो था ही, स्थानकी पवित्रता तथा एकान्तताने उनके चित्तको हठात् अपनी आर खींच लिया। यमुनाके जलके भीतर वह तपस्या करने लगे। भाद्रपदमे भयकर बाढके कारण यमुना-जल बडे ही वेगसे बढ़ने और बहने लगता, परतु ऋषिके चित्तमें न तो किसी प्रकारका बढ़ाव था और न किसी प्रकारका बहाव। पौष-माघकी रातामे पानी इतना ठडा हो जाता कि जल-जन्तु भी ठडके कारण काँपते परंतु मुनिके शरीरमें जल-शयन करनेपर भी किसी प्रकारकी जडता न आती। वर्षाके साथ-साथ ऐसी ठंडी हवा चलती कि प्राणिमात्रके शरीर सिकुड़ जाते, परतु ऋषिके शरीरमे तनिक भी सिकुडन न आती। ऐसी विकट तपस्याका क्रम बहुत वर्षोंतक चलता रहा। सोभरिको वह दिन याद था, जब उन्हाने तपस्याके निमित्त अपने पिताका आश्रम छोडकर यमुनाका आश्रय लिया था। उस समय उनकी भरी जवानी थी, परंतु अब? लंबी दाढी और मुलायम मूँछोपर हाथ फेरते समय उन्हे प्रतीत होने लगता कि अब उनकी उम्र ढलने लगी है। जो भी उन्हें देखता आश्चर्यचकित हो जाता। इतनी विकट तपस्या! शरीरपर इतना कठोर नियन्त्रण! सर्दी-गर्मी सह लेनेकी इतनी अधिक शक्ति! दर्शकाके आश्चर्यका ठिकाना न रहता। परंतु महर्षिके चित्तकी विचित्र दशा थी। वह नित्य यमुनाके श्यामल जलमें मत्स्यराजकी अपनी प्रियतमाके साथ रतिक्रीडा देखते-देखते आनन्दसे विभोर हो जाते। कभी पति अपनी मानवती प्रेयसीके मानभजनके लिये हजारों उपाय करते-करते थक जानेपर आत्मसमर्पणके मोहनमन्त्रके सहारे सफल होता और कभी वह मत्स्यसुन्दरी इठलाती नाना प्रकारसे अपना प्रेम जताती, अपने प्रियतमकी गोदका आश्रय लेकर अपनेको कृतकृत्य मानती। झुड-के-झुड बच्चे मत्स्य-दम्पतिके चारो ओर अपनी ललित लीलाएँ किया करते और उनके हृदयमें प्रमोद-सरिता बहाया करते।

ऋषिने देखा गार्हस्थ्य-जीवनमे बडा रस है। पति-पत्नीके विविध रसमय प्रेम-कल्लोल! बाल-बच्चोंका स्वाभाविक सरल सुखद हास्य! परतु उनके जीवनमें रस कहाँ? रस (जल)-का आश्रय लेनेपर भी चित्तमें रसका नितान्त अभाव था। उनकी जीवन-लताको प्रफुल्लित करनेके लिये कभी वसन्त नहीं आया। उनके हृदयकी कलीको खिलानेके लिये मलयानिल कभी न बहा। भला, यह भी कोई जीवन है। दिन-रात शरीरको सुखानका उद्योग चित्तवृत्तियोको दबानेका विफल प्रयास। उन्हे जान पडता मछलियोके छोटे-छोटे बच्चे उनके नीरस जीवनकी खिल्ली उडा रहे हैं।

सगतिने सोई हुई वासनाको जोरोसे झकझोर कर जगा दिया। वह अपनेको प्रकट करनेके लिये मार्ग खोजने लगी।

(३)

तपका उद्देश्य केवल शरीरको नाना प्रकारके साधनोसे तप्त करना नहीं है, प्रत्युत मनका तप्त करना है। सच्चा तप मनमें जमे हुए कामके कूडे-करकटको जलाकर राख बना

देता है। आगमें तपाये हुए सोनेकी भाँति तपस्यासे तपाया गया चित्त खरा उतरता है। तप स्वय अग्निरूप है। उसकी साधना करनेपर क्या कभी चित्तमें अज्ञानका अन्धकार अपना घर बना सकता है? उसकी ज्वाला वासनाओको भस्म कर देती है और उसका प्रकाश समग्र पदार्थोंको प्रकाशित कर देता है। शरीरको पीडा पहुँचाना तपस्याका स्वांगमात्र है। नहीं तो, क्या इतने दिनोकी घोर तपस्याके बाद भी सोभरिके चित्तमे प्रपञ्चसे विरति (ससारसे वैराग्य) और भगवान्‌के चरणोंमे सच्ची रति न होती?

वैराग्यसे वैराग्य ग्रहण कर तथा तपस्याको तिलाञ्जलि देकर महर्षि सोभरि प्रपञ्चकी ओर मुड़े और गृहस्थी जमानेमें जुट गये। विवाहकी चिन्ताने उन्हे कुछ बेचैन कर डाला। गृहिणी घरकी दीपिका है धर्मकी सहचारिणी है। पत्नीकी खोजमें उन्ह दूर-दूर जाना पड़ा। रत्न खोज करनेपर ही प्राप्त होता है, घरके कोनेमें अथवा दरवाजेपर बिखरा हुआ थोडे ही मिलता है। उस समय महाराज त्रसदस्युके प्रबल प्रतापके सामने सप्तसिधुके समस्त नरेश नतमस्तक थे। यह पुरुवशके मणि थे पुरुकुत्सके पुत्र थे। उनका 'त्रसदस्यु' नाम नितान्त सार्थक था। आर्योंकी सभ्यतासे सदा द्वेष रखनेवाले दस्युओके हृदयमें इनके नाममात्रसे कम्प उत्पन्न हो जाती थी। यह सप्तसिधुके पश्चिमी भागपर शासन करते थे। महर्षिको यमुनातटसे सुवास्तु (सिधुनदकी सहायक स्वात नदी)-के तीरपर राजसभामे सहसा उपस्थित देखकर उन्हें उतना आश्चर्य नहीं हुआ जितना उनके राजकुमारीसे विवाह करनेके प्रस्तावपर। इस वृद्धावस्थाम इतनी कामुकता! इनके तो अब दूसरे लोकमे जानेके दिन समीप आ रहे हैं, परतु आज भी इस लोकमे गृहस्थी जमानेका यह आग्रह है! परंतु सोभरिकी इच्छाका विघात करनेसे भी उन्हें भय मालूम होता था। उनके हृदयम एक विचित्र द्वन्द्व मच गया। एक ओर तो वे अभ्यागत तपस्वीकी कामना पूर्ण करना चाहते थे, परंतु दूसरी ओर उनका पितृत्व चित्तपर आघात देकर कह रहा था—इस वृद्ध जरद्‌वके गलेमें अपनी सुमन-सुकुमार सुताको मत बाँधो। राजाने इन विरोधी वृत्तियोको बडी कुशलतासे अपने चित्तके कानम दबाकर सोभरिके सामने स्वयवरका प्रस्ताव रखा। उन्होने कहा 'क्षत्रिय-कुलकी कन्याएँ गुणवान् पतिका स्वय वरण किया करती हैं। अत आप मेरे साथ अन्त पुरमे चलिये। जो कन्या आपको अपना पति बनाना स्वीकार करेगी, उसे मैं आपके साथ विधिवत् विवाह दूँगा।' राजा वृद्धको अपने साथ लेकर अन्त पुरमें चले परतु उनके कौतुककी सीमा न रही, जब वह वृद्ध अनुपम सर्वांगशोभन युवकके रूपमें महलमे दीख पडा। रास्तेमे ही सोभरिने तपस्याके बलसे अपना रूप बदल डाला। जो देखता वही मुग्ध हो जाता। स्निग्ध श्यामल शरीर, ब्रह्मतेजसे चमकता हुआ चेहरा, उन्नत ललाट, अङ्गोंमें यौवनसुलभ स्फूर्ति, नेत्रोमें विचित्र दीप्ति जान पडता था मानो स्वय अनग अङ्ग धारण कर रतिकी खोजमे सजे हुए महलोंके भीतर प्रवेश कर रहा हो। सुकुमारी राजकन्याओकी दृष्टि इस युवक तापसपर पडी। चार आँखे होते ही उनका चित्तभ्रमर मुनिके रूप-कुसुमकी माधुरी चखनेके लिये विकल हो उठी। पिताका प्रस्ताव सुनना था कि सबने मिलकर मुनिको घेर लिया और एक स्वरसे मुनिको वरण कर लिया। राजाने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

सुवास्तुके सुन्दर तटपर विवाह-मण्डप रचा गया। महाराज त्रसदस्युने एक साथ अपनी पचास पुत्रियाका विवाह महर्षि सोभरि काण्वके साथ पुलकितवदन होकर कर दिया और दहेजमे विपुल सम्पत्ति दी—सत्तर-सत्तर गायोके तीन झुण्ड श्याम वर्ण वृषभ जा इन सबके आगे-आगे चलता था अनेक घोडे नाना प्रकारके रग-बिरगे कपडे, अनमोल रत्न। गृहस्थ-जीवनको रसमय बनानेवाली समस्त वस्तुओको एक साथ एक ही जगह पाकर मुनिकी कामना-वल्ली लहलहा उठी। इन चीजोंसे सज-धजकर रथपर सवार हो मुनि जब यमुना-तटकी ओर आ रह थे उस समय रास्तेमें वज्रपाणि भगवान् इन्द्रका देवदुर्लभ दर्शन उन्हे प्राप्त हुआ। ऋषि आनन्दसे गद्‌गद स्वरमें स्तुति करने लगे—

'हे भगवन्! आप अनाथोके नाथ हैं और हम लोग बन्धुहीन ब्राह्मण हैं। आप प्राणियाकी कामनाआकी अति शीघ्र पूर्ति करनेवाले हैं। आप सोमपानक लिये अपने तजके साथ हमारे यहाँ पधारिये।'

स्तुति किसको प्रसन्न नहीं करती। इस स्तुतिको सुनकर देवराज अत्यन्त प्रसन्न हुए और ऋषिसे आग्रह करने लगे कि वर माँगो। सोभरिने अपने मस्तकको झुकाकर विनयभरे शब्दोमें कहना आरम्भ किया 'प्रभो! मरा यौवन सदा बना

रहे, मुझमे इच्छानुसार नानारूप धारण करनेकी शक्ति हो, अक्षय रति हो और इन ५० खास पत्नियाके साथ एक ही समय रमण करनेकी सामर्थ्य मुझमें हो जाय। वह विश्वकर्मा मेरे लिये सानेके महल बना दें, जिनके चारा ओ कल्पवृक्षसे युक्त पुष्प-वाटिकाएँ हो। मेरी पत्नियोमे किसी प्रकारकी स्पर्धा, परस्पर कलह कभी न हो। आपकी दयासे मैं गृहस्थीका पूरा-पूरा सुख उठा सकूँ।'

इन्द्रने गम्भीर स्वरमें कहा, 'तथास्तु।' देवताने भक्तकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। भक्तका हृदय आनन्दसे गद्गद हो उठा।

(४)

वस्तुके पानेकी आशाम जो आनन्द आता है वह उसके मिलनेपर नहीं। मनुष्य उसे पानेके लिये बेचैन बना रहता है, लाखो कोशिश करता है उसकी कल्पनासे ही उसके मुँहसे लार टपकने लगती है, परंतु वस्तुके मिलते ही उसमे विरसता आ जाती है, उसका स्वाद फीका पड़ जाता है, उसकी चमक-दमक जाती रहती है और राज-रोजकी गले पडी वस्तुओंके ढोनेके समान उसका भी ढोना दूभर हो जाता है। गृहस्थीमें दूरसे आनन्द अवश्य आता है, परतु गले पडनेपर उसका आनन्द उड जाता है, केवल तलछट बाकी रह जाता है।

महर्षि सोभरिके लिये गृहस्थीकी लता हरी-भरी सिद्ध नहीं हुई। बडी-बडी कामनाओको हृदयमें लेकर वे इस घाट उतरे थे, परंतु यहाँ विपदाके जल-जन्तुओंके कोलाहलसे सुखपूर्वक खडा होना भी असम्भव हो गया। विचारशील तो वे थे ही। विषया—सुखोको भोगते-भोगते वैराग्य—और अब सच्चा वैराग्य—उत्पन्न हो गया। सोचन लगे—'क्या यही सुखद जीवन है जिसके लिये मैंने वर्षोंकी साधनाका तिरस्कार किया है? मुझे धन-धान्यकी कमी नहीं है, मेरे पास अतुलनीय गो-सम्पत्ति है, भूखकी ज्वालाके अनुभवका अशुभ अवसर मेरे सामने कभी नहीं आया परतु मेरे चित्तम चैन नहीं। कल-कण्ठ कामिनियोंके कोकिल-विनिन्दित स्वरने मेरी जीवन-वाटिकामें वसन्त लानेका उद्योग किया वसन्त आया भी पर उसकी सरसता टिक न सकी। बालक-बालिकाओकी मधुर काकलीने मेरे जीवनोद्यानमे पावसका ले आनेका प्रयत्न किया परंतु मेरा जीवन सदाके लिये हरा-भरा न हो सका। हृदय-वल्ली कुछ कालके लिये जरूर लहलहा उठी परतु पतझडके दिन शीघ्र आ धमके, पत्ते मुरझाकर झड गये। क्या यही सुखमय गार्हस्थ्य-जीवन है? बाहरी प्रपञ्चमे फँसकर मैंने आत्मकल्याणको भुला दिया। मानव-जीवनकी सफलता इसीमे है कि योगके द्वारा आत्मदर्शन किया जाय—'यद्योगेनात्मदर्शनम्' परतु भोगके पीछे मैंने योगको भुला दिया अनात्माके चक्करमें पडकर मैंने आत्माको बिसार दिया और प्रेयोमार्गका अवलम्बन कर मैंने 'श्रेय'—आत्यन्तिक सुखकी उपेक्षा कर दी। भोगमय जीवन वह भयावनी भूल-भुलैया है जिसके चक्करमें पडते ही हम अपनी राह छोड बेराह चलने लगते हैं और अनेक जन्म चक्कर काटनेमे ही बिता देते हैं। कल्याणके मार्गमे जहाँसे चलते हैं घूम-फिरकर पुन वहीं आ जाते हैं। एक डग भी आगे नहीं बढ पाते।'

'कच्चा वैराग्य सदा धोखा देता है। मैं समझता था कि इस कच्ची उम्रमें मेरी लगन सच्ची है परतु मिथुनचारी मत्स्यराजकी सगतिने मुझे इस मार्गमें ला घसीटा। सच्चा वैराग्य हुए बिना भगवान्की ओर बढ़ना प्राय असम्भव-सा ही है। इस विरतिको लानेके लिये साधु-सगति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। बिना आत्मदर्शनके यह जीवन भार है। अब मैं अधिक दिनातक इस बोझको नहीं ढो सकता।'

दूसरे दिन लोगोने सुना—महर्षि सोभरिकी गृहस्थी उजड गयी। महर्षि सच्चे निर्वेदसे यह प्रपञ्च छोड जगलमें चले गये और सच्ची तपस्या करते हुए भगवान्में लीन हो गये। जिस प्रकार अग्निके शान्त होते ही उसकी ज्वालाएँ वहीं शान्त हो जाती हैं उसी प्रकार पतिकी आध्यात्मिक गतिको देखकर पत्नियोने भी उनकी सगतिसे सद्गति प्राप्त की। सगतिका फल बिना फल नहीं रहता। मनुष्यको चाहिये कि वह सज्जनाकी सगतिका लाभ उठाकर अपने जीवनको धन्य बनावे। दुष्टाका सग सदा हानिकारक होता है। विषयी पुरुषके सगमें विषय उत्पन्न न होगा तो क्या वैराग्य उत्पन्न होगा? मनुष्यको आत्मकल्याणके लिये सदा जागरूक रहना चाहिये। जीवनका यही लक्ष्य है। पशु-पक्षीके समान जीना, अपने स्वार्थके पीछे हमेशा लगे रहना मानवता नहीं है।

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

वेदोंमें देवता-तत्त्व

[वेदोमें सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ही 'देव' शब्दसे वाच्य है। यद्यपि धातुकोशो निरुक्त आदिमे सर्वशक्तिमान् दीपकी कान्ति आभा लावण्य, ऐश्वर्य एव अनन्त तथा अक्षय शोभायुक्त नित्य अजर-अमर आनन्द एव सुखमे निमग्न अलौकिक व्यक्तित्वको 'देव' या 'देवता' कहकर निर्दिष्ट कराया गया है तथापि इतने मात्रसे ही देवता-तत्त्वका सम्पूर्ण परिचय नहीं प्राप्त होता।

देवताका रहस्य बृहद्देवता बताती है उसके प्रथमाध्यायके पाँच श्लोको (६१—६५)-से पता चलता है कि इस ब्रह्माण्डके मूलमे एक ही शक्ति विद्यमान है जिसे ईश्वर कहा जाता है। वह 'एकमेवाद्वितीयम्' है। उस एक ब्रह्मकी नानारूपोमे—विविध शक्तियोकी अधिष्ठातृरूपोमे स्तुति की गयी है। नियन्ता एक ही है, इसी मूल सत्ताके विकास सारे देव हैं। इसलिये जिस प्रकार एक ही धागेमे मालाकी सारी मणियाँ ओतप्रोत रहती हैं और उसे केवल माला ही कहा जाता है इसी तरह सूर्य विष्णु, गणेश, वाग्देवी अदिति या जितने देवता है—सबको परमात्मरूपसे माना जाता है।

ऋषियोने जिन प्राकृतिक शक्तियोकी प्रशसा की है—वह उनके स्थूलरूपकी नहीं है, प्रत्युत उनकी अधिष्ठातृ-चेतन-शक्तिकी की है। इस चेतन-शक्तिको वे ऋषि परमात्मासे पृथक् या स्वतन्त्र नहीं मानते—परमात्मरूप ही मानते थे। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमे ही अग्निकी स्तुति की गयी है, किंतु अग्निको परमात्मासे पृथक् मानकर नहीं। ऋषि स्थूल अग्निरूपके ज्ञाता होते हुए भी सूक्ष्म अग्नि—परमात्म-शक्तिरूपके स्तोता और प्रशसक थे। वे मरणशील अग्निमे व्याप्त अमरताके उपासक थे। इसी तरह इन्द्रको भी देवता मानते हुए इन्द्रकी सूक्ष्म शक्तिको परमात्म-शक्तिसे पृथक् नहीं समझते थे—परमात्मरूप समझते थे।

परमात्मा एक हैं। विद्वान् लोग उनकी अनेक प्रकारसे कामना करते हैं। जो कुछ हुआ है जो कुछ होनेवाला है—वह सब कुछ ईश्वर है। ईश्वर देवताओके स्वामी हैं। जैसे—जीवात्माके स्वामी होते हुए भी परमात्मा और जीवात्मा एक हैं उसी तरह देवोंके स्वामी होते हुए भी ईश्वर और देवता एक हैं। इससे 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' का वेदिक उद्घोष सार्थक होता है।

वेदोके प्रत्येक मन्त्रमे देवता-तत्त्व समाहित है। अत इस स्तम्भमे दवतासे सम्बन्धित तात्त्विक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।—सम्पादक]

वेदिक मन्त्रोमे देवताका परिज्ञान

वैदिक ऋषियोने देवताओंक महाभाग्यका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। महाभाग्यशाली होनेके कारण ही वे एक देवताका अनेक रूपोंमे प्रत्यक्ष अनुभव कर उनके रूपानुरूप विविध कार्य-कलापाका वर्णन किये हैं जैसे—

देवताओंका यह ऐश्वर्य ऋषियाको भलीभाँति ज्ञात था इसलिये जिस कामनासे जो ऋषि जिस मन्त्रम जिस देवताकी स्तुति करते हैं उस मन्त्रके वे ही देवता माने जाते हैं[1]। तात्पर्य यह है कि 'अमुक देवताके प्रसादसे अमुक अर्थका स्वामी बनूँगा' इस बुद्धिके साथ जिस मन्त्रम जिस देखताकी स्तुति की गयी उस मन्त्रके वे देवता हुए। यह स्तुति चार प्रकारोंसे की गयी है—१-नामसे २-बन्धुआसे ३-कर्मसे और ४-रूपसे। अर्थात् जिन मन्त्राम अग्नि इन्द्र वरुण आदिके नामोल्लेखपूर्वक उनकी स्तुति की गयी है उन मन्त्रोके अग्नि इन्द्र आदि देवता हैं। जिन मन्त्रोम अग्नि इन्द्र आदिके बन्धुओका नाम लेकर स्तुति की गयी है, उन मन्त्राके भी प्राधान्यत अग्नि इन्द्र आदि देवता होंगे। जिन मन्त्रामें अग्नि इन्द्र आदिके क्रिया-कलापाकी वर्णनात्मक स्तुति का गयी है उन मन्त्राके भी वे ही अग्नि, इन्द्र आदि देवता माने जायँगे और जिन मन्त्रोंमे अग्न्यादि देवोके रूपाके आधारपर स्तुति की गयी है उन मन्त्रोंके भी वे ही अग्न्यादि देवता हागे। इस प्रकार नाम बन्धु, कर्म और रूप—इनमें किसी प्रकारसे जिस मन्त्रमें जिनकी स्तुति की गयी उस मन्त्रके वे देवता हुए।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हाता है कि नाम बन्धु, कर्म और रूपसे जिस मन्त्रम जिस देवताका लक्षण प्रतीत होता है उस मन्त्रका वही दवता होता है। परंतु जिस मन्त्रम नाम-रूपादिके वर्णन नहीं होनेसे दवताक स्वरूपका निर्देश नहीं होता उस मन्त्रका देवता किसे माना

१-यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते। तदैवत स मन्त्रो भवति॥ (निरुक्त ७। १। १)

जाय[1]? इस जिज्ञासाका समाधान करते हुए महर्षि यास्कने बतलाया है—'यद्देवत स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा, तद्देवता भवति।'[2] अर्थात् जिस यज्ञका जो देवता है उस यज्ञमें विनियुक्त होनेवाले अनादिष्ट देवतालिङ्गक मन्त्रोका वही यज्ञिय देवता होगा। जैसे अग्निष्टोम-यज्ञ आग्नेय—'अग्नि-देवताक' है, वहाँ (अग्निष्टोम-यज्ञमें) विनियुक्त होनेवाले अनादिष्ट देवताक मन्त्र आग्नेय होगे। प्रकरणसे वहाँ देवताका निर्णय किया जायगा[3]।

अथवा प्रात सवनमें विनियुक्त होनेवाले अनादिष्ट देवताक मन्त्र आग्नेय, माध्यन्दिनसवनमे विनियुक्त होनेवाले ऐन्द्र तथा सायसवनमें विनियुक्त होनेवाले मन्त्र आदित्य देवताक होगे।

उपर्युक्त विवेचनसे यज्ञ या यज्ञाङ्ग (प्रात , माध्यन्दिन तथा सायसवनों)-में विनियुक्त मन्त्रोका देवता-परिज्ञान तो होता है, परतु यज्ञसे भिन्न स्थलमें विनियुक्त अनादिष्ट-देवताक मन्त्रोंमे देवताका परिज्ञान कैसे होगा[4]?

'अनिरुक्तो हि प्रजापति '—इस सिद्धान्तके अनुसार वैसे मन्त्र प्राजापत्य[5] माने जायँगे, अर्थात् उन मन्त्रोंके देवता प्रजापति होगे। यह याज्ञिकोका मत है।

उपर्युक्त याज्ञिक मतसे भिन्न नैरुक्तोंका सिद्धान्त है कि अनादिष्ट-देवताक मन्त्र 'नाराशस'[6] होते हैं। अर्थात् उन मन्त्रोंके देवता नराशस माने जाते हैं। वैदिक वाङ्मयमें नराशसके अर्थ होते हैं—यज्ञ[7] और अग्नि[8]।

यज्ञका अर्थ है विष्णु—'यज्ञो वै विष्णु ।' इससे स्पष्ट होता है कि इन मन्त्रोंके देवता विष्णु अथवा अग्नि हैं। अग्नि सर्वदेवस्वरूप हैं, उनमें सभी देवताआका वास है। इस सिद्धान्तके अनुसार वे मन्त्र आग्नेय माने जाते हैं।

अनादिष्ट-देवताक मन्त्रोमें देवताके परिज्ञानके लिये पक्षान्तरका प्रतिपादन करते हुए महर्षि यास्कने लिखा है—'अपि वा सा कामदेवता स्यात्[9]।' अर्थात् 'कामकल्प्या देवता यस्याम् ऋषि सा कामदेवता ऋक्।' उन मन्त्रोंमें इच्छासे देवताकी कल्पना की जाती है, अत वे 'कामदेवताक' मन्त्र हैं।

अथवा वे अनादिष्ट-देवताक मन्त्र 'प्रायोदेवत'[10] होते हैं। 'प्राय ' का अर्थ है अधिकार और बाहुल्य। अधिकार-अर्थमे प्रायोदेवत मन्त्रका तात्पर्य हुआ कि जिस देवताके अधिकारमें वह मन्त्र पढा गया है वही उसका देवता माना जायगा।

'प्राय 'का बाहुल्य अर्थ माननेपर वैसा मन्त्र 'बहुलदेवत' माना जायगा। लोकमें भी ऐसा व्यवहार होता है कि अमुक द्रव्य देवदेवत्य, अमुक द्रव्य अतिथिदेवत्य और अमुक द्रव्य पितृदेवत्य है[11]। किंतु जिस द्रव्यमे किसीका निर्देश नहीं होता, वह देव-अतिथि और पितर सबके लिये होता है, उसी प्रकार अनादिष्ट-देवताक मन्त्र सर्वसाधारण होनेके कारण बहुलदेवत होते हैं।

इन उपर्युक्त विभिन्न मतोका उपसहार करते हुए महर्षि यास्कने कहा—'याज्ञदैवतो मन्त्र [12] इति।' अर्थात् अनादिष्ट-देवताक मन्त्र याज्ञ अर्थात् यज्ञदेवत होते हैं। 'यज्ञो वै विष्णु 'के अनुसार वे मन्त्र विष्णुदेवत माने जाते हैं। नैरुक्तसिद्धान्तमें विष्णु द्युस्थानीय आदित्य हैं, अत वे मन्त्र परमार्थत 'आदित्यदेवत' हैं।

यदि वे मन्त्र 'दैवत' हैं (देवता देवता अस्य असौ दैवत) अर्थात् उनके देवता 'देवता' हैं तो 'अग्निर्वै सर्वा देवता ', 'अग्निर्वै देवानां भूयिष्ठभाक्' इत्यादि सिद्धान्तोंसे यहाँ 'देवता' का अर्थ है अग्नि। फलत दैवत मन्त्रका तात्पर्य हुआ आग्नेय मन्त्र। इस प्रकार निरुक्तानुसार देवताका परिज्ञान होता है, जो देवता अपने महाभाग्यके कारण अनुष्ठाताके अभीष्टको पूर्ण करनेमें समर्थ होते हैं।

१-२-तद् येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा (निरुक्त ७। १। ४)।

३-प्रकरणाद्धि संदिग्धदेवतेषु देवतानियम (निरुक्त ७। १। ४ की विवृति)।

४-अथान्यत्र यज्ञात्? (निरुक्त ७। १। ४)।

५-प्राजापत्या इति याज्ञिका (निरुक्त ७। १। ४)।

६-नाराशंसा इति नैरुक्ता (निरुक्त ७। १। ४)।

७-यज्ञ इति कात्थ । विष्णुर्वै यज्ञ ' इति ह विज्ञायते (निरुक्त ७। १। ४ की विवृति)।

८-'अग्निरिति शाकपूणि । 'अग्निर्हि भूयिष्ठभाग्देवतानाम्। 'अग्निर्वै सर्वा देवता अत्र वै सर्वा वसति देवता (निरुक्त ७। १। ४ की विवृति)।

९-१०-प्रायो देवता वा (निरुक्त ७। १। ४)।

११-१२-अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके। देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम् (निरुक्त ७। १। ४)।

देवता-विचार

सिद्धान्तकौमुदीम 'साऽस्य देवता' (४।२।२४) सूत्रकी वृत्तिमे 'देवता' शब्दके दो लक्षण दिये गये हैं— (१) 'त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता।' तथा (२) 'मन्त्रस्तुत्या च।' प्रथम लक्षणका अर्थ है—'जिसके उद्देश्यसे आज्य आदि हविर्द्रव्यका त्याग किया जाय उसे देवता कहते हैं।' यह लक्षण कल्पश्रौतसूत्रके अनुसार है। द्वितीय लक्षण निरुक्तके अनुसार है, जिसका अर्थ है—'मन्त्रसे जिसकी स्तुति की जाय वह देवता है।' प्रथम लक्षणका केवल यज्ञोंमे उपयोग होता है। देवता-स्वरूपके परिचायक द्वितीय लक्षणका ही सर्वत्र उपयोग होता है।

जिस-किसीकी स्तुति की जाय, उसे 'देवता' मान लेनेपर मन्त्रद्वारा प्रतिपाद्य जड-चेतन सभी पदार्थ देवता-कक्षमें निविष्ट होगे। मन्त्र-पदाद्यनुक्रमणिकामे अकारादि-वर्णानुक्रमसे २७२ देवताओका निर्देश है। उस सूचीमें द्यूतनिन्दा, दान विवाहादि सब लौकिक पदार्थोंका भी देवताके रूपमें उल्लेख है।

उक्त सूचीके आधार कात्यायनकृत 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' तथा सायण-भाष्यादि हैं। निघण्टुके ५वें अध्याय तथा निरुक्तके दैवत-काण्डके ७वेंसे १२वे तक ६ अध्यायोमे १५१ देवताआका निरूपण है। निघण्टुके ५वें अध्यायमे ६ प्रकरण हैं, जिनकी यास्कने क्रमश एक-एक अध्यायम व्याख्या की है। निघण्टुके पाँचव अध्यायके आरम्भके ३ प्रकरणोमे क्रमश ३+१३+३६=५२ पृथिवीस्थानीय देवता निर्दिष्ट हैं। चतुर्थ तथा पञ्चम प्रकरणमें क्रमश ३२+३६=६८ अन्तरिक्षस्थानीय देवताओंका निर्देश है। पष्ठ प्रकरणमे ३१ द्युस्थानीय देवता निर्दिष्ट हैं।

प्रश्न उठता है कि सख्याकी इस विषमताका क्या कारण है? सुस्पष्ट है कि देवताके लक्षणाका सकुचित और प्रसारित स्वरूप ही इसका कारण है। ऋक्सर्वानुक्रमणीकी दृष्टिमें देवताका व्यापक लक्षण है— या स्तूयते सा देवता, येन स्तूयते स ऋषि ।' निष्कर्ष यह कि स्तोता ऋषि और स्तुत देवता है। इसीलिये दान तथा विवाहादिको भी अनुक्रमणीकारने देवताओमे स्थान दिया है। निरुक्तकारका अभिप्राय सम्भवत 'देवता' शब्दके लक्षणको सीमित रखनेका प्रतीत होता है। अर्थात् केवल स्तुतिस ही देवता नहीं माना जा सकता अपितु स्तोताकी स्तुतिस प्रसन्न हाकर जो उसकी अभीष्टसिद्धिमें समर्थ हो, वही देवता-पदका वाच्य है—'यत्काम ऋषिर्यस्या देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवत स मन्त्रो भवति' (निरुक्त ७।१।१)। यहाँ 'यत्काम ' का ही विवरण 'यस्या देवतायाम्' इत्यादि वाक्य है। तात्पर्य यह कि जिस देवताके प्रसन्न होनेपर अभीष्ट-लाभकी इच्छासे स्तोता ऋषि स्तुति-मन्त्रका प्रयोग करता है, उस मन्त्रका वह देवता होता है। अर्थात् जो देवता अपने भक्तकी अभीष्ट-सिद्धि करनेमे अपूर्व शक्ति रखता हो, वह मन्त्र-स्तुत अग्नि आदि देव उस मन्त्रका देवता कहा जायगा। इस प्रकार देवता शब्दका लक्षण होगा—'अभीष्टसिद्धिहेतुदिव्यशक्तिसम्पन्नत्वे सति मन्त्रस्तुत्यत्वम्।' इस आशयकी पुष्टि निम्ननिर्दिष्ट मन्त्र कर रहा है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

(ऋक्० १०।१२१।१०)

अर्थात् हे जगत्स्वामी परमात्मन्! यह सब आपसे ही उत्पन्न हुआ है। आपसे भिन्न इनका कोई पालक या अधिष्ठाता नहीं है। अत जिस फलकी कामनावाले हम आपको उद्दिष्ट करके हवन (आज्यादि आहुतिका प्रक्षेप) करते हैं या आपका स्तवन करते हैं आपकी कृपासे हमे वह अभीष्ट फल प्राप्त हो।

इस मन्त्रसे सूचित होता है कि जिसके उद्देश्यसे हवन-स्तवन आदि किये जायँ और जो प्रसन्न होकर आराधककी अभीष्ट-सिद्धिका कारण बन, वही देवता है।

देवताका लक्षण ही नहीं अपितु 'देव'-शब्दकी निरुक्ति भी स्तवन-मात्रके सादृश्यसे सगृहीत लौकिक द्यूत-निन्दा आदि उपदेवोके सग्रहका परिहार करती है। यथा—'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देव सा देवता इति' (निरुक्त ७। ४। १५)। वेदार्थभास्कर यास्कमुनि लोकोत्तर-चातुरीद्वारा 'देव' शब्दका क्या ही चमत्कारपूर्ण निर्वचन कर रहे हैं, ताकि 'देव'-शब्द्वारा द्यूत-निन्दा आदि लौकिक पदार्थोंका सग्रह न हो। निर्वचनका तात्पर्य है—'दाता वरप्रदाता द्योतमान दिव्यमान' अर्थात् तेज पुञ्जमूर्ति द्युलोक-निवासी व्यक्तिविशेष। वे इन्द्रादि दिव्य-शक्तिसम्पन्न लोकानुग्राहक दव ही हो सकत हैं।

वेदान्तदर्शनक 'देवादिवदपि लोके' (२। १। २५)—

इस सूत्र तथा इसके शाकरभाष्यादिके अवलोकनसे भी 'देव' शब्दकी प्रयोगभूमि वही दिव्यपुरुष प्रमाणित हाते हैं जो किसी भौतिक साधनकी सहायताके बिना अपनी सकल्पशक्तिसे मनोवाञ्छित विविध कार्य कर सके।

यदि निरुक्तका अभिप्राय वरप्रदाता लोकोत्तर, द्युलोक-निवासी इन्द्रादि देववर्गको ही देवता स्वीकार करनका है, तो देवताभिन्न अश्व, शकुनि एव मण्डूक क्रमश पशु-पक्षी, जल-जन्तु एव जड-पाषाण रथ आदि तथा उलूखल-मुसलादि द्वन्द्व पदार्थोंका देवकोटिमे सग्रह कैसे होगा? निघण्टु तथा निरुक्त दोनों ही इनका देव-कोटिमे उल्लेख कर रहे हैं। इसका समाधान निरुक्त (७ । १ । ४)-में **'आत्मैवैषा रथो भवति, आत्मा अश्व , आत्माऽऽयुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य'** इस उक्तिद्वारा किया गया है। अर्थात् देवाके रथ-घोड़ा शस्त्र-बाण, कि बहुना, समस्त उपकरण उन्हींके आत्मस्वरूप होते हैं। देवगण अपक्षित रथादि साधन-सामग्रीके लिये भौतिक काष्ठादि साधनाकी अपेक्षा नहीं रखते। उनका स्वरूप ही सकल्पवश पदार्थोंके रूपम परिणत हो जाता है। दूसर शब्दोंमें—**'बहु स्याम् प्रजायेय'** इस सकल्पके होते ही ब्रह्मका सब कुछ विश्वाकारमें विवर्त हो जाता है। अर्थात् समस्त विश्व ब्रह्मके सृजनविषयक सकल्पका कार्य उसका विवर्त है, अतएव उससे पृथक् नहीं अपितु उसका स्वरूप है क्योंकि कल्पित वस्तुकी सत्ता अधिष्ठानसे पृथक् हो ही नहीं सकती। इसी तरह देवसकल्प-प्रभाव रथादि देवापकरण देवका विवर्त होनेके कारण वरप्रदाता देवसे भिन्न नहीं फिर उन देवोपकरण रथादिका 'देव' शब्दसे सग्रह होनेमें आपत्ति ही क्या?

यास्कने इससे सूचित किया कि समस्त देव-प्रपञ्चके मूलम एक ही परब्रह्म तत्त्व है। उसीको विचित्र एवं भिन्न-भिन्न शक्तियांके प्रतीक स्थान-भेदसे अग्नि वायु तथा सूर्य—ये तीन विभिन्न देव हैं। अन्य समस्त देव उन्हींकी विभूतिमात्र हैं। जब तीन देव हैं और त्रित्व-सख्याका एकत्वसे विरोध है तो फिर वेदाभिमत **'एको देव सर्वभूतेषु गूढ '** (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। ११)—इस देव-एकत्वकी उपपत्ति कैसे होगी?

इसका समाधान यह है कि जैसे समष्टि-दृष्टिस वन यह एकत्व-व्यवहार और व्यष्टिसे **'वृक्षा '** यह अनेकत्वका व्यवहार एव समष्टि-दृष्टिसे **'राष्ट्र** और व्यष्टि-दृष्टिसे **'मनुष्या '** यह व्यवहार दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही व्यष्टि-दृष्टिसे **'अग्निर्वायुरादित्यस्त्रयो देवा '** और समष्टि-दृष्टिसे **'आत्मा एको देव '** इस व्यवहारमे कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसी अभिप्रायसे यास्कने कहा है—**'तिस्त्र एव देवता इति नैरुक्ता '** (७। २। ५)।

'अपि वा कर्मपृथक्त्वात्॥ यथा होताऽध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सत ॥ तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव' यह भी वचन है। निष्कर्ष यह कि देवोपकरण दिव्य रथादि वरप्रदाता देवके ही स्वरूप हैं अत उनके देवत्वम किसी प्रकारकी बाधा नहीं है। किंतु उनमें द्यूत-निन्दादि लौकिक पदार्थोंका सग्रह कदापि सम्भव नहीं। जड नदी आदिके सवाद-स्थलामे भी नदी आदि पदासे उनके अभिमानी देवतारूप अर्थ लेनेपर ऋषियोसे उनका संवाद (ऋक्० ३। ३३) अनुपपन्न नहीं होता। अतएव आपातत जड प्रतीत होनेवाले प्राण-इन्द्रियादिके सवादामें तत्तदभिमानी देवाका ही वार्तालाप मान लेनेपर प्राण-कलह-कथाकी उपपत्ति ठीक बैठती है। वेदान्तदर्शनके **'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्'** (२। १। ५) इस सूत्रका यही आशय है।

पाश्चात्य विद्वानोंने ब्रह्माद्वैतप्रतिपादक वेदोंमें बहुदेवतावादका कलक लगानेकी व्यर्थ ही कुचेष्टा की है। वेदमें तथा वेदानुगामी 'बृहद्देवता' आदि वैदिक निबन्धोंमें एकदवतावादका ही सुस्पष्ट प्रतिपादन है। निदर्शनके लिये ऋग्वेदके **'चित्रं देवानाम्०'** (१। ११५। १) इस मन्त्रके चतुर्थ चरण **'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** मे स्थावर-जङ्गम समस्त विश्वका आत्मा एक सूर्य ही कहा गया है। **'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्०'** (यजु० १३। ३) इस मन्त्रमे भी प्रजापतिरूप एक ही देवता वर्णित है। **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** (ऋ० १। १६४। ४६) अर्थात् एक सच्चिदानन्द परब्रह्म तत्त्वको मेधावी विद्वान् यम, वरुण आदि अनेक देवताओंके रूपम कह रहे हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदमें एकदेवतावादका ही प्रतिपादन है।

बृहद्देवता (१। ६२। ६३)-में शौनकाचार्य स्पष्टरूपसे सूर्य और प्रजापतिको एक देवताके रूपमे उद्घोषित कर रहे

हैं। यास्क 'एकस्य सत ' (नि० ७। २। ५) इस उक्तिसे एकदेवतावादका ही मुक्तकण्ठसे समर्थन करते हैं। उनके 'एकस्य सत ' कथनका तात्पर्य यह है कि वस्तुत ब्रह्मात्मतत्त्व ही एक देवता है, उसमे त्रित्वव्यपदेशका कारण पृथिव्यादि स्थानभेद एव दाह-वृष्टि-प्रकाशलक्षण भिन्नकार्यकारिता है।

एकदेवतावादकी पुष्टिमे एक-दो वेदवाक्य और भी देख लेना असगत न होगा—

रूपरूप मघवा बोभवीति माया कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।

(ऋक्० ३। ५३। ८)

तात्पर्य यह कि मघवा इन्द्रदेव जो-जो रूप धारण करनेकी कामना करते हैं उसी-उसी रूपको तत्काल प्राप्त कर लेते हैं। कारण वे अनेक शरीरधारकत्वशक्तियुक्त अपनी मायाका विस्तार करते हुए अपने शरीरसे अनेक प्रकारके शरीरोका निर्माण कर लेते हैं। (परिशब्दोऽत्र पञ्चम्यर्थे)। अर्थात् एक ही इन्द्रदेव अपनी मायाशक्तिके प्रभावसे अनन्त देवोंके रूपमें व्यक्त होते हैं।

'इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते'॥ (ऋक्० ६। ४७। १८)

—इस मन्त्रमें मायाशक्तिके प्रभावसे इन्द्रका बहुरूप-धारण स्पष्ट प्रतिपादित है। इन मन्त्रामें क्रमश मधुच्छन्दाके पिता विश्वामित्र तथा गर्ग भारद्वाज एकदेवतावादका ही अनुमोदन कर रहे हैं। अत एकदेवतावादको बहुदेवताका विकास मानना असगत ही है।

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेक सन्त बहुधा कल्पयन्ति।

(ऋक्० १०। ११४। ५)

जैसे आर्त भक्ताकी पुकार सुनकर उनकी रक्षाके लिये शीघ्र दौडनेवाला शोभनगति-युक्त आरम्भमें एक ही है फिर भी मेधावी विद्वान् उसकी अनेक प्रकारसे विविध देवताओंके रूपमें कल्पना करते हैं। अर्थात् विद्वानोंके कल्पना-राज्यमें वे एकदेवता ही बहुदेवता-रूपमे अनुभूत होने लगते हैं।

इस मन्त्रमे प्रथम एकदेवतावाद, पश्चात् बहुदेवता-कल्पनाका स्पष्ट उल्लेख है।

यो देवाना नामधा एक एव॥ (ऋक्० १०। ८२। ३)

—जो परमात्मा एक ही देव है, बादमे वही अनेक देवताआके नामको धारण करता है।

यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे। (ऋक्० १०। ८२। ६)

—समस्त देव जिस एक देवमें सगत (अन्तर्गत) हैं।

इसके अतिरिक्त एक और बात विचार करनेकी है। कारणसे कार्यका विकास सर्वसम्मत है। कार्यसे कारणका विकास कहनेकी भूल कोई विवेकी नहीं कर सकता। सहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद्, पुराण स्मृति आदि प्राचीन समस्त शास्त्र एकमतसे सृष्टिका मूल कारण आरम्भमें एक ही स्वीकार करते हैं। उस एकसे जैसे सृष्टिरूपम विविध पदार्थोंका विकास हुआ, ठीक उसी तरह एक देवसे अनेक देवताओका विकास तो बुद्धिग्राह्य है पर अनेक देवताआसे एक देवताका विकास कदापि विद्वन्मान्य नहीं।

देवताके विषयमें अन्य ज्ञातव्य विषयाका निरूपण बृहद्देवताके प्रथम अध्याय तथा द्वितीय अध्यायके २५ वर्गोंमे विस्तारसे है। यास्कके निरुक्तमें ७वें अध्यायके आरम्भके तीन पाद भी विशेष द्रष्टव्य हैं।

लक्षण एव निर्वचनके आधारपर 'दव'-शब्दके अर्थपर उपर्युक्त विचार किया गया। 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका' मे चित्सुखाचार्यका वचन है—

अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याधीपदस्य न।
सम्भवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासम्भव कुत॥

मोदका अर्थ क्षणभगुर विषयानन्द नहीं अपितु नित्य-निरतिशयानन्द है। अत देव शब्दका अर्थ सत् (त्रिकालाबाध्य), चित् (स्वप्रकाश) एवं आनन्दस्वरूप (नित्य निरतिशयानन्द) ब्रह्मतत्त्व हुआ। वह एक है। मायाके सम्पर्कसे उसम अनेकत्वकी कल्पना होती है। तब 'देव' शब्दका अर्थ हाता है 'मायावशात् दिव्यति क्रीडति विविधसृष्टिरचनालक्षणा क्रीडा कुरुते इति देव अर्थात् मायाशबल ब्रह्म तथा सच्चिदानन्द ब्रह्म ईश्वर है। वह ईश्वर एक है अनेक नहीं, अत 'देव' शब्दके यौगिकार्थक अनुसार भी एकदेवतावाद ही प्रमाणित होता है। विभिन्न वेदाद्वारा स्तुत्य अग्नि आदि देव उसकी विभूति या विभिन्न विचित्र शक्तियाके प्रतीकमात्र हैं।

वैदिक देवता—सत्ता और महत्ता

(डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया एम्०ए० (संस्कृत) बी०एस् सी० एल् एल्०बी० पी एच्०डी०)

आराध्य देवी-देवता आदिकी परिकल्पना और धारणा आस्थापरक मनोवृत्तिपर केन्द्रित है। आस्थावादी संस्कृतियोंमें वैदिक संस्कृति एक है, जिसके मूलमें वेद प्रतिष्ठित हैं। वेदोंमें अध्यात्मकी प्राचीनता तथा मौलिकताकी अनुगूँज है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति अर्थात् रीति-रिवाज रहन-सहन, खान-पान, नियम-उपनियम आचारिक-वैचारिक संहिताएँ, शिक्षाएँ तथा मान्यताएँ आदि सभी कुछ वेदोंपर ही आश्रित हैं—ऐसा वेदोंपर आस्था-श्रद्धा रखनेवाले लोगोंका वैचारिक आलोडन है जो सर्वथा सत्य और सार्वभौम है।

चूँकि भक्त समुदायमें जीवनके लिये आराध्य एक अनिवार्य आलम्बन होता है। आराध्य उनमें सदा रचते-बसते हैं। अत वेदोंमें सम्यक्‌रूपसे आराध्य देवोंकी चर्चा हुई है। जहाँतक वैदिक देवताओंका प्रश्न है, वहाँ एक-दो नहीं अनेक देवताओंका वर्णन है। जैसे इन्द्र अग्नि एव वरुण आदि। ये सभी देवता आदिशक्तिका ही प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रद्धालु जन अपनी-अपनी सुख-सुविधा और मन कामनाओंके आधारपर इनमेंसे ही किसी एक देवताको अपना आराध्य मानकर पूजते हैं।

देवता और सृष्टि परमात्माकी ही विभूति हैं। चाहे वह देवता वरुण हों या इन्द्र, अग्नि सूर्य मित्रावरुण अश्विनीकुमार, सोम (चन्द्रमा), पृथ्वी विष्णु और रुद्र आदि कोई भी क्यों न हों। सभीमें सर्वव्यापी परमात्माका एक-एक गुण विद्यमान रहता है। जैसे वेदोंने वरुणको शान्तिप्रिय देवता कहा है। इसकी मर्यादा वैदिक युगमें सर्वाधिक मानी गयी है। वरुणको प्रसन्न रखनेके लिये लोगोंको सदाचारपरक जीवन अर्थात् पवित्रपूर्ण आचरण व्यतीत करना होता है क्योंकि वरुणको इस जगत्‌का नियन्ता और शासक माना गया है। वह प्राकृतिक और नैतिक नियमोंका संरक्षक है। इसका नैतिक नियम 'ऋत' सज्ञासे अभिहित होता है जिसका पालन करना देवताओंके लिये भी परमावश्यक बताया गया है। इसी प्रकार 'इन्द्र' ऋग्वेदका योद्धा देवता है। वह जगत्‌की उत्पत्ति प्रलय आदिका सचालन करता है। इन्द्र बलिष्ठ एव पराक्रमी देवता है। वह 'अन्तरिक्ष' और 'द्यौ'को धारण करता है। इसके भयसे पृथ्वी और आकाश काँपते दिखायी देते हैं। बिना इस देवताकी सहायताके कोई भी शक्ति युद्ध नहीं जीत सकती। इसी आधारपर वीर योद्धा समरमें जानेसे पूर्व इसकी स्तुति करते हैं। इसी प्रकार 'अग्नि' ऋग्वेदका देवता होनेके साथ-साथ यज्ञका पुरोहित भी है। वह देवताओंको यज्ञमें समर्पित हवि सुलभ कराता है। ऋग्वेदके अधिकाश मण्डल अग्निकी स्तुतिसे ही आरम्भ होते हैं। वैवाहिक सस्कारमें अग्निदेवताका प्राधान्य रहता है। यजुर्वेदमें सर्वाधिक प्रतिष्ठित देवता है 'रुद्र'। जिसे अत्यन्त उग्र स्वभावका माना गया है। यजुर्वेदमें इसकी प्रतिष्ठा इसी बातसे है कि इस वेदका सम्पूर्ण सोलहवाँ काण्ड इसीपर केन्द्रित है। एक देवता है अश्विनीकुमार। इसकी स्तुति और चर्चा भी वेदोंमें पर्याप्तरूपसे परिलक्षित है। यह देवता आयुर्वेदका अधिष्ठाता है। ऐसे ही अनेक देवताओंकी शक्ति और महत्ताका प्रतिपादन वेदोंमें द्रष्टव्य है।

वेदोंमे अग्नि सोम पृथ्वी आदि पृथ्वी-स्थानीय देवता एव इन्द्र रुद्र वायु आदि अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता तथा वरुण मित्र उषस्-सूर्य आदि द्यु-स्थानीय देवताओंमें परिगणित हैं। इन देवताओंमें ऋग्वेदके सूक्तोंमें इन्द्र सर्वाधिक चर्चित देवता है। अग्नि और सोम क्रमश द्वितीय और तृतीय स्थानपर आते हैं। यम मित्र, वरुण, रुद्र और विष्णु आदि देवताओंकी स्तुति इन तीनोंकी तुलनामें तो सामान्य ही है।

इतने सारे देवताओं और उनके कार्योंको देखते हुए मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि ये समस्त देवता एक साथ रहते हुए अपने कार्यका सम्पादन कैसे करते हैं? इसका उत्तर यह है कि वैदिक देवता परस्पर केवल अविरोध-भावसे ही नहीं, अपितु उन्नायक-भावसे भी चराचर-जगत्‌के जो शाश्वत नियम हैं, उनके अनुसार सत्य और ऋतका पालन करते हुए अपने कर्तव्योंका विधिपूर्वक निर्वहन करते हैं और हमें प्रेरणा देते हैं कि सम्पूर्ण मानव-जाति शाश्वत नियमोंका विधिवत् पालन करते हुए समग्र द्वन्द्व तथा द्वेषका मिटाकर एक साथ मिल-जुलकर सत्कर्म

करते हुए पवित्रतापूर्ण जीवनयापन करे। यथा—'देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते' (ऋक्० १०। १९१। २)। इन देवताओंकी समग्र प्रवृत्तियाँ जगत्‌के कल्याणार्थ हैं। वे अज्ञान और अन्धकारसे दूर प्रकाशरूप हैं सतत कर्मशील हैं। अत मानवमात्रका कल्याण देवताओंके साथ सायुज्य स्थापित करनेमे ही है। वास्तवमे वैदिक देवतावादसे प्राकृतिक शक्तियोंके साथ मनुष्य-जीवनकी समीपता तथा एकरूपताकी आवश्यकताका भी हमे परिज्ञान होता है।

अथर्ववेद और ऋग्वेदमें कहा गया है कि 'सत्' तो एक ही है किंतु उसका वर्णन विद्वद्वर्ग अग्नि यम, वायु आदि अनेक नामोसे करता है। यह एक 'सत्' परमात्मा है, जो इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि अनेक देवताओंमें समाया हुआ है—

इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहु ॥

(अथर्ववेद ९। १०। २८ ऋग्वेद १। १६४। ४६)

इस प्रकार वेदोंमें जिन विविध देवताओका गान हुआ है, वे सभी एकदेवतावादमें अन्तर्भुक्त हैं। वेदोंके इस एकदेवतावाद या एकेश्वरवादमें अद्वैतवादी, सर्वदेवतावादी तथा बहुदेवतावादी दृष्टियाँ भी समाहित हैं, किंतु वेदोका यह एकदेवतावाद आधुनिक ईश्वरवादके स्वरूपसे यत्किंचित् भिन्न है।

अन्तमे यही कहा जा सकता है कि वेदोम अभिव्यक्त विभिन्न देवताओंका जो स्वरूप है, वह आदिशक्ति और सत्ताके केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं रूप हैं शक्तियाँ हैं। जो लोगोंको प्रभावित कर उनके हृदयमे आराध्य-रूपम अवस्थित हैं।

श्रीगणेश—वैदिक देवता

(याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड वेदाचार्य)

शास्त्रोंमें जिस प्रकार एक ही ब्रह्म (परमात्मा)-के ब्रह्मा विष्णु और महेश—ये तीनों रूप कहे गये हैं, उसी प्रकार 'गणेश' को भी ब्रह्मका ही विग्रह कहा गया है। जिस प्रकार एक ब्रह्मके होते हुए भी ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न विशेषताएँ हैं उसी प्रकार 'गणेश' की भी हैं।

समस्त देवताओंमें गणेश ही एक ऐसे देवता हैं, जिनका समस्त शुभ कार्योंके प्रारम्भमें सर्वप्रथम पूजन किया जाता है। इनकी पूजा किये बिना किसी भी शास्त्रीय तथा लौकिक शुभ कर्मका प्रारम्भ नहीं होता। अतएव वेदभगवान्‌ने भी कहा है—

न ऋते त्वत् क्रियते कि चनारे॥

(ऋक्० १०। ११२। ९)

'हे गणेश! तुम्हारे बिना कोई भी कर्म प्रारम्भ नहीं किया जाता।'

जिन गणेशका प्रत्येक शुभ कार्यके प्रारम्भम सर्वप्रथम पूजन करना अनिवार्य है उन्हे पूज्य वैदिक देवता मानकर ही उनका प्रत्येक शुभ कार्यमे पूजनके समय सर्वप्रथम स्मरण करते हुए भक्तगण कहते हैं—

गणानां त्वा गणपतिꣳहवामहे प्रियाणा त्वा प्रियपतिꣳहवामहे निधीना त्वा निधिपतिꣳहवामहे।

(शुक्लयजुर्वेद २३। १९)

'हे गणेश! तुम्हीं समस्त देवगणाम एकमात्र गणपति (गणोके पति) हो प्रिय विषयोके अधिपति होनेसे प्रियपति हो और ऋद्धि-सिद्धि एव निधियोके अधिष्ठाता होनेसे निधिपति हो, अत हम भक्तगण तुम्हारा नाम-स्मरण नामोच्चारण और आराधन करत हैं।'

भगवान् गणेश सत्त्व रज और तम—इन तीनों गुणोके ईश हैं। गुणोका ईश ही प्रणवस्वरूप 'ॐ है। प्रणवस्वरूप 'ॐ' म गणेशजीकी मूर्ति सदा स्थित रहती है। अत 'ॐ'—यह गणेशजीकी प्रणवाकार मूर्ति है जो वेदमन्त्रके प्रारम्भमें रहती है। इसीलिये 'ॐ को गणेशकी साक्षात् मूर्ति मानकर वेदाके पढनेवाले सर्वप्रथम 'ॐ' का उच्चारण करके ही वेदका स्वाध्याय करते हैं। वेदके स्वाध्यायके प्रारम्भमें 'ॐ' का उच्चारण करना गणेशजीका ही नाम-स्मरण अथवा नामोच्चारण करना है। अत सिद्ध है कि प्रणवस्वरूप 'ॐ'कार ही भगवान् गणेशकी आकृति (मूर्ति) है जा वेदमन्त्राके प्रारम्भम प्रतिष्ठित है।

'गणेशपुराण' म भी लिखा है—

आकाररूपी भगवान् यो वेदादौ प्रतिष्ठित ।
य सदा मुनयो देवा स्मरन्तीन्द्रादयो हृदि॥
आकाररूपी भगवानुक्तस्तु गणनायक ।
यथा सर्वेषु कार्येषु पूज्यतऽसौ विनायक ॥

'आकाररूपी भगवान् जा वेदाक प्रारम्भम प्रतिष्ठित हैं

जिनको सर्वदा मुनि तथा इन्द्रादि देवगण हृदयमे स्मरण करते हैं। वे ओंकाररूपी भगवान् गणनायक कहे गये हैं। वे ही विनायक सभी कार्योंमें पूजित होते हैं।'

गणेशजीके अनन्त नाम हैं जिनका उल्लेख समस्त श्रुति-स्मृति-पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थोंमें बड़े विस्तारसे मिलता है।

पुराणादिमें जिस प्रकार गणेशजीके अनेक नामोंका उल्लेख है, उसी प्रकार गणेशजीके अवतार स्वरूप एव महत्त्व आदिका भी वर्णन है, जो वेदाके आधारपर ही भगवान् वेदव्यासजीने किया है।

अब हम वैदिक-सहिता तथा वैदिक वाङ्मयके कुछ महत्त्वपूर्ण मन्त्र उद्धृत करते हैं, जिनसे गणेशजीकी वैदिकता और महत्ता स्पष्ट सिद्ध है—

गणाना त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ न शृण्वन्नूतिभि सीद सादनम्॥[१]

(ऋक्० २। २३। १)

'तुम देवगणोके प्रभु होनेसे गणपति हो, ज्ञानियोमे श्रेष्ठ ज्ञानी हो, उत्कृष्ट कीर्तिवालामें श्रेष्ठ हो। तुम शिवके ज्येष्ठ पुत्र हो, अत हम तुम्हारा आदरसे आह्वान करते हैं। हे ब्रह्मणस्पते गणेश! तुम हमारे आह्वानको मान देकर अपनी समस्त शक्तियोंके साथ इस आसनपर उपस्थित होओ।'

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतम कवीनाम्।
न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च॥

(ऋक्० १०। ११२। ९)

'हे गणपते! आप देव आदिके समूहमें विराजमान होइये क्योंकि विद्वज्जन आपको ही समस्त बुद्धिमानामे श्रेष्ठ कहते हैं। आपके बिना समीपका अथवा दूरका कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता। हे पूज्य एव आदरणीय गणपते! हमारे सत्कार्योंको निर्विघ्न पूर्ण करनेकी कृपा कीजिये।'

'गणानां त्वा०' इत्यादि मन्त्रका उल्लेख तो पहले किया ही गया है।

'गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद् में गणेशके विभिन्न नामाका उल्लेख करते हुए उन्हे नमस्कार किया गया है—

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नम प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमो नम।

'व्रातपति अर्थात् देवसमूहके नायकको नमस्कार, गणपतिको नमस्कार, प्रमथपति अर्थात् शिवजीके गणोंके अधिनायकको नमस्कार लम्बोदरको, एकदन्तको, विघ्नविनाशकको, शिवजीके पुत्रको और श्रीवरदमूर्तिको नमस्कार, नमस्कार।'

'यजुर्विधान' में 'गणाना त्वा०' (शुक्लयजुर्वेद २३। १९)— इस मन्त्रको गणपति-देवतापरक कहा गया है, अत इस मन्त्रका गणेशके पूजन और हवनादिमें विनियोग होता है।

'शुक्लयजुर्वेद' (२२। ३०)-में 'गणपतये स्वाहा' से गणेशजीके लिये आहुति देनका विधान है।

'कृष्णयजुर्वेदीय काण्वसहिता' (२४। ४२)-में 'गणपतये स्वाहा' के द्वारा गणेशजीके निमित्त आहुति देनेके लिये कहा गया है।

'कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणी-सहिता' (३। १२। १३)-में 'गणपतये स्वाहा' से गणेशजीको आहुति प्रदान करनेके लिये लिखा है।

'बौधायन-गृह्यशेषसूत्र' (३। १०। १)-के विनायककल्पमें लिखा है—

मासि मासि चतुर्थ्यां शुक्लपक्षस्य पञ्चम्यां वा अभ्युदयादौ सिद्धिकाम ऋद्धिकाम पशुकामो वा भगवतो विनायकस्य बलिं हरेत्।

अर्थात् 'प्रत्येक महीनेके शुक्लपक्षकी चतुर्थी अथवा पञ्चमी तिथिको अपने अभ्युदयादिके अवसरपर सिद्धि, ऋद्धि और पशु-कामनावाला पुरुष भगवान् विनायक (गणेश)-के लिये बलि (मोदकादि नैवेद्य) प्रदान करे।'

महर्षि पराशरने 'गणाना त्वा०' (शुक्लयजुर्वेद २३। १९)— इस मन्त्रके अन्तम स्वाहा जोडकर गणेशजीके लिये हवन और पूजन करनेके लिये कहा है—

विनायकाय होतव्या घृतस्याहुतयस्तथा॥
सर्वविघ्नोपशान्त्यर्थं पूजयेद् यत्नतस्तु तम्।
गणानां त्वेति मन्त्रेण स्वाहाकारान्तमादृत ॥
चतस्रो जुहुयात् तस्मै गणेशाय तयाऽऽहुती ।

(बृहत्पाराशरस्मृति ४। १७६—१७८)

आचार्य आश्वलायनने 'गणानां त्वा०'—इस मन्त्रसे गणेशजीका पूजन करनेके लिये कहा है।

भगवान् वेदव्यासजीने गणेशजाका मन्त्र 'गणाना त्वा०' लिखा है—

१-यह मन्त्र कृष्णयजुर्वेदसहिता (२। ३। १४) और त्रिपुरातापिन्युपनिषद् (३)-में भी है।

गणानां त्विति मन्त्रेण विन्यसेदुत्तरे ध्रुवम्।

(भविष्यपुराण मध्यपर्व द्वितीय भाग २०। १४२)

बृहत्पाराशरस्मृति (११। ३३९)-में—

आतून इन्द्रवृत्रहं सुरेन्द्र सगणेश्वर ।

—इस मन्त्रको गणेश्वरपरक कहा है। ऋग्वेद (८। ८१। १) में—

आ तू न इन्द्र क्षुमन्त चित्र ग्राभं स गृभाय।
महाहस्ती दक्षिणेन॥

—इस मन्त्रको गणेश्वरपरक माना है। शुक्लयजुर्वेद (३३। ६५—७२)-में—

'आ तू न इन्द्र वृत्रहन्०' इत्यादि आठ मन्त्रोको गणपतिपरक कहा गया है। अत इन आठ मन्त्रोंसे गणेशजीका स्मरण पूजन और हवन करनेका विधान है।

सामवेदीय रुद्राष्टाध्यायीमे 'विनायकसहिता' है, जिसमे 'अदर्दरूत्०' इत्यादि आठ मन्त्र (३१५ से ३२२) गणपतिपरक कहे गये हैं। जिनका गणपति-पूजन और गणपति-हवनमें उपयोग होता है।

उपर्युक्त प्रमाणोस स्पष्ट सिद्ध होता है कि गणेशजी वैदिक देवता हैं। अतएव ऋषि-महर्षियाने 'गणानां त्वा०' आदि वैदिक मन्त्रोसे गणेशजीके निमित्त पूजन, हवन आदि करनेके लिये कहा है।

वेदों और उपनिषद् आदिमें गणेशजीकी विविध गायत्रियोंका उल्लेख है जिनमें गणेशजीके कराट, हस्तिमुख, तत्पुरुष एकदन्त, वक्रतुण्ड, दन्ती, लम्बोदर, महोदर आदि अनेक नाम आये हैं जो गणेशजीके ही पर्यायवाचक नाम हैं और वे सभी नाम गणेशजीके स्वरूप और महत्त्वको व्यक्त करनेवाले हैं एवं भक्तोके लिये शुभ और लाभप्रद हैं। ये गणेश-गायत्रियाँ इस प्रकार हैं—

**ॐ तत्कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥**

(कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणीसंहिता २। ९। १। ६)

**ॐ तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥**

(नारायणोपनिषद्)

**ॐ एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥**

(गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्)

ॐ लम्बोदराय विद्महे महोदराय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(अग्निपुराण ७१। ६)

ॐ महोल्काय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(अग्निपुराण १७९। ४)

उपर्युक्त समस्त वैदिक प्रमाणोसे स्पष्ट है कि वेदादिमें तथा समस्त शास्त्रोंमें गणेशजीका विशिष्टरूपमे वर्णन है। अत गणेशजी वैदिक देवता हैं, यह निर्विवाद है। गणेशजीको वैदिक देवता मानकर ही भक्तगण अपने प्रत्यक कार्यके प्रारम्भमें सर्वप्रथम गणेशजीका पूजन करत हैं और उनका स्मरण करते हैं।

जिस प्रकार गणेशजी वैदिक देवता हैं, उसी प्रकार वे अनादिसिद्ध, आदिदेव आदिपूज्य और आदि-उपास्य हैं। 'गणेशतापिन्युपनिषद्'के 'गणेशो वै ब्रह्म' एव 'गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्'के 'त्व प्रत्यक्ष ब्रह्मासि' के अनुसार गणेशजी प्रत्यक्ष ब्रह्म ही हैं। गणेशजीके 'ब्रह्म' होनेके कारण ही उन्हे कर्ता धर्ता एव सहर्ता कहा गया है। गणेशजी जीवात्माके अधिपति हैं। 'गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्' में 'त्वं ब्रह्मा त्व विष्णु इत्यादि मन्त्रोंद्वारा गणेशजीको 'सर्वदेवरूप' कहा गया है। अतएव गणेशजी सभीके वन्दनीय और पूजनीय हैं। प्राणिमात्रका मङ्गल करना गणेशजीका प्रमुख कार्य है, अत वे 'मङ्गलमूर्ति' कहे जाते हैं। इसलिये जो मनुष्य मङ्गलमूर्ति गणेशजीका श्रद्धा-भक्तिसे प्रतिदिन स्मरण पूजन और उनके स्तोत्रादिका पाठ तथा गणपतितन्त्रका जप एव 'गणेशसहस्रनाम'-से हवन करता है वह निष्पाप होकर धर्मात्मा बन जाता है। उसके यहाँ समस्त प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धिका भण्डार भरा रहता है और वह गणेशजीकी कृपासे अपना ऐहलौकिक एव पारलौकिक जीवन सुखद बना लता है। अत मनुष्यमात्रको आत्मकल्याणार्थ ऋद्धि-सिद्धि-नवनिधिके दाता मङ्गलमूर्ति गणेशजीका सर्वदा समाराधन करना चाहिये।
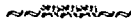
वैदिक देवता 'अग्नि'

(डॉ० श्रीकैलाशचन्द्रजी दवे)

यह सर्वविदित है कि क्षिति, जल, पावक, गगन एव समीर—ये पञ्चमहाभूत सृष्टि सरचनामें मुख्य कारण हैं। सृष्टिमे कोई ऐसा प्राणधारी जीव नहीं है, जिसके शरीर-पिण्डकी सरचनाम उक्त पञ्चतत्त्वोका योग न हो। शरीरान्त होनेपर ये पञ्चतत्त्व (तन्मात्राएँ) पञ्च महाभूतोमे विलीन हो जाते हैं।

यद्यपि अग्निके स्वरूपके विषयमें सब लोग जानते हैं कि अग्नि शब्द 'आग' का पर्याय है। वैदिक मन्त्रोमे आग्नेय मन्त्र सबसे अधिक हैं किंतु सभी आग्नेय मन्त्रोंम 'आग' वाचक अग्नि शब्द नहीं है। वेदमे अग्निका वैदिक देवताके रूपमें स्तवन किया गया है। वेदम अग्निका वैदिक स्वरूप पौराणिक एव लौकिक अग्निसे कुछ भिन्न है। 'आग' के अतिरिक्त अग्नि शब्दके अन्य बहुतसे अर्थ हैं, जो 'आग' के अर्थमे कदापि घटित नहीं होते हैं।

वेदमें अग्निके विभिन्न पर्यायवाचक शब्द हैं—जातवदा, सप्तार्चि सप्तजिह्व, वैश्वानर, तनूनपात्, सहसस्पुत्र इत्यादि। यास्काचार्यने अग्निके पर्यायवाचक जातवेदा, वैश्वानर आदि शब्दोंका भी निर्वचन किया है। नैरुक्तोंके सिद्धान्तको प्रदर्शित करते हुए यास्कने मुख्यरूपसे तीन ही देवताओका उल्लेख किया है, जिनमें पृथिवी-स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु या इन्द्र एव द्यु-स्थानीय सूर्य हैं। इन तीनों देवताओंका अन्य किन-किन देवता तथा पदार्थोंसे सम्बन्ध तथा साहचर्य है, इसका विस्तारसे वर्णन भी किया है। इस प्रकार भक्ति (सम्बन्ध) एव साहचर्यकी दृष्टिसे पृथिवी-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय एव द्यु-स्थानीय रूपोंमें देवताओंको विभक्त किया गया है। विवेच्य अग्नि देवता पृथिवी-स्थानीय हैं।

ब्राह्मणग्रन्थोंके अनुसार ही यास्कने अग्नि-पदका निर्वचन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अग्निका अग्नि नाम इसलिये है, क्योंकि वह अगुआ (प्रधान) होता है। अग्नि सब देवोंमें पहले उत्पन्न हुआ है अत वह 'अग्नि' है। अग्नि ही परोक्ष नामसे अग्नि है[१]। वह सब जगह सब बातोमे ऐसा उपकार करता है कि स्वत ही अगुआ हो जाता है। वह अग्नि इसलिये भी है कि उसे यज्ञ-यागादिमे सबसे पहले ले जाया जाता है। वह सभी तृण-काष्ठादि पदार्थोंका आश्रय पाकर उनको अपने अधीन (आत्मसात्) कर लेता है। यह स्निग्ध नहीं होता है, अपितु सभी रसोंको सुखा देता है। जहाँ जाता है वहाँके सब पदार्थोंको विरूक्ष कर देता है—इसलिये भी यह अग्नि अग्नि कहा जाता है। शाकपूणि आचार्यने तीन क्रियाओं (गति, दहन तथा प्रापण)-के योगसे अग्नि-पदकी सिद्धि की है। अग्निके पर्यायवाचक शब्दोंका जो पहले उल्लेख किया है, उन पर्यायवाचक शब्दोमे भी अग्निके व्यापक रूपका वर्णन किया गया है। अग्निके पर्यायवाचक वैश्वानर शब्दको लेकर यास्कने कई आचार्योंके मताका उल्लेख किया है। कोई आचार्य इस वैश्वानरको मध्यमधर्मा विद्युत् एव कोई आदित्य मानता है। शाकपूणि आचार्यने अग्निको ही वैश्वानर माना है।

स्वरूप

अग्नि मुख्य वैदिक देवता है अत इसके स्वरूपको जानना भी अत्यावश्यक है। निरुक्तशास्त्रके अनुसार देवताओंके आकार चिन्तनमें यह सशय होता है कि क्या इन अग्नि आदि देवताओंका कोई आकार है कि नहीं? आकारवाले पदार्थ चेतन एव अचेतन दो प्रकारके होते हैं। मनुष्यादि चेतन हैं एवं पाषाणादि अचेतन हैं। कुछ आचार्योंका मत है कि देवताओंका आकार मनुष्योंकी आकृति-जैसा है क्योंकि मन्त्रोंमें चेतनावालोंकी तरह देवताओंकी स्तुति की गयी है। चेतनावाले मनुष्योंकी तरह इन देवताओंके परस्पर अभिधान होते हैं। ब्राह्मणग्रन्थोंमें मनुष्योंकी तरह देवताओंमें परस्पर सवाद एव वाद-विवाद आदि उपलब्ध होता है। कर-चरणादि अङ्ग, सुख-सुविधाके लिये रथ, घोडे स्त्री आदि साधन तथा खाना-पीना आदि कार्य मनुष्योंकी तरह [illegible] हैं। अत देवता मनुष्योंकी तरह ही होते

१-'तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत। [illegible] । २ । ४ । २'

हैं। कुछ आचार्योंका मत है कि देवताओंकी आकृति मनुष्योंकी तरह नहीं होती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्नि, वायु, सूर्य पृथिवी, चन्द्रमा आदिका मनुष्याकार नहीं है। यह जो कहा गया है कि चेतनावालोकी तरह इन देवताओंकी स्तुति है, वह तो अचेतनमे भी घटित होता है। पाषाण खण्ड (सोमलताको कूटनेसे हरित वर्णवाले पत्थर) सोमलताको कूटनेसे ध्वनित होकर मानो अपने हरित वर्णवाले मुखोसे बुला रहे हैं[1]। सिन्धु नदी व्यापक पानीरूपी रथको जोडे हुए अर्थात् धारण किये हुए है[2]। ग्रावस्तुति (पत्थरोंकी स्तुति)-मे आलकारिक वर्णन किया गया है कि शिलाओ (सोमलताको कूटनेवाले पाषाण एव आधारभूत पाषाण-खण्ड)-ने होता (ऋत्विक्)-से पहले हविका भक्षण कर लिया[3]। अत यह सिद्ध हुआ कि देवता मनुष्य-सदृश हैं और नहीं भी हैं। अर्थात् अचेतन देवता कर्मस्वरूप है तथा चेतन उसका अधिष्ठातृ देवता है। जैसे यज्ञ अचेतन रूपसे यजमानके अधीन है, किंतु यज्ञका अधिष्ठातृ देव (यज्ञनारायण) चेतन एव स्वतन्त्र है। वह यजमानका आराध्य है। महाभारतम आख्यानोंद्वारा इसी सिद्धान्तको प्रदर्शित किया गया है कि पृथिवीने स्त्री-रूप धारण कर ब्रह्माजीसे अपना भार हलका करनेके लिये याचना की। अग्निने ब्राह्मणका रूप धारण कर वासुदेव एव अर्जुनसे खाण्डव-वन-दहनकी याचना की। मन्त्रार्थ वर्ग-दृष्टिसे यास्कने देवतावादको चार प्रकारोंमें प्रस्तुत किया है—(१) पुरुषविध, (२) अपुरुषविध, (३) नित्य उभयविध और (४) कर्मार्थ आत्मोभयविध।

प्रस्तुत अग्निदेवता नित्य उभयविध है। अर्थात् अपुरुषविध तथा पुरुषविध। अपुरुषविध अग्निके द्वारा दाह, पाक प्रकाश एव यज्ञ-यागादिक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञ-यागादिक धर्म-कर्ममें अग्नि देवताके नित्य उभयविधा (दोनो प्रकार)-को ही स्वीकार किया गया है। अन्यथा कर्म (कर्मफल) तथा मन्त्रार्थ दोना ही सम्पन्न नहीं होंगे। मन्त्रामें अधिष्ठातृ अग्निदेवताकी ही स्तुति की गयी। यह अग्नि पुरुषविध भी है तो यह अग्निपुरुष कैसा है? यह जिज्ञासा होती है। अत इस अग्निपुरुषके स्वरूपको समझ लेना चाहिये।

यज्ञ-यागादि कर्ममें अग्निका पूजन कर उसके ध्यानम बतलाया गया है कि अग्निदेवके सात हाथ, चार सींग, सात जिह्वा[4], दो सिर और तीन पैर हैं[5]। उस अग्निके दाहिने पार्श्वमें स्वाहा तथा बाय पार्श्वमें स्वधादेवी विराजमान हैं। वह दाहिने चार हाथोंमे क्रमश शक्ति (आयुध), अन्न, स्रुक् एव स्रुवेको तथा बायें तीन हाथोंमें तोमर (गँडासा), व्यजन (पखा) एव घृतपात्रको धारण किये हुए सुखपूर्वक यजन करनेवालेके सन्मुख पवित्र, प्रसन्नमुद्रामें विराजमान है। इस अग्निदेवका शाण्डिल्य गोत्र तथा शाण्डिल्य असित एव देवल—ये तीन प्रवर हैं। भूमि इसकी माता वरुण पिता तथा इसकी ध्वजामें मेष (भेडा) अकित है। कहीं-कहीं इसका वाहन भी मेष बतलाया गया है। उपर्युक्त वर्णनमें अग्निके आलकारिक स्वरूपको समझना चाहिये।

कर्मकाण्डकी दृष्टिसे अग्निके अनेक नाम

श्रौत स्मार्त एव गृह्य-कर्मकी दृष्टिसे एक ही अग्निके कई भेद एवं उसके विविध नाम हो जाते हैं।

सोमयागकी अग्निष्टोम आदि सात सस्थाओं एव अन्य श्रौतयागोंमें मुख्यरूपसे (१) आहवनीय, (२) गार्हपत्य एवं (३) दक्षिणाग्नि—ये तीन श्रौताग्नियाँ कही जाती हैं। सौमिक वेदीमें स्थित आहवनीय एव गार्हपत्य अग्नि कर्म तथा स्थानके भेदसे शालाद्वार्य और प्राजहितके नामसे भी अभिहित होता है। उक्त आहवनीय अग्निको अरणिमथनके द्वारा उत्पन्न किया जाता है। मथनद्वारा बलपूर्वक मथकर निकाले जानेके कारण यह सहसस्पुत्र या 'बलपुत्र' कहा

१-'अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभि (ऋक्० १०। ९४। २)।

२- सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम् (ऋक्० १०। ७५। ९)।

३-'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत ॥ (ऋक्० १०। ९४। २)

४-काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा ॥ (मुण्डक० १। २। ४)

५- चत्वारि शृङ्गा०' (शुक्लयजु० १७। ९१)।

जाता है। शवको ज्लानेवाली अग्रिका नाम 'क्रव्याद' है। श्रौत या स्मार्त अग्रिमें सूक्ष्मरूपसे कहीं 'क्रव्याद' एव आमाद अग्रि छिपे न हो, अत स्थण्डिल (वेदी) या कुडमे स्थापित करनेके पहले नैर्ऋत्यकोणमें 'क्रव्याद' एव आमाद अग्रिके अशको बाहर कर दिया जाता है[१]।

श्रौतकर्मके बाद स्मार्तकर्मका क्रम आता है। प्राय सभी गृह्यकर्म 'गृह्य-आवसथ्य' अग्रिमें किये जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति विवाहके समयमें 'आवसथ्य' अग्रिका आधान (ग्रहण) नहीं कर पाता है तो सभी गृह्यकर्म लौकिक अग्रिमें करने चाहिये। षोडश-सस्कार एव अन्य स्मार्तकर्मोंमें इस लौकिक अग्रिके भिन्न-भिन्न नाम हैं। लौकिक होममे जिस अग्रिका स्थापन होता है, उसका सामान्य रूपसे 'पावक' नाम होता है। तत्तत् कर्मविशेषमें जिन-जिन अग्रियोका स्थापन किया जाता है, उन-उन अग्रियोके अलग-अलग नाम हैं, जिनका 'संग्रह' एव 'प्रयोगरत्न' नामक ग्रन्थमें उल्लेख किया गया है।

अग्रिदेवताका बीज मन्त्र 'रं' तथा मुख्य मन्त्र 'रं वह्निचैतन्याय नम ' है।

ध्यान एव नमस्कार-मन्त्र

प्रपञ्चसार, शारदातिलक तथा श्रीविद्यार्णव आदि तन्त्र-ग्रन्थोंमें उनके ध्यान एव नमस्कारके कई मन्त्र मिलते हैं, जिनका आशय प्राय समान ही है। यहाँ शारदातिलकके कुछ ध्यान उद्धृत किये जाते हैं—

इष्टं शक्तिं स्वस्तिकाभीतिमुच्चै-
दीर्घैर्दोर्भिर्धारयन्तं जवाभम्।
हेमाकल्पं पद्मसस्थं त्रिनेत्रं
ध्यायेद्वह्निं बद्धमौलिं जटाभि ॥
(५। ३४)

'अग्रिदेव अपनी बडी-बडी चार भुजाओमें क्रमश वरमुद्रा, अभयमुद्रा, शक्ति एव स्वस्तिकको धारण किये हुए हैं। इनके तीन नेत्र हैं और शिरोभागमें जटाएँ सुशोभित हैं। ये कमलके आसनपर विराजमान हैं तथा इनकी कान्ति जपापुष्पके समान लाल है।'

अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम्।
सुवर्णवर्णममलं समिद्धं विश्वतोमुखम्॥
(५। १९)

'मैं जाज्वल्यमान अग्रिदेवकी वन्दना कर रहा हूँ, जो धन-धान्यको देनेवाले हैं तथा समस्त देवताओंके हविर्भागको यथास्थान पहुँचा देते हैं। इनकी कान्ति प्रज्वलित स्वर्णकी-सी है तथा इनकी ज्वालाएँ दसों दिशाओंमें व्याप्त हैं। ये पूर्णरूपसे अपने तेजोमय रूपमे स्थित हैं।'

वैदिक वाङ्मयमे इन्द्रका चरित्र

(श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी एम्० ए०)

वेदोंमें लगभग ३३ करोड देवी-देवताओकी अभिव्यक्ति की गयी है। उन देवताओको तीन वर्गोंमे विभक्त किया गया है—(१) द्यु-स्थानीय (आकाशवासी) देवता (२) अन्तरिक्ष (मध्य)-स्थानीय देवता तथा (३) पृथिवी-स्थानीय देवता।

इनमे अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओंमें 'इन्द्र' का नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। भारतीय आर्योंके सर्वाधिक प्रिय वैदिक देवता 'इन्द्र' की स्तुतिमे ऋग्वेदमें लगभग २५० सूक्त कहे गये हैं तथा आशिक स्तुतिके सूक्तोको मिलानेपर इनकी संख्या लगभग ३०० तक पहुँचती है। अत वेदाके सर्वाधिक स्तोतव्य इन्द्रदेवके चरित्रका अध्ययन करना आवश्यक दीखता है।

इन्द्र शत्रुसहारक-रूपमें—ऋग्वदमें इन्द्रको वृत्रासुरका विनाशक, शत्रुपुरीका विध्वसक[२] शम्बर नामक दैत्यके पुरोंका नाश करनेवाला[३] रथियोंमे सर्वश्रेष्ठ, वाजिपतियोंका स्वामी[४], दुष्ट-दलनकर्ता[५] शत्रुओंको पर्वतकी गुफाओंमें खदेडनेवाला[६] तथा वीरोके साथ युद्धमें विजयी बतलाया गया है[७]। वहाँ ऐसा भी उल्लेख है कि इन्द्र मात्र अपने आयुध वज्रसे ही सम्पूर्ण शत्रुओंको पराजित करनेकी अद्भुत क्षमता रखते हैं। परतु अथर्ववेदके एक स्थानपर वज्रके आयुधके स्थानपर हाथोंमे बाण एव तरकस लेकर उनके

१-'निष्क्रव्याद ७ सेधा' (शुक्लयजु० १। १७) २-ऋग्वेद २। २०। ७ ३-ऋक्० ६। २१। ४ ४-ऋक्० १। ११। १ ५-ऋक्० ३। ३०। १७ ६-ऋक्० २। १२। ४ ७-ऋक्० १। १७८। ३।

युद्ध करनेका उल्लेख भी मिलता है[१]। ब्राह्मणग्रन्थोमें इन्द्रको वृत्रासुर नामक दैत्यका नाश करनेवाला[२], नमुचि नामक दैत्यका सहार करनेवाला[३], महान् बलवान्[४] तथा देवताओंमें अत्यन्त बलशाली कहा गया है[५]। उपनिषदोंमें इन्हें त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपका, जिसके तीन मस्तक थे, वज्रद्वारा सहार करनेवाला कहा गया है। इन्द्रने आश्रमोचित आचरणसे भ्रष्ट अनेक सन्यासियोंके अङ्ग-भङ्ग कर उनके टुकडे शृगालोको बाँट दिये थे। उन्हें प्रह्लादके परिचारक दैत्योंको मौतके घाट उतारनेवाला भी कहा गया है। इसी प्रकार इन्हें पुलोमासुरके परिचायक दानवो तथा पृथ्वीपर रहनेवाले कालकाश्य नामक दैत्यका सहार करनेवाला भी कहा गया है[६]।

इस प्रकार वैदिक वाङ्मयमें ऋग्वेदसे उपनिषद्‌तक इन्द्रका एक महान् शत्रुसहारकके रूपमें विशद वर्णन मिलता है। आभिचारिक पूजन-हेतु इन्द्रकी प्रतिमाका निर्माण भी होता था। युद्धके देवताके रूपमें, शत्रुको पराजित करनेवाले स्वरूपको व्यक्ति पूजते थे तथा कामना करते थे कि इन्द्र उन्हें उनके शत्रुओंके विरुद्ध युद्धमे विजय प्राप्त कराते। वैदिक साहित्यमें इन्द्रकी राष्ट्रिय देवता या युद्धके देवताके रूपमें ख्याति सतत बनी हुई देखी जा सकती है।

इन्द्र महान् सत्ताधारी-रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रके प्रभावको आकाशसे भी अधिक श्रेष्ठ उनकी महिमाको पृथ्वीसे भी अधिक विस्तीर्ण तथा भीषण, बलमे सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ कहा गया है[७]। उल्लेख है कि उन्होंने आकाशमें द्युलोकको स्थिर किया। द्यावा-पृथ्वी-अन्तरिक्षको अपने तेजसे पूर्ण किया तथा विस्तीर्ण पृथ्वीको धारण कर उसको प्रसिद्ध किया[८]। इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको सूर्य[९], वाणी[१०] तथा मन[११]-का राजा[१२] कहा गया है। उपनिषदोंमें इन्द्रको अन्य देवताओसे श्रेष्ठ कहा गया है[१३]। स्वरोको इन्द्रकी आत्मा[१४] तथा प्राणको स्वय इन्द्र कहा गया है[१५]। इन्द्रके आश्रित होकर ही समस्त रुद्रगण जीवन धारण करते हैं[१६]। इन्द्रको स्पष्टरूपसे देवता मानते हुए उनकी स्तुति करनेका निर्देश दिया गया है[१७]। गर्भाधानके समय इन्द्रको देवता मानते हुए उनका यजन करनेका उल्लेख है[१८]। देवलोकको इन्द्रलोकसे ओतप्रोत बताते हुए[१९] कहा गया है कि दक्षिण नेत्रमें विद्यमान पुरुष इन्द्र ही है[२०]। इन्द्रको आत्मा, ब्रह्म एव सर्वदेवमय कहा गया है[२१]। इन्द्रका प्रिय धाम स्वर्ग है[२२] तथा वायुमण्डलमे विद्यमान पुरुष भी इन्द्र ही है[२३]।

इस प्रकार इन्द्र महान् सत्ताधारीके रूपमें सार्वभौमिक स्वरूपको अग्रसर करते हुए अपनी सत्ताको विद्यमान रखनेमे पूर्णरूपसे सफल रहे। वैदिक कालमे उनकी सत्ता प्रभुता एव सम्पन्नता निश्चितरूपसे उनकी सार्वभौमिकताको प्रस्तुत करती है। उनका प्रत्येक स्थलपर उपस्थित रहना सर्वत्र विद्यमान रहना निश्चितरूपसे उनकी लोकप्रियताको प्रस्तुत करता है।

इन्द्र महाप्रज्ञावान्-रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रकी बुद्धिकी प्रशसा की गयी है[२४]। ब्राह्मणग्रन्थोंमे इन्द्रको श्रुति[२५] एव वीर्य[२६] कहा गया है। पाणिनिने अपने 'अष्टाध्यायी' में इन्द्रको इन्द्रियोका शासक बताते हुए कहा कि इन्द्रसे ही इन्द्रियाको शक्ति मिलती है[२७]। उपनिषदाके अनुसार इन्द्रने प्रजापतिके समीप १०१ वर्षोतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करते हुए ज्ञान प्राप्त किया था[२८]। उन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना था[२९] तथा दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन उनके समीप ज्ञान प्राप्त करने गया था, जिसे उन्होंने ज्ञान प्रदान किया[३०]। इन्द्रको ब्रह्ममन्दिरके द्वारका रक्षक कहा गया है[३१] तथा प्रज्ञाका

१-अथर्ववेद १९। १३। ४ २-तैत्तिरीयब्राह्मण २। ४। ३ ३-वही १। ७। १ ४-शतपथब्रा० ११। ४। ३। १२ तैत्तिरीयब्रा० २। ५। ७। ४ मैक्डानल-'वैदिक माइथालोजी ५३—६३, ५-कौषीतकिब्राह्मण ६। १४ ६-कौषीतकि-उप० ३। १ ७-ऋग्वेद १। ५५। १ ८-वही २। १५। २ ९-शतपथब्राह्मण ८। ५। ३। २ १०-जैमिनीयब्राह्मण १। ३३। २ ११-गोपथब्राह्मण ४। ११ १२-तैत्तिरीयब्रा० ३। ८। २३। २ कौषीतकिब्राह्मण ६। ९ १३-केनोपनिषद् ४। १-२ १४-छान्दोग्योपनिषद् २। २२। २ १५-कठोपनिषद्, १६-छान्दोग्योप० ३। ७ १७-बृहदारण्यक० १। ४। ५-६ १८-छान्दोग्य० १९-बृहदारण्यक० ३। ६। १ २०-वही ४। २। २ २१-ऐत० उप० १। ३। १४ ३। १। ३ २२-कौषीतकि-उप० ३। १ २३-वही २४-ऋग्वेद १। ५४। ८ २५-तैत्तिरीयब्राह्मण २। ३। १ २६-ताण्ड्यब्राह्मण ९। ७। ५, ऐतरेयब्राह्मण ८। ७ २७-पाणिनिका अष्टाध्यायी सूत्रपाठ ५। २। ९३ २८-छान्दोग्योपनिषद् ८। ११। ३ २९-केनोपनिषद् ४। २ ३०-कौषीतकि-उपनिषद् ३। १ ३१-कौषीतकि-उप० १। ३।

साक्षात् रूप प्राण कहा गया है[1]। एक स्थानपर तो उनको आयु एव अमृत भी कहा गया है[2]।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि 'इन्द्र' की प्रसिद्धि उनकी अपरिमित अजेयता वीरता, सार्वभौमिकता एव ज्ञान आदिकी पराकाष्ठाके सारभूत तत्त्वाकी अधिकताके कारण ही रही। इसी कारण उनका चरित्र आज भी एक उल्लेखनीय व्यक्तित्वके रूपम उपस्थित है। उनकी लोकप्रियताको बनाये रखनेमे उनके चरित्रका विशेष यागदान रहा है, जिसके कारणस्वरूप वे आज भी एक महान् देवताके रूपमें जाने जाते हैं। यद्यपि कालके प्रभावसे देवताओंके महत्त्व घटते-बढते रहे, किंतु इनके चरित्र एव महत्त्व आज भी उल्लेखनीय हैं। वे आज भी स्वर्गके राजा हैं और उन्हें देवताओका सहयोग सदा रहा है।

आख्यान—

मरुद्गणोका देवत्व

दैत्योकी माता दितिने अपने पति कश्यप ऋषिसे कहा—'देवगण हमेशा हमारी सतानोको मारनेके लिये तरह-तरहके उपाय करते रहते हैं। हमारी एक ऐसी संतान होनी चाहिये, जो इन्द्रका वध कर सके।'

पति-पत्नी दोनाने ऐसा सकल्प किया। कुछ दिनोंके बाद दिति गर्भवती हुई। इन्द्रको पता लगा कि दितिने ऐसी संतानकी कामना करके गर्भ धारण किया है जो पैदा होनेके बाद उसका वध कर सके।

इन्द्रको सदासे अपना पद, अपनी प्रतिष्ठा तथा अपना प्राण प्यारा रहा है। इसको बचानेके लिये वे काई भी उचित-अनुचित कदम उठा सकते थे। इसके लिये वे किसी नीति-अनीतिका विचार नहीं करते थे।

दितिके प्रसवसे पूर्व एक दिन इन्द्र छलपूर्वक सूक्ष्मरूपसे दितिके पेटमें घुस गये और उस गर्भस्थ शिशुके सात टुकडे कर दिये। टुकडामें बँट जानेपर भी वह बच्चा रोता रहा तो इन्द्रने उन्ह चुप करनेके लिये उन सातोंके सात-सात टुकडे कर दिय। इस प्रकार उनचास टुकड़े हो जानेपर कहा—'मा रुदत, मा रुदत' अर्थात् मत रोओ, मत रोओ।

वह बच्चा ऋषि-शक्तिसे सम्पन्न था अत टुकड़ोंमें बँटनेपर भी मरा नहीं बल्कि उनचास खण्डोम जन्मा। उतने बच्चोको एक साथ रोते देखकर माँ दिति घबरा गयी और उसने भी 'मा रुदत', 'मा रुदत' कहकर चुप कराया। इस तरह उन बच्चोंका नाम ही 'मरुत्' हा गया। वे सब सख्यामे उनचास थे।

जब इन्द्रको पता चला कि दितिको यह ज्ञात हो गया है कि उसके बच्चेको इस प्रकार उनचास टुकड़ामे बाँट देनेका जघन्य कार्य इन्द्रने किया है तो डरके मारे वह कश्यप और दितिके पास आया तथा उसन हाथ जोडकर क्षमा माँगी। अपने इस पापके प्रायश्चित्तके लिये इन मरुतोको देवश्रेणी प्रदान करने तथा यज्ञभाग पानेका अधिकारी बनाया। दिति और कश्यपको इससे सतोष हुआ। वे सब मिलकर 'मरुद्गण' कहलाये।

बडे होनेपर मरुद्गणाको द्युलोक तथा अन्तरिक्षमें स्थान दिया गया। ये इन्द्रकी बड़ी सहायता करते थे। जिस ओर भी ये चलते थे वायुमें प्रकम्प पैदा होता था तथा वायुकी वक्रतासे उसमें विद्युत् पैदा होती थी। ऐसे अवसरपर कहा जाता था कि *'चले मरुत उनचास।'*

एक बार इन्द्र तथा मरुद्गणोमे किसी प्रकारका विवाद हो गया। इन्द्र रुष्ट हो गये और उन्होने व्यवस्था की कि अब यज्ञमें मरुद्गणोंका देवों-जैसा यज्ञभाग नहीं मिलेगा। मरुद्गणाको इन्द्रके इस निर्णयका पता नहीं चला, परंतु एक बार महर्षि अगस्त्यने एक यज्ञ शुरू किया तो उसमें देवों तथा मरुद्गणोको हविष्य डालनेका कहा।

इन्द्रने कहा—'ऋषिवर मरुद्गणाको यज्ञभागसे वंचित कर दिया गया है। अब इन्हें यज्ञमें भाग लेनेका अधिकार नहीं और न ही ये यज्ञाग्निमें हविष्य डाल सकेंगे।'

इन्द्रका यह निर्णय सुनकर महर्षि अगस्त्यने कुछ नहीं कहा, पर मरुद्गणोंने इसे अपना अपमान तथा पराभव समझा। क्रोधित होकर व यज्ञवेदीसे उठ गये। मरुद्गणोंके इस प्रकार यज्ञवेदीसे क्रोधित हो उठकर जाते दख महर्षि अगस्त्यने इन्द्रसे कहा—'इन्द्र! तुम्हारी शक्ति पद प्रतिष्ठा तथा पूजा समस्त देवोंके सहयोग

१-कौषीतकि-उप० ३। २ २-कौषीतकि-उप० १। ३।

तथा कार्यसे होती है। चूँकि तुम देवताओके राजा हो इसलिये सारा यश और प्रतिष्ठा तुम्हें मिलती है और सर्वत्र सबसे बढकर तुम्हारी ही पूजा होती है। यह मत भूलो कि यदि ये देवगण एक-एक कर तुमसे असहयोग करने लगगे तो तुम्हारी शक्ति शून्य हो जायगी। इन मरुद्गणाकी शक्ति नहीं जानते और यह भी नहीं जानते कि इन्हींके सहयोगसे भूमण्डलमे तुम्हे सर्वपूज्य देवता माना गया है।'

'ये मरुद्गण भूमिधर्मा जलको अपने बलसे आकाशम उठाकर फिर उन्हे वर्षाके रूपमे पृथ्वीपर भेजकर अन्न फल फूल तथा वनस्पतियोके उत्पादनम सहयोग देते हैं। ये सामान्यरूपसे चलकर समस्त जीवोको प्राणवायु प्रदान करते हैं। यदि ये रुष्ट हो गये और भूमण्डलमे अकाल पडा ता इसके दोषी तुम होओगे और तुम्हारी पूजा तथा प्रतिष्ठाकी हानि होगी। यदि ये सब अपने सामूहिक वेगसे चलने लगेगे तो कौन उस वेगको सँभालेगा और कौन उसके आगे ठहर सकेगा? तुम्हारे देवलोकको ब्रह्माण्डके किस अन्तरिक्षमें ये फेंक देंगे किसीको पता भी नहीं चलेगा।'

'इसलिये अहकारवश अपने विनाशका कारण मत बनो। विवेकवान् होओ, अहकार त्याग कर विनयशील होओ। सबके सहयोगसे विश्वका कल्याण करो, इसीसे तुम्हारे अस्तित्वकी रक्षा होगी।'

महर्षि अगस्त्यकी यह चेतावनी सुनकर इन्द्रका अहकार नष्ट हुआ। उन्होने जाकर मरुद्गणोसे क्षमा माँगी तथा विनयपूर्वक सबको मनाया एव उन्हें यज्ञभागका अधिकारी बनाया और देवश्रेणीकी मर्यादा दी। [ऋग्वेद]

[भारतीय सस्कृति-कथा-कोश]

वेदोमे भगवान् सूर्यकी महत्ता और स्तुतियाँ

(श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री रसिकेश)

पृथ्वीसे भी अत्यधिक उपकारक भगवान् सूर्य हैं। अत हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियोने श्रद्धा-विभोर होकर सूर्यदेवकी स्तुति-प्रार्थना और उपासनाके सैकडो सुन्दर मन्त्रोकी उद्भावना की है। उनके प्रशसनीय प्रयासका दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

सूर्य-स्तुति

वैदिक ऋषियोंका ध्यान भगवान् सूर्यके निम्नलिखित गुणोंकी ओर विशेषरूपसे गया है—(क) अन्धकारका नाश, (ख) राक्षसोंका नाश (ग) दु खो और रोगोंका नाश (घ) नेत्र-ज्योतिकी वृद्धि (ङ) चराचरकी आत्मा, (च) आयुकी वृद्धि और (छ) लोकोका धारण।

नीचे भुवन-भास्करके इन्हीं गुणोंके सम्बन्धम वेद-मन्त्रोद्वारा प्रकाश डाला जाता है—

अन्धकारका नाश—

अभितपा सौर्य ऋषिकी प्रार्थना है—

येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।
तेनास्मद्विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्वप्न्य सुव॥
(ऋक्० १०। ३७। ४)

'हे सूर्य! आप जिस ज्योतिसे अन्धकारका नाश करते हैं तथा प्रकाशसे समस्त ससारमे स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं उसीसे हमारा समग्र अन्नोका अभाव, यज्ञका अभाव, रोग तथा कुस्वप्नोंके कुप्रभाव दूर कीजिये।'

राक्षसोका नाश—

महर्षि अगस्त्य ऐसे ही विचारोंको निम्नाङ्कित मन्त्रम व्यक्त करते हैं—

उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
अदृष्टान् त्सर्वाञ्जम्भयन् त्सर्वाश्च यातुधान्य ॥
(ऋक्० १। १९१। ८)

'सबको दीखनवाले न दीखनेवाले (राक्षसा)-को नष्ट करनेवाले सब रजनीचरो तथा राक्षसियोको मारते हुए ये सूर्यदेव सामने उदित हो रहे हैं।'

रोगोका नाश—

प्रस्तुत मन्त्रसे विदित होता है कि सूर्यका प्रकाश पीलिया राग तथा हृदयके रागोंमें विशेष लाभप्रद माना जाता था। प्रस्कण्व ऋषिकी सूर्यदवतासे प्रार्थना है—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरा दिवम्।

हृद्रोग मम सूर्य हरिमाण च नाशय॥

(ऋक्० १। ५०। ११)

'हे हितकारी तेजवाले सूर्य! आप आज उदित होते तथा ऊँचे आकाशमे जाते समय मर हृदयके रोग और पाण्डुरोग (पीलिया)-को नष्ट कीजिये।' इस मन्त्रके 'उद्यन्' तथा 'आरोहन्' शब्दासे सूचित होता है कि दोपहरसे पूर्वके सूर्यका प्रकाश उक्त रोगोंका विशेषत नाश करता है।

नेत्र-ज्योतिकी वृद्धि—

वेदोमे विभिन्न देवताओंको पृथक्-पृथक् पदार्थोंका अधिपति एव अधिष्ठाता कहा गया है। उदाहरणार्थ अथर्ववेद (५। २४। ९)-में अथर्वा ऋषि हमें बतात हैं कि जैसे अग्नि वनस्पतियोके, सोम लताओके, वायु अन्तरिक्षके तथा वरुण जलोंके अधिपति हैं वैसे ही 'सूर्यदेवता नेत्रोंके अधिपति हैं। वे मेरी रक्षा करे'—

सूर्यश्चक्षुपामधिपति स मावतु॥

यहाँ नेत्र प्राणियोके नेत्रोंतक ही सीमित नहीं है क्योंकि वेद तो भगवान् सूर्यको मित्र वरुण तथा अग्निदेवके भी नेत्र बताते हैं—

चित्रं देवानामुदगादनीक चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने ।

(ऋक्० १। ११५। १)

'ये सूर्य देवताओंके अद्भुत मुखमण्डल ही हैं जो कि उदित हुए हैं। ये मित्र वरुण और अग्निदेवोके चक्षु हैं।' सूर्य तथा नेत्रोके घनिष्ठ सम्बन्धको ब्रह्मा ऋषिने इन अमर शब्दोमे व्यक्त किया है—

सूर्यो मे चक्षुर्वात प्राणोऽन्त-
रिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।

(अथर्व० ५। ९। ७)

'सूर्य ही मेरे नेत्र हैं, वायु ही प्राण हैं, अन्तरिक्ष ही आत्मा है तथा पृथिवी ही शरीर है।'

इसी प्रकार दिवंगत व्यक्तिके चक्षुके सूर्यमे लीन होनेकी कामना की गयी है (ऋक्० १०। १६। ३)। सूर्यदेवता दूसरोको ही दृष्टि-दान नहीं करते स्वय दूर रहते हुए भी प्रत्येक पदार्थपर पूरी दृष्टि डालत हैं। ऋजिश्वा ऋषिके विचार इस विषयमे इस प्रकार हैं—

वेद यस्त्रीणि विदथान्येषा देवाना जन्म सनुतरा च विप्र ।
ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्नभि चष्टे सूरो अर्य एवान्॥

(ऋक्० ६। ५१। २)

'जो विद्वान् सूर्यदेवता तथा इन अन्य देवताओंके स्थानो (पृथिवी अन्तरिक्ष एव द्यौ) और इनकी सतानोंके ज्ञाता हैं वे मनुष्योके सरल और कुटिल कर्मोंको सम्यक् देखते रहते हैं।'

चराचरकी आत्मा—

वैदिक ऋषियोकी प्रगाढ अनुभूति थी कि सूर्यका इस विशाल विश्वमें वही स्थान है जो शरीरमे आत्माका। इसी कारण वेदोमे ऐसे अनेक मन्त्र सहज सुलभ हैं, जिनमे सूर्यको सभी जड-चेतन पदार्थोंकी आत्मा कहा गया है। यथा—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ (ऋक्० १। ११५। १)

'ये सूर्यदेवता जगम तथा स्थावर सभी पदार्थोंकी आत्मा हैं।'

आयु-वर्धक—

यो तो रोगोके बचाव तथा उनके उपचारसे भी आयु-वृद्धि होती है, फिर भी वेदोंमें ऐसे मन्त्र विद्यमान हैं, जिनमें सूर्य एव दीर्घायुका प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखाया गया है। यथा—

तच्चक्षुर्देवहित पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरद शत जीवेम शरद शतम्०॥ (शुक्लयजु० ३६। २४)

'देवताओंद्वारा स्थापित वे तेजस्वी सूर्य पूर्व दिशामें उदित हो रहे हैं। उनके अनुग्रहसे हम सौ वर्षोंतक (तथा उससे भी अधिक) देखे और जीवित रहे।'

लोक-धारण—

वैदिक ऋषि इस बातका सम्यक् अनुभव करते थे कि लोक-लोकान्तर भी सूर्यदेवताद्वारा धारण किये जाते हैं। निदर्शनके लिये एक ही मन्त्र पर्याप्त होगा—

विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिव ।
येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता॥

(ऋक्० १०। १७०। ४)

'हे सूर्य! आप ज्योतिसे चमकते हुए द्युलोकके सुन्दर सुखप्रद स्थानपर जा पहुँचे हैं। आप सर्वकर्म-साधक तथा सब देवताओंके हितकारी हैं। आपने ही सब लोक-लोकान्तरोको धारण किया है।'

सूर्य-देवसे प्रार्थनाएँ

उपर्युक्त अनेक मन्त्रोमें सूर्यदेवताका गुणगान ही नहीं है प्रसगवश प्रार्थनाएँ भी आ गयी हैं। दो-एक अभ्यर्थनापूर्ण मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्या
पुत्रं नाथकाम उप यामि भीत ।
स न सूर्य प्र तिर दीर्घमायु-
र्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम॥

(अथर्व० १३। २। ३७)

'मैं द्यौकी पीठपर उडते हुए अदितिके पुत्र सुन्दर पक्षी (सूर्य)-के पास कुछ माँगनेके लिये डरता हुआ जाता हूँ। हे सूर्यदेव! आप हमारी आयु खूब लबी करे। हम कोई कष्ट न पावे। हमपर आपकी कृपा बनी रहे।'

अपने उपास्य प्रसन्न हो जायँ तो उनसे अन्य कार्य भी करा लिये जाते हैं। निम्नलिखित मन्त्रमे महर्षि वसिष्ठ भगवान् सूर्यसे कुछ इसी प्रकारका कार्य करानेकी भावना व्यक्त करते हैं—

स सूर्य प्रति पुरो न उद् गा एभि स्तोमेभिरेतशेभिरेवै ।
प्र नो मित्राय वरुणाय वोचो ऽनागसो अर्यम्णे अग्नये च॥

(ऋक्० ७। ६२। २)

'हे सूर्य ! आप इन स्तोत्रोंके द्वारा तीव्रगामी घोडाके साथ हमारे सामने उदित हो गये हैं। आप हमारी निष्पापताकी बात मित्र, वरुण अर्यमा तथा अग्निदेवसे भी कह दीजिये।'

उपासना

स्तुति, प्रार्थनाके पश्चात् उपासककी एक ऐसी अवस्था आ जाती है, जब वह अपने-आपको उपास्यके पास ही नहीं, बल्कि अपनेको उपास्यसे अभिन्न अनुभव करने लगता है। ऐसी ही दशाकी अभिव्यक्ति निम्नलिखित वेद-मन्त्रमें की गयी है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुष सोऽसावहम्०॥

(शुक्लयजु० ४०। १७)

'उस अविनाशी आदित्यदेवताका शरीर सुनहले ज्योतिपिण्डसे आच्छादित है। उस आदित्यपिण्डके भीतर जो चेतन पुरुष विद्यमान है वह मैं ही हूँ।' उपर्युक्त विवरणसे सिद्ध है कि जहाँ हमारे वैदिक पूर्वज भौतिक आदित्यपिण्डसे विविध लाभ उठाते थे, वहाँ उसमे विद्यमान चेतन सूर्यदेवतासे स्व-कामनापूर्तिके लिये प्रार्थनाएँ भी करते थे। तत्पश्चात् उनसे एकरूपताका अनुभव करते हुए असीम आत्मिक आनन्दके भागी बन जाते थे। सचमुच महाभाग सूर्य महान् देवता हैं।

वैदिक वाङ्मयमे चन्द्रमा

(आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है—'नक्षत्रोमे मैं चन्द्रमा हूँ'—'नक्षत्राणामहं शशी' (गीता १०। २१)। कतिपय भारतीय विद्वानोंने भगवान् श्रीकृष्णके कथनके आधारपर नक्षत्रोंका सम्बन्ध चन्द्रमासे जोड लिया। नक्षत्रोंको स्त्रियाँ मानकर चन्द्रमाको उनका पति स्वीकार कर लिया गया। सूर्य ग्रहोंके राजा माने गये। सूर्य और चन्द्रमाकी प्रधानता उनके 'प्रकाश' के आधारपर ही स्थापित हुई। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने ज्योतियामे अपनेको 'किरणोवाला' सूर्य कहा है—'ज्योतिषा रविरंशुमान्' (गीता १०। २१)।

वैदिक साहित्यमे चन्द्रमाका जो वर्णन है उसमे चन्द्रमाको एक लोक ही माना गया है। ससारकी संरचनामे उस विराट् पुरुषने अन्यान्य जितनी रचनाएँ की हैं उनमे सूर्य और चन्द्रलोककी गणना सर्वप्रथम है। इसका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद-संहिता (१०। १९०। ३)-में इस प्रकार है—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिव च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो स्व ॥' चन्द्रमा और नक्षत्राके सम्बन्धको स्पष्ट करते हुए तैत्तिरीयसहितामे एक उल्लेख प्राप्त होता है—'यथा सूर्यो दिवा चन्द्रमसे समनमन्नक्षत्रेभ्यो समनमद् यथा चन्द्रमा नक्षत्रे वरुणाय समनमत्॥'

एक कथनसे यह भी प्रमाणित होता है कि धरा (पृथ्वी)-पर अग्निकी स्थिति मानी गयी है। अन्तरिक्षमे वायुकी प्रधानता है। द्युलोकमे सूर्यकी और नक्षत्रलोकमें चन्द्रमाकी प्रधानता है। आधुनिक वैज्ञानिक चन्द्रमाको नक्षत्रोसे बहुत दूर मानते हैं। किंतु चन्द्रमाका सम्बन्ध नक्षत्रोंसे पृथक् नहीं किया जा सकता। जिन-जिन समूहोको नक्षत्रोकी परिभाषामे स्वीकारा गया है उन ताराओकी आपसी दूरी भी बहुत लबी-लबी मानी जाती है। विस्तार-भयसे यहाँ अधिक नहीं लिखा जा सकता। या तो सूर्यका

सम्बन्ध चन्द्रमासे भी है और सूर्य नक्षत्रोसे भी सम्बन्धित है। नक्षत्रासे चन्द्रमाका विशेष सम्बन्ध दर्शनिका यही तात्पर्य है कि रातमे चन्द्रमा और नक्षत्रांके दर्शन स्पष्ट होते हैं, दिनमें नहीं, क्योंकि दिनमे सूर्यका तीव्र प्रकाश बाधक बनता है।

तैत्तिरीयसहिताके आधारपर कुछ लोग सूर्यमण्डलसे ऊपर चन्द्रमण्डलकी कल्पना करने लगे थे किंतु वास्तविकता यह नहीं है। ऋग्वेद-सहिता (१। १०५। ११)-में निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—

सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिव । ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं""रोदसी॥

आचार्य यास्क और आचार्य सायणके मतानुसार उपर्युक्त ऋचाका आशय यह है कि 'अन्तरिक्षमे चन्द्रमा सूर्यसे नीचे है। इसी शुक्तकी पहली ऋचामे चन्द्रमाको पक्षी अर्थात् अन्तरिक्षम सचार करनवाला कहा गया है।'

सवत्सरोका निर्णय करते हुए तैत्तिरीय-ब्राह्मणमें लिखा गया है कि 'अग्नि ही सवत्सर है, आदित्य परिवत्सर है चन्द्रमा इडावत्सर है और वायु अनुवत्सर है'—

अग्निर्वा सवत्सर । आदित्य परिवत्सर । चन्द्रमा इडावत्सर । वायुरनुवत्सर ।

श्रीसायणाचार्यने ऋग्वेदकी व्याख्याम एक स्थलपर लिखा है—'चन्द्रमा सूर्यके प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है।' आधुनिक वैज्ञानिक भी इसे स्वीकारते हैं। सूर्यके प्रकाशसे चन्द्रमाका प्रकाशित होनेकी बात ऋग्वेदमें पहले ही कही गयी है। श्रीसायणाचार्य लिखते हैं—'चन्द्रबिम्बे सूर्यकिरणा प्रतिफलन्ति। अर्थात् चन्द्रबिम्बमें सूर्यकी किरणें ही प्रतिभासित होती हैं।

इस तथ्यको सभी स्वीकारत हैं कि चन्द्रमा सूर्यस आकार-प्रकारम बहुत छोटा है। चन्द्रमाका व्यास २१५९ मील ही बताया जाता है। चन्द्रमा पृथ्वीका ही एक उपग्रह माना जाता है। चन्द्रमाका पृथ्वीस सीधा और सनिकटका सम्बन्ध माना गया है। पृथ्वीसे चन्द्रमा २५२७१० मील ही दूरस्थ है। ब्राह्मणग्रन्थोंमें हजारा वर्ष पूर्व यह स्वीकार लिया गया था कि चन्द्रमाम जो 'दृश्य भाग' धब्बा (कृष्ण)-के रूपम दीख पडता है, वह पृथ्वीका हृदय है—'यच्चन्द्रमसि कृष्ण पृथिव्या हृदयं श्रितम्।' (मन्त्र-ब्राह्मण)

चन्द्रमाके जिस काले धब्बेको ब्राह्मणग्रन्थम पृथ्वीका हृदय बताया गया है, वह पृथ्वी और चन्द्रमाके अटूट सम्बन्धका द्योतक है—बोधक है। अथर्ववेदके एक सूक्तसे अवगत होता है कि चन्द्रमा अपने सत्ताईस नक्षत्रोसहित अत्यन्त दीर्घायुवाला ग्रह है। 'वह दीर्घायुवाला ग्रह हमें 'दीर्घायु' प्रदान करे।' इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन नक्षत्राका आधुनिक वैज्ञानिक स्थिर और अत्यन्त प्राचीन मानते हैं उसे अथर्ववेदम बहुत पहले ही लिख दिया गया है—

चन्द्र आयुष्मान् सनक्षत्रमायुष्मान् समायुष्मान् आयुष्मन्तं कृणोतु॥

ऋग्वेद और सामवेदमे स्पष्ट लिखा है कि चन्द्रमा पृथ्वीका शिशु है— शिशुर्महीनाम्।'

वेदाके अतिरिक्त उपनिषदामें भी चन्द्रमाको वैज्ञानिकोंने स्वीकारा है कि 'चन्द्रमासे औषधिया और पौधाकी वृद्धि होती है। चन्द्रमा औषधियोंका पोषक माना गया है।' प्रश्नोपनिषद् (१। ५)-म स्पष्ट लिखा गया है कि 'सूर्य प्राण है, चन्द्रमा अन्न है'—

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा ॥

श्रीमद्भागवतके रचयिता महर्षि व्यासजीने चन्द्रमाके विषयम विस्तारसे लिखा है। 'चन्द्रमा सोलह कलाओंसे युक्त मनोमय, अन्नमय, अमृतमय (प्राणमय) परम पुरुष परमात्माका ही रूप है। चन्द्रमा अपने तत्त्वोसे देव पितर, मनुष्य भूत पशु, पक्षी सरीसृप वृक्ष और लता आदि समस्त प्राणियोंका पोषक है। अत चन्द्रमाको 'सर्वमय' कहा जाता है'—

य एष षोडशकल पुरुषो भगवान् मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायन-शीलत्वात्सर्वमय इति वर्णयन्ति॥ (श्रीमद्भा० ५। २२। १०)

चन्द्रमाकी उत्पत्ति विराट् भगवान्के मनसे मानी गयी है— चन्द्रमा मनसो जात । चन्द्रमा भगवान्का मन भी माना गया है। ज्योतिषफलित-विचारसे चन्द्रमा जीवके मनका 'कारक' माना जाता है।

वेदोमे शिव-तत्त्व

शिव ही ब्रह्म है

श्वेताश्वतरोपनिषद्‌के प्रारम्भमे ब्रह्मके सम्बन्धमे जिज्ञासा उठायी गयी है। पूछा गया है कि जगत्‌का कारण जो ब्रह्म है, वह कौन है?—

'कि कारण ब्रह्म' (१। १)।

श्रुतिने आगे चलकर इस 'ब्रह्म' शब्दके स्थानपर 'रुद्र' और 'शिव' शब्दका प्रयोग किया है—

'एको हि रुद्र ।' (३। २)

'स""शिव ॥' (३। ११)

समाधानमे बताया गया है कि जगत्‌का कारण स्वभाव आदि न होकर स्वयं भगवान् शिव ही इसके अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभि ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपा ॥

(श्वेता० ३। २)

अर्थात् जो अपनी शासन-शक्तियाके द्वारा लोकापर शासन करते हैं वे रुद्रभगवान् एक ही हैं। इसलिय विद्वानोंने जगत्‌के कारणके रूपमे किसी अन्यका आश्रयण नहीं किया है। वे प्रत्येक जीवके भीतर स्थित हैं समस्त जीवाका निर्माण कर पालन करते हैं तथा प्रलयम सबको समेट भी लेते हैं।

इस तरह 'शिव' और 'रुद्र' ब्रह्मके पर्यायवाची शब्द ठहरते हैं। 'शिव' को 'रुद्र' इसलिये कहा जाता है कि अपने उपासकोंके सामने अपना रूप शीघ्र ही प्रकट कर देते हैं—

कस्मादुच्यते रुद्र ? यस्मादृषिभि"""""द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते। (अथर्वशिर० उप० ४)

भगवान् शिवको 'रुद्र' इसलिये भी कहते हैं—ये 'रुत्' अर्थात् दु खको विनष्ट कर देते हैं—'रुत्=दु खम्, द्रावयति=नाशयतीति रुद्र ।'

तत्त्व एक है, नाम अनेक

शिव-तत्त्व तो एक ही है—'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' (छा० उ० ६। २। १)। उस अद्वय-तत्त्वके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं—'एकमेव सत्।' 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० उ० ४। ४। १९)। किंतु उस अद्वय-तत्त्वके नाम अनेक होते हैं—'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति॥' (ऋक्० १। १६४। ४६) अर्थात् उस अद्वय-तत्त्वको विज्ञगण अनेक नामोंसे पुकारते हैं।

रूप भी अनेक

नामकी तरह उस अद्वय-तत्त्वके रूप भी अनेक होते हैं। ऋग्वेदने 'पुरुरूपम्' (२। २। ९) लिखकर इस तथ्यको स्पष्ट कर दिया है। दूसरी श्रुतिने उदाहरण देकर समझाया है कि एक ही भगवान् अनेक रूपमें कैसे आ जाते हैं—

अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो
रूप रूप प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठोपनिषद् २। २। ९)

जैसे कण-कणमें अनुस्यूत अग्नि (देव) एक ही है, किंतु अनेक रूपामे हमारे सामने प्रकट होता है, वैसे भगवान् शिव एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं। लोक-कल्याणके लिये सद्योजात वामदव, तत्पुरुप अघोर, ईशान आदि अनेक अवतार-रूपोमें वे प्रकट हुए हैं (शिवपु०, शतरुद्रसहिता)।

अनेक नाम-रूप क्यों?

जिज्ञासा होती है कि शिव एक ही हैं तव वे अनेक नामा और अनेक रूपाको क्यों ग्रहण करते हैं? इसके उत्तरमें श्रुतिने कहा है—

प्रयोजनार्थं रुद्रेण मूर्तिरेका त्रिधा स्थिता॥

(रुद्रहृदयोपनिषद् १५)

अर्थात् प्रयोजनवश भगवान् शिव अपनी अनेक मूर्तियाँ बना लेते हैं—अब देखना है कि आखिर वह कौन-सा प्रयोजन है जिसके लिये वह अद्वय-तत्त्व अनेक नामों और रूपाको ग्रहण करता है।

विविधताका कारण—लीला

इसका समाधान ब्रह्मसूत्रसे होता है। वहाँ बताया गया है कि लीला (क्रीडा)-के अतिरिक्त इस सृष्टि-रूप

विविधताका और कोई प्रयाजन नहीं है—

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥'

(ब्रह्मसूत्र २। १। ३३)

अर्थात् यह अद्वय-तत्त्व जा सृष्टिके रूपमे आता है, उसका प्रयोजन एकमात्र 'लीला' है। इसके अतिरिक्त सृष्टिका और कोई प्रयोजन नहीं है।

आप्तकामकी कामना व्याहत नहीं

प्रश्न उठता है कि ईश्वर तो आप्तकाम हैं अर्थात् उनकी सब इच्छाएँ पूर्ण रहती हैं, फिर वे खेलकी भी कामना कैसे कर सकते हैं? ईश्वरको 'आप्तकाम' कहना और फिर उनम किसी कामनाका कहना तो व्याहत है हम लोगोको तो तरह-तरहके अभावोंसे जूझना पडता है, जिनकी पूर्तिक लिये हम कामनाएँ किया करते हैं। ईश्वरको तो किसी वस्तुका अभाव है नहीं फिर वे कामना किसकी करेगे? यह जिज्ञासा महात्मा विदुरको भी व्यग्र करती थी। उन्होंने मैत्रेयजीस पूछा था—'ब्रह्मन्! भगवान् तो शुद्ध बोध-स्वरूप निर्विकार और निर्गुण हैं, फिर उनके साथ लीलासे ही गुण और क्रियाका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? बालकामें जा खेलकी प्रवृत्ति होती है, वह कामना-प्रयुक्त होती है, किंतु भगवान् तो असग हैं और नित्य-तृप्त हैं, फिर लीलाके लिये सकल्प ही कैसे करेगे?'

ब्रह्मन् कथ भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिण ।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणा क्रिया ॥
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यत ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यत ॥

(श्रीमद्भा० ३। ७। २-३)

लीला स्वरूप-भूत

बात यह है कि ईश्वर प्रेम-रूप हैं—'तस्मात् प्रेमानन्दात्' (साम० उप०)। और प्रेममें क्रीडाएँ होती ही हैं, क्योंकि लीला प्रेमका स्वभाव है। प्रेम अपने प्रेमास्पदपर सब कुछ न्योछावर कर देना चाहता है। चाहता है कि वह अपने प्रियको निरन्तर दखता ही रहे। यह कभी नहीं चाहता कि उसका प्रेमास्पद कभी उसकी आँखाको ओटमें हो। प्रेमम इस तरहकी अनगिनत लीलाएँ चला ही करती हैं।

शिव ही लीलास्थली और खेलनेवाले भी बन गये

किंतु जब ईश्वर एक है अद्वितीय है, तब देखा-देखी और अर्पणका यह खेल किसके साथ खेले और कहाँ रहकर खेले?

इसकी पूर्तिके लिये सन्मय चिन्मय और आनन्दमय प्रभु स्वय स्थावर भी बन जाते हैं और जङ्गम भी। उनका स्थूल-से-स्थूल रूप है—ब्रह्माण्ड, जो क्रीडास्थलीका काम देता है—

विशेषस्तस्य देहोऽय स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूत भव्य भवच्च सत्॥

(श्रीमद्भा० २। १। २४)

अर्थात् 'यह ब्रह्माण्ड, जिसमें भूत वर्तमान और भविष्यकी समस्त वस्तुएँ दीख पड़ती हैं—भगवान्का स्थूल-से-स्थूल शरीर है।'

प्राकृत होनेके कारण प्रारम्भमे यह ब्रह्माण्ड निर्जीव था भगवान्ने इसमे प्रवेश कर इसे जीवित कर दिया—जीवोऽजीवमजीवयत्' (श्रीमद्भा० २। ५। ३४)। 'फिर वे विराट्-पुरुषके रूपमें आये। उसके बाद दो पैरोंवाले और चार पैरावाले बहुत-से शरीर बनाये तथा अशरूपसे इनमें भी प्रविष्ट हो गये'—

पुरश्चक्रे द्विपद पुरश्चक्रे चतुष्पद ।
पुर स पक्षी भूत्वा पुर पुरुष आविशत्॥

(बृ० उप० २। ५। १८)

इस तरह क्रीडास्थली भी तैयार हा गयी और खेलमें भाग लेनेवालाकी भीड भी इकट्ठी हो गयी। इन प्राणियोंके जो अनन्त सिर, अनन्त आँख और अनन्त पैर हैं, ये सब उन्हींके ब्रह्माण्ड-देहम हैं। इसीसे प्रभुको 'सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष सहस्रपात्' कहा गया है—

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।
स भूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(श्वेता० उप० ३। १४)

भगवान् शिवने सब जगह आँखें, मुँह और पैर कर लिये—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।

(श्वेता० उप० ३। ३)

इसलिये कि अपने प्रेमियाको हजार-हजार नेत्रासे निरन्तर निहारा करं, अपने प्रेमियोंके अर्पित वस्तुओका भोग लगा सकें, हजारो हाथोसे उनका रक्षण कर सके एव उन्हे स्नेहसे गले लगा सके और जहाँ-कहीं बुलाया जाय, वहाँ तत्काल पहुँच भी सके। श्रुति कहती है—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु॥
(श्वेता० उप० ३। ४)

अर्थात् 'जो रुद्रभगवान् देवताओकी उत्पत्ति एव वृद्धिके हेतु हैं, जो विश्वके नाथ और सर्वज्ञ हैं तथा जिन्हाने सृष्टिके आदिमे हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया था वे हमे शुभ बुद्धिसे सयुक्त कर।'

इस तरह रुद्रभगवान् क्रीडास्थलीका निर्माण कर एव जीवाको प्रकट कर इनके 'शरीररूपी नगरमे, बाह्य-जगत्में निवास कर लीला कर रहे हैं'—

नवद्वारे पुरे देही ह"सो लेलायते बहि ।
(श्वेता० उप० ३। १८)

रुचिके अनुरूप रूप

प्रेमम रुचिका अत्यधिक महत्त्व है। लोगोकी रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है। रुचिक अनुरूप नाम और रूप न मिले तो उपासनामे प्रगति नहीं हो पाती। रुचिके विपरीत उपासनासे तुकाराम-जैसे सत भी घबराते हैं। सत तुकारामकी रुचि विट्ठलरूप गोपाल कृष्णपर थी। राम, कृष्ण हरि-नाम ही उन्हे रुचता था। इनके गुरुदेवन स्वप्नम इन्ह इन्हीं नामा और रूपोंकी उपासनाकी दीक्षा दी। इससे सत तुकारामको बहुत ही सतोष हुआ। उन्होंने कहा है—

'गुरुने मुझे कृपासागर पाण्डुरग ही जहाज दिया।' 'गुरुदेवने मुझे वही सरल मन्त्र बताया, जो मुझे अतिप्रिय था जिसमें कोई बखेडा नहीं।'

भक्त अपनी रुचिके अनुसार भगवान्के नाम और रूपका वर्णन कर सके इसलिय वे अनन्त नामा और रूपोमें आते हैं—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण ।
उपासकाना कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥
(राम० पू० उ० १। ७)

अर्थात् 'ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, प्राकृत शरीरसे रहित है, फिर भी वह उपासकोंके हितके लिये उनकी रुचिके अनुसार वरण करनेके लिये भिन्न-भिन्न रूपामें प्रकट होता है।'

वही विराट्-पुरुषके रूपमे आता है, विष्णु, दुर्गा गणेश और सूर्यके रूपमे आता है—'ब्रह्मण्येव हि पञ्चधा' (राम० पू० उ० १। १०)।

पाँच ही नहीं, सम्पूर्ण व्यक्त और अव्यक्तके रूपम प्रभु ही तो आये हैं—

उमारुद्रात्मिका सर्वा प्रजा स्थावरजंगमा ।
व्यक्त सर्वमुमारूपमव्यक्त तु महेश्वरम्॥
(रुद्रहृदयोपनिषद् १०)

जिसकी रुचि उमापति नीलकण्ठ महादेवपर हो जाती है, वह ब्रह्मको इसी रूपम पाना चाहता है—

तमादिमध्यान्तविहीनमेक विभु चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।
उमासहाय परमेश्वर प्रभु त्रिलोचन नीलकण्ठ प्रशान्तम्॥
(कैवल्योपनिषद् ७)

यदि ब्रह्मकी अभिव्यक्ति इस रूपमे न होती तो इस रुचिवाले व्यक्तिकी आध्यात्मिक भूख कभी शान्त नहीं होती। बेचारेकी पारमार्थिक उन्नति मारी जाती। जब वह शास्त्राम देखता है कि 'हमारे उपास्य ही एकमात्र सर्वश्रेष्ठ देव हैं, परब्रह्म हैं, यही ब्रह्मा हैं, यही शिव हैं, यही इन्द्र हैं यही विष्णु हैं, यही प्राण काल अग्नि चन्द्रमा हैं जा कुछ स्थावर-जगम है, सब हमारे ही प्रभु हैं', तब इस रुचिवाले उपासकको सब तरहसे सतोष हा जाता है—

स ब्रह्मा स शिव सेन्द्र सोऽक्षर परम स्वराट्।
स एव विष्णु स प्राण स कालोऽग्नि स चन्द्रमा ॥
स एव सर्व यद्भूत यच्च भव्य सनातनम्।
(कैवल्योपनिषद् ८-९)

वही अद्वय-तत्त्व देवीके रूपमे

इसी तरह यदि किसीकी रुचि जगदम्बाकी आर है तो उसके लिय परमात्मा देवाके रूपम आते हैं। वेद ऐसे

उपासकोको बताता है कि 'सृष्टिके आदिम एकमात्र ये देवी ही थीं। इन्हीं देवीने ब्रह्माण्ड पैदा किया इन्हींसे ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र उत्पन्न हुए'—

देवी ह्येकाग्र आसीत् सैव जगदण्डमसृजत्'''। तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरस किन्नरा वादित्रवादिन समन्तादजीजनन्।'''सर्वमजीजनत्। (बह्वृचोपनिषद्)

यदि पराम्बा स्वय अपने श्रीमुखसे कह कि 'वत्स! मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही प्रकृति-पुरुषात्मक जगत् हूँ। शून्य और अशून्य मैं ही हूँ। मैं ही आनन्द हूँ और अनानन्द हूँ, मैं ही विज्ञान हूँ और अविज्ञान हूँ', तो इन उपासकाको कितना आश्वासन प्राप्त होता है—

अह ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्त प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्य च अहमानन्दानानन्दा । विज्ञानाविज्ञाने अहम्।

(देव्युपनिषद् १)

वही अद्वय-रूप सूर्यके रूपमे

इसी तरह किसीका रुझान प्रत्यक्ष दवता सूर्यकी ओर होवे, उसका हृदय इस ज्योतिर्मय देवतामें रम गया—ऐसे उपासकके लिये यदि ब्रह्म आदित्यरूपमें न आत तो इसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति कैसे होती? और वह आदित्य पूर्ण ब्रह्म न हो, केवल देवता हो तो भी उपासकको रुचिको ठस लग सकती है। अत ब्रह्म आदित्यक रूपम आय। वेदने सूर्योपासकका आश्वासन दिया कि तुम जिसकी आर झुके हो वह परब्रह्म परमात्मा है। वही अद्वय-तत्त्व है उसीस सबकी उत्पत्ति होती है—

आदित्याद्वायुर्जायते। आदित्याद्भूमिर्जायते । आदित्यादापो जायन्ते। आदित्याज्ज्योतिर्जायते। आदित्याद् व्योम दिशो जायन्ते। आदित्याद्देवा जायन्ते। आदित्याद्वेदा जायन्ते। आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति। असावादित्यो ब्रह्म।

(सूर्योपनिषद्)

उपर्युक्त पंक्तियोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव-तत्त्व एक ही है, उसीके ब्रह्मा विष्णु, गणपति दुर्गा सूर्य आदि भिन्न-भिन्न नाम और रूप हैं। यदि भक्त उपमन्युका मन उस सत्-तत्त्वके शिव-रूप नाम और रूपमे अनुरक्त था तो शैव उपनिषदा, पुराणो एवं आगमोने उनका रुचिके अनुसार इस अद्वय-तत्त्वका सर्वविध निरूपण किया। इसी तरह जिनकी रुचि दुर्गाम है, उनके लिये शाक्त उपनिषदो, पुराणा, आगमोंने इस अद्वय-तत्त्वकी सर्वात्मकताका निरूपण किया। यही बात गणपति आदि देवताआके लिये ह।

इस तथ्यकी जानकारी न रहनेसे ही लोगाको भ्रम हो जाता है कि शैव ग्रन्थाम शिवकी सर्वात्मकता बतायी गयी है और वैष्णव-ग्रन्थामे विष्णुकी, जो परस्पर विरुद्ध है।

शिव सर्वात्मक है, अत सबका सम्मान करो

ऊपरकी पंक्तियासे ईश्वरके सम्बन्धमें हिन्दू-धर्मकी अन्य धर्मोकी अपेक्षा एक विशेपता भी दिखायी देती है वह यह कि अन्य धर्म असत्‌को भगवान् नहीं मानते हैं, किंतु वेद कहता है कि 'सत्-असत् जो कुछ भी है सब ईश्वर है। ईश्वरके अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं है'—

तदात्मकत्वात् सर्वस्य तस्माद्भिन्नं नहि क्वचित्॥

(रुद्रहृदयोपनिषद् २७)

इस तरह वदने मानवमात्रके लिये बहुत ही सुगम साधन प्रस्तुत कर दिया है। जब हम समस्त जड-चेतनको भगवन्मय देखते हैं तब सबका सम्मान करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। अपमान करनवालेका भी हमको सम्मान ही करना होगा क्योंकि वह भी शिव-तत्त्वसे भिन्न नहीं है। हमारे साथ उसका जो अभद्र व्यवहार हा रहा है उसका मूल कारण तो वस्तुत हम ही हैं। हमसे जो कभी अभद्रकर्म हा गया था उसीका परिणाम हम भुगत रहे हैं। निमित्त भले ही कोई बन जाय। हमे ता निमित्तसे भी प्यार ही करना है—

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। २७)

भगवान् आदेश देते हैं कि सब प्राणियाक भीतरमें बस हुए मुझ परमात्माको उचित रूपसे दान और सम्मान प्रदान करा मुझमे मैत्रीभाव रखो तथा सबको समान-दृष्टिसे देखा।

शुक्लयजुर्वेद-सहितामे रुद्राष्टाध्यायी एव रुद्रमाहात्म्यका अवलोकन

(शास्त्री श्रीजयन्तीलालजी त्रि० जोषी)

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—श्रीमनु महाराजके कथनानुसार भगवान् वेद सर्वधर्मोंके मूल हैं या सर्वधर्ममय हैं।

वेदो एव उनकी विभिन्न सहिताओमे प्रकृतिके अनेक तत्त्व—आकाश, जल, वायु, उषा, सध्या इत्यादिका तथा इन्द्र, सूर्य, सोम, रुद्र, विष्णु आदि देवोका वर्णन और स्तुति-सूक्त प्राप्त होते हैं। इनमे कुछ ऋचाएँ निवृत्तिप्रधान एव कुछ प्रवृत्तिप्रधान हैं।

शुक्लयजुर्वेद-सहिताके अन्तर्गत रुद्राष्टाध्यायीके रूपम भगवान् रुद्रका विशद वर्णन निहित है।

भक्तगण इस रुद्राष्टाध्यायीके मन्त्रपाठके साथ जल, दुग्ध, पञ्चामृत आम्ररस इक्षुरस, नारिकेलरस गङ्गाजल आदिसे शिवलिङ्गका अभिषेक करते हैं।

शिवपुराणमे सनकादि ऋषियोके प्रश्नपर स्वय शिवजीने रुद्राष्टाध्यायीके मन्त्रोद्वारा अभिषेकका माहात्म्य बतलाया है भूरि-भूरि प्रशसा की है और बडा फल दिखाया है—

मनसा कर्मणा वाचा शुचि सगविवर्जित ।
कुर्याद् रुद्राभिषेक च प्रीतये शूलपाणिन ॥
सर्वान् कामानवाप्नोति लभते परमा गतिम्।
नन्दते च कुल पुसा श्रीमच्छम्भुप्रसादत ॥

धर्मशास्त्रके विद्वानोने रुद्राष्टाध्यायीके छ अङ्ग निश्चित किये हैं, जो निम्न हैं—

शिवसङ्कल्प हृदयं सूक्तं स्यात् पौरुष शिर ।
प्राहुर्नारायणीय च शिखा स्याच्चोत्तराभिधम्॥
आशु शिशान कवचं नेत्रं विभ्राड् बृहत्स्मृतम्।
शतरुद्रियमस्त्रं स्यात् षडङ्गक्रम ईरित ॥
हृच्छिरस्तु शिखा वर्म नेत्र चास्त्रं महामते।
प्राहुर्विधिज्ञा रुद्रस्य षडङ्गानि स्वशास्त्रत ॥

अर्थात् रुद्राष्टाध्यायीके प्रथमाध्यायका शिवसङ्कल्पसूक्त हृदय है। द्वितीयाध्यायका पुरुषसूक्त सिर एव उत्तरनारायण-सूक्त शिखा है।

तृतीयाध्यायका अप्रतिरथसूक्त कवच है। चतुर्थाध्यायका मैत्रसूक्त नेत्र है एव पञ्चमाध्यायका शतरुद्रिय सूक्त अस्त्र कहलाता है।

जिस प्रकार एक योद्धा युद्धमे अपने अङ्गो एवं आयुधोंको सुसज्ज-सावधान करता है उसी प्रकार अध्यात्ममार्गी साधक रुद्राष्टाध्यायीके पाठ एव अभिषेकके लिये सुसज्ज होता है। अत हृदय सिर, शिखा कवच नेत्र, अस्त्र इत्यादि नामाभिधान दृष्टिगोचर होते हैं।

अब हम रुद्राष्टाध्यायीके प्रत्येक अध्यायका किंचित् अवगाहन करें।

प्रथमाध्यायका प्रथम मन्त्र—'गणाना त्वा गणपति॰ हवामहे' बहुत ही प्रसिद्ध है। कर्मकाण्डके विद्वान् इस मन्त्रका विनियोग श्रीगणेशजीके ध्यान-पूजनमे करते हैं। यह मन्त्र ब्रह्मणस्पतिके लिये भी प्रयुक्त होता है। शुक्ल-यजुर्वेद-सहिताके भाष्यकार श्रीउव्वटाचार्य एव महीधराचार्यने इस मन्त्रका एक अर्थ अश्वमेध-यज्ञके अश्वकी स्तुतिके रूपमे भी किया है।

द्वितीय एव तृतीय मन्त्रमे गायत्री आदि वैदिक छन्दों तथा छन्दोमे प्रयुक्त चरणाका उल्लेख है। पाँचवे मन्त्र 'यज्जाग्रतो से दशम मन्त्र 'सुषारथि' पर्यन्तका मन्त्रसमूह 'शिवसङ्कल्पसूक्त' कहलाता है। इन मन्त्राका देवता 'मन' है। इन मन्त्राम मनकी विशेषताएँ वर्णित हैं। प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें 'तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु' पद आनेसे इसे 'शिवसङ्कल्पसूक्त' कहा गया है। साधकका मन शुभ विचारवाला हो ऐसी प्रार्थना की गयी है। परम्परानुसार यह अध्याय श्रीगणेशजीका माना जाता है।

द्वितीयाध्यायमें 'सहस्रशीर्षा पुरुष ' से 'यज्ञेन यज्ञम्'-पर्यन्त षोडशमन्त्र पुरुषसूक्तके रूपम हैं। इन मन्त्रोके नारायण ऋषि हैं एव विराट् पुरुष देवता हैं।

विविध देवपूजाम आवाहनसे मन्त्र-पुष्पाञ्जलितकका षोडशोपचार-पूजन प्राय इन्हीं मन्त्रोसे सम्पन्न होता है विष्णुयागादि वैष्णव यज्ञाम भी पुरुषसूक्तके मन्त्रासे यज्ञ होता है।

पुरुषसूक्तके प्रथम मन्त्रम विराट् पुरुषका अति भव्य-दिव्य वर्णन प्राप्त होता है। अनेक सिरावाले अनेक आँखावाले अनेक चरणावाल व विराट् पुरुष समग्र ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर दस अगुल ऊपर स्थित हैं।

द्वितायाध्यायके सप्तदश मन्त्र 'अद्भ्य सम्भृत ' से 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च'-अन्तिम मन्त्रपर्यन्तके छ मन्त्र उत्तरनारायण सूक्तके रूपमें प्रसिद्ध हैं। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च यह मन्त्र—

श्रीलक्ष्मीदेवीके पूजनमे प्रयुक्त होता है। द्वितीयाध्याय भगवान् विष्णुका माना जाता है।

तृतीयाध्याय अप्रतिरथसूक्तके रूपमें ख्यात है। कतिपय मनीषी 'आशु शिशान ' से आरम्भ करके 'अमीषाञ्चित्तम्'-पर्यन्त द्वादश मन्त्राको स्वीकारते हैं। कुछ विद्वान् इन मन्त्राके उपरान्त 'अवसृष्टा' से 'मर्माणिते'-पर्यन्त पाँच मन्त्राका भी समावेश करते हैं।

तृतीयाध्यायके देवता देवराज इन्द्र हैं। इस अध्यायको अप्रतिरथसूक्त माननेका कारण कदाचित् यह है कि इन मन्त्रांके ऋषि अप्रतिरथ हैं। भावात्मक दृष्टिसे विचार करें तो अवगत होता है कि इन मन्त्राद्वारा इन्द्रकी उपासना करनेसे शत्रुओ-स्पर्धकाका नाश होता है अत यह 'अप्रतिरथ' नाम सार्थक प्रतीत होता है। उदाहरणके रूपम प्रथम मन्त्रका अवलोकन कर—

ॐ आशु शिशानो वृषभो न भीमो घनाघन क्षोभणश्चर्षणीनाम्। सङ्क्रन्दनोऽ निमिष एकवीर शत"सेना अजयत् साकमिन्द्र ॥

अर्थात् 'त्वरासे गति करके शत्रुआका नाश करनेवाला भयकर वृषभकी तरह सामना करनेवाले प्राणियोको क्षुब्ध करके नाश करनेवाला, मेघकी तरह गर्जना करनेवाला शत्रुआका आवाहन करनेवाला अतिसावधान अद्वितीय वीर, एकाकी पराक्रमी दवराज इन्द्र शतश सेनाआपर विजय प्राप्त करता है।'

चतुर्थाध्यायमें सप्तदश मन्त्र हैं। जा मैत्रसूक्तके रूपम ज्ञात हैं। इन मन्त्राम भगवान् मित्र—सूर्यकी स्तुति है। मैत्रसूक्तम भगवान् भुवनभास्करका मनारम वर्णन प्राप्त होता है—

ॐ आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययन सविता रथेना दवो याति भुवनानि पश्यन्॥

अर्थात् रात्रिके समयम अन्धकारमय तथा अन्तरिक्ष लाकमेंस पुन-पुन उदायमान देवाको तथा मनुष्योंको स्व-स्व कार्योमे निहित करनेवाले सबके प्रेरक प्रकाशमान भगवान् सूर्य सुवर्णरगी रथम बैठ करके सर्वभुवनाके लोगाकी पाप-पुण्यमयी प्रवृत्तियाका निरीक्षण करते हैं।

रुद्राष्टाध्यायीके पाँचवें अध्यायमें ६६ मन्त्र हैं। यह अध्याय प्रधान है। विद्वान् इसका 'शतरुद्रिय' कहते हैं। 'शतसंख्याता रुद्रदेवता अस्यति शतरुद्रियम्। इन मन्त्राम भगवान् रुद्रके शतश रूप वर्णित हैं।

कई ग्रन्थामें शतरुद्रियके पाठका महत्त्व वर्णित है। कैवल्योपनिषद्म कहा गया है कि शतरुद्रियके अध्ययनसे मनुष्य अनक पातकासे मुक्त होता है एव पवित्र बनता है—

य शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आत्मपूतो भवति स सुरापानात्पूतो भवति स ब्रह्महत्याया पूतो भवति॥

जाबालोपनिषद्म ब्रह्मचारियो और श्रीयाज्ञवल्क्यजीके सवादम ब्रह्मचारियाने तत्त्वनिष्ठ ऋषिसे पूछा कि किसक जपसे अमृतत्व प्राप्त होता है ? तब ऋषिका प्रत्युत्तर था कि 'शतरुद्रियके जपसे'—

अथ हैन ब्रह्मचारिण ऊचु कि जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्य । शतरुद्रियेणेत्येतान्येव ह वा अमृतस्य नामानि। एतैर्ह वा अमृतो भवतीति एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ।

विद्वानाकी परम्पराके अनुसार पञ्चमाध्यायके एकादश आवर्तन और शेष अध्यायांके एक आवर्तनके साथ अभिषेकसे एक 'रुद्र' या 'रुद्री' होती है। इसे 'एकादशिनी' भी कहते हैं। एकादश रुद्रीस लघुरुद्र, एकादश लघुरुद्रस महारुद्र एव एकादश महारुद्रसे अतिरुद्रका अनुष्ठान हाता है। इन सबका अभिषेकात्मक पाठात्मक एव होमात्मक त्रिविध विधान मिलता है। मन्त्रोके क्रमसे रुद्राभिषेकके नमक-चमक आदि प्रकार हैं। प्रदेशभेदसे भी कुछ विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

शतरुद्रियको 'रुद्रसूक्त' भी कहते हैं। इसमें भगवान् रुद्रका भव्यातिभव्य वर्णन हुआ है। प्रथम मन्त्रका आस्वाद लें—

ॐ नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नम । बाहुभ्यामुत ते नम ॥

'ह रुद्रदेव! आपक क्रोधको हमारा नमस्कार है। आपके बाणाको हमारा नमस्कार है एव आपके बाहुओंको हमारा नमस्कार है।' भगवान् शिवका रुद्रस्वरूप दुष्टनिग्रहणार्थ है अत इस मन्त्रम रुद्रदेवके क्रोधको, बाणोंका एवं उनके चलानेवाल बाहुआंको नमस्कार समर्पण किया गया है।

रु=दु खम्, द्रावयति इति रुद्र । रुत्=ज्ञानम्, राति ददाति इति रुद्र । रोदयति पापिन इति वा रुद्रः। तत्त्वज्ञाने इस प्रकार रुद्र शब्दकी व्याख्या की है। अर्थात् भगवान् रुद्र दु खनाशक पापनाशक एवं ज्ञानदाता हैं।

रुद्रसूक्तमें भगवान् रुद्रक विविध स्वरूप वर्णित हैं

यथा—गिरीश अधिवक्ता सुमङ्गल, नीलग्रीव, सहस्राक्ष कपर्दी, मीढुष्टम, हिरण्यबाहु, सेनानी, हरिकेश, अन्नपति जगत्पति क्षेत्रपति, वनपति, वृक्षपति, औषधीपति, सत्त्वपति स्तेनपति, गिरिचर, सभापति श्वपति गणपति व्रातपति विरूप विश्वरूप भव शर्व शितिकण्ठ शतधन्वा, ह्रस्व वामन, बृहत्, वृद्ध, ज्येष्ठ कनिष्ठ श्लोक्य, आशुषेण, आशुरथ कवची, श्रुतसेन सुधन्वा सोम, उग्र भीम शम्भु, शकर, शिव तीर्थ्य, व्रज्य नीललोहित पिनाकधारी, सहस्रबाहु तथा ईशान इत्यादि।

—इन विविध स्वरूपाद्वारा भगवान् रुद्रको अनेकविधता एव अनेक लीलाओका दर्शन होता है। रुद्रदेवताको स्थावर-जगम सर्वपदार्थरूप, सर्ववर्ण सर्वजाति मनुष्य-देव-पशु-वनस्पतिरूप मान करके सर्वात्मभाव-सर्वान्तर्यामित्व-भाव सिद्ध किया गया है। इस भावसे ज्ञात होकर साधक अद्वैतनिष्ठ जीवन्मुक्त बनता है।

षष्ठाध्यायको 'महच्छिर' के रूपम जाना जाता है। प्रथम मन्त्रमे सोमदेवताका वर्णन है। सुप्रसिद्ध महामृत्युञ्जय मन्त्र इसी अध्यायमें सनिविष्ट है—

ॐ त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पति-वेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुत ॥

प्रस्तुत मन्त्रमे भगवान् त्र्यम्बक शिवजीसे प्रार्थना है कि जिस प्रकार ककडीका परिपक्व फल वृन्तसे मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार हमे आप जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त कर हम आपका यजन करते हैं।

सप्तमाध्यायको 'जटा' कहा जाता है। 'उग्रश्चभीमश्च'-मन्त्रमें मरुत् देवताका वर्णन है। इस अध्यायके 'लोमभ्य स्वाहा से 'यमाय स्वाहा' तकके मन्त्र कई विद्वान् अभिषकमे ग्रहण करते हैं और कई विद्वान् इनको अस्वीकार करते हैं, क्योकि अन्त्येष्टि-सस्कारमें चिताहोमर्म इन मन्त्रासे आहुतियाँ दी जाती हैं।

अष्टमाध्यायका 'चमकाध्याय' कहा जाता है इसम कुल २९ मन्त्र हैं। प्रत्येक मन्त्रमें 'च' कार एव 'मे' का बाहुल्य होनेसे कदाचित् चमकाध्याय अभिधान रखा गया है।

चमकाध्यायके ऋषि 'देव' स्वय हैं। देवता अग्नि हैं अत यह अध्याय अग्निदैवत्य या यज्ञदैवत्य माना जाता है। प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें '**यज्ञेन कल्पन्ताम्**' यह पद आता है।

यज्ञ एव यज्ञके साधनरूप जिन-जिन वस्तुओकी आवश्यकता हो, वे सभी यज्ञके फलसे प्राप्त होती हैं। ये वस्तुएँ यज्ञार्थ जनसेवार्थ एव परोपकारार्थ उपयुक्त हों, ऐसी शुभभावना यहाँ निहित है।

रुद्राष्टाध्यायीके उपसहारमें '**ऋच वाच प्र पद्ये**' इत्यादि चतुर्विंशति मन्त्र शान्त्याध्यायके रूपम एवं '**स्वस्ति न इन्द्रो**' इत्यादि द्वादश मन्त्र स्वस्ति-प्रार्थनाके रूपमे ख्यात हैं।

शान्त्याध्यायमे विविध देवोसे अनेकश शान्तिकी प्रार्थना की गयी है। मित्रताभरी दृष्टिसे देखनेकी बात बडी उदात्त एव भव्य है—

ॐ दृते दृ꣡ꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

साधक प्रभुप्रीत्यर्थ एव सेवार्थ अपनेको स्वस्थ बनाना चाहता है। स्वकीय दीर्घजीवन आनन्द एव शान्तिपूर्ण व्यतीत हो ऐसी आकांक्षा रखता है—'**पश्येम शरद शतं जीवेम शरद शतꣳ शृणुयाम शरद शतं प्र ब्रवाम शरद शतम्……॥**'

स्वस्ति-प्रार्थनाके निम्न मन्त्रमें देवोका सामञ्जस्य सुचारु-रूपमें वर्णित है। 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति', यह उपनिषद्-वाक्य यहाँ चरितार्थ होता है—

ॐ अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवा देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता॥

इस प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायीमें भगवान् रुद्रका माहात्म्य विविधता-विशदतासे सम्पूर्णतया आच्छादित है। कविकुलगुरु कालिदासने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटकके मङ्गलश्लोक 'या सृष्टि स्त्रष्टुराद्या द्वारा शिवजीकी जो अष्ट विभूतियाका वर्णन किया है, वे अष्टविभूतियाँ रुद्राष्टाध्यायीके आठ अध्यायाम भी विलसित हैं। इस सक्षिप्त लेखकी समाप्तिमें शिवजीकी वन्दना वैदिक मन्त्रसे ही करें—

ॐ ईशान सर्वविद्यानामीश्वर सर्वभूतानाम्। ब्रह्माधिपति-र्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्॥

'ॐ तत्सत्।

महामृत्युञ्जय-जप—प्रकार एव विधि

शरीर व्याधिमन्दिरम्'—इस पाञ्चभौतिक शरीरमें नाना प्रकारको आधि-व्याधियाँ होता रहती हैं। शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये युक्त आहार-विहार, खान-पान नियमित दिनचर्या आदि बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं। इन सब उपायोको करते रहनेके बाद भी कर्म-भोगके कारण शरीरमें कोई बलवान् अरिष्ट जब चिकित्सा आदि उपायोसे ठीक नहीं हो पाता है, तब ऐसे अरिष्टकी निवृत्तिके लिये या शान्तिके लिये शास्त्रोमें महामृत्युञ्जयके जपका विधान बतलाया गया है। इस जपसे मृत्युको जीतनेवाले महारुद्र-देवता प्रसन्न होते हैं और वे रोगसे पीडित व्यक्तिका शान्ति प्रदान करते हैं।

मृत्युञ्जय-जपका मूल मन्त्र

ॐ त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(शुक्लयजु० ३। ६०)

अर्थात् 'हम त्रिनेत्रधारी भगवान् शकरकी पूजा करते हैं, जो मर्त्यधर्मसे (मरणशील मानवधर्म—मृत्युसे) रहित दिव्य सुगन्धिसे युक्त, उपासकाके लिये धन-धान्य आदि पुष्टिको बढानेवाले हैं। वे त्रिनेत्रधारी उर्वारुक (कर्कटी या ककडी—जो पकनेपर वृन्त या बन्धन-स्थानसे स्वत अलग हो जाती है) फलकी तरह हम सबको अपमृत्यु या सासारिक मृत्युसे मुक्त कर। स्वर्गरूप या मुक्तिरूप अमृतसे हमको न छुड़ावें। अर्थात् अमृत-तत्त्वसे हम उपासकोको वचित न कर।'

उपर्युक्त मूल मन्त्रमें 'भू भुव स्व '—इन तीन व्याहृतियोंमें तथा (ॐ) 'हौं जूं स '—इन तीन बीजमन्त्राम 'ॐ' इस प्रणवको लगाकर मृत्युञ्जय-मन्त्रक तीन प्रकार बतलाये गये हैं—

(१) ४८ वर्णात्मक पहला मन्त्र आठ प्रणवयुक्त।
(मृत्युञ्जय-मन्त्र)

(२) ५२ वर्णात्मक दूसरा छ प्रणववाला।
(मृतसजीवनी मृत्युञ्जय-मन्त्र)

(३) ६२ वर्णात्मक तीसरा चौदह प्रणववाला।
(महामृत्युञ्जय-मन्त्र)

पहला मृत्युञ्जय-जप-मन्त्र—

ॐ भू ॐ भुव ॐ स्व ॐ त्र्यम्बकं यजामहे'' मामृतात्। ॐ स्व ॐ भुव ॐ भू ॐ।

दूसरा मृतसजीवनी-मन्त्र—

ॐ हौं जू स ॐ भूर्भुव स्व ॐ त्र्यम्बकं यजामहे''''मामृतात्।

ॐ स्व भुव भू ॐ स जूं हौं ॐ।

तीसरा महामृत्युञ्जय-मन्त्र—

ॐ हौं ॐ जू ॐ स ॐ भू ॐ भुव ॐ स्व ॐ त्र्यम्बक यजामहे''''मामृतात्। ॐ स्व ॐ भुव ॐ भू ॐ स ॐ जूं ॐ हौं ॐ।

उपर्युक्त मृत्युञ्जयके मन्त्रमे मृत्युञ्जय-मन्त्र, मृतसजीवनी मृत्युञ्जय-मन्त्र तथा महामृत्युञ्जय-मन्त्र—इन तीना प्रकारोंमें प्राय द्वितीय मृतसजीवनी मृत्युञ्जय-मन्त्र अधिक प्रचलित है।

सूर्यादि नवग्रहोंकी दशा, महादशा अन्तर्दशा तथा प्रत्यन्तर्दशा यदि किसी व्यक्तिके लिये अरिष्ट उत्पन्न करनेवाली होती है तो उन-उन अरिष्टकारक ग्रहाकी शान्तिके लिये 'मृत्युञ्जय' देवताका शरणमें जाना ही पडता है। मृत्युञ्जय देवताकी प्रार्थनाम यह स्पष्ट है कि शरणम आये पीडित व्यक्तिको वे जन्म मृत्यु, जरा (वृद्धावस्था), रोग एव कर्मके बन्धनोंसे मुक्त कर देते हैं। इसी आशय (भाव)-से निम्नाङ्कित प्रार्थना है—

मृत्युञ्जयमहारुद्र त्राहि मां शरणागतम्।
जन्ममृत्युजरारोगै पीडितं कर्मबन्धनै ॥

मृत्युञ्जय-जपकी विधि

सर्वप्रथम शौच-स्नानादिसे पवित्र होकर आसन-शुद्धि करके भस्म तथा रुद्राक्ष धारण करे। तदनन्तर जपका सकल्प कर गणशादि देवाका स्मरण करे। यथासम्भव पञ्चाङ्ग-पूजन कर करन्यास एवं अङ्गन्यास करे। अनन्तर मृत्युञ्जयदेवताका इस प्रकार ध्यान करे—

ॐ चन्द्रोद्भासितमूर्धज सुरपतिं पीयूषपात्रं वहद्-
स्ताब्जेन दधत् सुदिव्यममलं हास्यास्यपङ्केरुहम्।
सूर्येन्द्वग्निविलोचनं करतलै पाशाक्षसूत्रांकुशा-
म्भोजं बिभ्रतमक्षयं पशुपतिं मृत्युञ्जयं संस्मरेत्॥

तात्पर्य यह कि 'मैं उन मृत्युञ्जय भगवान्का स्मरण

करता हूँ, जो अक्षय-अविनाशी हैं। जिनके केश चन्द्रमासे सुशोभित हैं। जो देवताओंके स्वामी हैं तथा जिन्होने अपने करकमलमें अमृतका दिव्य एव निर्मल विशाल पात्र धारण कर रखा है। जिनका मुखकमल हास्यमय (प्रसन्न) है और जिनके तीनो नेत्र—सूर्य, चन्द्रमा एव अग्निमय हैं। जिनके करतलमे पाश अक्षसूत्र (रुद्राक्षमाला), अकुश और कमल है।'

इसके बाद मानसोपचार-पूजा कर—

प्रत्येक पुष्पादि पदार्थको अर्पित करनेके लिये आचमनीसे जल छोडना चाहिये—

ॐ लं पृथिव्यात्मकं गन्ध समर्पयामि (पृथिवीरूप 'ल' बीज गन्ध है)।

ॐ ह आकाशात्मकं पुष्प समर्पयामि (आकाशरूप 'ह' बीज पुष्प है)।

ॐ य वाय्वात्मक धूपं समर्पयामि (वायुरूप 'यं' बीज धूप है)।

ॐ र तेजसात्मक दीपं समर्पयामि (तेजरूप 'र' बीज दीपक है)।

ॐ वं अमृतात्मक नैवेद्यं समर्पयामि (अमृतरूप 'वं' बीज नैवेद्य है)।

ॐ सं सर्वात्मक मन्त्रपुष्प समर्पयामि (सर्वस्वरूप 'स' बीज-मन्त्र पुष्प है)।

मानस-पूजा करनेके पश्चात् एकाग्र-मनसे सकल्पित मन्त्रसे मृत्युञ्जयका जप करना चाहिये।

जप समाप्त होनेके बाद पुन अङ्गन्यास एवं करन्यास करके मृत्युञ्जय-देवताको जप-निवेदन करे तथा हाथमें जल लेकर मन्त्र-जप-सिद्धिके लिये नीचे लिखे गये श्लोकका उच्चारण करे—

गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादान्महेश्वर॥

तत्पश्चात् 'अनेन यथासख्याकेन (जो जपकी सख्या हो, यथा—'सपादलक्ष(सवा लाख)-संख्याकेन मृत्युञ्जय-जपाख्येन कर्मणा श्रीमहामृत्युञ्जयदेवता प्रीयतां न मम।' —यह कहकर जल छोड दे।

उपर्युक्त प्रकारसे जपको अर्पित करके प्रार्थना करे—

मृत्युञ्जयमहारुद्र त्राहि मां शरणागतम्।
जन्ममृत्युजरारोगै पीडितं कर्मबन्धनै॥

'हे मृत्युञ्जय! महारुद्र! जन्म-मृत्यु तथा वार्धक्य आदि विविध रोगो एव कर्मोंके बन्धनसे पीडित मैं आपकी शरणमे आया हूँ, मेरी रक्षा करो।'

मन्त्रोच्चारण, पूजन एव जपादि-कर्मम जाने-अनजानेमें त्रुटि होना सम्भव है, अत उस दोषकी निवृत्तिके लिये दवतासे क्षमा-याचना करनी चाहिये—

यदक्षरपदभ्रष्टं मात्राहीन च यद्भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर॥

सभी कर्मों (श्रौत-स्मार्त आदि)-के द्रष्टा एव साक्षी भगवान् विष्णु होते हैं, अत उनका स्मरण करनेसे वे प्रमाद, आलस्यादिके कारण कर्मने जो कुछ कर्तव्य छूट जाता है, उसको पूर्ण करते हैं। अत अन्तमे 'ॐ विष्णवे नम ' का तीन बार उच्चारण करना चाहिये। शास्त्रामे कहा गया है—

प्रमादात् कुर्वता कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।
स्मरणादेव तद्विष्णो सम्पूर्णं स्यादिति श्रुति॥
यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या जपयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

अनुष्ठानरूप जप-सख्या पूर्ण करनेके बाद जप-सख्याका दशाश होम, होमका दशाश तर्पण तर्पणका दशाश मार्जन एव मार्जनका दशाश ब्राह्मण-भोजन करानेपर ही सम्पूर्ण अनुष्ठान माना गया है। यदि उक्त तत्तद् दशाश होमादि कर्म करनेमें किसी विशेष कारणवश असमर्थता हो तो जप-सख्याके दशाशका चौगुना (हजार मालाका दशाश एक सौ तथा उसका चौगुना चार सौ मालाके क्रमसे)-सख्या परिमित जप करनेसे ही जप-कर्मकी साङ्गता (पूर्णता) हो जाती है।

वेदमे गायत्री-तत्त्व

(डॉ० श्रीश्रीनिवासजी शर्मा)

विश्व-वाङ्मयम वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। ये ऋषियोकी तप पूत अनुभूतिके प्रकाश-पुञ्ज हैं। यास्कने अपने विश्रुतग्रन्थ निरुक्त (१। ६। २०)-म सकेत किया है—'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु ' अर्थात् ऋषियाने धर्मका साक्षात्कार किया था। वे वेदमन्त्रांकि द्रष्टा थे रचयिता नहीं। वस्तुत साक्षात्कृतधर्मा ऋषियाके द्वारा अनुभूत अध्यात्मशास्त्रीय तत्त्वाके निदर्शन ही वेद हैं। वेद ही भारतीय सस्कृति, समाज, धर्म दर्शन जीवन और विविध विद्याओके मूल उत्स हैं।

वेदके छ अङ्ग हैं—शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष। वेदमन्त्रोंके छोटे-छोटे समूह 'सूक्त' कहलाते हैं। प्रत्येक सूक्तके ऋषि, देवता और छन्दका ज्ञान आवश्यक माना गया है। इनके ज्ञानसे हीन जो व्यक्ति मन्त्रोसे जप, यज्ञ उपासना आदि करता है उसका अभीष्ट फल उसे प्राप्त नहीं होता।

छन्दका वेदोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेद छन्दोंमे रचित हैं। पाणिनिने छन्दका प्रयाग वेदके अर्थमें अनेक बार किया है[1]। वेदके 'पुरुषसूक्त' मे आया है कि सम्पूर्ण रूपसे हुत उस यज्ञसे ऋचाएँ तथा सामवद उत्पन्न हुए। छन्द तथा यजुष् भी पैदा हुए।[2] इन छन्दामें गायत्री प्रमुख छन्द है। अमरकोशमें कहा गया है—'गायत्री प्रमुख छन्द ।' वेदाम प्रमुख रूपसे सात छन्दाका प्रयोग देखनेम आता है—गायत्री उष्णिक्, अनुष्टुप्, त्रिष्टुभ्, बृहती पक्ति तथा जगती। वेदके उपर्युक्त छन्दामेसे गायत्री और उष्णिक्को छाड़कर शेष छन्द चार-चार पाद (चरण)-के हैं। गायत्री और उष्णिक् तीन-तीन पादोंके हैं। इसलिये गायत्राको त्रिपदा गायत्री कहा गया है।

वेदमन्त्राके छन्द वर्णिक छन्द हैं। उनमें लघु-गुरुकी गणनासे छन्द निर्मित नहीं होते। केवल अक्षर गिन जाते हैं। आधे अक्षर गणनाम नहीं आते। गायत्री छन्दमें ८,८,८ के क्रमसे २४ अक्षर होने चाहिये, परतु गायत्रीके पहले पादमें ७ अक्षर हैं। इसलिये यह भी प्रसिद्धि है कि 'तत्सवितुर्वरेण्यं' इस पादमें 'वरेण्य'की जगह 'वरेणिय' एसा पढना चाहिये, जिससे एक अक्षर बढ जायगा—

त त् स वि तु र्व रे णि य—इस तरह उच्चारण करनेपर पहले पादमें भी ८ अक्षर हो जायँगे।

[बृहदारण्यकोपनिषद्के आधारपर गायत्रीको चार पादवाली कहा गया है। चार पादवाली गायत्रीम 'भूमिरन्तरिक्षं द्यौ ' को प्रथम पाद कहा गया है। 'ऋचो यजूंषि सामानि' को द्वितीय पाद कहा गया है। 'प्राणोऽपानो व्यान ' का तृतीय पाद कहा गया है। गायत्रीके ये तीन पाद हैं और परब्रह्म परमात्मा चतुर्थ पाद है।]

गायत्रीमन्त्र गायत्री छन्दम रचा गया अतिप्रसिद्ध मन्त्र है। इस स्तुति-मन्त्रका गायत्रीके साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इस मन्त्रका ही गायत्रीमन्त्र कहा जाता है। मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न प्रचोदयात्॥

यह मन्त्र यजुर्वेद (३। ३५)-में आया है। यही मन्त्र सामवेदमें आया है और प्राय सभी वेदाम किसी-न-किसी संदर्भमें इसका बार-बार सकेत मिलता है। कहीं-कहीं तो गायत्री और वेदको समान अर्थम भी प्रयुक्त किया गया है। गायत्रीमन्त्रसे पहले 'ॐ लगानेका विधान है। 'ॐ' को अनेक अर्थोंमें परमात्माका वाचक कहा गया है। उसे प्रणव

१-(क) कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि (अष्टाध्यायी ४। १। ७१)।

(ख) छन्दस्युभयथा (अष्टाध्यायी ६। ४। ५)।

२ तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ (यजु० ३१। ७)

कहा जाता है। प्रणव परब्रह्मका नाम है—'तस्य वाचक प्रणव ।' उपनिषदामे इसकी व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहा है—'प्राणान्सर्वान्परमात्मनि प्रणाययतीत्येतस्मात्प्रणव ' (अथर्वशिखोपनिषद्) अर्थात् प्राणको परमात्मामे लीन करनेके कारण इसे 'प्रणव' कहा गया है। वेदका आरम्भ 'ॐ'से किया जाता है—'ओङ्कार पूर्वमुच्चार्यस्ततो वेदमधीयते' इसलिये गायत्रीमन्त्रसे पहले भी 'ॐ' लगाया जाता है।

बृहन्नारदीयोपनिषद्में 'ओम्'के अ+उ+म्—इन तीन अक्षरोंको क्रमश ब्रह्मा, विष्णु और शिवका रूप माना गया है। गीतामे इसको एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म।' ऐसा भी वर्णन आता है कि 'अ'कार परमात्माका वाचक है, 'उ'कारका अर्थ जीवका परमात्मासे अनन्य सम्बन्ध है और 'म'कारका अर्थ है जीवात्मा जो परमात्माका अश है।

भू भुव स्व —ये तीनो महाव्याहृति कहलाते हैं। ये महारहस्यात्मक हैं। ये गायत्रीमन्त्रके बीज हैं। गायत्रीमन्त्रसे पहले 'ॐ' के बाद 'भू भुव स्व ' लगाकर ही मन्त्रका जप करना चाहिये। बीजमन्त्र मन्त्रोके जीवरूप होते हैं। बिना बीजमन्त्रका मन्त्र-जप करनेसे वे साधनाका फल नहीं देते। विभिन्न देवताओके बीजमन्त्र अलग-अलग होते हैं, जैसे 'ऐं' सरस्वतीका 'ह्रीं क्लीं' कालीका 'श्रीं' लक्ष्मीका ग' गणपतिका। प्राय बीजमन्त्रोके साथ अनुस्वार अर्थात् बिन्दु लगाया जाता है। 'ॐ' प्रणवको सभी जगह बाजमन्त्रोके प्रारम्भमें लगानेका विधान है। अन्तमें यथासम्भव 'नम ' लगाना चाहिये। आदिमे प्रणव अर्थात् 'ॐ' लगाकर अन्तमें 'नम ' लगानेवाले मन्त्र शान्ति, भोग एव सुख देनेवाले होत हैं। अन्तमे 'नम ' वाले मन्त्र देवताको वशमें करनेवाले होते हैं। बिन्दु अन्तवाले मन्त्र देवताको प्रसन्न करनवाले होते हैं—

विन्द्वन्त प्रीतिकृच्चैव नमोऽन्त च वशीकृतं।
तमोऽन्त प्रणवाद्यश्च शान्तिभोगसुखप्रदा॥

गायत्रीमन्त्रके देवता सविता हैं। यह मन्त्र सावित्री भी इसीलिये कहलाता है। गायत्रीका शाब्दिक अर्थ है—'गायत् त्रायते'—गानेवालेका त्राण करनेवाली।

ॐ (प्रणव) और महाव्याहृतियोंसहित गायत्रीमन्त्र इस प्रकार है—

ॐ भूर्भुव स्व तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न प्रचोदयात्॥

इसका अर्थ यह है कि 'पृथ्वीलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकमे व्याप्त उस श्रेष्ठ परमात्मा (सूर्यदेव)-का हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धिको श्रेष्ठ कर्मोकी ओर प्रेरित करे।

गायत्रीकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे आर्ष-ग्रन्थोमे विचार किया गया है। कहते हैं ॐकारसे व्याहृति हुई। व्याहृतियोसे गायत्री हुई—'ओङ्काराद्व्याहृतिरभवद् व्याहृत्या गायत्री।' गायत्रीका सम्बन्ध वेदसे इस तरह बताया गया है कि गायत्रीसे सावित्री, सावित्रीसे सरस्वती, सरस्वतीसे सभी वेद सब वेदोसे सारे लोक और अन्तमें सब लोकोंसे प्राणी उत्पन्न हुए[1]।

गायत्रीमन्त्रके ऋषि विश्वामित्र हैं। गायत्रीरहस्योपनिषद्मे गायत्रीके २४ अक्षर बतलाये गये हैं—'चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री त्रिपदा वा चतुष्पदा' अर्थात् २४ अक्षरोवाली गायत्री तीन पाद या चार पादकी है। प्रत्येक अक्षरके ऋषिके नाम भी दिये हैं। चौबीसवें ऋषिका उल्लेख करते समय बताया गया है कि ये चौबीसव ऋषि आङ्गिरस विश्वामित्र हैं—चतुर्विंशमाङ्गिरस विश्वामित्रमिति प्रत्यक्षराणामृषयो भवन्ति[2]। अर्थात् चौबीसव अक्षरके ऋषि आङ्गिरस विश्वामित्र हैं। इस तरह प्रत्येक अक्षरके ऋषि होते हैं अर्थात् गायत्रीके चौबीस अक्षर हैं तो उनक द्रष्टा चौबीस ऋषि हैं।

गायत्रीका महत्त्व श्रीमद्भागवतमहापुराणके उन वचनोस

१-गायत्र्या सावित्र्यभवत्। सावित्र्या सरस्वत्यभवत्। सरस्वत्या सर्वे वेदा अभवन्। सर्वेभ्यो वेदेभ्य सर्वे लोका अभवन्। सर्वेभ्यो लोकेभ्य सर्वे प्राणिनोऽभवन् (गायत्रीरहस्योपनिषद्)।

२-गायत्रीके चौबीस अक्षरोंके चौबीस ऋषियोंके नाम इस प्रकार हैं—पहले अक्षरके ऋषि वसिष्ठ दूसरेके भारद्वाज तीसरेक गर्ग चौथेके उपमन्यु, पाँचवेंके भृगु, छठेके शाण्डिल्य सातवेंके लोहित आठवेंके विष्णु, नवेंके शातातप दसवेंके सनत्कुमार, ग्यारहवेंके वेदव्यास बारहवेंके शुकदेव तेरहवेंके पाराशर्य चौदहवेंके पौण्ड्रकर्म पन्द्रहवक क्रतु, सोलहवेके दक्ष, सतरहवके कश्यप अठारहवेंके अत्रि उन्नीसवेंके अगस्त्य बीसवेंके उद्दालक इक्कीसवेंके आङ्गिरस बाईसवेंके नामकेतु, तेईसवेंके मुद्गल और चौबीसवेके आङ्गिरस विश्वामित्र हैं। (यहींपर २४ अक्षरोंकी २४ शक्तियों और २४ अक्षरोंके २४ तत्त्वोंका भी उल्लेख है।)

सहज ही उभर कर सामने आ जाता है, जहाँ गायत्रीको पुरुषसूक्त, वेदत्रयी भागवत द्वादशाक्षर आदिके समकक्ष वर्णित किया गया है। वहाँ १६ चीजे समान बतलायी गयी हैं—

वेदादिर्वेदमाता च पौरुषं सूक्तमेव च।
त्रयी भागवतं चैव द्वादशाक्षर एव च॥
द्वादशात्मा प्रयागश्च कालः संवत्सरात्मकः।
ब्राह्मणाश्चाग्निहोत्रं च सुरभिर्द्वादशी तथा॥
तुलसी च वसन्तश्च पुरुषोत्तम एव च।
एतेषां तत्त्वतः प्राज्ञैर्न पृथग्भाव इष्यते॥
(माहात्म्य ३। ३४—३६)

अर्थात् वेदादि (ॐकार), वेदमाता (गायत्री) पुरुषसूक्त वेदत्रयी भागवत, द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) द्वादशात्मा (सूर्यभगवान्), प्रयाग संवत्सरात्मक काल ब्राह्मण, अग्निहोत्र (यज्ञ), सुरभि द्वादशी तिथि तुलसी वसन्त और पुरुषोत्तमभगवान्—इनमें विद्वान् पृथक्-भाव नहीं देखते। अर्थात् ये सब समान हैं। जो कुछ भी उच्च श्रेष्ठ, वरेण्य, पवित्र और पूज्य है, वह गायत्री है और वही वेदोका तत्त्व है।

गायत्री वेदके और अनेक तत्त्वोकी तरह परवर्ती वाङ्मयमें कैसा प्रभाव रखती है इसको लक्ष्य करके संतोंने कहा है कि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें २४ हजार श्लोक हैं। उनमे प्रत्येक एक हजारके पहले-पहले अक्षरको ले लिया जाय तो पूरा गायत्रीमन्त्र बन जाता है।

वैदिक वाङ्मयके इस अतिप्रसिद्ध मन्त्रके पढने-जपनेके अनेक प्रशंसापरक माहात्म्य वर्णित किये गये हैं। उसके 'धीमहि' और 'धियो यो नः प्रचोदयात्' शब्द शब्द-समूहोंका आश्रय लेकर अनेक देवी-देवताओंकी गायत्री बनायी गयी है। गणपत्युपनिषद्में गणेशका गायत्री इस प्रकार रचित है—

ॐ एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

देवीभागवतमें भगवतीकी स्तुति इसी मन्त्रकी छवि-छायासे पूर्ण है—

सर्वचैतन्यरूपां तमाद्यां विद्या च धीमहि। तन्नो देवी प्रचोदयात्॥

देवीभागवतकी समाप्तिपर भी इसी तरहकी देवी-गायत्री मिलती है—

सच्चिदानन्दरूपां तां गायत्रीप्रतिपादिताम्।
नमामि ह्रींमयीं देवीं धियो यो नः प्रचोदयात्॥

'विद्महे धीमहि' और 'धियो यो नः प्रचोदयात्' शब्दोंको गायत्री-मातासे गृहीत करके और भी देवी-देवताओंकी गायत्री रची गयी है। वे गायत्रीमन्त्रकी पवित्रता, उच्चता और सर्वोत्कृष्ट मन्त्रत्वको प्रकाशित करनेवाली हैं। उनमेंसे कुछके उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

राम-गायत्री—ॐ दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि। तन्नो रामः प्रचोदयात् (गायत्रीतन्त्र)।

शिव-गायत्री—ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् (शिवोपासना)।

सूर्य-गायत्री—ॐ आदित्याय विद्महे सहस्रकिरणाय धीमहि। तन्न सूर्यः प्रचोदयात् (सूर्योपनिषद्)।

हनुमद्-गायत्री—ॐ आञ्जनेयाय विद्महे वायुपुत्राय धीमहि। तन्नो हनुमान् प्रचोदयात् (गायत्रीतन्त्र)।

उनके स्मृतिग्रन्थोंमें जहाँ मानवकी आचार-श्रेष्ठताको व्याख्यायित किया गया है वहाँ गायत्री-तत्त्वका भूयोभूयः प्रतिष्ठित किया गया है। लघुहारीत-स्मृतिमें उल्लेख है कि द्विजोंकी गायत्रीमन्त्रसे युक्त अञ्जलि-अर्घ्यसे सूर्यसे युद्ध करनेवाले ये मंदेह राक्षस नष्ट हो जाते हैं[1]। वहींपर यह भी आया है कि प्रातःकाल गायत्रीका जप खड़े होकर करें और तबतक करें, जबतक सूर्यभगवान्के दर्शन न हो जायँ। संध्याकालकी गायत्रीका जप बैठकर करें और जबतक तारे न दीख तबतक करें। एक हजार बार किया गया गायत्रीमन्त्र-जप सबसे श्रेष्ठ है। यह कहा गया है कि जो नित्य गायत्रीका जपता है वह पापसे लिप्त नहीं होता— 'गायत्रीं यो जपेन्नित्यं न स पापेन लिप्यते।' संवर्त-स्मृति (२१३)-में आया है— 'मुच्यते सर्वपापेभ्यो गायत्र्या चैव पावितः।' अर्थात् गायत्रीसे बढ़कर पापका शोधक कोई नहीं है। शङ्खस्मृति (१२।३)-में कहा गया है— 'न सावित्र्या समं जप्यं न व्याहृतिसमं हुतम्।' अर्थात् सावित्री जपके समान कोई जप नहीं है और व्याहृतियोंके द्वारा किये गये हवनके समान कोई हवन नहीं है। सारांश

१-उदकाञ्जलिनिक्षेपा गायत्र्या चाभिमन्त्रिता। निघ्नन्ति राक्षसान् सर्वान् मन्देहाख्यान् द्विजेरिताः॥
(लघुहारीत० ४। १४)

यह है कि गायत्रीकी श्रेष्ठताका श्रुति-स्मृति पुराण आदि ग्रन्थोंमें अत्यन्त प्रशसनीय और आचरणीय व्याख्यान मिलता है। उसके महत्त्वका सारभूत निम्नलिखित श्लोक ईक्षणीय है—

गायत्रीवेदजननी गायत्रीपापनाशिनी ॥
गायत्र्या परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।
(शङ्खस्मृति १२। ११-१२)

अर्थात् 'गायत्री वेदोकी माता है। गायत्री पापोंका नाश करनेवाली है। द्युलोकम और इस लोकमें गायत्रीसे बढकर कोई भी पवित्र करनेवाला नहीं है।'

शास्त्रोंमें गायत्रीमन्त्रके जपकी विपुल महत्ता प्रतिपादित है। अत जपकर्ताको चाहिये कि वह बाह्याभ्यन्तर शुद्धिपूर्वक, सकल्पादि करके अङ्गन्यास करन्यास एवं विनियोगपूर्वक निम्न ध्यान-श्लोकके साथ जप प्रारम्भ करे—

ध्येय सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायण सरसिजासनसंनिविष्ट ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्र ॥

अर्थात् 'सूर्यमण्डलके मध्यमे कमलके आसनपर विराजमान भगवान् नारायणका सदैव ध्यान करना चाहिये। वे तपे हुए स्वर्ण-जैसे कान्तिमान् शरीरको धारण किये हुए हैं। उनके गलेमें हार, सिरपर किरीट और कानोंमे मकर-कुण्डलरत्न शोभित हैं। वे दोनो हाथोंमें शङ्ख-चक्र धारण किये हुए हैं। गायत्रीका जप करते समय सूर्यमण्डलमें भगवान्का चिन्तन करना चाहिये।'

गायत्री सम्पूर्ण वेदाकी जननी है। ब्रह्मलीन धर्मसमाट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने माना है कि जो गायत्रीका अभिप्राय है, वही सम्पूर्ण वेदोंका अर्थ है। गायत्रीद्वारा विश्वोत्पादक स्वप्रकाश परमात्माके उस रमणीय चिन्मय तेजका ध्यान किया जाता है, जो समस्त बुद्धियोका प्रेरक एव साक्षी है। इसलिये विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि जिनम विश्वकारणता सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता साकारता निराकारता आदि है, वे सभी परमेश्वर हैं और सभी गायत्रीमन्त्रके अर्थ हैं। इसलिये पञ्चदेवोका या अपने किसी भी इष्टदेव—राम कृष्ण दुर्गा अथवा हनुमान्का ध्यान गायत्रीमन्त्र-द्वारा किया जा सकता है। अत गायत्री वेद और भारतीय सस्कृतिका प्राण है।

आख्यान— शुद्ध-हृदयके रक्षक देव

सारे उपद्रव, उत्पात और अशान्तिकी जड है हृदयकी अशुद्धि। अशुद्ध मनमें विचार भी मलिन ही प्रतिफलित होते हैं, जैसे कि मलिन दर्पणम स्वच्छतम मुख मलिन दीखता है। फिर जब विचार मलिन (अशुद्ध) हुए तो इच्छा निर्मल कैसे होगी? काले धागेसे काला ही कपडा बुना जायगा सफेद नहीं। विचार (ज्ञान) और इच्छाके मलिन होनेपर उनसे होनेवाली कृतिकी शुद्धताकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। आज ससारमें सर्वत्र अशान्ति, अव्यवस्था और अरक्षणका जो वातावरण छाया हुआ है उसका एकमात्र कारण मलिन कृति (अशुद्ध आचार) ही है। इस स्थितिको परिवर्तित कर पुन विश्वमें शान्ति सुव्यवस्था और सुरक्षाका साम्राज्य लाना हो ता सर्वप्रथम प्रत्यक व्यक्तिको आचारमे शुद्धि लानी होगी। आचारम शुद्धि आयेगी शुद्ध इच्छासे शुद्ध इच्छा बनेगी शुद्ध ज्ञानसे और शुद्ध ज्ञान प्रतिफलित होगा शुद्ध-हृदयमें ही। इस प्रकार हृदयकी शुद्धि आजका कर्तव्य सिद्ध होता है।

भारत राष्ट्रने सदैव इसीपर जोर दिया है। यही भारतीय सस्कृतिकी प्राणपदा निष्ठा है। हमार पूर्वजाके निर्मल हृदयमें एक ही विचार प्रतिफलित होता रहा और वह है—

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खभाग् भवेत्॥

हम चाहते हैं कि सभी सुखी हा सभी नीराग रहें, सभी भला-ही-भला दख काई दु खका भागी न वन। विश्वहितका मूल सदिच्छारूप यह रत्न एकमात्र शुद्ध हृदयकी खानसे ही सुलभ हा सकता है।

आप कहगे वात तो है मार्केकी पर है केवल अध्यात्मवादियातक ही सीमित। राष्ट्ररक्षाके सदर्भमें यह साधन काम नहीं दगा। राष्ट्ररक्षा ता राजनाति और कूटनीतिस ही हाता है और उसके लिये मनम कुछ वचनमें कुछ और कृतिमें कुछ रखना ही पडता है। सर्वथा शुद्ध-हृदय वननेपर यह कैसे सम्भव है? राष्ट्रनीतिमें भी हम इतने 'भगत' वन जायँ ता हमारे राष्ट्रका रक्षा भगवान्के

ही हाथ है। भारतका तो चिर-अनुभूत विचार है—

देवा रक्षन्ति तं नित्यं यस्य स्याद्विमलं मनः ।
ररक्षेन्द्रोऽमलान् नर्यतुर्वीतियदुतुर्वशान्॥

अर्थात् 'जिसका चित्त निर्मल हो, उसमें किसी तरहका छल-छद्म द्वन्द्व न हो उसकी रक्षा स्वयं देवता किया करते हैं। वैदिक युगमें नर्य-तुर्वीति यदु और तुर्वश नामके अत्यन्त शुद्ध-हृदय राजा हुए हैं। अवसर पड़नेपर शंवर-जैसे महाबली असुरसे साक्षात् देवराज इन्द्रने उनकी रक्षा की और उन्हें बाल-बाल बचा लिया।'

ध्यान रखिये कि भारतीय वैदिक संस्कृतिकी दुनिया कयामततक सीमित नहीं है। सच तो यह है कि अन्य संस्कृतियोंकी जहाँ 'इति' होती है, वहाँसे भारतीय संस्कृतिका 'अथ' है। इतनी दूरतक हम पहुँच चुके हैं। हमारी मान्यता है कि हमपर एक 'सिक्युरिटी कौन्सिल' (सुरक्षा-परिषद्) है, जो केवल प्रस्ताव मात्र पास करके कृतकृत्य नहीं हो जाती प्रत्युत स्वयं उसमें पहल करती है। वह निःशस्त्रीकरणका प्रस्ताव मात्र पास कर चुप नहीं बैठती उसे कार्यान्वित करनेमें सक्रिय भाग लेती और करके छोड़ती है। उसे यह कदापि सह्य नहीं कि कोई प्रस्तावके समय मौखिक रूपमें निःशस्त्रीकरण और सैन्य-विघटनका समर्थन करे और भीतर-ही-भीतर अणुबम-जैसे विध्वंसकास्त्र बनाये उत्तरोत्तर अरबोंके आँकड़ोंमें सुरक्षाका बजट बढ़ाये और अणु-परीक्षणके नामपर विश्वको आतंकित करता रहे।

हमारे पास एक अद्भुत शक्ति है, जिसे हम 'देवशक्ति' कहा करते हैं। वह विश्वके मङ्गलके लिये वचनबद्ध है किंतु उसके निकट पहुँचने और उसकी रक्ष्य-सूचीकी सदस्यता पानेकी एकमात्र योग्यता 'विमल-मन' है राजनीतिक-कूटनीतिक दाँव-पेच कदापि नहीं। अतीतका गौरवमयी एक वैदिक कथा ही इस कथनकी पुष्टि करती है जो इस प्रकार है—

प्राचीन कालमें इस देशमें नर्य तुर्वीति यदु और तुर्वश[1] नामक चार राजा हुए, जो अपने-अपने प्रदेशोंका शासन करते हुए प्रजाकी पुत्रवत् रक्षा करते थे। चारोंमें प्रथम नर्यके नामसे ही स्पष्ट है कि ये नरमात्रके हितकारी थे। सरल-विमल-हृदय इन राजाओंके प्रति उनकी प्रजाओं जन्मदाता-सा आदर और स्नेह रखती और उनके राज्य अत्यन्त शान्ति-सौमनस्यके साथ चलते थे। संक्षेपमें कृतयुगके इस वर्णनकी अस्पष्ट झाँकी इनके राज्यमें पायी जाती थी कि 'तब न राजा था न राज्य न दण्ड और न दाण्डिक, सभी लोग एकमात्र धर्मसे ही अपने-आप अपना शासन कर लेते थे।'

किंतु संसारमें सभी सत्त्वप्रकृतिके नहीं हुआ करते। प्रकृतिके परस्पर-विरोधी नित्य गुणोंके रहते सबका सत्त्वप्रकृतिमात्र रहना सम्भव ही कहाँ? विधर्मी विदेशी शासक शंवरने अपनी ही विचारधाराके क्रूरकर्मा सहयोगी पिप्रु, कुयव और शुष्ण नामक माण्डलिकोंको साथ ले उन राजाओंपर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने इन राज्योंके दूरवर्ती, सीमाके कितने ही भागोंपर अधिकार जमा लिया और वहींसे आये दिन इन राज्योंमें उपद्रव मचाया करते थे। फलतः प्रजावर्ग अत्यन्त संत्रस्त हो उठा।

इसपर उपाय-योजनाकी दृष्टिसे प्रथम चारों राजाओंकी गोष्ठी हुई। स्वभावतः शान्तिप्रिय होनेसे इन्होंने एकमतसे यही निश्चय किया कि आक्रामक शंवर और उसके सहयोगियोंकी 'गोलमेज परिषद्' बुलायी जाय तथा यह प्रश्न शान्तिसे हल हो। व्यर्थमें उभयपक्षकी धन-जन-हानिसे लाभ ही क्या?

शंवरके पास शान्तिवार्ताके लिये निमन्त्रण भेजा गया। अन्तरसे न चाहते हुए भी कूटनीतिक दाँव-पेचकी दृष्टिसे उसने यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

शान्ति-परिषद् बैठी। राजाओंने कहा कि 'आप लोग जहाँ हैं वहीं रह जायँ और वहाँकी प्रजाका हित देखते हुए उसका शासन करें। भविष्यमें और साम्राज्यवादी पैर न फैलाने तथा सारा वातावरण क्षुब्ध करनेकी कुचेष्टा न करें, साथ ही अपनी सेना विघटित कर दें तो आपसे शान्तिपूर्ण समझौता हो सकता है।'

शंवर और उसके सहयोगियोंने कहा—'हमें प्रस्ताव स्वीकार्य है। यदि आप भी अपनी सारी सेना विघटित कर दें तथा कभी हमपर आक्रमणकी न सोचें न हमारा

१-ये सभी ऐतिहासिक राजा हैं जिनका पुराणादिमें उल्लेख पाया जाता है। यदु और तुर्वश तो महाराज ययातिके ही पुत्र हैं। उनके चार पुत्र थे जिनमेंसे द्रुह्यु सुदासोंद्वारा मारा गया। यदुके यदुवंशी यादव हुए, जिनके वंशमें भगवान् श्रीकृष्णने जन्म लिया। तुर्वश इन्हीं दासोंके भयसे भारतसे बाहर तुर्क देशमें चला गया। वहाँके वातावरणसे प्रभावित हुआ और उसीका सारा विस्तार मध्यपूर्वका राजवंश एवं प्रजा है। वातावरणके प्रभावसे उनका धर्मान्तर भी हो गया फिर भी चन्द्रवंशके मूल पुरुष चन्द्रके प्रति उनकी निष्ठा बनी रही जो आज भी ईद आदिके अवसरपर चन्द्रदर्शनकी उनकी उत्कट उत्सुकतामें स्पष्ट है। अनजानमें अपने वंशके इस मूल पुरुषको उन्होंने अपने ध्वजमें भी सम्मान्य स्थान दिया है।

अधिकृत भूमि छीननेका प्रयास करें तो आपकी यह बात मान ली जा सकती है।'

बीचमे ही उनका एक साथी अपने नेता शवरसे बाल उठा—'यह क्या कर रहे हैं? इस तरह तो सारा खेल बिगड जायगा।' शवरने सकेतसे उसे चुप करा दिया। उसकी आँखोंकी भाषा ही बता रही थी कि यह भी एक कूटनीतिक दाँव है, जिसे साथियाको समझते देर न लगी।

सधि हो गयी। राजाओने ता प्रस्तावानुसार पहलेसे ही अत्यल्प अपनी सैन्यशक्तिको और भी विघटित कर दिया तथा वे शान्तिसे रहने लगे।

बडी मुश्किलसे इस घटनाको एक वर्ष बीता होगा कि उचित अवसर पाकर शवरने अपने तीनों साथियाके साथ चारों राज्योपर चौतरफा आक्रमण कर दिया। गुप्त सयोजनके फलस्वरूप उसके ९९ किले भी तैयार थे जहाँ सुरक्षित विशाल वाहिनी और सैन्य-सामग्री कुछ ही दिनोमे ऐसे कितने ही राज्योको नामशेष करनेकी क्षमता रखती थी।

इधर शान्तिवार्ता और समझौतेके फलस्वरूप रही-सही सेना भी विघटित कर देनेसे ये भारतीय नरेश अत्यन्त दयनीय हो गये। ऊपरसे सर्वसाधन-सम्पन्न शत्रुके चतुर्दिक् आक्रमणसे उनका धैर्य जाता रहा। बेचारोंके पास सिवा दैवी बलके कोई चारा न था। प्रजा भी इस अदूरदर्शितापर उन्हें कोसती आक्रमणके प्रतीकारार्थ सनद्ध नहीं हो पाती थी।

अन्तत चारोने मिलकर अत्यन्त भक्तिभावस देवराज इन्द्रकी प्रार्थना की। विमलमति इन शासकोकी प्रार्थना सुनते ही देवराज अपनी स्वर्गीय सेना ले विमानोसे पृथ्वीपर उतर आये और देखते-देखते शत्रुका सारा आक्रमण उस प्रकार काट-छाँट दिया जिस प्रकार प्रचण्ड पवन घनीभूत मेघ-पटलको खण्ड-खण्ड कर देता है।

देवराज इन्द्रने न केवल आत्मरक्षाकी लडाई लडकर राजाओंकी रक्षा की प्रत्युत शत्रुसे आक्रमणात्मक युद्ध लड़कर उसके ९९ किले भी ध्वस्त कर दिये और राष्ट्रविप्लवकारी शवरसहित चारा आक्रामकाको मौतके घाट उतार दिया।

शत्रुओंके इस भीषण तूफानको कुछ ही क्षणोमें शान्त कर देवराज चारों राजाओंके पास पहुँचे और बाले—'राजाओ! अब आपका क्या प्रिय किया जाय?'

राजाओने प्रणामपूर्वक कहा—'देवराज! हम आपके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिये समर्थ शब्द ही नहीं पा रहे हैं। इसी तरह सकटके समय विमलचेताओकी सदैव रक्षा किया कर, यही प्रार्थना है।'

देवराज 'तथास्तु' कहकर अपने दलबल-सहित स्वर्ग लौट आये।

कथाका आध्यात्मिक रहस्य

प्रस्तुत कथाके आधिभौतिक रहस्य और उपदेशके विषयम आरम्भमें कुछ कहा गया, किंतु ध्यान देनेकी बात है कि हमारी वैदिक कथाएँ रूपकशैलीमें अपनेमें गूढ आध्यात्मिक रहस्य छिपाये रहती हैं।

प्रस्तुत कथाम राजा शुद्धचित्त साधकाके प्रतीक हैं और देवराज इन्द्र हैं गुरुदेव। शुद्धचित्त साधकाद्वारा सभक्ति उपासना करनेपर वे सदैव शवर और उसके साथियोको नष्ट कर उनका रक्षा किया करते हैं। शवर है मूल अज्ञानका प्रतीक। कारण वह कल्याणस्वरूप आत्मतत्त्वको आवृत कर देता है ('श वृणोतीति शंवर ')।

निर्मलचित्त साधकको गुरु आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कराकर उसका मूल अज्ञान नष्ट कर देता है तो उस अज्ञानके सारे कार्य उपादान-कारणके नाशसे अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। यह कथाका गूढतम आध्यात्मिक रहस्य है। ऋग्वेद (१। ५४। ६)-म इस कथाका सकेत करते हुए कहा गया है—

त्वमाविथ नर्यं तुर्वशं यदु त्व तुर्वीति वय्य शतक्रतो।
त्व रथमेतशं कृत्व्ये धने त्व पुरो नवति दम्भयो नव॥

अर्थात् सव्य ऋषि जगती छन्दद्वारा देवराज इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहते हैं—'हे शतक्रतो इन्द्र! आपने नर्य, तुर्वश यदु और वय्य कुलके तुर्वीति राजाओकी रक्षा की। आपन सग्राममें इन राजाओके अश्वाकी रक्षा की। प्रभा, आपने शवर दानवके निन्यानवे किलोंको (अज्ञानके समस्त कार्योंको) नष्ट कर दिया।' [अत हमारे भी समस्त अज्ञानान्धकारको दूर कर।]

इस ऋचाके अतिरिक्त दूसरे स्थलापर भी इस कथाक सकेत-सूत्र ऋग्वेद (१। ३८। १८ १। ११२। ९ १। ११२। २३)-में प्राप्त होते हैं।

वेदोंके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय

[ससारमे सर्वत्र सुख-दु ख हानि-लाभ जीवन-मरण, दरिद्रता-सम्पन्नता रुग्णता-स्वस्थता और बुद्धिमत्ता-अबुद्धिमत्ता आदि वैभिन्न्य स्पष्टरूपसे दिखायी पडता है पर यह वैभिन्न्य दृष्ट कारणोसे ही होना आवश्यक नहीं, कारण कि ऐसे बहुत उदाहरण प्राप्त होते हैं कि एक माता-पिताके एक साथ जन्मे युग्म-बालकोकी शिक्षा-दीक्षा लालन-पालन समान होनेपर भी व्यक्तिगत रूपसे उनकी परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसे कोई रुग्ण कोई स्वस्थ काई दरिद्र तो कोई सम्पन्न कोई अङ्गहीन तो कोई सर्वाङ्गसुन्दर इत्यादि। इन बातोसे यह स्पष्ट है कि जन्म-जन्मान्तरके धर्माधर्मरूप 'अदृष्ट' ही इन भोगोंका कारण है। जीवनमे हम जो कुछ भी कार्य करते हैं, वे ही हमारे प्रारब्ध बनते हैं। मनुष्य जब जन्म लेता है, तब वह अपना अदृष्ट (प्रारब्ध या भाग्य) साथ लेकर आता है, जिसे वह भोगता है। वेद इन सम्पूर्ण विषयोका विवेचन प्रस्तुत करते हैं और प्राणिमात्रका कल्याण कैसे हो, इसका मार्ग प्रशस्त करते हुए मनुष्यमात्रके कर्तव्यका निश्चय करते हैं। साथ ही ऐहलौकिक जीवनकी सार्थकताके लिये सत्कर्म करनेकी प्रेरणा देते हैं। इसीलिये वेदोके प्रतिपाद्य विषयोमे मनुष्यकी दिनचर्या जीवनचर्या सामान्यधर्म, विशेषधर्म, वर्णाश्रमधर्म सस्कार, आचार (सदाचार शौचाचार), विचार यम-नियम दान श्राद्ध-तर्पण, पञ्चमहायज्ञ, स्वाध्याय सत्संग, अतिथि-सेवा, देवोपासना, सध्या-वन्दन गायत्री-जप यज्ञ व्रतोपवास इष्टापूर्त शुद्धि-तत्त्व अशौच पातक, महापातक कर्म-विपाक प्रायश्चित्त पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) भक्ति और अध्यात्मज्ञान आदि अन्यान्य विषय समाहित हैं। अस्तु।

वेदामे जा विषय प्रतिपादित हैं, वे मानवमात्रका मार्गदर्शन करते हैं। मनुष्यको प्रतिक्षण कब क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, साथ ही प्रात काल जागरणसे रात्रिपर्यन्त सम्पूर्ण चर्या और क्रिया-कलाप ही वेदोंके प्रतिपाद्य विषय हैं।—सम्पादक]

वैदिक सस्कृति और सदाचार

(डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा सोम डी० लिट्०)

वैदिक सस्कृति सदाचारको जितना महत्त्व प्रदान करती है, उतना अन्य उपादानाको नहीं। आप चाहे अद्वैतको मानिये और चाहे द्वैतको, यदि आप सदाचारी नहीं हैं तो आपकी मान्यता निरर्थक है—बालूमेंसे तेल निकालनेके समान है। यदि आप सदाचारी हैं तो ईश्वरमें विश्वास या अविश्वासका प्रश्न उठगा ही नहीं और यदि आप सदाचारी नहीं हैं तो वेदके शब्दोंमें 'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृत '—'दुराचारी सत्यके मार्गका पार कर ही नहीं सकते'—इसपर आपको ध्यान देना होगा। सदाचारी व्यक्ति ही सत्य-पथका अनुगामी है और जो सत्य-पथपर चल रहा है, वह एक दिन उसे पार कर ही जायगा—प्रभुको प्राप्त कर ही लेगा क्योंकि 'ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्ति —तात्पय यह कि ऋतक आदेश— सदाचारके सकेत प्रभुका सवर्धन करनेवाल हैं। स्वर्ग पन्था सुकृते देवयान ' अर्थात् स्वर्ग या ज्योतिका ओर ल जानेवाला देवयान-पथ सुकृती सदाचारी व्यक्तिके ही भाग्यकी वस्तु है। इस प्रकार सदाचारी सत्पथका पथिक जाने मा अनजाने उस परमगति—परमतत्त्वकी ओर अपने-आप चला जा रहा है। वेदमे प्रार्थना आती है—परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज। उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतॉं अनु॥ (यजु० ४। २८)

'सर्वाग्रणी देव! आप सबके नियन्ता हैं। मुझे दुश्चरितसे पृथक् कर और सब ओरसे सदाचारका भागी बनायें। मैं अमर देवोंका अनुकरण करूँ तथा उत्तम आयु एवं शोभन जीवन लकर ऊपर उठ जाऊँ।' सदाचार ही ऊपर उठाता है। दुराचार तो गिरानेवाला है आयुका क्षीण करनेवाला है रोगाका अड्डा बनानेवाला है। सदाचारसे नीरोगता प्राप्त होती है आयु बढती है और प्राणा ऊपर उठता है। मानव यहाँ ऊँचा उठनेके लिय आया है गिरनके लिय नहीं। अत जो गिराता है उसे ही हम गिरा देना चाहिये और जो उठाता है उस अपना लेना चाहिय। इसीमे कल्याण है। वेद सदाचारके लिय मनको शिवसंकल्पमय बनानेकी आज्ञा देते हैं—'तन्म मन शिवसंकल्पमस्तु। मनमें शिवसंकल्प उठेंगे तो ये आचरणमे भी फलीभूत होंग क्योंकि 'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति —का सिद्धान्त

सर्वांशत सत्य है। इस मनको सामग्री प्राप्त होती है ज्ञानेन्द्रियोसे। वेद कहते हैं—'भद्र कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।' अर्थात् 'हम कानोंसे भद्र शब्दोको सुनें और आँखोसे भद्रका ही दर्शन करें।' शिवसकल्पी मन आँखोंसे भद्रका दर्शन करेगा और भद्रदर्शी ही शिवसकल्पी बनेगा। दोनोमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो बात आँख और कानके सम्बन्धमें कही जाती है वही अन्य ज्ञानेन्द्रियोके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। इस प्रकारका शिवसकल्पी मन भद्रदर्शी और भद्रश्रोत्रीके साथ भद्र आचरण ही करेगा। उसके अङ्ग स्थिर हागे शरीर देवोंद्वारा स्थापित पूर्ण आयुको प्राप्त करेगा और वह भद्रका आशसी बनेगा।

स्वस्तिपथ सदाचारका पथ है। यह दानी, अहिंसक और ज्ञानियोंका पथ है। हमे सदाचारकी शिक्षाके लिये उन्हींके सत्सगमें रहना चाहिये। 'अग्ने नय सुपथा'—'प्रभु हमे इसी सुपथसे ले चलें।' 'युयोध्यस्मज्जुहुराणमेन '—'कुटिलताके पापपथसे हमें दूर रखें।' 'सुग कर्त सुपथा स्वस्तये'—'सुपथको प्रभु हमारे लिये सुगम कर द, जिससे हम कल्याणके भाजन बन सके।' यदि 'न न पश्चात् अघं नशत्'—'पाप हमारे पीछे न पडा' तो 'भद्रं भवाति न पुर '—'भद्र निश्चितरूपसे हमारे सामने आ जायगा।' हम प्रतिदिन प्रभुसे प्रार्थना करते हैं—'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव'—'प्रभो! हमारे दुरित दुराचार दूर हा और जो भद्र हैं, मङ्गलमय या कल्याणकारी हैं वे ही हमे प्राप्त हो।' दुरित दुराचार या कुत्सित आचरण हमारे विनाशका कारण है। सदाचार हमें प्रतिष्ठित करता है, जीवन देता है। 'स न पूषाऽविना भुवत्'—अर्थात् 'सदाचार हमे पोषण देता है और हमारी रक्षा करता है।'

सदाचारमें सत् है, श्रद्धामे श्रत् है। सत् और श्रत् प्राय एक ही हैं। यही धारण करनेवाले धर्म भी हैं। ऐसे धर्मोका अध्यक्ष— अध्यक्षं धर्माणाम् —'अग्नि है सर्वाग्रणी परमेश्वर है।' यही सत् और श्रत्का निधान है। उसीकी प्राप्ति धर्मकी प्राप्ति है, सत् और श्रत्की उपलब्धि है। इस प्रकार परमेश्वर, सत्य और धर्म एक हो हैं।

'त्रिशूला न क्रिलय सुमातरो'—'माताओंके आगे जैसे शिशु क्रीडा करते हैं, वैसे ही हमे भी प्रभुके आगे शिशुकी भाँति क्रीडा करनी चाहिये।' शिशु निरीह और निष्पाप होता है। वह दुराचारका नाम भी नहीं जानता। सदाचार सहजरूपसे उसके अदर निवास करता है। यदि हम भा शैशव वृत्ति धारण कर लें, बडे होकर भी शिशुकी भाँति निष्कपट व्यवहार करे तो हम प्रभुके सानिध्य या सामीप्यमे रहेगे, सत् हमारा साथी बनेगा, भद्र हमारे पार्श्वमें बसेगा और आनन्द रोम-रोममें रमेगा। सदाचाररूपी वृक्षपर आनन्दका ही फल लगता है।

सदाचार-पथके पथिकको कभी प्रमादमे नहीं पडना है और न व्यर्थके प्रलापमें भाग लेना है। 'मा न निडा ईशत मोत जल्पि '—'निद्रा या जल्पना कोई भी हमारे ऊपर शासन न कर सके।' 'इच्छन्ति देवा सुन्वन्त न स्वप्नाय स्पृहयन्ति'—क्योंकि 'जो निद्रालु है, सोता है, देव उसकी कामना नहीं करते।' दिव्य गुण या सदाचार उससे कोसों दूर भाग जाते हैं। देव तो उसीसे प्रेम करते हैं जो सदाचारी है, सहनशील है, त्यागपरायण है। सदाचारके क्षेत्रम इसीलिये कोई छुट्टी नहीं है अवकाशका दिन नहीं है—There is no holiday in moral life—इसमे एक दिन क्या एक क्षणके लिये भी छुट्टी मनाना सदाचारसे पृथक् होना—वर्षोंकी कमाईपर पानी फेर देना है। एक पलका भी प्रमाद अनन्तकालतकके पश्चात्तापका कारण हा सकता है।

'कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय जीवसे'—'हम अपने जीवनमें अपने आचरणमे ऊँचे ही उठते रहें।' हमारा वर्तमान जीवन और उसकी कार्यप्रणाली एक लबी शृखलाकी कडी मात्र है। न जाने कबसे प्रयत्न करते-करते हम वर्तमान अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। कितनी ठोकरें खायी होंगी, कितने नीचे गिरे होंगे और फिर उठनेम कितना प्रयास किया होगा। यदि विगतकी यह स्मृति जाग उठे तो हम प्राप्त क्षणाको अपने हाथसे कभी न जाने दें। ऊँची चढाई कष्टसाध्य होती है, परतु जब ऊपर चढकर आनन्दका आस्वाद लेत हैं उन्मुक्त वातावरणमे साँस लेते हैं तो झले हुए कष्ट फिर कष्ट नहीं रहते आनन्दावसायी परिणतिम डूबकर समस्त आयास समाप्त हा जाते हैं। अशिव और अमीव (कष्ट) पीछे छूट जाते हैं। शिव और स्वास्थ्य समक्ष ही नवल लास्य—नर्तन करने लगते हैं। जो वैषम्य पल-पलमें काटनको दौड़ता था वह स्वयं कट जाता है और उसक स्थानपर शोभित हो जाता है—सामरस्य जो सर्वोच्च कोटिको उपलब्धि है।

ऊर्ध्व स्थितिम पर्वती उतार-चढाव भी दिखायी नहीं देते। एक सुन्दर समतल प्रदेश—आँगनक समान दृष्टिगाचर होने लगता है। 'अत्रा इन्द्रस्य गिरश्चिद् भ्राध्या —'मुक्त जीवके लिये उच्च विशाल पार्वत्य तुङ्ग-शृङ्ग अजिर-तुल्य

हैं' और 'गम्भीरे चिद् भवति गाधमस्मै'—'गहरे-से-गहरे निराशाजनक स्थलमें भी उसके लिये आशाजनक पात विद्यमान है।'

ऊपर हमने ऋतको सदाचार कहा है। अंग्रेजीमें ऋतका स्थानीय 'Right' है। वेदमें ऋत और सत्यका युग है। ऋतका सम्बन्ध चर और चित्से है सत्का सम्बन्ध अचर तथा अचित्से है। इस आधारपर सत्य वे नियम हैं जो विश्वका सत्तात्मक (Static) स्थितिसे सम्बन्ध रखते हैं और ऋत वे नियम हैं, जो उसकी गत्यात्मक तथा क्रियात्मक स्थितिसे सम्बन्ध रखते हैं। यही दो नियम विश्वभरकी चराचर जड़-जंगम अथवा चित्-अचित् स्थितियोंका नियन्त्रण करते हैं। एमुएल काण्ट कहा करता था—'Two things fill my mind with awe and reverance the theory heavence above and the moral love within.'—'ताराभरे आकाशसे उसका लक्ष्य ब्रह्माण्डीय नियमोंकी ओर था जिन्हें हमने सत्य कहा है।' मौरेल लॉ या सदाचारके नियमको हम सत्य न कहकर ऋत कहेंगे। वैदिक संस्कृतिमें ऋत या सदाचारका नियम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संस्कृतिरूपी भवन इसीकी नींवपर खडा होता है। वेदमें ऋतकी प्रशंसा अनेक मन्त्रोंमें की गया है। ऋतकी जडें बडी गहरी हैं। द्यौ-पुत्र ऋतके ही प्रशंसक हैं। आङ्गिरस प्राणप्रधान व्यक्ति ऋतके द्वारा ही 'विप्र' पदको प्राप्त करते हैं। विप्रकी वाणी ऋतसे ओतप्रोत रहती है। देव ऋतसे सम्पन्न ऋत-जात तथा ऋतके बढानेवाले होते हैं। ऋतद्वारा ही ये मानवको पापसे छुड़ाते हैं। ये स्वयं ऋतसे शुभ्र या चमकीले बनते हैं। ऋतका प्रथमजा प्रज्ञाका आश्रय लेकर वे सर्वज्ञ बन जाते हैं। देवोंमें वही देव पवित्र सामर्थ्यवान् तथा यज्ञिय बनते हैं जो ऋतसे अपनेको संयुक्त करते हैं। सदाचार ऋतके इसी नियमपर आधारित हैं। वैदिक संस्कृतिकी आधारशिला भी यही है। ऋत या सदाचारसे विहीन मानवको संस्कृत मानव किसीने कहीं भी नहीं कहा। हमें संस्कृत बनना है तो सदाचारको जीवनमें प्रमुख स्थान देना ही पडेगा। ऋतके नियमोंके आधारपर सच्चरित्र बनना होगा। यही जीवनका चरम लक्ष्य-पथ है।

सम-वितरण

विभज्य भुञ्जते सन्तो भक्ष्यं प्राप्य सहाग्निना। चतुरश्चमसान् कृत्वा तं सामभुभय पपु ॥ (नीतिमञ्जरी)

सुधन्वाके पुत्र ऋभु, विभु और वाज त्वष्टाके विशेष कृपापात्र थे। त्वष्टाने उन्हें अपनी समस्त विद्याओंसे सम्पन्न कर दिया। उनके सत्कर्मकी चर्चा देवोंमें प्रायः होती रहती थी। उन्होंने बृहस्पतिका अमृत तथा अश्विनीकुमारोंको दिव्य रथ और इन्द्रको वाहनसे संतुष्ट कर उनकी प्रसन्नता प्राप्त की थी। वेदमन्त्रोंसे वे देवोंका समय-समयपर आवाहन करते रहते थे। देवोंको सोमका भाग देकर वे अपने सत्कर्मसे देवत्वकी ओर बढ़ रहे थे।

× × ×

ऋभुओंने त्वष्टानिर्मित सोमपानका आयोजन किया। सामवेदके सरस मन्त्रोच्चारणसे उन्होंने सोमाभिषव प्रारम्भ कर उसे चमस[1] में रखा ही था कि सहसा उन्हींके आकार-प्रकार, रूप-रंग और वयस्के एक प्राणी दीख पड़े। ऋभुओंको बड़ा आश्चर्य हुआ।

'चमसके चार भाग करने चाहिये।' ज्येष्ठ पुत्र ऋभुने आदेश दिया। उनकी आज्ञाका तत्क्षण पालन हुआ विभु और वाजके द्वारा।

'अतिथिका सत्कार करना हमारा परम धर्म है आप कोई भी हों हम लोगोंने आपको सम भागका अधिकारी माना है।' ऋभुओंने सोमपानके लिये अनातं पुरुषसे प्रार्थना की।

'देवगण आपसे प्रसन्न हैं ऋभुओ! मुझे इन्द्रने आपकी परीक्षाके लिये भेजा था। आप लोग संत हैं। आपने अतिथि-धर्मका पालन करके अपना गोत्र पवित्र कर लिया।' अग्नि प्रकट हो गये। उन्होंने सोमका चौथा भाग ग्रहण किया। इन्द्रने भी सोमका भाग प्राप्त किया। प्रजापतिने उन्हें अमरता प्रदान की। वे अपने शुभकर्मसे देवता हो गये।

[बृहद्देवता अ० ३। ८३—९०]
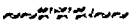
१-सोमरस धारण करनेवाले यज्ञपात्र-विशेषका नाम चमस है।

वैदिक कर्म और ब्रह्मज्ञान

(श्रीवसन्तकुमारजी चटर्जी एम्० ए०)

पाश्चात्य विद्वानोंकी यह कल्पना है कि वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानमें परस्पर-विरोध है। डॉ० विंटरनित्ज लिखते हैं कि 'जब ब्राह्मण लोग यज्ञ-यागादिके निरर्थक शास्त्रमें प्रवृत्त थे तब अन्य लोग उन महान् प्रश्नोंके विचारमें लगे थे, जिनका पीछे उपनिषदोंमें इतनी उत्तमताके साथ विवेचन हुआ है' (हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २३१)। मि० मैकडॉनल कहते हैं कि 'उपनिषद् यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थोंके ही भाग हैं क्योंकि हैं वे उन्हींके ज्ञानकाण्डके विस्तारस्वरूप तथापि उनके द्वारा एक नये ही धर्मका प्रतिपादन हुआ है जो वैदिक कर्मकाण्ड या व्यवहारके सर्वथा विरुद्ध है' (हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २१८)। इन विद्वानोंको यह नहीं सूझा कि एक ही ग्रन्थके दो भाग एक-दूसरेके विरुद्ध कैसे हो सकते हैं! जो लोग भारतीय संस्कृतिकी परम्परामें नहीं जन्मे नहीं फले-फूले उन विदेशियोंको तो इस गलतीके लिये क्षमा किया जा सकता है। उनका जन्मजात संस्कार ही वैदिक कर्मकाण्डके विरुद्ध है। उनकी तो यह समझ है कि ये वैदिक कर्म अन्धविश्वासकी उपज हैं, आत्मज्ञानसे इनका कोई सरोकार नहीं। परंतु हम उन अग्रगण्य आधुनिक भारतीय विद्वानोंको क्या कहें, जो वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानके इस पाश्चात्य विद्वानोंद्वारा कल्पित परस्परविरोधका ही अनुवाद किया करते हैं? क्या उन्हें भी यह नहीं सूझता कि श्रीशंकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य-जैसे महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियोंमें इतनी समझ तो अवश्य रही होगी कि यदि वेदोंके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें परस्पर-विरोध है तो दोनों ही काण्ड सत्य नहीं माने जा सकते? यह बात स्मरण रहे कि श्रीशंकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य तथा भारतके सभी प्राचीन आचार्योंने यह माना है कि वेद एवं उपनिषद् अपौरुषेय हैं—सर्वथा सत्य हैं।

इस कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके परस्पर-विरोधकी कल्पना जिस आधारपर की जाती है उसका यदि हम परीक्षण करें तो हमें यह देखकर आश्चर्य होगा कि इतने बड़े-बड़े विद्वान् मूलमें ही इतनी बड़ी गलती कैसे कर गये। वैदिक कर्मकाण्डकी यह फलश्रुति है कि इन कर्मोंके आचरणसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। उपनिषदोंने कहीं भी इसका खण्डन नहीं किया है। इसके विपरीत उपनिषदोंके अनेक वाक्य इसके समर्थक हैं। इसके दो अवतरण नीचे प्रस्तुत हैं—

तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते' (प्रश्नोपनिषद् १। ९)।

'जो लोग यज्ञ करना, वापी-कूप-तडागादि खुदवाना और बगीचा लगवाना आदि इष्टापूर्तरूप कर्म-मार्गका ही अवलम्बन करते हैं वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं' (चन्द्रलोक स्वर्गका ही एक भेद है)।

> एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
> यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
> तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
> यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥
> (मुण्डक० १। २। ५)

'इन दीप्तिमान् जिह्वाओंमें जो यथाकाल आहुति देता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसे वे आहुतियाँ सूर्यकी रश्मियोंके साथ मिलकर वहाँ ले जाती हैं जहाँ देवताओंका एक पति सबसे ऊपर विराजता है।'

मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट ही बतलाता है कि वैदिक कर्मकाण्ड सच्चा अर्थात् अव्यर्थ फलप्रद है। यथा—

> तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्०।
> (मुण्डक० १। २। १)

'ऋषियोंने मन्त्रोंमें जिन कर्म-विधियोंको देखा वे सत्य हैं।' प्रथमतः मन्त्र प्रकट हुए, तब उन मन्त्रोंके साथ वैदिक कर्म करनेकी विधियाँ ब्राह्मणग्रन्थोंमें समाविष्ट की गयीं। ये ब्राह्मणग्रन्थ वेदोंके ही अंग हैं और अपौरुषेय वेदमन्त्रोंसे ही निकले हैं। इस प्रकार वेद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक हैं जैसा कि 'यज्ञपरिभाषासूत्र' में महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं—

> मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

'वेद नाम मन्त्रों और ब्राह्मणोंका है।

वैदिक कर्म और औपनिषद ज्ञानके बीच परस्पर-

विरोध केवल आधुनिक पण्डितोंकी कल्पना है यह बात इससे भी स्पष्ट हो जायगी कि उपनिषदोंने कितने ही स्थानोंमें वेदोंके मन्त्रभागसे प्रमाण उद्धृत किये हैं—यह कहकर कि ऋक्‌में ऐसा कहा है, अथवा वेदमन्त्र ऐसा है—'तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्' अथवा 'तदेष श्लोक' इत्यादि।

ब्रह्मकी महिमाका वर्णन करते हुए एक जगह मुण्डकोपनिषद् (२। १। ६)-में यह मन्त्र आता है—

तस्मादृच साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥

'उन परब्रह्मसे ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, दीक्षा यज्ञ क्रतु, दक्षिणा संवत्सर, यजमान और विविध लोक जिनमें चन्द्र और सूर्य चलते हैं, प्रकट हुए हैं।'

कठोपनिषद्में यह देखा जाता है कि नचिकेताको ब्रह्मज्ञान देनेके पूर्व उन वैदिक यज्ञोंको करनेकी दीक्षा दी गयी जिनसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि उपनिषद् वैदिक यज्ञोंद्वारा स्वर्गकी प्राप्तिका होना घोषित करते हैं। परंतु इस विषयमें यह भी तो कहा जा सकता है कि यज्ञोंसे स्वर्ग-लाभ भले ही होता हो पर उपनिषदोंका लक्ष्य तो स्वर्ग नहीं प्रत्युत मोक्ष है और इसलिये उपनिषद् ऐसा कैसे कह सकते हैं कि कोई अपना समय और शक्ति वैदिक यज्ञ-यागादिमें व्यर्थ ही व्यय किया करे परंतु यह कुतर्क ही है। उपनिषद् तो स्पष्ट ही विधान करते हैं कि 'यज्ञ करो।' स्नातकके समावर्तन-संस्कारमें आचार्य शिष्यको स्पष्ट ही आदेश देते हैं—

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।
(तै०उ० १। ११। १)

'देवों और पितरोंके लिये यज्ञ करनेमें कभी प्रमाद न करो।' मुण्डकोपनिषद्‌के उपसंहारमें यह कहा गया है कि—

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥
(मुण्डक० ३। २। १०)

यह ब्रह्मविद्या उन्हींसे कहे जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत (एक वैदिक यज्ञ) सम्पन्न किया हो।' कठोपनिषद्‌में क्रमशः वैदिक यज्ञोंकी विद्या पहले बताकर तब ब्रह्मविद्याको बतलाना इसी बातको ही तो सूचित करता है कि ब्रह्मविद्याका अधिकार वैदिक कर्मका विधिपूर्वक पालन करनेसे ही प्राप्त होता है।

फिर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वैदिक कर्म स्वर्गके ही देनेवाले हैं तो जो मनुष्य स्वर्ग न चाहता हो, मोक्ष ही चाहता हो, उसके लिये वैदिक कर्मकी आवश्यकता ही क्या हो सकती है? इसका उत्तर बृहदारण्यकोपनिषद् (४। ४। २२)-के इस वचनसे मिलता है—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन०।

'ब्राह्मण लोग वेदाध्ययनसे तथा कामनारहित यज्ञ, दान और तपसे उस (ब्रह्म)-को जाननेकी इच्छा करते हैं।' इस वचनमें 'अनाशकेन' (कामनारहितेन)-पद विशेष अर्थपूर्ण है। इसका यही अर्थ है कि वेदोक्त यज्ञादि कर्म जब आसक्तिसहित किये जाते हैं, तब उनसे स्वर्गलाभ होता है और जब आसक्तिरहित किये जाते हैं, तब काम-क्रोधादिकोंसे मुक्त होकर कर्ताका चित्त शुद्ध हो जाता है। यही बात गीता (१८। ५-६)-में भगवान्‌द्वारा कही गयी है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

'यज्ञ दान, तप आदि कर्म त्याज्य नहीं हैं अवश्य करणीय हैं क्योंकि ये मनीषियोंको पावन करते हैं। इन कर्मोंको भी आसक्ति और फलेच्छाको छोड़कर करना चाहिये यही मेरा निश्चित उत्तम मत है।' उपनिषद्‌के 'अनाशकेन' पदको ही गीताके 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' शब्दोंने विशद किया है।

अब उपनिषद्‌के उस मन्त्रका भी विचार कर लीजिये, जिससे आधुनिकोंको वैदिक कर्म और औपनिषद ज्ञानमें परस्पर-विरोध दीख पड़ता है और यह कहनेका मौका मिलता है कि उपनिषदोंने तो वैदिक कर्मकाण्डका खण्डन किया है। मन्त्रार्थको ठीक तरहसे विचार करनेपर अवश्य ही यह प्रतीत होगा कि खण्डन वैदिक कर्मकाण्डका नहीं बल्कि

उसके फलस्वरूप स्वर्गभोगकी इच्छाका खण्डन है। मन्त्र इस प्रकार है—

> प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
> अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
> एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
> जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति॥
> (मुण्डक० १।२।७)

अर्थात् 'जिनपर ज्ञानवर्जित कर्म अवलम्बित हैं—ऐसी ये अठारह यज्ञसाधनरूप नौकाएँ अदृढ हैं। इन्हें जो श्रेय जानकर इनका अभिनन्दन करते हैं, वे मूढ हैं। वे फिरसे जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं।' यहाँ यज्ञाको 'अदृढ नौकाएँ' कहा है क्योंकि ये नौकाएँ मृत्युसागर पार नहीं करातीं, ब्रह्मविद्या ही मृत्युसागरके पार पहुँचाती है। इसका यह मतलब तो नहीं हुआ कि इन यज्ञोका कोई प्रयोजन ही नहीं है। इसके पूर्वके दो मन्त्रामे यह बात कही जा चुकी है कि जो लोग यज्ञ करते हैं ये मृत्युके पश्चात् स्वर्गको जाते हैं। इस मन्त्रसे यह भी न समझना चाहिये कि इसका अभिप्राय यज्ञाके खण्डनमे है। कारण अन्य मन्त्रोंमे जो पहले उद्धृत किये जा चुके हैं, यज्ञोंका आग्रहपूर्वक विधान किया गया है। यहाँ 'अदृढा ' पदसे इतना ही सूचित किया गया कि यही अन्तिम और सबसे बडी चीज नहीं है।

आधुनिकोंके चित्तमें यह शका उठ सकती है कि वैदिक यज्ञोके करनेसे मनकी शुद्धि कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि मनकी जो विविध कामनाएँ हैं, जो आत्मवश्यताके न होनेसे ही उत्पन्न होती हैं, वे मनकी मलिनता या अशुद्धि हैं। वैदिक कर्मकाण्ड आत्मसयमकी शक्तिको ही बढाता है। अत केवल बाह्य विधिका ही सम्पादन यथेष्ट नहीं होता अपितु आत्मशुद्धि और ज्ञानप्राप्तिकी सच्ची अभिलाषा भी होनी चाहिये। जहाँ ऐसी इच्छा होती है, वहाँ बाह्य विधिसे बडी सहायता मिलती है। मनुष्य शरीर भी है और शरीरी जीव भी। वह जबतक अपने शरीरको योग्य नहीं बना लेता तबतक वह आध्यात्मिक उत्कर्षका अधिकारी नहीं हाता। एक दूसरे ढगसे भी इस प्रश्नपर विचार किया जा सकता है। हमारा चित्त अनेक प्रकारके कुकर्मोंसे मलिन हो गया है। इन सब मलोको हटानेके लिये सत्कर्मोंका किया जाना आवश्यक है। सत्कर्म कराना ही वैदिक कर्मकाण्डका उद्देश्य है। ईशावास्योपनिषद्का यह वचन है कि मोक्षके लिये अविद्या और विद्या दोनो आवश्यक हैं। विद्याके बिना केवल अविद्यासे काम नहीं चलता, अविद्याके बिना केवल विद्या उससे भी खराब है। श्रीमद्रामानुजाचार्यने विद्यासे अर्थ ग्रहण किया है ज्ञानका और अविद्यासे शास्त्रोक्त कर्मका—एक साधनाका तात्त्विक अङ्ग है और दूसरा व्यावहारिक। शास्त्रोक्त कर्मोंके करनेसे चित्त शुद्ध होता है और तब ब्रह्मविद्या श्रवण करनेसे फलवती होती है। अशुद्धचेताको उस श्रवणसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें साधनरूपसे वैदिक कर्मोंकी फलवत्ता भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रोंमे प्रतिष्ठित की है—

> सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्।
> (३।४।२६)

अर्थात् 'परम ज्ञानके लिये वेदोक्त कर्मोंका आचरण वैसे ही आवश्यक है, जैसे एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेके लिये घोड़ेकी सवारी आवश्यक होती है। घोड़ेके साथ जीन और लगाम आदिकी भी जरूरत होती है। इसी प्रकार परम ज्ञानकी प्राप्तिमे केवल वेदानुवचनसे ही काम नहीं चलता बल्कि वेदोक्त कर्म करनेकी भी आवश्यकता पड़ती है [श्रीरामानुजाचार्यकृत 'श्रीभाष्य']।

> विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि।
> (३।४।३२)

> सहकारित्वेन च।
> (३।४।३३)

—इन सूत्रोंमे यह स्पष्ट कहा गया है कि आश्रमकर्मोंका पालन भी ब्रह्मविद्यामें साधक हाता है और आहारादिके विषयमे भी शास्त्रविधिसे युक्त आचरण सहकारी होता है। काम-क्रोधादि विकार ईश्वरध्यानमे बाधक हाते हैं। वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म काम-क्रोधादिको जीतनेकी सामर्थ्य देता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परम ज्ञानकी प्राप्तिके साधनमें बाह्य आचरणके नियमनकी भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि आन्तर अभ्यासकी।

वेदोमें 'यज्ञ'

भारतीय संस्कृति और वेद-पुराणोंमें यज्ञकी अपार महिमा निरूपित है। यज्ञ तो वेदोंका मुख्य प्रतिपाद्य ही है। यज्ञोंके द्वारा विश्वात्मा प्रभुको संतृप्त करनेकी विधि बतलायी गयी है। अतः जो जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें यज्ञ-यागादि शुभ कर्म अवश्य करने चाहिये। परमात्माके निःश्वासभूत वेदोंकी मुख्य प्रवृत्ति यज्ञोंके अनुष्ठान-विधानमें है। यज्ञोंद्वारा समुद्भूत पर्जन्य—वृष्टि आदिसे संसारका पालन होता है। इस प्रकार परमात्मा यज्ञोंके सहारे ही विश्वका संरक्षण करते हैं। यज्ञकर्ताको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।

मनुष्यको अपने जीवनके सर्वविध कल्याणार्थ यज्ञ-धर्मको अपनाना चाहिये। मानवका और यज्ञका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध सृष्टिके प्रारम्भकालसे ही चला आ रहा है। वस्तुतः देखा जाय तो मानव-जातिके जीवनका प्रारम्भ ही यज्ञसे होता है। इस विषयका स्पष्टीकरण गीता (३।१०-११)-में भी किया गया है—

> सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
> देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
> परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

'प्रजापति (ब्रह्मा)-ने सृष्टि-रचनाके समय यज्ञके साथ मानव-जातिको उत्पन्न करके उनसे कहा—इस यज्ञके द्वारा तुम्हारी उन्नति होगी और यह यज्ञ तुम्हारे लिये मनोऽभिलषित फल देनेवाला होगा। तुम इस यज्ञके द्वारा देवताओंको संतुष्ट करो और देवता तुम लोगोंको यज्ञ-फल-प्रदानके द्वारा संतुष्ट करेंगे। इस प्रकार परस्पर तुम दोनों अत्यन्त कल्याण-पदको प्राप्त करो।'

पद्मपुराणमें मानवकी उत्पत्ति ही यज्ञ-कर्मके सम्पादनके लिये बतायी गयी है—

> यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार ह।
> चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥
> (सृष्टिखण्ड ३।१२३)

'हे महाभाग! ब्रह्माजीने यज्ञ-कर्मके लिये ही यज्ञके श्रेष्ठ साधन चातुर्वर्ण्यके रूपमें मानवकी रचना की।'

शुक्लयजुर्वेद (३१।९)-में आता है कि सर्वप्रथम उत्पन्न भगवत्स्वरूप उस यज्ञसे इन्द्रादि देवताओं, सृष्टि साधनयोग्य प्रजापति आदि साध्यों और मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने यज्ञ[1] भगवान्‌का यजन किया—

> तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
> तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

शतपथब्राह्मण (११।१।८।३)-में भी उल्लेख है कि प्रजापतिने अपनी प्रतिमा (चित्र)-के रूपमें सर्वप्रथम यज्ञका उत्पन्न किया। अतः यज्ञ साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप है—

> अथैनमात्मनः प्रतिमामसृजत यद् यज्ञम्, तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मनो ह्येनं प्रतिमामसृजत॥

यज्ञके सम्बन्धमें कहा गया है कि यज्ञ[2] ही समस्त भुवनोंका केन्द्र है और यही पृथ्वीको[3] धारण किये हुए है। यज्ञ साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप ही है, जिसे विद्वान् लोग विष्णु[4] राम, कृष्ण यज्ञपुरुष, प्रजापति, सविता, अग्नि इन्द्र सूर्य आदि नामोंसे उच्चरित करते हैं।

कर्ममीमांसाके प्रवृत्त होनेपर मानव-देह धारण करते ही द्विज ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण—इन तीन प्रकारके ऋणोंसे ऋणी बन जाता है। श्रीमद्भागवत (१०।८४।३९)-में आया है—

> ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृणां प्रभो।
> यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत्॥

तैत्तिरीयसंहिता (३।१०।५)-में भी कहा गया है—

> जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।

१ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (शुक्लयजुर्वेद ३१।१६)।
२ (क) अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः (शुक्लयजुर्वेद २३।६२)।
(ख) यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः (अथर्ववेद ९।१०।१४)।
३ यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति (अथर्ववेद)।
४ एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। (ऋग्वेद १।१६४।४६)
५- 'ब्राह्मण' पद यहाँ द्विजमात्रका उपलक्षण है।

'द्विज जन्म लेते ही ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण—इन तीन प्रकारके ऋणोसे ऋणी बन जाता है। ब्रह्मचर्यके द्वारा ऋषि-ऋणसे यज्ञके द्वारा देव-ऋणसे और सततिके द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्ति होती है।'

भगवान् मनुने भी 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य' (मनु० ६।३५)— इत्यादि वाक्योंद्वारा उपर्युक्त ऋणत्रयके अपाकरणको ही मनुष्यका प्रधान कर्म बतलाया है। ऋणत्रयम 'देव-ऋण'का भी उल्लेख है। दव-ऋणसे मुक्त होनेके लिये उपर्युक्त तैत्तिरीय श्रुतिने स्पष्ट बतला दिया है कि यज्ञोंके द्वारा ही देव-ऋणसे मुक्ति होती है। वह यज्ञादि कर्म अत्यन्त पावन तथा अनुपेक्षणीय है, जैसा कि अनेक मत-मतान्तरोंका निरास करते हुए गीताके परमाचार्य स्वय भगवान्ने सिद्धान्त उपस्थापित किया है—

यज्ञदानतप कर्म न त्याज्य कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(१८।५)

इतना ही नहीं, जगत्-कल्याणकी मीमासा तथा कर्तव्य-सत्पथका निश्चय करते हुए भगवान्ने गीता (३।९)-में स्पष्ट कहा है—'यज्ञिय कर्मोंके अतिरिक्त समस्त कर्म लोक-बन्धनके लिये ही हैं'—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धन।

इस प्रकार अनेक श्रुति-स्मृति-ग्रन्थामे तथा उपनिषदामें यज्ञको मानवका प्रधान धर्म कहा गया है। अत प्रत्येक द्विजको यज्ञ करते रहना चाहिये। जो लोग यज्ञके वास्तविक रहस्य और महत्त्वको न समझ कर यज्ञके प्रति श्रद्धा नहीं रखते अथवा यज्ञ नहीं करते वे नष्ट हो जात हैं। इस विषयमें शास्त्राकी आज्ञा है—

नास्त्ययज्ञस्य लोको वै नायज्ञो विन्दते शुभम्।
अयज्ञो न च पूतात्मा नश्यति छिन्नपर्णवत्॥

'यज्ञ न करनेवाले पुरुष पारलौकिक सुखासे तो वञ्चित रहते ही हैं वे ऐहिक कल्याणोकी भी प्राप्ति नहीं कर सकते। अत यज्ञहीन प्राणी आत्मपवित्रताक अभावसे छिन्न-भिन्न पत्तोकी तरह नष्ट हो जाते हैं।'

गीता (४।३१)-मे भी भगवान्ने कहा है—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य कुरुसत्तम॥

'हे अर्जुन! यज्ञ न करनेवालेको यह मृत्युलोक भी प्राप्त नहीं हो सकता, फिर दिव्यलोक (परलोक)-की तो बात ही क्या है।'

अथर्ववेद (१२।२।३७) भी कहता है—

अयज्ञियो हतवर्चा भवति।

'यज्ञहीन (यज्ञ न करनवाले) पुरुषका तेज नष्ट हो जाता है।'

कालिकापुराणके 'सर्वं यज्ञमय जगत्' के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है। इस यज्ञमय जगत्मे होनेवाले समस्त कर्म यज्ञमय हैं जो सदा-सर्वदा सर्वत्र होते रहते हैं। जैसे—सध्या, तर्पण बलिवैश्वदेव, देवपूजन, अतिथिसत्कार, व्रत जप तप कथाश्रवण, तीर्थयात्रा अध्ययनाध्यापन, खान-पान शयन-जागरण आदि नित्य और उपनयन-विवाहादि सस्कार नैमित्तिक एव पुत्रेष्टि, राज्यप्राप्ति आदि काम्य-कर्म—ये सभी व्यवहार यज्ञस्वरूप ही हैं। इतना ही नहीं, जीवन-मरणतकको यज्ञका स्वरूप दिया गया है। गीता (४।२८)-मे भगवान्ने द्रव्ययज्ञ तपायज्ञ, योगयज्ञ तथा स्वाध्याय-यज्ञ आदिका उल्लेख करक इन सभीको यज्ञका ही रूप दिया है।

पुत्रवत्सला भगवती श्रुति कहती है—

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गारा श्रोत्र विस्फुलिङ्गा ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्न जुह्वति तस्या आहुते रेत सम्भवति॥ योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्त कराति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गा ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भ सम्भवति॥

(छान्दोग्योपनिषद् ५।७।१-२ ५।८।१-२)

'गौतम! पुरुष ही अग्नि है, उसकी वाणी ही समिधा है प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है चक्षु अगारे हैं कान चिनगारियाँ हैं, उसी अग्निमें देवगण अन्नका होम करते हैं, उस आहुतिसे रेतरूप शक्तिपुञ्ज उत्पन्न होता है।'

'गौतम! स्त्री ही अग्नि है, उपस्थ ही समिधा है पुरुष जो उपमन्त्रण (रह -सलाप) करता है वह धूम है योनि ज्वाला है प्रसग अगारे हैं और उसस जो सुख प्रतीत होता है वह चिनगारियाँ हैं। उसी अग्निमें देवगण रेतरूप शक्तिपुञ्जका हवन करते हैं। उस आहुतिस गर्भ उत्पन्न होता है।'

इस प्रकार जब सासारिक सभी चलाचल वस्तुएँ यज्ञ ही हैं, तब उन सभी यज्ञाका अनुष्ठान सविधि और सनियम करना चाहिये जिसस व यज्ञ मानवमात्रके लिय कल्याणकारी बनें। जो लोग यज्ञके प्रति श्रद्धा नहीं रखत व विविध अनर्थोंके शिकार बनते हैं और ऐसे लोगोंके लिये ही

'नास्ति यज्ञसमो रिपु ' कहा गया है।

इस ससारमें प्राणिमात्रकी यह स्वाभाविक अभिवाञ्छा रहती है कि मैं जीवनपर्यन्त सुखी रहूँ और मुझे इस लोकमें धन-धान्य, पत्नी-पुत्र गृह-उपवन आदि परम ऐश्वर्यपद भोगपदार्थ प्राप्त हो तथा शरीर-त्यागके अनन्तर मुझे परलोकमें सहृदय-हृदयके द्वारा परिज्ञात अनिर्वचनीय परम पुरुषार्थस्वरूप स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति हो। किंतु पूर्व पुण्यपुञ्जके प्रभावके विना कोई भी शरीरधारी मानव ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख-विशेषकी प्राप्ति कथमपि नहीं कर सकता यह शास्त्राका अटल और परम सिद्धान्त है। वह पुण्य धर्मका ही दूसरा नाम है, जो कि सत्कर्मानुष्ठानद्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत*समा ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(ईशावास्योपनिषद् २)

'शास्त्रविहित मुक्तिप्रद निष्काम यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मोंको करते हुए ही जीव इस जगत्में सौ वर्षपर्यन्त जीनेकी इच्छा कर। इस प्रकार किये जानेवाले कर्म तुझ शरीरधारी मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे। इससे पृथक् और कोई मार्ग नहीं है, जिससे मनुष्य कर्मसे मुक्त हो सक।'

इन प्रमाणोंद्वारा इस कर्ममय ससारमें समस्त मनुष्योंको कर्मठ बनानेके लिये, उनका कल्याण करनेके लिये गीता भी माताकी तरह अपने यज्ञप्रेमी पुत्रोंको उपदेश करती है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भव ॥
(गीता ३।१४)

—इस प्रमाणसे सिद्ध है कि व्यावहारिक और पारमार्थिक सभी कार्य यज्ञादि उत्तम क्रिया-कलापके ऊपर ही निर्भर हैं।

अत्यन्त प्रबल वेगशाली विषय-जालस्वरूप भयकर सर्पसे ग्रसित इस कराल कलिकालमें यज्ञ ही ऐसा अपूर्व पदार्थ है, जिसको प्राप्त कर अनादिकालसे तीक्ष्ण विषय-विष-वासनाओंसे व्याप्त अन्त करणवाले और क्लेश-कर्म-विपाक-स्वरूप नाना प्रकारकी कष्टप्रद वासनाओंसे दग्ध होनेवाले एवं त्रिविध तापोंसे तप्त होनेवाले मानव स्वदु खनिवृत्त्यर्थ अभिलाषा करते हैं। अत अविद्यामें ग्रसित होनेके कारण घोर कष्टोंसे मुक्त होनेमें असमर्थ होते हुए भी वे यज्ञद्वारा दुस्तर संसार-सागरको भलीभाँति पार कर जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् (१।२।७)-में यज्ञको संसार-सागरसे पार (मुक्ति) होनेके लिये 'प्लव' अर्थात् 'नौका' कहा गया है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा ।

अधिक क्या जगन्नियन्ता परमेश्वर भी यज्ञस्वरूपसे ही पूर्ण प्रकाशमान होता हुआ यज्ञपरायण पुरुषोंसे पूजित होकर 'यज्ञपुरुष' पदसे व्यवहृत होता है—'यज्ञो वै पुरुष' (शतपथब्राह्मण)। उस यज्ञ-शब्दकी यौगिक व्युत्पत्ति कल्पवृक्षकी तरह समस्त अभीष्टको परिपूर्ण करनेके लिये पूर्ण समर्थ है तथा किसी सर्वातिशायी विलक्षण अर्थका प्रतिपादन करनेवाली एव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है।

'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' अर्थात् देवपूजा, संगतिकरण एवं दानके अर्थमें पठित 'यज' धातुसे 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' (३।३।९०)—इस पाणिनीय सूत्रद्वारा 'नङ्' प्रत्यय करनेपर 'यज्ञ' शब्द निष्पन्न होता है। यह यज्ञ विष्णु आदि देवताओंके पूजन, ऋषि-महर्षि एवं सज्जन पुरुषोंके सत्सग और सुवर्ण-रजत आदि उत्तम द्रव्योंके प्रदानद्वारा सम्पादित होता है उस महामहिमशाली धार्मिक यज्ञका अनुष्ठान कर्तव्यरूपसे यज्ञाधिकारी मानवको अवश्य करना चाहिये। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यज्ञमें इन्द्रादि देवताओंका पूजन तथा देव-सदृश ऋषि-मुनि एवं श्रेष्ठ मानवोंके सत्संगका लाभ और विविध वस्तुओंका दान होता है। अत यज्ञमें होनेवाले उक्त तीन प्रकारके सत्कार्योंसे मानवोंके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—ये तीनों ताप अनायास ही समूल नष्ट हो जाते हैं—यह ध्रुव है।

हिंदू-संस्कृतिके साथ यज्ञानुष्ठानका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र है—

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥

—इसमें अग्निदेवकी स्तुति की गयी है आठ-आठ अक्षरोंके तीन पाद अर्थात् चौबीस अक्षरोंके सुप्रसिद्ध गायत्री छन्दमें मधुच्छन्दा ऋषि स्तुति करते हैं—'मैं अग्निदेवकी स्तुति करता हूँ, याचना करता हूँ। ये पुरोहित ऋत्विक् यज्ञके देवता, देवताओंके आह्वाता हैं और श्रेष्ठतम रत्नोंकी खान हैं ये हमें श्रेष्ठतम रत्नोंको प्रदान करें।' निरुक्तके अनुसार इस ऋक्की यही व्याख्या है।

इस मन्त्रमें देव और यज्ञका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

देव नहीं तो यज्ञ नहीं और यज्ञ नहीं तो देवाराधना नहीं यज्ञका मुख्य उद्देश्य ही है देवाराधना। हिंदू-जीवनमे जो आदर्श संस्कार हैं, वे देव और देवाराधनासे ही निर्मित हैं। ऋषियोने हिंदू-जीवनमे यज्ञ-विधानके द्वारा जो दिव्य भावनाकी सुर-सरिता प्रवाहित की वह अविरत गतिसे ऋजु-वक्र-पथमें सृष्टिके आदिकालसे आजतक बहती जा रही है और उसमें अवगाहन कर इस देशके तथा विदेशोके असंख्यो पुण्यवान् दिव्य जीवनके भागी हुए हैं हो रहे हैं और आगे होते रहेगे। ऋग्वेदके इस प्रथम मन्त्रमे यज्ञका उल्लेख इस बातका द्योतक है कि यज्ञका प्रसार आर्य-जीवनमे था और अग्निदेव यज्ञके देव थे यज्ञमें ऋत्विक् और होता उपस्थित रहते थे। यज्ञानुष्ठानमे ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद—वेदत्रयीका युगपत् प्रयोग होता है। अतएव यज्ञके साथ वेदोका नीर-क्षीरवत् अटूट सम्बन्ध है।

तत्त्वत देवता मन्त्रस्वरूप हैं। इस प्रथम ऋक्के देवता हैं अग्निदेव। अतएव यह मन्त्र अग्निस्वरूप ही है। अग्निकी रचना कौन करेगा? अग्निका आदि नहीं अन्त नहीं। अतएव मन्त्र भी अनादि और अनन्त हैं।[१] इसीलिये वेदको शब्दब्रह्म कहते हैं और इसे नित्य और सनातन मानते हैं। यज्ञ-भावना भी नित्य और सनातन है। हिंदू-संस्कृति या सनातनधर्मका वास्तविक स्वरूप भी यही यज्ञ-भावना है। इसका किसी भी कालमे अभाव नहीं हो सकता। यज्ञ ही धर्म है और धर्मसे ही प्रजाका धारण हो रहा है। अतएव सांस्कृतिक दृष्टिसे यज्ञकी महिमा सर्वोपरि है और इसके विषयमें कुछ भी आलोचना करना सुसंगत ही है। धर्मका लक्षण करते हुए महर्षि कणाद कहते हैं—

यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म ।

'जिसके द्वारा अभ्युदय और नि श्रेयसकी सिद्धि हो वह धर्म है।' अभ्युदयका हेतु है कर्मानुष्ठान और नि श्रेयसका हेतु है ज्ञान-साधना अतएव कर्म और ज्ञानका समन्वय ही जीवनमे धर्मका स्वरूप है। जो लोग कर्मकी उपेक्षा करके केवल ज्ञानकी रट लगाते हैं और अपनेको श्रुतिमार्गावलम्बी कहते हैं, उनकी प्रतारणाके लिये ही मानो महर्षि जैमिनिने अपने पूर्वमीमांसादर्शनमें कर्मविषयक स्तुत्यात्मक अर्थवादकी अवतारणा करते हुए कहा है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

(जै० सू० १।२।१)

'आम्नाय अर्थात् वेद यज्ञानुष्ठानके लिये हैं, अतएव यज्ञभावनासे हीन जो विषय हैं, वे अनर्थक हैं, अधर्म ही हैं, जो धर्मके कञ्चुकमे छिपे हुए भूल-भुलैयामे फँसानेके लिये मायाजाल बिछाये हुए हैं।'

जब यज्ञ ही धर्म है तब यज्ञस्वरूपका ज्ञान तथा उसका अनुष्ठान करना परम आवश्यक हो जाता है इस क्षणभङ्गुर मानव-जीवनकी सफलताके लिये। भगवान् वेदव्यासने जो इस विषयमें चेतावनी दी थी कि 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित', उसकी सत्यताको गत सहस्रा वर्षोंकी हमारी पराधीनता दु ख-दारिद्र्य और राष्ट्रिय अपमान डकेकी चोटपर सिद्ध कर रहे हैं। धर्मकी उपेक्षा करके ही वस्तुत हम मारे गये अत्यन्त अध पतनको प्राप्त हो गये। दुर्दशाकी भी सीमा हो गयी आज आर्य-संतान यज्ञका नाम तक नहीं जानती। यज्ञिय जीवन ही हमारा स्वर्गीय जीवन है—भारतका स्वर्णयुग है।

सबसे पहले प्रश्न यह होता है कि यज्ञ किसे कहते हैं? महर्षि कात्यायन अपने सूत्रोमें 'अथ यज्ञं व्याख्यास्याम'—इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए यज्ञकी परिभाषा करते हैं—

द्रव्यदेवतात्याग ।

'द्रव्य देवता और त्याग—ये तीन यज्ञके लक्षण हैं।' स्मार्तोल्लास नामक ग्रन्थमे द्रव्य कौनसे पदार्थ हैं इसका उल्लेख करते हुए लिखा गया है—

तैल दधि पय सोमो यवागूरोदन घृतम्।
तण्डुला फलमापश्च दश द्रव्याण्यकामत ॥

सामान्यत तेल दही दूध सोमलता यवागू (चावल या जौकी लपसी) भात घी कच्चे चावल फल और जल—ये दस द्रव्य ही वैदिक यज्ञोमें देवताओके प्रीत्यर्थ

१-यहाँ प्रश्न हो सकता है कि मन्त्रोंको कार्यरूपमें देखकर यद्यत्कार्यं तत्तत्कारणपूर्वकम् —इस न्यायके अनुसार उन्हें नित्य नहीं माना जा सकता। इसका उत्तर यह है कि मन्त्र कार्य नहीं हैं वे नित्य हैं और वाणीके रूपमे उनकी अभिव्यक्ति होती है ऋषियोंके अन्त करणमें। ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहलाते हैं मन्त्र रचयिता नहीं। स्वयं ऋचा कहती है—

यज्ञेन वाच पदवीयमायन् तामन्वविन्दनृषिषु प्रविष्टाम् (ऋक्० १०। ७१। ३)।

—अर्थात् यज्ञके द्वारा ऋषियोंके अन्त करणमें प्रविष्ट होकर मन्त्र वाणीरूपको प्राप्त होते हैं। यास्काचार्य कहते हैं—

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणा मन्त्रदृष्टयो भवन्ति (निरुक्त ७। १। ३)।

यज्ञोंमें तत्तद् वस्तुको अभिप्रेत करके ऋषियोको मन्त्रदृष्टि प्राप्त होती है अर्थात् ऋषियोके पुनीत अन्त करणमें देवस्वरूप मन्त्रोंका दर्शन होता है।

त्यागनेमें आते हैं। देवता आधिदैविक आदि शक्तियास सम्पन्न हाते हैं, जो यज्ञका सर्वथा व्याप्त करके मन्त्ररूपमें अभिव्यक्त होते हैं। निरुक्तकार कहते हैं—

यत्काम ऋषिर्यस्या देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुति प्रयुंक्ते। तद्दैवत स मन्त्रो भवति॥ (निरुक्त ७। १। १)

'जिस कामनासे ऋषि जिस देवताक प्रति अपने प्रयोजनकी सफलताकी इच्छा करते हुए स्तुतिका प्रयोग करते हैं, उसी देवताका स्वरूप वह मन्त्र हाता है।'

इस प्रकार नाना प्रकारक अभिप्रायाके साथ ऋषिकी मन्त्र-दृष्टि भी नाना प्रकारकी होती है। मन्त्रामें जो स्थान-स्थानपर रथ, आयुध अश्व इषु आदिका उल्लेख आता है वे सब पदार्थ देवताओंके स्वरूपभूत ही हैं, उनसे पृथक् नहीं। अतएव आपातत पदार्थान्तरका देखकर मन्त्रोंके विषयमें अन्यथा साचना ठीक नहीं। यास्काचार्य इसी कारण कहते हैं—

आत्मैवैषां रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥ (निरुक्त ७। १। ४)

देवताके स्वरूपके विषयमें शकाएँ की जाती हैं कि वह निराकार है या साकार जड है या चेतन? परतु ये द्वन्द्वात्मक विकल्प आधिभौतिक सृष्टिमें होते हैं। आधिदैविक लोककी विभूतियोंके विषयमें ये प्रश्न नहीं उठते। देवता यह सब कुछ हैं या कुछ नहीं हैं—अथवा इस 'हैं-नहीं'-से परे कुछ और हैं। जो हो उपासकके लिये तो मन्त्ररूपमें ही ये सब कुछ प्रदान करते हैं। यज्ञ एक विधान है, जिसके द्वारा देवताओंको तृप्त कर यजमान अपने अभिलषित आनन्दको प्राप्त करता है। स्वर्गलोककी प्राप्ति यज्ञानुष्ठानका एक मुख्य उद्देश्य होता है। पर स्वर्ग है क्या?

यन्न दु खेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीत च तत्सुख स्वःपदास्पदम्॥

'जिसमें दु खका सम्पर्क नहीं उपभोगके पश्चात् जो दु खग्रस्त नहीं होता तथा इच्छामात्रसे बिना प्रयत्न किये जो प्राप्त होता है इस प्रकारका सुख स्वर्ग कहलाता है।'

स्वर्गके उच्चावच अनेक भेद हैं। वेदोंमें असंख्य प्रकारके यज्ञोंका विधान है पर ... पाँच प्रकारके होते हैं—अग्निहोत्र ... पशुयाग और सोमयाग। इस ... होते हैं—जैसे सोमयागके भेद ... एकाह और अहीनयाग। दो दिन ... अहीनयाग होते हैं ... ही त्रयोद ...

सवत्सरपर्यन्त असंख्य प्रकारके याग होते हैं, जो सत्र कहलाते हैं। गौतम-धर्मसूत्रमें कहा गया है—

औपासनहोम, वैश्वदेव, पार्वण अष्टका, मासिश्राद्धम्, श्रवणा शूलगव इति सप्त पाकयज्ञसंस्था, अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो दर्विहोमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्था अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय अतिरात्र, आप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्था।

—इस प्रकार प्रथम पाकयज्ञ हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ भेदसे तीन प्रकार दिखलाकर प्रत्येकके सात-सात भेद करके २१ प्रकारक यागोंका उल्लेख किया है। वस्तुत यज्ञयुगका काल इतना विस्तृत है कि आज हमारे सामने कोई ऐसा साधन नहीं कि उसकी गणनाकी चेष्टा करें। हिंदू-शास्त्रोंकी दृष्टिसे यह युग कोटि-कोटि वर्षोंतक व्याप्त रहा है, यज्ञोंके असख्य भेद भी इस बातको प्रमाणित करते हैं।

प्रारम्भमें मुख्यत वैदिक यज्ञोंके उपर्युक्त अग्निहोत्रादि पाँच ही भेद थे। यजुर्वेदका पहला मन्त्र 'इषे त्वोर्जे त्वा०'-का विनियोग दर्शपौर्णमास यज्ञके पलाश-शाखा-छेदन विधिमें होता है और पहले तथा दूसरे अध्यायके सारे मन्त्र दर्शपौर्णमास यज्ञकी विधियोंमें ही विनियुक्त होते हैं, अतएव यहाँ सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास यज्ञकी विधिक ऊपर एक सक्षिप्त दृष्टि दी जाती है।

दर्शपौर्णमास यज्ञ—

प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमाको अनुष्ठित होनेके कारण इस यज्ञका नाम 'दर्शपौर्णमास' पड़ा। प्रकृतिरूपमें होनेके कारण इसी यज्ञका पहले विधान हुआ है। प्रकृतिसे तात्पर्य यहाँ उस यागसे है जो अनुष्ठानके समय अन्य यागोंकी अपेक्षा न रखता हो। दर्शपूर्णमासमें अन्य किसी यागकी विधि प्रयुक्त नहीं होती परतु अन्य याग दर्शपौर्णमास विधिसे उपकृत होते हैं अतएव यजुर्वेदमें पहले इसी यागके मन्त्रोंका विधान है।

यागमें पहले व्रतोपायन-विधि अर्थात् उपवास और उसकी पत्नीको संयमपूर्वक रहि ... प्रारम्भमें इस ... दूसरे दिन यज्ञका ... अग्न्याधान ...

लिये पुरोडाश, इन्द्र-देवताके लिये दधिद्रव्य तथा पयोद्रव्यके त्यागरूपम तीन याग होते हैं। पूर्णिमाको पहला अग्निदेवता-सम्बन्धी अष्टकपालवाला पुरोडाश याग, दूसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी आज्यद्रव्यवाला उपाशु याग और तीसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी एकादश कपालवाला पुरोडाश याग होता है। इस प्रकार दर्शपौर्णमास यज्ञमें कुल छ याग होते हैं। इसके अनुष्ठानकी विधि इस प्रकार है—

१-अग्नि-उद्धरण—जिसमें गार्हपत्य-अग्निसे आहवनीय और दक्षिणाग्निको पृथक् किया जाता है।

२-अग्नि-अन्वाधान—जिसमे तीनों अग्नियोमें छ -छ समिधाओका दान किया जाता है।

३-ब्रह्मवरण—जिसम यजमान ऋत्विक्को वरण करता है।

४-प्रणीता-प्रणयन—जिसमें चमसर्म जल भरकर उसको निर्दिष्ट स्थानमे रखते हैं।

५-परिस्तरण—अग्निके चतुर्दिक् कुशाका आच्छादन करना।

६-पात्रासादन—यज्ञिय पात्राको यथास्थान रखना।

७-शूर्पाग्निहोत्रहवणीका प्रतपन।

८-शकटसे हवि ग्रहण करना।

९-पवित्रीकरण।

१०-पात्रहवि -प्रोक्षण—हविष्य एव पात्रोका प्रमार्जन करना।

११-फलीकरण—जिसमे तण्डुलमेसे कणोको दूरकर उसका शोधन किया जाता है।

१२-कपालोपधान—दो अगुल ऊँचे किनारेवाले मिट्टीके पात्र कपाल कहलाते हैं उनको यथास्थान रखना।

१३-उपसर्जनीका अधिश्रयण—पिष्ट-सयवनके लिये तप्त जलका उपसर्जनी कहते हैं उसको नीचे रखना।

१४-वेदिकरण।

१५-स्ताम्ब-यजु हरण—मन्त्रसे दर्भको छिन्न करके रखना।

१६-स्रुवा जुहू, उपभृत् और ध्रुवा आदि काष्ठनिर्मित यज्ञपात्राका संमार्जन।

१७-पत्नीसन्नहन—मुञ्जको रज्जुसे पत्नीकी करधनी बनाना।

१८-इध्म वेदी और बर्हिकाका प्रोक्षण।

१९-प्रस्तर-ग्रहण—यहाँ कुशमुष्टिका प्रस्तर कहते हैं।

२०-वेदिका-स्तरण—वेदीपर कुशाच्छादन करना।

२१-परिधि-परिधान—वेदीके चारा ओर परिधि बनाना।

२२-इध्मका आधान।

२३-विधृति-स्थापन।

२४-जुहू आदिको वेदीपर रखना।

२५-पञ्चदश-सामिधेनी अनुवचन।

२६-अग्निसम्मार्जन।

२७-आधार अर्थात् वह्निके एक छोरसे दूसरे छोरतक आज्यकी धार प्रक्षेप करना।

२८-होतृ-वरण।

२९-पञ्च प्रयाज—(पाँच प्रकृष्ट याग)।

३०-आज्यभाग—(अग्नि और सोमदेवताक निमित्त)।

३१-प्रधान याग—फलके उद्देश्यसे विहित देवता ही प्रधान देवता होते हैं उनके निमित्त किया जानेवाला याग।

३२-स्विष्टकृत्—(प्रधान यागको शोभन बनानेवाली याग-विधि)।

३३-प्राशित्रावदान—(ब्रह्माका भाग प्राशित्र होता है उसका ग्रहण)।

३४-इडावदान आदि।

३५-अन्वाहार्य-दक्षिणा—(ऋत्विक्का भोज्य आदन अन्वाहार्य कहलाता है)।

३६-तीन अनुयाज—(अनुयाज अर्थात् पीछे किय जानेवाले याग)।

३७-व्यूहन अर्थात् जुहू आदि पात्राको हटाना।

३८-सूक्तवाक—स्तुतिविशेष।

३९-शयुवाक—स्तुतिविशष।

४०-पत्नी-सयाज—(पत्नी-देवताक निमित्त चार याग)।

४१-दक्षिणाग्नि-होम।

४२-बर्हि-होम।

४३-प्रणाता-विमोक।

४४-विष्णु-क्रम।

४५-व्रत-विसर्ग।

४६-ब्राह्मण-तर्पण।

इस प्रकार मन्त्र-सहित प्रधान विधियाके द्वारा दर्शपार्णमास याग समाप्त हाता है। यदि आज हम अध्यात्मसाधनके द्वारा अपवर्गको प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं तो काई कारण नहीं कि यज्ञानुष्ठानाके द्वारा स्वर्गप्राप्तिकी चेष्टा भा नहीं की जाय। आज यदि कुछ सम्पन्न भारतीय जन दर्शपौर्णमास यज्ञक

त्यागनेमें आते हैं। देवता आधिदैविक आदि शक्तियासे सम्पन्न होते हैं, जो यज्ञको सर्वथा व्याप्त करके मन्त्ररूपमे अभिव्यक्त होते हैं। निरुक्तकार कहते हैं—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुक्ते। तद्दैवत स मन्त्रो भवति॥ (निरुक्त ७।१।१)

'जिस कामनासे ऋषि जिस देवताके प्रति अपन प्रयोजनकी सफलताकी इच्छा करते हुए स्तुतिका प्रयोग करते हैं, उसी देवताका स्वरूप वह मन्त्र होता है।'

इस प्रकार नाना प्रकारके अभिप्रायोके साथ ऋषिकी मन्त्र-दृष्टि भी नाना प्रकारकी होती है। मन्त्रोमें जो स्थान-स्थानपर रथ, आयुध, अश्व, इषु आदिका उल्लेख आता है वे सब पदार्थ देवताओक स्वरूपभूत ही हैं, उनसे पृथक् नहीं। अतएव आपातत पदार्थान्तरको देखकर मन्त्राके विषयमें अन्यथा सोचना ठीक नहीं। यास्काचार्य इसी कारण कहते हैं—

आत्मैवैषा रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥ (निरुक्त ७।१।४)

देवताके स्वरूपके विषयमे शकाएँ की जाती हैं कि वह निराकार है या साकार जड है या चेतन? परतु ये द्वन्द्वात्मक विकल्प आधिभौतिक सृष्टिमें होते हैं। आधिदैविक लोकको विभूतियोके विषयमें ये प्रश्न नहीं उठते। देवता यह सब कुछ हैं, या कुछ नहीं हैं—अथवा इस 'हैं-नहीं'-से परे कुछ और हैं। जो हो, उपासकके लिये ता मन्त्ररूपम ही वे सब कुछ प्रदान करते हैं। यज्ञ एक विधान है जिसके द्वारा देवताआको तृप्त कर यजमान अपन अभिलषित आनन्दको प्राप्त करता है। स्वर्गलाककी प्राप्ति यज्ञानुष्ठानका एक मुख्य उद्देश्य हाता है। यह स्वर्ग है क्या?

यन्न दु खेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीत च तत्सुख स्व पदास्पदम्॥

'जिसमें दु खका सम्पर्क नहीं उपभोगक पश्चात् जो दु खग्रस्त नहीं हाता तथा इच्छामात्रस विना प्रयत्न किये जो प्राप्त होता है, इस प्रकारका सुख स्वर्ग कहलाता है।'

स्वर्गके उच्चावच अनक भेद हैं। वेदाम असख्य प्रकारके यज्ञाका विधान है, परतु यज्ञ मुख्यत पाँच प्रकारके होते हैं—अग्निहात्र दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य पशुयाग और सामयाग। इसके अतिरिक्त अवान्तर भेद बहुत होत हैं—जैसे सोमयागक भेदाम अश्वमेध नरमेध सर्वमेध एकाह और अहीनयाग। दा दिनसे लेकर एकादश रात्रिपर्यन्त अहीयाग हाते हैं साथ ही त्रयादश रात्रियासे लेकर सहस्रों सवत्सरपर्यन्त असख्य प्रकारके याग होते हैं, जो सत्र कहलाते हैं। गौतम-धर्मसूत्रमें कहा गया है—

औपासनहोम , वैश्वदेव , पार्वण , अष्टका, मासिश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति सप्त पाकयज्ञसंस्था , अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्ध , सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो दर्विहोमा इति सप्त हविर्यज्ञसस्था , अग्निष्टोम , अत्यग्निष्टोम , उक्थ्य , षोडशी, वाजपेय , अतिरात्र , आप्तोर्याम इति सप्त सोमसस्था ।

—इस प्रकार प्रथम पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ-भेदसे तीन प्रकार दिखलाकर प्रत्येकके सात-सात भेद करके २१ प्रकारके यागाका उल्लख किया है। वस्तुत यज्ञयुगका काल इतना विस्तृत है कि आज हमारे सामने कोई ऐसा साधन नहीं कि उसकी गणनाकी चेष्टा करे। हिदू-शास्त्रोकी दृष्टिसे यह युग कोटि-कोटि वर्षोतक व्याप्त रहा है, यज्ञोके असख्य भेद भी इस बातको प्रमाणित करते हैं।

प्रारम्भमे मुख्यत वैदिक यज्ञाके उपर्युक्त अग्निहोत्रादि पाँच ही भेद थे। यजुर्वेदका पहला मन्त्र '**इषे त्वोर्जे त्वा॰**'-का विनियोग दर्शपौर्णमास यज्ञके पलाश-शाखा-छेदन-विधिमे होता है और पहले तथा दूसरे अध्यायके सारे मन्त्र दर्शपौर्णमास यज्ञकी विधियामें ही विनियुक्त होते हैं, अतएव यहाँ सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास यज्ञकी विधिके ऊपर एक सक्षिप्त दृष्टि दी जाती है।

दर्शपौर्णमास यज्ञ—

प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमाको अनुष्ठित होनेके कारण इस यज्ञका नाम 'दर्शपौर्णमास' पडा। प्रकृतिरूपमें हानेके कारण इसी यज्ञका पहले विधान हुआ है। प्रकृतिसे तात्पर्य यहाँ उस यागसे है, जो अनुष्ठानके समय अन्य यागोकी अपेक्षा न रखता हो। दर्शपूर्णमासम अन्य किसी यागकी विधि प्रयुक्त नहीं होती परतु अन्य याग दर्शपौर्णमास-विधिसे उपकृत होते हैं, अतएव यजुर्वेदमे पहले इसी यागके मन्त्राका विधान है।

इस यागमे पहले व्रतोपायन-विधि अर्थात् उपवास करके यजमान और उसकी पत्नीको सयमपूर्वक रात्रि व्यतीत करनी पडती है शतपथब्राह्मणके प्रारम्भमें इस व्रतोपायन-विधिका उल्लेख आता है। दूसरे दिन यज्ञका सर्वाङ्ग अनुष्ठान किया जाता है। अमावास्याके दिन अग्निदेवताके

लिये पुरोडाश, इन्द्र-देवताके लिये दधिद्रव्य तथा पयोद्रव्यके त्यागरूपमे तीन याग होते हैं। पूर्णिमाको पहला अग्निदेवता-सम्बन्धी अष्टकपालवाला पुरोडाश याग, दूसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी आज्यद्रव्यवाला उपांशु याग और तीसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी एकादश कपालवाला पुरोडाश याग होता है। इस प्रकार दर्शपौर्णमास यज्ञमें कुल छ याग होते हैं। इसके अनुष्ठानकी विधि इस प्रकार है—

१-अग्नि-उद्धरण—जिसमें गार्हपत्य-अग्निसे आहवनीय और दक्षिणाग्निको पृथक् किया जाता है।

२-अग्नि-अन्वाधान—जिसमे तीनों अग्नियामें छ -छ समिधाओंका दान किया जाता है।

३-ब्रह्मवरण—जिसमे यजमान ऋत्विक्को वरण करता है।

४-प्रणीता-प्रणयन—जिसमें चमसमें जल भरकर उसको निर्दिष्ट स्थानमें रखते हैं।

५-परिस्तरण—अग्निके चतुर्दिक् कुशका आच्छादन करना।

६-पात्रासादन—यज्ञिय पात्रोको यथास्थान रखना।

७-शूर्पाग्निहोत्रहवणीका प्रतपन।

८-शकटसे हवि ग्रहण करना।

९-पवित्रीकरण।

१०-पात्रहवि -प्रोक्षण—हविष्य एव पात्राका प्रमार्जन करना।

११-फलीकरण—जिसमे तण्डुलमेसे कणोको दूरकर उसका शोधन किया जाता है।

१२-कपालोपधान—दो अगुल ऊँचे किनारेवाले मिट्टीके पात्र कपाल कहलाते हैं, उनको यथास्थान रखना।

१३-उपसर्जनीका अधिश्रयण—पिष्ट-सयवनके लिये तप्त जलको उपसर्जनी कहते हैं उसको नीचे रखना।

१४-वेदिकरण।

१५-स्तम्ब-यजु हरण—मन्त्रसे दर्भको छिन्न करके रखना।

१६-स्रुवा जुहू, उपभृत् और ध्रुवा आदि काष्ठनिर्मित यज्ञपात्राका संमार्जन।

१७-पत्नीसन्नहन—मुञ्जको रज्जुसे पत्नीकी करधनी बनाना।

१८-इध्म वेदी और बर्हिकाका प्रोक्षण।

१९-प्रस्तर-ग्रहण—यहाँ कुशमुष्टिको प्रस्तर कहते हैं।

२०-वेदिका-स्तरण—वेदीपर कुशाच्छादन करना।

२१-परिधि-परिधान—वेदीके चारों ओर परिधि बनाना।

२२-इध्मका आधान।

२३-विधृति-स्थापन।

२४-जुहू आदिको वेदीपर रखना।

२५-पञ्चदश-सामिधेनी अनुवचन।

२६-अग्निसम्मार्जन।

२७-आधार अर्थात् वह्निके एक छोरसे दूसरे छोरतक आज्यकी धार प्रक्षेप करना।

२८-होतृ-वरण।

२९-पञ्च प्रयाज—(पाँच प्रकृष्ट याग)।

३०-आज्यभाग—(अग्नि और सोमदवताके निमित्त)।

३१-प्रधान याग—फलके उद्देश्यसे विहित देवता ही प्रधान देवता होते हैं उनके निमित्त किया जानेवाला याग।

३२-स्विष्टकृत्—(प्रधान यागको शोभन बनानेवाली याग-विधि)।

३३-प्राशित्रावदान—(ब्रह्माका भाग प्राशित्र होता है उसका ग्रहण)।

३४-इडावदान आदि।

३५-अन्वाहार्य-दक्षिणा—(ऋत्विक्का भोज्य ओदन अन्वाहार्य कहलाता है)।

३६-तीन अनुयाज—(अनुयाज अर्थात् पीछे किये जानेवाल याग)।

३७-व्यूहन अर्थात् जुहू आदि पात्राका हटाना।

३८-सूक्तवाक—स्तुतिविशेष।

३९-शयुवाक—स्तुतिविशेष।

४०-पत्नी-सयाज—(पत्नी-देवताके निमित्त चार याग)।

४१-दक्षिणाग्नि-होम।

४२-बर्हि-होम।

४३-प्रणीता-विमोक।

४४-विष्णु-क्रम।

४५-व्रत-विसर्ग।

४६-ब्राह्मण-तर्पण।

इस प्रकार मन्त्र-सहित प्रधान विधियोंके द्वारा दर्शपौर्णमास याग समाप्त होता है। यदि आज हम अध्यात्मसाधनके द्वारा अपवर्गको प्राप्त करनमे असमर्थ हैं तो कोई कारण नहीं कि यज्ञानुष्ठानके द्वारा स्वर्गप्राप्तिकी चेष्टा भी नहीं की जाय। आज यदि कुछ सम्पन्न भारतीय जन दर्शपौर्णमास यज्ञके

अनुष्ठानमे रत हो तो हमारे देश तथा समाजमें देवत्वकी प्रतिष्ठा होगी और संस्कृतिकी रक्षाके साथ-साथ हम इहलोक एवं परलोकको उज्ज्वल बना सकेंगे। यज्ञानुष्ठानके द्वारा स्वर्गको प्राप्त हुआ एक याज्ञिक कहता है—

अपाम सोममभृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदराति किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥

(ऋक्० ८।४८।३)

'मैंने सोमपान किया, अमृत हो गया, स्वर्गलोकमें आया देवताओंको जान लिया। अब शत्रु मेरा क्या करेंगे और मुझ अमरलोकको प्राप्त व्यक्तिके लिये जरा क्या कर सकती है।'

स्वर्गलोकमें कोई भय नहीं, इच्छा करते ही सब सुखोपभोग प्राप्त हो जाते हैं, इच्छामात्रसे सारे पितर अथवा प्रियजन उपस्थित होते हैं और उनके साथ स्वर्गीय सुखोंका उपभोग मिलता है, सदा नवयौवनका आनन्द रहता है। रोग-शोकका कहीं नाम नहीं रहता।

यज्ञस्थली आधिभौतिक लोकके मध्य एक आधिदैविक द्वीपके समान होती है। यज्ञकी वेदी समिधा हवि, दर्भ यज्ञके पात्र तथा अन्यान्य यज्ञाङ्गभूत उपकरण—सब-के-सब अभिमन्त्रित होनेके कारण देवत्वमय हो जाते हैं। इस दिव्य परिस्थितिके मध्यमें बैठे हुए यजमान, उसकी पत्नी तथा विभिन्न ऋत्विक् भी देवत्वमय हो जाते हैं। व्रतके प्रारम्भमें यजमान अग्निकी ओर देखकर व्रत ग्रहण करता है—

ॐ अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।

'हे व्रतपते अग्निदेव! मैं व्रतका आचरण करूँगा मुझे इस प्रकार प्रेरित कीजिये कि मैं उसमें समर्थ हो सकूँ। अब मैं अनृत अर्थात् मनुष्यत्वसे सत्य अर्थात् देवत्वको प्राप्त हो रहा हूँ।' 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'—इस न्यायके अनुसार अनुष्ठानमें लगनेपर मनुष्यको देवत्वमें परिणत होना पड़ता है। इस प्रकार दैवी कर्मानुष्ठानके परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त होता है। नास्तिक लोग शंका करते हैं कि यज्ञका फल यदि स्वर्ग है तो यज्ञापरान्त तुरंत स्वर्गकी प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती? उत्तर यह है कि कर्म करनेके बाद उसका अदृष्ट बनता है, अर्थात् कर्मकी सूक्ष्म शक्ति अदृष्टरूपमें परिणत होती है और जब कर्मफल परिपाकको प्राप्त होता है तब वही अदृष्ट स्वर्ग-प्रदानका हेतु बनता है। यज्ञानुष्ठानरूप दिव्य कर्मोंके फलस्वरूप दिव्य लोककी प्राप्ति युक्तिसंगत ही है।

वस्तुतः जिस अन्तर्वेदीय सदनुष्ठानद्वारा इन्द्रादिदेवगण प्रसन्न हों, स्वर्गादिकी प्राप्ति सुलभ हो, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विपत्तियाँ दूर हों और सम्पूर्ण संसारका कल्याण हो यह अनुष्ठान 'यज्ञ' कहलाता है। मत्स्यपुराणमें यज्ञका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते॥

'जिस कर्मविशेषमें देवता हवनीयद्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विक् एवं दक्षिणा—इन पाँच उपादानोंका संयोग हो उसे यज्ञ कहा जाता है।'

दर्शपूर्णमासके अतिरिक्त वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों तथा आश्वलायन, आपस्तम्ब सत्याषाढ और पारस्कर आदि सूत्र-ग्रन्थोंमें यज्ञके अनेक भेद-प्रभेद बताये गये हैं, परंतु मुख्यरूपसे इनका समाहार उपर्युक्त कथित तीन प्रकारकी संस्थाओं—हविर्यज्ञ-संस्था सोमयज्ञ-संस्था और पाकयज्ञ-संस्थाके अन्तर्गत हो जाता है फिर एक-एकमें सात-सात यज्ञ सम्मिलित हैं। संक्षेपमें इनका परिचय इस प्रकार है—

१-हविर्यज्ञ-संस्था—मुख्य हविर्यज्ञके रूपमें ७ यज्ञ-प्रकारोंका उल्लेख मिलता है, इनमसे एक-एक यज्ञके कई-कई भेद बतलाये गये हैं। पहला यज्ञ 'अग्न्याधेय' है, जिसे ब्राह्मण वसन्त ऋतुमें क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतुमें, वैश्य वर्षा ऋतुमें तथा कृत्तिका रोहिणी आदि नक्षत्रोंमें प्रारम्भ करते हैं। इस यज्ञमें कई इष्टियाँ होती हैं और यह १३ रात्रियोंतक चलता है। घृत तथा दुग्धके द्वारा प्रतिदिनके किये जानेवाले हवनको 'अग्निहोत्र' कहा जाता है। इसीका एक भेद पिण्ड-पितृ-यज्ञ भी है। जिसका सम्पूर्ण विधान श्राद्धके समान होता है। इस क्रममें तीसरे मुख्य हविर्यज्ञके रूपमें 'दर्शपौर्णमास'का उल्लेख मिलता है। जिसका विस्तृत विवेचन ऊपर किया जा चुका है। हविर्यज्ञका चौथा भेद 'आग्रायण' है, इसमें साँवा नामक धान्यविशेषसे चरु बनाकर चन्द्रमाको आहुतियाँ दी जाती हैं। आयुष्यकामेष्टि, पुत्रकामेष्टि और मित्रविन्दा आदि इसीके भेद हैं।

इसी प्रकार वैश्वानरी कारीरि, पवित्री, व्रात्यपती आदि अनेक इष्टियाँ हैं जिनके लिये पुराणोंमें कहा गया है कि उन्हें विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न करनेसे कर्ताकी दस

पीढियोका उद्धार हो जाता है। पाँचवाँ हविर्यज्ञ 'चातुर्मास्य' है, जो चार-चार मासोंमें अनुष्ठेय है। इसके चार भेदोका उल्लेख मिलता है, जो वैश्वदेवीय, वरुण-प्रघास, साकमेध और शुनासीरीयके नामसे जाने जाते हैं। छठा हविर्यज्ञ 'निरूढपशुबन्ध' है। यह प्रतिवत्सर वर्षा ऋतुमें किया जाता है। इसमें इन्द्र और अग्निके नामसे हवन होता है। यह पशुयाग कहलाता है। हविर्यज्ञका सातवाँ अन्तिम प्रकार 'सौत्रामणि' है। यह भी पशुयागके अन्तर्गत ही है। इसके विषयमे भागवतमे कई निर्देश दिये गये हैं। विस्तार-भयके कारण यहाँ हविर्यज्ञाको मात्र सक्षिप्त रूपोमे सकेतित किया गया है। विस्तृत जानकारीके लिये धर्मसूत्रो एव ब्राह्मण-ग्रन्थाका अवलोकन करना समीचीन होगा।

२-सोमयज्ञ-सस्था—यह आर्योंका अत्यन्त प्रसिद्ध याग रहा है। इसे कालावधिके आधारपर एकाह अहीन और सम—इन तीन रूपोमें देखा गया है। अग्रिम सोमलताके रसकी आहुति देनेके कारण यह सोमयाग कहलाता है। सोमयज्ञ-सस्थाके अन्तर्गत १६ ऋत्विजाका उल्लेख आश्वलायन श्रौतसूत्र (४-१६)-में इस प्रकार मिलता है—होता मैत्रावरुण अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता नेष्टा, उन्नेता ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छशी आग्नीध्र, पोता, उद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य एव १७वाँ यजमान व्यक्ति।

सोमयज्ञ-सस्थाके मुख्य सात प्रकारोमें अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम उक्थ्य षोडशी वाजपेय अतिरात्र और आप्तोर्यामकी गणना होती है। इनके अन्य बहुतसे उपभेद भी हैं जिनमेंसे एक मासकी अवधितक चलनेवाले यज्ञ उशनस्तोम गोस्तोम भूमिस्तोम वनस्पतिसव बृहस्पतिसव गौतमस्तोम उपहव्य चान्द्रमसी इष्टि एव सौरी इष्टि आदि हैं। सूर्यस्तुत यज्ञ और विश्वस्तुत यज्ञ यशकी कामनासे, गोसव और पञ्चशारदीय पशुओकी कामनासे तथा वाजपेय यज्ञ आधिपत्यकी कामनासे किया जाता है। इनम वाजपेय यज्ञ महत्त्वपूर्ण है। इस यज्ञकी १७ दीक्षाएँ होती हैं। यह उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रयुक्त पूर्णिमा तिथिको आरम्भ होता है। इस यज्ञको सम्पादित करनेसे राजा सभी पापासे मुक्त हो जाता है ऐसा पुराणामें कहा गया है। पाण्डुके पुत्र धर्मात्मा युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया था जिसका विस्तृत वर्णन भागवतपुराणके दशम स्कन्ध तथा अन्य पुराणा एवं महाभारतादि ग्रन्थोंमें भी प्राप्त होता है। पुराणामें विश्वजित् यज्ञको सारी कामनाआको पूर्ण करनेवाला बताया गया है। इसे सूर्यवशी राजा रघुने किया था। पद्मपुराणमें विस्तारके साथ यह घटना आती है। इसी प्रकार ज्योति नामका एकाह यज्ञ ऋद्धिकी कामनासे किया जाता है। भ्रातृत्व-भावकी प्राप्तिके लिये विषुवत् सोम नामक यज्ञ, स्वर्गकामनासे आङ्गिरस यज्ञ आयुकी कामनासे आयुर्यज्ञ और पुष्टिकी इच्छासे जामदग्न्य यज्ञका अनुष्ठान किया जाता है। यह ४ दिनोतक चलता है।

शरद् ऋतुमें ५-५ दिनाके सार्वसेन, दैव, पञ्चशारदीय, व्रतबन्ध और वावर नामक यज्ञ किये जाते हैं। जिनसे क्रमश सेना-पशु, बन्धु-बान्धव, आयु एव वाक्-शक्तिकी वृद्धि होती है। ६ दिनतक चलनेवाले यज्ञामें विशेष रूपसे पृष्ठ्यावलम्ब और अभ्यासक्त आदि उत्तम हैं। अन्नादिकी कामनासे अनुष्ठेय सप्तरात्र यज्ञोंमें ऋषि-सप्तरात्र, प्राजापत्य पवमानव्रत और जामदग्न्य आदि प्रधान हैं। जनकसप्तरात्र यज्ञ ऋद्धिकी कामनासे किया जाता है। अष्टरात्रोम महाव्रत ही मुख्य है। नवरात्रोंमें पृष्ठ्य और त्रिकद्रुककी गणना होती है। दशरात्रामें आठ यज्ञ करणीय माने गये हैं, जिनमे अध्यर्ध, चतुष्टोम त्रिककुप्, कुसुरुबिन्दु आदि मुख्य हैं। ऋद्धिकी कामनासे किया जानेवाला पुण्डरीक यज्ञ दो प्रकारका होता है। यह नवरात्र एव दशरात्र दोना ही प्रकारका होता है। मत्स्यपुराणके अ० ५३ के २५ स २७ तकके श्लोकाम, कार्तिक पूर्णिमाकी तिथिमे मार्कण्डेयपुराणको दान करनेसे इस यज्ञके फलको प्राप्त करनेकी बात कही गयी है।

द्वादशाह यज्ञोंमें भरत-द्वादशाह मुख्य है वैसे सामान्यरूपसे द्वादशाह यज्ञ ४ बताये गये हैं जो पृथक्-पृथक् सस्थाआमे प्रयुक्त होते हैं। जो सभी कामनाआको प्राप्त करके विश्वजयी होना चाहता है उसे अश्वमेध यज्ञ करना चाहिये जा सभी यज्ञाका राजा है। श्रौतसूत्रामें शताधिक पृष्ठाम इसके विधानका वर्णन है। एक वर्षतक चलनेवाले इस यज्ञम एक यज्ञिय अश्व छोडा जाता है और उसके पीछे राजाकी सेना चलती है। वह जबतक लौटकर वापस नहीं आता तबतक पारिप्लव आख्यान चलते हैं। इस क्रमम दस-दस दिनापर पहले दिन ऋग्वेद एव वैवस्वत मनुका आख्यान दूसरे दिन यजुर्वेद और पितराका आख्यान तीसर दिन अथर्ववद और वरुणादित्यका पौराणिक आख्यान चौथे दिन आङ्गिरस (अथर्वण) वेद एवं विष्णु और चन्द्रमाका आख्यान पाँचवं दिन भिषग्वद और कद्रू-विनताका आख्यान छठ-सातवें दिन असुराका आख्यान और आठवें दिन मत्स्यपुराणका

आख्यान तथा कई पुराणाका पाठ होता है।

इसी प्रकार दस-दस दिनापर उसी क्रमसे पाठ चलते हुए ३६० दिनाके बाद दीक्षा होती है। इस तरहसे उसके बाद भी कई मासतक यह यज्ञ चलता रहता है। पुराणोंके अनुसार महाराज दशरथने राम आदिके जन्मकी कामनासे प्राय तीन वर्षोंतक यह यज्ञ किया था, जिसमें इस यज्ञके अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण यज्ञाको भी क्रमश सम्पादित किया गया था।

३-पाकयज्ञ-सस्था—पाकयज्ञके अन्तर्गत सप्तसस्थाआका उल्लेख मिलता है। जा क्रमश अष्टका, पार्वणश्राद्ध श्रावणी आग्रहायणी, चैत्री एव आश्वयुजीके नामसे जानी जाती हैं। पाकयज्ञ-सस्थाआमें पहला अष्टकाश्राद्ध है। कार्तिक मार्गशीर्ष, पौष तथा माघ—इन चार मासाके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथियाँ अष्टका कही जाती हैं। पर अष्टकाश्राद्ध मार्गशीर्ष, पौष और माघ—इन तीन मासोकी कृष्णाष्टमियोपर ही सम्पन्न होता है। इनमे पितराका श्राद्ध करनेका बहुत बडा माहात्म्य है। इसमें स्थालीपाक आज्याहुतिपूर्वक पितरोंके श्राद्ध होते हैं।

पर्व-पर्वपर या पितराकी निधन-तिथिपर और महीने-महीनेपर होनेवाले श्राद्ध पार्वण कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त एकोद्दिष्ट आभ्युदयिक आदि श्राद्ध भी हाते हैं जिन्हें पाक-यज्ञोमें गिना गया है। श्रावणी पूर्णिमाको होनेवाले सर्पबलि गृह्यकर्म और वैदिक क्रियाओंको रक्षाबन्धनसहित श्रावणी कर्ममे गिना गया है, इन्हे चौथा पाकयज्ञ कहा गया है। पारस्कर गृह्यसूत्रके तृतीय काण्डकी द्वितीय कण्डिकाके अनुसार आग्रहायणी कर्म पाँचवाँ पाकयज्ञ-सस्था है। उसमें सर्पबलि स्थालीपाकपूर्वक श्रावणीके समान ही आज्याहुति और स्विष्टकृत्-हवन एव भूशयनका कार्य हाता है। चैत्रीम शूलगव-कर्म (वृषोत्सर्ग) किया जाता है। पारस्कर गृह्यसूत्रके तृतीय काण्डकी आठवीं कण्डिकाके अनुसार शूलगव-यज्ञ स्वर्ग, पुत्र धन, पशु, यश एव आयु प्रदान करनेवाला है। इसमें पशुपति रुद्रके लिये वृषभ (साँड) छोड जानेका आदश है। इसी दिन स्थालीपाकपूर्वक विधिवत् हवन भी किया जाता है।

सातवीं पाकयज्ञ-सस्था आश्वयुजी कर्म है। इसका वर्णन पारस्कर गृह्यसूत्रके द्वितीय काण्डकी १६वीं कण्डिकामें विस्तारके साथ हुआ है। इसका पूरा नाम पृषातक यज्ञ है। इसम ऐन्द्रिय हविष्यका दधि-मधुसे सम्मिश्रण कर इन्द्र, इन्द्राणी तथा अश्विनीकुमारोंके नामसे आश्विन-पूर्णिमाको हवन किया जाता है। उस दिन गाया और बछडाको विशेषरूपसे एक साथ ही रखा जाता है। ब्राह्मणाको भोजन करा देनेके उपरान्त इस कर्मकी समाप्ति होती है।

यद्यपि साधन-सम्पन्न व्यक्ति इन्हे अब भी करते हैं परतु वर्तमानमें इनमसे कुछ बडे-बडे यज्ञाका सम्पादन सर्वसामान्यके लिये सम्भव नहीं है। साथ ही कलियुगमें अश्वमेधादि कुछ यज्ञोका निषेध भी है। वर्तमानमें रुद्रयाग, महारुद्रयाग अतिरुद्रयाग, विष्णुयाग सूर्ययाग गणेशयाग, लक्ष्मीयाग, शतचण्डीयाग, सहस्रचण्डीयाग लक्षचण्डीयाग, महाशान्तियाग कोटिहोम, भागवतसप्ताह-यज्ञ आदि विशेष प्रचलित हैं।

ये यज्ञ सकाम भी किय जाते हैं और निष्काम भी। अग्नि भविष्य, मत्स्य आदि पुराणोंमें जो यज्ञो तथा उनकी विधि आदिका विस्तृत तथा स्पष्ट विवरण मिलता है, वह वेद और कल्पसूत्रा (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र आदि)-पर आधृत है। अनेक राजाओ आदिके चरित्र-वर्णनमें विविध यज्ञानुष्ठानोंके सुन्दर आख्यान-उपाख्यान भी पुराणोंमें उपलब्ध होते हैं। इन यज्ञोसे परमपुरुष नारायणकी ही आराधना होती है। श्रीमद्भागवत (४।१४।१८-१९)-में स्पष्ट वर्णित है—

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुष ।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितै ॥
तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावन ।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने॥

'जिसके राज्य अथवा नगरम वर्णाश्रम-धर्मोका पालन करनेवाले पुरुष स्वधर्म-पालनके द्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते हैं हे महाभाग! भगवान् अपनी वेद-शास्त्ररूपी आज्ञाका पालन करनेवाले उस राजासे प्रसन्न रहत हैं, क्याकि वे ही सारे विश्वकी आत्मा तथा सम्पूर्ण प्राणियाके रक्षक हैं।' पद्मपुराणके सृष्टिखण्ड (३।१२४)-म स्पष्ट कहा गया है कि—'यज्ञसे देवताआका आप्यायन अथवा पोषण होता है। यज्ञद्वारा वृष्टि होनेसे मनुष्योंका पालन होता है इस प्रकार ससारका पालन-पोषण करनेके कारण ही यज्ञ कल्याणके हतु कहे गये हैं'—

यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवा ।
आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञा कल्याणहेतव ॥

सभी वदा-पुराणोंने यज्ञाके यथासम्भव सम्पादनपर अत्यधिक बल दिया है। यज्ञाका फल केवल ऐहलौकिक ही नहीं अपितु पारलौकिक भी है। इनके अनुष्ठानसे देवों

ऋषियो, दैत्या, नागो, किन्नरों मनुष्यों तथा सभीको अपने अभीष्ट कामनाआकी प्राप्ति ही नहीं हुई है प्रत्युत उनका सर्वाङ्गीण अभ्युदय भी हुआ है। अत इनका सम्पादन अवश्यकरणीय है।

यज्ञसे देवताओकी तृप्ति

आये दिन एक विचारकी एकदेशी लहर उठ पडी है, लोग समझने लगे हैं कि यज्ञ केवल वायु-शुद्धिके लिये किया जाता है, इसके अतिरिक्त इसका और कोई प्रयोजन नहीं है, किंतु इस पक्षमे तथ्यका सर्वथा हाथ नहीं है। यज्ञका वायुशुद्धिमात्र प्रयोजन नहीं है उसे तो नान्तरीयक भी माना जा सकता है। यज्ञका आत्यन्तिक प्रयोजन है यज्ञकर्ताका देवताओके साथ परस्पर-भावन। शास्त्रोमे बडे खुले शब्दासे इस बातकी पुष्टि की गयी है।

ऋग्वेदमे यजमान अग्निस प्रार्थना करता है कि वे उसके हविको देवतातक पहुँचा द—

आग्ने वह हविरद्याय देवान्'।

(७।११।५)

अग्निमे जब उन-उन देवताआको उद्देश्य कर मन्त्रोच्चारणपूर्वक द्रव्यका त्याग किया जाता है तब अग्निके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे उन-उन देवताओ-तक उस-उस द्रव्यको पहुँचा दें जिसस कि उनकी तृप्ति हो जाय। इसीलिये वेदने अग्निके लिये 'दवदूत' और 'देवमुख'-जैसे शब्दाका प्रयोग किया है—

'अग्निर्हि दवताना मुखम्।'

(शतपथब्राह्मण ३।७।२।६)

इसीलिये होमके समय यह आवश्यक हा जाता है कि जिस देवताके लिये द्रव्य-त्याग किया जा रहा है, उस देवताका उस समय ध्यान अवश्य कर लिया जाय— यस्यै देवतायै हविर्गृहीत स्यात्। तां मनसा ध्यायेत्.......॥'

(निरुक्त ८।३।२२)

यही कारण है कि दवताओमें हविक लिये काफी उत्सुकता बनी रहती है और जो लोग एसा नहीं कर पाते उनपर उनकी कठोर दृष्टि बन जाती है।

यद्यपि देवता समर्थ हैं पर प्रशास्ताका कुछ प्रशासन ही ऐसा है कि इस दीनवृत्ति (यज्ञवृत्ति)-का आश्रयण उन्ह करना ही पड़ता है, जीवन-निर्वाहके लिये यजमानकी बाट देखनी ही पडती है—

'तथा च यजमान देवा ईश्वरा सन्तो जीवनार्थेऽनुगता, चरुपुरोडाशाद्युपजीवनप्रयोजनेन, अन्यथापि जीवितुमुत्सहन्त कृपणा दीना वृत्तिमाश्रित्य स्थिता तच्च प्रशास्तु प्रशासनात् स्यात्।'

(बृ० उ० भा० ३।८।९)

मनुष्योको तो पग-पगपर दैवी सहायताकी आवश्यकता पडती है इसलिये इन्हें तो उधर मुडना ही पडता है किंतु देवताओंका भी हविके लिये मनुष्योकी आर उन्मुख होना पडता है और इस तरह दोनाका परस्पर-भावन बडा दृढमूल हो गया है।

उपर्युक्त प्रमाणासे परस्पर-भावनपर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इसी सत्यसे प्रेरित होकर महर्षि सायणाचार्यने भी बडी दृढतासे कहा है—

'तस्मान्मनुष्याणा क्रयविक्रयाविव यजमानदेवतयो-र्यागतत्फले विश्रम्भेण व्यवहर्तुं शक्यते।'

(तै० स० का० १ प्रपा० १। अनु० १)

वेदका दूसरा मन्त्र बहुत स्पष्ट एव निर्धारणात्मक शब्दोम बतलाया है कि दवता प्रथम तृप्त होते हैं फिर यजमानको तृप्त करते हैं—

'तृप्त एव एनमिन्द्र प्रजया पशुभिश्च तर्पयति।'

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हा जाता है कि यज्ञका केवल अधिभूत ही प्रयोजन नहीं है, उसका वास्तविक प्रयोजन तो आधिदैविक है।

अतएव ऋग्वेद (१०। ९०। १६) एवं यजुर्वेद (३१। १६)-म समवेतरूपसे उद्घोषणा की गयी—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त दवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाक महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा ॥

अर्थात् देवाने यज्ञपुरुषक साधनसे जो यज्ञका कार्य करना प्रारम्भ किया व प्रारम्भसे धर्मश्रेष्ठ थे। एसा धर्मयज्ञका आचरण करनवाले धार्मिक लाग—जहाँ पूर्वसमयके साधनसम्पन्न यज्ञ करनवाले लाग रहत थे—वे ही महात्मा लोग निश्चयरूपसे उसी सुखपूर्ण स्थानम जाकर रहन लगे। (भाव यह कि यज्ञक यजन करनवाले श्रेष्ठ यज्ञकर्ता अपन परम एव चरम लक्ष्य—यज्ञपुरुषक परमधाम—'यद्गत्वा न निवर्तन्त तद्धाम परमं मम —को प्राप्त कर उन्हीं परम पुरुषमे ऐकात्म्य स्थापित कर लते हैं।

वैदिक शिक्षाव्यवस्था एवं उपनयन

(श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र)

भारत पुरातन कालसे ज्ञानप्राप्तिद्वारा आध्यात्मिक उन्नतिको ही अपना ध्येय समझता आया है। अपने उन्नत ध्येयके कारण इसे समस्त देशोका गुरु कहा जाता था। मनुने स्पष्ट-रूपसे कहा कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा [१]॥

अर्थात् पृथिवीपर निवास करनेवाले समस्त मानव इस पुनीततम भारतमें प्रादुर्भूत ब्राह्मण बालकसे अपने-अपने धर्म एव चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करे। आज भी इस गवेषणाप्रधान युगम भारतीय आर्योकी शिक्षाके मूल स्रोत वेद-शास्त्रोंके अतिरिक्त कोई भी ग्रन्थ पुरातन सिद्ध नहीं हो सका है। आर्य वेदको उच्चतम आदर्श ग्रन्थ मानते हैं। आर्योके अनुसार तो वेद अनादि हैं[२]। पाश्चात्य शिक्षाविद् भी इसे विश्वका सर्वप्राचीन ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।

वेद—शास्त्राम वेदका बहुत महत्त्व है। वेद वस्तुत आदरणीय एव प्राणिमात्रकी सर्वतोमुखी उन्नतिका उपदेशक शिक्षाका अनुपम कोष ग्रन्थ है। अत्यन्त प्राचीन कालमे वेद एक ही था। प्रत्येक द्वापरयुगके अन्तमं भगवान् वेदव्यास कलियुगीय मानवोकी मन्दबुद्धि एवं अल्पजीवनको देखकर एक वेदका चार भागोंम विभक्त कर देत हैं[३]। जिनको क्रमश ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एव अथर्ववेद कहा जाता है[४]। प्रत्येक वेदमें कई शाखाएँ होती हैं[५]। वेदाके दो विशेष विभाग हैं, जिनको 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' शब्दोसे अभिहित किया जाता है[६]। पूर्वजोसे जिस वेदशाखाका अध्ययन-परम्परा समागत हो उस कुलका वह वेद कहलाता है[७]। यद्यपि सम्प्रति कुलपरम्पराद्वारा प्राप्त वेदोंका अध्ययन समाप्तप्राय हो चला है तथापि अपनी पितृपरम्परासे जिस वेदशाखाका अनुयायी होना ज्ञात हो तथा जिस वेदशाखाके अनुसार अपना उपनयन-सस्कार हुआ हो, उस वेदका अध्येता स्वयको मानना चाहिये। यदि किसी कुलम अशिक्षा या अज्ञानवश अपने कुलपरम्परागत वेदका स्मरण नहीं हो पाता है तो उसे शुक्लयजुर्वेदीय एव माध्यन्दिनशाखीय समझना चाहिये। प्राचीन भारतमे वेदकी शिक्षा प्रत्येक द्विजके लिये अनिवार्य थी[८]। वैदिक शिक्षाद्वारा ज्ञानका विकास कर व्यक्ति आत्मोन्नतिके पथपर अग्रसर होता था।

ज्ञानप्राप्ति—ज्ञानके स्वरूपका विवेचन भारतीय शास्त्रोंमें विभिन्न रूपोमें किया गया है। ज्ञान अनुपम आनन्दमय पुनीत ज्योति है[९]। हृदयके अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेका एकमात्र साधन ज्ञान है, परतु इस ज्ञानज्योतिके किंचिन्मात्र लाभके आनन्दमे ही जिसको थोडा-सा प्रकाश प्राप्त हो जाता है और जो सतुष्ट हो जाता है, वह अपने ज्ञानकी इयत्ताका न जान सकनेके कारण उन्मत्त हो जाता है। उन्मादके कारण वह स्वयको तत्त्ववेत्ताओंसे भी उन्नत समझ लेता है। ऐसे उन्मादावस्थावाले व्यक्तियोंको ही दृष्टिमें रखकर ज्ञानप्राप्तिकी अवस्थाओंका वर्णन भर्तृहरिने अत्यन्त ललित शब्दोम इस प्रकार किया है—

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्ध समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मन ।
यदा किंचित् किंचिद् बुधजनसकाशादवगत
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगत [१०]॥

अर्थात् 'जब मैं बिलकुल ही अज्ञ था तब मदोन्मत्त हाथीके समान अभिमानमें अधा होकर अपनेको सर्वज्ञ समझा करता था परतु अब पडिताकी सगतिसे अल्पज्ञानके होते ही यह सब उन्माद जब ज्वरके वेगकी तरह शरीरसे निकल गया तब मैं अपने-आपको मूर्ख समझने लगा हूँ।'

वस्तुत विनम्र जिज्ञासु सयत व्यक्ति ही ज्ञानोपदेशका पात्र—अधिकारी होता है[११]। अधिकारी होनेपर उसे तत्त्ववेत्ताओंसे सुखका मूल ज्ञानरूपी धन प्राप्त होता है। इस ज्ञानात्मक अक्षय धनका उपयोग वह अपने जीवनम करता है तथा अपन अस्तित्वको धारण कर स्थिर रखनेवाले धर्म (आत्मा)-

---

१-म०स्मृ० (२। २०)।
२-अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा (म० भा० शा० प० २३२। २५)।
३-श्रीमद्भागवत (१२। ६। ४६-४७)। ४-श्रीमद्भागवत (१। ४। २१-२२)। ५-श्रीमद्भागवत (१। ४। २३-२४)।
६-मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् (प्र० परि० १। २ आप०परि० ३१)।
७-परम्परागतो येषां वेद सपरिबृंहण । तच्छाखं कर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं यथा॥ (वी०मि०सं०प्र० वसिष्ठोक्ति पृ० ५०५)
८-स्वाध्यायोऽध्येतव्य (श० ब्रा० ११। ५। ७। १०)।
९-गीता (४। ३८)। १०-नीतिशतक (८)। ११-निरुक्त (२। ४। १)।

को प्राप्त करता है। आत्मसाक्षात्कारसे अत्युत्तम आनन्द एव सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है। इस महत्त्वपूर्ण ज्ञानके लाभोको समझाने-हेतु ही सक्षेपमे कहा गया है कि—

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं तत सुखम्[१]॥

अधिकारी सत्पात्रको विद्या देनेसे ही विद्याकी पुष्टि होती है। जिज्ञासा एक पिपासा है तथा ज्ञान पुष्टिकारक सुखद अमृतस्वरूप है। पिपासुकी पिपासा शान्त होनेपर सुख होता है।

ज्ञानरूपी ज्योति गुरुसे ही प्राप्त होती है। गुरु उदयकालिक सूर्यके समान आनन्दमय एव अमृतमय ज्ञानस्रोतका उद्गम-स्थान है। गुरुसे विद्या या ज्ञानप्राप्तिके तीन साधन शास्त्रोम प्रतिपादित किये गये हैं। वेदके अग शिक्षाशास्त्रकी भाषाम वे तीनों साधन सेवा धन और विद्या नामसे प्रतिपादित हैं[२]। श्रीमद्भगवद्गीतामें इन तीनामें उत्तरोत्तरको प्रशस्त बतानेके लिये प्रणिपात (विनम्रता), परिप्रश्न (विद्या) तथा सेवा—यह क्रम रखा गया है[३]। गुरुकी आभ्यन्तरिक पूर्ण इच्छा न रहनेपर भी धनके लोभसे उपदिष्ट विद्याकी अपेक्षा शिष्यद्वारा पूर्वपरिज्ञात विषयके कथनानन्तर जिज्ञासा करनेपर उपदिष्ट परिप्रश्नरूप विद्याका महत्त्व अधिक है। जैसे धनके लोभवश गुरुकी स्वार्थपरायणतासे विपर्यय एव अपने आत्मानुभवका उपदेश न करना सम्भव है उसी प्रकार धनदातृत्वके अहकारसे शिष्यद्वारा उसे ग्रहण न करना भी सम्भव है परतु प्रश्न होनेपर उपदिष्ट गुरुवचनोम यथार्थ आत्मानुभवका समावेश अवश्य रहता है। इस परिप्रश्नमें ज्ञानार्थीको भी विद्यासे सम्पन्न होना आवश्यक है। अत शिक्षाविदोंने इस उपायको 'विद्यया विद्या' शब्दसे व्यवहृत किया है। इस द्वितीय परिप्रश्नात्मक ज्ञानार्जनोपायकी अपेक्षा सेवास्वरूप तृतीय साधन अति प्रशस्त है। सेवात्मक साधनमें अपनी ग्रहणशक्तिके ज्ञानाभिमानमें अथवा उत्तरदाताके प्रतिष्ठा-प्रभावके कारण शिष्यद्वारा न समझनेपर भी स्वीकार कर लेना आदि परिप्रश्नके दुर्गुणोका समावेश नहीं है। सेवासाधनमें तो 'शिष्यस्तेऽह शाधि मा त्वां प्रपन्नम्'[४] के अनुसार गुरुमें पितृत्वकी भावना होती है। वस्तुत वह विद्या-गुरुके वात्सल्यका प्रतीक है। धनदाता एव जिज्ञासु शिष्यकी अपेक्षा सेवक विद्यार्थी गुरुसे अधिक विद्या-सम्पत्ति ग्रहण कर सकता है तथा उन दोनाकी अपेक्षा उसकी विद्या अधिक सफल बन जाती है[५]।

उपर्युक्त तीना साधनास गुरुके द्वारा विद्या प्राप्त की जाती है। प्राचीन कालमे विद्या गुरुमुखसे सुन लेनेपर विद्यार्थियाको ही नहीं, प्रत्युत गुरुकुलमें स्थित पक्षियोंको भी कण्ठस्थ हो जाती थी[६]। परतु समयके प्रभावसे शिक्षार्थियाकी धारणामें ह्रास होने लगा। उस समयको ग्रन्थ-रचनाका प्रारम्भिक काल कहा जा सकता है, क्योंकि गुरुजनोंने ग्रन्थाका प्रणयन किया, तदनन्तर उन प्रणीत ग्रन्थोंको लिपिबद्ध किया गया। इसके फलस्वरूप ग्रन्थाके अध्ययनके लिये अक्षर-परिचय आवश्यक हो गया। अत अक्षरोंका परिचय प्राप्त करनेके लिये अक्षरारम्भ नामक कार्य निश्चित किया गया। अक्षरारम्भ बालकके पाँचवे वर्षमे शुभ मुहूर्तमें सविधि सम्पन्न होता है[७]। अक्षरोके दृढ परिचय एव लेखनका पूर्ण अभ्यास हो जानेपर शुभ दिनम विद्याग्रहणका कार्य प्रारम्भ होता है।

भारतीय साहित्यमे अनेक विद्याएँ हैं तथा सभी महत्त्वपूर्ण हैं, परतु देश धर्म एव समाजके उन्नयनकी दृष्टिसे उन सभी विद्याओम वेदविद्याका महत्त्व सर्वाधिक माना गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने स्पष्ट-रूपसे यह बतलाया है कि द्विजाति (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य)-के बालकका यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह जीविका आदि किसी बाह्य उद्देश्यसे निरपेक्ष होकर (धर्म, भारतीयता एव सस्कृतिकी वास्तविक रक्षा तथा बाह्य सास्कृतिक आक्रमणोंके निराकरणके लिये) षडङ्ग (शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष)-सहित वदका अध्ययन (एव उसक मर्मको समझकर तदनुकूल आचरण) करे[८]। मनुने तो भारतके त्रैवर्णिकको वेद न पढनपर अत्यन्त निन्दित माना है तथा कहा है कि 'जो द्विज वदाध्ययनके विना अन्य विद्याको पढनेम श्रम करता है वह जावित ही दासताको प्राप्त हो जाता है। मात्र वहा नहीं अपितु उसकी सतति भी दासताकी भावनासे ग्रस्त हा जाती है[९]।' राजर्षि मनुका उद्घोष बहुत उग्र है, परतु वस्तुत कटु सत्य है।

१-हितोपदेश (६)।
२-गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा। अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नोपपद्यते॥ (या० शि० ११२)
३-तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया (गीता ४। ३४)। ४-गीता (२। ७)। ५-या० शि० (११०-१११)।
६-जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयै संसारिकै पञ्जरवर्तिभि शुकै ।
निगृह्यमाणा वटव पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किता ॥ (कादम्बरी कथामुख १२)।
७-मु० चि० (५। ३७)। ८-निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च (महाभाष्य)।
९-योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय ॥ (म०स्मृ० २। १६८)

अध्ययन—या तो विद्याध्ययन सर्वदा ही किया जा सकता है, तथापि शास्त्रकारोंने जीवनके प्राथमिक चतुर्थांशको विद्याध्ययनके लिये परम उपयुक्त समझ कर इसे विद्याध्ययनके लिये ही निश्चित कर दिया है। आयुके इस भागकी सज्ञा आगम-काल है[१]। अध्ययनक सुचारु सम्पादनके लिय 'उपनयन' नामक सस्कार निश्चित किया गया है। उपनयन-सस्कारका समय जातिभेदस भिन्न-भिन्न माना गया है। त्रैवर्णिक बालकको पाँचवे वर्षम ज्योतिष-शास्त्रानुसार शुभ दिनम अक्षरारम्भ कराना चाहिये। वर्ण-परिचय तथा लेखन-ज्ञान प्राप्त करनेक बाद शुभ मुहूर्तम विद्याध्ययन प्रारम्भ करना चाहिये[२]।

सस्कार—जिस प्रकार अनक रगाके उचित उपयाग करनेपर चित्रम सुन्दरता, आकर्षण एव पूर्ण वास्तविकता आ जाती है, उसी प्रकार शास्त्रोपदिष्ट अनेक सस्कार करनेसे पुरुषकी बुद्धि और मनमें सात्त्विकता एव सर्वजनप्रियताका सचार हाता है तथा उसका वास्तविक सुख-शान्तिके पथका अनुभव होता है[३]। शास्त्रामे सस्काराकी सख्या बहुत है[४] तथापि विद्वानाने प्रधानरूपसे सोलह सस्कार माने हैं। इन सोलह सस्कारोंके नाम हैं—गर्भाधान पुसवन, सीमन्तोन्नयन जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण अन्नप्राशन चूडाकरण कर्णवेध उपनयन, वदारम्भ समावर्तन केशान्त विवाह (गृह्याग्नि), अग्निपरिग्रह तथा अन्त्येष्टि। कतिपय स्थलोंपर त्रेताग्निपरिग्रहको सोलहवाँ सस्कार माना गया है। इन सस्कारास चित्तशुद्धि एवं आध्यात्मिक उन्नति होती है। सस्कार्यकी अपनी वेदशाखाके अनुसार ही सस्कार किय जाते हैं[५]।

उपनयन—त्रैवर्णिकके मुख्य सस्काराम सर्वप्रथम सस्कार 'उपनयन' है। उपनयन-सस्कार हानेपर ही त्रैवर्णिक बालक द्विज कहलाता है[६]। शास्त्राका मत है कि इस सस्कारसे बालकका विशुद्ध ज्ञानमय जन्म होता है। इस ज्ञानमय जन्मक पिता आचार्य तथा माता गायत्री हैं[७]। जिस प्रकार अच्छे बीजसे अच्छे अन्नकी उत्पत्ति हाती है उसी प्रकार इस ज्ञानमय जन्मने अच्छ विद्वान्क आचार्य रहनेपर कल्याणदायक शुद्ध भावना-बुद्धिद्वारा विशुद्ध ज्ञान होता है। महर्षि आपस्तम्बने भी इस तथ्यको स्पष्ट लिखा है—'तमसा वा एष तम प्रविशति यमविद्वानुपनयते यश्चाविद्वानिति हि ब्राह्मणम्[८]।' अर्थात् जिसका अविद्वान् आचार्य (गुरु)-क द्वारा उपनयन-सस्कार कराया जाता है, वह अन्धकारसे अन्धकारम ही जाता है। अत कहा गया है—

तस्मिन्नभिजनविद्यासमुदेत समाहितं संस्कर्तारमीप्सेत्।'
'अविच्छिन्नवेदवदिसम्यन्धे कुले जन्म अभिजन । षड्भिरङ्गैः सहैव यथावदर्थज्ञानपर्यन्तमधीतो वेदो विद्या[९]।

अर्थात् वेद एव वदी (यज्ञो)-से सम्बन्धित कुलमें जन्म लेनवाले षडङ्गो एव मीमासाशास्त्र आदिके अध्ययनद्वारा वदार्थके परिज्ञाता तथा विहित-निषिद्ध कर्मोम सावधान आचार्यका उपनयनमे अपना उपनेता—गुरु बनाना चाहिये।

गोभिल स्मार्तकल्पके भाष्यकार नारायणने एक वचन उपस्थित कर यह बतलाया है कि इस उपनयन-सस्कारद्वारा त्रैवर्णिक बालक अपनी कर्तव्य-शिक्षाके लिये गुरु वेद, यम नियम एव देवताओंके समीप ले जाया जाता है इसलिये इस सस्कारको उप (समीप)-नयन (ले जाना) कहते हैं[१०]। प्राचीन समयमे उपनेता गुरुआके पास शिष्यगण ब्रह्मचर्यपूर्वक कई वर्षोतक अध्ययन करते थे। उपनीत बालकका गुरुकुलवास तथा अध्ययन करनेसे शास्त्रों एव अपने धर्मका पूर्णरूपेण परिज्ञान हो जाता था। जिसके फलस्वरूप वह विशुद्ध ज्ञान उपार्जित करके सासारिक कार्योका करते हुए भी अपन देशकी आध्यात्मिक शान्तिके उन्नत लक्ष्यका प्राप्त करता था। उपनयन-सस्कारके लिये शास्त्राम मुहूर्त निर्दिष्ट किय गये हैं। मुहूर्तका तात्पर्य है कि अध्यताकी आधिदैविक परिस्थिति (जन्मकालिक ग्रहस्थिति)-से उस समयकी आधिदैविक परिस्थिति अनुकूल बन सके जिससे उसका अध्ययन सकुशल निर्विघ्न एवं परिपुष्ट हो सक।

उपनयनके काल—ब्राह्मण-जातिका गायत्री छन्दस सम्बन्ध है[११]। गायत्री छन्दका एक पाद आठ अक्षरांका

१-चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति (महाभाष्य)।

२-मु० चि० (५। ३८)।

३-चित्रकर्म यथानेकै रङ्गैरुन्मील्यत शनै । ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् सस्कारैर्विधिपूर्वकै ॥ (प्र० पा० पृ० ३ अङ्गिरावचन)।

४-गौ०ध० (१। ८। १४—२२) ५-स्वे स्वे गृह्ये यथा प्रोक्तास्तथा सस्कृतयोऽखिला (प्र० पा० पृ० ३ अङ्गिरावचन)।

६-जन्मना जायते शूद्र संस्काराद् द्विज उच्यते। ७-गौ० ध० (१। १। १ भाष्यम भी)। ८-आप० ध० (१। १। ११)।

९-आप० ध० (१। १। १२ भाष्यमें भी)।

१०-गुरार्व्रताय वेदस्य यमस्य नियमस्य च। दवताना समीपं वा येनासौ सविधीयते॥ (गो०गृ०ना० ५५३)।

११-गायत्रो वै ब्राह्मण. (ऐ० १। २८)। गायत्रच्छन्दो वै ब्राह्मण (तै० १। १। ९। ६)। ब्रह्मगायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप् (श० १। ३। ५। ५)।

होता है[१]। अत ब्राह्मण बालकका उपनयन-सस्कार आठव वर्षम बतलाया गया है[२]। क्षत्रिय जातिका सम्बन्ध त्रिष्टुप् छन्दसे है[३] तथा त्रिष्टुप् छन्दका एक पाद ग्यारह अक्षराका होता है[४]। अत ग्यारहवें वर्षमें क्षत्रिय बालकका उपनयन-सस्कार बताया गया है[५]। वैश्य जातिका सम्बन्ध जगती छन्दसे है[६] तथा जगती छन्दका एक पाद बारह अक्षरोका होता है[७]। अत बारहवें वर्षमे वैश्य बालकके उपनयन-संस्कारका काल माना गया है[८]।

तीन वर्णोंसे इन छन्दोका सम्बन्ध भी तथ्योपर आधारित है। गायत्री अपने गायक (उपासक)-की रक्षा (त्राण) करनेके कारण अन्वर्थ है[९]। इसी प्रकार ब्राह्मण वर्ण भी अपने सच्चे उपासक भक्तकी रक्षा कर सकता है। त्रिष्टुप् छन्दमे जिस प्रकार त्रि (तीन)-के स्तोभन करनेकी शक्ति है[१०] उसी प्रकार क्षत्रिय वर्णमें भी राजशासनद्वारा देश काल एव समाज—इन तीनोकी असद्गतिको रोकनेकी शक्ति है। जगती गततम उत्कृष्ट छन्द है[११]। वैश्य जाति भी देशकी सुस्थितिके मूलभूत कृषि गोरक्षा एवं वाणिज्यके व्यवहारसे देशरक्षामें अन्तिम उत्कृष्ट सहायक है। इन सभी त्रैवर्णिकोंके लिये उपनयन-सस्कार-हेतु वर्षकी गणना गर्भस्थितिसे अथवा जन्मकालसे करनी चाहिये[१२]।

काम्यकाल—त्रैवर्णिक बालकोंके उपनयन-सस्कारके लिये क्रमसे आठ ग्यारह एव बारह वर्षका समय नियत किया गया है। किसी विशेष कामना-प्राप्तिकी इच्छापर शास्त्रकारोंने वैज्ञानिक ढगसे समयका निर्धारण किया है। मनुके अनुसार ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणका पञ्चम वर्षमे उपनयन होना चाहिये। उसी प्रकार बलप्राप्तिके लिये क्षत्रियका षष्ठ वर्षमे तथा धन-प्राप्तिके लिये वैश्यका गर्भकालके साथ अष्टम वर्षमे उपनयन होना चाहिये[१३]। महर्षि आपस्तम्बने सभी द्विज बालकोके लिये ब्रह्मवर्चस्की कामनाम सप्तम वर्ष आयुकी कामनाम अष्टम वर्ष तेजकी कामनामे नवम वर्ष पाचन-शक्तिकी कामनामे दशम वर्ष, इन्द्रियाकी दृढताकी कामनामे एकादश वर्ष तथा पशुकी कामनाम द्वादश वर्षका समय निर्दिष्ट किया है[१४]। विष्णुने धनकी कामनाम षष्ठ वर्ष विद्याकी कामनामे सप्तम वर्ष, सर्वकामनाके लिये अष्टम वर्ष तथा कान्तिकी कामनामे नवम वर्षका उपनयन-काल निर्धारित किया है।

उपनयनका अन्तिम समय—सभी शास्त्रकारोंकी सम्मतिसे सस्कार्यके पञ्चम वर्षसे उपनयनका काल प्रारम्भ हाता है[१५]। ब्राह्मणके लिये सोलह वर्ष, क्षत्रियके लिये बाईस तथा वैश्यके लिये चौबीस वर्षकी अवस्थातक उपनयनकी परम अवधि बतलायी गयी है[१६]। इस परमावधिके बीत जानेपर प्रायश्चित्त करनेके अनन्तर उपनयन-सस्कारका अधिकार प्राप्त होता है। यह प्रायश्चित्त राजशासन-भगके दण्डकी भाँति प्राचीन आर्य-मर्यादाको भंग करनेके दण्डस्वरूप है। जिस प्रकार राजदण्डके योग्य मनुष्य किसी सत्पुरुषके अधिकारा (जमानत आदि)-को नहीं रखता है उसी प्रकार बिना प्रायश्चित्तके उसका उपनयनाधिकार नहीं माना जाता।

पूर्वपुरुषाका उपनयन—ज्योतिर्निबन्धकी उक्तिके अनुसार अधिकारी त्रैवर्णिक यदि अपनी परमावधिके बाद भी एक वर्षके अन्तर्गत उपनयन-सस्कार नहीं कराता है तो वह वृषल होता है[१७] अर्थात् यह वृष (धर्म)-का उच्छेद करनेवाला निन्द्य है[१८]। महर्षि आपस्तम्बने अपने पूर्व-पुरुषोंके उपनयन-सस्कार न हुए रहनेपर उन कुलोंको ब्रह्महसस्तुत[१९] (ब्रह्मघातियोंके समान) तथा श्मशानसस्तुत[२०] (श्मशानके समान) बतलाया है। इन कुलामें उत्पन्न व्यक्तिको अपनी वृषलताके निराकरणक लिये वेदशास्त्रक अध्ययन एव उपनयन-सस्कारकी इच्छा रहनेपर विशेष विधानद्वारा अधिकारी बनाये जानेकी शास्त्रान आज्ञा प्रदान का है[२१]। यह विशेष विधान-प्रायश्चित्त है।

१-अष्टाक्षरा वै गायत्री (श०१। ४। १। ३६)। २ आप० ध० (१। १। १९) पा० गृ० (२। २। १)।
३-त्रिष्टुप् छन्दो वै राजन्य (तै० १। १। ९। ६)। त्रैष्टुभो वै राजन्य (ऐ० १। २८ ८। २) आदि।
४-एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् (गो० उ० १। १८)। ५-आप० ध० (१। १। १९) पा० गृ० (२। २। २)।
६-जागतो वै वैश्य (ऐ० १। २८) जगतीच्छन्दो वै वैश्य (तै० १। १। ९। ७)। ७-द्वादशाक्षरपदा जगती (प० २। १)।
८-पा०गृ० (२। २। ३) आप० ध० (१। १। १९)। ९-द्र०निरुक्त (७। १२। ५)।
१०-यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते (निरुक्त ७। ३। १२)।
११-जगती गततमं छन्द (निरुक्त ७। ३। १३)। १२-म० स्मृ० (२। ३६)। १३-म स्मृ० (२। ३७)।
१४-आप० ध० (१। १। २१—२६)। १५-गौ० गृ० ना० (४५७)। १६-आप० ध० (१। १। २७) म० स्मृ० (२। ३८)।
१७-अप्रजा बाहुजा वैश्या स्वावधेरूर्ध्वमब्दत। अकृतापनया. सर्वे वृषला एव ते स्मृता ॥ (नि० मि० १०२)।
१८-अ०को० (२। १०। १) रामाश्रयी-व्याख्या। १९-आप० ध० (१। १। ३२)। २०-आप० ध० (१। २। ५)।
२१-आप० ध० (१। १। ३४) (१। २। ६)।

प्रायश्चित्तोंमे शारीरिक एव मानसिक शुद्धिके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपवासादिको करनेका ही मुख्य उपदेश है। अशक्तिवश या मुख्य प्रायश्चित्तका असमर्थतापर गौण (होमादि) प्रायश्चित्तद्वारा भी अधिकार दिया जाता है। इस गौण प्रायश्चित्तका निर्णय समय कुल अनुपनीतता आदिके अनुसार होता है। इसका विस्तृत विवेचन धर्मशास्त्र-निबन्धोमें वर्तमान है।

उपनयनके अधिकारी—गर्भाधानसे उपनयन एव प्रथम विवाहतकके सस्कारोको करनेका अधिकार सस्कार्यके पिताको ही होता है[१]। पिताकी अनुपस्थितिमे सस्कार्यके अभिभावकको सस्कार करनेका अधिकार प्राप्त होता है। शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार अभिभावकोका क्रम भी निश्चित है,[२] जिसमें सर्वप्रथम पिताका अधिकार है। उसके बाद क्रमश पितामह, पितृव्य, ज्येष्ठ भ्राता सात पीढियोंके अन्तर्गतके पुरुष, स्वगोत्रीय व्यक्ति तथा सस्कार्यसे ज्येष्ठ आयुवाले गोत्र-भिन्न सत्पुरुष माने गये हैं। लोक-व्यवहारमें कई जगह बालकके पिताके उपस्थित रहते हुए भी अपने कुलके बडे पुरुषद्वारा ही बालकका उपनयन-सस्कार कराया जाता है परतु यह शास्त्र-समनुमत मार्ग नहीं है। यदि बालक स्वय समर्थ हो गया हो तथा पिता आदि सनिकट-सम्बन्धियोकी अनुपस्थिति हो तो वह बालक स्वय ही आचार्यके पास गायत्री-सम्बन्धके लिये प्रार्थना कर सकता है[३]।

यज्ञोपवीत—उपनयन-सस्कारका प्रथम मुख्य कर्तव्य यज्ञोपवीत धारण करना है। यज्ञोपवीत उपवीत, ब्रह्मसूत्र यज्ञसूत्र या जनेऊ सभी पर्यायवाची शब्द हैं। उपवीत शरीरकी पेटिका (कधेसे नाभितक)-के दो विभाग करनेवाला सूत्र है। यह सूत्र उस भागके उप=चारो ओर वीत=बँधा रहता है, अत इसे उपवीत सज्ञा दी गयी है। इस सूत्रके बनाने एव पहननेका प्रकार शास्त्रोंमें विशेष प्रकारसे निर्दिष्ट है। शास्त्रकारोने बतलाया है कि उपवीत बिना पहने हुए जो कार्य किया जाता है वह निष्फल है। अत उपवीत सर्वदा धारण करना चाहिये[४]।

यज्ञोपवीत द्विजत्वका महत्त्वपूर्ण चिह्न है। यह चिह्न भी किसी विशेष उद्देश्यसे रखा गया है। चिह्नकी यह विशेषता आवश्यक तथा उचित है कि वह जिस समाज या देशके लिये निश्चित हो उसकी सर्वतोमुखी उन्नतिका लक्ष्यस्वरूप हो। भारतवर्षकी सर्वविध अभ्युन्नति चाहनेवाले ऋषियोंद्वारा प्रणीत शास्त्रोंमे तथा शास्त्रपर विश्वास करनेवाली आर्य-सतानोके हृदयमे इस जगत्का मुख्यतम लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पदार्थोंको स्वायत्त करता रहा है। अतएव इनको 'पुरुषार्थ' शब्दसे भी व्यवहृत किया जाता है, इन चारो पुरुषार्थोंको स्वायत्त करनेके मार्ग-प्रदर्शक शासनों (नियमो)-के समूहका ही शास्त्र कहा जाता है। चतुर्विध पुरुषार्थ एव इनके स्वायत्तीकरणके साधनोंका उपदेश वेदमे किया गया है। वेदके मन्त्र आर्योंके प्राणप्रिय भावपूर्ण शब्द हैं, इनके सम्पूर्ण भावोको समझना प्रत्येक व्यक्तिके लिये साधारण नहीं है। अत लोकपितामह ब्रह्माने लोकोपकारके लिये एक लाख अध्यायोमे इन चारों पुरुषार्थोंके स्वरूप एव प्राप्तिसाधनोका उपदेश दिया है[५]। मानवमे इस विस्तृत उपदेशकी ग्रहण-शक्ति भी न रह सकी तब महर्षियोने भिन्न-भिन्न पदार्थोंको लक्ष्य करके भिन्न-भिन्न रचनाएँ कीं। स्वायम्भुव मनु आदि ऋषियोंने धर्म नामक प्रथम एवं मुख्य पुरुषार्थके लिये स्मृतिशास्त्रका निर्माण किया। स्मृतिशास्त्रमे प्रधान रूपसे धर्मका वर्णन है। इसलिये इसको धर्मशास्त्र भी कहते हैं। यज्ञोपवीतके तन्तुओमे ही समग्र धर्मशास्त्रको सूक्ष्म-रूपसे समाविष्ट किया गया है।

बालकके नौ सस्कार उपनयनके पूर्व सम्पन्न किये जाते हैं। उपनयनके अनन्तर एव समावर्तन-सस्कारके पूर्व अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रममें एक ही उपवीत धारण करनेका विधान बतलाया गया है[६]। इस उपवीतमे नौ तन्तु होते हैं[७], जो उस बालकके पूर्वभावी नौ सस्कारोका स्मरण दिलाते हैं। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके अनुसार भी यह निश्चित है कि मनुष्यकी सर्वविध उन्नतिके लिये उसका उत्साह अत्यन्त सहायक होता है। यह उत्साह विशेष महत्त्वपूर्ण कर्तव्योंका उपस्थिति या शक्तिसे दृढ़ एव सक्रिय होता है। व्यक्तिको स्वयंकी वर्तमान शक्तिका ज्ञान हृदयमें अद्भुत बल दिलाता

१-पितैवोपनयेत् पुत्रम् (नि० सि० १९५ पृष्ठ प्रयोगरत्नोक्ति)।

२-पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजा । उपनयेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे पर पर ॥ (वी० मि० सं०प्र० पृ० ४०७) इत्यादि।

३-वी० मि० संस्कारप्रकाश, मधातिथिवचन (पृ० ३३६)।

४-सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च। विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्॥ (वी० मि० सस्कारप्रकाश, कात्यायनोक्ति पृ० ४२२)

५-लक्षं तु चतुरो वेदा (च० व्यू० खं० ५)।

६-उपवीतं वटोरेकम् (वी० मि संस्कारप्रकाश भृगुवचन पृ० ४२१)।

७-यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतन्तुकम् (वी० मि० संस्कारप्रकाश, देवलोक्ति पृ० ४१६)।

है। इसे हम आत्मगौरव कहते हैं। इस अपनी शक्ति या स्वरूपको न समझना ही अपने अस्तित्वको खोना होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार उपनीत वेदाध्यायी ब्रह्मचारी बालकको इन नौ तन्तुओके उपवीतद्वारा उसके सस्कारोंकी प्रतिक्षण स्मृति दिलाकर अदम्य उत्साह दिया जाता है। ये नौ तन्तु तीन-तीन मिलकर तीन सूत्रामे उपस्थित रहते हैं[१]। तीन सूत्र भी नौ सस्कारामे किसी विशेषताके ज्ञापक हैं। वे सस्कारोके तीन त्रिकामे विभक्त होनेका निर्देश करते हैं। प्राथमिक त्रिक अर्थात् गर्भाधान पुसवन एव सीमन्तोन्नयन गर्भदशाके सस्कार हैं। दूसरा त्रिक—जातकर्म नामकरण एवं निष्क्रमण स्तन्यजीवनदशाके सस्कार हैं। तृतीय त्रिक—अन्नप्राशन, चूडाकरण तथा कर्णवेध अन्नाधारदशाके सस्कार हैं।

समावर्तन-सस्कारमें द्वितीय यज्ञोपवीत भी धारणीय होता है[२]। यह भी पूर्वकी भाँति विशेष स्मारक है। प्रथम सूत्रके तीन तन्तु ब्रह्मचर्य वेदारम्भ एव केशान्त—इन ब्रह्मचर्याश्रमके तीन सस्कारोके द्योतक हैं। द्वितीय सूत्रके तीन तन्तु गृहस्थाश्रमके समावर्तन, विवाह एव अग्निपरिग्रह—इन तीन सस्कारोंके निर्देशक हैं। तृतीय सूत्रके तीन तन्तुआमेसे एक चरम (सोलहवें) सस्कारका परिचायक है तथा अन्तिम दो तन्तु अग्निपरिग्रहके अनन्तर क्रियमाण हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ-सस्थाआंके सूचक हैं, अथवा इन्हे पुरुषत्वका परिचायक भी माना जा सकता है। पुस्त्वके प्रादुर्भाव या विकासके लिये द्वित्वकी सख्या आवश्यक है। पौरुषकी परीक्षा द्वित्व अर्थात् दूसरे प्रतिद्वन्द्वीके रहनेपर ही हो सकती है, इसी कारण स्मृतिग्रन्थोंमे पुत्रप्राप्तिके लिये युग्मरात्रियाम ही अभिगमनका विधान किया गया है[३]।

ब्राह्मण-ग्रन्थाकी परिभाषाके अनुसार यज्ञोपवीत त्रिवृत् है। त्रिवृत् नौ सख्याका बोधक है[४] परतु त्रिवृत्की नौ सख्या तीन त्रिकोम ही विभक्त होना चाहिये जिस प्रकार यह यज्ञोपवीतमे होती है। त्रिवृत् एक स्तोम है यह स्तोम अग्निदेवताका है[५]। अग्नि और ब्राह्मण जगद्बीज पुरुषके मुखकी सृष्टि हैं, अत सजात हैं[६]। इस कारण अग्नि ब्राह्मणोंसे अधिक सम्बन्ध रखता है। इसे श्रुति 'आग्नेयो वै ब्राह्मण ' द्वारा प्रतिपादित करती है[७]। ब्राह्मणको ब्रह्मवर्चसी होना चाहिये[८]। ब्रह्मवर्चस्की अग्निके साथ तुलना की जाती है। इसलिये ब्रह्मवर्चस्की प्राप्ति, अग्निकी समानता एव त्रिवृत् स्तोमकी विशेष उपासनाकी द्योतना कराने-हेतु यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। शास्त्रोंमे इसीलिये ब्रह्मचारीको नित्य अग्निकी परिचर्याका उपदेश दिया गया है[९]। समावर्तनके बाद श्रौत एव स्मार्त (सभ्य एव गार्हपत्य) अग्नियोकी नित्य स्थिति एव उपासना होती है। इसी दृष्टिसे दूसरे यज्ञोपवीतके भी सर्वदा धारण करनेका विधान है।

यज्ञोपवीतद्वारा अर्थशास्त्रको भी परिलक्षित किया गया है। अर्थशास्त्रमे दो शास्त्राका सग्रह कहा जा सकता है—वार्ता तथा दण्डनीति। वार्ताशास्त्र प्रधानतया वैश्यवर्गके लिये अध्येतव्य एव उपकारक है। वार्ताशास्त्रका विषय पशुपालन कृषि एव वाणिज्य है[१०]। ये तीनो ही कर्म भारतीय दृष्टिस वैश्यवर्गकी आजीविका कहे गये हैं। वार्ताशास्त्र अर्थशास्त्रका एक विशेष सहायक प्रकरण है। आचार्य चाणक्यके अनुसार वार्ताशास्त्र अन्न, पशु, सुवर्ण, सेवक आदिकी प्राप्ति करानेके कारण राजाका उपकारक है। वार्ताशास्त्रके द्वारा राजा अपन पक्षको समृद्धि-विधायक उपायासे वशीभूत कर सकता है[११]। वार्ताशास्त्रके तीन मुख्यतम विषयाका स्मरण एक यज्ञोपवीतके तीन सूत्रासे हो रहा हैं। द्वितीय यज्ञोपवीत अर्थशास्त्रके दूसरे प्रकरण दण्डनीतिकी तीन सिद्धियाका स्मारक है। इन तीना सिद्धियाकी पूर्णप्राप्तिका समुचित उपाय ही दण्डनीतिमें बतलाया गया है। अथवा लाकस्थितिके लिये राजाद्वारा निर्णेतव्य अष्टादश विवादस्थानोंको यज्ञापवीतके अठारह तन्तुआद्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

कामशास्त्रके रहस्य-परिचायनकी दृष्टिसे भी एक यज्ञोपवीत पुरुष एव दूसरा स्त्रीके शासनाका उपदशक है। वात्स्यायनक अनुसार पुरुष एव स्त्राके प्रमाण भाव एव काल—ये तीन प्रासगिक वर्ग होते हैं। प्रत्यक वर्गमे भी तान अवान्तर भेद

१-अधोवृतैस्त्रिभि सूत्रै (वी० मि० संस्कारप्रकाश दत्तात्रेयवचन पृ० ४१६)।
२-स्नातकानां द्वितीयं स्यात् (वी० मि० संस्कारप्रकाश वसिष्ठवचन पृ० ४२१)।
३-म० स्मृ० (३। ४८)। ४-जै० न्या० मा० (१। ३। ५)। ५-अग्निर्वै त्रिवृत् (तै० १। ५। १०। ४)।
६-मा० सं० (३१। ११-१२)। ७-तै० (२। ७। ३। १)। ८-मा० सं० (२२। २२)।
९-अग्नीन्धनं भैक्षचरणे (गौ०ध० १। २। १२)। १०-कृषिपशुपाल्ये वणिज्या च वार्ता (कौ० अ० ४। १)।
११-धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी। तया स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम् (कौ० अ० ४। ¬

हैं। प्रत्येक वर्ग सूत्र-रूपसे तथा उनके भेद तन्तुरूपसे यज्ञोपवीतमें द्योतित होते हैं। इस दृष्टिमें सम्पूर्ण यज्ञसूत्रकी ९६ चतुरगुल दीर्घता (चौवा) भी, वात्स्यायन-प्रोक्त आठ अङ्गाके भेदोका परिचायक है।

उपर्युक्त गवेषणासे यह स्पष्ट है कि यज्ञोपवात भारतीय सस्कृतिकी समग्रताका पूर्ण परिचायक है।

गायत्री-उपदेश—उपवीत धारणके अनन्तर बालकका अभिभावक उसे योग्य गुरुकी शरणमे पहुँचा देता है। गुरु उसे योग्य अधिकारी समझकर गायत्री-मन्त्रका उपदेश करते हैं। बालक अपनी योग्यताकी परीक्षा गुरुकुलम संरक्षणसे लेकर एक वर्षके भीतर समाप्त कर लेता है। यदि गुरु उसे गुरुकुलमें जानेके समय ही मन्त्रोपदेशका अधिकारी समझ लेते हैं तो उसी समय गायत्री-मन्त्रका उपदेश कर देते हैं। अन्यथा तीन दिन छ दिन, बारह दिन या छ मास अथवा बारह मासमे उसे उपदेश प्राप्त होता है। उपनयनका शुभ मुहूर्त ज्योतिष शास्त्रद्वारा निश्चित किया जाता है। तदनुसार शुभ लग्नमें गायत्री-मन्त्रका उपदेश दिया जाता है। संस्कारके अन्य कार्य अङ्गभूत हैं। अत उनम विशेष रूपसे लग्नका विचार नहीं किया जाता।

मन्त्रपरिचय—शुभ लग्नमें योग्य गुरुद्वारा परीक्षित शिष्यको जो मन्त्र नामक अक्षर-समुदाय प्राप्त होता है वह विशेष शक्तिसे सम्पन्न होता है। उसी मन्त्रको पुस्तकोमे देखकर, असमयमे ग्रहण करके या गुरुसे प्राप्त कर अभ्यास किया जाय एव अनुष्ठान आदि वैध प्रयोग किये जायँ तो वे शास्त्राके दृढ सिद्धान्तके अनुसार कल्याणकारक नहीं हो सकते। क्रियासारम बतलाया गया है कि जो मूर्ख मनुष्य प्रयोगपद्धतिसहित मन्त्रको पुस्तकसे देखकर उसके आधारपर ही जप करता हैं उसके मूलका हो नाश होता है। फलकी बात ही दूर है[1]। भगवान् शङ्करका वचन है कि जा अज्ञ गुरुके उपदेशके बिना ही पुस्तक चित्र आदिको देखकर जप करता है, वह बन्धन एव पापका भागी बनता है[2]।

जिस प्रकार पदपर आसीन अधिकारीद्वारा प्रदत्त वैध आदेश या उपदेश ही माननीय एव करणीय होता है उसी प्रकार शास्त्रोक्त निश्चित योग्य ब्राह्मण गुरुद्वारा उपदिष्ट मन्त्र एव आदिष्ट विधान ही कल्याणकारक होता है। जैसे अनधिकृत व्यक्तिका अवैध आदेश या उपदेश लोकम भी आदरणीय या अनुशीलनीय नहीं होता एव स्वतन्त्र कर्तव्य लाकहितकारक होनेपर भी शासन-नियमके बहिर्भूत होनेके कारण लाभप्रद न होकर कष्टप्रद ही होता है, उसी प्रकार शास्त्रोक्त अनधिकृत ब्राह्मणेतर व्यक्ति या पुस्तकादिसे उपदिष्ट प्राप्त मन्त्र भी अनादरणीय एव अनुशीलनीय होते हैं। शास्त्रमर्यादाके व्यतिक्रम करनेके कारण मन्त्रदाता एवं ग्रहणकर्ताके लिये लाभ-प्राप्तिके स्थानपर हानिप्रद ही है। मन्त्रापदेश करनका अधिकार ब्राह्मणको ही है। इसके लिये शास्त्रोमे सर्वत्र निर्देश दिये गये हैं[3]।

उपनयनका वर्तमान स्वरूप—उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतम शिक्षण-व्यवस्थाको महनीय बनाने-हेतु उपनयन-सस्कारकी भावात्मक विशिष्ट व्यवस्था की गयी थी। उपनयन एवं तदनन्तर ब्रह्मचर्याश्रमद्वारा अध्येतामे तेजस्विता, बुद्धि एव ज्ञानका पर्याप्त विकास होता था। वर्तमान समयम उपनयन-सस्कारकी व्यवस्था समाप्त हो चली है। किन्हीं-किन्हीं आस्तिक कुलामे बालकका उपनयन-सस्कार किसी तीर्थक्षेत्रमे जाकर अथवा घरमें ही सम्पन्न कराया जाता है परंतु ब्रह्मचर्याश्रममें बालकको रखनेकी परम्परा मूलरूपसे विच्छिन्न हो चुकी है। उपनयन-सस्कारमे यज्ञोपवीत-धारण एव गायत्री-उपदेशके अनन्तर तत्काल समावर्तन-सस्कार कराकर बालकका गृहस्थाश्रममे प्रवश करा दिया जाता है। युगके परिवर्तित परिवेशम यह उचित ही है। भविष्यको ध्यानमें रखते हुए शास्त्रकाराने इसे अनुमति भी दी है[4]। भारतीय त्रैवर्णिक यदि उपनयनके वर्तमान स्वरूपका भी निर्वाह कर सक तो उन्हें प्राचीन सस्कृतिकी रक्षाका विशिष्ट श्रेय प्राप्त होगा।
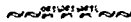
१-कल्पे दृष्टा तु यो मन्त्रं जपत तु विमूढधी । मूलनाशा भवत् तस्य फलमस्य सुदूरत ॥ (स० स० ५१४)

२-गुरुं विना यस्तु मूढ पुस्तकादिविलाकनात्। जपेद् बन्धं समाप्नोति किल्बिषं परमेश्वरि॥ (स० स० ५१४)

३-द्रष्टव्य—नि० सि० पृ० १९५।

४-(क) युग युगे तु दीक्षासीदुपदेश कलौ युगे। चन्द्रसूर्यग्रह तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेश स उच्यते॥ (प० सि० पृ० १८८)

(ख) अनुपाकृतमन्त्रस्य कर्तव्या ब्रह्मयज्ञक । वेदस्थाने तु सावित्री गृह्यते तत्समा यत ॥ (नि० सि० पृ० १९७ जैमिनि)

तैत्तिरीय आरण्यकमे विहित वेद-सकीर्तन

(श्रीसुब्राय गणेशजी भट्ट)

'वेद' श्रीभगवान्के श्वास-प्रश्वाससे उद्भूत पवित्र मन्त्रोंके समुदाय हैं। 'मन्त्रात्मानो देवता'—विष्णु-रुद्र आदि देवगण मन्त्रोंकी आत्मा कहे गये हैं। प्रकारान्तरसे प्रत्येक वेदमन्त्र देवताओंके नाम-गुण-कीर्तनसे युक्त हैं। यों तो सभी वेदाक्षर विष्णु-नाम-रूपमय हैं— यावन्ति वेदाक्षराणि तावन्ति हरिनामानि' (सिद्धान्तकौमुदी)। इस प्रकार एक बार एक वेदका पूर्ण पाठ कर तो कई लाख हरिनाम स्मृत हो जायँगे। अत ब्रह्मचारीको उपनयनके बाद प्रतिदिन वेदाध्ययन अवश्य करना चाहिये क्याकि वेदपाठको श्रुतिमे स्वाध्याय या ब्रह्मयज्ञ नामसे अभिहित किया गया है—

ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाण प्राच्या दिशि ग्रामादच्छदिर्दर्श उदीच्या प्रागुदीच्या वोदित आदित्ये दक्षिणत उपवीयोपविश्य"" दर्भाणा महदुपस्तीर्योपस्थ कृत्वा""दक्षिणोत्तरौ पाणी पादौ कृत्वा। (तै० आ० २। ११)

विद्वान् गृहस्थको प्रतिदिन प्रात काल सूर्योदयके बाद पूर्व, उत्तर या ईशान दिशाकी ओर गाँवसे बाहर (जहाँतक जानेसे घरका छत न दिखायी पडे) जाकर दर्भासनपर प्राङ्मुख या उदङ्मुख बैठकर बाये पैरके ऊपर दाहिना पैर और बायें हाथके ऊपर दाहिना हाथ रखकर ब्रह्मयज्ञ करना चाहिये। 'मध्याह्ने प्रबलमधीयीत'—दोपहरमें ऊँचे स्वरसे वेदपाठ करना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन गाँवसे बाहर जाकर ब्रह्मयज्ञ करना बहुत सरल है।

नियमोकी कठिनाईके कारण जब ब्रह्मचारिगण प्रतिदिन अधिक वेदपाठ करनेमें असमर्थ हो गये तब शुचि नामक महर्षिके पुत्र शौच और अहि माताके पुत्र आहेय—दोनोने ब्रह्मयज्ञके नियमामे परिवर्तन किया—

ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्त वा इति ह स्माऽऽह शौच आह्नेय उतारण्येऽबल उत वाचोत तिष्ठन्नुत व्रजन्नुताऽऽसीन उत शयानोऽधीयीतैव स्वाध्याय तपस्वी पुण्यो भवति॥ (तै० आ० २। १२)

'अशक्त हों तो घरपर ही रहकर दिन और रात दोनों समय मानसिक पाठ कर सकते हैं। सशक्त हों तो अरण्यमें बैठकर, उठकर, भ्रमण करते हुए, सोकर, मनसे ऊँचे स्वरसे या किसी स्वरसे ब्रह्मयज्ञ करना ही चाहिये'—ऐसा क्रम बतलाया। तबसे ब्रह्मयज्ञको सकीर्तनका स्वरूप प्राप्त हुआ वेद-भक्तोको तृप्तिका अनुभव होने लगा और तन्मयता आने लगा—

य एव विद्वान् महारात्र उषस्युदिते व्रज॰स्तिष्ठन्नासीन शयानोऽरण्ये ग्रामे वा यावत्तरस॰ स्वाध्यायमधीते सर्वाँल्लोकान् जयति सर्वाँल्लोकाननृणोऽनुसचरति। (तै० आ० २। १५)

तन्मयता आनेके बाद महात्मा लोग नि मकाव मध्यरात्रिमे उषाकालमे, सूर्योदयके बाद आते-जाते खडे होकर, बैठकर, जमीनपर पडकर वनमे या गाँवमे जितना हो सका ऊँचे स्वरसे ब्रह्मयज्ञ करने लगे और चौदह लोकोमें विजय प्राप्त करके विचरण करने लगे।

वेदके अनध्याय कालके सम्बन्धमे तैत्तिरीय आरण्यक (२। १४)-मे ही कहा गया है—

य एव विद्वान् मेघे वर्षति विद्योतमाने स्तनयत्यवस्फूर्जति पवमाने वायावमावास्याया॰ स्वाध्यायमधीते तप एव तत्तप्यते तपो हि स्वाध्याय इति।

श्रावण-भाद्रपदमे अमावास्याके आस-पास आकाश घने मेघासे आच्छादित होता है। मेघाके परस्पर आकर्षणसे स्फोट होकर प्रचण्ड शब्द होता है। तब प्रचण्ड पवनका भी आगमन होकर शब्द बढता है विद्युत् चमकती है। ऐसे समयमें वेदपाठ वर्जित है। मनुस्मृति (४। १०३)-में उल्लेख है—

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्काना च सम्प्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत्॥

स्वाध्याय महान् तप है पर सदा सकीर्तन करनेवाले भी परम धन्य हैं कृतकृत्य हैं—यदि शरीरमे रोमाञ्च एव गद्गद स्वर हो जाय आँखोसे आँसू बहने लगे। प्रतिपत्, अष्टमी पूर्णिमा, अमावास्याकी तिथियोको अनध्यायका नियम है। इन तिथियोमे वेदका अध्ययन निषिद्ध है पर ब्रह्मयज्ञ स्तुति-कीर्तनादि निषिद्ध नहीं है। सायणाचार्यने वेद-भाष्यमे लिखा है—'ग्रहणाध्ययने यान्यनध्यायकारणानि तानि ब्रह्मयज्ञाध्ययने स्वाध्यायं न निवारयन्ति'। इस प्रकार अनध्याय आदिके समय भी सकीर्तन सदा चलता है। पुराण-पाठ भी चलते हैं।

सकीर्तनमे तुरीयावस्थामे पहुँच जानेके बाद पहलेके विधि-नियम काल-नियम, आसनादि नियम भी गौण हो जाते हैं किंतु कीर्तन-स्थान एव कर्ताका शुद्ध रहना चाहिये—इन दो बातोपर ध्यान रखना अनिवार्य है—'तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदाऽऽत्माशुचिरशुचिश्च देश।' अत भगवन्नाम-सकीर्तन ही सार्वकालिक शरण है।

वैदिक वाङ्मयमे पुनर्जन्म

(श्रीरामनाथजी सुमन)

पुनर्जन्म हिंदूधर्मका प्रधान विश्वास है। यही एक बात उसे इस्लाम तथा ईसाई धर्मसे भिन्न भूमिका प्रदान करती है। पुनर्जन्मका यह विश्वास सिद्धान्त-रूपसे अत्यन्त प्राचीन है और हिंदू-ज्ञानका समस्त स्रात वैदिक होनेके कारण वैदिक वाङ्मयमें उसके सूत्र बिखरे हुए हैं। उपनिषद् ता ऐसी कथाआसे ओतप्रोत हैं जिनसे पुनर्जन्म-सिद्धान्तमें हमारे विश्वासकी पुष्टि होती है, किंतु वेदोमें भी कुछ कम प्रमाण नहीं हैं—

असुनीते पुनरस्मासु चक्षु पुन प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया न स्वस्ति॥
पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्न सोमस्तन्वं ददातु पुन पूषा पथ्यां या स्वस्ति ॥

(ऋक्० १०।५९।६-७)

इनमें परमात्माकी 'असुनीति' सज्ञासे स्पष्ट किया गया है कि वह प्राणरूप जीवको भोगके लिये एक देहसे दूसरी देहतक ले जाता है। उस 'असुनीति' परमात्मासे प्रार्थना है कि वह अगल जन्मामें भी हमें सुख दे और ऐसी कृपा कर कि सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि हमारे लिये कल्याणकारी सिद्ध हों।

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभि ।
आयुर्वसान उप वेतु शेष सं गच्छतां तन्वा जातवेद ॥

(ऋक्० १०।१६।५)

—इस मन्त्रम ऋषि कहते हैं कि मृत्युक उपरान्त जब पञ्चतत्त्व अपने-अपनेमे मिल जाते हैं, तब जीवात्मा बच रहता है और यह जीवात्मा ही दूसरी देह धारण करता है।

अथर्ववेद तो ऐसे मन्त्रासे परिपूर्ण है जिनस पुनर्जन्मकी समस्यापर किसी-न-किसी रूपमें प्रकाश पडता है। कहीं अगले जन्ममें विशिष्ट वस्तुएँ पानेक लिय प्रार्थना है कहीं स्पष्ट कहा गया है कि पूर्वजन्मक अच्छे-बुरे कर्मोंके अनुसार ही जीवात्मा नवीन योनियोंम शरीर धारण करता है। कर्मानुसार पशुयोनिमें जन्म लेनेका भी उल्लेख इन मन्त्राम पाया जाता है—

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव॥

(अथर्व० ७।६७।१)

—इसम अगले जन्ममे कल्याणमयी इन्द्रियोकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना है।

आ यो धर्माणि प्रथम ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥

(अथर्व० ५।१।२)

—इसमें ऋषि कहते हैं कि पूर्वजन्मकृत पाप-पुण्यका भोगी जीवात्मा है और वह पिछले जन्ममे जो पाप-पुण्य किये रहता है उसीके अनुसार अच्छे-बुरे शरीर धारण करता है। अच्छा कर्म करनेवाला अच्छा शरीर धारण करता है और अधर्माचरण करनेवाला पशु आदि योनियोमे भी जन्म लेता है।

आत्मा तो नित्य है, किंतु कर्मकी प्रेरणावश ही पिताद्वारा पुत्र-शरीरम प्रविष्ट होता है। वही जीवात्मा प्राण है और वही गर्भमें जलीय तत्त्वोसे आवेष्टित पडा रहता है—

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूत स उ जायते पुन ।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभि.॥

(अथर्व० ११।४।२०)

'जायते पुन ' शब्द बहुत ही स्पष्ट रूपसे पुनर्जन्मकी घोषणा करता है।

यजुर्वेदक कुछ मन्त्र लीजिय—

पुनर्मन पुनरायुर्म आऽगन् पुन प्राण पुनरात्मा म आऽगन् पुनश्चक्षु पुन श्रोत्र म आऽगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्न पातु दुरितादवद्यात्॥

(४।१५)

—इसम फिरसे जीवात्माके आगमनकी बात स्पष्ट रूपस कही गयी है। इतना ही नहीं आगे चलकर तो कर्मगतिका भी विश्लेषण है और बताया गया है कि उसीके अनुसार कुछ लाग मुक्त हो जाते हैं तथा दूसर मर्त्यपुरुष बार-बार जन्म लते रहते हैं—

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामह देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥
(यजु० १९।४७)

जहाँ पहलेके उद्धृत मन्त्रोंमें जीवात्माके पश्वादि योनियोंमें जन्म लेनेकी ओर संकेत मिलता है, वहाँ यजुर्वेदमें इसका भी उल्लेख प्राप्त है कि जीवात्मा न केवल मानव या पशु योनियोंमें जन्म लेता है, अपितु जल, वनस्पति, ओषधि इत्यादि नाना स्थानोंमें भ्रमण और निवास करता हुआ बार-बार जन्म धारण करता है—

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे।
गर्भे सञ्जायसे पुनः॥
गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि॥
प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरा ऽसदः॥
पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याꣳ शिवतमः॥
(यजु० १२।३६—३९)

यजुर्वेदके अन्तिमांशमें तो यह भी कहा गया है कि मनुष्यको अपने कर्मोंके अनुसार ही आगे जन्म धारण करना होगा। इसलिये जब मृत्यु सामने खड़ी हो और पञ्चतत्त्व-निर्मित शरीरके भस्मावशेष होनेका समय आ जाय तब उसे अपने कर्मोंका स्मरण करना चाहिये—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳ स्मर॥
(यजु० ४०।१५)

हमारे प्राचीन वाङ्मयमें यम और नचिकेताका संवाद प्रसिद्ध है। नचिकेता प्रसिद्ध ऋषि वाजश्रवसका पुत्र था। जब वाजश्रवसके संन्यास ग्रहण करनेका समय आया तब सर्वमेध यज्ञ करनेके पश्चात् वे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिका वितरण करने लगे। तब पुत्र नचिकेताके मुँहसे कहीं निकल गया कि 'सब चीजें आप दे रहे हैं तो मुझे किसको देंगे?' कुछ अटपटा-सा प्रश्न था इसलिये पिताने उसपर ध्यान नहीं दिया—समझा बालक है यों ही कहता होगा। वे बँटवारेके काममें लगे रहे। उधर बालक नचिकेता बार-बार वही प्रश्न पूछने लगा। इससे खीझकर वाजश्रवसने कह दिया—'मृत्यवे त्वा ददामीति'—'तुझे मृत्युको दूँगा।' कहनेको कह दिया, परंतु पिता ही थे दुःख और पश्चात्तापसे हृदय भर आया। नचिकेता पिताको दुःखी देखकर बोला—'आप दुःख क्या करते हैं? यह शरीर तो धान्यकी भाँति मरता है और उसीकी तरह पुनः उग आता है'—'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः' (कठ० १।१।६)। बालकका बहुत आग्रह देखकर पिताने पुत्रको मृत्यु-विषयक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आचार्य यमके पास भेज दिया। नचिकेता जब यमके आश्रममें पहुँचा, तब वे कहीं बाहर गये हुए थे। तीन दिन बाद लौटे। उन्हें यह जानकर बड़ा क्लेश हुआ कि हमारे यहाँ अतिथिरूपमें आकर भी नचिकेता तीन दिनोंका भूखा है। उसके परिमार्जनके लिये उन्होंने कहा—'तुम मुझसे तीन वर माँग सकते हो।'

नचिकेताने और वरोंके साथ तीसरे वरके रूपमें आत्मतत्त्वका रहस्य जानना चाहा। उसने पूछा—'आत्माकी सत्ता है या नहीं?'—'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' (कठ० १।१।२०)। यमने सोचा था कि बालक धन-धान्य पुत्र-पौत्र दीर्घायु इत्यादिकी याचना करेगा किंतु उसने तो एक रहस्यका ज्ञान माँगा। उन्होंने बालकको बहुत समझाया कि 'अपने मतलबके भोग्य पदार्थ माँग ले जो माँगेगा मैं दूँगा किंतु यह प्रश्न गहन है और तेरे किसी कामका भी नहीं है।'

किंतु नचिकेता तो अपने मनके संशयको दूरकर शुद्ध ज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशित होना चाहता था इसलिये उसने विनीत भावसे कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥
(कठ० १।१।२६ २९)

नचिकेता कहता है कि 'मैं तो बस उसी आत्मतत्त्वका

रहस्य जानना चाहता हूँ, जिसके बारेम तरह-तरहके सशय—सदेह उठा करते हैं, जिसके विषयमे कई कहते हैं कि मृत्युके बाद भी बचा रहता है, कई कहते हैं कि नहीं बचता। मुझे निर्णय करके बताइये कि वह क्या नित्य है और मृत्युके बाद भी रहता है या नहीं रहता।'

इसके बाद यमने नचिकेताको आत्मतत्त्वका रहस्य समझाते हुए उसकी विशद व्याख्या की है। अपनी व्याख्यामें यम कहते हैं कि 'जो व्यक्ति इसी लोकके भोगोमें डूबे रहते हैं, उनका बार-बार जन्म होता है। किंतु जो आत्माको नित्य समझ परलोकका ध्यान रखकर सत्कार्य करते हैं, वे जन्म-मरणके बन्धनसे छूट सकते हैं।' फिर यम आगे कहते हैं—

हꣳस शुचिषद् वसुरन्तरिक्षस-
द्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा
गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥
(कठ० २।२।२)

त विद्याच्छुक्रममृत विद्याच्छुक्रममृतम्॥'
(कठ० २।३।१७)

यह हस' (जीवात्मा) अन्तरिक्षमें, परमात्मामें, हृदयाकाशमें रहता है यज्ञ करता है पृथिवीपर जन्म लेता है, परतु यह शरीरमे अतिथि-मात्र है।—— यह स्वय अमर है।

उत्तरके अन्तमे यमने यह भी कहा है कि 'तर्क यहाँतक नहीं पहुँच सकता'—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ० १।२।९)—उसे निश्चित जानो और वह है, यही समझो।

उपनिषद् और गीतामे तो पुनर्जन्मका स्पष्ट निर्देश बार-बार आता है। शास्त्रग्रन्थोमे वैदिक उक्तियोपर तर्कसम्मत विवेचन भी प्राप्त है। पुराणोमे इसका और भी विशद विश्लेषण-विवेचन मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदके ऋषियोने पुनर्जन्मके जिस सत्यको सूत्रवत् कहा था, बादके हिंदू-धर्मग्रन्थोमें उसकी अभिवृद्धि होती गयी है। आर्यधर्म—हिंदूधर्म पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्तके जिस मूलाधारपर खड़ा है वैदिक वाङ्मयसे आजतक बराबर उसकी पुष्टि होती आयी है।

वेदमे योगविद्या

(श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)

सभी धर्म-कर्म योग, ज्ञान वैराग्य तथा भक्ति आदि सत्कर्म वेदोद्वारा निर्दिष्ट हैं और उनसे ही नि सृत माने गये हैं। यहाँतक कि भविष्यमे होनेवाले ज्ञान-विज्ञान तथा कला-साहित्य आदिका भी वेदोमे उत्स प्राप्त है—

'भूतं भव्य भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥'
(मनु० १२। ९७)

यहाँ संक्षेपमे योगमूलक कुछ वैदिक मन्त्रोका निर्देश किया जा रहा है। 'योग' शब्दका अर्थ है जोड़ना अथवा युक्त करना समाहित अथवा एकाग्र होना। अपने आत्माको परमात्माके साथ युक्त करना ही 'योग' है और जिस साधनसे इस प्रकारका योग एव सायुज्य प्राप्त होता है वह भी 'योग' कहलाता है। योग-भाष्यके रचयिता महर्षि व्यास कहते हैं कि पूर्ण एकाग्रतासे परमात्मामे समाहित हो जाना समाधिकी अवस्था प्राप्त कर लेना भी योग है। अर्थात् 'योग' शब्द साधन और साध्य दोनोका वाचक है।

ऋग्वेदके एक मन्त्रमे यह शब्द इन्हीं अर्थोमें प्रयुक्त हुआ है—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥
(१। १८।७)

अर्थात् जिन (इन्द्राग्नि) देवताके बिना प्रकाशपूर्ण ज्ञानीका जीवन-यज्ञ भी सफल नहीं होता उसीमें ज्ञानियोंको अपनी बुद्धि एव कर्मोंका योग करना चाहिये उसी देवमें उन्हे अपनी बुद्धि और कर्मोंका अनन्यरूपमें एकाग्र करना चाहिये। उनकी बुद्धि उस देवके साथ तदाकार हो जाती है और वह उनके कर्मोमे भी ओतप्रोत हो जाता है।

यागके इस प्रधान लक्षणका प्रतिपादन यजुर्वेदके ११वे अध्यायके प्रथम पाँच मन्त्राम अत्यन्त स्पष्ट और सरल शब्दामें किया गया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

युञ्जान प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धिय ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरत्॥

सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपन दिव्य स्वरूपमें लगायें तथा अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओकी, जो विषयोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उसे दृष्टिमे रखते हुए बाह्य विषयोसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोमे स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियोका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामे सहायक हो।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितु सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या॥

हम लोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें। अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्प्राप्ति-जनित अनुभूतिके लिये पूर्णशक्तिसे प्रयत्नशील रहें।

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योति करिष्यत सविता प्र सुवाति तान्॥

वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियाके अधिष्ठाता देवताओको जो स्वर्ग आदि लोकोंमे एव आकाशमें विचरनेवाले तथा बड़ा भारी प्रकाश फैलानेवाले हैं। हमारे मन और बुद्धिसे सयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये प्रकाश फैलाते रहे। निद्रा आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोप हमारे ध्यानम विघ्न न कर।

इसी प्रकार ऋग्वेद (१।८६।९-१०)-म कहा गया है—

यूय तत् सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना।
विध्यता विद्युता रक्ष ॥
गूहता गुह्य तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥

—इन मन्त्रोम गौतम ऋषि मरुत्-देवताआका आवाहन कर उनसे ज्योति-प्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं—'हे सत्यके बलसे सम्पन्न मरुता! तुम्हारी महिमासे वह परमतत्त्व हमारे सामने प्रकाशित हो गया। विद्युत्‌के सदृश अपने प्रकाशसे राक्षसका विनाश कर डालो। हृदय-गुहामे स्थित अन्धकारको छिन्न-भिन्न कर दो जिससे वह अन्धकार सत्यकी ज्योतिकी नावमें डूबकर तिरोहित हो जाय। हमारी अभीष्ट ज्योतिको प्रकट कर दो।'

यहाँ मरुत्-दवताआसे यागपरक अर्थ करनेमें पञ्चप्राण—प्राण, अपान समान उदान और व्यानका भी ग्रहण हो सकता है। इनपर पूर्णप्रभुत्वकी प्राप्तिसे यागाभ्यासीको शक्तिके आरोहणका अनुभव और परमतत्त्वका साक्षात्कार प्राप्त होता है। साक्षात्कारसे जिस ज्योतिके दर्शन होत हैं, वही योगीका अभीष्ट ध्येय है।

अथर्ववेदके एक मन्त्रमे राजयोगकी प्राणायाम-प्रणालीसे होनेवाली शक्तिके आराहणका वर्णन प्रतीकात्मक भाषामें किया गया है।

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ (४। १४। ३)

—इस मन्त्रमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ क्रमश अन्न प्राण और मनकी भूमिकाआके प्रतीक हैं तथा स्वर्ज्योति मन और वाणीस परे स्थित, वाङ्मनस-अगोचर विज्ञानमय भूमिकाका प्रतीक है। प्राणायामसे सिद्धिप्राप्त साधक कहता है 'मैंने पृथ्वीके तलस अन्तरिक्षके लिय आरोहण किया अन्तरिक्षस द्युलोकमें और आनन्दमय द्युलोकस आरोहण करक मैं स्वर्लोकके ज्योतिर्मयधाममें पहुँच गया।' पातञ्जलयाग-दर्शनके अनुसार ये भूमिकाएँ विक्षिप्त असम्प्रज्ञात और कैवल्य कहलाती हैं।

चेतनाक उत्तरात्तर आरोहणक्रमम योगीका जा अनुभूतियाँ होती हैं उनका वेदाम अनकत्र वर्णन किया गया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या।
तस्या हिरण्यय कोश स्वर्गो ज्यातिषावृत ॥
(अथर्व० १०। २। ३१)

इस मन्त्रमें यह कहा गया है कि 'आठ चक्रा आर नौ द्वारासे युक्त हमारी यह दहपुरी एक अपराजय दवनगरी है। इसम एक तेजस्वी कोश है जा ज्याति आर आनन्दमे परिपूर्ण है।

वैदिक याग-साधनाका ध्येय है आत्माका परमात्माके साथ ऐक्य। उसक लिये साधककी अभीप्सा निम्नलिखित मन्त्रमें सुन्दर ढगसे व्यक्त की गयी है—

यदग्ने स्यामह त्व त्व वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिष ॥

(ऋक्० ८। ४४। २३)

अर्थात् 'हे अग्निदेव! यदि मैं तू हो जाऊँ अर्थात् सर्वसमृद्धिसम्पन्न हो जाऊँ या तू मैं हो जाय तो इस लोकमें तेरे सभी आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जायँ।'

इस प्रकार यहाँ वेदमन्त्रोंके आधारपर याग-सम्बन्धी कुछ रहस्यात्मक तत्त्व सक्षेपमें निर्दिष्ट किये गये हैं। प्राचीन या अर्वाचीन सभी योगमार्ग वेदमूलक ही हैं, जो वेदामे योगके कल्याणके लिये निर्दिष्ट हुए हैं। इस सूक्तके उपदेशोंके आधारपर प्राणिमात्रके प्रति मैत्री-भावना और समदृष्टिका अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास सिद्ध हो जानेपर अपने हृदयके सभी भावोंको भगवान्की ओर ही प्रेरित कर सभी सासारिक सम्बन्धो और अलौकिक सम्बन्धोंको भगवान्के साथ ही जोड दें। अनेक वेदमन्त्रोंमें यह उपदेश दिया गया है कि हमें माता-पिता पुत्र-पुत्री मित्र कलत्र बन्धु-बान्धव आदि सभी सम्बन्ध अपने सच्चे और अनन्यबन्धु भगवान्के साथ ही जोडने चाहिये संसारी जनोंके साथ नहीं। सासारिक आसक्तियोंको दूर करने और भगवान्मे परम अनुरक्ति तथा रति उत्पन्न करनेका इससे सरल एव सरस मार्ग अन्य कोई नहीं है। हृदयके सभी भावो और निखिल कामनाओंको भगवान्की ओर मोड़ देनेसे ही उनके साथ सारूप्य साधर्म्य सायुज्य और ऐकात्म्य सहजतया प्राप्त हो सकता है।

[प्रेषक—श्रीबलरामजी सैनी]

~~~~~

वेदोमे पर्यावरण-रक्षा

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए० पी एच्०डी०)

भारतके मनीषियोंने हजारो वर्ष-पूर्व मानव-जीवनके कल्याणार्थ पर्यावरणका महत्त्व और उसकी रक्षा प्रकृतिसे सानिध्य सवेदनशीलता रोगोंके उपचार तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी अनेक उपयोगी तत्त्व निकाले थे। वेदकालीन समाजमे न केवल पर्यावरणके सभी पहलुओंपर चौकन्नी दृष्टि थी वरन् उसकी रक्षा और महत्त्वको भी स्पष्ट किया गया था। उन लोगोंकी भी दृष्टि पर्यावरण-प्रदूषणकी ओर थी अत उन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्षरूपमें पर्यावरणकी रक्षा की और समाजका ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। वे भूमिको ईश्वरका रूप ही मानते थे। पर्यावरणकी रक्षा पूजाका एक अविभाज्य अङ्ग था जैसा कि कहा भी गया है—

यस्य भूमि प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिव यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥

(अथर्ववेद १०। ७। ३२)

अर्थात् 'भूमि जिसकी पादस्थानीय और अन्तरिक्ष उदरके समान है तथा द्युलोक जिसका मस्तक है, उन सबसे बडे ब्रह्मको नमस्कार है।'

यहाँ परमब्रह्म परमेश्वरको नमस्कार कर प्रकृतिके अनुसार चलनेका निर्देश किया गया है। वेदोंके अनुसार प्रकृति एवं पुरुषका सम्बन्ध एक-दूसरेपर आधारित है। ऋग्वेदमे प्रकृतिका मनोहारी चित्रण हुआ है। वहाँ प्राकृतिक जीवनको ही सुख-शान्तिका आधार माना गया है। किस ऋतुमें कैसा रहन-सहन हो, क्या खान-पान हो क्या सावधानियाँ हो—इन सबका सम्यक् वर्णन है।

ऋग्वेद (७। १०३। ७)-में वर्षा ऋतुको उत्सव मानकर शस्य-श्यामला प्रकृतिके साथ अपनी हार्दिक प्रसन्नताकी अभिव्यक्ति की गयी है—

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्त।
सवत्सरस्य तदह परि ष्ठ यन्मण्डूका प्रावृषीणं बभूव॥

अर्थात् 'जैसे जिस दिन पहली वर्षा होती है, उस दिन मेढक सरोवरोंको पूर्णरूपसे भर जानेकी कामनासे चारों ओर बोलते हैं इधर-उधर स्थिर होते हैं उसी प्रकार हे ब्राह्मणो! तुम भी रात्रिके अनन्तर ब्राह्म मुहूर्तमे जिस समय सौम्य-वृद्धि होती है उस समय वेद-ध्वनिसे परमेश्वरके यज्ञका वर्णन करते हुए वर्षा ऋतुके आगमनको उत्सवकी तरह मनाओ।'

वेदोंमें पर्यावरणको अनेक वर्गोंमें बाँटा जा सकता है।
~~~~~

जैसे—(१) वायु, (२) जल (३) ध्वनि (४) खाद्य और (५) मिट्टी, वनस्पति, वनसम्पदा, पशु-पक्षी-सरक्षण आदि। सजीव जगत्‌के लिये पर्यावरणकी रक्षामें वायुकी स्वच्छताका प्रथम स्थान है। बिना प्राणवायु (ऑक्सीजन)-के क्षणभर भी जीवित रहना सम्भव नहीं है। ईश्वरने प्राणिजगत्‌के लिये सम्पूर्ण पृथ्वीके चारा ओर वायुका सागर फैला रखा है। हमारे शरीरके अदर रक्त-वाहिनियोंमे बहता हुआ रक्त बाहरकी तरफ दबाव डालता रहता है यदि इसे सतुलित नहीं किया जाय तो शरीरकी सभी धमनियाँ फट जायँगी तथा जीवन नष्ट हो जायगा। वायुका सागर इससे हमारी रक्षा करता है। पेड-पौधे ऑक्सीजन देकर क्लोरोफिलकी उपस्थितिमें, इसमेसे कार्बनडाईऑक्साइड अपने लिये रख लेते हैं और ऑक्सीजन हमे देते हैं। इस प्रकार पेड-पौधे वायुकी शुद्धिद्वारा हमारी प्राण-रक्षा करते हैं।

वायुकी शुद्धिपर बल

वायुकी शुद्धि जीवनके लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस तत्त्वको यजुर्वेद (२७। १२)-में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देव ।
पथो अनक्तु मध्वा घृतेन॥

अर्थात् 'उत्तम गुणवाले पदार्थोंमें उत्तम गुणवाला प्रकाश-रहित तथा सबको प्राप्त होनेवाला ('तनूनपात्') जो वायु शरीरमें नहीं गिरता वह कामना करने योग्य मधुर जलके साथ श्रोत्र आदि मार्गको प्रकट करे, उसको तुम जानो।'

वायुको शुद्ध तथा अशुद्ध दो भागोंमें बाँटा गया है— (१) श्वास लेनेके योग्य शुद्ध वायु तथा (२) जीवमात्रके लिये हानिकारक दूषित वायु—

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावत ।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रप ॥
(ऋक्० १०। १३७। २)

अर्थात् 'प्रत्यक्षभूत दोनों प्रकारकी हवाएँ सागर-पर्यन्त और समुद्रसे दूर प्रदेश-पर्यन्त बहती रहती हैं। हे साधक! एक तो तेरे लिये बलको प्राप्त कराता है और एक जो दूषित है, उसे दूर फेंक देती है।'

हजारो वर्ष-पूर्व हमारे पूर्वजाको यह ज्ञान था कि हवा कई प्रकारके गैसाका मिश्रण है, जिनके अलग-अलग गुण एव अवगुण हैं, इनमें ही प्राणवायु (ऑक्सीजन) भी है, जो जीवनके लिये अत्यन्त आवश्यक है—

यददो वात ते गृहे ऽमृतस्य निधिर्हित ।
ततो नो देहि जीवस॥ (ऋक्० १०। १८६। ३)

अर्थात् 'इस वायुके गृहम जो यह अमरत्वकी धरोहर स्थापित है, वह हमारे जीवनक लिये आवश्यक है।'

शुद्ध वायु कई रोगोंके लिये औषधिका काम करती है, यह निम्न ऋचामे दिखाया गया है—

आ त्वागम शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभि ।
दक्ष ते भद्रमाभार्षं परा यक्ष्म सुवामि ते॥
(ऋक्० १०। १३७। ४)

अर्थात् यह जानो कि शुद्ध वायु तपेदिक-जैसे घातक रोगोके लिये औषधि-रूप है। 'हे रोगी मनुष्य! मैं वैद्य तर पास सुखकर और अहिसाकर रक्षणमे आया हूँ। तेरे लिये कल्याणकारक बलको शुद्ध वायुके द्वारा लाता हूँ और तेरे जीर्ण रोगको दूर करता हूँ।' हृदयरोग तपेदिक तथा निमोनिया आदि रोगोंम वायुका बाहरी साधनोद्वारा लेना जरूरी है यहाँ यह सकेत है—

वात आ वातु भेषज शभु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ (ऋक्० १०। १८६। १)

अर्थात् 'याद रखिये शुद्ध ताजी वायु अमूल्य औषधि है जो हमारे हृदयके लिये दवाक समान उपयागी है आनन्ददायक है। वह उसे प्राप्त कराता है और हमारी आयुको बढाता है।'

जल-प्रदूषण और उसका निदान

जल मानव-जीवनम पेयके रूपमें सफाई एवं धोनेम वस्तुआको ठडा रखने तथा गर्मीसे राहत पानम, विद्युत्-उत्पादनम नदियों-नाला और समुद्रमें सवारिया और सामानाको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँचानक लिये भाप-इजनाको चलानम अग्नि बुझानेमें कृषि-सिंचाई तथा उद्योगों और भाजन बनानेम अति आवश्यक हैं। सभी जीवधारी जलका उपयाग निरन्तर करत रहते हैं जलक बिना जीवन सम्भव नहीं है। औद्योगिकीकरणक परिणामस्वरूप कल-कारखानोंकी सख्यामें पर्याप्त वृद्धि कारखानासे उत्पन्न अपशिष्ट पदार्थ—कूडा-करकट, रासायनिक अपशिष्ट आदि

नदियोंमें मिलते रहते हैं। अधिकाश कल-कारखाने नदिया-झीला तथा तालावोके निकट होते हैं, जनसख्या-वृद्धिके कारण मल-मूत्र नदियामें वहा दिया जाता है, गाँवा तथा नगरोका गदा पानी प्राय एक वडे नालेके रूपमें नदियों-तालावा और कुओंमें अदर-ही-अंदर आ मिलता है। समुद्रमें परमाणु-विस्फोटसे भी जल प्रदूषित हो जाता है। वेदोंमें जल-प्रदूषणकी समस्यापर विस्तारसे प्रकाश पड़ा है।

मकानके पास ही शुद्ध जलसे भरा हुआ जलाशय होना चाहिये—

इमा आप प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनी ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥
(अथर्ववेद ३। १२। ९)

अर्थात् 'अच्छे प्रकारसे रोगरहित तथा रोगनाशक इस जलको मैं लाता हूँ। शुद्ध जलपान करनेसे मैं मृत्युसे यचा रहूँगा। अन्न घृत दुग्ध आदि सामग्री तथा अग्निके सहित घरामें आकर अच्छी तरह वैठता हूँ।'

शुद्ध जल मनुष्यको दीर्घ आयु प्रदान करनेवाला, प्राणाका रक्षक तथा कल्याणकारी है—यह भाव निम्न ऋचामें देखिये—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु न ॥ (ऋक्० १०। ९। ४)

अर्थात् 'सुखमय जल हमारे अभीष्टकी प्राप्तिके लिये तथा रक्षाके लिये कल्याणकारी हा। जल हमपर सुख-समृद्धिकी वर्षा करे।'

जल चेहरेका सौन्दर्य तथा कोमलता और कान्ति वढानेमें औषधि-रूप है। भोजनके पाचनम अधिक जल पीना आवश्यक है, यह विचार निम्न ऋचामें देखिये—

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ विभ्रत्याप इत्ताः।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्॥
(अथर्ववेद ३। १३। ५)

अर्थात् 'याद रखिये जल मङ्गलमय और घीके समान पुष्टिदाता है तथा यही मधुरतामरी जलधाराओंका स्रोत भी है। भोजनके पचानेमें उपयोगी तीव्र रस है। प्राण और कान्ति वल और पौरुष देनेवाला, अमरताकी ओर ले जानेवाला मूल तत्त्व है।' आशय यह है कि जलके उचित उपयोगसे प्राणियोका वल, तेज दृष्टि और श्रवण-शक्तियाँ बढती हैं।

एक ऋचाम कहा गया है कि जलसे ही देखने-सुनने एव बोलनेकी शक्ति प्राप्त होती है। भूख, दु ख चिन्ता, मृत्युके त्यागपूर्वक अमृत (आनन्द) प्राप्त होता है—

आदित्पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम्।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा व ॥
(अथर्ववेद ३। १३। ६)

तात्पर्य यह है कि 'देखने-सुनने एव बोलनेकी शक्ति बिना पर्याप्त जलके उपयोगके नहीं आती। जल ही जीवनका आधार है। अधिकाश जीव जलमे ही जन्म लेते हैं और उसीमें रहते हैं। हे जलधारको! मेरे निकट आओ। तुम अमृत हो।'

कृषि-कर्मका महत्त्व निम्न ऋचामें देखिये, किसानोंके नेत्र जलके लिये वर्षा ऋतुमें वादलोंपर ही लगे रहते हैं—

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च न ॥ (ऋक्० १०। ९। ३)

'हे जल! तुम अन्नकी प्राप्तिके लिये उपयोगी हो। तुमपर जीवन तथा नाना प्रकारकी औषधियाँ, वनस्पतियाँ एवं अन्न आदि पदार्थ निर्भर हैं। तुम औषधि-रूप हो।'

ध्वनि-प्रदूषण एव उसका निदान

भजन-कीर्तन धार्मिक गीत-गान, धर्मग्रन्थाका पाठ, प्रार्थना, स्तुति, गुरुग्रन्थ साहिबका अखण्ड पाठ रामायण, मीरा तथा नानक एव कबीरके भक्ति-प्रधान भजन उपयोगी हैं। सगीत भक्ति-पूजाका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। खेद है कि आजकल ध्वनिके साधनका दुरुपयोग हो रहा है। रेडियो ट्रांजिस्टर, टी वी ध्वनि-प्रसारक यन्त्र जोर-जोरसे सारे दिन कान फाडते रहते हैं। इससे सिरदर्द तनाव, अनिद्रा आदि फैल रहे हैं। वेदोंम कहा गया है कि हम स्वास्थ्यकी दृष्टिसे अधिक तीखी ध्वनिसे बचें, आपसमें वार्ता करते समय धीमा एवं मधुर बोलें—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
(अथर्ववेद ३। ३०। ३)

अर्थात् 'भाई भाईसे वहन वहनसे अथवा परिवारमें

कोई भी एक-दूसरेसे द्वेष न करे। सब सदस्य एकमत और एकव्रती होकर आपसमे शान्तिसे भद्र पुरुषोंके समान मधुरतासे बातचीत करे'—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥
(अथर्ववेद १। ३४। २)

अर्थात् 'मेरी जीभसे मधुर शब्द निकले। भगवान्‌का भजन-पूजन-कीर्तन करते समय मूलमे मधुरता हो। मधुरता मेरे कर्ममें निश्चयसे रहे। मेरे चित्तमे मधुरता बनी रहे।'

खाद्य-प्रदूषणसे बचाव

वेदोंने खाद्यके सम्बन्धमे वैज्ञानिक आधारपर निष्कर्ष दिया है। जैसे—

मनुष्य पाचनशक्तिसे भोजनको भलीभाँति खुद पचाये, जिससे वह शारीरिक और आत्मिक बल बढाकर उसे सुखदायक बना सके। इसी प्रकार पेय पदार्थों, जैसे जल-दूध इत्यादिके विषयमें भी उल्लेख है—

यत् पिबामि स पिबामि समुद्र इव सपिब ।
प्राणानमुष्य संपाय स पिबामो अमु वयम्॥
(अथर्ववेद ६। १३५। २)

अर्थात् 'मैं जो कुछ पीता हूँ, यथाविधि पीता हूँ, जैसे यथाविधि पीनेवाला समुद्र पचा लेता है। दूध-जल-जैसे पेय पदार्थोंको हम उचित रीतिसे ही पिया करे। जो कुछ खायें, अच्छी तरह चबाकर खाये'—

यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव सगिर ।
प्राणानमुष्य सगीर्य सं गिरामो अमु वयम्॥
(अथर्ववेद ६। १३५। ३)

अर्थात् 'जो भी खाद्य पदार्थ हम खायें, वह यथाविधि खायें जल्दबाजी न करें। खूब चबा-चबाकर शान्तिपूर्वक खायें। जैसे, यथाविधि खानेवाला समुद्र सब कुछ पचा लेता है। हम शाक-फल-अन्न आदि रसवर्धक खाद्य पदार्थ ही खायें।'

मिट्टी (पृथ्वी) एव वनस्पतियाम प्रदूषणकी रोकथाम

अथर्ववेदके १२ वे काण्डके प्रथम सूक्तम पृथ्वीका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। सभी प्राणी पृथ्वीके पुत्र हैं। कहा गया है—

माता भूमि पुत्रो अह पृथिव्या ।

पृथ्वीका निर्माण कैसे हुआ है देखिये—

शिला भूमिरश्मा पासु सा भूमि सधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकर नम ॥
(अथर्ववेद १२। १। २६)

अर्थात् 'भूमि चट्टान पत्थर और मिट्टी है। मैं उसी हिरण्यगर्भा पृथ्वीके लिये स्वागत-वचन बोलता हूँ।'

नाना प्रकारके फल औषधियाँ फसले अनाज, पेड-पौधे इसी मिट्टीपर उत्पन्न होते हैं। उनपर ही हमारा भोजन निर्भर है। अत पृथ्वीको हम माताके समान आदर द।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमा पञ्च कृष्टय ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥
(अथर्ववेद १२। १। ४२)

—याद रखिये, 'भोजन और स्वास्थ्य देनवाली सभी वनस्पतियाँ इस भूमिपर ही उत्पन्न होती हैं। पृथ्वी सभी वनस्पतियोकी माता और मेघ पिता है क्योंकि वर्षाके रूपमें पानी बहाकर यह पृथ्वीम गर्भाधान करता है।'

पृथ्वीमे नाना प्रकारकी धातुएँ ही नहीं, वरन् जल और खाद्यान्न, कन्द-मूल भी पर्याप्त मात्रामें पाये जाते हैं, चतुर मनुष्योंको उससे लाभ उठाना चाहिये—

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्य पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्य ॥
(अथर्ववेद १२। १। ६०)

भावार्थ यह है कि 'चतुर मनुष्य पृथ्वीतलके नीचस कन्द-मूल खाद्यान्न खोजकर जीवन-विकास करते हैं।'

हम अपनी मिट्टीसे न्याय नहीं कर रहे हैं। अधाधुंध शहरीकरण औद्योगिकीकरणके कारण वन तेजीस काट जा रहे हैं। मिट्टी ढीली पडती जा रही है। खेत अनुपजाऊ हो गये हैं। पेड़ोंके अभावमें वर्षा ऋतु भी अनियन्त्रित हो गयी है। बढती जनसख्याकी खाद्य-समस्या मिट्टीके प्रदूषणम फैली है।

वेदोमे विमान

(डॉ० श्रीबालकृष्णजी एम्० ए० पी एच्० डी० एफ० आर० ई० एस०)

यूरोपीय विद्वानोके मतानुसार वेदोंमे उच्च सभ्यताके नमूने नहीं हो सकते। विकासवादके अनुसार वेद एक प्राचीन और प्राथमिक मनुष्योंके गीत ही हो सकते हैं। वस्तुत विकासवादके सिद्धान्तको सत्य मानकर ही वेद-विषयक ऐसी अटकलें लगायी जाती हैं। मेरे विचारसे तो वेद इनके विकासवादकी सत्यतापर ही कुठाराघात करते हैं। इसका एक प्रमाण वेदोमे विमानोका वर्णन होना है। यदि वैदिक युगमे विमान बनाये जाते थे, तो उस कालकी सभ्यता अवश्यमेव उच्च होनी चाहिये। निम्न प्रमाणोसे पाठक स्वय निश्चित कर सकते हैं कि वेदमें 'उड़नखटोलियों'-का वर्णन है या कवियोंकी 'कपोल-कल्पना'का चित्र है अथवा 'सच्चे विमानों'का वर्णन।

ग्रिफिथने ऋग्वेदके चौथे मण्डलके ३६ वें सूक्तकी इतनी बुरी तरह हत्या की है कि वह बोधगम्य ही नहीं रहा है। यदि सायणके भाष्यसे काम लिया गया होता तो इस विवादग्रस्त प्रश्नपर अवश्य प्रकाश पडता। जो हो, इस ऋग्वेदीय सूक्तके निम्नलिखित मन्त्रार्थों एवं भावानुवादोसे सरलतापूर्वक निर्धारित किया जा सकता है कि जिस वायुयानके विषयमे वर्णन मिलता है वह काल्पनिक है या वास्तविक। मैंने सायणके अनुवादको ही अपनाया है।

'हे रैभव! तुमने जिस रथका निर्माण किया उसमें न तो अश्वोंकी आवश्यकता है और न धुरीकी। यह तीन पहियोंका प्रशसनीय रथ वायुमण्डलमें विचरण करता है। तुम्हारा यह आविष्कार महान् है। इसने तुम्हारी तेजोमयी शक्तियोको पूज्य बनाया है। तुमने इस कार्यमें स्वर्ग एवं मर्त्यलोक दोनोको दृढ एव धनी बनाया है' (ऋक्० ४। ३६। १)।

'प्रखरबुद्धि रैभवने ऐसे सुन्दर घूमनेवाले रथका निर्माण किया जो कभी गलती नहीं करता। हम इन्हें अपना सोमरस पान करनेके लिये आमन्त्रित करते हैं' (ऋक्० ४। ३६। २)।

'हे रैभव! तुम्हारी महत्ताका लोहा बुद्धिमानोंने मान लिया है' (ऋक्० ४। ३६। ३)।

'विशेष तेजस्वी ऋभुओंद्वारा जिस रथका निर्माण हुआ वे जिसकी रक्षा या जिसे प्यार करते हैं, उस रथकी मानव-समाजमे प्रशसा है' (ऋक्० ४। ३६। ५)।

ऋभुओंद्वारा निर्मित रथ एक ऐसा अभूतपूर्व आविष्कार था, जिसकी प्रशसा जन-साधारण एवं विद्वान्, दोनों द्वारा होती थी। इस रथने ससारमे एक सनसनी फैला दी थी।

इस वायुयानसे किसी प्रकारकी आवाज नहीं होती थी। यह अपने निश्चित पथपर वायुमण्डलमें विचरण करता था और इधर-उधर न जाकर सीधे अपने गन्तव्य स्थानको जाता था।

'यह रथ विना अश्वके संचालित होता था' (ऋक्० १। ११२। १२ और १०। १२०। १०)। यह स्वर्णरथ त्रिकोण एव त्रिस्तम्भ था।

ऋभुओंने एक ऐसे रथका निर्माण किया था जो 'सर्वत्र जा सकता था' (ऋक्० १। २०। ३ १०। ३९। १२, १। ९२। २८ और १२९। ४, ५। ७५। ३ और ७७। ३, ८५। २९ १। ३४। १२ और ४७। २, १। ३४। २ और ११८। १-२ तथा १५७। ३)।

कुछ और मन्त्र देखिये—

'हे धनदाता अश्विनो! तुम्हारा गरुडवत् वेगवान् दिव्य रथ हमारे पास आवे। यह मानव-बुद्धिसे भी तेज है। इसमें तीन स्तम्भ लगे हैं इसकी गति वायुवत् है' (ऋक्० १। ४७। २)। 'तुम अपने त्रिवर्ण त्रिकोण सुदृढ रथपर मेरे पास आओ' (ऋक्० १। ११८। २)।

'अश्विनो! तुम्हें तुम्हारा शीघ्रतासे घूमनेवाला विचरणशील यन्त्रयुक्त गरुडवत् रथ यहाँ ले आये' (ऋक्० १। ११८। ४)।

यहाँ विल्सन तथा कुछ दूसरोंने अश्वोंद्वारा संचालित पतंग अर्थ किया है विमान नहीं किंतु इन उदाहरणोंसे यह अर्थ नहीं निकलता है। कम-से-कम यह तो साफ वर्णित है कि अश्विनोंका रथ यन्त्र-कलासे निर्मित किया गया था और उसके संचालनार्थ अश्व नहीं लगे थे (देखिये—ऋक्० १। ११२। १२ और १। १२०। १०)। एक दूसरे स्थानमें सर्वत्र विचरणशील सुन्दर रथका वर्णन है (ऋक्० १। २०। ३)।

'ऋभुओ! तुम उस रथसे आओ, जो बुद्धिसे भी तेज है, जिसे अश्विनोंने तुम्हारे लिये निर्मित किया है' (ऋक्० १०। ३९। १२)।

'तुम्हारा रथ स्वर्णाच्छादित है। इसम सुन्दर रग है। यह बुद्धिसे भी तेज एव वायुके समान वेगशाली है' (ऋक्० ५। ७७। ३)। 'अश्विनो। अपने त्रिकोण-त्रिस्तम्भ रथके साथ आओ' (ऋक्० १। ४७। २)।

ऋग्वेदम वायु तथा समुद्रवाले दोनो रथोंका साफ-साफ वर्णन है (ऋक्० १। १८२। ५)।

'तुमने तुग्र-पुत्रोके लिये महासागर पार करनेके निमित्त जीवनसयुक्त उडते जहाजका निर्माण करके तुग्र-पुत्र भुज्युका उद्धार किया और आकाशसे उतरकर विशाल जल-राशिको पार करनेके लिये रथ तैयार किया।'

इसी प्रकार यजुर्वेदमें भी वायुयान-यात्राका बडा ही मनोहर वर्णन है—

'आकाशके मध्यमे यह विमानके समान विद्यमान है। द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष—इन तीनो लोकोंमे इसकी अबाध गति है। सम्पूर्ण विश्वमे गमन करनेवाला और मेघोंके ऊपर भी चलनेवाला, वह विमानाधिपति इहलोक तथा परलोकके मध्यमें सब ओरसे प्रकाश देखता है' (वाजसनेयिसहिता १७। ५९)।

ऋग्वेद और यजुर्वेदके मन्त्रोसे ही इस लेखमे विमानाकी विद्यमानताके प्रमाण मैंने दिये हैं। अथर्ववेदमें भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, परतु लेखके बढनेके भयसे वे यहाँ नहीं दिये गये। आशा है कि वैदिक सभ्यताके इस नमूनेपर पाठक विचार करेगे।

गोत्र-प्रवर-महिमा

आर्य-सस्कृतिमे गोत्र और प्रवरका विचार रखना सर्वोपरि माना गया है। सनातनधर्मी आर्य जातिकी सुरक्षाके लिये चार बडे-बडे दुर्ग हैं। प्रथम गोत्र और प्रवर जिनके द्वारा अपनी पवित्र कुल-परम्परापर स्थिर लक्ष्य रहता है। द्वितीय रजोवीर्यशुद्धिमूल वर्णव्यवस्था जिसमें जन्मसे जाति माननेकी दृढ आज्ञा है और तप स्वाध्यायनिरत ब्राह्मण-जातिके नेतृत्वमे सचालित होनेकी व्यवस्था है। तृतीय आश्रमधर्मकी व्यवस्था, जिसमे आर्यजाति सुव्यवस्थित-रूपसे धर्ममूलक प्रवृत्ति-मार्गपर चलती हुई भी निवृत्तिकी पराकाष्ठापर पहुँच जाती है और चतुर्थ वर्ग सतीत्वमूलक नारीधर्मकी सहायतासे आर्यजातिकी पवित्रता है—इन चार अटल दुर्गोंमें गोत्र एव प्रवरपर सदा लक्ष्य रखनेवाला प्रथम दुर्ग कितना महान् और परमावश्यक है उसको इस समय प्रकाशित करनेकी बडी आवश्यकता है। गोत्र-प्रवरका माहात्म्य तथा उसकी परम आवश्यकताका कुछ भी ज्ञान न होनेसे आजकलके राजकर्मचारी और प्रजावर्ग बहुत ही विपथगामी हो रहे हैं। उनके अन्त करणम इतना अज्ञान छा गया है कि प्रवरको तो वे भूल ही गये हैं और सगोत्र-विवाहको कानूनद्वारा चलाना चाहते हैं। आर्यजातिका प्रधान महत्त्व यह है कि वह सृष्टिके आरम्भसे अबतक अपने रूपमे विद्यमान है। चतुर्युगी सृष्टि एवं मन्वन्तर-सृष्टिकी तो बात ही क्या है कल्पादि और महाकल्पादिकी आदि-सृष्टिके साथ-साथ गोत्र-प्रवर-सम्बन्ध है, क्योंकि ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके साथ ही उनक मानस पुत्ररूपम उत्पन्न हुए ऋषियासे ही गोत्र-प्रवरका सम्बन्ध चला है। यह गोत्र-प्रवरके विज्ञानकी ही महिमा है कि हिंदू-जाति तबसे अबतक जीवित है। उस समयसे लेकर आजतक पृथ्वीकी लाखा जातियाँ प्रकट हुईं और कालके गालम चली गयीं परतु दैवी जगत्पर विश्वास करनेवाली वर्णाश्रमधर्म माननेवाली अपनी पवित्रताकी रक्षा करनक लिये गोत्र-प्रवरकी शृखलाक आधारपर चलनवाली सनातनधर्मी प्रजा अभीतक अपन अस्तित्वकी रक्षा कर रहा है। जिस मनुष्य-जातिमें वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं गोत्र-प्रवरका सुव्यवस्थाका विचार नहीं उस मनुष्य-जातिपर अयमा आदि नित्य पितराका कृपा न होनेसे वह जाति जीवित नहीं रह सकती। हमार वेदोंम वैदिक कल्पसूत्रोंमें तथा स्मृति और पुराणामें गोत्र-प्रवर-

प्रवर्तक महर्षियोंकी चर्चा है तथा उससे आर्यजातिको सुरक्षित रखनेके लिये दृढ़ आज्ञा है। अतः आधुनिक अहम्मन्य नेतृवृन्दोंके द्वारा इस व्यवस्थाका नाश न होने देना चाहिये। इस समयकी क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियोंमें अपने पुरोहितके गोत्रसे गोत्र-प्रवर माननेकी व्यवस्था प्रचलित है। इस कारण उक्त जातियोंकी इस व्यवस्थामें कुछ शिथिलता सम्भव है, परंतु ब्राह्मण-जातिमें वेद और शास्त्रोंमें वर्णित गोत्र एवं प्रवरकी व्यवस्था यथावत् चलनी चाहिये। आजकल ब्राह्मण-जातिमें जो अनेक प्रकारके पतनके लक्षण दिखायी देते हैं उसका प्रधान कारण यह है कि ब्राह्मण-जाति गोत्र-प्रवरकी महिमाको भूल गया है। वास्तवमें गोत्र और प्रवरकी महिमाके प्रभावसे ही अभीतक ब्राह्मण-जातिमें कहीं-कहीं ब्रह्मतेज दिखायी देता है तथा वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्थापर गोत्र-प्रवर-महिमाका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। अतः जिनमें स्वजातीय अभिमान है, जो अपने स्वधर्मका गौरव समझते हैं, जो जन्मान्तर-विज्ञान मानते हैं और जो रजोवीर्यकी शुद्धताका गौरव समझते हैं उनको इस समय प्रमादग्रस्त न होकर इस विषयमें चैतन्य होना चाहिये।
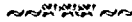
~~~

आख्यान—

शासनतन्त्र प्रजाके हितके लिये

शासकका प्रधान कर्तव्य है—प्रजाका हित करना। उसे 'राजा' इसीलिये कहा जाता है कि वह प्रजाको रञ्जित अर्थात् सुखी और संतुष्ट रखता है। जिस व्यक्तिमें प्रजारञ्जनकी यह योग्यता न हो उसे शासनतन्त्रमें नहीं आना चाहिये। भारतका इतिहास ऐसे उदात्त पुरुषोंके चरित्रसे भरा हुआ है जिन्हें शासन करनेका पूर्ण अधिकार प्राप्त था किंतु उन्होंने इस पदको केवल इसलिये त्याग दिया कि वे प्रजाका हित करनेमें अपनेको अयोग्य पाते थे। इन्हीं महापुरुषोंमें 'देवापि' का भी नाम आता है। वेद और वेदानुगत साहित्यमें उनका विस्तृत इतिहास उपलब्ध है।

देवापि ऋष्टिषेणके बड़े पुत्र थे। उनके छोटे भाईका नाम शन्तनु था। देवापि त्वचाके रोगसे पीड़ित थे। इसके अतिरिक्त उनमें और कोई दोष न था। गुण तो उनमें कूट-कूटकर भरे थे। जब इनके पिताका स्वर्गवास हुआ, तब प्रजाने इन्हें राज्य दिया[1] किंतु देवापिने उस राज्यको स्वीकार न किया। वे सोचते होंगे कि अपने इस रोगकी चिकित्सामें जो समय लग जायगा उतना समय प्रजाके हितमें न लगा सकेंगे। उन्होंने प्यार-भरे शब्दोंमें प्रजासे कहा—'मैं शासन करनेके योग्य नहीं हूँ। इसलिये हमारे छोटे भाई 'शन्तनु' को ही आप लोग राजपदपर अभिषिक्त कर दें।[2]

अपने बड़े भाईकी आज्ञा और प्रजाकी अनुमतिसे शन्तनुने राज्य-भार ग्रहण किया फिर वे प्रजाके हितमें तत्परतासे लग गये। शन्तनु भी कोई साधारण पुरुष नहीं थे। वे सागरके अवतार थे।[3] इसलिये इनमें कुछ जन्मजात सिद्धियाँ थीं। शन्तनु यदि किसी वृद्ध पुरुषको अपने हाथसे छू देते थे तो वह तरुण बन जाता था। दूसरी सिद्धि यह थी कि उनके स्पर्श-मात्रसे प्रत्येक प्राणीको शान्ति प्राप्त हो जाती थी।[4]

महाराज शन्तनु फूँक-फूँककर पैर रखते थे। धर्मके विरुद्ध एक पग भी नहीं उठाते थे फिर भी अनजानमें ही उन्हें एक पाप लग गया था। इस पापसे महाराज शन्तनुके राज्यमें बारह वर्षोंतक वृष्टि नहीं हुई। राजा समझते थे कि मेरे ही किसी पापसे अवर्षणका यह कुयोग प्राप्त हुआ है। बहुत याद करनेपर भी उनको अपना कोई पाप याद नहीं आ रहा था। तब उन्होंने ब्राह्मणोंसे पूछा—'महानुभावो! मेरा वह कौन-सा पाप है, जिससे मेरे राज्यमें वृष्टि नहीं

१-राज्येन छन्दयामासुः प्रजाः स्वर्गं गते गुरौ (बृहद्देवता ७।१५७)।

२ न राज्यमहमर्हामि नृपतिर्वोऽस्तु शन्तनुः (बृहद्देवता ८।१)।

३ मत्स्यपुराण।

४ यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः।
शान्तिं चाप्नोति येनाग्र्यां कर्मणा तेन शन्तनुः॥ (विष्णुपुराण ४।२०।१३)
~~~

हो रही है?' ब्राह्मणोंने बताया कि शास्त्रकी दृष्टिसे इस राज्यका अधिकारी तुम्हारा बडा भाई देवापि है। वह योग्य भी है, अत इस राज्यका सचालन उसे ही करना चाहिये। योग्य बडे भाईके रहते छोटे भाईका राज्य करना शास्त्र-विरुद्ध है। यही अधर्म तुमसे हो गया है।

शन्तनुने प्रजाका हित करनेके लिये ही शासन सँभाला था। इनके शासनसे प्रजाका अहित हुआ—यह सुनकर उन्हे बहुत दु ख हुआ। उन्होने नम्रताके साथ ब्राह्मणोसे पूछा कि 'मुझसे पाप तो हो ही गया, अब आप मेरे कर्तव्यका निर्देश करे।' ब्राह्मणोने कहा—'यह राज्य अपने बडे भाईको सौंप दो।'

शन्तनुने शीघ्र ही बडे भाईको राज्य देनेकी योजना बनायी। देवापि नगरमे विद्यमान नहीं थे। शन्तनुको राज्य देकर वे उसी समय वनमे चले गये थे और वहाँ आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहे थे। ब्राह्मणोको आगे कर शन्तनु वनमें बडे भाईको राज्य देनेके लिये चल पडे। उन्होने भाईके चरणोमें मस्तक रखा और वेदके वचन प्रस्तुत कर राज्यको स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना की।

देवापिने कहा—'प्रिय भाई! मैं राज्यके योग्य नहीं हूँ, क्योंकि त्वचाके रोगसे मेरी शक्ति क्षीण हो गयी है—'न राज्यमहमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रिय ' (बृहद्देवता ८।५)। अत तुम्ही शासक बने रहो, क्योंकि तुमसे प्रजाका पूरा-पूरा हित हो रहा है। रह गयी अवर्षणकी बात तो इसके लिये मैं यज्ञ कराऊँगा, फिर तो सब दुश्चिन्ताएँ स्वत मिट जायँगी।' देवापिने यथाविधि वर्षा करानेवाला यज्ञ सम्पन्न किया। उन्होंने 'बृहस्पते प्रति' (ऋक्० १०।९८।१—३)—इन मन्त्रोसे यज्ञ कराया। यज्ञ होते ही वर्षा हुई। प्रजाका सारा कष्ट दूर हो गया।

बृहद्देवताके इस कथासे विश्वके शासकोको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। देवापिने सर्वथा योग्य होते हुए भी केवल अपने त्वचा-रोगके कारण राज्यका परित्याग कर दिया। केवल इसलिये कि प्रजाके हितमे वे अपने पूरे समयका योगदान न कर सकेगे। दूसरी तरफ उनके छोटे भाई शन्तनुने भी उस राज्यका एक तरहसे परित्याग ही कर दिया था। फिर विवशतावश उन्हें राज्य ग्रहण करना पड़ा, क्याकि इसके बिना प्रजाका अनुरञ्जन नहीं हो सकता था।

(ला० बि० मि०)

वेदोमे निर्दिष्ट शुद्धि तथा पवित्रताके साधन

(श्रीकैलाशचन्द्रजी दवे)

(१)
आचमनकी आवश्यकता

किसी भी धर्म-कर्म अथवा पुण्य-कार्यके निमित्त सर्वप्रथम शरीर-शुद्धि-हेतु 'ॐ केशवाय नम ', 'ॐ नारायणाय नम ', 'ॐ माधवाय नम ' के उच्चारणपूर्वक आचमन किया जाता है। आचमनका विधान क्यों किया गया है, इस सम्बन्धमे श्रुतिका साराश निम्नाङ्कित है—

धर्मानुष्ठान अथवा पुण्यकर्म करनेवाला व्यक्ति सर्वप्रथम अपने आराध्य देवके सम्मुख उपस्थित होकर पवित्र जलसे आचमन करता है। वेदोंमें आचमनको आवश्यक इसलिये बताया गया है कि सामान्यत लोक-व्यवहारमे व्यक्तिद्वारा कभी-कभी कुछ ऐसे कार्य हो जाते हैं जिससे वह अशुद्ध हो जाता है। जैसे (१) वार्तालाप—(क) कटु वाणी—क्रोध अथवा आवेशमें मुखसे कटु-भाषण, (ख) अहितकर वाणी—जिस वचनसे किसीका अहित हो जाय और (ग) असत्य वाणी—अपने स्वार्थपूर्तिके लिये असत्यका आश्रयण। इसके अतिरिक्त कई अन्य कारणोसे भी अपवित्रता आ जाती है, इसलिये भोजनके अनन्तर, निद्रा तथा लघुशका आदिसे निवृत्त होनेपर तथा खानेके बाद आचमन करना आवश्यक बताया गया है। पवित्र जलके आचमनसे आभ्यन्तर-शुद्धि होती है। 'जल पवित्र होता है और इस पवित्र जलसे आचमन करनेपर मैं पवित्र होकर धर्म-कर्मरूपी व्रत ग्रहण करूँ'—'पवित्रपूतो व्रतमुपयानीति (श० ब्रा० १।१।१।१)। इसी व्रतनिष्ठाको ध्यानमें रखकर अनुष्ठाता व्यक्ति आचमन करता है।

(२)
पवित्र-निर्माण एव उत्पवन

स्मृति-ग्रन्थ सोम-सूर्यकी किरणो एव वायुको मार्ग-शुद्धिमे हेतु बतलाते हैं। बाह्य आवरणमें वर्तमान यह वायु

एकरूप ही प्रवाहित होती है, किंतु मनुष्यके शरीरमे प्रवेश करता हुआ यह वायु वृत्तिभेदके द्वारा अधोमुख तथा ऊर्ध्वमुख विचरण करता है। इडा एव पिंगलादि नाडीके द्वारा शरीरसे बाहर निकलता हुआ प्राणवायु 'प्राङ्' तथा नाडी (पिंगला)-द्वारा पुन भीतर प्रवेश करता हुआ 'प्रत्यङ्' कहलाता है। ये दोनों वृत्तिभेद प्राण एवं अपानके नामसे व्यवहृत होते हैं। तैत्तिरीय श्रुतिमें स्पष्ट रूपसे इस बातको कहा गया है कि पवित्र-निर्माणमे दो तृणोका दो संख्या प्राण एव अपान वायुकी दो संख्याका अनुसरण करके ही की गयी है। वस्तुत प्राणापान ही दो 'पवित्र' हैं और इन दोनोका यजमानमे दो तृणोद्वारा निर्मित पवित्ररूप प्रतीकके माध्यमसे आधान किया जाता है।[१] उक्त दो तृणोसे निर्मित पवित्रके द्वारा प्रोक्षणी (पात्र)-मे स्थित जलका उत्पवनकर (ऊपर उछालकर) प्रोक्षणीगत जलको शुद्ध किया जाता है। उस शुद्ध जलसे हवि एवं यज्ञपात्रोका प्रोक्षण किया जाता है। जलमे अशुद्धि होनेका कारण यह है कि इन्द्रने जब वृत्रासुरको मारा तो मृत वृत्रासुरके शवसे निकली दुर्गन्ध चारों ओर समुद्रके जलमे फैलने लगी। ऐसी स्थितिमे कुछ शुद्ध जलांश भयभीत होकर जलाशयसे बाहर तट-प्रदेशमे आया और दर्भके रूपमें परिणत हो गया। प्रणीतापात्रगत जल कदाचित् हत वृत्रासुरकी दुर्गन्धसे अपवित्र जलके साथ मिला हो अत उसको पवित्रीसे उत्पवनके द्वारा पवित्र कर उस शुद्ध प्रणीता-जलसे शुद्धि-हेतु अन्य यज्ञिय पदार्थोंका प्रोक्षण करना चाहिये।[२]

श्रौतसूत्रमे पवित्र-निर्माणकी विधि यह है कि दो बराबर कुशपत्र जो अग्रभागयुक्त हों खण्डित न हों तथा अलग-अलग हों—इस प्रकारके दो कुशपत्रोंके प्रादेश-परिमित अग्रभागपर तीन कुशाओंको रखकर दोनो कुशपत्रोंके मूलसे तीनो कुशपत्रोंको प्रदक्षिण-क्रमसे घुमाकर तीन कुशपत्रोंसे दोनों कुशपत्रोंका छेदन कर उन प्रादेश-परिमित दोनो कुशपत्रोंमें प्रदक्षिणा वृत ब्रह्मग्रन्थि लगानेपर पवित्री बन जाती है।[३]

(३)

कृष्णाजिन (मृगचर्म)

सोमयागमे 'कृष्णाजिन' अनिवार्य है। व्रीहि (धान)-का अवहनन (कूटना) एव पेषण (पीसना) कृष्णाजिनपर रखकर ही होता है। यज्ञकी समग्रताके लिये कृष्णाजिनका आदान (स्वीकार) आवश्यक है।

कृष्णाजिनका उत्पत्तिमे एक पुरावृत्त (इतिहास) है। एक बार किसी कारणवश यज्ञ देवताओंसे रूठकर कहीं पलायित हो गया और कृष्णमृगके रूपमे इधर-उधर विचरण करने लगा। देवताओंने समझ लिया कि यज्ञ ही मृगरूप धारण कर पलायित हो रहा है अत उन्होंने उसकी त्वचाको ही छेदन कर खींच लिया।

उक्त कृष्णाजिन या मृगचर्मकी यज्ञरूपताका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है कि मृगचर्ममे सफेद एवं काले बाल या चिह्न हैं ये क्रमश ऋग्वेद तथा सामवेदके प्रतीक हैं। अथवा जो कृष्णचिह्न हैं वह सामका रूप सफेद चिह्न ऋग्वेदका एव भूरा चिह्न यजुर्वेदका रूप है। यह वेदत्रयी विद्या ही यज्ञ है। उसी वेदत्रयी विद्याका 'वर्ण' यह मृगचर्म यज्ञ-रूप है, अत यजमानकी दीक्षा, व्रीहिका कूटना तथा उसका पीसना मृगचर्मपर ही होता है। कूटने-पीसनेमे जो कुछ हविर्द्रव्य गिरता है, वह स्कन्नदोषरहित माना जाता है।[४]

(४)

दूर्वा

दूर्वाकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई? वस्तुत इसका क्या स्वरूप है इस रहस्यको शतपथ-श्रुतिका एक आख्यान स्पष्ट करता है।

सृष्टि-संरचनामें संलग्न प्रजापति श्रम (तपस्या)-के कारण इतना शिथिल हो गया कि शरीरके मध्यसे उसका प्राण उत्क्रमण कर गया। इस प्रकार प्राणोत्क्रमणसे शिथिल प्रजापतिके लोम (रोम) गिरने लगे। प्रजापतिने जो यह शब्द कहा कि इस प्राणने मेरी हिंसा की है—'मा धूर्वीत',

---

१-प्राणापानौ पवित्रे यजमान एवं प्राणापानौ दधाति। (तै० ब्रा० २। १। १०। २)

२-श० ब्रा० (१। १। ३। १—५)

३ का० श्रौ० सू० (२)

४ श० ब्रा० (१। १। ४। १—३)

अत हिंसावाचक 'धूर्वी' धातु (धूर्वी हिंसायाम्)-का उच्चारण करनेसे वह प्राण 'धूर्वा' पदका वाचक हो गया। देवताओंको परोक्ष नाम प्रिय होता है, अत उन्होने प्रत्यक्ष-वृत्ति-वाचक 'धूर्वा' शब्दके स्थानपर परोक्ष-वृत्ति-वाचक 'दूर्वा' शब्दका प्रयोग किया। लोकमें दूर्वा तथा इस प्रकारके बहुतसे शब्द यथा—सुवेद [1]-स्वेद इन्ध [2]-इन्द्र, आहितय [3]-आहुतय, यज [4]-यज्ञ इत्यादि इतने प्रचलित हो गये कि हम दूर्वा, वेद, इन्द्र, आहुति एव यज्ञ आदि शब्दाको हा तुरत अर्थबोध होनेके कारण प्रत्यक्ष-वृत्तिवाले समझते हैं। धूर्वा, सुवेद इन्ध, आहित एव यज आदि शब्दोको हम परोक्ष-वृत्तिकी तरह समझते हैं, क्योंकि इन शब्दोंको पढ़कर शीघ्र अर्थावबोध नहीं होता।

उपर्युक्त प्रत्यक्ष एव परोक्ष-वृत्तिका व्यवहार केवल वेदमें ही नहीं, अपितु लोक-व्यवहारम भी प्रचलित है। हम किसी विशिष्ट या प्रिय व्यक्तिका मुख्य नाम न लेकर सम्मान-हेतु पिताजी (बाबूजी) भाईसाहब मुन्ना आदि उपनाम या परोक्ष नामका व्यवहार करते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थोमे ऐसे कई शब्दाके निर्वचन किये गये हैं जो देवताओंकी दृष्टिसे परोक्ष-वृत्तिवाले हैं और उन्हींका लौकिक व्याकरणमे तथा लोक-व्यवहारमें प्रत्यक्ष-वृत्तिमें प्रयोग (व्यवहार) होता है।

दूर्वाका स्वरूप

दूर्वा वस्तुत प्राणका पोषक पदार्थ या प्राणरूपी रस है। श्रुति स्वयं प्राणको रसात्मक बतलाती है। प्राण ही कर-चरणादि अङ्गावयवाका रसतत्त्व या सार है।[5]

जब देवताओंने चयनयागके द्वारा प्रजापतिका सस्कार किया तब उन्होंने प्रजापतिके हृदय (मध्य)-में प्राणरूप रसका स्थापन किया। रसरूप प्राणसे प्रजापतिके लोम एव उनके लोमोंसे लोमात्मिका दूर्वा एव सभी औषधियाँ उत्पन्न हुईं।

इस सृष्टिकी सरचनामे श्लथ प्रजापतिको सस्कृत एव शक्तिशाली बनानेके लिये आत्मरूप परमेष्ठी प्रजापतिने सर्वप्रथम चयनादि अनुष्ठान (तपस्या) किया। परमष्ठीके द्वारा अनुष्ठित यज्ञ दवताओको प्राप्त हुआ। देवताआसे ऋषियोको एव ऋषियासे परम्परया भारतीय मनाषियोका यह यज्ञ-सम्पदा प्राप्त हुई। श्रुति स्वय कहती है—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (श० ब्रा०), 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा ' (यजु० ३१। १६)।

चयन-यागमे चिति (चयन-याग-हेतु कर्मभूमि)-पर पुष्करपर्ण आदि विविध इष्टकाओ (ईंटा)-का उपधान किया जाता है। पुष्करपर्णेष्टकाका स्थापन कर देवोंने सर्वप्रथम सृष्टिमे जलका सचार किया। पुष्करपर्ण ईंट जलके ऊपर स्थित होकर भूमिके रूपम व्याप्त होती है। यह भूमि चित्याग्निके आश्रय-हेतु प्रथम पदार्थ है। इसक बाद आदित्यरूप 'रुक्मेष्टका' का उपधान होता है। तदनन्तर देवोंने पुरुषेष्टका दो स्रुक् इष्टका एव स्वयमातृण्णा इष्टकाओका चयन—वदिकापर स्थापन किया। पुरुषेष्टकासे पुरुष दो स्रुक् इष्टकाआसे पुरुषकी दो भुजाआ एव स्वयमातृण्णा इष्टकासे अन्नकी उत्पत्ति की। इसी उपधान-क्रमम पशुओकी पुष्टिके लिये दूर्वा आदि पोषक औषधियाकी सृष्टि करनेक लिये 'दूर्वेष्टका' का उपधान किया।[6] पहले यज्ञके द्वारा उत्पन्न तत्तत् पदार्थोकी वृद्धि एव उनका पोषण यज्ञके द्वारा ही सम्भव है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है। आज यज्ञाका अभाव हानेसे ही उन तत्तत् पदार्थोका ह्रास हो रहा है। ब्राह्मणग्रन्थोम जो सृष्टिक्रम बतलाया गया है, उसका मूल कारण यज्ञ ही है। सृष्टिम जड एव चैतन्य-रूपम जो भी विविध पदार्थ हैं उन सबकी उत्पत्ति यज्ञोंक द्वारा ही हुई है। इसी बातको श्रीमद्भगवद्गीताम स्पष्ट कहा गया है—

सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भव ॥
(३। १० १४)

१-एतं सुवेद सन्तं स्वेदमित्याचक्षते परोक्षेण (गोपथब्राह्मण १। १)।
२-इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोऽक्षम् (श०ब्रा० ६। १। १। २)।
३-आहितयो ह वैता आहुतय इत्याचक्षते परोऽक्षम् (श० ब्रा० १०। ६। २। २)।
४-यजो ह वै नाम यज्ञ (श० ब्रा०)।
५ प्राणो हि वा अङ्गानां रस (श० ब्रा० १४। १। १। २१)।
६-श० ब्रा० (७। ४। २। १०—१२)।

एकरूप ही प्रवाहित होती है किंतु मनुष्यके शरीरमे प्रवेश करता हुआ यह वायु वृत्तिभेदके द्वारा अधोमुख तथा ऊर्ध्वमुख विचरण करता है। इडा एव पिंगलादि नाडीके द्वारा शरीरसे बाहर निकलता हुआ प्राणवायु 'प्राङ्' तथा नाडी (पिंगला)-द्वारा पुन भीतर प्रवेश करता हुआ 'प्रत्यङ्' कहलाता है। ये दोना वृत्तिभेद प्राण एव अपानके नामसे व्यवहृत होते हैं। तैत्तिरीय श्रुतिमे स्पष्ट रूपसे इस बातको कहा गया है कि पवित्र-निर्माणमे दो तृणोकी दो सख्या प्राण एव अपान वायुकी दो सख्याका अनुसरण करके ही की गयी है। वस्तुत प्राणापान ही दो 'पवित्र' है और इन दोनोंका यजमानमे दो तृणाद्वारा निर्मित पवित्ररूप प्रतीकके माध्यमस आधान किया जाता है।[१] उक्त दो तृणासे निर्मित पवित्रके द्वारा प्रोक्षणी (पात्र)-में स्थित जलका उत्पवनकर (ऊपर उछालकर) प्रोक्षणीगत जलको शुद्ध किया जाता है। उस शुद्ध जलसे हवि एव यज्ञपात्राका प्रोक्षण किया जाता है। जलमे अशुद्धि होनेका कारण यह है कि इन्द्रने जब वृत्रासुरको मारा तो मृत वृत्रासुरके शवसे निकली दुर्गन्ध चारों ओर समुद्रके जलमे फैलने लगी। ऐसी स्थितिमे कुछ शुद्ध जलाश भयभीत होकर जलाशयसे बाहर तट-प्रदेशमे आया और दर्भके रूपमे परिणत हो गया। प्रणीतापात्रगत जल कदाचित् हत वृत्रासुरकी दुर्गन्धसे अपवित्र जलके साथ मिला हो अत उसको पवित्रीसे उत्पवनके द्वारा पवित्र कर उस शुद्ध प्रणीता-जलसे शुद्धि-हेतु अन्य यज्ञिय पदार्थोंका प्रोक्षण करना चाहिये।[२]

श्रौतसूत्रमे पवित्र-निर्माणकी विधि यह है कि दो बराबर कुशपत्र जो अग्रभागयुक्त हों, खण्डित न हो तथा अलग-अलग हो—इस प्रकारके दो कुशपत्रोंके प्रादेश-परिमित अग्रभागपर तीन कुशाओको रखकर दोनों कुशपत्रोंके मूलसे तीनो कुशपत्रोको प्रदक्षिण-क्रमसे घुमाकर तीन कुशपत्रासे दोनो कुशपत्रोका छेदन कर उन प्रादेश-परिमित दोनो कुशपत्रोंमें प्रदक्षिणा वृत ब्रह्मग्रन्थि लगानेपर पवित्री बन जाती है।[३]

(३)
कृष्णाजिन (मृगचर्म)

सोमयागमे 'कृष्णाजिन' अनिवार्य है। व्रीहि (धान)-का अवहनन (कूटना) एव पेषण (पीसना) कृष्णाजिनपर रखकर ही होता है। यज्ञकी समग्रताके लिये कृष्णाजिनका आदान (स्वीकार) आवश्यक है।

कृष्णाजिनकी उत्पत्तिमें एक पुरावृत्त (इतिहास) है। एक बार किसी कारणवश यज्ञ देवताओंसे रूठकर कहीं पलायित हो गया और कृष्णमृगके रूपमें इधर-उधर विचरण करने लगा। देवताओंने समझ लिया कि यज्ञ ही मृगरूप धारण कर पलायित हो रहा है, अत उन्होंने उसकी त्वचाका ही छेदन कर खींच लिया।

उक्त कृष्णाजिन या मृगचर्मकी यज्ञरूपताका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है कि मृगचर्ममे सफेद एवं काले बाल या चिह्न हैं, ये क्रमश ऋग्वेद तथा सामवेदके प्रतीक हैं। अथवा जो कृष्णचिह्न हैं, वह सामका रूप सफेद चिह्न ऋग्वेदका एव भूरा चिह्न यजुर्वेदका रूप है। यह वेदत्रयी विद्या ही यज्ञ है। उसी वेदत्रयी विद्याका 'वर्ण' यह मृगचर्म यज्ञ-रूप है, अत यजमानकी दीक्षा, व्राहिका कूटना तथा उसका पीसना मृगचर्मपर ही होता है। कूटने-पीसनेमे जो कुछ हविर्द्रव्य गिरता है, वह स्कन्नदोषरहित माना जाता है।[४]

(४)
दूर्वा

दूर्वाकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई? वस्तुत इसका क्या स्वरूप है, इस रहस्यको शतपथ-श्रुतिका एक आख्यान स्पष्ट करता है।

सृष्टि-सरचनामें सलग्न प्रजापति श्रम (तपस्या)-के कारण इतना शिथिल हो गया कि शरीरके मध्यसे उसका प्राण उत्क्रमण कर गया। इस प्रकार प्राणोत्क्रमणसे विस्रस्त प्रजापतिके लोम (रोम) गिरने लगे। प्रजापतिने जो यह शब्द कहा कि इस प्राणने मेरी हिंसा की है—'माऽधूर्वीत्',

१-प्राणापानौ पवित्रे यजमान एवं प्राणापानौ दधाति। (तै० ब्रा० २। १। १०। २)
२-श० ब्रा० (१। १। ३। १—५)
३-का० श्रौ० सू० (२)
४-श० ब्रा० (१। १। ४। १—३)

अत हिंसावाचक 'धूर्वी' धातु (धूर्वी हिंसायाम्)-का उच्चारण करनेसे वह प्राण 'धूर्वा' पदका वाचक हो गया। देवताओको परोक्ष नाम प्रिय होता है, अत उन्होने प्रत्यक्ष-वृत्ति-वाचक 'धूर्वा' शब्दके स्थानपर परोक्ष-वृत्ति-वाचक 'दूर्वा' शब्दका प्रयोग किया। लोकमें दूर्वा तथा इस प्रकारके बहुतसे शब्द यथा—सुवेद [१]-स्वेद , इन्ध [२]-इन्द्र, आहितय [३]-आहुतय , यज [४]-यज्ञ इत्यादि इतने प्रचलित हो गये कि हम दूर्वा, वेद, इन्द्र आहुति एवं यज्ञ आदि शब्दोको ही तुरत अर्थबोध होनेके कारण प्रत्यक्ष-वृत्तिवाले समझते हैं। धूर्वा सुवेद इन्ध, आहित एव यज आदि शब्दोको हम परोक्ष-वृत्तिकी तरह समझते हैं, क्योंकि इन शब्दोंको पढकर शीघ्र अर्थावबोध नहीं होता।

उपर्युक्त प्रत्यक्ष एव परोक्ष-वृत्तिका व्यवहार केवल वेदमे ही नहीं, अपितु लोक-व्यवहारम भी प्रचलित है। हम किसी विशिष्ट या प्रिय व्यक्तिका मुख्य नाम न लेकर सम्मान-हेतु पिताजी (बाबूजी) भाईसाहब मुन्ना आदि उपनाम या परोक्ष नामका व्यवहार करते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थाम ऐसे कई शब्दोक निर्वचन किये गये हैं जो देवताओंकी दृष्टिसे परोक्ष-वृत्तिवाले हैं और उन्हींका लौकिक व्याकरणमे तथा लोक-व्यवहारमें प्रत्यक्ष-वृत्तिमे प्रयोग (व्यवहार) होता है।

दूर्वाका स्वरूप

दूर्वा वस्तुत प्राणका पोषक पदार्थ या प्राणरूपी रस है। श्रुति स्वय प्राणको रसात्मक बतलाती है। प्राण ही कर-चरणादि अङ्गावयवोका रसतत्त्व या सार है।[५]

जब देवताओंने चयनयागके द्वारा प्रजापतिका सस्कार किया, तब उन्होंने प्रजापतिके हृदय (मध्य)-में प्राणरूप रसका स्थापन किया। रसरूप प्राणसे प्रजापतिके लोम एव उनके लोमोंसे लोमात्मिका दूर्वा एव सभी औषधियाँ उत्पन्न हुईं।

इस सृष्टिकी सरचनाम श्लथ प्रजापतिको सस्कृत एवं शक्तिशाली बनानेके लिये आत्मरूप परमेष्ठी प्रजापतिने सर्वप्रथम चयनादि अनुष्ठान (तपस्या) किया। परमेष्ठीके द्वारा अनुष्ठित यज्ञ देवताओको प्राप्त हुआ। देवताआसे ऋषियोको एव ऋषियासे परम्परया भारतीय मनीषियाको यह यज्ञ-सम्पदा प्राप्त हुई। श्रुति स्वय कहती है—'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म' (श० ब्रा०), 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा ' (यजु० ३१। १६)।

चयन-यागमे चिति (चयन-याग-हेतु कर्मभूमि)-पर पुष्करपर्ण आदि विविध इष्टकाआ (ईंटो)-का उपधान किया जाता है। पुष्करपर्णेष्टकाका स्थापन कर देवाने सर्वप्रथम सृष्टिम जलका सचार किया। पुष्करपर्ण ईंट जलके ऊपर स्थित होकर भूमिके रूपम व्याप्त होती है। यह भूमि चित्याग्निके आश्रय-हतु प्रथम पदार्थ है। इसके बाद आदित्यरूप 'रुक्मेष्टका' का उपधान होता है। तदनन्तर देवोने पुरुषेष्टका दो स्रुक् इष्टका एव स्वयमातृण्णा इष्टकाओका चयन—वेदिकापर स्थापन किया। पुरुषेष्टकासे पुरुष, दो स्रुक् इष्टकाआस पुरुषकी दो भुजाओं एव स्वयमातृण्णा इष्टकासे अन्नकी उत्पत्ति की। इसी उपधान-क्रममें पशुओकी पुष्टिके लिये दूर्वा आदि पोषक ओषधियोंकी सृष्टि करनेके लिये 'दूर्वेष्टका' का उपधान किया।[६] पहले यज्ञके द्वारा उत्पन्न तत्तत् पदार्थोंको वृद्धि एव उनका पोषण यज्ञके द्वारा ही सम्भव है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है। आज यज्ञाका अभाव होनेसे ही उन तत्तत् पदार्थोंका ह्रास हा रहा है। ब्राह्मणग्रन्थोम जो सृष्टिक्रम बतलाया गया है, उसका मूल कारण यज्ञ ही है। सृष्टिम जड एव चैतन्य-रूपम जो भी विविध पदार्थ हैं उन सबकी उत्पत्ति यज्ञाक द्वारा ही हुई है। इसी बातको श्रीमद्भगवद्गीताम स्पष्ट कहा गया है—

सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भव ॥
(३। १० १४)

१-एतं सुवेदं सन्तं स्वेदमित्याचक्षते परोक्षेण (गोपथब्राह्मण १। १)।
२-इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोऽक्षम् (श०ब्रा० ६। १। १। २)।
३-आहितयो ह वैता आहुतय इत्याचक्षते परोऽक्षम् (श० ब्रा० १०। ६। २। २)।
४-यजो ह वै नाम यज्ञ (श० ब्रा०)।
५-प्राणो हि वा अङ्गानां रस (श० ब्रा० १४। १। १। २१)।
६-श० ब्रा० (७। ४। २। १०—१२)।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः

['वेदो नारायण साक्षात् भगवानिति शुश्रुम' इस वचनसे स्पष्ट है कि वेद साक्षात् नारायण-स्वरूप हैं और उन्हींके निश्वासरूपमे प्रादुर्भूत होकर प्रत्येक कल्पकी सृष्टिमे ऋषियोकी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा मन्त्र-विग्रह-रूपमे दृष्ट होते हैं। प्रलयमें भी इनका स्वरूप बना रहता है। जब नारायणके नाभिकमलसे पद्मोद्भव भगवान् ब्रह्मा आविर्भूत होते हैं तब वे तपस्याके द्वारा सृष्टिवर्धन-कार्यमे प्रवृत्त होते हैं। इसी सृष्टिम उनके मानसी सकल्पसे नौ (प्रकारान्तरसे दस) ऋषियोका प्रादुर्भाव होता है जो 'नवब्रह्माण' के नामसे पुराणेतिहास ग्रन्थोमें विवृत हैं। ये शक्ति, सामर्थ्य तप अध्यात्म ज्ञान मन्त्रशक्ति आदि सभी गुणोमें ब्रह्माजीके ही समान हैं। अपनी प्रजाओके पालक होनेसे ये 'प्रजापति' भी कहलाते हैं। मरीचि अत्रि अगिरा पुलस्त्य पुलह विश्वामित्र भारद्वाज गौतम जमदग्नि आदि ऋषियोको सृष्टिके समय अपनी तपस्याके द्वारा वेदकी ऋचाओका दर्शन हुआ। ऋचाओका दर्शन होनेके कारण ही ये 'मन्त्रद्रष्टा' कहलाये। आचार्य यास्कके 'ऋषिर्दर्शनात्' आदि वचनोमे यह स्पष्ट कहा गया है कि ऋषियोने मन्त्रोको देखा, इसलिये उनका नाम 'ऋषि' पडा। इससे यह स्पष्ट है कि वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियोने मन्त्रोकी रचना नहीं की प्रत्युत भगवत्कृपासे उन्होने तप पूत अपने अन्त करणमे मन्त्रशक्तिके स्वरूपका दर्शन किया और श्रुतिमान्के द्वारा अपने शिष्य-प्रशिष्योमे उसे प्रसारित किया, इस प्रकार आगे फिर वेदोका विस्तार होता गया। श्रुति-परम्परासे अध्यापित होनेसे ही वेदाको 'श्रुति' कहा जाता है।

'ऋषि' पदका जो व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है उससे भी ज्ञात होता है कि 'ऋषी गतौ' तथा 'दृशिर प्रेक्षणे' धातुओसे ज्ञानात्मक अर्थ-दर्शनात्मकरूपमे ही ऋषिका तात्पर्य है। इस प्रकार अपनी तपस्यारूप ज्ञानात्मिका शक्तिके द्वारा वैदिक मन्त्रशक्तिका जिन्होने दर्शन किया वे 'ऋषि' कहलाये। वेदोके अनुसार ये ऋषि सत्यवक्ता, धर्मात्मा तथा ज्ञानी थे और शौच सतोष, तप, स्वाध्याय, सदाचार एवं अपरिग्रहके मूर्तिमान् स्वरूप, ब्रह्मतेजसे सम्पन्न तथा दीर्घकालीन समाधिद्वारा तपका अनुष्ठान करते थे। यज्ञोद्वारा देवताओका आप्यायन तथा नित्य स्वाध्याय इनकी मुख्य चर्या थी। गृहस्थ होते हुए भी ये मुनिवृत्तिसे रहा करते थे। पवित्र पुण्यतोया नदियोका सानिध्य दिव्य-शान्त तपोवन, अरण्यप्रदेश अथवा पर्वतोकी उपत्यकाओमे इनका आश्रम हुआ करता था। जहाँ सिह आदि क्रूर प्राणी भी स्वाभाविक हिसक-वृत्तिका परित्याग कर परम शान्त तथा मैत्रीभावका आश्रय लिया करते थे। यह प्रभाव इन ऋषियोके तपोबलका ही था। वेदमें स्पष्ट उल्लेख है कि ऐसे निर्जन एव शान्त प्रदेशोमे ही अध्यात्म-साधनाके बीज पल्लवित-पुष्पित और फलित हुए—

उपह्वरे गिरीणां सगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥

(ऋग्वेद ८।६।२८)

इस प्रकार वैदिक ऋचाओ तथा ऋषियाका परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है यदि ये ऋषि न होते तो हमे वेद प्राप्त ही न होते और न सृष्टिका वर्धन ही होता। इन्हीं ऋषियोकी सप्तर्षियोमें परिणति है। स्वायम्भुव आदि प्रत्येक मन्वन्तरमे अलग-अलग सप्तर्षि वेदोकी ऋचाओका दर्शन करते हैं और हमे वेद प्राप्त कराकर जगत्का कल्याण करते हैं। इस प्रकार ऋषियो—कवियोका हमपर महान् उपकार है।

सृष्टिवर्धनम मुख्यरूपसे महर्षि मरीचिका योगदान है। उनके पुत्र कश्यप हुए, जिन्हे दक्ष प्रजापतिकी छ कन्याओमेंसे दिति अदिति आदि तेरह कन्याएँ स्त्रीरूपमे प्राप्त हुईं। जिनसे देवता दानव पशु-पक्षी मानव आदि चराचर जगत्की सृष्टि हुई—'कश्यपात्तु इमा प्रजा । इस प्रकार हम इन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियोकी संतान हैं।

ऋषियाद्वारा दृष्ट वेद-सहिताके मन्त्र भी यज्ञकर्मकी दृष्टिसे ऋक् यजुष्, साम तथा अथर्व नामसे चार रूपामें प्रविभक्त

हैं। ऋग्वेदकी अधिकाश ऋचाएँ अन्य वेदोमे भी प्राप्त होती हैं। शाखा-भेदसे इनकी अनेक शाखाएँ भी हैं जिनका ऋषि और उनके गोत्रज-वशधरोसे सम्बन्ध है।

उपलब्ध ऋग्वेद दस मण्डलोमे विभक्त है। प्रत्येक मण्डलके मन्त्रोके द्रष्टा ऋषि अलग-अलग हैं तथा तत्तद् कर्मोमे उनका विनियोग भी है। जिस मन्त्रका दर्शन जिस ऋषिको हुआ वही उस मन्त्रका ऋषि है। मन्त्राका समूह 'सूक्त' कहलाता है। ऋग्वेदके प्रत्येक मण्डल सूक्तोमे विभाजित हैं और सूक्ताके अन्तर्गत मन्त्र हैं। सर्वानुक्रमणी तथा सायण आदिके भाष्योमे यह निर्दिष्ट है कि अमुक मन्त्रसमूह या अमुक मण्डल अमुक ऋषिद्वारा दृष्ट है। तदनुसार ऋग्वेदके प्रथम मण्डल तथा दशम मण्डलमे मधुच्छन्दा गौतम अगस्त्य भृगु, उशना कुत्स, अथर्वा, त्रित शुन शेप बृहस्पति-पुत्र शयु तथा गौरवीति आदि अनेक ऋषियोद्वारा दृष्ट मन्त्र अथवा सूक्त हैं। किंतु द्वितीय मण्डलसे नवम मण्डलतकके द्रष्टा ऋषि प्राय पृथक्-पृथक् ही हे, अर्थात् अधिकाश पूरे द्विताय मण्डलके द्रष्टा ऋषि एक हैं इसी प्रकार पूरे तृतीय मण्डलके द्रष्टा ऋषि एक हैं। ऐसे ही चतुर्थ आदिमे भी समझना चाहिये।

इस दृष्टिमे प्राय पूरे द्वितीय मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि गृत्समद हैं इसलिये ऋग्वेदका दूसरा मण्डल गार्त्समद-मण्डल कहलाता है। तीसरे मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि विश्वामित्र हैं। इसलिये यह वैश्वामित्र-मण्डल कहलाता है। इसी प्रकार चौथे मण्डलके ऋषि हैं वामदेव। पाँचवेंके अत्रि छठेके भारद्वाज सातवेंके वसिष्ठ आठवेके कण्व तथा नवेके द्रष्टा अगिरा ऋषि हैं। नित्य-निरन्तर परमतत्त्वका चिन्तन करनेसे ये ऋषि महर्षि या परमर्षि भी कहलाते हैं। अनेक ऋषिपुत्र ऋषियाके वशधर तथा गोत्रधर भी मन्त्रोके द्रष्टा हैं। यजुर्वेदकी माध्यन्दिन-शाखा महर्षि याज्ञवल्क्य ऋषिकी कृपासे प्राप्त हे। अथर्ववेद आदि महाशाल शौनक तथा पिप्पलाद आदि ऋषियोसे प्रवर्तित हैं।

इस प्रकार जहाँ ऋषियोने सृष्टिवर्धनमे योगदान दिया वहीं अपनी प्रजाकी रक्षाके लिये तपस्याद्वारा वेदाको प्राप्त किया और इसी कारण वेद किसीकी रचना न होनेके कारण अपौरुषेय कहलाये। इन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियाद्वारा वेद हमे प्राप्त हुआ। महर्षि वेदव्यासजीने अपने सुमन्तु, पेल जैमिनि तथा वैशम्पायन आदि शिष्योको वदकी शाखाआका अध्ययन कराया और फिर लोकमे वेद-मन्त्रोका प्रसार हुआ। उदात-अनुदात्त आदि स्वरा तथा जटा माला शिखा आदि अष्टविकृतियोके माध्यमसे वेदकी रक्षा होती आयी हे।

वेद-मन्त्रोका अर्थज्ञान अत्यन्त दुरूह होनेसे तथा सभीका अधिकार न होनेसे महर्षि वेदव्यासजीने पञ्चम वेद इतिहास-पुराणकी रचना की। साथ ही वेदाके सम्यगर्थ-प्रतिपादनके लिये शिक्षा कल्प आदि छ अङ्गोके अध्ययनकी आवश्यकता हुई। इतनेपर भी वेदार्थका ठीक अधिगम न होते देख वेदोपर भाष्योका निर्माण हुआ। जिनमे स्कन्दस्वामी सायण वकटमाधव, उव्वट, महीधर आदिके वेदभाष्य बहुत उपयागी हैं। यहाँ सक्षेपमे कुछ मन्त्रद्रष्टा ऋषियाके उदात्त चरित्र तथा कतिपय भाष्यकारोका परिचय दिया जा रहा है।—सम्पादक]

ऋषि-विचार

'ऋषि' शब्दका अर्थ

'ऋषि' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयम कतिपय विद्वानाका मत है कि 'सर्वधातुभ्य इण् (उ० सू० ५६७) तथा 'इगुपधात् कित् (उ० सू० ५६९)—इन सूत्राक आधारपर 'ऋषी गतौ (तु० प० १२८८) धातुस 'इण्' प्रत्यय हुआ 'कित् हानेके कारण गुण नहीं हुआ और 'ऋषि शब्द बन गया। 'ऋषन्ति अयगच्छन्ति इति ऋषय ' एसा विग्रह मानकर वे ज्ञान-सम्पन्न व्यक्तिका ऋषि मानते हैं। गत्यर्थक 'ऋषी धातुका ज्ञान' अर्थ माननमें उनका तर्क है—ये गत्यर्थास्त ज्ञानार्था । किंतु हम यह क्लिष्ट कल्पना निष्फल-सी लगती है क्योंकि जब शास्त्राभ्यासी साधारण मनुष्य पराक्ष-ज्ञान भा सरलतापूवक प्राप्त कर लता है तब 'ऋषी धातुका कवल 'ज्ञान अर्थ निकालनका काइ विशष महत्त्व नहीं प्रतात हाता।

हमारे विचारसे तो 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा० प० ९८८) धातुसे 'ऋषि' शब्दकी निष्पत्ति मानी जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। ऐसा माननेपर 'दृशि' शब्दसे 'दकार' का लोप होकर बने हुए 'ऋषि' शब्दका अर्थ होगा—'द्रष्टा'। सायणभाष्यके अनुसार—'अतीन्द्रिय पदार्थोंका तपस्याद्वारा साक्षात्कार करनेवाला।' स्पष्ट है कि ऐसी योग्यता रखनेवाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता। ऋषि शब्दका यह अर्थ ऋतम्भरा-प्रज्ञा-सम्पन्न तपस्याद्वारा वेदमन्त्रोंका आविर्भाव करनेवाले मधुच्छन्दा प्रभृति उन विशिष्ट व्यक्तियोंमें ही समन्वित हो सकेगा, जिन्हें सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन आदि प्राचीन मुनियोंने 'ऋषि' शब्दसे अभिहित किया है।

लोक-व्यवहारके आधारपर भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो किसी घटनाके प्रति श्रोताकी अपेक्षा द्रष्टाको अधिक प्रामाणिक साक्षी अथवा यथार्थवादी माना जाता है। किसी विवादास्पद विषयमें कोई व्यक्ति कहे कि 'मैंने यह बात सुनी है' और दूसरा कहे कि 'ऐसा नहीं है, मैंने ऐसा देखा है' तो लोग देखनेवालेकी बातपर अधिक विश्वास करेंगे क्योंकि देखनेवालेको सुननेवालेकी अपेक्षा वस्तुके यथार्थस्वरूपका अधिक ज्ञान होता है।

सम्भवतः इसी अभिप्रायसे अमरकोशकारने कहा है— 'ऋषयः सत्यवचसः' (२। ७। ४३)। यास्कका वचन 'ऋषिर्दर्शनात्' (निरुक्त २। ३। ११) भी इसी अभिप्रायको स्पष्ट करता है।

अब यदि 'ऋषी' धातुसे ही 'ऋषि' शब्दकी निष्पत्ति माननेका आग्रह हो तो 'गति' का अर्थ 'प्राप्ति' माननेपर ही काम चलेगा—'ऋषन्ति प्राप्नुवन्ति तपसा वेदमन्त्रान् इति ऋषयः।' इस प्रकार 'ऋषि' शब्दका अर्थ होगा—'तिरोहित वेदमन्त्रोंका तपस्याद्वारा आविर्भाव करनेवाला।' महाभारतके निम्नलिखित श्लोकसे इस अर्थको समर्थन प्राप्त होता है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
तपसा लेभिरे पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

इसके अतिरिक्त यास्कका भी निम्नलिखित वचन इसी अर्थकी पुष्टि करता है—

तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषीणामृषित्वम्।
(निरुक्त २। ३। ११)

ऋषियोंकी संख्या

'ऋषि'-शब्दका वास्तविक अर्थ जान लेनेके अनन्तर यह सहज ही समझा जा सकता है कि ब्रह्माके आदेशसे वेदके आविर्भाव-जैसे पवित्र तथा महत्त्वपूर्ण कार्यके लिये हमारे पूर्वज भारतीय महापुरुषोंने कितना श्रम, कितनी तपस्या की होगी। जिस ऋषिने अधिक तप किया उसे अधिक मन्त्रों, अधिक सूक्तोंका लाभ हुआ, जिसने कम तपस्या की, उसे कम मन्त्रों, कम सूक्तोंका लाभ हुआ। ऋग्वेदके उन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी संख्या ४०३ है।

ऋषियोंका वर्गीकरण

ये ऋषि दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं—(१) एकाकी और (२) पारिवारिक।

१-वेदमन्त्रोंके प्रकटीकरणमें जिन ऋषियोंने स्वयं अनवरत प्रयत्न किया, परिवारके किसी सदस्यने कोई सहायता नहीं की, उन्हें 'एकाकी' कोटिमें रखा जाता है। ऐसे ऋषियोंकी संख्या ८८ है। इनका विवरण इसी लेखमें आगे दिया गया है।

(२) 'पारिवारिक' ऋषि वे हैं, जिन्हें इस पावन प्रयत्नमें अपने परिवारके एक या अनेक सदस्योंका सहयोग प्राप्त रहा। इनकी अगली पीढ़ियोंमें भी वेदाविर्भाव-कार्यकी क्रमबद्ध परम्परा चलती रही। ये पारिवारिक ऋषि गणनामें ३१५ हैं, जिनकी नामावली इसी लेखमें आगे दी गयी है।

ऋषिगणोंमें सप्तर्षियोंका विशिष्ट स्थान है। ये सप्तर्षि ऋग्वेदके नवम मण्डलके १०७वें तथा दशम मण्डलके १३७वें सूक्तोंके द्रष्टा हैं।

सात परिवारोंमें इनके विभाजनका क्रम यह है—(१) गोतम (२) भरद्वाज (३) विश्वामित्र (४) जमदग्नि, (५) कश्यप (६) वसिष्ठ तथा (७) अत्रि।

इनमें गोतम-परिवारके ४, भरद्वाजके ११, विश्वामित्रके ११, जमदग्निके २, कश्यपके १०, वसिष्ठके १३ तथा अत्रि-परिवारके ३८ ऋषि हैं। अन्य परिवार प्रकारान्तरसे इन्हींके कुटुम्बी या सम्बन्धी हैं।

गवेषणात्मक दृष्टिसे अवलोकन करनेपर जो महत्त्वपूर्ण अति दुर्लभ ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हुए, उनके आधारपर इन सात परिवारोंका समावेश मुख्यतया चार ही परिवारोंमें है—

आङ्गिरस, भार्गव, काश्यप और आत्रेय। इनमें भी सबसे अधिक परिवारवाले आङ्गिरस ही हैं। इनकी सख्या ५६ है। गौतम तथा भारद्वाजोंका अन्तर्भाव इन्हींमें है। वैश्वामित्र और जामदग्न्य परिवारोका समावेश भार्गवामें है। वसिष्ठ-परिवार काश्यपके अन्तर्भूत है। आत्रेय-परिवार बिलकुल स्वतन्त्र है।

प्रजापतिने यज्ञद्वारा तीन पुत्र उत्पन्न किये—भृगु, अङ्गिरा तथा अत्रि। भृगुके पुत्र हुए कवि च्यवन आदि। भृगुके ही एक पुत्र थे ऋचीक, जिनके बनाये हुए चरुओके भक्षणसे गाधिपुत्र विश्वामित्र तथा स्वय ऋचीकके पुत्र जमदग्निका जन्म हुआ। जमदग्निके पुत्र परशुराम तथा विश्वामित्रके पुत्र मधुच्छन्दा थे। अपने सौ भाइयोमें मधुच्छन्दाका प्रमुख स्थान था। मधुच्छन्दाके दो पुत्र थे—जेता और अघमर्षण। अत वैश्वामित्र-परिवारको भार्गव-परिवारसे भिन्न नहीं समझा जा सकता।

अङ्गिराके दो पुत्र थे उतथ्य (उचथ्य) तथा बृहस्पति। बृहस्पतिके चार पुत्र हुए—भरद्वाज, अग्नि तपुर्मूधा और शयु। भरद्वाजके ही पुत्र थे पायु, जिनकी कृपासे राजा अभ्यावर्ती तथा प्रस्तोक युद्धमे विजयी हुए थे। बृहस्पतिके ज्येष्ठ भ्राता उतथ्यके पुत्र दीर्घतमा थे और दीर्घतमाके कक्षीवान्। कक्षीवान्को घोषा काक्षीवती नामकी कन्या तथा शबर और सुकीर्ति नामक दो पुत्र थे। घौषेय सुहस्त्य कक्षीवान्के दौहित्र थे। इस प्रकार भारद्वाज-परिवार आङ्गिरस-परिवारकी ही शाखा सिद्ध होता है। ३३ सदस्योवाले जिस काण्व-परिवारका ऋग्वेदके अष्टम मण्डलमें विशेष प्रभाव है, यह आङ्गिरसाका ही अङ्ग है, क्योंकि उस परिवारके मूल पुरुष काण्वके पिता घोर आङ्गिरस ही थे।

गौतम-परिवार भी आङ्गिरस-परिवारसे ही सम्बद्ध है, क्योंकि गौतमकी अङ्गिरा-सम्बन्धी परम्परा यह है—अङ्गिरा रहूगण गोतम वामदेव वामदेवके भ्राता नोधा तथा नोधाके पुत्र एकद्यु।

वसिष्ठ-परिवारका समावेश कश्यप-परिवारमें है। इस सम्बन्धकी द्योतक वश-परम्परा इस प्रकार है—मरीचि कश्यप मैत्रावरुण, वसिष्ठ शक्ति तथा पराशर।

अत्रि-परिवार स्वतन्त्र है। इनका वश-परिचय यह है—अत्रि भौम अर्चनाना श्यावाश्व तथा अन्धीगुश्यावाश्वि।

—ये सभी प्रमुख पारिवारिक ऋषि ४२ परिवारामें विभक्त हुए, जिनका विवरण विस्तृत रूपमें आगे इसी प्रकरणमें दिया जा रहा है। इनके अतिरिक्त अवशिष्ट एकाकी ऋषियाके नाम निम्नलिखित हैं, जिनकी सख्या ८२ है।

अवशिष्ट (एकाकी) ऋषि-नामावलि

अकृष्टा माषा, अक्षा मौजवान्, आग्नयो धिष्ण्या ऐश्वरा, अग्नि, अग्नि पावक अग्नि सौचीक, अग्निर्गृहपति सहस सुत, अग्निर्यविष्ठ सहस सुत, अग्निर्वैश्वानर, अग्निश्चाक्षुष, अङ्ग औरव, अत्रि साख्य, अदितिर्दाक्षायणी अदिति, अरुणो वैतहव्य, आत्मा, आसङ्ग प्लायोगि, उपस्तुतो वार्ष्टिहव्य, उरुक्षय आमहीयव, उर्वशी ऋणचय, ऋषभो वैराज शाक्वरो वा ऋषयो दृष्टलिङ्गा, कपोतो नैर्ऋत कवष ऐलूष, कुल्मलबर्हिष शैलूषि, गय प्लात, गोधा ऋषिका जुहूर्ब्रह्मजाया, तान्व पार्थ्य, त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य त्रिशिरास्त्वाष्ट्र त्र्यरुणस्त्रैवृष्ण, त्वष्टा गर्भकर्ता दुवस्युर्वान्दन, देवमुनिरैरमद, देवा, देवापिरार्ष्टिषेण द्युतानो मारुति, नद्य नारायण पणयोऽसुरा, पृथुर्वैन्य, पृश्नयोऽजा प्रजापति, प्रजापति परमेष्ठी प्रजापतिर्वाच्य, बृहस्पतिर्लौक्य, भावयव्य, भृगुर्वारुणि, मत्स्य सामद, मत्स्या, मनु सावरण मनुराप्सव मरुत मान्धाता यौवनाश्व मुद्गलो भार्म्यश्व रोमशा लुशो धानाक वत्सप्रिर्भालन्दन, वभ्रो वैखानस वरुण वशोऽश्व्य वसुमना रौहिदश्व वागाम्भृणी विवस्वानादित्य विश्वमना वैयश्व विश्वावसुर्देवगन्धर्व वृशो जान, वैखानसा शतम्, शिबिरौशीनर श्रद्धा कामायनी सप्त ऋषय सप्तिर्वाजम्भर, सरमा देवशुनी सिकता निवावरी सुदा पैजवन सुमित्रा वाध्र्यश्व सुवदा शैराषि, मूनुरार्भव सूर्या सावित्री तथा हविर्धान आङ्गि।

ऋषि-परिवारोकी सदस्य-सख्या

१-आग्नेय (४)—कुमार कतु वत्स तथा श्यन।

२-आङ्गिरस (५६)—अभिवर्त अहमीयु अयास्य उचथ्य उरु ऊर्ध्वसद्मा कुत्स कृतयशा कृष्ण घोर तिरश्ची दिव्य धरुण ध्रुव, नृमध पवित्र पुरुमाळ्ह पुरुमध पुरुहन्मा पुरुदक्ष प्रचेता प्रभूवसु प्रियमध यरु विन्दु बृहन्मति बृहस्पति भिक्षु मूर्धन्वान्, रहूगण वसुरोचिष विरूप, विहव्य वीतहव्य व्यश्व

शिशु श्रुतकक्ष, सवनन, सवर्त, सप्तगु, सव्य, सुकक्ष, सुदीति, हरिमन्त, हिरण्यस्तूप, अर्चन् हैरण्यस्तूप, शश्वत्याङ्गिरस, विश्वाक कार्ष्णि, शकपूतो नार्मेध, सिन्धुक्षित् प्रैयमेध दीर्घतमा ओचथ्य, कक्षीवान् दैर्घतमस काक्षीवती घोषा, सुहस्तो घौषय, शबर काक्षीवत तथा सुकीर्ति काक्षीवत ।

३-आत्रेय (३८)—अत्रिभौम, अर्चनाना, अवस्यु, इष, उरुचक्रि, एवयामरुत्, कुमार गय गविष्ठिर गातु गोपवन, द्युम्न, द्वित, पूरु, पौर प्रतिक्षत्र, प्रतिप्रभ, प्रतिभानु, बभ्रु, बाहुवृक्त, बुध यजत रातहव्य, वव्रि, वसुश्रुत विश्वसामा श्यावाश्व, श्रुतवित्, सत्यश्रवा सदापृण, सप्तवध्रि सस, सुतम्भर, स्वस्ति वसूयव आत्रेया, अन्धीगु श्यावाश्वि अपाला तथा विश्ववारा।

४-आथर्वण (२)—बृहद्दिव तथा भिषग्।

५-आप्त्य (३)—त्रित, द्वित तथा भुवन ।

६-ऐन्द्र (१४)—अप्रतिरथ, जय लव, वसुक्र, विमद, वृषाकपि, सर्वहरि, इन्द्र, इन्द्रो मुष्कवान्, इन्द्रो वैकुण्ठ, इन्द्राणी इन्द्रस्य स्नुषा (वसुक्रपत्नी) इन्द्रमातरो देवजामय तथा शची पौलोमी।

७-काण्व (३३)—आयु, इरिम्बिठि, कुरुसुति, कुसीदी, कृश त्रिशाक देवातिथि नाभाक, नारद, नीपातिथि, पर्वत, पुनर्वत्स, पुष्टिगु पृषध्र प्रगाथ प्रस्कण्व ब्रह्मातिथि मातरिश्वा, मधातिथि मेध्य, मेध्यातिथि, वत्स, शशकर्ण, श्रुष्टिगु, सध्वंस, सुपर्ण सोभरि. कुशिक सौभर. अश्वसूक्ती काण्वायन गोषूक्ती काण्वायन कलि प्रागाथ घर्म प्रागाथ तथा हर्यत प्रागाथ ।

८-काश्यप (१०)—अवत्सार असित कश्यपो मारीच देवल निध्रुवि भूताश, रेभ रेभसूनू, विवृहा तथा शिखण्डिन्याप्सरसौ काश्यप्यौ।

९-कौत्स (२)—दुर्मित्र तथा सुमित्र ।

१०-गौतम (४)—गोतम, नोधा, वामदेव तथा एकद्युर्नौधस ।

११-गौपायन (४)—बन्धु विप्रबन्धु श्रुतबन्धु तथा सुबन्धु ।

१२-तापस (३)—अग्नि घर्म तथा मन्यु ।

१३-दैवोदासि (३)—परुच्छेप, प्रतर्दन तथा अनानत. पारुच्छेपि ।

१४-प्राजापत्य (९)—पतङ्ग, प्रजावान्, यक्ष्मनाशन, यज्ञ, विमद, विष्णु, सवरण, हिरण्यगर्भ तथा दक्षिणा।

१५-बार्हस्पत्य (४)—अग्नि तपुर्मूर्धा भरद्वाज तथा शयु ।

१६-ब्राह्म (२)—ऊर्ध्वनाभा तथा रक्षोहा।

१७-भारत (३)—अश्वमेध, देववात तथा देवश्रवा ।

१८-भारद्वाज (११)—ऋजिश्वा गर्ग, नर, पायु, वसु, शास शिरिम्बिठ शुनहोत्र, सप्रथ, सुहोत्र तथा रात्रि ।

१९-भार्गव (१४)—इट, कवि, कृत्नु, गृत्समद, च्यवन, जमदग्नि नेम, प्रयोग, वेन, सोमाहुति, स्यूमरश्मि, उशना काव्य, कूर्मो गार्त्समद तथा रामो जामदग्न्य ।

२०-भौवन (२)—विश्वकर्मा तथा साधन ।

२१-माधुच्छन्दस (२)—अघमर्षण तथा जेता।

२२-मानव (४)—चक्षु, नहुष, नाभानेदिष्ठ तथा शार्यात ।

२३-मैत्रावरुणि (२)—वसिष्ठ तथा अगस्त्य (मान्य)।

२४-आगस्त्य (५)—अगस्त्यशिष्या, अगस्त्यपत्नी (लोपामुद्रा) अगस्त्यस्वसा (लौपायनमाता), दृळहच्युत तथा इध्मवाहो दार्ढच्युत ।

२५-यामायन (७)—ऊर्ध्वकृशन, कुमार, दमन देवश्रवा मथित शङ्ख तथा सकुसुत ।

२६-वातरशन (७)—ऋष्यशृङ्ग, एतश, करिक्रत, जूति वातजूति विप्रजूति तथा वृषाणक ।

२७-वातायन (२)—अनिल तथा उल ।

२८-वामदेव्य (३)—अंहोमुक् बृहदुक्थ तथा मूर्धन्वान्।

२९-वारुणि (२)—भृगु तथा सत्यधृति ।

३०-वार्षागिर (६)—अम्बरीष, ऋज्राश्व, भयमान, सहदव सुराधा तथा सिन्धुद्वीप (आम्बरीष)।

३१-वासिष्ठ (१३)—इन्द्रप्रमति, उपमन्यु, कर्णश्रुत, चित्रमहा द्युम्नीक, प्रथ मन्यु, मृळीक वसुक्र वृषगण व्याघ्रपात्, शक्ति तथा वसिष्ठपुत्रा ।

३२-वासुक्र (२)—वसुकर्ण तथा वसुकृत्।

३३-वैरूप (४)—अष्ट्रादंष्ट्र नभ प्रभेदन, शतप्रभेदन तथा सध्रि।

३४-वैवस्वत (३)—मनु, यम तथा यमी।

३५-वैश्वामित्र (१२)—कुशिक ऐषीरथि (विश्वामित्र-पूर्वज), विश्वामित्रो गाधिन, अष्टक, ऋषभ, कत देवरात, पूरण, प्रजापति मधुच्छन्दा, रेणु गाथी कौशिक तथा उत्कील कात्य।

३६-शाक्त्य (२)—गौरवीति तथा पाराशर।

३७-शार्ङ्ग (४)—जरिता द्रोण, सारिसृक्व, तथा स्तम्बमित्र।

३८-सर्प (४)—अर्बुद काद्रवेय, जरत्कर्ण ऐरावत ऊर्ध्वग्रावा आर्बुदि तथा सार्पराज्ञी।

३९-सौर्य (४)—अभितपा, धर्म, चक्षु तथा विभ्राट्।

४०-सौहोत्र (२)—अजमीळ्ह तथा पुरुमीळ्ह।

४१-स्यौर (२)—अग्नियूत तथा अग्नियूप।

४२-सोमपरिवार (४)—सोम, बुध, सौम्य, तथा पुरूरवा ऐळ (आयु नहुष) ययातिर्नाहुष।

४३-तार्क्ष्य (२)—अरिष्टनेमि तथा सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टार·

(ऋग्वेद भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

वेद-विज्ञाताओको तीन श्रेणियोंम विभक्त किया जा सकता है—नित्यतावादी, आर्षमतवादी और ऐतिहासिक। इसमे सदेह नहीं कि यास्काचार्यने वेदार्थ करनेके इन नौ पक्षोको उद्धृत किया है—अध्यात्म, अधिदैवत, आख्यान-समय, ऐतिहासिक नैदान, नैरुक्त परिव्राजक याज्ञिक और पूर्वयाज्ञिक। इन बारह निरुक्तकारोके बारह प्रकारके मत भी लिखे हैं—औपमन्यव, औदुम्बरायण वार्ष्यायणि गार्ग्य, आग्रायण शाकपूणि, और्णनाभ, तैटिकि, गालव स्थौलाष्ठिवि क्रौष्टुकि और कात्थक्य, परतु पूर्वोक्त तीन प्रधान मतवादोमे सारे पक्ष और मत समाविष्ट हो जाते हैं। तीनोमें पहला मत तो वेदको नित्य मानता है दूसरा वेदकी ज्ञान-राशिको शाश्वत समझता है और तीसरा वेदको ससारका प्राचीनतम ग्रन्थ समझता है। पुराने और नये—जितने भी ऐतिहासिकोंने वेदके स्वाध्याय या शोधके कार्य किये हैं उन सबका सुदृढ मत है कि ईजिप्शियन मगोलियन जोरॉस्ट्रियन ग्रीक, रोमन असीरियन, वैबीलोनियन सुमेरियन फिनिशियन ट्युटनिक स्लावोनियन वेडिक केल्टिक, मूसाई तथा यहूदी आदि जितने भी प्राचीन धर्म हैं उनमेंस एकका भी ग्रन्थ वेद—विशेषत ऋग्वेदके समान प्राचीन नहीं है। इसलिये मानव-जातिके प्राचीनतम धर्म आचार-विचार, त्याग तप कला विज्ञान, इतिहास राष्ट्र-सघटन और समाज-व्यवस्था आदिका परिज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकमात्र साधन ऋग्वेद ही है। यही कारण है कि ससारकी अग्रेजी, फ्रेंच जर्मन आदि प्रधान भाषाओंमे ऋग्वेदका अनुवाद हो चुका है और सारी वसुन्धरामें ऐसे अनेक वैदिक सस्थान स्थापित हैं जहाँ अबतक ऋग्वेदीय वाङ्मयपर अन्वेषण और गवेषणका कार्य चल रहा है। अनेक वेदाध्यायियोन तो इस दिशाम अपना जीवन ही खपा डाला है। बडे-बडे चिन्तनशील पुरुष ऋग्वेदके विमल विज्ञानपर विमुग्ध हैं। पौरस्त्य मनीषी तो इसे धर्म-मूल समझते ही हैं—उनके मतसे तो चराचर-ज्ञानका आधार यह है ही किंतु अधिकाश पाश्चात्य वेद-विद्यार्थी भी ऋग्वदकी अलौकिकतापर आसक्त हैं।

हिंदू-जातिकी प्रख्यात पुस्तक मनुस्मृति (२। ६)-म कहा गया है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।' अर्थात् 'समस्त वद धर्मका मूल है।' मनु महाराज एक-दूसरे स्थलपर कहते हैं—'वेद न पढकर और यज्ञ न करक जो मनुष्य मुक्ति-पानेकी चेष्टा करता है वह नरकम जाता है' (मनुस्मृति ६। ३७)। 'जो द्विज (ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्य) वद न पढकर किसी भी शास्त्र या कार्यमें श्रम करता है, वह जीते-जी अपने वशके साथ अति शीघ्र शूद्र हो जाता है' (मनु० २। १६८)। मनुजीने वदनिन्दकको ही नास्तिक कहा है ईश्वर न माननवालोंको नहीं (मनु० २। ११)। 'The Bible in India' में जकोलियटने लिखा है—'धर्मग्रन्थोंमें

ऋषि सेवाका मर्म समझते थे, इसलिये वे 'सेवाव्रती'-पर सदा प्रसन्न रहते थे (१। ५३। १)। उनका मत था—सेवक यमपथसे नहीं जाते (१। ३८। ५)। वे पूजाका महत्त्व समझते थे, वे यह भी जानते थे कि देवता तपस्वीके ही मित्र होते हैं (४। ३३। ११) इसलिये वे अपूजकको महान् पापी समझते थे (२। १२। १०)। वे गृहागत अतिथिका यथेष्ट सम्मान करके उसे प्रचुर धन प्रदान करते थे (२। १३। ४, ५। ४। ५)। वे समाजकी सुव्यवस्थाके लिये परस्पर सहायता करना आवश्यक समझते थे (१। २६। ३)। उनका मत था कि दाता दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं और जरा-मरण-शून्य स्थानको जाते हैं (१। १२५। ६)। विद्वान् ही समाजके मस्तिष्क होते हैं इसलिये 'विद्वान् पुरुषको द्रव्य-दान देना' वे अत्यावश्यक समझते थे (१। १२७। ४)। उनका निर्देश था—दाताके नामकी मृत्यु नहीं होती, दाता दरिद्र नहीं होते, उन्हें क्लेश, व्यथा और दु ख नहीं सताते, उन्हें स्वर्ग और मर्त्यलोकके सार पदार्थ सुलभ हो जाते हैं (१०। १०७। ८)। उनका अनुभव था—याचकको अवश्य धन देना चाहिये, क्योंकि जैसे रथ-चक्र नीचे-ऊपर घूमता रहता है, वैसे ही धन भी कभी किसीके पास रहता है और कभी दूसरेके पास चला जाता है। वह कभी स्थिर रहनेवाला नहीं है (१०। ११७। ५)। ऋषिका स्पष्ट उद्घोष है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥
(ऋक्० १०। ११७। ६)

अर्थात् 'जो स्वार्थी है, उसका अन्न-धन उत्पन्न करना वृथा है। मैं सच कहता हूँ, इस प्रकारका उत्पादन उत्पादकका वध करा देता है—जो न तो धनको धर्म-कार्यमें लगाता है, न अपने मित्र-हितैषीको देता है जो स्वयं पेट पालनेवाला है वह केवल साक्षात् पापी है और पापी सत्पथसे नहीं जाते' (९। ७३। ६)। ऋषि कक्षीवान् कहते हैं—'जो धनी दूसरेका पालन नहीं करता उसे मैं घृणित समझता हूँ (१। १२०। १२)।' ऋषि देवलका सिद्धान्त है—'देवता अदाताओंके हिंसक हैं' (९। १३। ९)।

ऋषि हितैषी पुरुषका बड़ा सम्मान करते थे (१। ६९। २)। मन्त्रद्रष्टा इन्द्रके इसलिये उपासक थे कि इन्द्र मनुष्य-हितैषी थे (१। ८४। २०)। वे उसीको सच्चा आर्य-अपत्य समझते थे, जो मनुष्य-पालक है (४। २। १८)। वे 'पुण्यवान्की ही उन्नति सम्भव मानते थे' (२। २३। १०)। पुण्यवान् स्तोताको ही सन्मार्गकी प्राप्ति होती है (३। ३। १)।

ऋषियोंकी उत्कट अभिलाषा थी—'हमारी बुद्धि वेदज्ञान-समर्थ बने' (१। ११२। २४)। वे 'विद्वान् पुत्र' ही चाहते थे (१। ७३। ९)। 'वे ऐसा पुत्र चाहते थे, जो कानोंमें स्वर्ण और गलेमें मणि धारण करनेवाला हो' (१। १२२। १४)। वीर पुत्रमे उनकी बड़ी रुचि थी (१। १२५। ३, ९। ९७। २१ २६)। वे उत्साही, जनप्रिय और विद्याध्ययनमें 'दक्ष पुत्र' की कामना करते थे (१। १४१। ११)। वे देवतासे 'बलवान्, हव्यवाहक, महान्, यज्ञकारी और सत्यबल-विशिष्ट पुत्र' की याचना करते थे (४। ११। ४)। वे 'अपने कार्यसे पिता, पितामह आदिकी कीर्तिको प्रख्यात करनेवाले पुत्रको बहुत पसद करते थे' (५। २५। ५)। वे अपने 'मानव-हितैषी पुत्र'-रक्षाकी इच्छा करते रहते थे (७। १। २१)।

वे आलसीसे घृणा करते थे (२। ३०। ७)। निन्दक और दुर्बुद्धिको हेय समझते थे (१। १२९। ६, १। १३१। ७)। निन्दकसे कोसों दूर रहना चाहते थे (६। ४५। २७)। द्वेषीसे भी दूर रहना चाहते थे (२। २९। २ तथा २। ३०। ६)। ब्राह्मण-द्वेषी तथा मास-भक्षकको अपना शत्रु समझते थे (७। १०४। २)। पापियों और हिसकोंसे त्राण पानेके लिये अग्निदेवसे प्रार्थना करते थे (८। ४४। ३०)। यही बात १। २९। ७ में भी है। उनके देवता मन्त्रद्वेषियोंके सतापक और क्रोधीके हिसक थे (२। २३। ४-५)। हव्यदाता एव धार्मिकके हिसकको ऋषि वध्य समझते थे (६। ६२। ३ ७। २५। ३) परंतु वे उदार और दयालु इतने थे कि राक्षस भी यदि रोगी है तो उसका विनाश नहीं चाहते थे (३। १५। १)।

यज्ञ दान और तप—धर्मके ये तीन प्रधान अङ्ग हैं—इन

तीनोके ही उपासक और साधक ऋषि थे। वे यज्ञको 'ऋत' अथवा 'सत्यात्मा' मानते थे (९। ७३। ८-९)। उनकी अनुभूति थी कि 'प्रज्वलित तपसे यज्ञ और सत्यकी उत्पत्ति हुई है' (१०। १९०। १)। यज्ञका वाच्यार्थ है पूजन। मन, वचन एव कर्मसे चराचरका पूजन, सेवन और आराधन यज्ञ है। इसी यज्ञसे सृष्टि-चक्र सचरणशील है। इसीलिये यज्ञको विश्वका उत्पत्ति-स्थान तथा श्रेष्ठ कर्म कहा गया है (शतपथब्राह्मण १।७।४।५)। ऐतेरयब्राह्मण (१।४।३)-का मत है कि 'यज्ञ से एव मन्त्रोके उच्चारणसे वायुमण्डलमे परिवर्तन हो जाता है और निखिल विश्वमे धर्मचक्र चलने लगता है।' जैमिनीय मीमासा तो कवल यज्ञसे ही मुक्ति मानती है। श्रीमद्भगवद्गीतामे सृष्टि-चक्रका सचालक यज्ञको माना गया है। ऋग्वेदके मतसे तो 'यज्ञ ही प्रथम या मुख्य धर्म है' (१०। ९०। १६)। अनेकानक मन्त्रोमे यज्ञको 'सत्यभूत' और 'सत्यरूप' कहा गया है (४।२।१६ ४।३।९ ९।६९।३ ९।७२।६ ९।९७।३२ १०। ६३। ११)। यज्ञके द्वारा परस्पर हित होता है समाजका सुचारुरूपसे सचालन होता है और जागतिक समृद्धि होती है। यज्ञाग्निसे मेघ बनते हैं वृष्टि होती है, अन्न उत्पन्न होता है और अन्तत प्रजा सुखी होती है। यही नहीं, यज्ञमे आत्मशक्ति और मन्त्रशक्ति जागरित होती तथा दैवी स्फूर्ति प्राप्त होती है, जिससे याज्ञिक मोक्षमार्गमे आरूढ हो जाता है फिर उसके मङ्गलभागी होनेमे क्या सदेह (२। ३८। १)। जो यज्ञहीन है वह सत्य-शून्य है। उसे नरकके सिवा अन्य स्थान कहाँ मिले (४। ५। ५)।

जैन-बौद्धोमें अहिसा ईसाइयामें प्रेम सिखोमे भक्ति और मुसलमानोमें नमाजका जो महत्त्व है उससे भी बढकर वैदिक धर्ममें यज्ञका महत्त्व है जो अमोघ शक्ति और मुक्तिकी प्रापिका महान् साधन है। वैदिक वाङ्मय ही नहीं श्रीमद्भगवद्गीता भी यज्ञसे मोक्ष मानती है (४। ३२)। यहाँ गाँधीजीने भी अपने 'अनासक्ति-योग' मे लिखा है— यज्ञके बिना मोक्ष नहीं होता।' इसलिये आर्य ऋषि याज्ञिक शक्तिको उद्बुद्ध रखते थे। इसका सूक्ष्मतम रहस्य उन्हे सम्यक् ज्ञात था। इसलिये उनके प्रति दैवी शक्ति ही नहीं, परमात्मशक्ति भी जागरूक रहती थी और इसीलिये आर्य-ऋषिको ज्योति अथवा आभ्यन्तर प्रकाश प्रदान किया गया था (२। ११। १८)। कदाचित् इसीलिये उन्हे सारी पृथिवी भी दे दी गयी थी, ताकि वे इसे सुख-समृद्धिसे सम्पन्न रखे तथा अपने सुकर्मों और आदर्शोके द्वारा मानवोको परमधामका मार्ग दिखाया करे (४। २६। २)।

आदर्श मानवताके लिये जिस सद्गुणावलीकी आवश्यकता होती है, उसमे गाँधीजीके समान ही अनेक महापुरुषोने सत्य अहिंसा और ब्रह्मचर्यको प्राधान्य दिया है। इन तीनो सद्गुणोके सम्बन्धमे ऋग्वेदीय मन्त्र-द्रष्टाओका अभिमत देखिये। पहले ब्रह्मचर्यको लीजिये। ऋषि ब्रह्मचर्यको परम धन मानते थे। वे इस धनके परम उपासक थे इसे वे तेज-पुञ्ज समझते थे और याज्ञिकके लिये अनिवार्य मानते थे। ऋषि कहते हैं—

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद् विभाति क्रतुमज्जनेषु।
यद् दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्॥

(ऋक्० २। २३। १५)

अर्थात् 'हे यज्ञजात बृहस्पति! आर्य लोग जिस धनकी पूजा करते हैं, जो दीप्ति और यज्ञवाला धन लोगोमे शोभा पाता है जो धन अपने ओजसे प्रदीप्त है, वही विलक्षण तेज शाली ब्रह्मचर्य-धन हमे दो।'

प्रत्येक धार्मिक तथा धर्म-कार्यके लिये वे ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक और अनिवार्य समझते थे। वे अब्रह्मचारीको यज्ञमे विघ्न जानते थे इसलिये वे इन्द्रसे प्रार्थना करते थे कि 'हमारे यज्ञमे अब्रह्मचारी (शिश्नदेव) विघ्न न डालने पाये।'

ऋषियोका अनुभव था कि हिंसककी बुद्धि भ्रष्ट होती है इसलिये अहिसा-पालन तो वे और भी आवश्यक समझते थे। ऋषि अगस्त्य मरुद्गणोसे प्रार्थना करते हैं—'मरुतो! अहिंसक होकर हमे (मानवोको) सुबुद्धि प्रदान करो' (१। १६६। ६)। ऋषि गृत्समद कहते हैं—'हम हिंसाशून्य होकर परम सुखमे निवास करे (२। २७। १६)। ऋषि वसुश्रुतिकी कामना है—'इला सरस्वती और मही

तीनों देवियाँ हिंसा-शून्य होकर इस यज्ञमे आगमन कर' (५।५।८)। अत्रि ऋषिके अपत्य स्वस्ति कहते हैं—'वायु और इन्द्र! अहिंसक होकर सोमरसका सेवन करो' (५।५१।६)। ऋषि अर्चनानाकी कामना है—'गृहम हमे अहिंसक मित्रका सुख प्राप्त हो' (५।६४।३)। ऋषि वसिष्ठ कहते हैं—'इन्द्र! हम अहिंसक होकर ही तुम्हारी दया प्राप्त करते हैं' (७।२०।८)। ये ही ऋषि मरुतोंसे विनय करते हैं—'मरुतो! तुम लोग अहिंसक होकर इस यज्ञमे सोमरूप हव्य ग्रहण करो' (७।५९।६)। ऐसे कथन प्रभूत मात्रामे पाये जाते हैं, जिनसे जाना जाता है कि आदर्श मानवताके लिये वे अहिंसाको अनिवार्य नियम मानते थे।

सत्यके तो व प्रबल पक्षपाती थे ही। उनका प्रधान धर्मानुष्ठान (यज्ञ) सत्यस्वरूप (ऋत) था। वे असत्य-पोषकको 'राक्षस' समझते थे (१०।८७।११)। उनके देवता सत्य-स्वभाव थे (८।९।१५)। कण्व-पुत्र प्रस्कण्व ऋषि उषासे याचना करते हैं—'उषा! मुझे सत्य वाक् दो' (१।४८।२)। शक्ति-पुत्र पराशरका अनुभव है— सत्य मन्त्रद्वारा ही आकाश धृत है' (१।६७।३)। उक्थ्य-पुत्र दीर्घतमा ऋषिका विश्वास था—'सूर्य सत्यकी पूर्ति तथा असत्यका नाश करके ससारका भार वहन करत हैं' (१।१५२।३)। स्पष्ट है कि ऋषि सत्यको प्रकाश तथा असत्यको अन्धकार समझते थे। अगस्त्य ऋषिकी पत्नी लोपामुद्राका कहना है—'सत्य-रक्षक ऋषि देवासे सच्ची बात कहत थे' (२।१७९।२)। आगेके मन्त्राम कहा गया है—'हम सत्यप्रतिज्ञ होकर स्तुति करते हैं' (१।१८०।७)। उनके इन्द्रदेव 'सत्यसकल्प' थे (२।१५।१)। यही बात २।२२ के प्रथम तीन सूक्तोके अन्तम भी कही गयी है। २।२४।७ म अङ्गिरा लोगोंको 'सत्यवादी' और 'सर्वज्ञाता' बताया गया है। वाक्-पुत्र प्रजापतिकी उक्ति है—'पुरातन सत्यवादी महर्षियोंने द्यावापृथिवीस अपना अभिलषित अर्थ प्राप्त किया था' (३।५४।४)। ऋषि वामदेवका अनुभव है— सत्यरहित और सत्य-वचन-शून्य पापी नरक-स्थानको उत्पन्न करता है' (४।५।५)। यहीं ११ व मन्त्रमे वामदेव कहते हैं—'हम नमस्कारपूर्वक अथवा विनम्र होकर सत्य बोलते हैं।' ४।११।३ मे वे पुन कहते हैं—'सत्यकर्मा यजमानके लिये शक्तिशाली रूप और धन उत्पन्न हुए हैं।' ५।४०।७ मे अत्रि ऋषिको 'सत्य-पालक' कहा गया है। ऋषि-वृन्द केवल 'सत्य-धारको' का ही यज्ञमें बुलाते थे (५।५१।२)। ६।५१।१० में लिखा है—'वरुण मित्र और अग्नि सत्यकर्मा स्तोताओंके एकान्त पक्षपाती हैं।' ७।१०४।१२-१३ मे वसिष्ठका उद्गार है—'विद्वान्को ज्ञात है कि सत्य एव असत्य परस्पर प्रतिस्पर्द्धी हैं। इनमे जो सत्य और सरलतम है सोमदेव उसीका पालन करते हैं तथा असत्यकी हिंसा करते हैं।' 'सामदेव पापी और मिथ्यावादीको नहीं छोडते, मार देते हैं। वे राक्षस तथा असत्यवादीको मार डालते हैं।' १०।३७।२ में कहा गया है—'सत्य वह है, जिसका अवलम्बन करके आकाश और दिन वर्तमान है सारा ससार एव प्राणिवृन्द जिसपर आश्रित हैं, जिसके प्रभावसे प्रतिदिन जल प्रवाहित होता है और सूर्य उगते हैं।' इन उद्धरणास जाना जाता है कि वे सत्यके कितने अनन्य अनुरागी थे और असत्यको कितना जघन्य समझते थे। वे सत्यचक्रके द्वारा ही विश्वचक्रका सचालन मानते थे। सत्यके द्वारा सूर्य अपनी किरणाको सायकाल एकत्र करते और सत्यके द्वारा ही प्रात काल किरणाको विस्तृत करते हैं (८।७५।५)। मेध्य ऋषिका सिद्धान्त है—'देवताओंकी सख्या तैंतीस है और वे सत्यस्वरूप हैं ('वालखिल्य-सूक्त' ९।२)। यमने यमीसे कहा है— मैं सत्यवक्ता हूँ। मैंने कभी भी मिथ्या-कथन नहीं किया है' (१०।१०।४)। ऐसे उद्धरण और भी दिय जा सकते हैं। मुख्य बात यह है कि मन्त्र-द्रष्टाओंका सर्वस्व सत्य था और सर्वाधिक घृणा उन्हे असत्यसे थी। फलत आदर्श मानवताके लिये जिस सद्गुणावलीकी आवश्यकता है वह उनमें चूडान्त रूपमें थी।

मन्त्रद्रष्टा ऋषि

मन्त्रद्रष्टा महर्षि विश्वामित्र

पुरुषार्थ, सच्ची लगन उद्यम और तपकी गरिमाके रूपमें महर्षि विश्वामित्रके समान शायद ही कोई हो। इन्होंने अपने पुरुषार्थसे अपनी तपस्याके बलसे क्षत्रियत्वसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया राजर्षिसे ब्रह्मर्षि बने देवताओं और ऋषियोंके लिये पूज्य बन गये और उन्हें सप्तर्षियोंमें अन्यतम स्थान प्राप्त हुआ। साथ ही सबके लिये वे वन्दनीय भी बन गये। इनकी अपार महिमा है।

इन्हें अपनी समाधिजा प्रज्ञासे अनेक मन्त्रस्वरूपोंका दर्शन हुआ, इसलिये ये 'मन्त्रद्रष्टा ऋषि' कहलाते हैं। ऋग्वेदके दस मण्डलोंमें तृतीय मण्डल जिसमें ६२ सूक्त हैं इन सभी सूक्तों (मन्त्रोंका समूह)-के द्रष्टा ऋषि विश्वामित्र ही हैं। इसीलिये तृतीय मण्डल 'वैश्वामित्र-मण्डल' कहलाता है। इस मण्डलमें इन्द्र अदिति अग्निपूजा उषा अश्विनी तथा ऋभु आदि देवताओंकी स्तुतियाँ हैं और अनेक ज्ञान-विज्ञान अध्यात्म आदिकी बातें विवृत हैं, अनेक मन्त्रोंमें गो-महिमाका वर्णन है। तृतीय मण्डलके साथ ही प्रथम नवम तथा दशम मण्डलकी कतिपय ऋचाओंके द्रष्टा विश्वामित्रके मधुच्छन्दा आदि अनेक पुत्र हुए हैं।

वैश्वामित्र-मण्डलका वैशिष्ट्य

वैसे तो वेदकी महिमा अनन्त है ही किंतु महर्षि विश्वामित्रजीके द्वारा दृष्ट यह तृतीय मण्डल विशेष महत्त्वका है, क्योंकि इसी तृतीय मण्डलमें ब्रह्म-गायत्रीका जो मूल मन्त्र है वह उपलब्ध होता है। इस ब्रह्म-गायत्री-मन्त्रके मुख्य द्रष्टा तथा उपदेष्टा आचार्य महर्षि विश्वामित्र ही हैं। ऋग्वेदके तृतीय मण्डलके ६२वें सूक्तका दसवाँ मन्त्र 'गायत्री-मन्त्र' के नामसे विख्यात है जो इस प्रकार है—

'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥'

यदि महर्षि विश्वामित्र न होते तो यह मन्त्र हमें उपलब्ध न होता उन्हींकी कृपासे— साधनासे यह गायत्री-मन्त्र प्राप्त हुआ है। यह मन्त्र सभी वेदमन्त्रोंका मूल है—बीज है इसीसे सभी मन्त्रोंका प्रादुर्भाव हुआ। इसीलिये गायत्रीको 'वेदमाता' कहा जाता है। यह मन्त्र सनातन परम्पराके जीवनमें किस तरह अनुस्यूत है तथा इसकी कितनी महिमा है, यह तो स्वानुभव-सिद्ध है। उपनयन-संस्कारमें गुरुमुखद्वारा इसी मन्त्रके उपदेशसे द्विजत्व प्राप्त होता है और नित्य-संध्याकर्ममें मुख्य रूपसे प्राणायाम सूर्योपस्थान आदिद्वारा गायत्री-मन्त्रके जपकी सिद्धिमें ही सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार यह गायत्री-मन्त्र महर्षि विश्वामित्रकी ही देन है और वे इसके आदि आचार्य हैं। अतः गायत्री-उपासनामें इनकी कृपा प्राप्त करना भी आवश्यक है। इन्होंने गायत्री-साधना तथा दीर्घकालीन संध्योपासनाकी तप शक्तिसे काम-क्रोधादि विकारोंपर विजय प्राप्त की और ये तपस्याके आदर्श बन गये।

महर्षिने न केवल वैदिक मन्त्रोंके माध्यमसे ही गायत्री-उपासनापर बल दिया अपितु उन्होंने अन्य जिन ग्रन्थोंका प्रणयन किया उनमें भी मुख्यरूपसे गायत्री-साधनाका ही उपदेश प्राप्त होता है। 'विश्वामित्रकल्प' 'विश्वामित्रसंहिता' तथा 'विश्वामित्रस्मृति' आदि उनके मुख्य ग्रन्थ हैं। इनमें भी सर्वत्र गायत्रीदेवीकी आराधनाका वर्णन किया गया है और यह निर्देश है कि अपने अधिकारानुसार गायत्री-मन्त्रके जपसे सभी सिद्धियाँ तो प्राप्त हो ही जाती हैं। इसीलिये केवल इस मन्त्रके जप कर लेनेसे सभी मन्त्रोंका जप सिद्ध हो जाता है।

महामुनि विश्वामित्र तपस्याके धनी हैं। इन्हें गायत्री-माता सिद्ध थीं और इनकी पूर्ण कृपा इन्हें प्राप्त थी। इन्होंने नवीन सृष्टि तथा त्रिशंकुको सशरीर स्वर्ग आदि भेजने और ब्रह्मर्षिपद प्राप्त करने-सम्बन्धी जो भी असम्भव कार्य किये उन सबके पीछे गायत्री-जप एवं संध्योपासनाका ही प्रभाव था।

भगवती गायत्री कैसी हैं उनका क्या स्वरूप है उनकी आराधना कैसे करनी चाहिये यह सर्वप्रथम आचार्य विश्वामित्रजीने ही हमें बताया है। उन्होंने भगवती गायत्रीको सर्वस्वरूपा बताया है और कहा है कि यह चराचर जगत् स्थूल-सूक्ष्म भेदसे भगवतीका ही विग्रह है तथापि उपासना और ध्यानकी दृष्टिसे उनका मूल स्वरूप कैसा है—इस विषयमें उनके द्वारा रचित निम्न श्लोक द्रष्टव्य है जो आज भी गायत्रीके उपासकों तथा नित्य संध्या वन्दनादि करनेवालोंके द्वारा ध्येय होता रहता है—

गायत्री-माताका ध्यान—

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशां शुभ्रं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे॥

(देवीभागवत १२।३)

अर्थात् 'जो मोती मूँगा सुवर्ण नीलमणि तथा उज्ज्वल प्रभाके समान वर्णवाले (पाँच) मुखास सुशाभित हैं। तान नेत्रोसे जिनके मुखकी अनुपम शाभा होती है। जिनके रत्नमय मुकुटम चन्द्रमा जडे हुए हैं, जो चौबीस वर्णोंस युक्त हैं तथा जा वरदायिनी गायत्री अपने हाथाम अभय और वर-मुद्राएँ, अकुश, पाश, शुभ्रकपाल रस्सी शङ्ख चक्र और दो कमल धारण करती हैं हम उनका ध्यान करते हैं ।

इस प्रकार महर्षि विश्वामित्रका इस जगत्पर महान् उपकार ही है। महिमाक विषयम इससे अधिक क्या कहा जा सकता है कि साक्षात् भगवान् जिन्हं अपना गुरु मानकर उनकी सेवा करते थे। महर्षिने सभी शास्त्रा तथा धनुर्विद्याके आचार्य श्रीरामका बला, अतिबला आदि विद्याएँ प्रदान कीं, सभी शास्त्राका ज्ञान प्रदान किया और भगवान् श्रीरामकी चिन्मय लीलाआक वे मूल-प्रेरक रह तथा लीला-सहचर भी बने।

क्षमाकी मूर्ति वसिष्ठक साथ विश्वामित्रका जा विवाद हुआ प्रतिस्पर्धा हुई वह भी लोकशिक्षाका हा एक रूप है। इस आख्यानसे गो-महिमा, त्यागका आदश क्षमाकी शक्ति, तपस्याकी शक्ति, उद्यमकी महिमा पुरुषार्थ एवं प्रयत्नकी दृढता कर्मयाग सच्ची लगन और निष्ठा एव दृढतापूर्वक कर्म करनकी प्ररणा मिलती है। इस आख्यानस लोकको यह शिक्षा लनी चाहिये कि काम क्राध आदि साधनाक महान् वाधक हैं जबतक व्यक्ति इनक मोहपाशम रहता है उसका अभ्युदय सम्भव नहीं किंतु जब यह इन आसुरी सम्पदाआका परित्याग कर दैवी-सम्पदाका आश्रय लेता है तो यह सर्वपूज्य सर्वमान्य तथा भगवान्का प्रियपात्र हो जाता है। महर्षि वसिष्ठसे जब वे परास्त हा गये तब उन्हाने तपाबलका आश्रय लिया काम-क्रोधक वशीभूत होनेका उन्हं अनुभव हुआ अन्तमें सर्वस्व त्याग कर वे अनासक्त पथक पथिक बन गय और जगद्वन्द्य हो ब्रह्माजी स्वय उपस्थित हुए, उन्हाने उन्हं बड़ [illegible]

ब्रह्मर्षिपद प्रदान किया। महर्षि वसिष्ठने उनकी महिमाका स्थापन किया और उन्हं हृदयसे लगा लिया। दो महान् सत्ताका अद्भुत मिलन हुआ। देवताओने पुष्पवृष्टि की।

सत्यधर्मके आदर्श राजर्षि हरिश्चन्द्रका नाम कौन नहीं जानता? किंतु महर्षि विश्वामित्रकी दारुण परीक्षासे ही हरिश्चन्द्रकी सत्यताम निखार आया, उस वृत्तान्तमें महर्षि अत्यन्त निष्ठुरसे प्रतीत होते हैं किंतु महर्षिने हरिश्चन्द्रको सत्यधर्मकी रक्षाका आदर्श बनान तथा उनकी कीर्तिको सर्वश्रुत एव अखण्ड बनानके लिये ही उनकी इतनी कठोर परीक्षा ली। अन्तम उन्हाने उनका राजैश्वर्य उन्हं लौटा दिया राहिताश्वको जीवित कर दिया और महर्षि विश्वामित्रकी परीक्षारूपी कृपाप्रसादसे ही हरिश्चन्द्र राजासे राजर्षि हो गये, सबके लिय आदर्श बन गये।

ऐतरय ब्राह्मण आदिम भी हरिश्चन्द्रके आख्यान तथा शुन शपके आख्यानम महर्षि विश्वामित्रकी महिमाका वर्णन आया है। ऋग्वेदक तृतीय मण्डलम ३०वे ३३वें तथा ५३वें सूक्तम महर्षि विश्वामित्रका परिचयात्मक विवरण आया है। वहाँसे ज्ञान हाता है कि य कुशिक गोत्रोत्पन्न कौशिक थे (३।२६।२-३)। ये कौशिक लोग महान् ज्ञानी थे, सारे ससारका रहस्य जानत थे (३।२९।१५)। ५३वे सूक्तके ९वें मन्त्रसे ज्ञात हाता है कि महर्षि विश्वामित्र अतिशय सामर्थ्यशाली अतीन्द्रियार्थद्रष्टा देदीप्यमान तेजाके जनयिता और अध्वर्यु आदिम उपदेष्टा हैं तथा राजा सुदासके यज्ञके आचार्य रह हैं।

महर्षि विश्वामित्रके आविर्भावका विस्तृत आख्यान पुराणों तथा महाभारत आदिम आया है। तदनुसार कुशिकवंशमें उत्पन्न चन्द्रवशी महाराज गाधिकी सत्यवती नामक एक श्रेष्ठ कन्या हुई। जिसका विवाह मुनिश्रेष्ठ भृगुपुत्र ऋचीकके साथ सम्पन्न हुआ। ऋचीकन पत्नीकी सवासे प्रसन्न होकर अपने तथा महाराज गाधिको पुत्रसम्पन्न हानेके लिये यज्ञिय चरुको अभिमन्त्रित कर सत्यवतीका प्रदान करते [illegible] 'देवि! यह [illegible] विभक्त है। इस [illegible] पुत्रकी [illegible] एक भाग [illegible] और दूसरा [illegible] दे देना। [illegible] श्रेष्ठ [illegible] तजस्वी [illegible] यह दानों [illegible] प्रसन्न [illegible]

अपनी श्रेष्ठ पत्नी सत्यवतीको ऐसा निर्देश देकर महर्षि ऋचीक तपस्याके लिये अरण्यमें चले गये। इसी समय महाराज गाधि भी तीर्थदर्शनके प्रसगवश अपनी कन्या सत्यवतीका समाचार जानने आश्रममे आये। इधर सत्यवतीने पतिद्वारा प्राप्त चरुके दोनो भाग माताको दे दिये और दैवयोगसे माताद्वारा चरु-भक्षणमे विपर्यय हो गया। जो भाग सत्यवतीको प्राप्त होना था उसे माताने ग्रहण कर लिया और जो भाग माताके लिये उद्दिष्ट था उसे सत्यवतीने ग्रहण कर लिया। ऋषि-निर्मित चरुका प्रभाव अक्षुण्ण था, अमोघ था। चरुके प्रभावसे गाधि-पत्नी तथा देवी सत्यवती—दोनोमें गर्भके चिह्न स्पष्ट होने लगे।

इधर ऋचीक मुनिने योगबलसे जान लिया कि चरु-भक्षणम विपर्यय हो गया है। यह जानकर सत्यवती निराश हो गयीं, परतु मुनिने उन्हें आश्वस्त किया। यथासमय सत्यवतीकी परम्परामे पुत्ररूपमे जमदग्नि पैदा हुए और उन्हींके पुत्र परशुराम हुए। दूसरी आर गाधि-पत्नीने चरुके प्रभावसे दिव्य ब्रह्मशक्ति-सम्पन्न महर्षि विश्वामित्रको पुत्ररूपमें प्राप्त किया। सक्षेपमे यही महर्षि विश्वामित्रके आविर्भावकी कथा है। आगे चलकर महर्षि विश्वामित्रके अनेक पुत्र-पौत्र हुए, जिनसे कुशिकवश विख्यात हुआ। ये गोत्रकार ऋषियाम परिगणित हैं। आज भी सप्तर्षियोमे स्थित होकर महर्षि विश्वामित्र जगत्के कल्याणमें निरत हैं।

महर्षि अत्रि

सम्पूर्ण ऋग्वेद दस मण्डलोमें प्रविभक्त है। प्रत्येक मण्डलके मन्त्रोंके ऋषि अलग-अलग हैं। उनमेसे ऋग्वेदके पञ्चम मण्डलके द्रष्टा महर्षि अत्रि हैं। इसीलिये यह मण्डल 'आत्रेय मण्डल' कहलाता है। इस मण्डलमें ८७ सूक्त हैं। जिनमें महर्षि अत्रिद्वारा विशेषरूपसे अग्नि इन्द्र, मरुत्, विश्वेदेव तथा सविता आदि देवोकी महनीय स्तुतियाँ ग्रथित हैं। इन्द्र तथा अग्निदेवताके महनीय कर्मोका वर्णन है।

महर्षि अत्रि वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। पुराणोमें इनके आविर्भावका तथा उदात्त चरित्रका बडा ही सुन्दर वर्णन हुआ है। वहाँके वर्णनक अनुसार महर्षि अत्रि ब्रह्माजीके मानस-पुत्र हैं और उनके चक्षुभागसे इनका प्रादुर्भाव हुआ—'अक्ष्णोऽत्रि (श्रीमद्भा० ३।१२।२४)। सप्तर्षियोमें महर्षि अत्रिका परिगणन है। साथ ही इन्हे 'प्रजापति' भी कहा गया है। महर्षि अत्रिकी पत्नी अनसूयाजी हैं जो कर्दम प्रजापति और देवहूतिकी पुत्री हैं। देवी अनसूया पतिव्रताआकी आदर्शभूता और महान् दिव्यतेजसे सम्पन्न हैं। महर्षि अत्रि जहाँ ज्ञान तपस्या सदाचार, भक्ति एव मन्त्रशक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप हैं वहीं देवी अनसूया पतिव्रताधर्म एव शीलकी मूर्तिमती विग्रह हैं। भगवान् श्रीराम अपने भक्त महर्षि अत्रि एव देवी अनसूयाकी भक्तिको सफल करने स्वयं उनके आश्रमपर पधारे। माता अनसूयाने देवी सीताको पातिव्रतका उपदेश दिया। उन्हाने अपने पातिव्रतके बलपर शैव्या ब्राह्मणीके मृत पतिको जीवित कराया तथा बाधित सूर्यको उदित कराकर ससारका कल्याण किया। देवी अनसूयाका नाम ही बडे महत्त्वका है। असूया नाम है परदोष-दर्शनका—गुणोमे भी दोष-बुद्धिका और जो इन विकारोंसे रहित हो वही 'अनसूया' है। इसी प्रकार महर्षि अत्रि भी 'अ+त्रि' हैं अर्थात् वे तीनो गुणा (सत्त्व, रजस्, तमस्)-से अतीत है—गुणातीत हैं। इस प्रकार महर्षि अत्रि-दम्पति एवविध अपने नामानुरूप जीवनयापन करते हुए सदाचारपरायण हो चित्रकूटके तपोवनमें रहा करते थे। अत्रिपत्नी अनसूयाके तपोबलसे ही भागीरथी गङ्गाकी एक पवित्र धारा चित्रकूटमे प्रविष्ट हुई और 'मदाकिनी' नामसे प्रसिद्ध हुई—

अत्रिप्रिया निज तप बल आनी।
सुरसरि धार नाउँ मदाकिनि॥
(रा० च० मा० २।१३२।५-६)

सृष्टिके प्रारम्भमें जब इन दम्पतिको ब्रह्माजीन सृष्टिवर्धनकी आज्ञा दी तो इन्होने उस ओर उन्मुख न हो तपस्याका ही आश्रय लिया। इनकी तपस्यासे ब्रह्मा, विष्णु, महशान प्रसन्न हाकर इन्हें दर्शन दिया और दम्पतिकी प्रार्थनापर इनका पुत्र बनना स्वीकार किया।

अत्रि-दम्पतिकी तपस्या और त्रिदेवाका प्रसन्नताके फलस्वरूप विष्णुके अशसे महायोगी दत्तात्रेय ब्रह्माक अशस चन्द्रमा तथा शकरके अशसे महामुनि दुर्वासा महर्षि अत्रि एव देवी अनसूयाक पुत्ररूपमें आविर्भूत हुए—

सोमोऽभूद् ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित्।
दुर्वासा शकरस्यांशो०॥ (श्रीमद्भा० ४

वेदाम उपर्युक्त वृत्तान्त यथावत् नहीं मिलता है, कहीं-कहीं नामामें अन्तर भी है। ऋग्वद (१०।१४३)-में 'अत्रि साख्य' कहा गया है। वेदामे यह स्पष्टरूपसे वर्णन है कि महर्षि अत्रिको अश्विनाकुमाराकी कृपा प्राप्त थी। एक बार जब ये समाधिस्थ थे तब दैत्याने इन्हें उठाकर शतद्वार यन्त्रम डाल दिया और आग लगाकर इन्हे जलानेका प्रयत्न किया किंतु अत्रिका उसका कुछ भी ज्ञान नहीं था। उस समय अश्विनीकुमाराने वहाँ पहुँचकर इन्हे बचाया। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ५१वें तथा ११२वें सूक्तम यह कथा आयी है। ऋग्वेदके दशम मण्डलम महर्षि अत्रिके दीर्घ तपस्याके अनुष्ठानका वर्णन आया है और बताया गया है कि यज्ञ तथा तप आदि करते-करते जब अत्रि वृद्ध हो गये तब अश्विनीकुमारोने इन्ह नवयौवन प्रदान किया (ऋक्० १०।१४३।१)। ऋग्वेदके पञ्चम मण्डलमें अत्रिके वसूयु, सप्तवध्रि नामक अनेक पुत्रोका वृत्तान्त आया है, जो अनेक मन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि रहे हैं (ऋक्० ५।२५-२६, ५।७८)। इसी प्रकार अत्रिके गोत्रज आत्रेयगण ऋग्वेदके बहुतस मन्त्रोंके द्रष्टा हैं।

ऋग्वेदके पञ्चम 'आत्रय मण्डल' का (५२।११—१५) 'कल्याण सूक्त' ऋग्वेदीय 'स्वस्ति-सूक्त' है वह महर्षि अत्रिकी ऋतम्भरा प्रज्ञासे ही हम प्राप्त हो सका है। यह सूक्त 'कल्याण-सूक्त', 'मङ्गल-सूक्त' तथा 'श्रेय-सूक्त' भी कहलाता है। जो आज भी प्रत्यक माङ्गलिक कार्यो शुभ सस्कारो तथा पूजा-अनुष्ठानाम स्वस्ति-प्राप्ति कल्याण-प्राप्ति, अभ्युदय-प्राप्ति भगवत्कृपा-प्राप्ति तथा अमङ्गलके विनाशके लिय सस्वर पठित होता है। इस माङ्गलिक सूक्तम अश्विनी भग अदिति पूषा द्यावापृथिवा बृहस्पति आदित्य वैश्वानर सविता तथा मित्रावरुण और सूर्य-चन्द्रमा आदि दवताआसे प्राणिमात्रक लिय स्वस्तिकी प्रार्थना की गयी है। इससे महर्षि अत्रिके उदात्त-भाव तथा लाक-कल्याणकी भावनाका किंचित् स्थापन होता है।

इसी प्रकार महर्षि अत्रिने मण्डलकी पूर्णताम भा सवितादवस यही प्रार्थना की है कि 'ह सवितादव! आप हमारे सम्पूर्ण दु खाका—अनिष्टाको शाक-कष्टाका दूर कर दें और हमारे लिये जो हितकर हा कल्याणकारी हो उसे उपलब्ध कराय'—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्र तन्न आ सुव॥
(ऋग्वेद ५।८२।५)

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महर्षि अत्रिकी भावना अत्यन्त ही कल्याणकारी थी और उनम त्याग तपस्या शौच सतोष अपरिग्रह अनासक्ति तथा विश्वकल्याणकी पराकाष्ठा विद्यमान थी।

एक आर जहाँ उन्होने वैदिक ऋचाआका दर्शन किया, वहीं दूसरी ओर उन्होने अपनी प्रजाको सदाचार और धर्माचरणपूर्वक एक उत्तम जीवनचर्यामें प्रवृत्त होनेके लिये प्रेरित किया है तथा कर्तव्याकर्तव्यका निर्देश दिया है। इन शिक्षापदेशाको उन्होंने अपने द्वारा निर्मित आत्रेय धर्मशास्त्रमें उपनिबद्ध किया है। वहाँ इन्होने वेदोके सूक्तो तथा मन्त्राकी अत्यन्त महिमा बतायी है। अत्रिस्मृतिका छठा अध्याय वेदमन्त्रोंकी महिमामे ही पर्यवसित है। यहाँ अघमर्षणके मन्त्र सूर्योपस्थानका यह 'उदु त्यं जातवेदसं०' (ऋग्वेद १।५०।१ साम० ३१ अथर्व० १३।२।१६, यजु० ७।४१) मन्त्र पावमानी ऋचाएँ, शतरुद्रिय, गा-सूक्त अश्व-सूक्त एव इन्द्र-सूक्त आदिका निर्देश कर उनकी महिमा और पाठका फल बताया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि महर्षि अत्रिकी वेदमन्त्रापर कितनी दृढ़ निष्ठा थी। महर्षि अत्रिका कहना है कि वैदिक मन्त्रोंके अधिकारपूर्वक जपसे सभी प्रकारके पाप-क्लेशाका विनाश हा जाता है। पाठकर्ता पवित्र हो जाता है, उसे जन्मान्तरीय ज्ञान हो जाता है—जातिस्मरता प्राप्त हो जाती है और वह जा चाहता है वह प्राप्त कर लेता है—

एतानि जप्तानि पुनन्ति जन्तूञ्जातिस्मरत्वं लभते यदीच्छेत्।
(अत्रिस्मृति)

अपनी स्मृतिके अन्तिम ९वें अध्यायम महर्षि अत्रिने बहुत सुन्दर बात बताते हुए कहा है कि यदि विद्वेष-भावस वैरपूर्वक भी दमघापक पुत्र शिशुपालकी तरह भगवान्का स्मरण किया जाय ता उद्धार होनेम कोई संदेह नहीं फिर यदि तत्परायण होकर अनन्यभावसे भगवदाश्रय ग्रहण कर लिया जाय ता परम कल्याणमें क्या सदेह? यथा—

विद्वेषादपि गाविन्दं दमघोषात्मज स्मरन्।
शिशुपालो गतः स्वर्गं किं पुनस्तत्परायण॥
(अत्रि०)

इस प्रकार महर्षि अत्रिने अपने द्वारा द्रष्ट मन्त्रामे अपने धर्मसूत्राम अथवा अपन सदाचरणसे यही बात बतायी है कि व्यक्तिको सत्कर्मका ही अनुष्ठान करना चाहिये।

महर्षि गृत्समद

(डॉ० श्रीवसन्तवल्लभजी भट्ट एम्० ए० पी-एच्० डी०)

वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंमें महर्षि गृत्समदका विशेष माहात्म्य है। ये ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलके द्रष्टा ऋषि हैं। इनके विषयमें ऋग्वेद, अथर्ववेद, ऐतरेयब्राह्मण शतपथब्राह्मण बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी (कात्यायन), महाभारत तथा गणेशपुराण आदिमें बडे ही रोचक आख्यान प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं कुछ अन्तर भी है किंतु उन सभीसे इनकी महिमाका ही ख्यापन होता है। उन आख्यानोंसे ज्ञात होता है कि महर्षि गृत्समद आङ्गिरसगोत्रीय शुनहोत्र ऋषिके पुत्र थे और इनका पैतृक नाम शौनहोत्र था। बादमें इन्द्रके प्रयत्नसे भृगुकुलोत्पन्न शुनक ऋषिके दत्तक पुत्रके रूपमें इनकी प्रसिद्धि हुई और ये शौनक 'गृत्समद' नामसे विख्यात हो गये। इनके गृत्समद नामकी आध्यात्मिक व्याख्यामें बताया गया है कि 'गृत्स'का अर्थ प्राण तथा 'मद'का अर्थ है अपान। अत प्राणापानका समन्वय ही गृत्समद तत्त्व है। इनक द्वारा दृष्ट ऋग्वेदका द्वितीय मण्डल जिसमें कुल ४३ सूक्त हैं 'गार्त्समद मण्डल' कहलाता है।

आचार्य शौनकने बृहद्देवतामें बतलाया है कि महर्षि गृत्समदमें तपस्याका महान् बल था मन्त्रशक्ति प्रतिष्ठित थी वे यथेच्छ रूप बनाकर देवताओंकी सहायता करते थे और असुरोंसे देवताओंकी रक्षा भी किया करते थे। उन्हें इन्द्र और अग्निदेवकी स्तुतियाँ करना अतिप्रिय था। एक बारकी बात है महर्षि गृत्समदका एक महान् यज्ञ सम्पादित हो रहा था। महर्षिका प्रिय करनेके लिये देवताओंके राजा इन्द्र स्वय उस यज्ञमें उपस्थित हुए। असुर देवताओं विशेषरूपसे इन्द्रस द्वेष रखते थे। असुरोंमें भी धुनि तथा चुमुरि नामक दो महाबलशाली असुर थे। वे इन्द्रपर घात करनेके लिये अवसर ढूँढा करते थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि इन्द्र महर्षि गृत्समदक यज्ञम गये हुए हैं तो वे भी बड़ी शीघ्रतास आयुधोंको लेकर वहाँ जा पहुँचे जहाँ यज्ञ हो रहा था। असुरोंको दूरसे आते देख और उनके मनोभाव जानकर महर्षि गृत्समदने इन्द्रकी रक्षाक लिये अपनी तपस्या तथा योगके बलसे अपनेको दूसरे इन्द्रक रूपमें परिवर्तित कर लिया और क्षणभरम व असुरोंके सामनेसे ही अदृश्य भी हो गये। दोनों असुरोंने सोचा कि इन्द्र हमार भयसे अदृश्य हो गया है अत वे भी इन्द्ररूपधारी गृत्समदको ढूँढने लगे। वे इन्द्ररूपधारी मुनि कभी अन्तरिक्षमें दिखलायी पडते तो कभी द्युलोकमें। भयकर धुनि तथा चुमुरि आयुध लेकर उन्ह मारनेके लिये दौडत रहे। मुनिने उन्हें खूब भटकाया और अन्तम उन दोना असुरोको बतलाया कि मैं इन्द्र नहीं हूँ, वास्तविक इन्द्र जो तुम्हारा शत्रु है, वह तो यज्ञस्थलमें ही है। असुरोको पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ, तब गृत्समद महर्षिने इन्द्रकी महनीय कीर्तिका उनके बल-पराक्रमका और उनके गुणाका मन्त्राद्वारा गुणगान किया। गृत्समदद्वारा इन्द्रकी कीर्तिका यह गुणगान उन असुराके लिये वज्रके समान घातक हुआ। गृत्समदने उन दानाके समक्ष इन्द्रकी वीरता शौर्य तथा प्रभुत्वका इतना वर्णन किया कि धुनि तथा चुमुरि नामक उन महादैत्याका नैतिक बल समाप्त हो गया और उसी समय इन्द्रने उपस्थित होकर उन दोना महादैत्योंका वध कर दिया। मुनिने भी अपना वह ऐन्द्ररूप त्याग दिया।

महर्षि गृत्समदका ऐसा अद्भुत प्रयत्न और तपोबल देखकर इन्द्र उनपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्हाने उन्हे अपना अत्यन्त प्रिय सखा बना लिया। अक्षय तप, वाक्सिद्धि अद्भुत पराक्रम मन्त्र-शक्ति तथा अपनी अखण्ड भक्तिका वर उन्ह प्रदान किया। देवराज इन्द्रने अपने सखा गृत्समदका दाहिना हाथ पकडा और उन्ह लेकर व महेन्द्र-सदनम आये। बडे ही आदर-भावसे उन्हाने महर्षिका पूजन किया और कहा—

> गृणन्मदसखे यस्मात् त्वमस्मानृषिसत्तम।
> तस्माद्गृत्समदो नाम शौनहोत्रो भविष्यसि॥
>
> (बृहद्देवता)

तभीसे शौनहात्र गृत्समद उनका नाम पड गया।

बल-वीर्य एव पराक्रम आदि सम्बन्धी महर्षि गृत्समदद्वारा की गयी इन्द्रकी वह स्तुति जो उन्हान दैत्योंक समक्ष की थी ऋग्वदक द्वितीय मण्डलक १२वें सूक्तमें गुम्फित है। यह सूक्त 'सजनीय सूक्त' भी कहलाता है क्योंकि इस सूक्तम आयी हुई प्राय सभी ऋचाओक अन्तिम चरणमें 'स जनास इन्द्र ' यह पद आया है। इस सूक्तमें पद्रह मन्त्र हैं। उदाहरणके लिय पहला मन्त्र यहाँ दिया जा रहा है—

> यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
> यस्य शुष्माद् रादसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्र॥
>
> (ऋक्० २। १२। १)

महर्षि गृत्समद कहते हैं—'हे असुरो! जो उत्पन्न होते ही देवताओंमे प्रधान एव श्रेष्ठ हो गये, मनस्वियाम अग्रगण्य हो गये, जिन्होंने द्योतित होत हुए वृत्रासुर आदि राक्षसोंका वध कर सभी देवताओंकी रक्षा की और वे सभी देवताआमें प्रमुख हो गये। जिस इन्द्रके बल, वीर्य पराक्रमसे द्यावा-पृथिवीके सभी बलशाली भय मानते हैं और जिनके पास महान् शक्तिसम्पन्न सैन्य बल है, वही वास्तविक इन्द्र है। मैं (गृत्समद) इन्द्र नहीं हूँ।'

इसी प्रकार आगेके मन्त्राका साराश है कि जिन्होने चलायमान पृथ्वीको स्थिर किया, अन्तरिक्षका विस्तार किया, जिन्होंने मेघोपर आधिपत्य प्राप्त किया जिन्होने मेघोंके मध्य विद्युत् भी उत्पन्न किया जो सर्वत्र व्याप्त हैं, जो सभी धनाके प्रेरक हैं, जो यजमानकी रक्षा करनेवाले हैं अपने उपासकोको सर्वस्व प्रदान करनेवाले हैं, जो अन्तर्यामी-रूपसे स्थित हैं चराचरके नियन्ता हैं, जिनके अनुशासनमे सभी चलते हैं, जो सबके नेता हैं, जिनके अनुग्रहके बिना विजय प्राप्त करना कठिन है, जो सम्पूर्ण विश्वके प्रतिनिधि हैं जो दुष्टोंका सहार करनेके लिये वज्र आदि आयुधोंको धारण करते हैं, जिन्होने शबर नामक दैत्यका वध किया जो अपनी सप्त रश्मियाके द्वारा वृष्टि कर ससारको जीवन प्रदान करते हैं जो बलवान् हैं, बुद्धिमान् हैं और यज्ञकी रक्षा करनेवाले हैं, हे असुरो! वास्तवम वे ही इन्द्र हैं, मैं इन्द्र नहीं हूँ।

इस प्रकार यह सजनीय सूक्त इन्द्रकी महिमामें पर्यवसित है और महर्षि गृत्समदद्वारा गुम्फित है। इससे महर्षि गृत्समदकी उदारता परापकारिता, देवसखित्व आदि अनेक गुणाका परिज्ञान हाता है और उनकी दिव्य मन्त्र-शक्तिका भी आभास प्राप्त होता है।

एक दूसरे आख्यानमे यही वृत्तान्त किंचित् परिवर्तनके साथ आया है। तदनुसार—

प्राचीन कालकी बात है कि वेनवशीय राजाओके द्वारा एक महान् यज्ञका अनुष्ठान हुआ। इन्द्र आदि सभी देवता उस यज्ञम उपस्थित हुए। महर्षि गृत्समद भी यज्ञमें आये। इन्द्रको मारनेके उद्देश्यसे अनेक दैत्य भी वहाँ छिपकर पहुँचे हुए थे किंतु जब इन्द्रको असुरोंके आगमनकी बात ज्ञात हो गयी तब वे भयभीत हो गये और अपना ऐन्द्ररूप छोडकर उन्हाने गृत्समद महर्षिका रूप धारण कर लिया तथा वे उस यज्ञसे भाग खडे हुए। असुरोंने समझा कि गृत्समद ऋषि ही डरकर भाग गये हैं और हमारा अभीष्ट इन्द्र गृत्समदका रूप धारण कर यहीं यज्ञस्थलमें बैठा है। इस प्रकारका सशय असुराको हो गया। तब उन्होने वास्तविक गृत्समदका ही इन्द्र समझकर विघ्न उपस्थित किया। तब गृत्समद मुनिने 'सजनीय सूक्त' (पूर्वोक्त)-द्वारा इन्द्रकी कीर्तिका ख्यापन किया कि असली इन्द्र तो इस प्रकारके महनीय गुणावाले हैं, मैं इन्द्र नहीं हूँ, परतु असुराने महर्षि गृत्समदका पकड लिया। तब वास्तविक इन्द्रने असुरोको मारकर महर्षिको छुडाया और दोनोंमें अत्यन्त प्रीति हो गयी। तत्पश्चात् इन्द्रने उन्हें भृगुकुलमें शुनकके पुत्र शौनकके रूपमें प्रतिष्ठित किया और अन्तमें अपने लोकमे वास करनेका तथा मन्त्रशक्ति प्राप्त करनेका वर प्रदान किया। कात्यायन मुनिने अपने सर्वानुक्रमणीमें इस वृत्तान्तका विस्तारसे वर्णन करते हुए कहा है—

इन्द्रका कथन—

त्व तु भूत्वा भृगुकुले शुनकाच्छौनकोऽभवत्॥
एतत्सूक्तयुतं पश्य द्वितीयं मण्डलं महत्।
ततो मछ्रेकसवासं लप्स्यसे च महत् सुखम्॥
इतीन्द्रचोदितो जात पुनर्गृत्समदो मुनि।
द्वितीयं मण्डलं दृष्ट्वा यो जातीयेन संयुतम्॥
ऐन्द्रं प्राप्य महद्धाम मुमुदे चेन्द्रपूजित।

महर्षि गृत्समदद्वारा इन्द्रकी प्रियता तथा उनके धामको प्राप्त करनेकी बात ऐतरेय ब्राह्मण (२१। २)-में इस प्रकार कही गयी है—

'एतेन वै गृत्समद इन्द्रस्य प्रिय धामोपागच्छत्। स परमं लोकमजयत्।'

महाभारत-अनुशासनपर्वमें भी पूर्वोक्त कथाका ख्यापन हुआ है। साथ ही महाभारतमें महामुनि गृत्समदका एक अन्य रोचक आख्यान आया है। तदनुसार गृत्समद हैहय क्षत्रियोंके राजा और वीतहव्यके पुत्र थे। एक बार काशिराज प्रतर्दनके भयसे वीतहव्य महर्षि भृगुके आश्रममें जा छिपे। इन्हे खोजते हुए प्रतर्दन भी वहाँ जा पहुँचे। पूछनेपर भृगुने कहा कि—'मेरे आश्रमम क्षत्रिय नहीं रहता'। तपोधन ऋषियाके वचन झूठे होते नहीं अमोघ होते हैं। अत भृगुके उस वचन मात्रमे क्षत्रिय राजा वीतहव्य ब्राह्मण हो गये। ब्रह्मर्षि हो गये और इनके पुत्र भी गृत्समद क्षत्रियसे मन्त्रद्रष्टा परमर्षि हो गये। तबसे इनको भृगुवशीयता प्राप्त हो गयी। यथा—

भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षिता गत ॥

वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वमेव च।
तस्य गृत्समद पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापर ॥
शक्रस्त्वमिति यो दैत्यैर्निगृहीत किलाभवत्।
ऋग्वेदे वर्तते चाग्र्या श्रुतिर्यस्य महात्मन ॥
यत्र गृत्समदो राजन् ब्राह्मणै स महीयते।
स ब्रह्मचारी विप्रर्षि श्रीमान् गृत्समदोऽभवत्॥

(महा० अनु० ३०। ५७—६०)

गणेशपुराणमें बताया गया है कि गृत्समद भगवान् गणेशके महान् भक्त थ। उनकी प्रसन्नताक लिय उन्होंने हजारों वर्षपर्यन्त कठिन तप किया था। अनन्तर उन्ह उनके प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हुए और अनेक वर भी प्राप्त हुए।

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थोम महर्षि गृत्समदक अनक प्रकारके आख्यान प्राप्त होत हैं, जिनसे उनके दिव्य चरित्रका ख्यापन होता है।

गार्त्समद-मण्डल—इस मण्डलमे ४३ सूक्त हैं, जिनम इन्द्र, अग्नि, आदित्य मित्रावरुण, वरुण विश्वेदेव तथा मरुत् आदि देवोकी स्तुतियाँ हैं। इन्द्र और महर्षिक परस्पर सख्यका वृत्तान्त भी वर्णित है। इस मण्डलम लगभग १६ सूक्तोंम इन्द्रकी स्तुतियाँ हैं। अन्तिम ४२ तथा ४३व सूक्तम इन्द्रका कपिजलके रूपमें आख्यापन है। राका सिनीवाली आदि देवताओकी भी स्तुतियाँ हैं (३२वाँ सूक्त)। मण्डलके प्रारम्भिक सूक्तामें अग्निदवकी महानताका वर्णन हुआ है। गणेशका ब्रह्मणस्पतिरूपम वर्णन इस मन्त्रम हुआ है—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराज ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ न शृण्वन्नूतिभि सीद सादनम्॥

(ऋक्० २। २३। १)

मण्डलका अन्तिम ४२वाँ तथा ४३वाँ सूक्त वायस सूक्त' भी कहलाता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३। १०। ९)-में बताया गया है कि वायस पक्षीके अमङ्गल शब्दका श्रवण होनेपर इन दो सूक्तो (६ ऋचाओ)-का जप करना चाहिये—'**वयसाममनोज्ञा वाच श्रुत्वा कनिक्रदज्जनुष प्रब्रुवाण इति सूक्त जपेत्।**'

इन सूक्ताक देवता कपिजलरूपधारी इन्द्र हैं और इनसे प्रार्थना की गयी है कि हे कपिजल! तुम हमारे लिय प्रकृष्ट कल्याणकारी होओ—'**सुमङ्गलश्च शकुने भवासि**' (२। ४२। १), '**सुमङ्गलो भद्रवादी वदेह**' (२। ४२। २)। साथ ही उत्तम बुद्धिकी प्रार्थना भी की गया है—'**सुमति चिकिद्धि न** ॥ (२। ४३। ३)

इस प्रकार महर्षि गृत्समदका 'गार्त्समद-मण्डल' माङ्गलिक अभिलापाके साथ पूर्ण हुआ है।

महर्षि वामदेव

महर्षि वामदेव ऋग्वेदके चौथे मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। चौथे मण्डलम कुल ५८ सूक्त हैं। जिनम महर्षिद्वारा अग्नि, इन्द्र, वरुण साम ऋभु, दधिकाष्ण विश्वेदेव तथा उषा आदि देवताओकी स्तुतियाँ की गयी हैं। उन स्तुतियाम लोककल्याणकी उदात्त भावना निहित है। महर्षि वामदेव ब्रह्मज्ञानी तथा जातिस्मर महात्मा रहे हैं। वायुपुराणम आया है कि इन्हाने अपने ज्ञानसे ऋषित्व प्राप्त किया था—'ज्ञानतो ऋषितां गत ' (वायु० ५९। ९१)। ऋग्वेदम ऋषिने स्वय अपना परिचय दिया है तदनुसार स्पष्ट होता है कि इन्ह गर्भमें ही आत्मज्ञान और ब्रह्मविद्याका साक्षात्कार हो गया था। ऋग्वेदकी निम्न ऋचाका उन्हें माताके गर्भमें ही दर्शन हो गया था इसलिये उन्हाने माताके उदरम ही कहा था—

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्॥[१]

(ऋक्० ४। २७। १)

ऋचाका भाव यह है कि 'अहो! कितने आश्चर्य और आनन्दकी बात है कि गर्भमें रहते-रहते ही मैंने इन अन्त -करण और इन्द्रियरूप देवताओके अनेक जन्माका रहस्य भलीभाँति जान लिया अथात् मैं इस बातको जान गया कि ये जन्म आदि वास्तवम इन अन्त करण और इन्द्रियोंके ही होते हैं आत्माक नहीं। इस रहस्यको समझनेस पहले मुझे सैकडो लोहेके समान कठोर शरीररूपी पिंजराम अवरुद्ध कर रखा था। उनम मेरी ऐसा दृढ अहंता हो गयी थी कि उससे छूटना मेरे लिये कठिन हो रहा था। अब मैं बाज

---

१ ऐतरेय उपनिषद् (अध्याय २ खण्ड १। ५ ६) मे जन्म मृत्युके रहस्य क्रमसे तथा परमात्म तत्त्वको प्राप्ति क्रममें इसी सन्दर्भ ऋचाको उद्धृत किया गया है।

पक्षीकी भाँति ज्ञानरूप बलके वेगसे उन सबको ताड़कर उनसे अलग हो गया हूँ। उन शरीररूप पिंजरोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा, मैं सदाके लिये उन शरीरोंकी अहंतासे मुक्त हो गया हूँ।' इस ऋचामें गर्भस्थित वामदेवने यह उपदेश दिया है कि देह आदिमें आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि देहात्मवाद ही अविद्याजन्य बन्धन है और उस बन्धनका नाश ही मोक्ष है। जैसे पक्षी घोंसलेसे भिन्न है, वैसे ही यह आत्मतत्त्व भी शरीरसे सर्वथा व्यतिरिक्त है।

इस प्रकार गर्भज्ञानी महात्मा वामदेव ऋषिको गर्भमें भी मोह नहीं हुआ। उन्होंने विचार किया कि मेरा आविर्भाव भी सामान्य न होकर कुछ विशिष्ट ढंगसे ही होना चाहिये। उन्होंने सोचा कि माताकी योनिसे तो सभी जन्म लेते हैं और इसमें अत्यन्त कष्ट भी है, अतः मैं माताके पार्श्व भागका भेदन करके बाहर निकलूँगा—

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि।

(ऋक्० ४। १८। २)

इन्द्रादि देवोंने जब गर्भस्थित वामदेवको ऐसा कार्य करनेसे रोका तो उन्होंने अपने समस्त ज्ञान और अनुभवका परिचय देते हुए उनसे कहा—'हे इन्द्र! मैं जानता हूँ कि मैं ही प्रजापति मनु हूँ, मैं ही सबको प्रेरणा देनेवाला सविता-देव हूँ, मैं ही दीर्घतमाका मेधावी कक्षीवान् नामक ऋषि हूँ, मैं ही अर्जुनीका पुत्र कुत्स नामक ऋषि हूँ और मैं ही क्रान्तदर्शी उशना ऋषि हूँ। तात्पर्य यह है कि परमार्थ-दृष्टिसे मैं ही सब कुछ हूँ, इसलिये मुझे आप सर्वात्माके रूपमें देखें।' वामदेवी ऋचा इस प्रकार है—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥

(ऋक्० ४। २६। १)

इस प्रकार अपने आत्मज्ञान तथा जन्मान्तरीय ज्ञानका परिचय देकर वामदेवने अपने योगबलसे श्येन (बाज) पक्षीका रूप धारण कर लिया और बड़े वेगसे वे अपनी माताकी कुक्षि-प्रदेशसे बाहर निकल पड़े[1]। उनके इस कार्यसे इन्द्र रुष्ट हो गये, किंतु वामदेवने अपनी स्तुतियोंद्वारा उन्हें प्रसन्न कर लिया और इन्द्रकी उनपर कृपा हो गयी। कालान्तरमें वामदेव ऋषि जब दरिद्रतासे ग्रस्त हो गये, तब भी इन्द्रदेवताने उनपर कृपा की और उन्हें अमृतके समान मधुर पेय प्रदान किया, इससे वामदेव संतृप्त हो गये। इन्द्रकी प्रशंसामें वामदेव ऋषि कह उठते हैं—'द्योतित होनेवाले अग्नि आदि देवताओंके मध्य मैं इन्द्रके समान अन्य किसी देवताको नहीं देखता हूँ, जो सुख-शान्ति दे सके'—'न देवेषु विविदे मर्डितारम्' (ऋक्० ४। १८। १३)। 'उन्होंने ही मुझे मधुर जल प्रदान किया'—'मध्वा जभार' (ऋक्० ४। १८। १३)।

महर्षि वामदेवने विश्वामित्रद्वारा दृष्ट संपातसूक्तोंका प्रचार किया—'विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवोऽसृजत्।' (ऐत०ब्राह्म० ४। २)। इन्होंने अनेक यज्ञ-यागादिका अनुष्ठान किया था। स्वयं इन्द्र उपस्थित होकर इनके यज्ञकी रक्षा करते थे (ऋक्० ४। १६। १८)। वामदेव ऋषिने स्वयं कहा है कि हम सात (६ अंगिरा और वामदेव) मेधावी हैं, हमने ही अग्निकी रश्मियोंको उत्पन्न किया है (ऋक्० ४। २। १५)।

महर्षि वामदेव गौतमके पुत्र कहे गये हैं। गोत्रकार ऋषियोंमें इनकी गणना है। गायत्री-मन्त्रके चौबीस अक्षरोंके पृथक्-पृथक् ऋषि हैं, उनमें पाँचवें अक्षरके ऋषि वामदेव ही हैं। इनका तप, स्वाध्याय, अनुष्ठान तथा आत्मनिष्ठैक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। मुख्य रूपसे ये इन्द्र, अग्नि तथा सवितादेवके उपासक थे। इनके जीवनमें शौच, संतोष, अपरिग्रह तथा परहितका उदात्त-भाव प्रतिष्ठित था। इसी तप, स्वाध्याय और अध्यात्म-साधनाके बलपर उन्हें मन्त्रशक्तिका दर्शन हुआ था। रामायण आदिमें वर्णन आया है कि महर्षि वामदेव राजर्षि दशरथके प्रधान ऋत्विक्

१-आचार्य सायणने इस घटनाका विवरण इस प्रकार दिया है—

गर्भस्थो ज्ञानसम्पन्नो वामदेवो महामुनिः। मतिं चक्रे न जायेय योनिदेशात्तु मातृतः॥
किंतु पार्श्वादितोऽहं " " "। गर्भे शयानं सुचिरं मातुर्गर्भाद्विनिर्गतम्॥
श्येनरूपं समास्थाय गर्भद्वारेण निर्गतः। ऋषिर्गर्भे शयानः सन् ब्रूते गर्भे नु सन्निति॥

(ऋक्० ४। १८ के प्रारम्भमें सायणभाष्य)

और कुलपुरोहित रहे हैं—

ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे॥

(वा०रा० १।७।४)

वामदेव रघुकुल गुर ग्यानी।

(रा०च०मा० १।३६१।१)

वामदेउ बसिष्ठ तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए॥
मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे। कहि परमारथ बचन सुदेसे॥

(रा०च०मा० २।१६९।७-८)

इस प्रकार महर्षि वामदेवकी मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंमें विशेष महिमा है।

महर्षि वामदेव और 'वामदेव-मण्डल'

ऋग्वेदका चौथा मण्डल महर्षि वामदेवके द्वारा दृष्ट है। इसीलिये यह 'वामदेव-मण्डल' और इनके द्वारा दृष्ट ऋचाएँ 'वामदेवी ऋचाएँ' कहलाती हैं। चतुर्थ मण्डलके प्रारम्भके कई सूक्तोंमें अग्निदेवकी महनीय स्तुतियाँ हैं, जिनमे अग्निदवके विभिन्न स्वरूपों तथा उनके कार्योंका विवरण है। इस मण्डलमें कई आख्यान भी आये हैं। सोलहवे सूक्तकी ऋचाओंमें राजर्षि कुत्सका आख्यान आया है।

राजर्षि कुत्सका आख्यान—रुरु नामक एक राजर्षि थे उनके पुत्र थे—कुत्स। एक बार राजर्षि कुत्स जब शत्रुओंद्वारा सग्राममें पराजित हो गये तब अशक्त रुरुने शत्रुओंके विनाशके लिये देवराज इन्द्रका आह्वान किया। स्तुतिसे इन्द्र प्रसन्न हो गये और उन्होने स्वयं उपस्थित होकर उनके शत्रुओंको मार गिराया। तदनन्तर इन्द्र तथा कुत्समे अत्यन्त प्रीति हो गयी। इतना ही नहीं इन्द्र मित्रभावको प्राप्त राजर्षि कुत्सको देवलोकमे ले गये और अपने ही समान उन्हे रूप प्रदान कर अपने अर्धासनपर उन्हें विठाया। उसी समय दवी शची वहाँ उपस्थित हुईं तो वे दो इन्द्रोको देखकर सशकित हो गयीं और निर्णय न कर सकीं कि वास्तवमे उसके स्वामी इन्द्र इनमेसे कौन हैं।

इस आख्यायिकाको ऋग्वेद (४।१६।१०)-में सकलित किया गया है। इसमे महर्षि वामदेवने इन्द्रदेवताकी महिमामे इस आख्यायिकाको उपन्यस्त बताया है। कथाका भाव यह है कि स्तुतिसे इन्द्रदेवता प्रसन्न होकर अपने भक्तको साक्षात् दर्शन देते हैं, उसका कार्य सिद्ध कर देते हैं और उसे अपना पद भी प्रदान कर देते हैं। अत देवताओंकी भक्ति करनी चाहिये इससे भगवान्‌की सन्निधि प्राप्त हो जाती है।

ऐसे ही इस मण्डलमें पुरुकुत्स तथा उनके पुत्र राजर्षि त्रसदस्यु आदिके भी अनेक सुन्दर प्रेरणाप्रद आख्यान आये हैं।

सौरी ऋचा—चतुर्थ मण्डलमे एक मुख्य ऋचा (मन्त्र) आयी है जो 'सौरी' ऋचा कहलाती है। इस ऋचाके द्रष्टा वामदेव ऋषि हैं और इसमें भगवान् सूर्य ही सर्वात्मा सर्वव्यापक सर्वनियन्ता सर्वाधार तथा परब्रह्म परमात्माके रूपमे निरूपित किये गये हैं, अत इस ऋचाका सूर्य आदित्य या सविता-सम्बन्धी वेदमें आये सभी मन्त्रोंमे विशेष महत्त्व है। यह ऋचा इस प्रकार है—

हंस शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥

(ऋक्० ४।४०।५)

—यह मन्त्र विशेष महत्त्वका होनेके कारण यजुर्वेद (१०।२४ १२।१४), काण्वशाखा (१६।५।१८ १५।६।२५), तैत्तिरीयसंहिता (१।८।१५।२, ४।२।१।५) ऐतरेय ब्राह्मण (४।२०) तथा तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१०।२) आदिमे यथावत् उपन्यस्त है। आश्वलायन श्रौतसूत्र आदिमें निर्दिष्ट है कि यह सौरी ऋचा मैत्रावरुणशस्त्र-यागमें विनियुक्त है। ऋग्विधान (२।२४०)-मे एक श्लोक इस प्रकार आया है—

हंस शुचिषदित्यृचा शुचिरीक्षेद्दिवाकरम्।
अन्तकाले जपन्नेति ब्रह्मण सद्म शाश्वतम्॥

—इस श्लोकसे यह भाव स्पष्ट है कि 'पूर्वोक्त ऋचा 'हंस शुचिषद्' में भगवान् दिवाकर जो साक्षात् परमात्माके रूपमें दर्शन दे रहे हैं उनकी आराधना करनी चाहिये। अन्त समयमें इस ऋचाका जप करने तथा आदित्य-मण्डलमें जो हिरण्मय-पुरुष नारायण स्थित हैं उनका ध्यान करनेसे परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और उनका शाश्वत परमधाम प्राप्त होता है।'

उपर्युक्त ऋचाका भाव यह है कि आदित्य-मण्डलाधिष्ठातृ हिरण्मय-नारायण जो पुरुष हैं वे ही परमात्मा हैं। वे

सर्वव्यापक हैं। वे द्युलोकमें प्रतिष्ठित हैं। वे मध्यस्थानीय वायु देवता हैं, वे ही अन्तरिक्षमे सचरण करनेवाले हैं। वे ही होम-निष्पादक होता हैं, वे ही गार्हपत्याग्नि हैं, वे ही अतिथिवत् पूज्य अग्निरूप हैं, वे लौकिकाग्नि हैं। वे हा मनुष्यामें चैतन्यरूपस अन्तरात्मामें स्थित हैं वे ही वरणीय मण्डलम स्थित और वे ही सत्यस्वरूप हैं। वे ही व्योमम उदकमे तथा रश्मियाम प्रकट होते हैं। इन्द्र आदि अन्य देवता तो अप्रत्यक्ष हैं, किंतु भगवान् आदित्य प्रत्यक्ष सबको नित्य दर्शन देते हैं। यथा—वे विद्युत्के रूपम चमकते हैं नित्य उदयाचलपर उदित होते हैं। इस प्रकार आदित्य ही सर्वाधिष्ठान ब्रह्मतत्त्व हैं, उपास्य हैं।

इसी प्रकार इस चतुर्थ मण्डलम अनेक महत्त्वके सूक्त हैं। वार्ताशास्त्र, कृषिशास्त्र-सम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं। क्षेत्रके कर्षण-सम्बन्धी मन्त्र हैं। हलक फाल आदिकी स्तुतियाँ हैं। आज्य-स्तुति है। जैसे—चतुर्थ मण्डलके ५७वे सूक्तमे 'क्षेत्रस्य पतिना०, शुनं वाहा ०, शुनं न फाला वि कृषन्तु भूमिं०' आदि महत्त्वके मन्त्र हैं। चतुर्थ मण्डलक अन्तिम ५८वें सूक्तम ११ ऋचाएँ हैं। ये ऋचाएँ अग्नि सूर्य अप्, गोघृत आदि देवतापरक हैं। यह सूक्त आज्यसूक्त भी कहलाता है। इसका आदि मन्त्र इस प्रकार है—

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥
(ऋक्० ४।५८।१)

'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य०' यह पञ्चदेवतापरक मन्त्र इसी ५८वें सूक्तका तीसरा मन्त्र है। ऐसे ही 'सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो०' (४।५८।७)—यह मन्त्र भी इसी सूक्तमें है।

इस प्रकार महर्षि वामदेवद्वारा दृष्ट चतुर्थ मण्डल अत्यन्त महत्त्वका है। इसके अध्ययनसे महर्षि वामदेवके महनीय चरित्रका किञ्चित् ख्यापन होता है। औपनिषदिक श्रुति है कि जन्म-जन्मान्तरके ज्ञान रखनेवाले ये ऋषि वामदेव इस शरीरका भेदन कर भगवान्के धामको प्राप्त करके आप्तकाम हो सदाके लिये अमर हो गये—

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत्॥
(ऐतरेयोपनिषद् २।१।६)

महर्षि भरद्वाज

(आचार्य श्रीदुर्गाचरणजी शुक्ल)

ऋग्वेदके छठे मण्डलके द्रष्टा भरद्वाजऋषि कहे गये हैं। इस मण्डलमे भरद्वाजके ७६५ मन्त्र हैं। अथर्ववेदमें भी भरद्वाजके २३ मन्त्र मिलते हैं। वैदिक ऋषियोंमें भरद्वाज-ऋषिका अति उच्च स्थान है। भरद्वाजके पिता बृहस्पति और माता ममता थीं।

भरद्वाजका वंश—ऋषि भरद्वाजके पुत्रोंमें १० ऋषि ऋग्वेदके मन्त्रद्रष्टा हैं और एक पुत्री जिसका नाम 'रात्रि' था वह भी रात्रिसूक्तकी मन्त्रद्रष्टा मानी गयी है। भरद्वाजके मन्त्रद्रष्टा पुत्रोंके नाम हैं—ऋजिष्वा गर्ग, नर पायु, वसु, शास शिराम्बिठ शुनहोत्र सप्रथ और सुहोत्र। ऋग्वेदकी सर्वानुक्रमणीके अनुसार ऋषिका 'कशिपा' भरद्वाजकी पुत्री कही गयी है। इस प्रकार ऋषि भरद्वाजकी १२ संतान मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी कोटिमें सम्मानित थीं। भरद्वाज ऋषिने बड़े गहन अनुभव किये थे। उनकी शिक्षाके आयाम अतिव्यापक थे।

भरद्वाजकी शिक्षा—भरद्वाजने इन्द्रसे व्याकरण-शास्त्रका अध्ययन किया था और उसे व्याख्यासहित अनेक ऋषियोंको पढ़ाया था। 'ऋक्तन्त्र' और 'ऐतरेय ब्राह्मण' दोनोंमें इसका वर्णन है।

भरद्वाजने इन्द्रसे आयुर्वेद पढ़ा था ऐसा चरक ऋषिने लिखा है। अपने इस आयुर्वेदके गहन अध्ययनके आधारपर भरद्वाजने आयुर्वेदसंहिताकी रचना भी की थी।

भरद्वाजने महर्षि भृगुसे धर्मशास्त्रका उपदेश प्राप्त किया और 'भरद्वाज-स्मृति' की रचना की। महाभारत शान्तिपर्व (१८२।५) तथा हेमाद्रिने इसका उल्लेख किया है। पाञ्चरात्र-भक्ति-सम्प्रदायमें प्रचलित है कि सम्प्रदायकी एक

संहिता 'भरद्वाज-संहिता' के रचनाकार भी ऋषि भरद्वाज ही थे।

महाभारत, शान्तिपर्वके अनुसार ऋषि भरद्वाजने 'धनुर्वेद'-पर प्रवचन किया था (२१०।२१)। वहाँ यह भी कहा गया है कि ऋषि भरद्वाजने 'राजशास्त्र' का प्रणयन किया था (५८।३)। कौटिल्यने अपने पूर्वमें हुए अर्थशास्त्रके रचनाकारोंमें ऋषि भरद्वाजको सम्मानसे स्वीकारा है।

ऋषि भरद्वाजने 'यन्त्र-सर्वस्व' नामक बृहद् ग्रन्थकी रचना की थी। इस ग्रन्थका कुछ भाग स्वामी ब्रह्ममुनिने 'विमान-शास्त्र' के नामसे प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थमें उच्च और निम्न स्तरपर विचरनेवाले विमानोंके लिये विविध धातुओंके निर्माणका वर्णन है।

इस प्रकार एक साथ व्याकरणशास्त्र, धर्मशास्त्र शिक्षा-शास्त्र राजशास्त्र अर्थशास्त्र धनुर्वेद आयुर्वेद और भौतिक विज्ञानवेत्ता ऋषि भरद्वाज थे—इसे उनके ग्रन्थ और अन्य ग्रन्थोंमें दिये उनके ग्रन्थोंके उद्धरण ही प्रमाणित करते हैं। उनकी शिक्षाके विषयमें एक मनोरंजक घटना तैत्तिरीय ब्राह्मण-ग्रन्थमें मिलती है। घटनाका वर्णन इस प्रकार है—

भरद्वाजने सम्पूर्ण वेदोंके अध्ययनका यत्न किया। दृढ़ इच्छा-शक्ति और कठोर तपस्यासे इन्द्रको प्रसन्न किया। भरद्वाजने प्रसन्न हुए इन्द्रसे अध्ययनहेतु सौ वर्षकी आयु माँगी। भरद्वाज अध्ययन करते रहे। सौ वर्ष पूरे हो गये। अध्ययनकी लगनसे प्रसन्न होकर दुबारा इन्द्रने फिर वर माँगनेको कहा तो भरद्वाजने पुन सौ वर्ष अध्ययनके लिये और माँगा। इन्द्रने सौ वर्ष प्रदान किये। इस प्रकार अध्ययन और वरदानका क्रम चलता रहा। भरद्वाजने तीन सौ वर्षोंतक अध्ययन किया। इसके बाद पुन इन्द्रने उपस्थित होकर कहा—'हे भरद्वाज! यदि मैं तुम्हें सौ वर्ष और दे दूँ तो तुम उनसे क्या करोगे?' भरद्वाजने सरलतासे उत्तर दिया, 'मैं वेदोंका अध्ययन करूँगा।' इन्द्रने तत्काल बालूके तीन पहाड़ खड़े कर दिये फिर उनमेंसे एक मुट्ठी रेत हाथमें लेकर कहा—'भरद्वाज समझो ये तीन वेद हैं और तुम्हारा तीन सौ वर्षोंका अध्ययन यह मुट्ठीभर रेत है। वेद अनन्त हैं। तुमने आयुके तीन सौ वर्षोंमें जितना जाना है उससे न जाना हुआ अत्यधिक है।' अत मेरी बातपर ध्यान दो—'अग्नि है सब विद्याओंका स्वरूप। अत अग्निको ही जानो। उसे जान लेनेपर सब विद्याओंका ज्ञान स्वत हो जायगा, इसके बाद इन्द्रने भरद्वाजको सावित्र्य-अग्नि-विद्याका विधिवत् ज्ञान कराया। भरद्वाजने उस अग्निको जानकर उससे अमृत-तत्त्व प्राप्त किया और स्वर्गलोकमें जाकर आदित्यसे सायुज्य प्राप्त किया' (तै० ब्रा० ३।१०।११)।

इन्द्रद्वारा अग्नि-तत्त्वका साक्षात्कार किया ज्ञानसे तादात्म्य किया और तन्मय होकर रचनाएँ कीं। आयुर्वेदके प्रयोगोंमें ये परम निपुण थे। इसीलिये उन्होंने ऋषियोंमें सबसे अधिक आयु प्राप्त की थी। वे ब्राह्मणग्रन्थोंमें 'दीर्घजीवितम' पदसे सबसे अधिक लम्बी आयुवाले ऋषि गिने गये हैं (ऐतरेय आरण्यक १।२।२)। चरक ऋषिने भरद्वाजको 'अपरिमित' आयुवाला कहा (सूत्र-स्थान १।२६)। भरद्वाजऋषि काशिराज दिवोदासके पुरोहित थे। वे दिवोदासके पुत्र प्रतर्दनके पुरोहित थे और फिर प्रतर्दनके पुत्र क्षत्रको भी उन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषिने यज्ञ सम्पन्न कराया था (जै० ब्रा० ३।२।८)। वनवासके समय श्रीराम इनके आश्रममें गये थे, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे त्रेता-द्वापरका सन्धिकाल था। उक्त प्रमाणोंसे भरद्वाजऋषिको 'अनूचानतम' और 'दीर्घजीवितम' या 'अपरिमित' आयु कहे जानेमें कोई अत्युक्ति नहीं लगती है।

साम-गायक—भरद्वाजने 'सामगान' को देवताओंसे प्राप्त किया था। ऋग्वेदके दसवें मण्डलमें कहा गया है—'या तो समस्त ऋषियोंने ही यज्ञका परम गुह्य ज्ञान जो बुद्धिकी गुफामें गुप्त था उसे जाना परंतु भरद्वाजऋषिने द्युस्थान (स्वर्गलोक)-के धाता सविता विष्णु और अग्नि देवतासे ही बृहत्सामका ज्ञान प्राप्त किया' (ऋक्० १०।१८१।२)। यह बात भरद्वाज ऋषिकी श्रेष्ठता और विशेषता दोनों दर्शाती है। 'साम' का अर्थ है (सा+अम) ऋचाओंके आधारपर आलाप। ऋचाओंके आधारपर किया गया गान 'साम' है। ऋषि भरद्वाजने आत्मसात् किया था 'बृहत्साम'। ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी परिभाषाओंके सदर्भमें हम कह सकते हैं कि ऋचाओंके आधारपर स्वरप्रधान ऐसा गायन जो स्वर्गलोक आदित्य मन श्रेष्ठत्व और तेजस्को स्वर-आलापमें व्यञ्जित करता हो, 'बृहत्साम'

कहा जाता है। ऋषि भरद्वाज ऐसे ही बृहत्साम-गायक थ। वे चार प्रमुख साम-गायका—गोतम वामदेव भरद्वाज और कश्यपकी श्रेणीमें गिने जाते हैं।

सहिताओमें ऋषि भरद्वाजक इस 'बृहत्साम' की बडी महिमा बतायी गयी है। काठकसहितामें तथा ऐतरेय-ब्राह्मणम कहा गया है कि 'इस बृहत्सामके गायनसे शासक सम्पन्न होता है तथा ओज, तेज और वीर्य बढता है। 'राजसूय यज्ञ' समृद्ध होता है। राष्ट्र और दृढ होता है (ऐत० ब्रा० ३६। ३)। राष्ट्रको समृद्ध और दृढ बनानेके लिये भरद्वाजने राजा प्रतर्दनसे यज्ञम इसका अनुष्ठान कराया था जिससे प्रतर्दनका खोया राष्ट्र उन्ह पुन मिला था' (काठक २१। १०)। प्रतर्दनकी कथा महाभारतके अनुशासनपर्व (अ० ३०)-मे आयी है।

भरद्वाजके विचार—वे कहते हैं अग्निको देखो, यह मरणधर्मा मानवाम मौजूद अमर ज्योति है। यह अग्नि विश्वकृष्टि है अर्थात् सर्वमनुष्यरूप है। यह अग्नि सब कर्मोंमें प्रवीणतम ऋषि है, जो मानवमें रहती है, उसे प्रेरित करती है ऊपर उठनेके लिये। अत पहचानो—

पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।

(ऋक्० ६। ९। ४)

प्रचेता अग्निर्वेधस्तम ऋषि ।

(ऋक्० ६। १४। २)

मानवी अग्नि जागेगी। विश्वकृष्टिको जब प्रज्वलित करग तो उसे धारण करनेके लिये साहस और बलकी आवश्यकता होगी। इसके लिये आवश्यक है कि आप सच्चाईपर दृढ रह। ऋषि भरद्वाज कहते हैं—'हम झुकें नहीं। हम सामर्थ्यवान्के आगे भी न झुक। दृढ व्यक्तिके सामने भी नहीं झुकें। क्रूर-दुष्ट-हिंसक-दस्युके आगे भी हमारा सिर झुके नहीं'—

नवीळवेनमतेनस्थिरायनशर्धतेदस्युजूताय० (ऋक्० ६। २४। ८)

ऋषि समझाते हैं कि जीभसे ऐसी वाणी बोलनी चाहिये कि सुननेवाले बुद्धिमान् बने—'जिह्वया सदमेदं सुमेधा आ' (६। ६७। ८)। हमारी विद्या ऐसी हो, जो कपटी दुष्टोका सफाया करे युद्धोंमें सरक्षण दे, इच्छित धनाको प्राप्त कराये और हमारी बुद्धियोंको निन्दित मार्गसे रोके।

(ऋक्० ६। ६१। ३ ६ १४)

भरद्वाज ऋषिका विचार है कि हमारी सरस्वती, हमारी विद्या इतनी समर्थ हो कि वह सभी प्रकारके मानवोंका पोषण करे। 'हे सरस्वती! सब कपटी दुष्टोंकी प्रजाआका नाश कर।'

'नि बर्हय प्रजां विश्वस्य बृसयस्य मायिन।'

हे सरस्वती! तू युद्धोमे हम सबका रक्षण कर। 'धीनामवित्र्यवतु॥' ह सरस्वती! तू हम सबकी बुद्धियोंकी सुरक्षा कर। 'अवा वाजेषु, नो नेषि वस्य।' (६। ६१। ३ ४,६ १४)

इस प्रकार भरद्वाजके विचारोमें वही विद्या है, जो हम सबका पोषण करे कपटी दुष्टोका विनाश करे, युद्धमें हमारा रक्षण करे हमारी बुद्धि शुद्ध रखे तथा हमें वाञ्छित अर्थ देनेमें समर्थ हो। ऐसी विद्याको जिन्हाने प्राप्त किया है ऋषिका उन्ह आदेश है—'श्रुत श्रावय चर्षणिभ्य' (६। ३१। ५)। अर, ओ ज्ञानको प्रत्यक्ष करनेवाले! प्रजाजनोंको उस उत्तम ज्ञानको सुनाओ और जा दास हैं, सेवक हैं, उनको श्रेष्ठ नागरिक बनाओ—'दासान्यार्याणि कर' (६। २२। १०)। ज्ञानी विज्ञानी, शासक कुशल योद्धा और राष्ट्रको अभय देनेवाले ऋषि भरद्वाजके ऐसे ही तीव्र तेजस्वी और प्रेरक विचार हैं।

महर्षि भृगु

भगवान् विष्णुके हृदय-देशमें स्थित महर्षि भृगुका पद-चिह्न उपासकोंमें सदाके लिये श्रद्धास्पद हो गया। पौराणिक कथा है कि एक बार मुनियाकी इच्छा यह जाननकी हुई कि ब्रह्मा विष्णु तथा शिव—इन तीनों देवोंमें सर्वश्रेष्ठ कौन है? परतु ऐसे महान् देवाकी परीक्षाकी सामर्थ्य कौन कर? उसी मुनिमण्डलीमें महर्षि भृगु भी विद्यमान थे। सभी मुनियोंकी दृष्टि महर्षि भृगुपर जाकर टिक गयी क्योंकि वे महर्षिक बुद्धिबल कौशल असीम सामर्थ्य तथा अध्यात्म-मन्त्रज्ञानसे सुपरिचित थे। अब तो भृगु त्रिदेवकि परीक्षक बन गये। सर्वप्रथम भृगु अपने पिता ब्रह्माके पास गये और उन्हें

प्रणाम नहीं किया, मर्यादाका उल्लंघन देखकर ब्रह्मा रुष्ट हो गये। भृगुने देखा कि इनमे क्रोध आदिका प्रवेश है, अत वे वहाँसे लौट आये और महादेवके पास जा पहुँचे, किंतु वहाँ भी महर्षि भृगुको संतोष न हुआ। अब वे विष्णुके पास गये। देखा कि भगवान् नारायण शेषशय्यापर शयन कर रहे हैं और माता लक्ष्मी उनकी चरणसेवामें निरत हैं। नि शंक भावसे भगवान्के समीप जाकर महामुनिने उनके वक्ष स्थलपर तीव्र वेगसे लात मारी पर यह क्या? भगवान् जाग पडे और मुसकराने लगे। भृगुजीने देखा कि यह तो क्रोधका अवसर था, परीक्षाके लिये मैंने ऐसे दारुण कर्म किया था लेकिन यहाँ तो कुछ भी असर नहीं है। भगवान् नारायणने प्रसन्नतापूर्वक मुनिको प्रणाम किया और उनके चरणको धीरे-धीरे अपना मधुर स्पर्श देते हुए वे कहने लगे—'मुनिवर! कहीं आपके पैरमे चोट तो नहीं लगी? ब्राह्मणदेवता आपने मुझपर बडी कृपा की। आज आपका यह चरण-चिह्न मेरे वक्ष स्थलपर सदाके लिये अंकित हो जायगा।' भगवान् विष्णुकी ऐसी विशाल सहृदयता देखकर भृगुजीने यह निश्चय किया कि देवोंके देव देवेन्द्र नारायण ही हैं।

ये महर्षि भृगु ब्रह्माजीके नौ मानस पुत्रोंमे अन्यतम हैं। एक प्रजापति भी हैं और सप्तर्षियोंमें इनकी गणना है। सुप्रसिद्ध महर्षि च्यवन इन्हींके पुत्र हैं। प्रजापति दक्षकी कन्या ख्यातिदेवीको महर्षि भृगुने पत्नीरूपमे स्वीकार किया जिनसे इनकी पुत्र-पौत्र परम्पराका विस्तार हुआ। महर्षि भृगुके वंशज 'भार्गव' कहलाते हैं। महर्षि भृगु तथा उनके वंशधर अनेक मन्त्रोंके द्रष्टा हैं। ऋग्वेद (५।३१।८)-मे उल्लेख आया है कि कवि उशना (शुक्राचार्य) भार्गव कहलाते हैं। कवि उशना भी वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। ऋग्वेदके नवम मण्डलके ४७ से ४९ तथा ७५मे ७९ तकके सूक्तोंके ऋषि भृगुपुत्र उशना ही हैं। इसी प्रकार भार्गव वेन, सोमाहुति, स्यूमरश्मि भार्गव आर्वि आदि भृगुवंशी ऋषि अनेक मन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि हैं। ऋग्वेदमे पूर्वोक्त वर्णित महर्षि भृगुकी कथा तो प्राप्त नहीं होती, किंतु इनका तथा इनके वंशधरोंका मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके रूपमे ख्यापन हुआ है। यह सब महर्षि भृगुकी महिमाका ही विस्तार है।

~~~

महर्षि कण्व

देवी शकुन्तलाके धर्मपिताके रूपमे महर्षि कण्वकी अत्यन्त प्रसिद्धि है। महाकवि कालिदासने अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में महर्षिके तपोवन, उनके आश्रम-प्रदेश तथा उनका जो धर्माचारपरायण उज्ज्वल एवं उदात्त चरित प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। उनके मुखसे एक भारतीय कन्याके लिये विवाहके समय जो शिक्षा निकली है वह उत्तम गृहिणीका आदर्श बन गयी[1]। वेदमे ये बातें तो वर्णित नहीं हैं, पर इनके उत्तम ज्ञान तपस्या, मन्त्रज्ञान अध्यात्मशक्ति आदिका आभास प्राप्त होता है। १०३ सूक्तवाले ऋग्वेदके आठवें मण्डलके अधिकांश मन्त्र महर्षि कण्व तथा उनके वंशजों तथा गोत्रजोंद्वारा दृष्ट हैं। कुछ सूक्तोंके अन्य भी द्रष्टा ऋषि हैं किंतु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार महर्षि कण्व अष्टम मण्डलके द्रष्टा ऋषि कहे गये हैं। ऋग्वेदके साथ ही शुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिन तथा काण्व—इन दो शाखाओंमेसे द्वितीय 'काण्वसंहिता' के वक्ता भी महर्षि कण्व ही हैं। उन्हींके नामसे इस संहिताका नाम 'काण्वसंहिता' हो गया। ऋग्वेद (१।३६।१०-११)-मे इन्हें अतिथि-प्रिय कहा गया है। इनके ऊपर अश्विद्वयकी कृपाकी बात अनेक जगह आयी है और यह भी बताया गया है कि कण्व-पुत्र तथा इनके वंशधर प्रसिद्ध याज्ञिक थे (ऋक्० ८।१।८) तथा वे इन्द्रके भक्त थे। ऋग्वेदके ८वें मण्डलके चौथे सूक्तमे कण्व-गोत्रज देवातिथि ऋषि हैं जिन्होंने सौभाग्यशाली कुरुङ्ग नामक राजासे ६० हजार गाय दानमें प्राप्त की थीं।[2]

१-महर्षि कण्व शकुन्तलाकी विदाईके समय कहते हैं—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने पत्युर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गम ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामा कुलस्याधय ॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४। १८)

२-धीभि सतानि काण्वस्य वाजिन प्रियमेधैरभिद्युभि । षष्टिं सहस्रानु निर्मजामजे निर्यूथानि गवामृषि ॥ (ऋक्० ८।४।२०)
~~~

जो राजा ६०-६० हजार गाय एक साथ दान कर सकता है, उसके पास कितनी गायें होंगी?

इस प्रकार ऋग्वेदका अष्टम मण्डल कण्ववंशीय ऋषियोंकी देवस्तुतिमें उपनिबद्ध है। महर्षि कण्वने एक स्मृतिकी भी रचना की है, जो 'कण्वस्मृति' के नामसे विख्यात है।

अष्टम मण्डलमें ११ सूक्त ऐसे हैं जो 'बालखिल्य-सूक्त' के नामसे विख्यात हैं। देवस्तुतियोंके साथ ही इस मण्डलमें ऋषिद्वारा दृष्टमन्त्रोंमें लौकिक ज्ञान-विज्ञान तथा अनिष्ट-निवारण सम्बन्धी उपयोगी मन्त्र भी प्राप्त होते हैं। उदाहरणके लिये 'यत् इन्द्र मयामहे०' (८।६१।१३)— इस मन्त्रका दु स्वप्न-निवारण तथा कपोलशक्तिके लिये पाठ किया जाता है। सूक्तकी महिमाके अनेक मन्त्र इसमें आये हैं (८।९७।५)। गौकी सुन्दर स्तुति है, जो अत्यन्त प्रसिद्ध है। ऋषि गो-प्रार्थनामें उसकी महिमाके विषयमें कहते हैं—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥

(ऋक्० ८।१०१।१५)

गौ रुद्रोंकी माता वसुओंकी पुत्री, अदितिपुत्रोंकी बहिन और घृतरूप अमृतका खजाना है, प्रत्येक विचारशील पुरुषको मैंने यही समझाकर कहा है कि निरपराध एवं अवध्य गौका वध न करो।

महर्षि याज्ञवल्क्य

वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों तथा उपदेष्टा आचार्योंमें महर्षि याज्ञवल्क्यका स्थान सर्वोपरि है। ये महान् अध्यात्म-वेत्ता योगी ज्ञानी धर्मात्मा तथा श्रीरामकथाके मुख्य प्रवक्ता हैं। भगवान् सूर्यकी प्रत्यक्ष कृपा इन्हे प्राप्त थी। पुराणोंमें इन्हे ब्रह्माजीका अवतार बताया गया है। श्रीमद्भागवत (१२।६।६४)-मे आया है कि ये देवरातके पुत्र हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्यके द्वारा वैदिक मन्त्रोंको प्राप्त करनेकी रोचक कथा पुराणोंमें प्राप्त होती है तदनुसार याज्ञवल्क्य वेदाचार्य महर्षि वैशम्पायनके शिष्य थे। इन्हींसे उन्हे मन्त्रशक्ति तथा वेदज्ञान प्राप्त हुआ। वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्यसे बहुत स्नेह रखते थे और इनकी भी गुरुजीमें अनन्य श्रद्धा एवं सेवा-निष्ठा थी, किंतु दैवयोगसे एक बार गुरुजीसे इनका कुछ विवाद हो गया जिससे गुरुजी रुष्ट हो गये और कहने लगे—'मैंने तुम्हें यजुर्वेदके जिन मन्त्रोंका उपदेश दिया है, उन्हें तुम उगल दो।' गुरुकी आज्ञा थी मानना तो था ही। निराश हो याज्ञवल्क्यजीने सारी वेदमन्त्र-विद्या मूर्तरूपमें उगल दी जिन्हे वैशम्पायनजीके दूसरे अन्य शिष्योंने तित्तिर (तीतर पक्षी) बनकर श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लिया अर्थात् वे वेदमन्त्र उन्हें प्राप्त हो गये। यजुर्वेदकी यही शाखा जो तीतर बनकर ग्रहण की गयी थी 'तैत्तिरीय शाखा' के नामसे प्रसिद्ध हुई।

याज्ञवल्क्यजी अब वेदज्ञानसे शून्य हो गये थे गुरुजी भी रुष्ट थे अब वे क्या करें? तब उन्होने प्रत्यक्ष देव भगवान् सूर्यनारायणकी शरण ली और उनसे प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! हे प्रभो! मुझे ऐसे यजुर्वेदकी प्राप्ति हो जो अबतक किसीको न मिली हो—

अहमयातयामयजु काम उपसरामीति'॥

(श्रीमद्भा० १२।६।७२)

भगवान् सूर्यने प्रसन्न हो उन्हे दर्शन दिया और अश्वरूप धारण कर यजुर्वेदके उन मन्त्रोंका उपदेश दिया, जो अभी तक किसीको प्राप्त नहीं हुए थे—

एवं स्तुत स भगवान् वाजिरूपधरो हरि।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादित॥

(श्रीमद्भा० १२।६।७३)

अश्वरूप सूर्यसे प्राप्त होनेके कारण शुक्लयजुर्वेदकी एक शाखा 'वाजसनेय' और मध्य दिनके समय प्राप्त होनेसे 'माध्यन्दिन' शाखाके नामसे प्रसिद्ध हो गयी। इस शुक्लयजुर्वेदसंहिताके मुख्य मन्त्रद्रष्टा ऋषि आचार्य याज्ञवल्क्य हैं।

इस प्रकार शुक्लयजुर्वेद हमें महर्षि याज्ञवल्क्यजीने ही दिया है। इस संहितामें चालीस अध्याय हैं। आज प्राय अधिकांश लोग इस वेदशाखासे ही सम्बद्ध हैं और सभी

पूजा अनुष्ठाना सस्कारा आदिमे इसी सहिताके मन्त्र विनियुक्त होत हैं। रुद्राष्टाध्यायी नामसे जिन मन्त्राद्वारा भगवान् रुद्र (सदाशिव)-की आराधना होती है, वे इसी संहिताम विद्यमान हैं। इस प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्यजीका लोकपर महान् उपकार है।

इतना ही नहीं इस सहिताका जो ब्राह्मणभाग 'शतपथब्राह्मण' के नामसे प्रसिद्ध है और जा 'बृहदारण्यक उपनिषद्' है वह भी महर्षि याज्ञवल्क्यद्वारा ही हम प्राप्त है। गार्गी मैत्रेयी और कात्यायनी आदि ब्रह्मवादिनी नारियास जा इनका ज्ञान-विज्ञान एव ब्रह्मतत्त्व-सम्बन्धी शास्त्रार्थ हुआ वह भी प्रसिद्ध ही है। विदेहराज जनक-जैस अध्यात्म-तत्त्ववेत्ताआक ये गुरुपद्भाक् रहे हैं। इन्हाने प्रयागमें भरद्वाजजीका श्रीरामचरितमानस सुनाया। साथ ही इनक द्वारा एक महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्रका प्रणयन हुआ है जो 'याज्ञवल्क्यस्मृति' क नामस प्रसिद्ध है, जिसपर मिताक्षरा आदि प्रौढ सस्कृत-टीकाएँ हुई हैं।

~~~

महर्षि अगस्त्य

ब्रह्मतेजके मूर्तिमान् स्वरूप महामुनि अगस्त्यजीका पावन चरित्र अत्यन्त उदात्त तथा दिव्य है। वेदामें इनका वर्णन आया है। ऋग्वेदका कथन है कि मित्र तथा वरुण नामक देवताआका अमाघ तेज एक दिव्य यज्ञियकलशम पुञ्जीभूत हुआ और उसी कलशके मध्यभागसे दिव्य तेज सम्पन्न महर्षि अगस्त्यका प्रादुर्भाव हुआ[१]। पुराणोम यह कथा आयी है कि महर्षि अगस्त्य (पुलस्त्य)-की पत्नी महान् पतिव्रता तथा श्रीविद्याकी आचार्य हैं जो 'लापामुद्रा' के नामसे विख्यात हैं। आगम-ग्रन्थोंम इन दम्पत्तिकी देवी-साधनाका विस्तारसे वर्णन आया है।

महर्षि अगस्त्य महातेजा तथा महातपा ऋषि थे। समुद्रस्थ राक्षसाके अत्याचारस घबराकर देवता लोग इनकी शरणमे गये और अपना दु ख कह सुनाया। फल यह हुआ कि ये सारा समुद्र पी गय, जिससे सभी राक्षसाका विनाश हो गया। इसी प्रकार इल्वल तथा वातापी नामक दुष्ट दैत्योद्वारा हो रह ऋषि-सहारको इन्हाने बद किया और लोकका महान् कल्याण हुआ।

एक बार विन्ध्याचल सूर्यका मार्ग राककर खडा हो गया जिससे सूर्यका आवागमन ही बद हा गया। सूर्य इनकी शरणमें आये तब इन्होने विन्ध्य पर्वतका स्थिर कर दिया और कहा—'जबतक मैं दक्षिण देशसे न लौटूँ, तबतक तुम ऐस ही निम्न बनकर रुके रहो।' हुआ ऐसा ही है। विन्ध्याचल नीच हो गया फिर अगस्त्यजी लौटे नहीं अत विन्ध्य पर्वत उसी प्रकार निम्न रूपम स्थिर रह गया और भगवान् सूर्यका सदाके लिये मार्ग प्रशस्त हा गया।

इस प्रकारके अनेक असम्भव कार्य महर्षि अगस्त्यने अपनी मन्त्रशक्तिसे सहज ही कर दिखाया और लोगोंका कल्याण किया। भगवान् श्रीराम वनगमनक समय इनके आश्रमपर पधारे थे। भगवान्‌न उनका ऋषि-जावन कृतार्थ किया। भक्तिकी प्रेममूर्ति महामुनि सुतीक्ष्ण इन्हीं अगस्त्यजीके शिष्य थे। अगस्त्यसहिता आदि अनेक ग्रन्थाका इन्हाने प्रणयन किया ,जा तान्त्रिक साधकोके लिये महान् उपादेय है।

सबसे महत्त्वकी बात यह है कि महर्षि अगस्त्यन अपनी तपस्यासे अनक ऋचाआके स्वरूपाका दर्शन किया था इसीलिये य मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहलाते हैं। ऋग्वेदक अनेक मन्त्र इनके द्वारा दृष्ट हैं। ऋग्वदक प्रथम मण्डलक १६५ सूक्तसे १९१ तकके सूक्तोंके द्रष्टा ऋषि महर्षि अगस्त्यजी हैं। साथ ही इनक पुत्र दृढच्युत तथा दृढच्युतक पुत्र इध्मवाह भी नवम मण्डलके २५व तथा २६वें सूक्तके द्रष्टा ऋषि हैं। महर्षि अगस्त्य और लापामुद्रा आज भी पूज्य और वन्द्य हैं नक्षत्र-मण्डलमें य विद्यमान हैं। दूर्वाष्टमी आदि व्रतापवासामें इन दम्पतिकी आराधना-उपासना की जाती है।

~~~

१- सत्रे ह जातावियिता नमाभि कुभ रेत सिषिचतु समानम्। ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥
इस ऋचाके भाष्यमें आचार्य सायणने लिखा है— ततो वासतीवरात् कुम्भात् मध्यात् अगस्त्यो शम्याप्रमाण उदियाय प्रादुर्बभूव। तत एव कुंभाद्वसिष्ठमप्यृषिं जातमाहु ॥
इस प्रकार कुंभसे अगस्त्य तथा महर्षि वसिष्ठका प्रादुर्भाव हुआ।

मन्त्रद्रष्टा महर्षि वसिष्ठ

वैदिक मन्त्रद्रष्टा आचार्योंमें महर्षि वसिष्ठका स्थान सर्वोपरि है। ऋग्वेदका सप्तम मण्डल 'वासिष्ठ-मण्डल' कहलाता है। इस मण्डलके मन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि महर्षि वसिष्ठजी ही हैं। ये ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं तथा मित्रावरुणके तेजसे इनके आविर्भूत होनेकी कथाएँ पुराणोंमें प्राप्त हैं। इनकी पत्नी देवी अरुन्धती महान् पतिव्रता हैं। सप्तर्षिमण्डलमें महर्षि वसिष्ठके साथ देवी अरुन्धती भी विद्यमान रहती हैं। इनका योगवासिष्ठ ग्रन्थ अध्यात्मज्ञानका मुख्य ग्रन्थ है। महर्षि वसिष्ठकी मन्त्रशक्ति योगशक्ति दिव्यज्ञानशक्ति तथा तपस्याकी कोई इयत्ता नहीं। ये क्षमा-धर्मके आदर्श विग्रह हैं। इनका उदात्त दिव्य चरित्र परम पवित्र है।[1]

महर्षि अंगिरा

पुराणोंमें बताया गया है कि महर्षि अंगिरा ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं तथा ये गुणोंमें ब्रह्माजीके ही समान हैं। इन्हें प्रजापति भी कहा गया है और सप्तर्षियोंमें वसिष्ठ विश्वामित्र तथा मरीचि आदिके साथ इनका भी परिगणन हुआ है। इनके दिव्य अध्यात्मज्ञान योगबल तप साधना एवं मन्त्रशक्तिकी विशेष प्रतिष्ठा है। इनकी पत्नी दक्षप्रजापतिकी पुत्री स्मृति (मतान्तरसे श्रद्धा) थीं जिनसे इनके वंशका विस्तार हुआ।

इनकी तपस्या और उपासना इतनी तीव्र थी कि इनका तेज और प्रभाव अग्निकी अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया। उस समय अग्निदेव भी जलमें रहकर तपस्या कर रहे थे। जब उन्होंने देखा कि अंगिराके तपोबलके सामने मेरी तपस्या और प्रतिष्ठा तुच्छ हो रही है तो वे दुःखी हो अंगिराके पास गये और कहने लगे—'आप प्रथम अग्नि हैं मैं आपके तेजकी तुलनामें अपेक्षाकृत न्यून होनेसे द्वितीय अग्नि हूँ। मेरा तेज आपके सामने फीका पड़ गया है अब मुझे कोई अग्नि नहीं कहेगा।' तब महर्षि अंगिराने सम्मानपूर्वक उन्हें देवताओंको हवि पहुँचानेका कार्य सौंपा। साथ ही पुत्ररूपमें अग्निका वरण किया। तत्पश्चात् वे अग्निदेव ही बृहस्पति-नामसे अंगिराके पुत्ररूपमें प्रसिद्ध हुए। उतथ्य तथा महर्षि संवर्त भी इन्हींके पुत्र हैं। महर्षि अंगिराकी विशेष महिमा है। ये मन्त्रद्रष्टा योगी संत तथा महान् भक्त हैं। इनका 'अंगिरा-स्मृति' में सुन्दर उपदेश तथा धर्माचरणकी शिक्षा व्याप्त है।

सम्पूर्ण ऋग्वेदमें महर्षि अंगिरा तथा उनके वंशधरों तथा शिष्य-प्रशिष्योंका जितना उल्लेख है उतना अन्य किसी ऋषिके सम्बन्धमें नहीं है। विद्वानोंका यह अभिमत है कि महर्षि अंगिरासे सम्बन्धित वेश और गोत्रकार ऋषि ऋग्वेदके नवम मण्डलके द्रष्टा हैं। नवम मण्डलके साथ ही ये आंगिरस ऋषि प्रथम, द्वितीय तृतीय आदि अनेक मण्डलोंके तथा कतिपय सूक्तोंके द्रष्टा ऋषि हैं। जिनमेंसे महर्षि कुत्स हिरण्यस्तूप सप्तगु, नृमेध, शकपूत प्रियमेध सिन्धुसित्, वीतहव्य अभीवर्त आङ्गिरस, संवर्त तथा हविर्धान आदि मुख्य हैं।

ऋग्वेदका नवम मण्डल जो ११४ सूक्तोंमें उपनिबद्ध है 'पवमान-मण्डल' के नामसे विख्यात है। इसकी ऋचाएँ पावमानी ऋचाएँ कहलाती हैं। इन ऋचाओंमें सोम देवताकी महिमापरक स्तुतियाँ हैं, जिनमें यह बताया गया है कि इन पावमानी ऋचाओंके पाठसे सोम देवताओंका आप्यायन होता है।

---

१ महर्षि वसिष्ठका विशेष विवरण इस विशेषाङ्कके पृष्ठ संख्या २१ पर दिया गया है। विशेष जानकारीके लिये वहाँ अवलोकन करना चाहिये। यहाँ प्रसंगोपात्त क्रममें उल्लेखमात्र किया गया है।

महाशाल महर्षि शौनकका वैदिक वाङ्मयमे विनय एव स्वाध्यायपूर्ण चारित्र्य

(पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

शुभ चरित्रके लिये चारित्र्यज्ञान आवश्यक है। महर्षि शौनक इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। मुण्डकोपनिषद् (१। १। ३) तथा परब्रह्मोपनिषद् (१। १) आदिमें इन्हे महाशाल-विश्वविद्यालय आदिका सचालक या कुलपति कहा गया है।[१] भागवत (१। ४। १)-में इनका बार-बार उल्लेख आया है। वहाँ इन्हें कुलपतिके साथ 'बह्वृच' (ऋग्वेदाचार्य) भी कहा गया है—

वृद्ध कुलपति सूत बह्वृच शौनकोऽब्रवीत्।[२]

ब्रह्मपुराण (११। ३४) विष्णुपुराण (४।८।६), हरिवशपुराण (१। ३१) एव वायुपुराण (२। ३०। ३-४)-के अनुसार ये महर्षि गृत्समदके पुत्र हैं एव चातुर्वर्ण्यके विशेष प्रवर्तक हुए हैं। भागवत महाभारत आदिमे जो इन्हें 'बह्वृच' कहा गया है, उससे इनका ऋग्वेदका आचार्यत्व तथा उसके व्याख्यानसे विशेष सम्बन्ध दीखता है। इन्होने उसका शाकल एव बाष्कल शाखाआको परिष्कृत रूप भी दिया और य अथर्ववेदके द्रष्टा भी हैं, अत उसकी मुख्य सहिताको शौनकसहिता कहते हैं। ऋग्वेदके दूसरे मण्डलके द्रष्टा भी ये ही हैं। ऋष्यनुक्रमणी तथा ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलमे सर्वत्र इन्हें पहले आङ्गिरस और बादम भार्गव होना कहा है।[३] इनके नामसे रचित ग्रन्थ बहुसख्यक हैं—ऋक्प्रातिशाख्य चरणव्यूह बृहद्देवता अथर्ववेदक ७२ परिशिष्ट, छन्दाऽनुक्रमणी ऋष्यनुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी आदि वेदोंके विस्तृत ऋग्विधान सामविधान यजुर्विधान शौनकस्मृति, आयुष्यहोम उदकशान्ति सन्यासविधि स्वराष्टक आदि ग्रन्थ तथा बृहत्सर्वानुक्रमणी, पादविधान, चरणव्यूह शौनकस्मृति आदि भी इन्हींकी रचनाएँ हैं। अथर्वप्रातिशाख्यका ता दूसरा नाम ही शौनकीय चातुराध्यायिका है। पुरुषसूक्तपर इनका ही भाष्य सर्वोत्तम मान्य है (द्रष्टव्य वाजसनयिसहिता ३१। १ का उवटभाष्य)।

मत्स्यपुराणके अनुसार वास्तुशास्त्रके भी य ही प्रमुख प्रणेता हैं। शौनकगृह्यसूत्र एव परिशिष्टसूत्र भी इन्हींकी रचनाएँ हैं। आश्वलायन इन्हे अपने गृह्यसूत्र (४। ९। ४५)-के अन्तमं दो बार—'नम शौनकाय नम शौनकाय' कहकर गुरुरूपम स्मरण करते हैं। 'वशब्राह्मण' इन्हं कात्यायनका भी गुरु बतलाता है। इसके अतिरिक्त शौनकीयकल्प शौनकीयशिक्षा आदि भी इनक ग्रन्थ हैं। इनक सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

पाणिनिसूत्र[४] 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (४। ३। १०६)-की काशिकावृत्तिम एक 'शौनकीयशिक्षा' का भी उल्लख है और इनके द्वारा उक्त शाखासूत्राक अध्ययन करनवालांके लिये वाजसनेयिन ' की तरह 'शौनकिन ' पद कहनेकी बात कही गयी है। इस गणम वाजसनेय कठ तलवकार आदि १५ शब्दाका पीछे रखकर शौनकका विशष महिमा दिखायी गयी है। 'विकृतिकौमुदी'[५] तथा षड्गुरुशिष्यद्वारा बृहत्सर्वानुक्रमणी वृत्तिमे इनकी विस्तृत चर्चा है। य शतपथब्राह्मण बृहदारण्यक एव गोपथ आदिम सर्वत्र शास्त्रार्थजयी होत हैं। व्याडिका

१—मुनीना दशसाहस्रं योऽन्नपानादिना भरेत् । अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपति स्मृत ॥ (पद्मपु० कूर्मपुराण)

२—महाभारत (१। १। १)-में भी ऐसा ही कहा है—शौनकस्य कुलपतर्द्वादशवार्षिके सत्रे।

३—य आङ्गिरस शौनहोत्रो भूत्वा भार्गव शौनकोऽभवत् — द्वितायं मण्डलमपश्यत्। (ऋग्वेदीय सायणभाष्य भूमिका)

पुराणोंमें भी— शुनहोत्रस्य दायादास्त्रय परमधार्मिका —। पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनक ॥ (ब्रह्मपु० ११। ३२ ३३ ब्रह्माण्ड० २। ६७) ऐसा ही कहा गया है।

४—पाणिनीय अष्टाध्यायी (४। १। १०४)-के बिदादिगण में शुनक पाठ है। उसस गोत्रापत्यम शौनक शब्द बनता है इस प्रकार शुनक इनका गोत्र मानना चाहिये। बृहदारण्यकोपनिषद् (शा० भा० ४। ३। ५) में य कपिगोत्रज हैं। पाणिनि (४। १। १०२ ३। १०६) आदि प्राय सभी ऋषिगणोंमं इनका उल्लेख है।

५—यह विकृतिवल्ली की गङ्गाधरभट्टरचित टीका है।

इनका प्रधान शिष्य कहा गया है। व्याकरण महाभाष्य (१। २। ६४ ६। २। २९)-के अनुमार व्याडिने लक्षश्लोकीय 'सग्रह' नामक व्याकरण-ग्रन्थकी रचना की था। इन्होंने—'गणाना त्वा०' मन्त्रम सत्य वद आर जगत्‌क स्वामी हानेमे 'ब्रह्मणस्पति-बृहस्पति' की यथानाम तथा-गुणकी चरितार्थता मानी है— 'ब्रह्म वाग् ब्रह्म मत्य च ब्रह्म सर्वमिदं जगत्। पातार ब्रह्मणस्तन बृहस्पतितिरितारित (बृहद्वता २। ३९-४० तथा निरुक्त १०। १। १२)।

भागवतम शतानीकका याज्ञवल्क्यका शिष्य कहा गया है। उन्हाने तीना वदाका ज्ञान यानवल्क्यस प्राप्त किया था किंतु कर्मकाण्ड एवं शास्त्रका नान महर्षि शौनकम ही प्राप्त किया था। इससे इनके दीर्घजीवित्व एव धनुर्विद्यादिक पाण्डित्यका भा परिचय मिलता है—

तस्य पुत्र शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन्।
अस्त्रज्ञान क्रियाज्ञान शौनकात् परमेष्यति॥
(श्रीमद्भा० ९। २२। ३८)

इतना होनपर भी आचार्य शौनककी विनयपूर्ण चरित्रशालता एव जिज्ञासा देखत बनती है। इमीलिये प्रपन्नगाता' म य द्वादशमहाभागवतोम भी ८वीं सख्यापर परिगणित हैं। य १८ पुराणों, उपपुराणों तथा महाभारत आदिका उग्रश्रवा, लामहर्षणादिम श्रवण करत हैं। अट्ठारह पुराणाम उनके प्रश्न, उनका भगवद्भक्ति आदि अद्भुत हैं। भागवतम व कहते हैं कि यदि भगवच्चर्चासे अथवा भक्ताकी चर्चास युक्त हा तभा आप यह कथा कह अन्य बातास कोई लाभ नहीं क्याकि उसम आयुका व्यर्थ अपव्यय होता है—

तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्॥
अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्यय॥
(श्रीमद्भा० १। १६। ५-६)

वे श्रीभगवान्‌का कथा श्रवण-कीर्तनसे रहित कान-मुँह-जीभको साँपका बिल और मेढककी जाभ कहत हैं (श्रीमद्भा० २। ३। २०)। गाम्वामी तुलसीदासजीन भी—
जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥
—आदिमें इन्हींके भाव लिय हैं। वैम य नैमिषारण्यवासी ८८ हजार ऋषियाक नता या कुलपति थे। यह बात सत्यनारायण-कथास लेकर सभी पुराणाम बार-बार आता है। भविष्यपुराणम ये मभी ८८ हजार ऋषियोंको लेकर 'म्लेच्छाक्रान्त नैमिषारण्य'को छोडकर बदरिकाश्रममें जाकर कथाश्रवणका प्रबन्ध करते दीखते हैं। इस प्रकार स्वाध्यायचरित्रशील हानक साथ ये बडे विनयी सभी दवताआक उपासक तथा विष्णुभक्त भी रहे हैं। 'बृहद्वता' क ध्यानपूर्वक अवलोकन-आलोचन करनेसे इनक कठोर तप ब्रह्मचर्य एव विशाल वैदिक ज्ञानका परिचय मिलता ह।

पुराणा धर्मशास्त्रा आदिके ममान वैदिक ग्रन्थ भी असख्य हैं। परंतु चारित्र्यक अनुष्ठानक लिय इनका अधिकाधिक स्वाध्याय ज्ञानाति आवश्यक है। यहाँ कवल शौनकरचित ग्रन्थाका निर्देश हुआ है। याज्ञवल्क्य व्यास कात्यायन जैमिनि भारद्वाज विश्वामित्र आदिक भी ग्रन्थ इसा प्रकार असख्य हैं। बृहद्वताका दर्शनम स्पष्ट हाता है कि शौनकने इन सभी-क-सभी ग्रन्थो अनक व्याकरणा तथा अनेक निरुक्ताका भी अवलाकन कर इसकी रचना का था। महाभारत वनपर्वक दूसर अध्यायम इन्हें साङ्ख्ययोग-कुशल भा कहा गया है। वहाँकि इनक चरित्र-सम्बन्धी उपदश बड़ हा सुन्दर है। वहाँ य युधिष्ठिरसे कहत हैं कि आसक्तिके कारण दुःख भय आयाम शोक-हर्ष सभी उपद्रव आ घरत हैं। अत रागको छाड विरक्त बनना चाहिये रागसे तृष्णा उत्पन्न हाकर प्राणान्तक रोग बन जाती है। अर्थ भी घार अनर्थकारा है। उसमें दर्प अनीति कार्पण्य आदि अनक दोष प्रकट हात हैं अत तृष्णादिका त्याग करके संतोषका आश्रय लना चाहिय। इसामें परम सुख है—

अन्तो नास्ति पिपासाया सतोष परमं सुखम्।
तस्मात् सतोषमेवह परं पश्यन्ति पण्डिता॥
(महा० ३। २। ४६)

प्राय य ही बात योगवासिष्ठ भागवत स्कन्दपुराण (माहेश्वरखण्डक कुमारिकाखण्ड)-मं कही गयी हैं।

वस्तुत इन शौनक जैमिनि व्यासादि ऋषियाने स्वाध्यायादिक द्वारा लोकरक्षा धर्मरक्षा, सदाचार एवं चरित्ररक्षाक लिय अपना सारा जीवन ही लगा दिया था। यही आज भी हमार लिये अवश्यानुष्ठेय-कर्तव्य है।

वैदिक ऋषिकाएँ

(१)

वैदिक ऋषिका देवसम्राज्ञी शची

शची देवराज इन्द्रकी पत्नी हैं। ये भी भगवती आद्याशक्तिकी एक कला मानी गयी हैं। ये स्वयवरकी अधिष्ठात्री देवी हैं। प्राचीन कालमें जब कहीं स्वयवर होता था तो पहले शचीका आवाहन और विधिवत् पूजन कर लिया जाता था, जिससे स्वयवर-सभामे कोई विघ्न या बाधा पडनेकी सम्भावना अथवा उत्पात, कलह और किसी प्रकारके उपद्रव आदिकी आशका नहीं रहती थी। ऋग्वेदम कई ऐसे सूक्त मिलते हैं, जो शचीद्वारा प्रकाशमें लाये गये बतलाये जाते हैं। वे सपत्नियोंपर प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये अनुष्ठानोपयागी मन्त्र हैं। शचीदेवी पतिव्रता स्त्रियोम श्रेष्ठ मानी गयी हैं। वे भोग-विलासमय स्वर्गकी रानी होकर भी सतीत्वकी साधनामें सलग्र रहती हैं। उनके मनपर पतिके विलासी जीवनका विपरीत प्रभाव नहीं पडता। वे अपनी ओर देखती हैं और अपनेको सती-साध्वी देवियाके पुण्य-पथपर अग्रसर करती रहती हैं। उनके सर्वस्व देवराज इन्द्र ही हैं। इन्द्रक सिवा दूसरे किसी पुरुषको, भले ही वह इन्द्रसे भी ऊँचे पदपर क्यो न प्रतिष्ठित हो अपने लिये कभी आदर नहीं देतीं।

रत्न किसी अयोग्य स्थानमें पडा हो तो भी रत्न ही है। इससे उसके महत्त्वम कमी नहीं आती। शचीदेवीका जन्म दानवकुलमे हुआ था तथापि वे अपने त्याग-तपस्या और संयम आदि सद्गुणासे देवताओकी भी वन्दनीया हो गयीं। शचीके पिताका नाम था पुलोमा। वह दानव-कुलका सम्मानित वीर था। उसीके नामपर शचीको 'पौलोमी' और 'पुलोमजा' भी कहते हैं। बाल्यकालमें शचीने भगवान् शकरको प्रसन्न करनेके लिये घोर तपस्या की थी और उन्हींके वरदानसे वे देवराजकी प्रियतमा पत्नी तथा स्वर्गलोककी रानी हुईं। शचीका जीवन बडे सुखसे बीतने लगा। इसी प्रकार कई युग बीत गये। देहधारी प्राणी स्वर्गके देवता हों या मर्त्यलोकके मनुष्य उनके जीवनमें कभी-कभी दु खका अवसर भी उपस्थित हो ही जाता है। यह दु ख प्राणियोक लिये एक चेतावनी होता है। सुखी जीवन प्रमादी हो जाता है। दु खी प्राणी ही सजग रहते हैं। उन्हें अपनी भूलो और त्रुटियोको सुधारनेका अवसर मिलता है। सबसे बडी बात यह है कि दु खमे ही भगवान् याद आते हैं और दु खम ही धर्मका महत्त्व समझम आता है। शचीके जीवनमे भी एक समय ऐसा आया, जबकि उन्ह सतीत्वकी अग्निपरीक्षा देनी पडी तथा गर्वके साथ कहना पडता है कि शचीने अपने गौरवके अनुरूप ही कार्य करके धैर्य और साहसपूर्वक प्राणोसे भी अधिक प्रिय सतीत्वकी रक्षा की।

देवराज इन्द्रने त्वष्टाके पुत्र भगवद्भक्त वृत्रासुरका वध कर दिया। इस अन्यायके कारण इन्द्रकी सर्वत्र निन्दा हुई। उनपर भयानक ब्रह्महत्याका आक्रमण हुआ। उससे बचनेके लिये वे मानसरोवरके जलमे जाकर छिप गये। स्वर्गको इन्द्रसे शून्य देखकर देवताओंको बडी चिन्ता हुई। तीना लोकाम अराजकता फैल गयी। अनेक प्रकारके उत्पात होने लगे। वर्षा बद हो गयी। नदियाँ सूख गयीं। पृथ्वी धन-वैभवसे रहित हो गयी। इन सारी बातापर विचार करके देवताआने भूतलसे राजा नहुषको बुलाया और उन्ह इन्द्रके पदपर स्थापित कर दिया। नहुष धर्मात्मा तो थे ही सौ यज्ञोका अनुष्ठान करके इन्द्रपदके अधिकारी भी हो गये थे, किंतु धर्मात्मा होनेपर भी नहुष इन्द्रपद पानेके बाद अपनेको राजमदसे मुक्त न रख सके। वे विषयभोगोंमें आसक्त हो गये। उन्होंने शचीके रूप-लावण्य आदि गुणोकी चर्चा सुनी तो उनकी प्राप्तिके लिये भी वे चिन्तित हो उठे। शचीको जब इसका पता लगा तो वे गुरु बृहस्पतिकी शरणमें गयीं। बृहस्पतिने उनका आश्वासन देते हुए कहा—'बेटी! विश्वास रखो मैं सनातनधर्मका त्याग करके तुम्हे नहुषक हाथमें कभी नहीं पडने दूँगा। जो शरणम आये हुए आतजनोंका रक्षा नहीं करता वह एक कल्पतक नरकमें पडा रहता है। तुम चिन्ता न करो। किसी भी अवस्थामें मैं तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा।

नहुषन सुना इन्द्राणी बृहस्पतिके शरणमें गयी है। बृहस्पतिने उसे अपन घरमें छिपा रखा है। तब उसे बडा क्रोध हुआ। उसने देवताआसे कहा—'यदि

प्रतिकूल आचरण करेगा तो मैं उसे मार डालूँगा।' देवताओंने नहुषको शान्त करते हुए कहा—'प्रभो! आप अपने क्रोधको शान्त कीजिये। धर्मशास्त्रोंमें परस्त्रीगमनकी निन्दा की गयी है। इन्द्रकी पत्नी शची सदासे ही साध्वी जीवन बिताती आ रही हैं। आप इस समय तीनों लोकोंके स्वामी और धर्मके उपदेशक एवं पालक हैं, यदि आप-जैसे महापुरुष भी अधर्मका आचरण करेंगे तो निश्चय ही प्रजाका नाश हो जायगा। स्वामीको सदा ही साधु-पुरुषोंके आचरणका अनुकरण करना चाहिये। आप पुण्यके ही बलसे इन्द्रपदको प्राप्त हुए हैं। पापसे सम्पत्तिकी हानि और पुण्यसे उसकी वृद्धि होती है, इसलिये आप पापबुद्धि छोड़ दीजिये।' जब कामान्ध नहुषपर इस उपदेशका कुछ भी असर न हुआ, तब देवता तथा महर्षि बहुत डर गये, फिर यह कहकर कि 'हम इन्द्राणीको समझा-बुझाकर आपके पास ले आनेकी चेष्टा करेंगे', बृहस्पतिजीके घर चले गये।

देवताओंके मुखसे यह दुःखद समाचार सुनकर बृहस्पतिने कहा—'शची पतिव्रता है और मेरी शरणमें आयी है।' यों कहकर बृहस्पतिने देवताओंके साथ कुछ परामर्श किया और फिर इन्द्राणीको साथ लेकर सब-के-सब नहुषके पास पहुँच गये। इन्द्राणी काँपने लगीं और लजाते-लजाते बोलीं—'देवेश्वर! मैं आपसे वरदान प्राप्त करना चाहती हूँ। आप कुछ कालतक प्रतीक्षा करें। जबतक कि मैं इस बातका निर्णय नहीं कर लेती हूँ कि 'इन्द्र जीवित हैं या नहीं'—इस विषयमें मेरे मनमें संशय बना हुआ है, अतः इसका निर्णय होते ही मैं आपकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगी। तबतकके लिये आप मुझे क्षमा करें।' इन्द्राणीके इस प्रकार कहनेपर नहुष प्रसन्न हो गया और बोला—'अच्छा, जाओ।' इस प्रकार उसके विदा करनेपर देवी शची अन्यत्र जाती हुई सम्पूर्ण देवताओंसे बोलीं—'अब तुम लोग वास्तविक इन्द्रको यहाँ ले आनेके लिये पूर्ण उद्योग करो।' तब देवताओंने जाकर भगवान् विष्णुकी स्तुति की। भगवान्‌ने कहा—'इन्द्र अश्वमेध-यज्ञके द्वारा जगदम्बाकी आराधना करें तो वे पापसे मुक्त हो सकते हैं। इन्द्राणीको भी भगवतीकी आराधनामें लग जाना चाहिये।' यह सुनकर बृहस्पति और देवता उस स्थानपर गये, जहाँ इन्द्र छिपे थे, फिर उन लोगोंने उनसे विधिपूर्वक अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान करवाया। तदनन्तर इन्द्रने अपनी ब्रह्महत्याको वृक्ष, नदी, पर्वत, स्त्री और पृथ्वीको बाँट दिया। इधर इन्द्राणीने भी बृहस्पतिजीसे भुवनेश्वरीदेवीके मन्त्रकी दीक्षा लेकर उनकी आराधना आरम्भ की। वे सम्पूर्ण भोगोंका परित्याग करके तपस्विनी बन गयीं और बड़ी भक्तिसे भगवतीकी पूजा करने लगीं।

कुछ कालके बाद देवीने संतुष्ट होकर इन्द्राणीको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और वर माँगनेको कहा। शचीने कहा—'माताजी! मैं पतिदेवका दर्शन चाहती हूँ तथा नहुषकी ओरसे जो भय मुझे प्राप्त हुआ है, उससे भी मुक्ति चाहती हूँ।' देवीने कहा—'तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी। तुम इस दूतीके साथ मानसरोवर पर्वतपर जाओ। वहाँ तुम्हें इन्द्रका दर्शन होगा।' देवीकी आज्ञासे दूतीने शचीको तुरंत ही उनके पतिके पास पहुँचा दिया। पतिको देखते ही शचीके शरीरमें नूतन प्राण आ गये। जिनके दर्शनके लिये कितने ही वर्षोंसे आँखें तरस रही थीं, उन्हें सामने पाकर शचीके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने नहुषकी पाप-वासना और अपने संकटका सारा वृत्तान्त अपने पतिको सुनाया। सुनकर इन्द्रने कहा—'देवि! पतिव्रता नारी अपने धर्मसे ही सदा सुरक्षित रहती है। जो दूसरोंके बलपर अपने सतीत्वकी रक्षा करती हैं, वे उत्तम श्रेणीकी पतिव्रता नहीं हैं। तुम भगवतीका स्मरण करके उचित उपायसे आत्मरक्षा करो।' यों कहकर इन्द्रने शचीको एक गुप्त एवं रहस्यपूर्ण युक्ति सुझायी तथा इन्द्रलोक भेज दिया। नहुषने शचीको देखकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—'इन्द्राणी! तुम्हारा स्वागत है। तुमने अपने वचनका पालन किया है। अब तुम्हें मुझसे लज्जा नहीं करनी चाहिये। मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ। मेरी सेवा स्वीकार करो।' शची बोलीं—'राजन्! मेरे मनमें एक अभिलाषा है, आप उसे पूर्ण करें। मैं चाहती हूँ कि आप ऐसी सवारीपर चढ़कर मेरे पास आयें, जो अबतक किसीके उपयोगमें न आयी हो।'

नहुषने कहा—'इन्द्राणी! मैं तुम्हारी यह इच्छा अवश्य पूर्ण करूँगा। मेरी शक्ति किसीसे कम नहीं है। मैं ऋषियोंकी पीठपर बैठकर आऊँगा—सप्तर्षि मेरे वाहन होंगे।' यों कहकर नहुषने सप्तर्षियोंको बुलाया और उनकी पीठपर बैठकर इन्द्राणीके भवनकी ओर प्रस्थान किया। उस समय

वह इतना मदान्ध हो रहा था कि महर्षि अगस्त्यका काडोसे पीटने लगा। इस प्रकार नहुषको मर्यादाका अतिक्रमण करते देख क्षमाशील महर्षिके मनम भी क्राधकी आग जल उठा। उन्होने नहुषको शाप देते हुए कहा—'अरे अधर्मगामी! तू सर्पकी योनिमे चला जा।' महर्षिके शाप देते ही नहुष सर्पका रूप धारण करक स्वर्गसे नीचे जा गिरा। इस तरह शचीने अपन सतीत्वकी रक्षा करके अपने ऊपर आये हुए सकटपर विजय प्राप्त की और पतिको भी पुन स्वर्गके सिहासनपर प्रतिष्ठित किया।

(२)

वाचक्नवी गार्गी

वैदिक साहित्य-जगत्‌में ब्रह्मवादिनी विदुषी गार्गीका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनके पिताका नाम वचक्नु था उनकी पुत्री होनेके कारण इनका नाम 'वाचक्नवी' पड गया किंतु मूल नाम क्या था, इसका वर्णन नहीं मिलता। गर्ग-गोत्रम उत्पन्न होनेके कारण लोग इन्हे 'गार्गी' कहत थे और इनका 'गार्गी' नाम ही जनसाधारणमे अधिक प्रचलित था। 'बृहदारण्यकोपनिषद्'में इनके शास्त्रार्थका प्रसग इस प्रकार वर्णित है—

विदेहराज जनकने एक बहुत बडा यज्ञ किया। उसम कुरुसे पाञ्चाल देशतकके विद्वान् ब्राह्मण एकत्र हुए थे। राजा जनक बडे विद्या-व्यसनी तथा सत्सग-प्रेमी थे। उन्ह शास्त्रके गूढ तत्त्वाका विवेचन और परमार्थ-चर्चा दोना अधिक प्रिय थे। इसीलिये उनके मनम यह जिज्ञासा हुई कि यहाँ आये हुए विद्वान् ब्राह्मणोम सबसे बढकर तात्त्विक विवेचन करनेवाला कौन है? इस परीक्षाक लिय उन्हाने अपनी गोशालाम एक हजार गौएँ रखवा कर प्रत्यकके सींगोंमें दस-दस पाद सुवर्ण जड़वा दिया। यह व्यवस्था करके राजाने ब्राह्मणास कहा—'आप लागाम जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो वह इन सभी गौआको ले जाय।' राजाका यह घोषणा सुनकर किसी भी ब्राह्मणम यह साहस नहीं हुआ कि उन गौआको ले जाय। सबका अपन ब्रह्मवेत्तापनम संदेह हुआ। सब सोचन लगे कि 'यदि हम गौएँ ले जानक लिये आगे बढते हैं तो य सभी ब्राह्मण हम अभिमाना समझेंगे और शास्त्रार्थ करने लगगे उस समय हम इन सबको जीत सकगे या नहीं इसका क्या निश्चय है!' यह विचार करत हुए सब चुप ही रह। सबको मौन देखकर याज्ञवल्क्यजीन सामवदका अध्ययन करनवाले अपन ब्रह्मचारीसे कहा—'सोम्य! तू इन सब गौओंको हाँक ल चल।' ब्रह्मचारीने वैसा ही किया।

यह देख ब्राह्मण लोग क्षुब्ध हो उठे। विदेहराजका हाता अश्वल याज्ञवल्क्यसे पूछ बैठा—'क्या ? तुम्हीं हम सबमे बढकर ब्रह्मवेत्ता हो? याज्ञवल्क्यने नम्रतासे कहा—'नहीं ब्रह्मवेत्ताओंका तो हम नमस्कार करते हैं हम केवल गौआकी आवश्यकता है, अत ल जात हैं।' फिर क्या था शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। यज्ञका प्रत्येक सदस्य याज्ञवल्क्यसे प्रश्न करने लगा। याज्ञवल्क्य इससे विचलित नहीं हुए। उन्होने धैर्यपूर्वक सबके प्रश्नाका उत्तर क्रमश देना आरम्भ किया। अश्वलने चुन-चुनकर कितने ही प्रश्न किय किंतु उचित उत्तर पा जानके कारण अन्तत वे चुप हाकर बैठ गये। तब जरत्कारु गोत्रम उत्पन्न आर्तभागने प्रश्न किया उनको यथार्थ उत्तर मिल गया अत वे भी मौन हा गये। तदनन्तर क्रमश आतभाग भुज्यु, चाक्रायण उषस्त और कौपीतकेय कहाल प्रश्न करके चुप बैठ गय। इसके बाद वाचक्नवी गार्गी बोलीं—'भगवन्! यह जा कुछ पार्थिव पदार्थ है वह सब जलस ओतप्रोत है, किंतु जल किसमें ओतप्रोत है? याज्ञवल्क्यने कहा—'जल वायुम ओतप्रोत है।

इस प्रकार क्रमश वायु, आकाश अन्तरिक्ष गन्धर्वलाक आदित्यलाक चन्द्रलाक नक्षत्रलाक देवलाक इन्द्रलोक और प्रजापतिलाकक सम्बन्धम प्रश्नात्तर हानपर जब गार्गीने पूछा कि 'ब्रह्मलाक किसम ओतप्रोत है'? तब याज्ञवल्क्यन कहा—'यह ता अतिप्रश्न है। गार्गी! यह उत्तरका सीमा है अब इसक आग प्रश्न नहीं हा सकता। अत तू प्रश्न न कर, नहीं तो तेरा मस्तक गिर जायगा।' वाचक्नवी विदुषी थीं व याज्ञवल्क्यक अभिप्रायका समझकर चुप हा गयीं। तदनन्तर और कई विद्वानान प्रश्नोत्तर किय। उसक बाद गार्गीने दो प्रश्न और किय। इन प्रश्नोंके उत्तरम याज्ञवल्क्यने अक्षरतत्त्वका जिसे परब्रह्म परमात्मा कहते हैं भाँति-भाँतिसे निरूपण किया। गार्गी याज्ञवल्क्यसे सहमत हो गयीं। निश्चय कर लिया कि इन सबमें [illegible]

ब्रह्मवेत्ता कोई नहीं है, इनको कोई पराजित नहीं कर सकता है। ब्राह्मणो! आप लोग इसीको बहुत समझें कि याज्ञवल्क्यको नमस्कार करनेमात्रसे आपका छुटकारा हो जा रहा है। इन्हें पराजित करनेका स्वप्न देखना व्यर्थ है।'

गार्गीके प्रश्नोंको पढ़कर उनके गम्भीर अध्ययनका पता लगता है, इतनेपर भी उनके मनमें अपने पक्षको अनुचितरूपसे सिद्ध करनेका दुराग्रह नहीं था। वे विद्वत्तापूर्ण उत्तर पाकर संतुष्ट हो गयीं और दूसरेकी विद्वत्ताकी उन्होंने मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की। गार्गी भारतवर्षकी स्त्रियोंमें रत्न थीं। आज भी उनकी-जैसी विदुषी एवं तपस्विनी कुमारियोंपर इस देशको गर्व है।

(३)
ब्रह्मवादिनी ममता

ममता दीर्घतमा ऋषिकी माता थीं। ये महान् विदुषी और ब्रह्मज्ञानसम्पन्न थीं। अग्निके उद्देश्यसे किया हुआ इनका स्तुतिपाठ ऋग्वेदसंहिताके प्रथम मण्डलके दशम सूक्तकी ऋचामें मिलता है। उसका भावार्थ यह है—

'हे दीप्तिमान्! असंख्य चोटियोंवाले और देवताओंको बुलानेवाले अग्नि! दूसरे अग्निकी सहायतासे प्रकाशित होकर आप इस 'मानव-स्तोत्र'को सुनिये। श्रोतागण ममताके सदृश ही अग्निके उद्देश्यसे इस मनोहर स्तोत्रको पवित्र घृतकी भाँति अर्पित करते हैं।'

(४)
ब्रह्मवादिनी विश्ववारा

'प्रज्वलित अग्निदेव तेजका विस्तार करके द्युलोक तकको प्रकाशित करते हैं। वे प्रातः एवं सायं (हवनके समय) अत्यन्त सुशोभित होते हैं। देवार्चनमें निमग्न परमात्माके उपासक पुरुष तथा विद्वान् अतिथियोंका हविष्यान्नसे स्वागत करनेवाली स्त्रियाँ उस अग्निदेवके समान ही सुशोभित हैं।'

'अग्निदेव! आप प्रकाशमान होनेसे जलके स्वामी हैं। जिस यजमानके पास आप जाते हैं वह समस्त पशु आदि धन प्राप्त करता है। हम आपके योग्य आतिथ्य-सूचक हवि प्रस्तुत करके आपके समीप (हवनकुण्डके पास) रखती हैं। जो स्त्री श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आपको प्रणाम करती है वह ऐश्वर्यकी स्वामिनी होती है। उसका अन्तःकरण पवित्र होता है। उसका मन स्थिर होता है। उसकी इन्द्रियाँ वशमें रहती हैं।'

'अग्निदेव! महासौभाग्यकी प्राप्तिके लिये आप बलवान् बनें—प्रज्वलित हों! आपके द्वारा प्राप्त धन परोपकार-हेतु उत्तम हो! हम स्त्रियोंके दाम्पत्यभावको सुदृढ़ करें! हम स्त्रियोंके शत्रु—दुष्कर्म, कुचेष्टा, लोभादिपर आपका आक्रमण हो।'

'हे दीप्तिमान् देव! मैं आपके प्रकाशकी वन्दना करती हूँ। आप यज्ञके लिये प्रज्वलित हों। हे प्रकाशराशि प्रभो! भक्तवृन्द आपका आह्वान करते हैं। यज्ञक्षेत्रमें आप सभी देवताओंको प्रसन्न करें।'

'यज्ञमें हव्यवाहक अग्निदेवकी रक्षा करो! इनकी सेवा करो और देवताओंको हव्य पहुँचानेके लिये इनका वरण करो।'

ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलके द्वितीय अनुवाकमें पठित अट्ठाईसवें सूक्तमें वर्णित छः ऋचाओंका यह भावार्थ है। अत्रि महर्षिके वंशमें उत्पन्न विदुषी विश्ववारा इन मन्त्रोंकी द्रष्टा ऋषिका हैं। अपनी तपस्यासे उन्होंने इस ऋषिपदको प्राप्त किया था।

इन मन्त्रोंमें बताया गया है कि स्त्रियोंको सावधानीपूर्वक अतिथि-सत्कार करना चाहिये। यज्ञके लिये हविष्य तथा सामग्रियोंको प्रस्तुत करके अपने अग्निहोत्री पतिके समीप पहुँचाना चाहिये। अग्निदेवकी वन्दना करनी चाहिये। इनकी स्तुति करनी चाहिये और पतिके प्राजापत्य अग्निकी सावधानीपूर्वक रक्षा भी पत्नीको ही करनी चाहिये। [पहले प्रत्येक द्विजातिके गृहमें हवनकुण्डके अग्निकी सावधानीसे रक्षा होती थी। प्रत्येक पुरुषके हवनकुण्ड पृथक् होते थे। इनकी अग्निदेवका बुझना भयंकर अमङ्गल माना जाता था] इनके द्वारा दृष्ट मन्त्रोंसे जान पड़ता है कि ये अग्निकी ही उपासिका थीं।

(५)
ब्रह्मवादिनी अपाला

ब्रह्मवादिनी अपाला अत्रिमुनिके वंशमें उत्पन्न हुई थीं। कहते हैं कि अपालाको कुष्ठरोग हो गया था, इससे उनके पतिने उन्हें घरसे निकाल दिया था। वे अपने पीहरमें बहुत दुःखी रहती थीं। उन्होंने कुष्ठरोगसे मुक्त होनेके लिये

इन्द्रकी आराधना की। एक बार इन्द्रको अपने घर बुलाकर सोमपान कराया तथा उन्हें प्रसन्न किया। इन्द्रदेवने प्रसन्न होकर उन्हे वरदान दिया। उनके वरदानसे अपालाके पिताक सिरके उडे हुए केश फिर आ गये, उनके खेत हर-भरे हो गये और अपालाका कुष्ठरोग मिट गया। वे ब्रह्मवादिनी थीं। ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके ९१ व सूक्तकी १ से ७ तककी ऋचाएँ इन्हींकी सकलित हैं।

(६)

ब्रह्मवादिनी घोषा

घोषा काक्षीवान् ऋषिकी कन्या थीं। बचपनम इन्हें कुष्ठरोग हो गया था इसीसे योग्य वयमें इनका विवाह नहीं हो पाया। अश्विनीकुमारोंकी कृपासे जब इनका रोग नष्ट हुआ, तब इनका विवाह हुआ। ये बहुत प्रसिद्ध विदुषी और ब्रह्मवादिनी थीं। इन्होने स्वय ब्रह्मचारिणीके रूपम ही ब्रह्मचारिणी कन्याके समस्त कर्तव्योका उल्लेख दो सूक्तोंमे किया है। इन्होने कहा है—'हे अश्विनीकुमारो! आपके अनुग्रहसे आज घोषा परम भाग्यवती हुई है। आपके आशीर्वादसे घोषाके स्वामीके भलेके लिये आकाशसे प्रचुर वर्षा हो जिससे खेत लहलहा उठे। आपकी कृपादृष्टि घोषाके भावी पतिको शत्रुकी हिंसासे रक्षा करे। युवा एव सुन्दर पतिको पाकर घोषाका यौवन चिरकाल अक्षुण्ण बना रहे।'

'हे अश्विनीकुमारो! पिता जैसे सतानको शिक्षा देते हैं वैसे ही आप भी मुझे सत्-शिक्षा द। मैं बुद्धिहीन हूँ। आपका आशीर्वाद मुझे दुर्गतिसे बचाय। आपके आशीर्वादसे मेरे पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र आदि सुप्रतिष्ठित होकर जीवनयापन करें। पतिगृहमें मैं पतिकी प्रियपात्री बनूँ।' ऋग्वेदक दशम मण्डलके ३९ से ४१ व सूक्ततक इस आख्यानका सकेत प्राप्त होता है।

(७)

ब्रह्मवादिनी सूर्या

ऋग्वेदके दशम मण्डलके ८५ वं सूक्तकी ४७ ऋचाएँ इनकी हैं। यह सूक्त विवाह-सम्बन्धी है। आरम्भकी ऋचाओंमे चन्द्रमाके साथ सूर्यकन्या सूर्याके विवाहका वर्णन है। हिदू वेद-शास्त्रोंमें जितने आख्यान हैं उन सबके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनो अर्थ होते है। वेदकी ऋचाओके भी तीन अर्थ हैं, परतु वे केवल आध्यात्मिक अर्थरूप ही हैं, इतिहास नहीं है ऐसी बात नहीं है। चन्द्रमाके साथ सूर्याके विवाहका आध्यात्मिक अर्थ भी है और उसका ऐतिहासिक तथ्य भी है। जहाँ चन्द्र एवं सूर्यको नक्षत्ररूपमे ग्रहण किया गया है, वहाँ आलकारिक भाषामे आध्यात्मिक वर्णन है और जहाँ उन्हे अधिष्ठात्री देवताके रूपम लिया गया है, वहाँ प्रत्यक्ष ही वैसा व्यवहार हुआ है।

सूर्या जब विदा होकर पतिके साथ चली, तब उसके बैठनेका रथ मनके वेगके समान था। रथपर सुन्दर चँदोवा तना था और दो सफेद बैल जुते थे। सूर्याको दहेजमे पिताने गौ, स्वर्ण वस्त्र आदि पदार्थ दिये थे। सूर्याके बडे ही सुन्दर उपदेश हैं—

'हे वधू! इस पति-गृहमे ऐसी वस्तुओका वृद्धि हो जो प्रजाको और साथ ही तुम्हे भी प्रिय हो। इस घरमे गृह-स्वामिनी बननेके लिये तू जाग्रत् हो। इस पतिके साथ अपने शरीरका ससर्ग कर और जानने-पहचानने योग्य परमात्माको ध्यानमें रखते हुए दोनों स्त्री-पुरुष वृद्धावस्थातक मिलते तथा बातचीत करते रहो।' 'हे वधू! तू मैले कपडोंको फेंक दे और वेद पढनेवाले पुरुषोको दान कर। गदी रहने गदे कपड़े पहनने, प्रतिदिन स्नान न करनेसे तथा आलस्यमें रहनेसे भाँति-भाँतिक रोग हो जाते हैं जिससे पत्नीकी मलिनता पतिमें भी पहुँच जाती है। इसलिये पतिका कल्याण चाहनेवाली स्त्रीको स्वच्छ रहना उचित है। मैलेपनसे होनेवाले रोगसे शरीर कुरूप हो जाता है शरीरकी कान्ति नष्ट हो जाती है। जो पति ऐसी पत्नीके वस्त्रका उपयोग करता है उसका शरीर भी शोभाहीन और रोगी हो जाता है।'

'हे वधू! सौभाग्यके लिये ही मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। पतिरूप मेरे साथ ही तू वृद्धा होना।'

'हे परमात्मा! आप इस वधूको सुपुत्रवती तथा सौभाग्यवती बनावें। इसके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न करें और ग्यारहवें पति हों।' 'हे वधू! तू अपने अच्छे व्यवहारसे श्वशुर-सासकी ननद और देवरोंकी सम्राज्ञी हो अर्थात् अपने सुन्दर बर्तावसे—मनसे सबको अपने वशमें कर ले'—

बादमें अनुगामी बनकर उन शब्दोंके संस्कारमें सहायक होता है।

'समुद्र' शब्द संस्कृतमें केवल सागरका अर्थबोधक है परंतु वैदिक भाषामें विस्तीर्णका पर्यायवाची होनेसे सागर तथा आकाश—इन दोनों ही अर्थोंमें प्रयुक्त है। हिन्दीमें 'गो' शब्द गायके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है और संस्कृतमें गाय एवं इन्द्रियके अर्थमें व्यवहृत है। वेदोंमें 'गो' गाय तथा इन्द्रियके अर्थमें प्रयुक्त तो है ही महर्षि यास्कके मतानुसार 'गौर्यवस्तिलो वत्स ' अर्थात् गो 'यव' के एवं तिल 'वत्स'-के अर्थमें भी प्रयुक्त है। इसी प्रकार संस्कृतमें 'दुहिता' शब्द लड़कीके अर्थमें प्रयुक्त है, किंतु निरुक्तके अनुसार दूरमें (पतिगृहमें) रहनेसे जिसका हित हो वह 'दुहिता' (दूरे हिता) है या फिर गाय दुहनेवाली कन्या 'दुहिता' (गवां दोग्धी वा) है।

वेद-भाषाका तदनुसार अर्थ न करनेमें कितना अनर्थ होता है, इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्। इन्द्रः सोमस्य काणुका॥ (ऋक्० ८। ७७। ४)

वेदोंमें इतिहास सिद्ध करनेवाले विद्वानोंने संस्कृत-व्याकरणके आधारपर इस मन्त्रका अर्थ किया है—'सोमप्रिय इन्द्र एक ही बारमें एक साथ सोमरसके तीस प्याले पी गये जबकि निरुक्तके निर्वचनानुसार यहाँ इन्द्र 'सूर्य' का और सोम 'चन्द्रमा' का पर्यायवाची है। कृष्णपक्षके पंद्रह दिन तथा पंद्रह रात्रि मिलाकर तीस अहोरात्र (त्रिंशतम् सरांसि) कहे जाते हैं। कृष्णपक्षमें सूर्य इस सोमरूप चन्द्रमाकी तीस अहोरात्रवाली कलाओंका पान कर जाता है यह अर्थ निश्चित होता है।

इसी प्रकार निरुक्तकार महर्षि यास्कने वेदोंमें वृत्रासुरकी कल्पना न कर वेदमन्त्रमें प्रयुक्त 'वृत्र' का मेघके अर्थमें स्वीकार किया है—

तत् को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः।
(निघण्टु २। १६)

अर्थात् वृत्र मेघका ही नाम है। इन्द्र शब्द तथा विद्युत्के अर्थमें प्रयुक्त होनेसे यहाँ यह भाव स्पष्ट होता है कि मेघद्वारा जलको धारण करना तथा विद्युत्के द्वारा मेघोंका भेदन कर उनसे जलवर्षण कराना ही इन्द्रका वृत्रके साथ संग्राम है जो इन्द्र-वृत्रासुरके संग्रामकी भूमिकामें आलंकारिक वर्णनके रूपमें प्रसिद्ध हो गया है।

महर्षि यास्कके उल्लेखानुसार वेदमें भारतीय इतिहासके तत्त्व अन्तर्निहित हैं। उन्होंने अपने 'निरुक्त' में वेदमन्त्रोंके विशदीकरणके लिये ब्राह्मणग्रन्थ तथा प्राचीन आचार्योंकी कथाओंको इतिहासमाचक्षते कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थका निरूपण करनेवाले विभिन्न सम्प्रदायोंमें ऐतिहासिकोंका भी अलग सम्प्रदाय था इसका स्पष्ट संकेत 'निरुक्त'से होता है— इति ऐतिहासिकाः।' भारतीय साहित्यमें पुराण और इतिहासको वेदका समानान्तर माना जाता है। यास्कके मतसे ऋक्संहितामें इतिहास-निरूपक तथ्योंसे युक्त मन्त्र उपलब्ध हैं। यथा—

त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ॥ तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रम्। ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति।' (निरुक्त ४। १। ६)

वेदका इतिहास माननेका निरुक्तकारका आग्रह निराधार नहीं है। निरुक्तकारके आग्रहको स्पष्ट करते हुए अर्वाचीन विद्वानोंने लिखा है कि वैदिक साहित्यमें जो सिद्धान्तरूपमें वर्णित है उसीका व्यावहारिक रूप 'रामायण' और 'महाभारत' में उपलब्ध होता है। वैदिक धर्मके अनेक अज्ञात तथ्योंको जाननेमें 'रामायण' और 'महाभारत' हमारे लिये प्रकाश-स्तम्भकी भूमिका निबाहते हैं। ये दोनों इतिहास-ग्रन्थ हैं। इतिहासके द्वारा वेदार्थके उपबृंहणका यही रहस्य है। इतिहास और पुराणोंमें जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, वे वेदके ही हैं।

वेदके यथार्थ अर्थको समझनेके लिये इतिहास-पुराणका अध्ययन आवश्यक है। महर्षि व्यासका स्पष्ट कथन है कि वेदका उपबृंहण इतिहास और पुराणके द्वारा होना चाहिये इतिहास-पुराणसे अनभिज्ञ लोगोंसे वेद सदा भयग्रस्त रहता है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्॥
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।

अर्थात् 'इतिहास और पुराणसे वेदको समृद्ध करना चाहिये। वेदको अल्पश्रुत व्यक्तिसे बराबर इस बातका भय बना रहता है कि यह कहीं मुझपर प्रहार न कर दे।' वेदको इसी भयसे विमुक्त करनेके लिये यास्कने वेदार्थ-निरूपणका ऐतिहासिक प्रयास किया है।

महान् सर्ववेदभाष्यकार श्रीसायणाचार्य

(डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा)

वेद-भाष्यकारोमें आचार्य सायणका स्थान सर्वोपरि है। वे वैदिक जगत्के सूर्य हैं। उनकी प्रसिद्धि प्रखर प्रतिभा-सम्पन्न एव उत्कृष्ट मेधा-युक्त महान् वेद-भाष्यकारके रूपमे सर्वविदित है। वैदिक विद्वानों तथा भाष्यकारोंमे पाण्डित्य तथा विवेचन-कौशलकी दृष्टिसे उनका स्थान अद्वितीय है। वेदार्थ स्पष्ट करते समय जिस तथ्यकी विवेचना उन्होने अपने भाष्योमे की है, उसे युक्ति-युक्त प्रमाण-समन्वित शास्त्रोक्त-शैलीमें इतने स्पष्ट-रूपसे विवेचित किया है कि उस विषयमे फिर पाठकके लिये अन्य कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता है। वेदार्थ-निरूपणमे उन्होने षडङ्ग—शिक्षा कल्पसूत्र, निरुक्त, व्याकरण, छन्द एव ज्योतिष आदिके साथ सदर्भ स्पष्ट करने-हेतु पौराणिक कथाओका भी आश्रय लिया है जिससे उनका भाष्यकार्य परम प्रामाणिक एव सटीक बन पडा है। व्याकरणद्वारा शब्दाकी व्युत्पत्ति एवं सिद्धि करने तथा स्वराङ्कन करनेकी उनकी पद्धति बडे-बडे व्याकरणाचार्योंको भी आश्चर्यचकित करनेवाली है। आधुनिक पाश्चात्त्य तथा तदनुगामी भारतीय वेदभाष्यकारोंकी भाँति उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भाष्यकाराकी उपेक्षा नहीं की है, बल्कि स्कन्दस्वामी तथा वेकटमाधव आदि पूर्ववर्ती भाष्यकारोंके भाष्याका साराश भी यथास्थान उद्धृत कर दिया है, जिससे उनके महान् परम्परागत वैदिक ज्ञानका पता चलता है।

याज्ञिक विधानका पूर्ण परिचय

शास्त्रोंके अनुसार यज्ञके चार प्रमुख ऋत्विक् होते हैं—होता उद्गाता अध्वर्यु और ब्रह्मा। होताका वेद ऋग्वेद, उद्गाताका सामवेद अध्वर्युका यजुर्वेद और ब्रह्माका अथर्ववेद है। वस्तुत याज्ञिक विधान वेदकी आत्मा है और इसीलिये यज्ञको वेदका प्रधान विषय माना जाता है। यही कारण है कि याज्ञिक विधानके सम्यक् ज्ञानके बिना कोई वेदका भाष्य करनेमें सफल नहीं हो सकता है। आचार्य सायणको याज्ञिक विधानका पूर्ण ज्ञान था। उनका भाष्य इतना प्रामाणिक युक्ति-युक्त तथा शास्त्रानुकूल बन गया कि उसमें कहीं भी लेशमात्र सशोधनकी गुजाइश नहीं दिखायी पडती। इसीलिये उन्होने वेदके प्रत्येक सूक्तकी व्याख्या करनेसे पूर्व ही उस सूक्तके ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग आदिका ऐसा प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया है, जिससे सूक्तगत मन्त्राकी प्रसगानुकूल व्याख्या करनेका मार्ग प्रशस्त होता है। सूक्तमें निहित यदि कोई ऐतिहासिक आख्यान अथवा अन्तर्कथा अर्थनिरूपणमें आवश्यक है तो उसका भी सोपपत्तिक वर्णन उन्होने प्रस्तुत किया है। उनके भाष्याका उपोद्घात (भाष्य-भूमिका) तो वैदिकदर्शनसे परिचित होनेके लिये ऐसा सुव्यवस्थित राजमार्ग है जिसपर चलकर अनेक जिज्ञासुओ और देश-विदेशके विद्वानाका वेदविद्याका तथ्यपरक ज्ञान प्राप्त हुआ है।

इसी कारण प्रसिद्ध पाश्चात्त्य विद्वान् मैक्समूलरने आचार्य सायणको वेदार्थका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये 'अन्धेकी लकडी बताया है।' एच० एच० विल्सनद्वारा उनके भाष्यका अनुसरण करते हुए ऋग्वेदका अग्रेजी अनुवाद करना भी यही स्पष्ट करता है कि यदि आचार्य सायणके विविधार्थ-सकलित भाष्य-रत्न नहीं होते तो किसी भी भारतीय अथवा पाश्चात्त्य विद्वान्का वेदोंके अगम्य ज्ञान-दुर्गमे प्रवेश नहीं हो सकता था।

जीवन-परिचय

भारतीय सस्कृतिके महान् उपासक वैदिक दर्शनके मर्मज्ञ तथा सर्ववेदभाष्यकार सायणाचार्यकी जन्मतिथि आदिके विषयमें निश्चित जानकारी न होना बडे दु खका विषय है। प्रसिद्ध विद्वानाके द्वारा किये गये अनुसंधानके आधारपर उनके जीवन-परिचय तथा भाष्य-कार्योंपर यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है। उनका जन्म तुगभद्रा नदीके तटवर्ती हम्पी नामक नगरमें सवत् १३२४ विक्रमीमें हुआ था। उनके पिताका नाम मायण माताका नाम श्रीमती तथा दो भाइयोंका नाम क्रमश माधव और भोगनाथ था। उनके बडे भाई माधवाचार्य विजयनगर-हिन्दू-साम्राज्यके सस्थापकोंमें थे। यह हिन्दू-साम्राज्य लगभग तीन सौ वर्षोंतक भूमिपर

राजाओसे लोहा लेता रहा। माधवाचार्यने संवत् १३९२ विक्रमीके लगभग विजयनगरके सिंहासनपर महाराज वीर बुक्कको अभिषिक्त कर और स्वयं मन्त्री बनकर कई मुस्लिम राज्योंको विजयनगर साम्राज्यके अधीन किया था। वे वीर होनेके साथ-साथ महान् विद्वान् भी थे। 'सर्वदर्शन-संग्रह', 'पराशरमाधव', 'पंचदशी' 'अनुभूतिप्रकाश' तथा 'शंकरदिग्विजय' आदि उनके महान् ग्रन्थोंसे पता चलता है कि माधवाचार्य असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष थे। आचार्य सायणके छोटे भाई भी प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनकी बहनका नाम 'सिंगले' था जिसका विवाह रामरस नामक ब्राह्मणके साथ हुआ था। इस प्रकार उनका परिवार लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों तथा आदर्श महापुरुषोंका जन्म देनेवाला था।

विद्या-गुरु

आचार्य सायण भारद्वाज गोत्री कृष्णयजुर्वेदी ब्राह्मण थे। उनकी वैदिक शाखा तैत्तिरीय थी और सूत्र बौधायन था। उनके तीन गुरु विद्यातीर्थ भारतीतीर्थ तथा श्रीकृष्णाचार्य उस समयके अत्यन्त प्रख्यात एवं आध्यात्मिक ज्ञान-सम्पन्न महापुरुष थे। ये तीनों महापुरुष न केवल आचार्य सायण तथा उनके दोनों भाइयोंके विद्या-गुरु थे वरन् तत्कालीन विजयनगरके हिन्दू राजाओंके भी आध्यात्मिक गुरु थे। स्वामी विद्यातीर्थ परमात्मतीर्थके शिष्य थे। ये भगवान् आद्य शंकराचार्यजी महाराजद्वारा स्थापित शृंगेरीपीठके सुप्रसिद्ध आचार्य थे। इन्हींके करकमलोंसे संन्यास ग्रहण कर माधवाचार्य विद्यारण्यमुनिके नामसे विख्यात हुए और उनके पश्चात् शृंगेरीपीठके आचार्य-पदपर सुशोभित हुए। माधवाचार्य एवं सायणाचार्य स्वामी विद्यातीर्थके विशेष ऋणी थे तथा हिन्दूधर्म एवं वैदिक संस्कृतिके प्रति इन दोनों भाइयोंमें जो अपार श्रद्धा, प्रेम तथा समर्पण था उसका श्रेय स्वामी विद्यातीर्थको ही है। इसलिये अपने वेदभाष्योंके प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करते हुए आचार्य सायणने उन्हें साक्षात् महेश्वर बताकर उनकी वन्दना की है—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥

महान् वैदिक विद्वान्

आचार्य सायण संस्कृत भाषा तथा वैदिक साहित्यके महान् विद्वान् थे। उनके ऋग्वेदके प्रथम एवं द्वितीय अष्टकके भाष्यको देखनेसे पता चलता है कि उनका संस्कृत-व्याकरणका ज्ञान असाधारण था। मीमांसा-शास्त्रकी विशेष शिक्षा ग्रहण करनेके कारण वे अपने युगके मीमांसा दर्शनके अद्वितीय विद्वान् थे। मीमांसा-शास्त्रका उनका उच्च कोटिका ज्ञान उनके भाष्यग्रन्थोंमें देखनेको मिलता है। उनके ऋग्वेद-भाष्यके उपोद्घातको पढ़नेसे पाठकोंको सहज ही उनके मीमांसा-शास्त्रके उत्कृष्ट ज्ञानका पता चल जाता है। उन्होंने ऋग्वेद कृष्ण एवं शुक्ल-यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी प्रमुख संहिताओं ब्राह्मणों तथा आरण्यकोंका गुरु-परम्परासे विधिपूर्वक अध्ययन एवं मनन किया था। तभी वह इस समस्त वैदिक साहित्यके पूर्ण अधिकारी विद्वान् बनकर इतने उच्च कोटिके भाष्य-प्रणयनका कार्य कर सके जिसके आलोकसे आज छः शताब्दियाँ व्यतीत होनेपर भी समस्त वैदिक जगत् आलोकित है और आगे भी शताब्दियोंतक आलोकित रहेगा। वस्तुतः उनका अवतरण ईश्वरीय विभूतिके रूपमें वेदभाष्य प्रणयनके लिये हुई थी। इसीलिये उनका समस्त बाल्यकाल इसी महान् लक्ष्य-प्राप्तिकी तैयारीमें व्यतीत हुआ था। संस्कृत-साहित्यकी प्रत्येक विद्यासे परिचित होनेके कारण एक महान् वैदिक विद्वान्के रूपमें आचार्य सायणका आविर्भाव भारतीय इतिहासकी अविस्मरणीय घटना है। अतः उनके वेदभाष्य विद्वानोंके गलेके हार बने हुए हैं।

आदर्श गार्हस्थ्य-जीवन

सायणाचार्य आदर्श गृहस्थ थे। उनका गार्हस्थ्य-जीवन अत्यन्त सुखमय था। उनके कम्पण मायण तथा सिंगण नामक तीन पुत्र थे। तीनों पुत्रोंका लालन-पालन करते हुए उनके बीचमें वे महान् आनन्दका अनुभव करते थे। उनका पारिवारिक जीवन वस्तुतः कितना सुखमय था? इसकी कल्पना उसीको हो सकती है जो अपने परिवारमें आनन्दपूर्वक रहता हो। घरके बाहर मन्त्रीके महत्त्वपूर्ण एवं दायित्वपूर्ण कार्योंमें व्यस्त रहना और घर आते ही अपने

पुत्रोंके प्रेममय आलाप एवं पठन-पाठनको सुनकर प्रसन्न होनेका सौभाग्य विरले व्यक्तियोको ही प्राप्त होता है। वह अपने पुत्रोंको संगीतशास्त्र, काव्य-रचना और वेद-पाठमे दक्षता प्राप्त करनेकी शिक्षा देते रहते थे। इसीके फलस्वरूप ज्येष्ठ पुत्र कम्पण सगीतशास्त्री मध्यम पुत्र मायण साहित्यकार तथा कनिष्ठ पुत्र शिगण वैदिक विद्वान् हुए।

कुशल मन्त्री

आचार्य सायण अपनी ३१ वर्षकी आयुमें एक कुशल राज्य-प्रबन्धक एव मन्त्रीके रूपमे हमारे सामने आते हैं। वि० सं० १४०३ (सन् १३४६)-मे वे हरिहरके अनुज कम्पण राजाके मन्त्री बने और ९ वर्षतक उन्होने बडी कुशलतासे राज्य-सचालनका कार्य किया। कम्पण राजाकी मृत्यु होनेपर उनका एकमात्र पुत्र सगम (द्वितीय) अबोध बालक था। अत उसकी शिक्षा-दीक्षाका समस्त भार प्रधान मन्त्री पदपर आसीन सायणाचार्यने जिस तत्परता, लगन तथा ईमानदारीसे वहन किया उसका ही यह परिणाम हुआ कि सगम नरेश राजनीतिमें अत्यन्त पटु होकर आदर्श राजाके रूपमें विख्यात हुए। उनके शासनकालमें प्रजाको सब प्रकारकी सुख-समृद्धि एव शान्ति प्राप्त थी। वस्तुत इसका श्रेय सायणाचार्यको ही था। वे केवल कुशल मन्त्री और विद्वान् ही नहीं थे बल्कि अनेक युद्धोंमें कुशलतापूर्वक युद्ध-सचालन कर उन्होने महान् विजयश्री प्राप्त की थी। ४८ वर्षकी आयु होनेपर उन्होने लगभग १६ वर्षो—वि० स० १४२१ से १४३७ (सन् १३६४ से १३८०) तक विजयनगरके प्रसिद्ध हिन्दू सम्राट् बुक्कक यहाँ मन्त्रीके उत्तरदायी पदपर रहते हुए शासन-प्रबन्धका कार्य सुचारु-रूपस किया।

वैदिक ज्ञानालोक-दाता

इसी कालावधिमें उन्होने वेदभाष्य-रचनाका अपना सर्वश्रेष्ठ तथा विश्वविख्यात कार्य किया। उन्होंने वेदभाष्य-रचनाका महान् कार्य अपने आश्रयदाता परम धार्मिक एव वेदानुरागी महाराज बुक्ककी आज्ञास सम्पादित कर वैदिक ज्ञानका जो आलाक अपने वेदभाष्योंके रूपमें विश्वको प्रदान किया था यही वैदिक ज्ञानका आलोक आज भी एकमात्र सम्बल बना हुआ है। बुक्क महाराजके स्वर्गवासी होनेपर उनके पुत्र महाराज हरिहरके वे वि० स० १४३८ से १४४४ (सन् १३८१—८७ ई०) तक मन्त्री रहे। वि० स० १४४४ (सन् १३८७ ई०)-मे ७२ वर्षकी आयुमें वेदभाष्योंके अमर प्रणेता प्रतिभाशाली साहित्यकार, राजनीतिके धुरधर विद्वान्, शासन-प्रबन्धके सुयोग्य सचालक, महान् दार्शनिक तथा युद्धभूमिमें शत्रुओंका दमन करनेवाले वीरशिरोमणि एव हिन्दू साम्राज्यके सस्थापक सुविख्यात मनीषी सायणाचार्यने धर्म अध्यात्म सस्कृति, शिक्षा दर्शन समाज तथा राजनीतिके विभिन्न क्षेत्रोको अपने महान् कार्योंसे सुसमृद्ध कर अपनी जीवन-लीलाका सवरण करते हुए वैकुण्ठवास किया। अहो! कितना महान् था उनका पावन जीवन-चरित्र!

अमर साहित्य-प्रणयन

वेदोंके गूढ ज्ञानसे लेकर पुराणोके व्यापक पाडित्यतक अलकारोंके विवेचनसे पाणिनि-व्याकरणके उत्कृष्ट अनुशीलनतक यज्ञ-मीमासाके अन्त परिचयसे लेकर आयुर्वेद-जैसे लोककल्याणकारी शास्त्रके व्यावहारिक ज्ञानतक सर्वत्र आचार्य सायणका असाधारण पाडित्य सामान्य जनताके लिये उपकारक तथा प्रतिभाशाली विद्वानोंके लिये विस्मयपूर्ण आदरका पात्र बना हुआ है। डॉ० ऑफ्रेक्टके अनुसार उन्होंने लगभग तीस वर्षकी आयुसे लेकर अपने जीवनके अन्तिम कालतक लगातार अटूट परिश्रम एव अदम्य उत्साहसे साहित्य-साधना करते हुए छोटे-बडे पचासों ग्रन्थोकी रचना की। उनक ये सात ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं—(१) सुभाषित-सुधानिधि, (२) प्रायश्चित्त-सुधानिधि (३) अलकार-सुधानिधि (४) आयुर्वेद-सुधानिधि (५) पुरुषार्थ-सुधानिधि (६) यज्ञतन्त्र-सुधानिधि और (७) धातुवृत्ति। इससे स्पष्ट है कि उन्होने वेदभाष्योंके अतिरिक्त उपर्युक्त ग्रन्थोकी रचना कर अपने बहु-आयामी व्यक्तित्वका परिचय दिया था।

वेदभाष्य-प्रणयन

सायणाचार्यका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है उनके द्वारा वेदभाष्योंका प्रणयन किया जाना। उनके ये वेदभाष्य ही उनकी कमनीय कीर्तिको फैलानेमें आज भी समर्थ हैं और भविष्यमें भी समर्थ रहेंगे। यही कारण है कि

यूरोपीय विद्वानोंमें किसी एकाधको छोड़कर शेष सभी मूर्धन्य वैदिक विद्वानोंने वेदार्थके यथार्थ ज्ञानके लिये स्वयंको सायणका ऋणी माना है। सोलहवीं शताब्दीमें प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् महीधराचार्य और उनके पूर्ववर्ती उव्वटाचार्य आदि शुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिनी-शाखापर भाष्य-रचना करनेमें आचार्य सायणके ऋणी रहे। आधुनिक युगमें ऋग्वेदके श्रीसायण-भाष्यके प्रथम सम्पादक प्रो० मैक्समूलरके अनुसार वेदार्थ जाननेमें आचार्य सायण अन्धेकी लकड़ी हैं। प्रसिद्ध सनातनधर्मी विद्वान् तथा शास्त्रार्थ महारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी और 'सनातनधर्मालोक' नामक महान् ग्रन्थके प्रणेता पं० श्रीदीनानाथ शास्त्रीजीकी प्रेरणासे विद्वानोंद्वारा रचित वेदभाष्योंका आधार आचार्य सायणके भाष्य ही हैं। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० श्रीज्वालाप्रसाद मिश्र तथा पं० श्रीरामस्वरूप शर्मा आदिने जो वेदभाष्य लिखे हैं उन सबके आधार आचार्य सायणके भाष्य ही हैं। वेदका वास्तविक अर्थ जाननेके लिये 'सायणको ओर लौटो' का सिद्धान्त प्रस्तुत करनेवाले वर्तमान शताब्दीके महान् मनीषी विख्यात वेदोद्धारक धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने अपने विश्वविख्यात महान् ग्रन्थ 'वेदार्थपारिजात'-में भारतीय और पाश्चात्त्य वैदिक विद्वानोंके विचारोंकी समीक्षा करते हुए आचार्य सायणके वेदभाष्योंको सर्वोत्कृष्ट तथा परम प्रामाणिक सिद्ध कर यह बताया है कि उनके भाष्योंकी सहायताके बिना वैदिक ज्ञानमें दुर्गम प्रवेश करना किसीके लिये भी सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजीका यजुर्वेद-भाष्य सायणाचार्यके भाष्योंके अनुसार ही तैयार हुआ प्रतीत होता है। पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके वैदिक ग्रन्थोंसे प्रेरित होकर उनके दिव्य सन्देशको आगे बढ़ानेके उद्देश्यसे इस लेखकका सायक पिछले लम्बे समयसे आचार्य सायणके ऋग्वेद-भाष्यका हिन्दी अनुवाद लिखनेमें लगा हुआ है जिससे हिन्दी-भाषी सामान्यजन भी सायण-भाष्यसे लाभान्वित हो सकें।

वेदभाष्य-निरूपण

'वेद' शब्दका प्रयोग संहिता और ब्राह्मणके समुच्चयके लिये किया जाता है। 'वेद' शब्द किसी एक ग्रन्थविशेषका बोध न कराकर मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशिका बोध कराता है अतः वेदके दो भाग माने जाते हैं। मन्त्रभाग (संहिता) और ब्राह्मणभाग—इन दोनों भागोंके अन्तर्गत आरण्यक तथा उपनिषद् भी हैं। इस प्रकार मन्त्र (संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—इन चारोंकी 'वेद' संज्ञा है। इन चारोंमें सायणने मन्त्र (संहिता), ब्राह्मण और आरण्यकपर ही अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे हैं। उपनिषदोंपर भगवान् आद्य जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजीके उत्कृष्ट भाष्य उपलब्ध होनेके कारण सम्भवतः उन्होंने उपनिषदोंपर भाष्य लिखना आवश्यक न समझा हो। अतः वेदके कर्मकाण्ड-सम्बन्धी भाग—मन्त्र, ब्राह्मण एवं आरण्यकपर उन्होंने अपने प्रामाणिक भाष्य लिखकर आचार्य शंकरके महान् कार्यको आगे बढ़ाया और वैदिक कर्मकाण्डियोंका मार्ग प्रशस्त किया।

भाष्य-कार्य-समालोचन

आचार्य सायणने ऋग्वेद, शुक्लयजुर्वेद (काण्व-शाखा), कृष्णयजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन पाँचों संहिताओं तथा ऐतरेय, तैत्तिरीय, ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद्, संहितोपनिषद्, वंश, शतपथ और गोपथ नामक उक्त पाँचों संहिताओंके चारों ब्राह्मणों एवं तैत्तिरीय तथा ऐतरेय नामक कृष्णयजुर्वेद और ऋग्वेदके दो आरण्यकोंपर अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे हैं। चारों वेदोंकी उपलब्ध संहिताओं, उनके ब्राह्मणों तथा आरण्यकोंपर भाष्य लिखकर उन्होंने वैदिक जगत्‌का महान् उपकार किया है। उन्होंने शुक्लयजुर्वेद और सामवेदके समस्त ब्राह्मणोंपर भाष्य-रचना की। शुक्लयजुर्वेदके सौ अध्यायोंवाले शतपथ-ब्राह्मणका उनका भाष्य वैदिक कर्मकाण्डका विश्वकोश है। सामवेदके आठ उपलब्ध ब्राह्मणोंपर उनके भाष्य वैदिक दर्शनके अनूठे उदाहरण हैं। ऋग्वेदकी समस्त संहितापर उनका जो भाष्य मिलता है वह भारतीय चिन्तन मनन एवं ज्ञानका अथाह समुद्र है। उसके समक्ष पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सभी भाष्य अपूर्ण तथा फीके प्रतीत होते हैं। उसीका आश्रय लेकर उत्तरवर्ती भाष्यकारोंने

अपने-अपने भाष्योंके प्रणयनका प्रयास किया है। ऋग्वेदके ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यकपर उनके भाष्य इतने उत्कृष्ट एवं प्रामाणिक हैं कि विद्वान् उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीयसंहिता, उसके ब्राह्मण तथा आरण्यकपर उनके भाष्य यज्ञ-सम्बन्धी महान् ज्ञानके परिचायक हैं। अथर्ववेदकी संहिता और उसके गोपथ ब्राह्मणपर भाष्य लिखकर उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभाका परिचय दिया है।

आचार्य सायणके इस महान् वेदभाष्य-कार्यको देखनेसे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वैदिक साहित्यके बहुत बड़े भागके ऊपर अपने विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य लिखकर इस क्षेत्रमें अपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया है। इसीलिये न तो उनके समान कोई पूर्ववर्ती भाष्यकारोंमें हुआ और न ही उत्तरवर्ती भाष्यकारोंमें अबतक हुआ तथा न ही भविष्यमें होगा। वस्तुतः उनका कार्य—'न भूतो न भविष्यति' की कहावतको चरितार्थ करता है। आजतक किसी भारतीय अथवा पाश्चात्त्य विद्वान्ने इतने अधिक वैदिक ग्रन्थोंपर ऐसे सारगर्भित एवं प्रामाणिक भाष्य नहीं लिखे हैं और भविष्यमें भी कोई लिखनेवाला नहीं है। यही कारण है कि वह वैदिक भाष्यकारोंके मध्यमें न केवल आज, बल्कि आगे भी सूर्यकी भाँति प्रकाशित होते रहेंगे। उनसे अधिक कार्य होना तो दूर रहा, उनके बराबर कार्य होना भी असम्भव प्रतीत होता है। अतः पाश्चात्त्य विद्वान् प्रो० मैक्समूलरका यह कथन अत्युक्ति नहीं है कि 'आचार्य सायणके भाष्य-ग्रन्थ वैदिक विद्वानोंके लिये अन्धेकी लकड़ीके समान हैं।' महान् भारतीय मनीषी स्वामी श्रीकरपात्रीजीके द्वारा वैदिक विद्वानोंको सायणकी ओर लौटनेका परामर्श देनेसे भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य सायणका वेदभाष्य-कार्य अतुलनीय—अद्वितीय है।

व्यक्तित्व एवं कृतित्वका मूल्यांकन

सायणाचार्यका महान् व्यक्तित्व इस धराधामपर वेदोद्धारके पावन कार्यको अपने कृतित्वद्वारा सम्पन्न करनेके लिये ईश्वरीय विभूतिके रूपमें अवतरित हुआ था। वस्तुतः वे बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न महापुरुष थे। इसीलिये तत्कालीन महाराज बुक्कने उन्हें सनातन संस्कृतिके सर्वोत्तम रत्न-स्वरूप वेदोंके भाष्यका महान् दायित्व सौंपा था। उनका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास इतना उच्च कोटिका था कि उन्हें सर्वगुणसम्पन्न महापुरुष कहना अत्युक्ति नहीं होगी। वही एकमात्र ऐसे वेदभाष्यकार हैं, जिन्हें विद्वान् सर्ववेद-भाष्यकार कहकर गौरवका अनुभव करते हैं। कहाँ तो सतत शास्त्राभ्याससे विकसित ज्ञानद्वारा वैदिक सिद्धान्तोंकी मीमांसा करनेमें प्रगाढ प्रवीणता और कहाँ लौकिक व्यवहारके बारम्बार निरीक्षणसे उत्पन्न विपुलराज्य-कार्य-संचालनमें समर्थ राजनीतिमें आश्चर्यजनक कुशलता—इन दोनों परस्पर विरोधी प्रतिभाओंका मणिकाञ्चन-जैसा संगम उनके व्यक्तित्वमें देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा?

शास्त्र और शस्त्र दोनोंमें ही उनकी समान पारंगतता देखकर यही कहना समीचीन होगा कि उन-जैसा महान् व्यक्तित्व न हुआ है और न होगा। उनकी समस्त वैदिक एवं लौकिक साहित्यसे सम्बन्धित कृतियाँ मानवजातिकी अमूल्य निधि हैं। उनके भाष्य-ग्रन्थ सनातन संस्कृति, धर्म, अध्यात्म एवं शिक्षाके विश्वकोष हैं। उनके महान् व्यक्तित्व एवं कृतित्वका अवलोकन करनेपर यही मुखसे निकलता है कि धन्य हैं महान् सर्ववेदभाष्यकार सायणाचार्य! धन्य हैं उनकी विलक्षण धीरता एवं अद्भुत कृतियाँ!! धन्य है उनका हिन्दू-साम्राज्य-स्थापनका पराक्रमी कार्य!!!

सन् १९९९ के प्रसिद्ध धार्मिक मासिक-पत्र 'कल्याण'-के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित होनेवाले 'वेद-कथाङ्क' के प्रकाशनके अवसरपर हम आचार्य सायणके श्रीचरणोंमें अपनी विनम्र भावना अर्पित करते हुए श्रीमन्नारायणसे उनके दिव्य सन्देशोंको अपनानेकी प्रार्थना करते हैं।

कुछ प्रमुख भाष्यकारोंकी संक्षिप्त जीवनियाँ

मध्वाचार्य (स्वामी आनन्दतीर्थ)

स्वामी आनन्दतीर्थका विशेष प्रसिद्ध नाम मध्वाचार्य है। ये मध्व एवं गौडीय दोनों सम्प्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका जन्म सन् ११९० में उडुपीनगर (कर्नाटक)-में हुआ था। इनकी माताका नाम वेदवती था। इनके गुरुका नाम महात्मा अच्युततीर्थ महाराज था। इन्होंने इन्हींसे वेद-वेदान्तका अध्ययन किया था और सारे भारतमें भ्रमण कर अपने ज्ञान तथा वैदिक सिद्धान्तोंका प्रचार किया था। इनके लिखे हुए ग्रन्थ जो 'प्रबन्धग्रन्थ'के नामसे हैं, कई हैं। जिसमें ऋग्वेदका भाष्य और वेदोंपर आधृत ब्रह्मसूत्रका अणुभाष्य बहुत प्रसिद्ध है। इनके वेदभाष्यपर अनेक अनुसंधान विश्वविद्यालयोंमें हो रहे हैं और इनका मत द्वैतमतके नामसे प्रसिद्ध है। इनके मतका मुख्य सार भगवान् श्रीहरिकी उपासना ही सर्वोपरि है और भगवान् ही परमतत्त्व हैं। इनका निर्वाण बदरिकाश्रममें सन् १२७८ में हुआ था।

उव्वट

इनके पिताका नाम वज्रट था जो बहुत विद्वान् थे। ये गुजरात-प्रान्तके आनन्दपुर नगरके निवासी थे। इन्होंने शुक्लयजुर्वेदके वाजसनेयिसंहितापर विस्तृत भाष्य लिखा है। ये मालवाके राजा भोजके दरबारी थे। यजु प्रातिशाख्य नामक वैदिक ग्रन्थपर इनका भाष्य है।

महीधर

ये काशीके प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनका समय प्रायः १२वीं शताब्दी है। इनके यजुर्वेदके भाष्यका नाम 'वेदप्रदीप' है, जो सर्वाधिक विस्तृत और सरलतम भाष्य है। इसमें इन्होंने सभी वैदिक ग्रन्थों श्रौतसूत्रों और ब्राह्मणग्रन्थोंका आश्रय लेकर मन्त्रको पूरी प्रक्रिया दी गयी है। इन्होंने उव्वट और सायण आदिके भाष्योंको पढ़कर अत्यन्त सरल और परिष्कृत भाष्यका निर्माण किया है।

इनके पुत्रका नाम भट्ट अथवा गोविन्द था। ये कावेरी नदीके दक्षिण तटपर चोलदेशके उत्तरभागमें स्थित गोमान् गाँवके निवासी थे।

प्रभाकर भट्ट

ये केरल प्रान्तके निवासी थे। ये तत्त्वज्ञानी और न्यायदर्शनके बहुत बड़े विद्वान् थे। इनका मत प्रभाकर मतके नामसे प्रसिद्ध था।

शबरस्वामी

ये काश्मीरके रहनेवाले थे। इनके पिताका नाम दीप्तस्वामी था। इन्होंने वेदोंके साथ-साथ मीमांसा-दर्शनपर भाष्यकी रचना की जो 'शाबर-भाष्य'के नामसे विश्वमें विख्यात है। इनके विषयमें यह श्लोक विद्वानोंकी परम्परामें बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध है—

ब्राह्मण्यामभवत् वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी।
राजा भर्तृहरिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत्॥
वैश्यायां हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शंकुः कृती।
शूद्रायाममरः षडेव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजाः॥

जयंत भट्ट

इनका समय दसवीं शताब्दीके आस-पास माना जाता है। वाचस्पति मिश्र आदि परवर्ती विद्वानोंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें सादर इनका उल्लेख किया है। इन्होंने अनेक बौद्ध एवं जैन विद्वानोंसे शास्त्रार्थ किया था। न्याय-दर्शनके सूत्रोंपर 'न्यायमञ्जरी' नामकी इनकी टीका बहुत प्रसिद्ध है। इनका मुख्य ग्रन्थ 'अथर्वण-रक्षा' है जिसमें इन्होंने अथर्ववेदकी महत्तापर प्रकाश डाला है।

मण्डन मिश्र

आचार्य मण्डन मिश्र मण्डला ग्रामके निवासी थे, जिसे आजकल 'महेश्वर' कहते हैं। इसे माहिष्मतीपुरी भी कहते थे। ये बहुत बड़े संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित और मीमांसा तथा चारों वेदोंके मर्मज्ञ थे। आचार्य शंकर जब बौद्धोंको परास्त करनेके लिये दिग्विजय-यात्रामें निकले थे तो उन्हें ... कि वेदोंके प्रकाण्ड विद्वान् कुमारिल भट्ट हैं ... खोजते हुए वे प्रयाग पहुँचे। उस समय ... आत्मदाहके लिये बैठे थे। शंकराचार्यने

उन्हें बहुत रोका, पर वे नहीं माने और उन्होने कहा कि जिन बौद्ध गुरुओंसे हमने शिक्षा ली थी, उन्हें ही हमने शास्त्रार्थमें परास्त कर दिया अत मुझे अत्यन्त मानसिक ग्लानि हो गयी। अत आप मेरे शिष्य मण्डन मिश्रसे सहयोग प्राप्त कर। इसपर शकराचार्यजी मण्डला पहुँचे, रास्तेमे कुछ स्त्रियाँ कुएँसे पानी भर रही थीं। वहाँ उन्होंने मण्डन मिश्रके घरका पता पूछा। उस गाँवकी स्त्रियाँ भी इतनी विदुषी थीं कि बोल पडीं—

श्रुति प्रमाणं स्मृतय प्रमाणं
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसनिरुद्धा
अवेहितं मण्डनमिश्रधाम॥
जगद्ध्रुव स्यात् जगदध्रुवं स्यात्
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा
अवेहित मण्डनपण्डितौक ॥

भाव यह है कि जिसके दरवाजेपर बैठे हुए शुक-शुकी पिजरेंमे स्थिर होकर—'वेद अधिक प्रामाणिक हैं? अथवा धर्मशास्त्र कहाँतक प्रामाणिक हैं? ईश्वर सच्चा है, ससार नश्वर है या सत्य?—इन विषयापर कठिन शास्त्रार्थ करते हैं,' उसे ही आप मण्डन पण्डितका घर समझ। आचार्य जब वहाँ पहुँचे तो यह सब देखकर दग रह गये।

मण्डन मिश्र अपने आँगनमें यज्ञ कर रहे थे। आचार्य आकाशमार्गसे उनके आँगनमें पहुँच गये और वहाँ वेदोंपर उन्होने उनसे शास्त्रार्थ करना प्रारम्भ कर दिया। एक सप्ताह तक वैदिक वाद-विवाद चलता रहा फिर मण्डनजी परास्त हो गये और उन्होने कहा कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ? तब शंकराचार्यजीने कहा कि 'वैदिक धर्मकी पताका फहरानेमें आप मेरा साथ दें।' कहा जाता है कि मण्डन मिश्रकी पत्नी भारती बहुत विदुषी थी और उन्होंने शकराचार्यजीको परास्त कर दिया था।

मण्डन मिश्रने आचार्य शकरका साथ दिया। उन्हींके सहयोगसे शकराचार्यने पूरे भारतमे सभी बौद्ध-जैनियोंको परास्त कर वैदिक धर्मकी पताका फहरायी और वेद-विद्याका प्रचार-प्रसार किया। मण्डन मिश्रकी पत्नीने भी बहुत सहयोग दिया और उन्हींके नामपर शृंगेरी मठके सभी आचार्य आपके नामके साथ 'भारती' शब्दका प्रयोग करते हैं। भारतीदेवीकी भव्य प्रतिमा शृगेरी मठमें आज भी विद्यमान है।

इन्होने बादमें सन्यास ले लिया और इनका नाम सुरेश्वराचार्य पड गया। जिनके द्वारा निर्मित 'बृहदारण्यक वार्तिकसार' 'तैत्तिरीयारण्यक वार्तिकसार' और दिव्य 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र' आदि अनेक ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जो विद्वत् समाजमें आदरणीय हुए हैं।

भागवताचार्य

भागवताचार्य वेदके सस्कृत-व्याख्याताओंमें सबसे बादके भाष्यकार हैं। रामानन्द सम्प्रदायके प्रचार-प्रसारमे इनका बडा योगदान है। इन्होने चारो वेदोंपर भाष्य लिखा है। ये भगवान्के बडे भारी भक्त थे इसलिये इनके वेदभाष्योंमे भी भगवद्भक्तिका प्रवाह सर्वत्र प्रवाहित है। अपने भाष्योंका नाम इन्होंने भक्ति-सस्कारपर आधृत होनेके कारण 'सस्कार-भाष्य' रखा है। इनके भाष्योंमें 'साम-सस्कार-भाष्य' एव 'यजु -सस्कार-भाष्य' बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होने भगवान् रामको नारायण एव विष्णुके रूपमे वर्णन किया है। वैष्णव सम्प्रदायमे इनके भाष्योंका बड़ा आदर है।

नारायण

इनका जन्म सन् १३०० के आस-पास है। इन्होंने शाकटायनके द्वारा निर्मित व्याकरणके ग्रन्थ 'उणादिसूत्र' पर 'प्रक्रियासर्वस्व' नामकी टीका लिखी थी। ये वेदोंके विद्वान् थे। इनका भक्ति-ग्रन्थ 'नारायणीयम्' बहुत प्रसिद्ध है जो 'गीताप्रस'से प्रकाशित भी है।

वाचस्पति मिश्र

ये वेदके परम तत्त्वज्ञ थे, साथ ही सभी दर्शनशास्त्रोंका इन्होंने समानरूपसे अध्ययन किया था। गूढतम वैदिक तत्त्वोंके परम दार्शनिक रहस्य इन्हें हस्तामलकवत् थे। ये अहर्निश स्वाध्यायमे लीन रहते थे। इन्होंने वैदिक निबन्धोंके अतिरिक्त सभी दर्शनशास्त्रोंपर 'टीका-ग्रन्थ' लिखा है। इसलिये ये 'द्वादशदर्शन-कानन-पञ्चानन' वेदविद् विद्वान्के रूपमें प्रसिद्ध हुए हैं। इतिहासके अनुसार इनकी पत्नीका नाम भामती था जो इनकी शाकरभाष्यकी व्याख्याका नाम हो गया और वेदान्त ग्रन्थोंमे सर्वाधिक प्रसिद्ध है। ये राजा नृगके दरबारके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। इनके गुरुका नाम त्रिलोचन शास्त्री था।

कुछ प्रमुख भाष्यकारोकी सक्षिप्त जीवनियाँ

मध्वाचार्य (स्वामी आनन्दतीर्थ)

स्वामी आनन्दतीर्थका विशेष प्रसिद्ध नाम मध्वाचार्य है। ये मध्व एव गौडीय दाना सम्प्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका जन्म सन् ११९९ में उडुपीनगर (कर्नाटक)-में हुआ था। इनकी माताका नाम वेदवती था। इनके गुरुका नाम महात्मा अच्युततीर्थ महाराज था। इन्हाने इन्हींसे वेद-वेदान्तका अध्ययन किया था और सारे भारतमे भमण कर अपने ज्ञान तथा वैदिक सिद्धान्तोका प्रचार किया था। इनके लिखे हुए ग्रन्थ जो 'प्रबन्धग्रन्थ'के नामसे हैं, कई हैं। जिसम ऋग्वेदका भाष्य और वेदोंपर आधृत ब्रह्मसूत्रका अणुभाष्य बहुत प्रसिद्ध है। इनके वेदभाष्यपर अनेक अनुसधान विश्वविद्यालयोंम हो रहे हैं और इनका मत द्वैतमतके नामसे प्रसिद्ध है। इनके मतका मुख्य सार भगवान् श्रीहरिकी उपासना ही सर्वोपरि है और भगवान् ही परमतत्त्व हैं। इनका निर्वाण बदरिकाश्रमम सन् १२७८ में हुआ था।

उव्वट

इनके पिताका नाम वज्रट था, जो बहुत विद्वान् थे। ये गुजरात-प्रान्तके आनन्दपुर नगरके निवासी थे। इन्होने शुक्लयजुर्वेदके वाजसनेयिसहितापर विस्तृत भाष्य लिखा है। ये मालवाके राजा भोजके दरबारी थे। यजु प्रातिशाख्य नामके वैदिक ग्रन्थपर इनका भाष्य है।

महीधर

ये काशीके प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनका समय प्राय १२वीं शताब्दी है। इनके यजुर्वेदके भाष्यका नाम 'वेदप्रदीप' है, जो सर्वाधिक विस्तृत और सरलतम भाष्य है। इसमे इन्होने सभी वैदिक ग्रन्था श्रौतसूत्रा और ब्राह्मणग्रन्थाका आश्रय लेकर यज्ञकी पूरी प्रक्रिया दी गयी है। इन्हाने उव्वट और सायण आदिके भाष्याका पढकर अत्यन्त सरल और परिष्कृत भाष्यका निर्माण किया है।

वेङ्कट माधव (विद्यारण्य)

इनका ऋग्वेदका भाष्य बहुत प्रसिद्ध है। देवराजयज्वाका जा निरुक्त—'निघण्टुभाष्य' है उसमे आचार्य वेङ्कट माधवका सादर उल्लख प्राप्त होता है। इनके पिताका नाम वेङ्कटार्य था जो ऋग्वदके अच्छे ज्ञाता थे। माताका नाम सुन्दरी था। इनके पुत्रका नाम वेङ्कट अथवा गोविन्द था। ये नदीके दक्षिण तटपर चोलदेशके उत्तरभागम स्थित गाँवके निवासी थे।

प्रभाकर भट्ट

ये केरल प्रान्तके निवासी थे। ये तत्त्वज्ञानी और न्यायदर्शनके बहुत बडे विद्वान् थे। इनका मत प्रभाकर मतके नामसे प्रसिद्ध था।

शबरस्वामी

ये काश्मीरके रहनेवाले थे। इनके पिताका नाम दीप्तस्वामी था। इन्होने वेदोंके साथ-साथ मीमांसा-दर्शनपर भाष्यकी रचना की, जो 'शाबर-भाष्य'के नामसे विश्वमें विख्यात है। इनके विषयम यह श्लोक विद्वानाकी परम्परामें बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध है—

ब्राह्मण्यामभवत् वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी ।
राजा भर्तृहरिश्च विक्रमनृप क्षत्रात्मजायामभूत्॥
वैश्याया हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शंकु कृती।
शूद्रायाममर षडेव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजा ॥

जयत भट्ट

इनका समय दशवीं शताब्दीके आस-पास माना जाता है। वाचस्पति मिश्र आदि परवर्ती विद्वानोंने अपने-अपने ग्रन्थोम सादर इनका उल्लख किया है। इन्होने अनेक बौद्ध एव जैन विद्वानोंसे शास्त्रार्थ किया था। न्याय-दर्शनके सूत्रापर 'न्यायमञ्जरी' नामकी इनकी टीका बहुत प्रसिद्ध है। इनका मुख्य ग्रन्थ 'अथर्वण-रक्षा' है, जिसम इन्होंने अथर्ववेदकी महत्तापर प्रकाश डाला है।

मण्डन मिश्र

आचार्य मण्डन मिश्र मण्डला ग्रामक निवासी थे जिसे आजकल 'माहेश्वर' कहते हैं। इसे माहिष्मतीपुरी भी कहते थे। ये बहुत बडे संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित और मीमासा तथा चारों वेदाके मर्मज्ञ थे। आचार्य शकर जब बौद्धांको परास्त करनेके लिये दिग्विजय-यात्रामे निकले थे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि वेदोके प्रकाण्ड विद्वान् कुमारिल भट्ट हैं, अत वे उन्हे खोजते हुए ये प्रयाग पहुँचे। उस समय कुमारिल भट्ट प्रयागमें आत्मदाहके लिये बैठे थे। शकराचार्यने

उन्हें बहुत रोका, पर वे नहीं माने और उन्होंने कहा कि जिन बौद्ध गुरुओंसे हमने शिक्षा ली थी, उन्हें ही हमने शास्त्रार्थमें परास्त कर दिया अत मुझे अत्यन्त मानसिक ग्लानि हो गयी। अत आप मेरे शिष्य मण्डन मिश्रसे सहयोग प्राप्त करे। इसपर शकराचार्यजी मण्डला पहुँचे रास्तेमे कुछ स्त्रियाँ कुएँसे पानी भर रही थीं। वहाँ उन्होंने मण्डन मिश्रके घरका पता पूछा। उस गाँवकी स्त्रियाँ भी इतनी विदुषी थीं कि बोल पडीं—

श्रुति प्रमाणं स्मृतय प्रमाण
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा
अवेहित मण्डनमिश्रधाम॥
जगद्ध्रुव स्यात् जगदध्रुवं स्यात्
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा
अवेहित मण्डनपण्डितौक ॥

भाव यह है कि जिसके दरवाजेपर बैठे हुए शुक-शुकी पिजरेमे स्थिर होकर—'वेद अधिक प्रामाणिक हैं? अथवा धर्मशास्त्र कहाँतक प्रामाणिक हैं? ईश्वर सच्चा है ससार नश्वर है या सत्य?—इन विषयोपर कठिन शास्त्रार्थ करते हैं,' उसे ही आप मण्डन पण्डितका घर समझ। आचार्य जब वहाँ पहुँचे तो यह सब देखकर दग रह गये।

मण्डन मिश्र अपने आँगनमें यज्ञ कर रहे थे। आचार्य आकाशमार्गसे उनके आँगनमें पहुँच गये और वहाँ वेदापर उन्होंने उनसे शास्त्रार्थ करना प्रारम्भ कर दिया। एक सप्ताह तक वैदिक वाद-विवाद चलता रहा फिर मण्डनजी परास्त हो गये और उन्होने कहा कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ? तब शकराचार्यजीने कहा कि 'वैदिक धर्मकी पताका फहरानेमें आप मेरा साथ दे।' कहा जाता है कि मण्डन मिश्रकी पत्नी भारती बहुत विदुषी थी और उन्होंने शकराचार्यजीको परास्त कर दिया था।

मण्डन मिश्रने आचार्य शकरका साथ दिया। उन्हींके सहयोगसे शकराचार्यने पूरे भारतमे सभी बौद्ध-जैनियोंको परास्त कर वैदिक धर्मकी पताका फहराया और वेद-विद्याका प्रचार-प्रसार किया। मण्डन मिश्रकी पत्नीने भी बहुत सहयोग दिया और उन्हींके नामपर शृगेरी मठके सभी आचार्य आपके नामके साथ 'भारती' शब्दका प्रयोग करते हैं। भारतीदेवीकी भव्य प्रतिमा शृगेरी मठमें आज भी विद्यमान है।

इन्होने बादमे सन्यास ले लिया और इनका नाम सुरेश्वराचार्य पड गया। जिनके द्वारा निर्मित 'बृहदारण्यक वार्तिकसार', 'तैत्तिरीयारण्यक वार्तिकसार' और दिव्य 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र' आदि अनेक ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जो विद्वत् समाजमे आदरणीय हुए हैं।

भागवताचार्य

भागवताचार्य वेदके सस्कृत-व्याख्याताओमे सबसे बादके भाष्यकार हैं। रामानन्द सम्प्रदायके प्रचार-प्रसारमें इनका बडा योगदान है। इन्होने चारो वेदापर भाष्य लिखा है। ये भगवान्‌के बडे भारी भक्त थे इसलिये इनके वेदभाष्योंमें भी भगवद्भक्तिका प्रवाह सर्वत्र प्रवाहित है। अपने भाष्योका नाम इन्होंने भक्ति-सस्कारपर आधृत होनेके कारण 'सस्कार-भाष्य' रखा है। इनके भाष्योंमे 'साम-सस्कार-भाष्य' एवं 'यजु -सस्कार-भाष्य' बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने भगवान् रामका नारायण एव विष्णुके रूपमे वर्णन किया है। वैष्णव सम्प्रदायमे इनके भाष्योका बडा आदर है।

नारायण

इनका जन्म सन् १३०० के आस-पास है। इन्होंने शाकटायनके द्वारा निर्मित व्याकरणके ग्रन्थ 'उणादिसूत्र' पर 'प्रक्रियासर्वस्व' नामकी टीका लिखी थी। ये वेदोंके विद्वान् थे। इनका भक्ति-ग्रन्थ 'नारायणीयम्' बहुत प्रसिद्ध है जो 'गीताप्रेस'से प्रकाशित भी है।

वाचस्पति मिश्र

ये वेदके परम तत्त्वज्ञ थे साथ ही सभी दर्शनशास्त्रोंका इन्होने समानरूपसे अध्ययन किया था। गूढतम वैदिक तत्त्वोंके परम दार्शनिक रहस्य इन्हे हस्तामलकवत् थे। ये अहर्निश स्वाध्यायमे लीन रहते थे। इन्होंने वैदिक निबन्धोंके अतिरिक्त सभी दर्शनशास्त्रोपर 'टीका-ग्रन्थ' लिखा है। इसलिये ये 'द्वादशदर्शन-कानन-पञ्चानन' वेदविद् विद्वान्‌के रूपमे प्रसिद्ध हुए हैं। इतिहासके अनुसार इनकी पत्नीका नाम भामती था जो इनकी शाकरभाष्यकी व्याख्याका नाम हो गया और वेदान्त ग्रन्थोमे सर्वाधिक प्रसिद्ध है। ये राजा नृगके दरबारके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। इनके गुरुका नाम त्रिलोचन शास्त्री था।

महामहोपाध्याय प० श्रीविद्याधरजी गौड—काशीकी अप्रतिम वैदिक विभूति

आवागमनशील इस ससारमें प्रतिदिन न जाने कितने लोग आते हैं और चले जाते हैं किंतु उनमें यदा-कदा ऐसी विभूतियाँ भी जन्म लेती हैं, जिनके उदात्त कर्म समाजके लिये प्रेरणाप्रद बन जाते हैं। काशीके प्रखर वैदिक

वेदमूर्ति महामहोपाध्याय प० विद्याधरजी गौड

विद्वान् प० श्रीविद्याधरजी गौडका भौतिक अवतरण भी कुछ इसी प्रकारका था। काशीके विद्वत् जगत्के देदीप्यमान नक्षत्र प० श्रीप्रभुदत्तजी गौडके पुत्ररूपमें इनका जन्म पौष कृष्ण १३ शुक्रवारको सन् १८८६ में रोहतक जिलेके पूठी नामक ग्राममें हुआ। पण्डित विद्याधरजीके सम्पूर्ण जातकर्म-संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न हुए। अन्नप्राशन-संस्कारके समय जब अपने सामने रखी हुई अनेक वस्तुओंमेंसे इन्होंने पुस्तक उठायी तो सबने समझ लिया कि यह बालक विद्या-व्यसनी होगा।

अध्ययन

काशीमें अध्ययन पठन-पाठनके अत्यन्त अनुकूल परिवेश तथा प्राक्तन जन्म-संस्कारके कारण इन्होंने अपने यशस्वी पिताके द्वारा वेद-विद्या और कर्मकाण्डका अद्भुत ज्ञानराशि अपनी तीक्ष्ण मेधाशक्ति और कुशाग्रबुद्धिसे अल्पकालमें ही अर्जित कर ली। जो वेदमन्त्र आप एक बार अपने पितृमुखसे सुनते थे वह आपको तत्काल कण्ठस्थ हो जाता था। पण्डित प्रभुदत्तजी शास्त्रीके यहाँ निरन्तर वेदाध्ययन चलता रहता था। देशके कोने-कोनेसे विद्यार्थी काशी आकर अध्ययन और स्वाध्याय करते रहते थे। श्रौताधानके कारण उनके यहाँ नित्य होमके साथ 'दर्शपौर्णमासेष्टि' का क्रम भी चलता रहता था। इस सुसंस्कृत परिवेशका प० विद्याधरजीपर अमिट प्रभाव पडा। पण्डित विद्याधरजी इतने सौम्य स्वभावके थे कि कभी यह विश्वास ही नहीं होता था कि वे वेदके इतने बडे मर्मज्ञ हैं। वेदका मूलभाग अष्ट-विकृतियोंके साथ उन्हें कण्ठस्थ तो था ही, अन्य अनेक शास्त्रोंका भी उन्हें गहन ज्ञान था। लोग उन्हें गायत्रीवत् वेदका पारायण करते देखकर आश्चर्य करते थे। वेदके साथ-साथ वेदाङ्गोंपर भी उनका अखण्ड अधिकार था। इतना ही नहीं धर्मशास्त्र मीमांसा, साहित्य और व्याकरण आदि शास्त्रोंमें भी उनकी अपरिमित गति थी। अहंकार तो उन्हें स्पर्श भी न कर पाया था। अपनी असाधारण प्रतिभा पितृभक्ति और विनयशीलताके कारण प० विद्याधरजीने अपने पिताके कोमल मनको वशीभूत कर लिया था।

अध्यापन

प० विद्याधरजी १६ वर्षकी अवस्थामें अपने पिताजीके साथ यज्ञमें कलकत्ता गये थे। वहाँ उपस्थित विद्वानोंने इनकी अपूर्व विद्वत्ता और पाण्डित्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। वहाँके सम्पन्न-व्यक्तियोंने अपने प्रबल आग्रहसे वेद और संस्कृतका अध्यापन करनेके लिये इन्हें विवश किया। फलस्वरूप पं० प्रभुदत्तजीकी आज्ञासे वे कलकत्ताके 'विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालयमें अध्यापन कार्य करने लगे परन्तु उनका मन कलकत्ता-जैसे व्यवसायी शहरमें न लगा। वहाँका वातावरण विद्याके अध्ययन-अध्यापनके अनुकूल न था। वे छ मासतक अध्यापन कार्य करके वापस काशी लौट आये। यहाँपर ज्ञानवापीके निकट सत्यनारायण वेद-विद्यालय तथा सरस्वती फाटकके समीप सत्यनारायण वेद-विद्यालयमें कई वर्षोंतक अध्यापन करनेके बाद आप मीरघाट मुहल्लेमें श्रीरामदयाल चुन्नीलाल काजडिया संस्कृत पाठशालामें पद-क्रम-जटा-घन आदि अष्ट-विकृतियोंके साथ मूल यजुर्वेदसंहिता पढाने लगे। स्वर्गीय सेठ गौरीशंकरजी

गोयनकाने 'श्रीजोखीराम मटरूमल गोयनका संस्कृत महाविद्यालय' की स्थापना कर उन्हें अपने यहाँ वेद-अध्यापक नियुक्त किया। कई वर्षोंतक गोयनका महाविद्यालयमें वाचस्पति आचार्य शास्त्री आदिके छात्रोंका अध्यापन करानेके बाद सन् १९३९ में आपने त्यागपत्र दे दिया। त्यागपत्र देनेके पश्चात् भी वे विद्यानुरागी सेठ गौरीशंकरजी गोयनका तथा म० म० पं० हरिहरकृपालुजी द्विवेदी आदिके प्रबल आग्रहके कारण आजीवन इस महाविद्यालयसे सम्बद्ध रहे।

विद्वानोंके पारखी महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी निरन्तर यही प्रयत्न करते थे कि सदाचारी और गम्भीर विद्वान् काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे संलग्न हों और अपनी विद्या एवं उज्ज्वल चरित्रसे विद्यार्थियोंको लाभान्वित करें। उन्होंने पं० विद्याधरजीको रणवीर संस्कृत पाठशालामें प्रधानाध्यापक पदपर नियुक्त कर दिया। सन् १९१७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके धर्म-विज्ञान-विभागमें आपको सर्वप्रथम प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया। धर्म-विज्ञान संकायके विभिन्न पदोंपर रहकर अध्यापन करते हुए इस पदसे १९४० में आपने त्यागपत्र दे दिया। पण्डित विद्याधरजी सन् १९४० से जीवनके अन्तिम क्षणतक काशीके सुप्रसिद्ध सन्यासी संस्कृत कालेज (अपारनाथ मठ)-के प्रधानाचार्य भी रहे।

वेद-प्रचार

आप साक्षात् वेदमूर्ति और वेदमय थे। अध्यापन कार्यके साथ-साथ अपना अधिक समय वेदके प्रचारमें व्यतीत करते थे। आपकी प्रेरणासे महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झाने तत्कालीन गवर्नमेंट संस्कृत कालेजमें शुक्लयजुर्वेदके अध्यापन और परीक्षणका कार्य प्रारम्भ किया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और गोयनका संस्कृत महाविद्यालयमें जहाँ पहले केवल शुक्लयजुर्वेदका ही अध्यापन होता था, आपके प्रयत्नोंसे वहाँ चारों वेदोंका अध्ययन-अध्यापन होने लगा। पण्डित विद्याधरजीसे केवल वेद पढ़नेवाले जिज्ञासु छात्र ही वेदाध्ययन नहीं करते थे वरन् व्याकरण तथा साहित्यके प्रसिद्ध अध्यापक और विद्वान् भी उपस्थित होकर भाष्यसहित वेदोंका अध्ययन करते थे।

सरल जीवन

भारतीय पण्डितोंकी परम्परागत वेशभूषा—बगलबन्दी (मिरजई) सिरपर रेशमी साफा, मस्तकपर भस्मका त्रिपुण्ड्र अंकित किये रहनेवाले पं० श्रीविद्याधरजी गौड बड़े सीधे-साधे और सज्जन व्यक्ति थे। ईश्वरमें इनकी प्रगाढ निष्ठा और अचल श्रद्धा थी। असत्य-भाषण, मिथ्या-व्यवहार तथा छल-प्रपञ्चको वे घोर पातक समझते थे। जितना विराग उन्हें मिथ्या व्यवहारसे था, उतना ही व्यर्थकी चाटुकारितासे भी था। किसी भी संकटकी परिस्थितिमें वे कभी विचलित नहीं होते थे। महासागरके समान शान्तचित्त और स्थिर रहते थे।

उपाधि

वेदविद्यामें पूर्ण पारंगत होने, वैदिक विद्याका समस्त गूढ मर्म समझने, वैदिक कर्मकाण्डमें सविधि वेदका प्रयोग करने, वेद-कर्मकाण्डके अनेक ग्रन्थोंके निर्माण करने तथा सर्वतोमुखी प्रतिभाकी ख्यातिके कारण भारत सरकारने सन् १९४० ई० में विद्वानोंकी सबसे बड़ी उपाधि महामहोपाध्यायसे सरस्वतीके वरदपुत्र पं० श्रीविद्याधरजी गौडको समलंकृत किया।

लेखन-कार्य

पं० श्रीविद्याधरजी गौड कुशल लेखक भी थे। कर्मकाण्डकी लगभग सभी पद्धतियोंका संशोधन इनके द्वारा हुआ। अनेक पद्धतियोंका प्रणयन भी आपने किया। जिनमें स्मार्त-प्रभु, प्रतिष्ठा-प्रभु, विवाह-पद्धति, उपनयन-पद्धति, वास्तु-शान्ति-पद्धति, शिलान्यास-पद्धति तथा चूडाकरण-पद्धति आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। आपकी रचित कुछ पद्धतियाँ तथा कात्यायन श्रौतसूत्रकी भूमिका काशी हिन्दू विश्वविद्यालयकी वेद-कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विविध परीक्षाओंमें पाठ्यग्रन्थके रूपमें स्वीकृत हैं। आपद्वारा रचित कात्यायन श्रौतसूत्र और शुल्बसूत्रकी 'सरला' टीका काफी विद्वत्तापूर्ण मानी जाती है। शतपथ-ब्राह्मण, श्राद्धसार एवं कात्यायन-श्रौतसूत्रकी देवयाज्ञिक-पद्धति आदि अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन तथा 'श्रौतयज्ञ-परिचय' नामक ग्रन्थके निर्माणसे वैदिक जगत् उपकृत है। वस्तुतः अपने पिताजीकी स्मृतिको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये आपने 'स्मार्त-प्रभु' तथा 'प्रतिष्ठा-प्रभु' नामक दो ग्रन्थोंकी रचना की थी।

संस्कृतनिष्ठा

पण्डित विद्याधरजीकी यह भावना थी कि संस्कृत भाषाके पढ़े बिना हमारे देशका कल्याण नहीं हो सकता। ये संस्कृत भाषाके अनुरागी मात्र नहीं थे, वरन् अनन्यभक्त भी थे। संस्कृतमें ही पत्र-व्यवहार करते थे। संस्कृतज्ञसे सम्पर्क होनेपर संस्कृतमें ही वार्तालाप और सम्भाषण करते थे।

धर्माचरण

धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६। ९२)

'धैर्य, क्षमा आत्मदमन चोरी न करना, पवित्रता इन्द्रियोंका निग्रह विवेक, विद्या, सत्य और क्रोध न करना'—ये धर्मके दस लक्षण हैं। पण्डित विद्याधरजीमे ये सभी गुण पूर्णरूपसे विराजमान थे। अतुलित धैर्यके साथ ही आप क्षमाशील भी थे। मन, बुद्धि और हृदय सभी दृष्टियोसे आप पूर्ण पवित्र थे एवं श्रुति स्मृति, पुराण आदि धर्मग्रन्थोंमें प्रतिपादित परम्परागत सनातन वैदिक धर्मके परम अनुयायी थे। आप प्रतिदिन प्रात चार बजे उठकर गङ्गा-स्नान सध्या-तर्पण, बाबा विश्वनाथ तथा माँ अन्नपूर्णाका दर्शन करके दुर्गापाठ किया करते थे।

गौ-ब्राह्मण-भक्त

अपने पूज्य पिता प० प्रभुदत्तजी गौडके समान प० विद्याधरजी भी बडे निष्ठावान् और ब्राह्मण-भक्त थे। प्रात उठते ही गौमाताके दर्शन करते थे। काशीसे बाहर जाना होता तो गौमाताका दर्शन और उसकी प्रदक्षिणा करके ही जाते। गौके समान ब्राह्मणाके भी वे परम भक्त थे। ब्राह्मण-निन्दा उन्हें कभी सह्य न था। हमेशा अन्न-वस्त्रसे ब्राह्मणोका सत्कार किया करते थे। ब्राह्मणोका बहुत आदर करते थे, पर उनमें जातिगत कट्टरता तनिक भी नहीं थी।

विविध कार्यदक्षता

आप शतावधानियाकी तरह एक ही समयमें अनेक कार्य करते थे। एक ओर वेदका मूल पाठ पढाते तो दूसरी ओर वेदभाष्य पढाते थे। इसी प्रकार एक ओर व्याकरण पढाते तो दूसरी ओर साहित्य आदि पढाते थे। अध्यापनके साथ-साथ ग्रन्थ-लेखन धर्मशास्त्रीय व्यवस्था और पत्रोत्तर आदिका कार्य भी करते रहते थे।

गोलोकवास

प० श्रीविद्याधरजी गौडका 'काश्यां मरणान्मुक्ति' में पूर्ण विश्वास था। आप जीवन-यात्रा-समाप्तिके एक वर्ष पूर्वसे कुछ शिथिल रहने लगे थे। सन् १९४१को प्रात १० ३० बजे ५५ वर्षकी अल्पायुमें महामहोपाध्याय प० श्रीविद्याधरजी गौड अपने सुयोग्य पुत्रां, शिष्यों और भक्तोको छोडकर अपने नश्वर पाञ्चभौतिक शरीरको पवित्र काशीमें त्याग कर मुक्त हो गये।

'मनसे वचनसे और कर्मसे जो पुण्यके अमृतसे भरे हुए सम्पूर्ण त्रिभुवनको अपने उपकारसे तृप्त करते रहते हैं और दूसरोंके अत्यन्त नन्हें-से गुणको भी पर्वतके समान बनाकर हृदयमें प्रसन्न होते रहते हैं'—ऐसे कम लोग ही माँ धरित्रीकी गोदमें अवतरित होते हैं। वेद-विद्याकी अप्रतिम प्रतिभा महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड ऐसे ही लोगामेंसे थे जिन्ह काशी कभी विस्मृत न कर सकेगी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

अर्वाचीन वैदिक अनुसंधाताओं तथा वदके भाष्यकारामें स्वामी दयानन्द सरस्वतीका भी नाम है। स्वामी दयानन्दजी गुजरात प्रान्तके थे। बचपनसे ही आपकी प्रवृत्ति निवृत्ति-मार्गकी ओर रही, इसलिये गृहस्थ-धर्मसे आप सदा दूर ही रहे। यहाँतक कि गृह-त्याग कर आपने नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका आश्रय ग्रहण किया और 'शुद्धचैतन्य' इस नामसे आपकी प्रसिद्धि हुई फिर प्रारम्भ हुआ आपका देश-भ्रमणका कार्य। अनन्तर संन्यास ग्रहण कर आप 'शुद्धचैतन्य' से 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' इस नामसे जाने गये। मथुरा पहुँचकर आपने प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दजी महाराजसे विशेष वेद-ज्ञान प्राप्त किया और फिर आपने वेदोंके प्रचार-प्रसारके कार्यका सकल्प लिया। इस कार्यमें इन्हें महान् संघर्ष करना पड़ा। आपने वेदोपर भाष्य आदिका प्रणयनकर एक नवीन विचारधाराको पुष्ट किया, जो प्राचीन सनातन परम्परासे मेल नहीं खाती। आपने कई बार शास्त्रार्थ किया और यावज्जीवन आप इस पद्धतिके पोषणमें लगे रहे।

अभिनव वेदार्थचिन्तनमे स्वामी करपात्रीजीका योगदान

(डॉ० श्रीरूपनारायणजी पाण्डेय)

वेद भारतीय धर्म एव सस्कृतिके मूल उत्स हैं। महर्षियोंके द्वारा वेदावबोधके प्रयासमें वेदाङ्गो (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष)-का प्रणयन किया गया। (वैदिक) आस्तिक दर्शन विशेषरूपसे मीमासा एवं वेदान्त, वेदार्थ एव वेदतत्त्वका गम्भीर विमर्श करते हैं। रामायण अष्टादशपुराण तथा महाभारतमें भी विविध कथा-प्रसगोंके माध्यमसे वेदार्थका विस्तार किया गया है।

वेदके प्राचीन भाष्यकारोंमें स्कन्दस्वामी, उद्‌गीथ वेङ्कटमाधव, रावण, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, सायण, उव्वट, महीधर, आनन्दबोध हलायुध अनन्ताचार्य, भट्टभास्कर मिश्र, माधव तथा भरतस्वामी आदि विश्वविश्रुत हैं। वेदार्थचिन्तन तथा वैदिक सिद्धान्तोंके प्रतिपादनमें यास्क व्यास जैमिनि, मनु, शबर, शकराचार्य, मण्डन मिश्र, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, वाचस्पति मिश्र, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य तथा जयन्त भट्ट आदिका नाम सादर सस्मरणीय है। आधुनिक वेदभाष्यकारों तथा सस्कृतेतर वेदानुवादकोमें स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, रमेशचन्द्र दत्त रामगोविन्द त्रिवेदी, कोल्हट, पटवर्धन सिद्धेश्वर शास्त्री, जयदेव विद्यालकार, डॉ० सत्यप्रकाश कपालशास्त्री, श्रीराम शर्मा, ज्वालाप्रसाद मिश्र वीरेन्द्र शास्त्री तथा क्षेमकरण त्रिवेदी आदिका नाम उल्लेखनीय है। पाश्चात्य वेदज्ञो एवं अनुवादकोमें फ्रीडिशरोजेन मैक्समूलर विल्सन ग्रासमैन, लुडविग ग्रिफिथ ओल्डेनबर्ग वेबर, कीथ, राथ ह्विटनी तथा स्टेवेन्सन आदि प्रमुख हैं। आधुनिक वेदार्थचिन्तकोंमें पं० मधुसूदन ओझा, गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, अरविन्द, वासुदेव शरण अग्रवाल सूर्यकान्त तथा रघुनन्दन शर्मा आदि समादरणीय हैं।

स्वामी करपात्रीजी आधुनिक युगके उन वेदार्थचिन्तकोंमें अग्रगण्य हैं जिन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों तथा भाष्यकारोंकी सुचिन्तित वेदार्थपरम्पराका दृढताके साथ अनुवर्तन करते हुए प्राच्य एवं पाश्चात्य वेदज्ञोंके मतोंकी सम्यक् समालोचना की
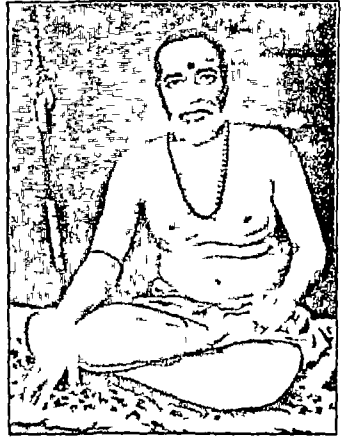
वेदभाष्यकार अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

है तथा भारतीय मान्य वेदार्थपरम्परामें तदनुकूल अभिनव अर्थोंकी सर्जना की है। स्वामीजी (सन् १९०७—१९८२ ई०)-द्वारा प्रणीत वेदविषयक ग्रन्थोंमें 'वेदका स्वरूप और प्रामाण्य' (दो भागोंमें), 'वेदप्रामाण्य मीमासा', 'वेदस्वरूपविमर्श', 'वेदार्थपारिजात' (भागद्वय) तथा 'वाजसनेयिमाध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेदसहिता' (करपात्रभाष्यसमन्वित-दशभागोंमें) मुख्य हैं। ऋग्वेदसहिता (प्रथम मण्डल)-का भाष्य अभी अप्रकाशित है। वैदिक चिन्तन तथा वेदमूलक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन आपके अन्य प्रमुख ग्रन्थों—'मार्क्सवाद और रामराज्य' 'रामायणमीमासा' 'चातुर्वर्ण्यसस्कृतिविमर्श' तथा 'भक्तिसुधा' आदिमें उपलब्ध होता है।

वेदभाष्यके क्षेत्रमें युगान्तर उपस्थित करनेवाले स्वामी दयानन्द सरस्वतीने ब्राह्मण-ग्रन्थोंके वेदत्वका खण्डन किया तथा सनातन सस्कृतिके अङ्गभूत मूर्तिपूजा एवं

आदिमें अविश्वास प्रदर्शित किया। उन्होंने आचार्य सायण महीधर तथा उव्वट आदिके विपरीत अग्नि, अदिति, इन्द्र रुद्र एवं विष्णु आदिका यास्कके निरुक्तके आधारपर नूतन यौगिक अर्थ किया तथा परम्पराद्वारा प्रमाणित याज्ञिक अर्थकी घोर उपेक्षा की।

पाश्चात्त्य वेदज्ञोंने भाषाशास्त्रादिके आधारपर न केवल सनातन वेदार्थ-परम्पराका उपहास किया अपितु आर्य-अनार्य-सिद्धान्तकी परिकल्पना करके 'वेदमन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि भारतके मूल निवासी नहीं हैं'—इस सिद्धान्तकी दृढ प्रतिष्ठापना की। वेदमन्त्रोंके द्रष्टा ऋषियोंको उनका रचयिता मानकर मीमांसादि दर्शनोंके दृढतापूर्वक प्रतिपादित वेदोंके नित्यत्व तथा अपौरुषेयत्वका खण्डन किया।

पूज्यपाद स्वामी करपात्रीजीने स्वामी दयानन्द सरस्वतीका गम्भीरतापूर्वक खण्डन करते हुए ब्राह्मणग्रन्थोंके वेदत्वको सुप्रतिपादित किया तथा मूर्ति-पूजा एवं श्राद्ध-तर्पण आदिको वैदिक सिद्धान्तोंके अनुरूप सिद्ध किया। स्वामी दयानन्द सरस्वतीके नूतन वेदार्थका सर्वथा अस्वीकृत करते हुए सनातन परम्पराके अनुरूप वेदार्थका अङ्गीकृत किया तथा अपनी विलक्षण प्रतिभाके बलपर वेदमन्त्रोंके नूतन आध्यात्मिक एवं आधिदैविक अर्थोंको स्पष्ट किया। स्वामीजीका यह सुचिन्तित मत है कि यदि लौकिक वाक्योंके अनेक अर्थ हो सकते हैं तो अलौकिक वेदवाक्योंके अनेक अर्थ क्यों नहीं? हाँ, वेदमन्त्रोंके अर्थप्रतिपादनमें उनके ऋषि देवता तथा सूत्रानुसारी विनियोगादिकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। स्वामीजीके विचार मन्तव्य हैं—

'त एते वक्तुरभिप्रायवशादर्थान्यथात्वमपि भजन्ते मन्त्रा। न ह्येतेष्वर्थेषु इयत्तावधारणमस्ति महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशेष्यात् अश्वः साधु साधुतरश्च वहति, एवमेवमे वक्तृवैशेष्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति। तत्रैव सति लक्षणोद्देशमात्रमर्यतस्मिन् शास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्चाध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्या। नात्रापराधोऽस्ति। एकेन विदुषा 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्' इति श्रीमद्भागवतीयाद्यपद्यस्याष्टोत्तरशतसंख्याकानि व्याख्यानानि कृतानि।

'यदा स्थितिरेतादृशी पौरुषेयेषु वाक्येषु तदा परमेश्वरीयनित्यविज्ञानमयानि वैदिकमन्त्रब्राह्मणवाक्यानि बह्वर्थानि भवेयुरित्यत्र नास्ति मनागपि विप्रतिपत्ति। तथापि प्रामाणिकानि तानि व्याख्यानानि तात्पर्यानुगुणानि उपपत्तिमन्ति भवेयुस्तदैव ग्राह्याणि नान्यथा। तत्रार्थविनियोगवशादर्थभेदो युक्त। विनियोगवशादुपक्रमादिलिङ्गवशाच्च यत्र मुख्ये तात्पर्ये निश्चीयते तदविरोधेनैवेतराणि व्याख्यानानि ग्राह्याणि। इतरथा ग्रहणे परस्परविरुद्धार्थवादित्वेनाप्रामाण्यमेव स्याद् वेदानाम्।'

(शुक्लयजुर्वेदसंहिता १। १ करपात्रभाष्य)

यज्ञप्रधान शुक्लयजुर्वेदके मन्त्रोंके याज्ञिक अर्थको पुष्ट करते हुए उसके अविरुद्ध उनके रमणीय आध्यात्मिक अर्थको प्रकाशित करके स्वामीजीने वेदार्थ-प्रकाशनके क्षेत्रमें अद्भुत युगान्तकारी क्रान्ति की है। वेदभाष्यभूमिका 'वेदार्थपारिजात' के साथ शुक्लयजुर्वेदके करपात्रभाष्यके प्रकाशनसे यास्क शौनक कात्यायन बौधायन आश्वलायन, शाङ्खायन आपस्तम्ब सत्याषाढ भरद्वाज, वैखानस वाधूल जैमिनि तथा कौशिक आदि ऋषियों तथा आचार्यों एवं स्कन्दस्वामी महाभास्कर मिश्र सायण और उव्वट आदि भाष्यकारोंकी अर्थ-परम्परा पल्लवित एवं पुष्पित हो गयी आधुनिक प्राच्य एवं पाश्चात्त्य वेदज्ञोंके मतोंकी समीक्षा हो गयी तथा उनके द्वारा भारतीय धर्म एवं संस्कृतिकी मान्यताओंपर किये गये आक्षेपोंका यथेष्ट विखण्डन हो गया। इस प्रकार स्वामी करपात्रीजीके द्वारा प्रस्तुत अभिनव वेदार्थचिन्तन सनातन वैदिक धर्म एवं संस्कृतिकी विजयकी उद्घोषणा करता है तथा परवर्ती विद्वानोंको परम्पराके अविरुद्ध अभिनव अर्थोंके चिन्तनकी सत्प्रेरणा प्रदान करता है।

स्वामीजीने याज्ञिक अर्थके अनुरूप किस प्रकार प्रत्यक्ष आध्यात्मिक आदि अर्थोंकी उद्भावनाकी है? इसे एक उदाहरणके द्वारा उपस्थित करना अनपेक्षित न होगा।

शुक्लयजुर्वेद प्रथम अध्यायके अन्तिम मन्त्र 'सवितुस्त्वा०' का याज्ञिक अर्थ निम्नलिखित है—

'हे आज्य! प्रेरक सूर्यदवताकी प्रेरणासे मैं छिद्ररहित पवित्र तथा सूर्य किरणाके द्वारा तुम्हे शुद्ध कर रहा हूँ। उसी तरह हे प्रोक्षणी जल! यज्ञ-निवास-भूत सूर्यकी किरणासे और छिद्ररहित पवित्रसे मैं तुम्हे प्रेरक देवताकी प्रेरणाके कारण शुद्ध कर रहा हूँ। हे आज्य! तुम शरीरकी कान्तिको देनेवाले तेज हो प्रकाशक हो तथा अविनश्वर हो। उसी तरह हे आज्य! तुम समस्त देवताआक स्थान हा, सबको झुकानेवाले हो और देवताओके द्वारा तिरस्कार न करनेक कारण तुम उनके प्रिय हो तुम उनके यागके साधन हो इसलिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।'

इसी मन्त्रका आध्यात्मिक अर्थ कितना अभिराम है। देखिये—'भगवान् वेद आत्माको सम्बोधित कर रह हैं कि हे जीव! प्रपञ्चके उत्पादक स्वप्रकाश परमेश्वरकी आज्ञामें रहनेवाला मैं तुम्हें सशय-विपर्ययादि दोषोसे रहित पवित्र ज्ञानसे उत्कृष्टतया पावन कर रहा हूँ। अर्थात् स्वप्रकाशज्ञान सूर्यकी रश्मियासे अर्थात् तदनुरूप विचाराक द्वारा समस्त उपाधियाका निरसन कर परिशाधन करते हुए तुझमें ब्रह्मतादात्म्य प्राप्त करनेकी योग्यता पैदा कर रहा हूँ। हे जीव! तुम परमात्माका आलम्बन करनेवाले तेजके स्वरूप हो। तुम दीप्तिमान्-ज्योतिष्मान् हा तुम अमृत हो अर्थात् देह इन्द्रिय आदि जो मर्त्य (नश्वर) हैं उनसे भिन्न हो। तुम धाम हो अर्थात् जिसमें चित्तकी वृत्तिको स्थापित किया जाता है उस परब्रह्मके स्वरूप अर्थात् सर्वाश्रय-स्वरूप हो। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥'—जहाँ पहुँचकर जीव वापस नहीं आता है वही मेरा परम धाम है (गीता १५।६) एसा भगवद्वचन है। तुम नाम हो अर्थात् समस्त प्राणियाका जा अपने प्रति झुका लता है उसे नाम कहत हैं। अभिप्राय यह कि सर्वाधिष्ठान तुम हा। इन्द्रिय मन बुद्धिरूप दवताआ और इन्द्रादि ज्योतियाके परम प्रेमास्पद ब्रह्म तुम्हीं हा। महद् भयं वज्रमुद्यतम्, 'भीषास्माद्वात पवते भीषोदति सूर्य इत्यादि श्रुतियोंने तुम्हें अनाधृष्ट अर्थात् अप्रधृष्य बताया है। देवता भी जिसका यजन करते हैं, वह देव-यजन तुम ही हो' (शुक्लयजु० १। ३१, करपात्रभाष्य हिन्दी अनुवाद प्रथम खण्ड)।

इस प्रकार अभिनव वेदार्थचिन्तनमें स्वामी करपात्रीजीका यागदान अतीव विलक्षण है तथा चिरकाल तक यह सनातन वेदार्थ-परम्पराके अनुयायियोका प्रेरक रहेगा। इसके स्वाध्यायसे वेदार्थक गूढ रहस्योका निश्चित उद्घाटन हागा। वेबर, मैक्समूलर तथा याकोबी आदि पाश्चात्य पण्डिताके मताकी युक्तियुक्त समीक्षा करत हुए स्वामीजीने सप्रमाण पुष्ट किया है कि आर्य नामकी कोई जाति नहीं है। वेदमन्त्राके द्रष्टा ऋषि भारतके ही मूल निवासी हैं। मानवकी प्रथम सृष्टि भारतमें हुई है। हम भारतीय अनादिकालसे भारतके निवासी हैं। वेद नित्य तथा अपौरुषेय हैं। भारतम वैदिक स्वाध्यायकी परम्परा कभी विच्छिन्न नहीं हुई। ऋतम्भरा प्रज्ञासे सम्पन्न सत्यवादी ऋषियान वेदमन्त्राक किमा कर्ताको स्मरण नहीं किया है। ऐसी स्थितिमे ऋषि युगारम्भमे वेदमन्त्राके द्रष्टा हैं कर्ता नहीं हैं। वेद ता परमात्माक नि श्वासभूत ही हैं। जिस प्रकार प्रत्येक प्राणीमें नि श्वास सहजरूपम विद्यमान रहता है उसी प्रकार परमात्मास वेदाकी रचना ई०पू० ३००० स ई०पू० ६००० क मध्य हुई हागी। आर्योके आदि देश वद-रचना-काल तथा वेदाक प्रतिपाद्यके विषयमें पाश्चात्य वेदज्ञ पण्डिताकी मान्यताएँ किसी भी रूपमें अङ्गीकार्य नहीं हैं।

आधुनिक भारतीय वेदभाष्यकाराक मतक संदर्भमें स्वामीजीका यह स्पष्ट मत है कि संहिताभागक समान ब्राह्मणभाग भी वेदके अपरिहार्य अश हैं। मन्त्र तथा ब्राह्मण दानाकी वेदसंज्ञा है। वद धर्म तथा ब्रह्मके प्रतिपादक हैं। वेदाका श्रौतसूत्रानुसार व्याख्या की जानी चाहिये तथा उसके अविरुद्ध अन्य आध्यात्मिक आदि अर्थोंको उद्भावित करना चाहिये। आधुनिक विचारधाराके अनुरूप वेदमन्त्राका मनमाना अर्थ करना सर्वथा असगत है। स्वामीजीके इस महनीय योगदान-हेतु सनातन वेदार्थचिन्तन-परम्परा उनकी चिरकृतज्ञ रहेगी।

वेदके सूक्तोका तात्त्विक रहस्य

[ज्ञात-अज्ञात समस्त ज्ञान-विज्ञानका मूल स्रोत वेद ही है। वेद ज्ञानरूपी अगाध रत्नाकर हैं। इस महापयोधिकी अमृत-कणिकाओमें अवगाहन करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। वेदोमे यत्र-तत्र सूक्तरूपी अनेक मुक्तामणियाँ बिखरी पड़ी हैं जिनमें व्यक्तिकी अभीष्ट-सिद्धिके अमोघ उपादान अन्तर्निहित हैं। निष्ठा एव आस्थाके द्वारा व्यक्ति अपनी विविध कामनाओकी पूर्ति इनके माध्यमसे करनेमे समर्थ हैं।

वेदके प्रमुख सूक्तोके स्वरूप-ज्ञान प्रयोजन-ज्ञान और तत्त्व-ज्ञानके बिना उनके अध्ययन जप और तत्प्रतिपादित अनुष्ठानोमे प्रवृत्ति नहीं होती। स्वरूप-ज्ञान और प्रयोजन-ज्ञान ही प्रवृत्ति-प्रयोजक-ज्ञानके आधार हैं। किसी भी कार्यमें व्यक्तिकी प्रवृत्ति तभी होती है, जब उसे भलीभाँति प्रमाणसम्मतरूपमे यह ज्ञात हो जाय कि 'इस कार्यको करनेमे हमारा कोई विशेष अनिष्ट होनेवाला नहीं है प्रत्युत इससे हमारे उत्कृष्ट इष्टकी ही सिद्धि होनेवाली है,[1]'—ऐसा ज्ञान होनेपर ही वह उस कार्यमे प्रवृत्त होता है। साथ ही उसे यह भी ज्ञात होना चाहिये कि 'यह मेरी सामर्थ्यसे साध्य है और मैं इसका अधिकारी हूँ[2]।' इन दोनो प्रकारके ज्ञानको ही प्रवृत्ति-प्रयोजक-ज्ञान कहा जाता है तथा प्रवृत्ति-प्रयोजकके विषयके रूपमे विषय प्रयोजन सम्बन्ध एवं अधिकारी—इन चार विषयोका समावेश होनेसे इन्हे अनुबन्ध-चतुष्टय[3] कहा जाता है।

सूक्त किसे कहते हैं? अथवा सूक्तका विषय क्या है? सूक्तोका प्रयोजन क्या है? सूक्तोसे विषयका सम्बन्ध क्या है? और इन सूक्तोका अधिकारी कौन है?—इन सबकी जानकारीकी दृष्टिसे अनुबन्धका प्रतिपादन अनिवार्य है। अत इस सम्बन्धमें कतिपय आवश्यक बाते सक्षिप्त रूपमे यहाँ प्रस्तुत हैं।

'सूक्त' शब्द 'सु' उपसर्गपूर्वक 'वच्' धातुसे 'क्त' प्रत्यय करनेपर व्याकृत होता है। 'सूक्त' शब्दका अर्थ हुआ—'अच्छी रीतिसे कहा हुआ'। सूक्तका विशेष्य वैदिक मन्त्र है। इस प्रकार यह शब्द विविध उद्देश्योको लेकर वेदोमें कहे गये मन्त्रोका उद्बोधक होता है। इन मन्त्रोमे तत्तद् देवोके स्वरूप एव प्रभावका वर्णन है। इन्हीं मन्त्रोमे उन देवी एवं देवोंके ध्यान तथा पूजनका सफल विधान भी निहित है।

जो वेदमन्त्रसमूह एकदैवत्य और एकार्थ-प्रतिपादक हो उसे 'सूक्त' कहा जाता है। बृहद्देवतामे 'सूक्त' शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया गया है—'सम्पूर्णमृषिवाक्य तु सूक्तमित्यभिधीयते'—अर्थात् सम्पूर्ण ऋषि-वचनोको 'सूक्त' कहते हैं।

सामान्यत सूक्त दो प्रकारके माने जाते हैं—(१) क्षुद्रसूक्त और (२) महासूक्त। जिन सूक्तोमे कम-से-कम तीन ऋचाएँ हों उनको 'क्षुद्रसूक्त' कहते हैं तथा जिन सूक्तोमे तीनसे अधिक ऋचाएँ हों, उन्हे 'महासूक्त' कहते हैं।

बृहद्देवता (१। १६)-मे चार प्रकारके सूक्तोका वर्णन प्राप्त होता है। जैसे—(१) देवता-सूक्त, (२) ऋषि-सूक्त,) अर्थ-सूक्त और (४) छन्द -सूक्त—

देवतार्षार्थछन्दस्तो वैविध्यं च प्रजायते। ऋषिसूक्त तु यावन्ति सूक्तान्येकस्य वै स्तुति॥
श्रूयन्ते तानि सर्वाणि ऋषे सूक्तं हि तस्य तत्। यावदर्थसमाप्ति स्यादर्थसूक्तं वदन्ति तत्॥
समान छन्दसो या स्युस्तच्छन्द सूक्तमुच्यते। वैविध्यमेव सूक्तानामिह विद्याद्यथायथम्॥

अभिप्राय यह कि किसी एक ही देवताकी स्तुतिमे जितने सूक्त पर्यवसित हो उन्हें 'देवता-सूक्त' तथा एक ही ऋषिकी

१-इदं मत्सदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनम्। २ इदं मत्कृतिसाध्यम् इत्याकारक कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानम्।
३-प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्।

स्तुतिमे जितने सूक्त प्रवृत्त हो, उन्हे 'ऋषि-सूक्त' कहा जाता है। समस्त प्रयोजनोकी पूर्ति जिस सूक्तसे होती हो उसे 'अर्थ-सूक्त' कहते हैं और एक ही प्रकारके छन्द जिन सूक्तामे प्रयुक्त हो, उन्हे 'छन्द -सूक्त' कहा जाता है। इस प्रकार मान्यक्रमसे सूक्तोके भेदोका परिज्ञान करना चाहिये।

इन सूक्तोंके जप एव पाठकी अत्यधिक महिमा बतायी गयी है। इनके जप-पाठसे सभी प्रकारके आध्यात्मिक, आधिदैविक एव आधिभौतिक क्लेशोसे मुक्ति मिलती है। व्यक्ति परम पवित्र हो जाता है और अन्त करणकी शुद्धि होकर पूर्वजन्मकी स्मृतिको प्राप्त करता हुआ वह जो भी चाहता है, उसे वह मनोऽभिलषित अनायास ही प्राप्त हो जाता है—

एतानि जप्तानि पुनन्ति जन्तून् जातिस्मरत्व लभते यदीच्छेत्॥

(अत्रि ६।५)

अर्थात् इन सूक्तोका जप करनेपर ये प्राणियोको पवित्र कर देते हैं, जिससे वह व्यक्ति कुलाग्रणीके रूपमे प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

पाठकोकी जानकारीके लिये वेदके प्रमुख सूक्तोका अर्थ एवं परिचय यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है। वेदके सभी सूक्त महत्त्वपूर्ण हैं। ज्ञानराशिका प्रत्येक कण उपादेय हैं, ग्राह्य है, परतु स्थानाभावके कारण कुछ प्रमुख सूक्तोकी प्रस्तुति ही सम्भव है। —सम्पादक]

~~~~

पञ्चदेवसूक्त

१-श्रीगणपत्यथर्वशीर्षम्

[अथर्वशीर्षकी परम्परामें 'गणपति अथर्वशीर्ष' का विशेष महत्त्व है। प्राय प्रत्येक माङ्गलिक कार्योंमे गणपति-पूजनके अनन्तर प्रार्थनारूपमे इसके पाठकी परम्परा है। यह भगवान् गणपतिका वैदिक-स्तवन है। इसका पाठ करनेवाला किसी भी प्रकारके विघ्नसे बाधित न होता हुआ महापातकोंसे मुक्त हो जाता है तथा धर्म अर्थ काम और मोक्ष—इन चारो पुरुषार्थोंको प्राप्त करता है। इसे यहाँ 'गणपति-सूक्त' के रूपमें सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

ॐ नमस्ते गणपतये। त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्तासि। त्वमेव केवलं धर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि। त्वं साक्षादात्मासि नित्यम्॥ १॥

गणपतिको नमस्कार है तुम्हीं प्रत्यक्ष तत्त्व हो तुम्हीं केवल कर्ता तुम्हीं केवल धारणकर्ता और तुम्हीं केवल संहारकर्ता हो तुम्हीं केवल समस्त विश्वरूप ब्रह्म हो और तुम्हीं साक्षात् नित्य आत्मा हो।

ऋतं वच्मि। सत्यं वच्मि ॥ २॥

यथार्थ कहता हूँ। सत्य कहता हूँ।

अव त्वं माम्। अव वक्तारम्। अव श्रोतारम्। अव दातारम्। अव धातारम्। अव अनूचानम्। अव शिष्यम्। अव पश्चात्तात्। अव पुरस्तात्। अव चोत्तरात्तात्। अव दक्षिणात्तात्। अव चोर्ध्वात्तात्। अवाधरात्तात्। सर्वतो मां पाहि पाहि समन्तात्॥ ३॥

तुम मेरी रक्षा करो। वक्ताकी रक्षा करो। श्रोताकी रक्षा करो। दाताकी रक्षा करो। धाताकी रक्षा करो। षडङ्ग वेदविद् आचार्यकी रक्षा करो। शिष्यकी रक्षा करो। पीछेसे रक्षा करो। आगेसे रक्षा करो। उत्तर (वाम) भागकी रक्षा करो। दक्षिण भागकी रक्षा करो। ऊपरसे रक्षा करो। नीचेकी ओरसे रक्षा करो। सर्वतोभावसे मेरी रक्षा करो सब दिशाओंसे मेरी रक्षा करो।

त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मय । त्वमानन्दमयस्त्वं ब्रह्ममय । त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि। त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि॥ ४॥

तुम वाङ्मय हो तुम चिन्मय हो। तुम आनन्दमय हो तुम ब्रह्ममय हो। तुम सच्चिदानन्द अद्वितीय परमात्मा हो। तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुम ज्ञानमय हो विज्ञानमय हो।
~~~~

सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते। सर्वं जगदिदं त्वत्तस्तिष्ठति। सर्वं जगदिद त्वयि लयमेष्यति। सर्वं जगदिद त्वयि प्रत्यति। त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभ । त्व चत्वारि वाक्पदानि॥ ५॥

यह सारा जगत् तुमसे उत्पन्न होता है। यह सारा जगत् तुमसे सुरक्षित रहता है। यह सारा जगत् तुममे लीन होता है। यह अखिल विश्व तुममे ही प्रतीत होता है। तुम्हीं भूमि जल अग्नि और आकाश हो। तुम्हीं परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी चतुर्विध वाक् हो।

त्वं गुणत्रयातीत । त्व कालत्रयातीत । त्व देहत्रयातीत । त्व मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम्। त्वं शक्तित्रयात्मक । त्वा योगिनो ध्यायन्ति नित्यम्। त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्व सूर्यस्त्व चन्द्रमास्त्व ब्रह्म भूर्भुव स्वरोम्॥६॥

तुम सत्त्व-रज-तम—इन तीनो गुणोंसे परे हो। तुम भूत-भविष्यत्-वर्तमान—इन तीनो कालोसे परे हो। तुम स्थूल सूक्ष्म और कारण—इन तीनो देहोसे परे हो। तुम नित्य मूलाधार चक्रमे स्थित हो। तुम प्रभु-शक्ति उत्साह-शक्ति और मन्त्र-शक्ति—इन तीनो शक्तियोसे सयुक्त हो। योगिजन नित्य तुम्हारा ध्यान करते हैं। तुम ब्रह्मा हो, तुम विष्णु हो तुम रुद्र हो तुम इन्द्र हो तुम अग्नि हो तुम वायु हो, तुम सूर्य हो तुम चन्द्रमा हो, तुम (सगुण) ब्रह्म हो, तुम (निर्गुण) त्रिपाद भू भुव स्व एवं प्रणव हो।

गणादि पूर्वमुच्चार्य वर्णादि तदनन्तरम्। अनुस्वार परतर । अर्धेन्दुलसितम्। तारेण रुद्धम्। एतत्तव मनुस्वरूपम्। गकार पूर्वरूपम्। अकारो मध्यमरूपम्। अनुस्वारश्चान्त्यरूपम्। बिन्दुरुत्तररूपम्। नाद सन्धानम्। सहिता सन्धि । सैषा गणेशविद्या। गणक ऋषि निचृद्गायत्री छन्द । गणपतिर्देवता। ॐ गं गणपतये नम ॥ ७॥

'गण शब्दके आदि अक्षर गकारका पहले उच्चारण करके अनन्तर आदिवर्ण अकारका उच्चारण करे। उसके बाद अनुस्वार रहे। इस प्रकार अर्धचन्द्रसे पहले शोभित जो 'ग' है वह ओंकारके द्वारा रुद्ध हो अर्थात् उसके पहले और पीछे भी ओंकार हो। यही तुम्हारे मन्त्रका स्वरूप (ॐ गं ॐ) है। 'गकार' पूर्वरूप है 'अकार' मध्यमरूप है 'अनुस्वार' अन्त्य रूप है। 'बिन्दु' उत्तररूप है। 'नाद' सधान है। 'सहिता' सधि है। ऐसी यह गणेशविद्या है। इस विद्याके गणक ऋषि हैं, निचृद् गायत्री छन्द है और गणपति देवता हैं। मन्त्र है—'ॐ गं गणपतये नम ।'

गणेशगायत्रीमन्त्र —

एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥ ८॥

एकदन्तको हम जानते हैं वक्रतुण्डका हम ध्यान करते हैं। दन्ती हमको उस ज्ञान और ध्यानमे प्रेरित करें।

ध्यानम्—

एकदन्त चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम्।
रद च वरदं हस्तैर्बिभ्राण मूषकध्वजम्॥
रक्त लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्।
रक्तगन्धानुलिप्ताङ्ग रक्तपुष्पै सुपूजितम्॥
भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम्।
आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृते पुरुषात्परम्॥
एवं ध्यायति यो नित्य स योगी योगिनां वर ॥९॥

गणपतिदेव एकदन्त और चतुर्बाहु हैं। वे अपने चार हाथोमे पाश अकुश दन्त और वरमुद्रा धारण करते हैं। उनके ध्वजमे मूषकका चिह्न है। वे रक्तवर्ण लम्बोदर, शूर्पकर्ण तथा रक्तवस्त्रधारी हैं। रक्तचन्दनके द्वारा उनके अङ्ग अनुलिप्त हैं। वे रक्तवर्णके पुष्पोद्वारा सुपूजित हैं। भक्तोकी कामना पूर्ण करनेवाले ज्योतिर्मय, जगत्के कारण, अच्युत तथा प्रकृति और पुरुषसे परे विद्यमान वे पुरुषोत्तम सृष्टिके आदिमे आविर्भूत हुए। इनका जो इस प्रकार नित्य ध्यान करता है वह योगी योगियोमे श्रेष्ठ है।

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नम प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्ननाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नम ॥ १०॥

व्रातपतिको नमस्कार गणपतिको नमस्कार, प्रमथपतिको नमस्कार, लम्बोदर, एकदन्त विघ्ननाशक, शिवतनय श्रीवरदमूर्तिको नमस्कार है।

फलश्रुति—

एतदथर्वशीर्षं योऽधीते। स ब्रह्मभूयाय कल्पते। स सर्वविघ्नैर्न बाध्यते। स सर्वत सुखमेधते। स

पञ्चमहापापात्प्रमुच्यते। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायं प्रातः प्रयुञ्जानो अपापो भवति। सर्वत्राधीयानोऽपविघ्नो भवति धर्मार्थकाममोक्षं च विन्दति। इदमथर्वशीर्षमशिष्याय न देयम्। यो यदि मोहाद्दास्यति स पापीयान् भवति। सहस्रावर्तनात् यं यं काममधीते तं तमनेन साधयेत्॥ ११॥

इस अथर्वशीर्षका जो पाठ करता है, वह ब्रह्मीभूत होता है, वह किसी प्रकारके विघ्नोंसे बाधित नहीं होता, वह सर्वतोभावेन सुखी होता है, वह पञ्च महापापोंसे मुक्त हो जाता है। सायंकाल इसका अध्ययन करनेवाला दिनमें किये हुए पापोंका नाश करता है, प्रातःकालमें अध्ययन करनेवाला रात्रिमें किये हुए पापोंका नाश करता है। सायं और प्रातःकाल पाठ करनेवाला निष्पाप हो जाता है। (सदा) सर्वत्र पाठ करनेवाला सभी विघ्नोंसे मुक्त हो जाता है एवं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त करता है। यह अथर्वशीर्ष उसको नहीं देना चाहिये, जो शिष्य न हो। जो मोहवश अशिष्यको उपदेश देगा, वह महापापी होगा। इसकी एक हजार आवृत्ति करनेसे उपासक जो कामना करेगा, इसके द्वारा उसे सिद्ध कर लेगा।

विविध-प्रयोग—

अनेन गणपतिमभिषिञ्चति स वाग्मी भवति। चतुर्थ्यामनश्नञ्जपति स विद्यावान् भवति। इत्यथर्वणवाक्यम्। ब्रह्माद्याचरणं विद्यात्। न बिभेति कदाचनेति॥ १२॥

जो इस मन्त्रके द्वारा श्रीगणपतिका अभिषेक करता है, वह वाग्मी हो जाता है। जो चतुर्थी तिथिमें उपवास कर जप करता है, वह विद्यावान् (अध्यात्मविद्याविशिष्ट) हो जाता है। यह अथर्वण-वाक्य है। जो ब्रह्मादि आवरणको जानता है, वह कभी भयभीत नहीं होता।

यज्ञ-प्रयोग—

यो दूर्वाङ्कुरैर्यजति स वैश्रवणोपमो भवति। यो लाजैर्यजति स यशोवान् भवति। स मेधावान् भवति। यो मोदकसहस्रेण यजति स वाञ्छितफलमवाप्नोति। यः साज्यसमिद्भिर्यजति स सर्वं लभते स सर्वं लभते॥ १३॥

जो दूर्वाङ्कुरोंद्वारा यजन करता है, वह कुबेरके समान हो जाता है। जो लाजाके द्वारा यजन करता है, वह यशस्वी होता है, वह मेधावान् होता है। जो सहस्र मोदकोंके द्वारा यजन करता है, वह मनोवाञ्छित फल प्राप्त करता है। जो घृताक्त समिधाके द्वारा हवन करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता।

अन्य-प्रयोग—

अष्टौ ब्राह्मणान् सम्यग्ग्राहयित्वा सूर्यवर्चस्वी भवति। सूर्यग्रहे महानद्यां प्रतिमासंनिधौ वा जप्त्वा सिद्धमन्त्रो भवति। महाविघ्नात् प्रमुच्यते। महापापात् प्रमुच्यते। महादोषात् प्रमुच्यते। स सर्वविद् भवति। स सर्वविद् भवति। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥ १४॥

जो आठ ब्राह्मणोंको इस उपनिषद्‌का सम्यक् ग्रहण करा देता है, वह सूर्यके समान तेज-सम्पन्न होता है। सूर्यग्रहणके समय महानदीमें अथवा प्रतिमाके निकट इस उपनिषद्‌का जप करके साधक सिद्धमन्त्र हो जाता है। सम्पूर्ण महाविघ्नोंसे मुक्त हो जाता है। महापापोंसे मुक्त हो जाता है। महादोषोंसे मुक्त हो जाता है। वह सर्वविद् हो जाता है। वह सर्वविद् हो जाता है—जो इस प्रकार जानता है।
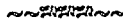
२-(क) विष्णु-सूक्त

[इस सूक्तके द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि हैं। विष्णुके विविध रूप, कर्म हैं। अद्वितीय परमेश्वररूपमें उन्हें 'महाविष्णु' कहा जाता है। यज्ञ एवं जलोत्पादक सूर्य भी उन्हींका रूप है। वे पुरातन हैं, जगत्स्रष्टा हैं। नित्य नूतन एवं चिर-सुन्दर हैं। संसारको आकर्षित करनेवाली भगवती लक्ष्मी उनकी भार्या हैं। उनके नाम एवं लीलाके संकीर्तनसे परमपदकी प्राप्ति होती है, जो मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य है। जो व्यक्ति उनकी ओर उन्मुख होता है, उसकी ओर वे भी उन्मुख होते हैं और मनोवाञ्छित फल प्रदान कर अनुगृहीत करते हैं। इस सूक्तको यहाँ अर्थ सहित प्रस्तुत किया जा रहा है—]

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे स्वाहा॥ १॥

सर्वव्यापी परमात्मा विष्णुने इस जगत्‌को धारण किया है और वे ही पहले भूमि, दूसरे अन्तरिक्ष और तीसरे

द्युलोकमें तीन पदाको स्थापित करते हैं, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त हैं। इन विष्णुदेवमें ही समस्त विश्व व्याप्त है। हम उनके निमित्त हवि प्रदान करते हैं।

इरावती धेनुमती हि भूत"सूयवसिनी मनवे दशस्या।
व्यस्कभ्नारोदसीविष्णवेतेदाधर्थपृथिवीमभितोमयूखै स्वाहा॥ २॥

यह पृथ्वी सबके कल्याणार्थ अन्न और गायसे युक्त, खाद्य-पदार्थ देनेवाली तथा हितके साधनोंको देनेवाली है। हे विष्णुदेव! आपने इस पृथ्वीको अपनी किरणोंके द्वारा सब ओर अच्छी प्रकारसे धारण कर रखा है। हम आपके लिये आहुति प्रदान करते हैं।

देवश्रुतौ देवेष्वा घोषतं प्राची प्रेतमध्वरं
कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्।
स्वं गोष्ठमा वदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्ट प्रजां मा
निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्या ॥ ३॥

आप देवसभामें प्रसिद्ध विद्वानोंमें यह कहे। इस यज्ञके समर्थनमें पूर्व दिशामें जाकर यज्ञको उच्च बनायें, अध पतित न करें। देवस्थानमे रहनेवाले अपनी गोशालामे निवास करें। जबतक आयु है तबतक धनादिसे सम्पन्न बनाय। सततियापर अनुग्रह करें। इस सुखप्रद स्थानमें आप सदैव निवास करें।

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं य पार्थिवानि विममे रजा॰सि।
यो अस्कभायदुत्तर॰ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा॥ ४॥

जिन सर्वव्यापी परमात्मा विष्णुने अपने सामर्थ्यसे इस पृथ्वीसहित अन्तरिक्ष, द्युलोकादि स्थानोंका निर्माण किया है तथा जो तीनो लोकोमें अपने पराक्रमसे प्रशसित होकर उच्चतम स्थानको शोभायमान करते हैं, उन सर्वव्यापी परमात्माके किन-किन यशोका वर्णन करें।

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या
महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा
प्र यच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा॥५॥

हे विष्णु! आप अपने अनुग्रहसे समस्त जगत्को सुखासे पूर्ण कीजिये और भूमिसे उत्पन्न पदार्थ और अन्तरिक्षसे प्राप्त द्रव्योसे सभी सुख निश्चय ही प्रदान करें। हे सर्वान्तर्यामी प्रभु! दोनों हाथोसे समस्त सुखोको प्रदान करनेवाले विष्णु! हम आपको सुपूजित करते हैं।

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीम कुचरो गिरिष्ठा।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥ ६॥

भयकर सिहके समान पर्वतामें विचरण करनेवाले सर्वव्यापी देव विष्णु! आप अतुलित पराक्रमके कारण स्तुति-योग्य हैं। सर्वव्यापक विष्णुदेवके तीनों स्थानोंमें सम्पूर्ण प्राणी निवास करते हैं।

विष्णो रराटमसि विष्णो श्नप्त्रे स्थो विष्णो स्यूरसि
विष्णोर्ध्रुवोऽसि। वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥७॥

इस विश्वमें व्यापक देव विष्णुका प्रकाश निरन्तर फैल रहा है। विष्णुके द्वारा ही यह विश्व स्थिर है तथा इनसे ही इस जगत्का विस्तार हुआ है और कण-कणमें ये ही प्रभु व्याप्त हैं। जगत्की उत्पत्ति करनेवाले हे प्रभु! हम आपकी अर्चना करते हैं।

२-(ख) नारायण-सूक्त

['नारायण-सूक्त' के ऋषि नारायण देवता आदित्य-पुरुष और छन्द भुरिगार्षी त्रिष्टुप्, निच्यृदार्षी त्रिष्टुप् एवं आर्ष्यनुष्टुप् हैं। इस सूक्तमें केवल छ मन्त्र हैं। यह 'उत्तर नारायण-सूक्त' के नामसे प्रसिद्ध है। इसमें सृष्टिके विकासके साथ ही व्यक्तिके कर्तव्यका बोध हो जाता है साथ ही आदि पुरुषकी महिमा अभिव्यक्त होती है। इसकी विशेषता यह है कि इसके मन्त्रोंके ज्ञाताके वशमें सभी देवता हो जाते हैं। इस सूक्तको अनुवादसहित यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—]

अद्भ्य सम्भृत पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मण समवर्ततताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्र॥ १॥

पृथ्वी आदिकी सृष्टिके लिये अपने प्रेमके कारण यह पुरुष जल आदिसे परिपूर्ण होकर पूर्व ही छा गया। उस पुरुषके रूपको धारण करता हुआ सूर्य उदित होता है जिसका मनुष्यके लिये प्रधान देवत्व है।

वेदाहमेतं पुरुष महान्तमादित्यवर्णं तमस परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय॥ २॥

मैं अज्ञानान्धकारसे परे आदित्य-प्रतीकात्मक उस सर्वोत्कृष्ट पुरुषको जानता हूँ। मात्र उसे जानकर ही

मृत्युका अतिक्रमण होता है। शरणके लिये अन्य कोई मार्ग नहीं।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ ३॥

यह परमात्मा आभ्यन्तरमें विराजमान है। उत्पन्न न होनेवाला होकर भी नाना प्रकारसे उत्पन्न होता है। संयमी पुरुष ही उसके स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं। सम्पूर्ण भूत उसीमें सन्निविष्ट हैं।

यो देवेभ्य आतपति यो देवाना पुरोहित।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥ ४॥

जो देवताओंके लिये सूर्यरूपसे प्रकाशित होता है, जो देवताओंका कार्यसाधन करनेवाला है और जो देवताओसे पूर्व स्वय भूत है, उस देदीप्यमान ब्रह्मको नमस्कार है।

रुच ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैव ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे॥ ५॥

उस शोभन ब्रह्मको प्रथम प्रकट करते हुए देवता बोले—जो ब्राह्मण तुम्हें इस स्वरूपमें जाने, देवता उसके वशमें हों।

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे
नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुं म इषाण
सर्वलोकं म इषाण॥ ६॥

समृद्धि और सौन्दर्य तुम्हारी पत्नीके रूपमें हैं, दिन तथा रात तुम्हारे अगल-बगल हैं, अनन्त नक्षत्र तुम्हारे रूप हैं, द्यावा-पृथिवी तुम्हारे मुखस्थानीय हैं। इच्छा करते समय परलोककी इच्छा करो। मैं सर्वलोकात्मक हो जाऊँ—ऐसी इच्छा करो,ऐसी इच्छा करो।

~~~~~

३-(क) श्री-सूक्त

[इस सूक्तके आनन्दकर्दम चिक्लीत जातवेद ऋषि 'श्री' देवता और छन्द अनुष्टुप्, प्रस्तार पंक्ति एवं त्रिष्टुप् हैं। देवीके अर्चनमें 'श्री-सूक्त' की अतिशय मान्यता है। विशेषकर भगवती लक्ष्मीको प्रसन्न करनेके लिये 'श्री-सूक्त' के पाठकी विशेष महिमा बतायी गयी है। ऐश्वर्य एवं समृद्धिकी कामनासे इस सूक्तके मन्त्रोका जप तथा इन मन्त्रोसे हवन पूजन अमोघ अभीष्टदायक होता है—]

हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम्।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह॥ १॥

हे जातवेदा (सर्वज्ञ) अग्निदेव! सुवर्ण-जैसी रंगवाली, किञ्चित् हरितवर्णविशिष्टा, सोने और चाँदीके हार पहननेवाली, चन्द्रवत् प्रसन्नकान्ति स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवीको मेरे लिये आवाहन करो।

तां म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम्॥ २॥

अग्ने! उन लक्ष्मीदेवीको जिनका कभी विनाश नहीं होता तथा जिनके आगमनसे मैं सोना गौ घोड़े तथा पुत्रादिको प्राप्त करूँगा मेरे लिये आवाहन करो।

अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम्।
श्रियं देवीमुप ह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम्॥ ३॥

जिन देवीके आगे घोड़े तथा उनके पीछे रथ रहते हैं तथा जो हस्तिनादको सुनकर प्रमुदित होती हैं उन्हीं श्रीदेवीका मैं आवाहन करता हूँ, लक्ष्मीदेवी मुझे प्राप्त हों।

कां सोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां
ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्।
पद्मेस्थितां पद्मवर्णां
तामिहोप ह्वये श्रियम्॥ ४॥

जो साक्षात् ब्रह्मरूपा, मन्द-मन्द मुसकरानेवाली सोनेके आवरणसे आवृत दयार्द्र, तेजोमयी पूर्णकामा भक्तानुग्रहकारिणी कमलके आसनपर विराजमान तथा पद्मवर्णा हैं उन लक्ष्मीदेवीका मैं यहाँ आवाहन करता हूँ।

चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं
श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम्।
तां पद्मिनीमीं शरणं प्र पद्ये
ऽलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणे॥ ५॥

मैं चन्द्रके समान शुभ्र कान्तिवाली सुन्दर द्युतिशालिनी
~~~~~

यशसे दीप्तिमती, स्वर्गलोकमें देवगणोंके द्वारा पूजिता उदारशीला पद्महस्ता लक्ष्मीदेवीकी शरण ग्रहण करता हूँ। मेरा दारिद्र्य दूर हो जाय। मैं आपको शरण्यके रूपमें वरण करता हूँ।

आदित्यवर्णे तपसोऽधि जातो
वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्वः।
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु
या अन्तरा याश्च बाह्या अलक्ष्मीः॥६॥

हे सूर्यके समान प्रकाशस्वरूपे! तुम्हारे ही तपसे वृक्षोंमें श्रेष्ठ मङ्गलमय बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ। उसके फल हमारे बाहरी और भीतरी दारिद्र्यको दूर करें।

उपैतु मां देवसखः
कीर्तिश्च मणिना सह।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन्
कीर्तिमृद्धिं ददातु मे॥७॥

देवि! देवसखा कुबेर और उनके मित्र मणिभद्र तथा दक्ष प्रजापतिकी कन्या कीर्ति मुझे प्राप्त हों। अर्थात् मुझे धन और यशकी प्राप्ति हो। मैं इस राष्ट्रमें—देशमें उत्पन्न हुआ हूँ, मुझे कीर्ति और ऋद्धि प्रदान करें।

क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात्॥ ८॥

लक्ष्मीकी ज्येष्ठ बहिन अलक्ष्मी (दरिद्रताकी अधिष्ठात्री देवी)-का जो क्षुधा और पिपासासे मलिन—क्षीणकाय रहती हैं, मैं नाश चाहता हूँ। देवि! मेरे घरसे सब प्रकारके दारिद्र्य और अमङ्गलको दूर करो।

गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोप ह्वये श्रियम्॥ ९॥

जो दुराधर्षा तथा नित्यपुष्टा हैं तथा गोबरसे (पशुओंसे) युक्त गन्धगुणवती पृथिवी ही जिनका स्वरूप है, सब भूतोंकी स्वामिनी उन लक्ष्मीदेवीका मैं यहाँ—अपने घरमें आवाहन करता हूँ।

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः॥१०॥

मनकी कामनाएँ और संकल्पकी सिद्धि एवं वाणीकी सत्यता मुझे प्राप्त हों। गौ आदि पशुओं एवं विभिन्न अन्नों—भोग्य पदार्थोंके रूपमें तथा यशके रूपमें श्रीदेवी हमारे यहाँ आगमन करें।

कर्दमेन प्रजा भूता मयि सम्भव कर्दम।
श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम्॥११॥

लक्ष्मीके पुत्र कर्दमकी हम संतान हैं। कर्दम ऋषि! आप हमारे यहाँ उत्पन्न हों तथा पद्मोंकी माला धारण करनेवाली माता लक्ष्मीदेवीको हमारे कुलमें स्थापित करें।

आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे।
नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले॥१२॥

जल स्निग्ध पदार्थोंकी सृष्टि करे। लक्ष्मीपुत्र चिक्लीत! आप भी मेरे घरमें वास करें और माता लक्ष्मीदेवीका मेरे कुलमें निवास करायें।

आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिङ्गलां पद्ममालिनीम्।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह॥१३॥

अग्ने! आर्द्रस्वभावा, कमलहस्ता, पुष्टिरूपा पीतवर्णा, पद्मोंकी माला धारण करनेवाली चन्द्रमाके समान शुभ्र कान्तिसे युक्त स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवीका मेरे यहाँ आवाहन करें।

आर्द्रां यः करिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम्।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह॥१४॥

अग्ने! जो दुष्टोंका निग्रह करनेवाली होनेपर भी कोमलस्वभावकी हैं, जो मङ्गलदायिनी, अवलम्बन प्रदान करनेवाली यष्टिरूपा सुन्दर वर्णवाली, सुवर्णमालाधारिणी सूर्यस्वरूपा तथा हिरण्मयी हैं उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करें।

तां म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावो
दास्योऽश्वान् विन्देयं पुरुषानहम्॥१५॥

अग्ने! कभी नष्ट न होनेवाली उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करें जिनके आगमनसे बहुत-सा धन गौएँ, दासियाँ अश्व और पुत्रादिको हम प्राप्त करें।

यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम्।
सूक्तं पञ्चदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत्॥१६॥

जिसे लक्ष्मीकी कामना हो वह प्रतिदिन पवित्र और संयमशील होकर अग्निमें घीकी आहुतियाँ दे तथा इन पंद्रह ऋचाओंवाले 'श्री-सूक्त' का निरन्तर पाठ करे।

~~~~
~~~~

३-(ख) देवी-सूक्त

[भगवती पराम्बाके अर्चन-पूजनके साथ 'देवी-सूक्त' के पाठकी विशेष महिमा है। ऋग्वेदके दशम मण्डलका १२५वाँ सूक्त 'वाक्-सूक्त' है। इसे आत्मसूक्त भी कहते है। इसमे अम्भृण ऋषिकी पुत्री वाक् ब्रह्मसाक्षात्कारसे सम्पन्न होकर अपनी सर्वात्मदृष्टिको अभिव्यक्त कर रही हैं। ब्रह्मविद्की वाणी ब्रह्मसे तादात्म्यापन्न होकर अपने-आपको ही सर्वात्माके रूपमे वर्णन कर रही हैं। ये ब्रह्मस्वरूपा वाग्देवी ब्रह्मानुभवी जीवन्मुक्त महापुरुषकी ब्रह्ममयी प्रज्ञा ही हैं। इस सूक्तमे प्रतिपाद्य-प्रतिपादकका ऐकात्म्य सम्बन्ध दर्शाया गया है। यह सूक्त सानुवाद यहाँ प्रस्तुत है—]

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ १॥

'ब्रह्मस्वरूपा मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वदेवताके रूपमे विचरण करती हूँ, अर्थात् मैं ही उन-उन रूपोमे भास रही हूँ। मैं ही ब्रह्मरूपसे मित्र और वरुण दोनोको धारण करती हूँ। मैं ही इन्द्र और अग्निका आधार हूँ। मैं ही दोनो अश्विनीकुमारोका भी धारण-पोषण करती हूँ।'

सायणाचार्यने इस मन्त्रकी व्याख्यामें लिखा है कि वाग्देवीका अभिप्राय यह है कि यह सम्पूर्ण जगत् सीपमे चाँदीके समान अध्यस्त होकर आत्मामे विभासित हो रहा है। माया जगत्के रूपमे अधिष्ठानको ही दिखा रही है। यह सब मायाका ही विवर्त है। उसी मायाका आधार होनेके कारण ब्रह्मसे ही सबकी उत्पत्ति सगत होती है।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ २॥

'मैं ही शत्रुनाशक, कामादि दोष-निवर्तक परमाह्लाददायी यज्ञगत सोम चन्द्रमा मन अथवा शिवका भरण-पोषण करती हूँ। मैं ही त्वष्टा पूषा और भगको भी धारण करती हूँ। जो यजमान यज्ञमे सोमाभिषवके द्वारा देवताओको तृप्त करनेके लिये हाथमे हविष्य लेकर हवन करता है उसे लोक-परलोकमे सुखकारी फल देनेवाली मैं ही हूँ।

मूल मन्त्रमें 'द्रविण' शब्द है। इसका अर्थ है— कर्मफल। कर्मफलदाता मायाधिपति ईश्वर हैं। वेदान्त-दर्शनके तीसरे अध्यायके दूसरे पादमे यह निरूपण है कि ब्रह्म ही फलदाता है। भगवान् शंकराचार्यने अपने भाष्यमे इस अभिप्रायका युक्तियुक्त समर्थन किया है। यह ईश्वर-ब्रह्म अपनी आत्मा ही है।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ ३॥

'मैं ही राष्ट्री अर्थात् सम्पूर्ण जगत्की ईश्वरी हूँ। मैं उपासकोको उनके अभीष्ट वसु—धन प्राप्त करानेवाली हूँ। जिज्ञासुओके साक्षात् कर्तव्य परब्रह्मको अपनी आत्माके रूपमे मैंने अनुभव कर लिया है। जिनके लिये यज्ञ किये जाते हैं उनमे मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ। सम्पूर्ण प्रपञ्चके रूपमे मैं ही अनेक-सी होकर विराजमान हूँ। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरमें जीवरूपमे मैं अपने-आपको ही प्रविष्ट कर रही हूँ। भिन्न-भिन्न देश काल, वस्तु और व्यक्तियोमें जो कुछ हो रहा है किया जा रहा है वह सब मुझमें मेरे लिये ही किया जा रहा है। सम्पूर्ण विश्वके रूपमे अवस्थित होनेके कारण जो कोई जो कुछ भी करता है वह सब मैं ही हूँ।'

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥ ४॥

'जो कोई भोग भोगता है वह मुझ भोक्त्रीकी शक्तिसे ही भोगता है। जो देखता है जो श्वासोच्छ्वासरूप व्यापार करता है और जो कही हुई बात सुनता है वह भी मुझसे ही। जो इस प्रकार अन्तर्यामिरूपमे स्थित मुझे नहीं जानते वे अज्ञानी दीन हीन क्षीण हो जाते हैं। मेरे प्यारे सखा! मेरी बात सुनो—'मैं तुम्हारे लिये उस ब्रह्मात्मक वस्तुका उपदेश करती हूँ, जो श्रद्धा-साधनसे उपलब्ध होती है।'

'श्रद्धि' शब्दका अर्थ श्रद्धा है। 'श्रत्' पदमें उपसर्गवत् वृत्ति होनेके कारण कि प्रत्यय हो जाता है। 'व' प्रत्यय मत्वर्थीय है। इसका अर्थ हुआ परब्रह्म अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार श्रद्धा—प्रयत्नसे होता है। श्रद्धा आत्मयत्न है और यह वैराग्यसे स्थिर होती है। अपनी बुद्धिसे ढूँढनेपर जो वस्तु सौ वर्षोंमें भी प्राप्त नहीं हो सकती वह श्रद्धासे क्षणभरमें मिल जाती है। यह प्रज्ञाकी अन्धता नहीं है जिज्ञासुओंका शोध और अनुभवियोंके अनुभवसे लाभ उठानेकी वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

अहमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवेभिरुत मानुषेभि ।
यं कामये त तमुग्रं कृणोमि त ब्रह्माण तमृषिं त सुमेधाम्॥ ५॥

'मैं स्वय ही इस ब्रह्मात्मक वस्तुका उपदेश करती हूँ। देवताओ और मनुष्याने भी इसीका सेवन किया है। मैं स्वय ब्रह्मा हूँ। मैं जिसकी रक्षा करना चाहती हूँ, उसे सर्वश्रेष्ठ बना देती हूँ मैं चाहूँ तो उसे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा बना दूँ, अतीन्द्रियार्थ ऋषि बना दूँ और उसे बृहस्पतिके समान सुमेधा बना दूँ। मैं स्वय अपने स्वरूप ब्रह्मभिन्न आत्माका गान कर रही हूँ।'

अह रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अह जनाय समदं कृणोम्यह द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ६॥

'मैं ही ब्रह्मज्ञानियाके द्वेषी हिसारत त्रिपुरवासी त्रिगुणाभिमानी अहकार-असुरका वध करनेके लिये सहारकारी रुद्रके धनुषपर ज्या (प्रत्यञ्चा) चढाती हूँ। मैं ही अपने जिज्ञासु स्तोताओंके विरोधी शत्रुओंके साथ सग्राम करके उन्हे पराजित करती हूँ। मैं ही द्युलोक और पृथिवीमे अन्तर्यामिरूपसे प्रविष्ट हूँ।'

इस मन्त्रमें भगवान् रुद्रद्वारा त्रिपुरासुरकी विजयकी कथा बीजरूपसे विद्यमान है।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्त समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥ ७॥

'इस विश्वके शिरोभागपर विराजमान द्युलोक अथवा आदित्यरूप पिताका प्रसव मैं ही करती रहती हूँ। उस कारणमे ही तन्तुआमे पटके समान आकाशादि सम्पूर्ण कार्य दीख रहा है। दिव्य कारण-वारिरूप समुद्र, जिसमें सम्पूर्ण प्राणियो एव पदार्थोंका उदय-विलय होता रहता है, वह ब्रह्मचैतन्य ही मेरा निवासस्थान है। यही कारण है कि मैं सम्पूर्ण भूतोंमे अनुप्रविष्ट होकर रहती हूँ और अपने कारणभूत मायात्मक स्वशरीरसे सम्पूर्ण दृश्य कार्यका स्पर्श करती हूँ।'

सायणने 'पिता' शब्दके दो अर्थ किये हैं—द्युलोक और आकाश। तैत्तिरीय ब्राह्मणमे भी उल्लेख है—'द्यौ पिता'। तैत्तिरीय आरण्यकमे भी आत्मासे आकाशकी उत्पत्तिका वर्णन है। वेङ्कटनाथने पिताका अर्थ 'आदित्य' किया है।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव॥ ८॥

'जैसे वायु किसी दूसरेसे प्रेरित न होनेपर भी स्वयं प्रवाहित होता है उसी प्रकार मैं ही किसी दूसरेके द्वारा प्रेरित और अधिष्ठित न होनेपर भी स्वय ही कारणरूपसे सम्पूर्ण भूतरूप कार्योंका आरम्भ करती हूँ। मैं आकाशसे भी परे हूँ और इस पृथ्वीसे भी। अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण विकारासे परे, असङ्ग, उदासीन, कूटस्थ ब्रह्मचैतन्य हूँ। अपनी महिमासे सम्पूर्ण जगत्के रूपमे मैं ही बरत रही हूँ, रह रही हूँ।'

~~~~

४-रुद्र-सूक्त

[भूत-भावन भगवान् सदाशिवकी प्रसन्नताके लिये इस सूक्तके पाठका विशेष महत्त्व बताया गया है। पूजामें भगवान् शंकरको सबसे प्रिय जलधारा है। इसलिये भगवान् शिवके पूजनमें रुद्राभिषेककी परम्परा है और अभिषेकमें इस 'रुद्र-सूक्त' की ही प्रमुखता है। रुद्राभिषेकके अन्तर्गत रुद्राष्टाध्यायीके पाठमें ग्यारह बार इस सूक्तकी आवृत्ति करनेपर पूर्ण रुद्राभिषेक माना जाता है। फलकी दृष्टिसे इसका अत्यधिक महत्त्व है। यह 'रुद्र-सूक्त' आध्यात्मिक आधिदैविक एवं आधिभौतिक—त्रिविध तापोसे मुक्त कराने तथा अमृतत्वकी ओर अग्रसर करनेका अन्यतम उपाय है—]

नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नम ।
बाहुभ्यामुत ते नम ॥ १॥

हे रुद्र! आपका नमस्कार है, आपके क्रोधको नमस्कार है आपके बाणका नमस्कार है और आपकी भुजाओको नमस्कार है।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि॥ २॥

हे गिरिशन्त! अर्थात् पर्वतपर स्थित होकर सुखका विस्तार करनेवाले रुद्र! हम अपनी उस मङ्गलमयी मूर्तिद्वारा अवलोकन करे जो सौम्य होनेके कारण केवल पुण्यका फल प्रदान करनेवाली है।

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवा गिरित्र ता कुरु मा हिꣳसी पुरुषं जगत्॥ ३॥

हे गिरिशन्त! हे गिरित्र! अर्थात् पर्वतपर स्थित होकर
~~~~

त्राण करनेवाले आप प्रलय करनेके लिये जिस बाणको हाथमे धारण करते हैं, उसे सौम्य कर दें और जगत्के जीवोकी हिसा न करें।

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा न सर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳ सुमना असत्॥४॥

हे गिरीश! हम आपको प्राप्त करनेके लिये मङ्गलमय स्तोत्रसे आपकी प्रार्थना करते हैं। जिससे हमारा यह सम्पूर्ण जगत् रोगरहित एव प्रसन्न हो।

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराची परा सुव॥५॥

शास्त्रसम्मत वचन बोलनेवाले देवहितकारी, परम रोगनाशक, प्रथम पूज्य रुद्र हमे श्रेष्ठ कहे और सर्पादिका विनाश करते हुए सभी अधोगामिनी राक्षसियों आदिको भी हमसे दूर करें।

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रु सुमङ्गल ।
ये चैनꣳ रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिता सहस्रशोऽवैषाꣳ हेड ईमहे॥६॥

ये जो ताम्र अरुण और पिङ्गल-वर्णवाले मङ्गलमय सूर्यरूप रुद्र हैं और जिनके चारो ओर ये सहस्रों किरणोके रूपमें रुद्र हैं, हम भक्तिद्वारा उनके क्रोधका निवारण करते हैं।

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहित ।
उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्य स दृष्टो मृडयाति न ॥ ७ ॥

ये जो विशेष रक्तवर्ण सूर्यरूपी नीलकण्ठ रुद्र गतिमान् हैं, जिन्हें गोप देखते हैं जल-वाहिकाएँ देखती हैं वह हमारे द्वारा देखे जानेपर हमारा मङ्गल करें।

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नम ॥ ८ ॥

सेचनकारी सहस्रों नेत्रवाले पर्जन्यरूप नीलकण्ठ रुद्रको हमारा नमस्कार है। इनके जो अनुचर हैं उन्हें भी हमारा नमस्कार है।

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।
याश्च ते हस्त इषव परा ता भगवो वप॥ ९॥

हे भगवन्! आपके धनुषकी कोटियोंके मध्य यह जो ज्या है उसे आप खोल दें तथा आपके हाथमे ये जो बाण हैं उन्हे आप हटा दें और इस प्रकार हमारे लिये सौम्य हो जायँ।

विज्यं धनु कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधि ॥१०॥

जटाधारी रुद्रका धनुष ज्यारहित तूणीर फलकहीन बाणरहित बाण दर्शनरहित और म्यान खड्गरहित हो जायँ।

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनु ।
तयाऽस्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज॥११॥

हे सतृप्त करनेवाले रुद्र! आपके हाथमें जो आयुध है और आपका जो धनुष है, उपद्रवरहित उस आयुध या धनुषद्वारा आप हमारी सब ओरसे रक्षा करें।

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वत ।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्नि धेहि तम्॥१२॥

आप धनुर्धारीका यह जो आयुध है वह हमारी रक्षा करनेके लिये हम चारों ओरसे घेरे रहे किंतु यह जो आपका तरकस है उसे आप हमसे दूर रखें।

अवतत्य धनुष्ट्वꣳ सहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो न सुमना भव॥१३॥

हे सहस्रो नेत्रवाले सैकडो तरकसवाले रुद्र! आप अपने धनुषको ज्यारहित और बाणोंके मुखोको फलकरहित करके हमारे लिये सुप्रसन्न एव कल्याणमय हो जायँ।

नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे।
उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने॥१४॥

हे रुद्र! धनुषपर न चढाये गये आपके बाणको नमस्कार है आपकी दोनो भुजाओंको नमस्कार है एव शत्रु-सहारक आपके धनुषको नमस्कार है।

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधी पितरं मोत मातरं मा न प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिष ॥ १५॥

हे रुद्र! हमारे बडोंको मत मारो। हमारे बच्चोंको मत मारो। हमारे तरुणोको मत मारो। हमारे भ्रूणोको मत मारो। हमारे पिता और माताकी हिसा न करो। हमारे प्रियजनोंकी हिसा न करो। हमारे पुत्र पौत्रादिकोंकी हिंसा न करो।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिष ।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्त सदमित्त्वा हवामहे॥१६॥

हे रुद्र! हमारे पुत्र और पौत्रपर क्रोध न करें। हमारी गायोंपर तथा हमारे घोड़ोंपर क्रोध न करें। हमारे क्रोधयुक्त वीरोंको न मारें। हम हविष्य लिये हुए निरन्तर यज्ञार्थ आपका आवाहन करते हैं।

५-(क) सूर्य-सूक्त

[इस ऋग्वेदीय 'सूर्य-सूक्त' (१।११५)-के ऋषि कुत्स आङ्गिरस' हैं देवता सूर्य हैं और छन्द त्रिष्टुप् है। इस सूक्तके देवता सूर्य सम्पूर्ण विश्वके प्रकाशक ज्योतिर्मय नेत्र हैं जगत्की आत्मा हैं और प्राणिमात्रको सत्कर्मोंमें प्रेरित करनेवाले देव हैं। देवमण्डलमें इनका अन्यतम एवं विशिष्ट स्थान इसलिये भी है क्योंकि ये जीवमात्रके लिये प्रत्यक्षगोचर हैं। ये सभीके लिये आरोग्य प्रदान करनेवाले एवं सर्वविध कल्याण करनेवाले हैं अतः समस्त प्राणिधारियोंके लिये स्तवनीय हैं वन्दनीय हैं—]

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ १॥

प्रकाशमान रश्मियोंका समूह अथवा राशि-राशि देवगण सूर्यमण्डलके रूपमें उदित हो रहे हैं। ये मित्र वरुण अग्नि और सम्पूर्ण विश्वके प्रकाशक ज्योतिर्मय नेत्र हैं। इन्होंने उदित होकर द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्षको अपने देदीप्यमान तेजसे सर्वतः परिपूर्ण कर दिया है। इस मण्डलमें जो सूर्य हैं वे अन्तर्यामी होनेके कारण सबके प्रेरक परमात्मा हैं तथा जङ्गम एवं स्थावर सृष्टिकी आत्मा हैं।

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्॥ २॥

सूर्य गुणमयी एवं प्रकाशमान उषादेवीके पीछे-पीछे चलते हैं, जैसे कोई मनुष्य सर्वाङ्ग-सुन्दरी युवतीका अनुगमन करे! जब सुन्दरी उषा प्रकट होती है, तब प्रकाशके देवता सूर्यकी आराधना करनेके लिये कर्मनिष्ठ मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मका सम्पादन करते हैं। सूर्य कल्याणरूप हैं और उनकी आराधनामें—कर्तव्य-कर्मके पालनसे कल्याणकी प्राप्ति होती है।

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः॥ ३॥

सूर्यका यह रश्मि-मण्डल अश्वके समान उन्हें सर्वत्र पहुँचानेवाला चित्र-विचित्र एवं कल्याणरूप है। यह प्रतिदिन तथा अपने पथपर ही चलता है एवं अर्चनीय तथा वन्दनीय है। यह सबको नमनकी प्रेरणा देता है और स्वयं द्युलोकके ऊपर निवास करता है। यह तत्काल द्युलोक और पृथ्वीका परिभ्रमण कर लेता है।

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ ४॥

सर्वान्तर्यामी प्रेरक सूर्यका यह ईश्वरत्व और महत्त्व है कि वे प्रारम्भ किये हुए, किंतु अपरिसमाप्त कृत्यादि कर्मको ज्यों-का-त्यों छोड़कर अस्ताचल जाते समय अपनी किरणोंको इस लोकसे अपने-आपमें समेट लेते हैं। साथ ही उसी समय अपने रसाकर्षी किरणों और घोड़ोंको एक स्थानसे खींचकर दूसरे स्थानपर नियुक्त कर देते हैं। उसी समय रात्रि अन्धकारके आवरणसे सबको आवृत कर देती है।

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥ ५॥

प्रेरक सूर्य प्रातःकाल मित्र वरुण और समग्र सृष्टिको सामनेसे प्रकाशित करनेके लिये प्राचीके आकाशीय क्षितिजमें अपना प्रकाशक रूप प्रकट करते हैं। इनकी रसभोजी रश्मियाँ अथवा हरे घोड़े बलशाली रात्रिकालीन अन्धकारके निवारणमें समर्थ विलक्षण तेज धारण करते हैं। उन्हींके अन्यत्र जानेसे रात्रिमें काले अन्धकारकी सृष्टि होती है।

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ६॥

हे प्रकाशमान सूर्य-रश्मियो! आज सूर्योदयके समय इधर-उधर बिखरकर तुम लोग हमें पापोंसे निकालकर बचा लो। न केवल पापसे ही प्रत्युत जो कुछ निन्दित है, गर्हणीय है दुःख-दारिद्र्य है सबसे हमारी रक्षा करो। जो कुछ हमने कहा है मित्र, वरुण अदिति सिन्धु, पृथ्वी और द्युलोकके अधिष्ठातृ देवता उसका आदर करें, अनुमोदन करें, वे भी हमारी रक्षा करें।

५-(ख) सूर्य-सूक्त

['सूर्य-सूक्त' के ऋषि 'विभ्राड्' है देवता सूर्य' और छन्द 'जगती है। य सूर्यमण्डलके प्रत्यक्ष देवता हैं जिनका दर्शन सबको निरन्तर प्रतिदिन होता है। पञ्चदेवोमे भी सूर्यनारायणकी पूर्णब्रह्मके रूपमे उपासना होती है। भगवान् सूर्यनारायणको प्रसन्न करनेके लिये प्रतिदिनके 'उपस्थान' एवं 'प्रार्थना' में 'सूर्य-सूक्त' के पाठ करनेकी परम्परा है। शरीरके असाध्य रोगोसे मुक्ति पानेमे 'सूर्य-सूक्त' अपूर्व शक्ति रखता है। इस सूक्तको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।—]

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविहुतम्।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजा पुपोष पुरुधा वि राजति॥ १॥

वायुसे प्रेरित आत्माद्वारा जो महान् दीप्तिमान् सूर्य प्रजाकी रक्षा तथा पालन-पोषण करता है और अनेक प्रकारसे शोभा पाता है, वह अखण्ड आयु प्रदान करते हुए मधुर सोमरसका पान करे।

उदु त्य जातवेदस देवं वहन्ति केतव । दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ २॥

विश्वको दर्शन-क्रिया सम्पादित करनेके लिये अग्निज्वाला-स्वरूप उदीयमान सूर्यदेवको ब्रह्मज्योतियाँ ऊपर उठाये रखती हैं।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥ ३॥

हे पावकरूप एव वरुणरूप सूर्य! तुम जिस दृष्टिसे ऊर्ध्वगमन करनेवालोको देखते हो उसी कृपादृष्टिसे सब जनोको देखो।

दैव्यावध्वर्यू आ गत॰ रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञ॰ समञ्जाथे।
तं प्रत्नथाऽयं वेनश्चित्रं देवानाम्॥ ४॥

हे दिव्य अश्विनीकुमारो! आप भी सूर्यकी-सा कान्तिवाले रथमे आये और हविष्यसे यज्ञको परिपूर्ण करें। उसे ही जिसे ज्योतिष्मानोंमें चन्द्रदेवने प्राचीन विधिसे अद्भुत बनाया है।

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषद॰ स्वर्विदम्।
प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे॥ ५॥

यज्ञादि श्रेष्ठ क्रियाओंमे अग्रणी रहनेवाले और विपरीत पापादिका नाश करनेवाले श्रेष्ठ विस्तारवाले श्रेष्ठ आसनपर स्थित स्वर्गके ज्ञाता आपको हम पुरातन विधिसे, पूर्ण विधिसे सामान्यविधिसे और इस प्रस्तुत विधिसे वरण करते हैं।

अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायु रजसो विमाने।
इममपा॰संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति॥ ६॥

जलके निर्माणके समय यह ज्योतिर्मण्डलसे आवृत चन्द्रमा अन्तरिक्षीय जलको प्रेरित करता है। इस जल-समागमके समय ब्राह्मण सरल वाणीसे वेन (चन्द्रमा)-की स्तुति करते हैं।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष॰ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ ७॥

क्या ही आश्चर्य है कि स्थावर-जगम जगत्की आत्मा किरणोका पुञ्ज अग्नि मित्र और वरुणका नेत्ररूप यह सूर्य भूलोक, द्युलोक तथा अन्तरिक्षको पूर्ण करता हुआ उदित होता है।

आ न इडाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देव एतु।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्वं जगदभिपित्वे मनीषा॥ ८॥

सुन्दर अन्नवाले हमारे प्रशसनीय यज्ञमें सर्वहितैषी सूर्यदेव आगमन करें। हे अजर देवो! जैसे भी हो आप लोग तृप्त हों और आगमनकालमें हमारे सम्पूर्ण गौ आदिको बुद्धिपूर्वक तृप्त करें।

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे॥ ९॥

हे इन्द्र! हे सूर्य! आज तुम जहाँ-कहीं भी उदीयमान हो वे सभी प्रदेश तुम्हारे अधीन हैं।

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनम्॥ १०॥

दर्शन-दर्शते विश्वका अतिक्रमण करनेवाले हे विश्वके प्रकाशक सूर्य! इस दीप्तिमान् विश्वको तुम्हीं प्रकाशित करते हो।

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ ११॥

सूर्यका देवत्व तो यह है कि ये ईश्वर-सृष्ट जगत्के मध्य स्थित हो समस्त ग्रहोको धारण करते हैं और आकाशमे हो। जब हरितवर्णकी किरणोसे संयुक्त हो जाते हैं तो रात्रि सबके लिये अन्धकारका आवरण फैला देती है।

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाज कृष्णमन्यद्धरित संभरन्ति॥ १२॥

द्युलोकके अङ्कमें यह सूर्य मित्र और वरुणका रूप धारण कर सबको देखता है। अनन्त शुक्ल-देदीप्यमान इसका एक दूसरा अद्वैतरूप है। कृष्णवर्णका एक दूसरा द्वैतरूप है, जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं।

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि॥ १३॥

हे सूर्यरूप परमात्मन्! तुम सत्य ही महान् हो। आदित्य! तुम सत्य ही महान् हो। महान् और सद्रूप होनेके कारण आपकी महिमा गायी जाती है। आप सत्य ही महान् हैं।

बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि।
मह्ना देवानामसुर्य पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्॥ १४॥

हे सूर्य! तुम सत्य ही यशसे महान् हो। यज्ञसे महान् हो तथा महिमासे महान् हो। देवाके हितकारी एव अग्रणी हो और अदम्य व्यापक ज्योतिवाले हो।

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम॥ १५॥

जिन सूर्यका आश्रय करनेवाली किरण इन्द्रकी सम्पूर्ण वृष्टि-सम्पत्तिका भक्षण करती हैं और फिर उनको उत्पन्न करने अर्थात् वर्षण करनेके समय यथाभाग उत्पन्न करती हैं, उन सूर्यको हम हृदयमे धारण करते हैं।

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरꣳहस पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदिति सिन्धु पृथिवी उत द्यौ ॥ १६॥

हे देवो! आज सूर्यका उदय हमारे पाप और दोषको दूर करे और मित्र वरुण अदिति, सिन्धु, पृथिवी और स्वर्ग सब-के-सब मेरी इस वाणीका अनुमोदन करें।

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ १७॥

सबके प्रेरक सूर्यदेव स्वर्णिम रथमें विराजमान होकर अन्धकारपूर्ण अन्तरिक्ष-पथमें विचरण करते हुए देवों और मानवोंको उनके कार्योंमें लगाते हुए लोकोंको देखते हुए चले आ रहे हैं।

~~~

ॐ देवी ह्येकाग्र आसीत् सैव जगदण्डमसृजत्। कामकलेति विज्ञायते। शृङ्गारकलेति विज्ञायते। तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरस किन्नरा वादित्रवादिन समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वं शाक्तमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किञ्चैतत्प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत्। सैषापरा शक्ति । सैषा शाम्भवी विद्या कादिविद्येति वा हादिविद्येति वा सादिविद्येति वा रहस्यम्। ओमों वाचि प्रतिष्ठा सैव पुरत्रय शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चिति ।

(बह्वृचोपनिषद्)

ॐ एकमात्र देवी ही सृष्टिसे पूर्व थीं उन्होंने ही ब्रह्माण्डकी सृष्टि की, वे कामकलाके नामसे विख्यात हैं। वे ही शृङ्गारकी कला कहलाती हैं। उन्हींसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, विष्णु प्रकट हुए, रुद्र प्रादुर्भूत हुए, समस्त मरुद्गण उत्पन्न हुए, गानेवाले गन्धर्व नाचनवाली अप्सराएँ और वाद्य बजानेवाले किन्नर सब ओर उत्पन्न हुए, भोगसामग्री उत्पन्न हुई सब कुछ उत्पन्न हुआ समस्त शक्तिसम्बन्धी पदार्थ उत्पन्न हुए, अण्डज स्वेदज उद्भिज्ज तथा जरायुज— सभी स्थावरजङ्गम प्राणी-मनुष्य उत्पन्न हुए। ये ही अपरा शक्ति हैं। ये ही शाम्भवी विद्या कादि विद्या अथवा हादि विद्या या सादि विद्या अथवा रहस्यरूपा हैं। वे ॐ अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूपसे वाणीमात्रमें प्रतिष्ठित हैं। ये ही (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन) तीनों पुरों तथा (स्थूल सूक्ष्म और कारण—इन) तीनों प्रकारके शरीरोंको व्याप्त कर बाहर और भीतर प्रकाश फैलाती हुई देश काल तथा वस्तुके भीतर असङ्ग रहकर महात्रिपुरसुन्दरी प्रत्यक् चेतना हैं।

~~~

प्रमुख देवी-देवताओंके सूक्त

अग्नि-सूक्त

[इस सूक्तके ऋषि मधुच्छन्दा हैं, देवता अग्नि हैं तथा छन्द गायत्री है। वेदमें अग्निदेवताका विशेष महत्त्व है। ऋग्वेद-संहितामें दो सौ सूक्त अग्निके स्तवनमें प्राप्त हैं। ऋग्वेदके सभी मण्डलोंके आदिमें 'अग्नि-सूक्त' के अस्तित्वसे इस देवकी प्रमुखता प्रकट होती है। सर्वप्रधान और सर्वव्यापक होनेके साथ अग्नि सर्वप्रथम, सर्वाग्रणी भी हैं। इनका 'जातवेद' नाम इनकी विशेषताका द्योतक है। भूमण्डलके प्रमुख तत्त्वोंसे अग्निका सम्बन्ध बताया जाता है। प्राणिमात्रके सर्वविध कल्याणके लिये इस सूक्तको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।—]

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ १॥

सबका हित करनेवाले, यज्ञके प्रकाशक सदा अनुकूल यज्ञकर्म करनेवाले, विद्वानोंके सहायक अग्निकी मैं प्रशंसा करता हूँ।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति॥ २॥

सदैवसे प्रशंसित अग्निदेवोंका आवाहन करते हैं। अग्निके द्वारा ही देवता शरीरमें प्रतिष्ठित रहते हैं। शरीरसे अग्निदेवके निकल जानेपर समस्त देव इस शरीरको त्याग देते हैं।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥ ३॥

अग्नि ही पुष्टिकारक, बलयुक्त और यशस्वी अन्न प्रदान करते हैं। अग्निसे ही पोषण होता है, यश बढ़ता है और वीरतासे धन प्राप्त होता है।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद् देवेषु गच्छति॥ ४॥

हे अग्नि! जिस हिंसारहित यज्ञको सब ओरसे आप सफल बनाते हैं, वही देवोंके समीप पहुँचता है।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत्॥ ५॥

देवोंका आवाहन करनेवाला, यज्ञ-निष्पादक ज्ञानियोंकी कर्मशक्तिका प्रेरक सत्यपरायण विविध रूपोंवाला और अतिशय कीर्तियुक्त यह तेजस्वी अग्नि देवोंके साथ इस यज्ञमें आये हैं।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः॥ ६॥

हे अग्नि! आप दानशीलका कल्याण करते हैं। हे शरीरमें व्यापक अग्नि! यह आपका निःसंदेह एक सत्यकर्म है।

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥ ७॥

हे अग्नि! प्रतिदिन दिन और रात बुद्धिपूर्वक नमस्कार करते हुए हम आपके समीप आते हैं, अर्थात् अपनी स्तुतियोंद्वारा हमेशा उस प्रकाशक एवं तेजस्वी अग्निका गुणगान करना चाहिये, दिन और रात्रिके समय उनका सदा प्रणाम करना चाहिये।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे॥ ८॥

दीप्यमान हिंसारहित यज्ञोंके रक्षक अटल-सत्यके प्रकाशक और अपने घरमें बढ़नेवाले अग्निके पास हम नमस्कार करते हुए आते हैं।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥ ९॥

हे अग्नि! जिस प्रकार पिता पुत्रके कल्याणकारी काममें सहायक होता है उसी प्रकार आप हमारे कल्याणमें सहायक हों।

~~~~~~
~~~~~~

अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे च पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ५॥

हे यम! यज्ञमें स्वीकार करने योग्य अङ्गिरस ऋषियोंको साथ लेकर आयें। वैरूप नामक पूर्वजोंके साथ यहाँ आप भी प्रसन्न हों। आपके पिता विवस्वान्‌को भी मैं यहाँ निमन्त्रित करता हूँ (और प्रार्थना करता हूँ) कि इस यज्ञमें वह कुशासनपर बैठकर हमें संतुष्ट करें।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ६॥

अङ्गिरा, अथर्वा एवं ऋग्वादि हमारे पितर अभी ही आये हैं और ये हमारे ऋषि सोमपानके लिये योग्य ही हैं। उन सब यज्ञार्ह पूर्वजोंकी कृपा तथा मङ्गलप्रद प्रसन्नता हमें पूरी तरह प्राप्त हो।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ७॥

हे पिता! जहाँ हमारे पूर्व पितर जीवन पार कर गये हैं उन प्राचीन मार्गोंसे आप भी जायँ। स्वधाकार अमृतान्नसे प्रसन्न-तृप्त हुए राजा यम और वरुणदेवसे जाकर मिलें।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥ ८॥

हे पिता! श्रेष्ठ स्वर्गमें अपने पितरोंके साथ मिलें। वैसे ही अपने यज्ञ, दान आदि पुण्यकर्मोंके फलसे भी मिलें। अपने सभी दोषोंको त्याग कर इस (शाश्वत) घरकी ओर आयें और सुन्दर तेजसे युक्त होकर (संचरण करने योग्य नवीन) शरीर धारण करें।

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै॥ ९॥

हे भूत-पिशाचो! यहाँसे चले जाओ, हट जाओ, दूर चले जाओ। पितरोंने यह स्थान इस मृत मनुष्यके लिये निश्चित किया है। यह स्थान दिन-रात और जलसे युक्त है। यमने इस स्थानको मृत मनुष्यको दिया है (इस ऋचामें श्मशानके भूत-पिशाचोंसे प्रार्थना की गयी है कि वे मृत व्यक्तिके अन्तिम विश्राम स्थलके मार्गमें बाधा न उपस्थित करें)।

अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितॄन् त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति॥ १०॥

(हे सद्य मृत जीव!) चार नेत्रोंवाले चित्रित शरीरके सरमाके दोनों श्वान-पुत्र हैं। उनके पास अच्छे मार्गसे अत्यन्त शीघ्र गमन करो। यमराजके साथ एक ही पंक्तिमें प्रसन्नतासे (अन्नादिका) उपभोग करनेवाले अपने अत्यन्त उदार पितरोंके पास उपस्थित हो जाओ (मृत व्यक्तिसे कहा गया है कि उचित मार्गसे आगे बढ़कर सभी बाधाओंको हटाते हुए यमलोक ले जानेवाले दोनों श्वानोंके साथ वह जल्द जा पहुँचे)।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेनं परि देहि राजन् त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि॥ ११॥

हे यमराज! मनुष्योंपर ध्यान रखनेवाले चार नेत्रोंवाले मार्गके रक्षक ये जो आपके रक्षक श्वान हैं, उनसे इस मृतात्माकी रक्षा करें। हे राजन्! इसे कल्याण और आरोग्य प्राप्त करायें।

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥ १२॥

यमके दूत, लंबी नासिकावाले (मुमूर्षु व्यक्तिके) प्राण अपने अधिकारमें रखनेवाले महापराक्रमी (आपके) दोनों श्वान मर्त्यलोकमें भ्रमण करते रहते हैं। वे हमें सूर्यके दर्शनके लिये यहाँ आज कल्याणकारी उचित प्राण दें।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ १३॥

यमके लिये सोमका सेवन करो तथा यमके लिये (अग्निमें) हविका हवन करो। अग्नि उसका दूत है इसलिये अच्छी तरह तैयार किया हुआ यह हमारा यज्ञिय हवि यमके पास पहुँच जाता है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्र जीवसे॥ १४॥

घृतसे मिश्रित यह हव्य यमके लिये (अग्निमें) हवन करो और यमकी उपासना करो। देवोंके बीच यम हमें दीर्घ आयु दें ताकि हम जीवित रह सकें।

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः॥ १५॥

अत्यधिक माधुर्ययुक्त यह हव्य राजा यमके लिये अग्निमें हवन करो। (हे यम!) हमारा यह प्रणाम अपने पूर्वज ऋषियोंको, अपने पुरातन मार्गदर्शकोंको समर्पित हो जाय।

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद्बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता॥ १६॥

त्रिकद्रुक नामक यज्ञोंमें हमारा यह (सोमरूपी सुपर्ण) उड़ान ले रहा है। यम छः स्थानों—द्युलोक, भूलोक, जल, औषधि, ऋक् और सुनृतमें रहते हैं। गायत्री तथा अन्य छन्द—ये सभी इन यममें ही सुप्रतिष्ठित किये गये हैं।

पितृ-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वे मण्डलके १५वें सूक्तकी १—१४ ऋचाएँ 'पितृ-सूक्त'के नामसे ख्यात हैं। पहली आठ ऋचाओमे विभिन्न स्थानोमे निवास करनेवाले पितरोको हविर्भाग स्वीकार करनेके लिये आमन्त्रित किया गया है। अन्तिम छ ऋचाओमें अग्निसे प्रार्थना की गयी है कि वे सभी पितरोंको साथ लेकर हवि-ग्रहण करनेके लिये पधारनेकी कृपा करे। इस सूक्तके ऋषि शङ्ख यामायन देवता पितर तथा छन्द त्रिष्टुप् (१—१०, १२—१४) और जगती (११) हैं। —]

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमा पितर सोम्यास ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥१॥

नीचे, ऊपर और मध्यस्थानोमें रहनेवाले सोमपान करनेके योग्य हमारे सभी पितर उठकर तैयार हों। यज्ञके ज्ञाता सौम्य स्वभावके हमारे जिन पितरोने नूतन प्राण धारण कर लिये हैं, वे सभी हमारे बुलानेपर आकर हमारी सुरक्षा करें।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयु ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नून सुवृजनासु विक्षु॥२॥

जो भी नये अथवा पुराने पितर यहाँसे चले गये हैं जो पितर अन्य स्थानोंमें हैं और जो उत्तम स्वजनाके साथ निवास कर रहे हैं अर्थात् यमलोक, मर्त्यलोक और विष्णुलोकमें स्थित सभी पितरोको आज हमारा यह प्रणाम निवेदित हो।

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णो ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठा ॥३॥

उत्तम ज्ञानसे युक्त पितराको तथा अपानपात् और विष्णुके विक्रमणको मैंने अपने अनुकूल बना लिया है। कुशासनपर बैठनेके अधिकारी पितर प्रसन्नतापूर्वक आकर अपनी इच्छाके अनुसार हमारे-द्वारा अर्पित हवि और सोमरस ग्रहण करं।

बर्हिषद पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शंतमेनाऽथा न श योरऽपो दधात॥४॥

कुशासनपर अधिष्ठित होनेवाले हे पितर! आप कृपा करके हमारी ओर आइये। यह हवि आपके लिय ही तैयार की गयी है इसे प्रेमसे स्वीकार कीजिये। अपने अत्यधिक सुखप्रद प्रसादके साथ आयें और हमें क्लेशरहित सुख तथा कल्याण प्राप्त करायें।

उपहूता पितर सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥५॥

पितरोंको प्रिय लगनेवाली सामग्री निधियोंका स्थापनाक बाद कुशासनपर हमने पितराका आवाहन किया है। वे यहाँ आ जायँ और हमारी प्रार्थना सुन। वे हमारी सुरक्षा करनेके साथ ही देवोके पास हमारी ओरसे सस्तुति कर।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितर केन चिन्नो यद्व आग पुरुषता कराम॥६॥

हे पितरो! बायाँ घुटना मोड़कर और वेदीके दक्षिणमें नीचे बैठकर आप सभी हमारे इस यज्ञकी प्रशसा करे। मानव-स्वभावके अनुसार हमने आपके विरुद्ध कोई भी अपराध किया हो ता उसके कारण हे पितरो आप हमें दण्ड मत द (पितर बायाँ घुटना मोडकर बैठते हैं और देवता दाहिना घुटना मोडकर बैठना पसन्द करते हैं)।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्य पितरस्तस्य वस्व प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥७॥

अरुणवर्णकी उषादेवीके अङ्कम विराजित हे पितर! अपने इस मर्त्यलाकके याजकको धन दें, सामर्थ्य द तथा अपनी प्रसिद्ध सम्पत्तिमसे कुछ अश हम पुत्राको देवें।

ये न पूर्वे पितर सोम्यासो ऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठा ।
तेभिर्यम संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भि प्रतिकाममत्तु॥८॥

(यमके सामपानके बाद) सामपानक याग्य हमारे वसिष्ठ कुलके सोमपायी पितर यहाँ उपस्थित हो गय हैं। वे हम उपकृत करनेके लिय सहमत हाकर और स्वयं उत्कण्ठित हाकर यह राजा यम हमार-द्वारा समर्पित हविको अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर।

ये तातृपुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविद स्तोमतष्टासो अर्कै ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यै कव्यै पितृभिर्घर्मसद्भि ॥९॥

अनक प्रकारके हवि-द्रव्याक नाना अर्कोंमे सोमोंकी महायताम जिन्हें निमाण किया है ऐसे उत्तम ज्ञाना विश्वासपात्र घर्म नामक हविके पास बैठनवाले 'कव्य' नामक हमार पितर देवनोकमें सँग लगनेवा अजस्याक प्यासस व्याकुल हा गय हैं। उनका साथ लकर हे अग्निदेव! आप यहाँ उपस्थित हावें।

ये सत्यासो हविरदा हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ १० ॥

कभी न बिछुड़नेवाले ठोस हविका भक्षण करनेवाले द्रव हविका पान करनेवाले इन्द्र और अन्य देवोंके साथ एक ही रथमें प्रयाण करनेवाले देवोंकी वन्दना करनेवाले घर्म नामक हविके पास बैठनेवाले जो हमारे पूर्वज पितर हैं, उन्हें सहस्रोंकी संख्यामें लेकर हे अग्निदेव! यहाँ पधारें।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ११ ॥

अग्निके द्वारा पवित्र किये गये हे उत्तमपथ प्रदर्शक पितर! यहाँ आइये और अपने-अपने आसनोंपर अधिष्ठित हो जाइये। कुशासनपर समर्पित हविर्द्रव्योंका भक्षण करें और (अनुग्रहस्वरूप) पुत्रोंसे युक्त सम्पदा हमें समर्पित करा दें।

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ १२ ॥

हे ज्ञानी अग्निदेव! हमारी प्रार्थनापर आप इस हविको मधुर बनाकर पितरोंके पास ले गये, उन्हें पितरोंको समर्पित किया और पितरोंने भी अपनी इच्छाके अनुसार उस हविका भक्षण किया। हे अग्निदेव! (अब हमारे-द्वारा) समर्पित हविको आप भी ग्रहण करें।

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ १३ ॥

जो हमारे पितर यहाँ (आ गये) हैं और जो यहाँ नहीं आये हैं, जिन्हें हम जानते हैं और जिन्हें हम अच्छी प्रकार जानते भी नहीं, उन सभीको जितने (और जैसे) हैं, उन सभीको हे अग्निदेव! आप भलीभाँति पहचानते हैं। उन सभीकी इच्छाके अनुसार अच्छी प्रकार तैयार किये गये इस हविको (उन सभीके लिये) प्रसन्नताके साथ स्वीकार करें।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥ १४ ॥

हमारे जिन पितरोंको अग्निने पावन किया है और जो अग्निद्वारा भस्मसात् किये बिना ही स्वयं पितृभूत हैं तथा जो अपनी इच्छाके अनुसार स्वर्गके मध्यमें आनन्दसे निवास करते हैं। उन सभीकी अनुमतिसे, हे स्वराट् अग्ने! (पितृलोकमें इस नूतन मृतजीवके) प्राण धारण करने योग्य (उसके) इस शरीरको उसकी इच्छाके अनुसार ही बना दो और उसे दे दो।

पृथ्वी-सूक्त

[अथर्ववेदके बारहवें काण्डके प्रथम सूक्तका नाम 'पृथ्वी-सूक्त' है। इसमें कुल ६३ मन्त्र हैं। ऋषिने इन मन्त्रोंमें मातृभूमिके प्रति अपनी प्रगाढ़ भक्तिका परिचय दिया है। हिंदू-शास्त्रोंके अनुसार प्रत्येक जड-तत्त्व चेतनसे अधिष्ठित है। चेतन ही उसका नियन्ता और संचालक है। हमारी इस पृथ्वीका भी एक चिन्मयस्वरूप है। यही इस स्थूल पृथ्वीका अधिदेवता है। इसीको 'श्रीदेवी' और 'भूदेवी' भी कहते हैं। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' इस मन्त्रमें 'श्री' पदसे इन्हीं 'भूदेवी' का स्मरण किया गया है। ये चिन्मयी-देवी इस स्थूल पृथ्वीकी अधिष्ठात्री हैं। ये ही इसका हृदय हैं। ये अमृत हैं, क्योंकि चिन्मय हैं। जडतत्त्व ही मृत्युका ग्रास बनता है। अतएव ये मृत्युलोकसे परे परम व्योममें प्रतिष्ठित हैं। —

यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।

ऋषिने इस सूक्तमें पृथ्वीके आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों रूपोंका स्तवन किया है। कहीं भौगोलिक दृष्टिसे इसके नैसर्गिक सौन्दर्यका चित्रण है और कहीं पौराणिक वर्णनका बीज भी उपलब्ध होता है। पुराणोंमें पृथ्वीके अधिदेवताका रूप 'गौ' बताया गया है। इस सूक्तमें भी कामदुघा, पयस्वती, सुरभि तथा धेनु आदि पदोंद्वारा उक्त स्वरूपकी यथार्थता सूचित की गयी है। यहाँ सम्पूर्ण भूमि ही माताके रूपमें ऋषिको दृष्टिगोचर हुई है और उसने बड़ी भक्तिसे इस विश्वम्भरा वसुधाके गुण-गौरवका गान किया है। यह 'पृथ्वी' अपने मानव सबके लिये श्री एवं विभूतिके रूपमें परिणत हो जाती है। इसके ही द्वारा सबका जन्म और पालन होता है। अतः ऋषिने माताकी इस महामहिमाको हृदयङ्गम करके उससे उत्तम वरके लिये प्रार्थना की है।

सायणाचार्यने इस सूक्तके मन्त्रोका अनेक लौकिक लाभोंके लिये भी विनियोग बताया है। अनेक धर्मसूत्रकारोंका भी यही मत है। आग्रहायणीकर्म पुष्टिकर्म कृषिकर्म तथा पुत्र-धनादि सर्ववस्तुकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्ममे एवं अन्न सुवर्ण मणि आदिकी प्राप्ति ग्राम-नगर आदिकी रक्षा भूकम्प प्रायश्चित्त सोमयज्ञ तथा पार्थिव महाशान्ति आदिके कर्ममे भी इन मन्त्रोका प्रयोग किया जाता है। प्रयोगविधि अथर्ववेदी विद्वानासे जाननी चाहिये। तात्पर्य यह कि सभी दृष्टियासे यह सूक्त बहुत ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। केवल इसके पाठसे भी बहुत लाभ होता है। इस सूक्तमें कुल ६३ मन्त्र बताये गये हैं परतु स्थानाभावके कारण प्रमुख १२ मन्त्रोको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।—]

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरु लोकं पृथिवी न कृणोतु॥

भूतकाल और भविष्यकालकी पत्नी यह पृथ्वी, जिसे सत्य महत्त्व, ऋत उग्रता दीक्षा तपस्या ब्रह्म और यज्ञ धारण करते हैं, हमारे लोकका व्यापक करे।

असंबाधं बध्यतो मानवाना यस्या उद्वत प्रवत समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी न प्रथतां राध्यतां न ॥

मानवाके मध्य जिसके उच्च-निम्न-सम आदि नानारूप बाधारहित स्थित हैं तथा नाना शक्तियावाली औषधियाँ धारण करती है, वह पृथ्वी हमारे लिये विस्तृत एव समृद्ध हो।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टय संबभूवु ।
यस्यामिद जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमि पूर्वपेये दधातु॥

जिस पृथ्वीपर समुद्र, नदियाँ और जल हैं, जिसपर अन्नादि कृषि-सामग्रियाँ उत्पन्न हुई हैं तथा जिसपर यह प्राणवान् और गतिमान् जगत् चलता-फिरता है, वह पृथ्वी हम हर प्रकारसे प्रचुरताम रखे।

यस्याश्चतस्र प्रदिश पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टय सबभूवु ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥

जिस पृथ्वीकी चार दिशाएँ हैं जिसपर अन्न और कृषि-सामग्रियाँ उत्पन्न हुई हैं तथा जा प्राणवान् एवं गतिमान् जगत्का नाना प्रकारसे पाषण करती है, वह पृथ्वी हमें गायो और अन्नकी प्रचुरतामें रखे।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भग वर्च पृथिवी नो दधातु॥

प्राचीन कालमें पूर्वजाने इस पृथ्वीपर विशिष्ट कर्म किये देवाने असुराको भगाया तथा गायो घोड़ा तथा पक्षियोंकी निवास-स्थली यह पृथ्वी हमें ऐश्वर्य और तेज दे।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिण ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृत पृथिव्या ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥

समुद्र-जलके मध्यम स्थित पृथ्वी जिसे मनीषियाने बुद्धिके द्वारा प्राप्त किया जिस पृथ्वीका अमर्त्य-हृदय परमाकाशमें सत्यसे आच्छादित था वह पृथ्वी हमें बल और तेज दे तथा उत्तम राष्ट्रमें रखे।

यस्यामाप परिचरा समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥

सर्वत्र प्रवाहित होनेवाला जल जिसपर रात-दिन समान भावसे गतिशील रहता है, वह अनेक धाराओवाली पृथ्वी हमारे लिये दूध बहानेवाली हो और हमें तेजसे सिक्त करे।

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपति ।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पय ॥

जिस अश्विनीकुमाराने नापा जिसपर विष्णुने विचरण किया और शक्तिके स्वामी इन्द्रने जिसे अपने लिये शत्रुहीन किया वह हमारी माता पृथ्वी मुझ पुत्रके लिये दूधका सृजन करे।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्य ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥

हे पृथ्वी! तुम्हारे गिरि-पर्वत हिमाच्छादित हो। तुम्हारे वन सुखदायी हो। भूरी काली लाल विश्व स्थिर और व्यापक पृथ्वीपर तथा इन्द्ररक्षित पृथ्वीपर मैं अपराजित, अनाक्रान्त और अक्षत होकर रहूँ।

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्व संबभूवु ।
तासु नो धेह्यभि न पवस्व माता भूमि पुत्रो अहं पृथिव्या ।
पर्जन्य पिता स उ न पिपर्तु॥

हे पृथ्वी! अपने मध्यभागमें स्थित नाभि जो कि ऊर्जाका केन्द्र है, उनमे हमें स्थित करो अर्थात् हम यहाँ सारग्राही हो। हमें सब ओरसे पवित्र करो। पृथ्वी मेरी माँ है और मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ। पिता पर्जन्य हमारा पालन करें।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पद ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥

तुमसे उत्पन्न प्राणी तुममें गतिशील हैं। तुममें ही दो पैरवाले और चार पैरवाले समस्त जीव मृत्युको प्राप्त करते हैं। हे पृथ्वी! ये सब मनुष्य तुम्हारे हैं। उदीयमान् सूर्य नित्य मर्त्योंको प्रकाशितामृत-रूपिणी किरणोसे आच्छादित करता है।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

यह पृथ्वी तरह-तरहकी वाणी बोलनेवाले विविध धर्मोंका आचरण करनेवाले तथा विभिन्न स्थानोंमें रहनेवाले प्राणियोंका अनेक प्रकारसे भरण-पोषण करती है। यह मेरे लिये अचल-स्थिर गायके समान द्रव्यकी सहस्रा धाराएँ बहाये।

~~~~

गो-सूक्त

[अथर्ववेदके चौथे काण्डके २१वें सूक्तको 'गो-सूक्त' कहते हैं। इस सूक्तके ऋषि ब्रह्मा तथा देवता गौ हैं। इस सूक्तमें गौओकी अभ्यर्थना की गयी है। गायें हमारी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नतिका प्रधान साधन हैं। इनसे हमारा भौतिक पक्षसे कहीं अधिक आस्तिकता जुडी हुई है। वेदोमें गायका महत्व अतुलनीय है। यह 'गो-सूक्त' अत्यन्त सुन्दर काव्य है। इतना उत्तम वर्णन बहुत कम स्थानोंपर मिलता है। मनुष्यको धन बल, अन्न और यश गौसे ही प्राप्त है। गौ घरकी शोभा परिवारके लिये आरोग्यप्रद और पयक्रमस्वरूप हैं, यही इस सूक्तसे परिलक्षित होता है। —]

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥ (पा० गृ० सू० १।३।२७)

गाय रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री अदितिपुत्रोंकी बहिन और घृतरूप अमृतका खजाना है प्रत्येक विचारशील पुरुषको मैंने यही समझाकर कहा है कि निरपराध एवं अवध्य गौका वध न करो।

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥

गौओंने हमारे यहाँ आकर हमारा कल्याण किया है। वे हमारी गोशालामें सुखसे बैठें और उसे अपने सुन्दर शब्दोंसे गुँजा दें। ये विविध रंगोंकी गौएँ अनेक प्रकारके बछड़े-बछड़ियाँ जनें और इन्द्र (परमात्मा)-के यजनके लिये उषःकालसे पहले दूध देनेवाली हों।

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥

ये गौएँ न तो नष्ट हों, न उन्हें चोर चुरा ले जाय और न शत्रु ही कष्ट पहुँचाये। जिन गौओंकी सहायतासे उनका स्वामी देवताओंका यजन करने तथा दान देनेमें समर्थ होता है उनके साथ वह चिरकालतक संयुक्त रहे।

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥

गौएँ हमारा मुख्य धन हों इन्द्र हम गोधन प्रदान करें तथा यज्ञोंकी प्रधान वस्तु सोमरसके साथ मिलकर गौओंका दूध ही उनका नैवेद्य बने। जिसके पास ये गौएँ हैं, वह तो एक प्रकारसे इन्द्र ही है। मैं अपने श्रद्धायुक्त मनसे गव्य पदार्थोंके द्वारा इन्द्र (-भगवान्)-का यजन करना चाहता हूँ।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु॥

गौओ! तुम कृश शरीरवाले व्यक्तिको हृष्ट-पुष्ट कर देती हो एवं तेजोहीनको देखनेम सुन्दर बना देती हो। इतना ही नहीं, तुम अपने मङ्गलमय शब्दसे हमारे घरोको मङ्गलमय बना देती हो। इसीसे सभाओंमें तुम्हारे ही महान् यशका गान होता है।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥

गौओ! तुम बहुत-से बच्चे जनो चरनेके लिये तुम्हें सुन्दर चारा प्राप्त हो तथा सुन्दर जलाशयमें तुम शुद्ध जल पीती रहो। तुम चोरों तथा दुष्ट हिंसक जीवोंके चंगुलमें न फँसो और रुद्रका शस्त्र तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करे।

~~~~

गोष्ठ-सूक्त

[अथर्ववेदके तीसरे काण्डके १४वें सूक्तमे गौआको गोष्ठ (गोशाला)-में आकर सुखपूर्वक दीर्घकालतक अपनी बहुत-सी संततिके साथ रहनेकी प्रार्थना की गयी है। इस सूक्तके ऋषि ब्रह्मा तथा देवता गोष्ठदेवता एवं नानादेवता हैं। गौओंके लिये उत्तम गोशाला दाना-पानी एव चाराका प्रबन्ध करना चाहिये। गौओको प्रेमपूर्वक रखना चाहिये। उन्हे भयभीत नहीं करना चाहिये। इससे गौके दूधपर भी असर पडता है। गौओकी पुष्टि और नीरोगताके सन्दर्भमें भी पूरा ध्यान रखना चाहिये—यही इस सूक्तका सार है।—]

सं वो गोष्ठेन सुपदा सं रय्या सं सुभूत्या।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना व सं सृजामसि॥१॥

गौओंके लिये उत्तम प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनायी जाय। गौओको अच्छा जल पीनेके लिये दिया जाय तथा गौओसे उत्तम सतान उत्पन्न करानेकी दक्षता रखी जाय। गौओंसे इतना स्नेह करना चाहिये कि जो भी अच्छा-से-अच्छा पदार्थ हो, वह उन्हे दिया जाय।

सं व सृजत्वर्यमा सं पूषा स बृहस्पति ।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद्वसु॥२॥

अर्यमा, पूषा, बृहस्पति तथा धन प्राप्त करनेवाले इन्द्र आदि सब देवता गायोंको पुष्ट करे तथा गौओसे जो पोपक रस (दूध) प्राप्त हो वह मुझे पुष्टिके लिये मिले।

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणी ।
बिभ्रती सोम्य मध्वनमीवा उपेतन॥३॥

उत्तम खादके रूपमें गोबर तथा मधुर रसके रूपमें दूध देनेवाली स्वस्थ गाये इस उत्तम गाशालामें आकर निवास करें।

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्व मयि सज्ञानमस्तु व ॥४॥

गौएँ इस गोशालामें आयें। यहाँ पुष्ट होकर उत्तम सतान उत्पन्न कर और गौआके स्वामीके ऊपर प्रेम करती हुई आनन्दसे निवास कर।

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्व मया व स सृजामसि॥५॥

(यह) गोशाला गौआके लिय कल्याणकारी हो। (इसमें रहकर) गौएँ पुष्ट हों और संतान उत्पन्न करके बढती रहे। गौओका स्वामी स्वय गौआकी सभी व्यवस्था देखे।

मया गावो गोपतिना सचध्वमय वो गोष्ठ इह पोषयिष्णु ।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप व सदेम॥६॥

गौएँ स्वामीके साथ आनन्दसे मिल-जुलकर रह। यह गोशाला अत्यन्त उत्तम है, इसमें रहकर गौएँ पुष्ट हों। अपनी शोभा और पुष्टिको बढाती हुई गौएँ यहाँ वृद्धिको प्राप्त होती रहें। हम सब ऐसी उत्तम गौओंको प्राप्त करेगे और उनका पालन करेंगे।

आध्यात्मिक सूक्त

तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु

[मनुष्यके शरीरमें सभी कुछ महत्त्वका है—हाथकी छोटी-से-छोटी अँगुली भी अपना महत्त्व रखती है परतु मनका महत्त्व सर्वाधिक है। इसमे विलक्षण शक्ति निहित है। मनुष्यके सुख-दु ख तथा बन्धन और मोक्ष मनके ही अधीन हैं। ससारमें कोई ऐसा स्थल नहीं जो मनके लिये अगम्य हो मन सर्वत्र जा सकता है एक पलम जा सकता है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ जहाँ नहीं पहुँच सकतीं जिसे नहीं देख सकतीं मन वहाँ जा सकता है उसे ग्रहण कर सकता है। जिस आत्म-ज्ञानसे शोकसागरको पार कर नित्य निरतिशय सुखका अनुभव किया जा सकता है वह मनके ही अधीन है। मन ही आत्म-साक्षात्कारके लिये नेत्रवत् है। श्रुति भी कहती है—'मनसैवानुद्रष्टव्यम्।' ससारमें हम जो भी उत्कर्ष प्राप्त करते हैं उनकी मुख्य हेतु हैं—हमारी स्वस्थ और सक्षम ज्ञानेन्द्रियाँ। कानासे सुनायी न देता हो आँखासे दिखायी न देता हो तो कोई कितना भी कुशाग्रबुद्धि क्यो न हो कैसे विद्या प्राप्त करेगा? विज्ञान एवं कलाके क्षेत्रमें कैसे और क्या वैशिष्ट्य सम्पादन करेगा? अर्थोपार्जन भी कैसे करेगा? ऐसा व्यक्ति तो ससारमें दन-हीन ही रहेगा। अपनी जीवनयात्राके लिये

भी वह दूसरापर आधारित होकर भारभूत ही होगा। अत इस सत्यसे कोई इनकार नहीं कर सकता कि हमारे उत्कर्षके प्रथम एव महत्त्वपूर्ण साधन हैं—हमारी स्वस्थ और सक्षम ज्ञानेन्द्रियाँ। परतु यह नहीं भूलना चाहिये कि इन्द्रियोंका प्रवर्तक है मन। यदि मन असहयोग कर द तो स्वस्थ तथा सक्षम इन्द्रियाँ भी अपने विषयको ग्रहण करनेमे समर्थ नहीं रह जायँगी। जब इन्द्रियाका प्रवर्तन-निवर्तन मनपर आधारित है और कर्म-सम्पादन इन्द्रियोकी प्रवृत्तिके अधीन है तथा अभ्युदयकी प्राप्ति सम्यक् कर्म-सम्पादनपर आधारित है तब यह अपने-आप स्पष्ट हो जाता है कि हमारा अभ्युदय मनके शुभसकल्पयुक्त होनेपर निर्भर है। इसीलिये मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस शिवसकल्प-सूक्तके माध्यमसे प्रार्थना करते हैं।—]

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
(शुक्लयजु० ३४। १)

मेरा यह मन धर्मविषयक सकल्पवाला (शिवसङ्कल्प) हो मनमें कभी पापभाव न हो, जो जाग्रदवस्थामें देखे-सुने दूर-से-दूर स्थलतक दौड़ लगाता है—(दूरमुदैति) और सुषुप्तावस्थामें पुन अपने स्थानपर लग जाता है। जो ज्योति स्वरूप (देव) आत्माको ग्रहण करनेका एकमात्र साधन होनेसे दैव कहा जाता है। जो भूत भविष्य और वर्तमान तथा विप्रकृष्ट और व्यवहित पदार्थोंको भी ग्रहण करनेमें समर्थ है (दूरङ्गमम्), दूरगामी तथा विषयोंका प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियों —ज्योतियों-का एकमात्र प्रकाशक (ज्योतिरेकं) अर्थात् प्रवर्तक है। यह मेरा मन शुभ सकल्पोंवाला हो।

मनके ही निर्मल उत्साहयुक्त और श्रद्धावान् होनेपर बुद्धिमान् यज्ञ-विधि-विधानज्ञ कर्मपरायणजन यज्ञोंकी सब क्रियाओंको सम्पन्न करते हैं। मेधावी पुरुष बुद्धिके सम्यक् प्रयोगसे वेदादि सच्छास्त्रोंका प्रामाण्य समझ सकते हैं। न्याय और मीमासा आदि दर्शनशास्त्रोंकी प्रक्रियाका गूढ अनुशीलन कर अप्रामाण्यकी सब शकाओंको दूर कर अपने हृदयमें दृढ़तापूर्वक यह निश्चय कर सकते हैं। वेदादि-शास्त्र अपने विषयमें (धर्म और ब्रह्मके विषयमें) निर्विवाद प्रमाण हैं। अङ्गोंसहित वेदोका अध्ययन करके विविध फलोंका सम्पादन करनेवालेनेक विधि-विधान और अनुष्ठानकी सम्पूर्ण प्रक्रियाको भी सीख सकते हैं। परंतु यह सब कुछ होनेपर भी प्रत्यक्ष यज्ञमें प्रवृत्ति तथा आवश्यक क्रियाओंका सम्पादन तभी हो सकता है जब मन निर्मल, श्रद्धोपेत तथा उत्साहयुक्त हो। वैदिक क्रियाओंकी ही भाँति सभी लौकिक कर्म भी मनके ही प्रसन्न रहनेपर ठीक प्रकारसे किये जा सकते हैं। अत हम और किसी भी बातकी उपेक्षा कर दें पर मनको प्रसन्न रखनेके लिये तो हमें विविध प्रकारके उपाय करने ही पड़ेंगे। समग्र क्रियाकलाप मनकी अनुकूलतापर निर्भर हैं। हम एक-आध बार भले ही मनकी उपेक्षा कर दें परतु हम सदा ऐसा नहीं कर सकते। मनको सदा खिन्न रखकर हम अपना जीवन भी नहीं चला सकते। मनको भगवान् स्वयं अपनी 'विभूति' बतलाते हैं—'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' (गीता १०। २२)—'इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ।' अत मन पूज्य है। हमें उसकी पूजा करनी ही पड़ेगी उसका रुख देखना ही पड़ेगा। इसीलिये ऋषि दूसरी ऋचामें प्रार्थना करते हैं—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीरा ।
यदपूर्वं यक्षमन्त प्रजानां तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
(शुक्ल यजु० ३४। २)

जिस मनके स्वस्थ और निर्मल होनेपर मेधावी पुरुष (मनीषिण) यज्ञमें कर्म करते हैं—(कर्माणि कृण्वन्ति), मेधावी जो कर्मपरायण हैं (अपस) तथा यज्ञसम्बन्धी विधि-विधान (विदथेषु)-में बड़े दक्ष (धीरा) हैं तथा जो मन सकल्प-विकल्पोंसे रहित हुआ साक्षात् आत्मरूप ही है। 'यदपूर्वं' इत्यादि श्रुति इन लक्षणोंसे आत्माका ही लक्ष्य कराती है और पूज्य (यक्षम्) है जो प्राणियोंके शरीरके अदर ही स्थित है (अन्त प्रजानाम्) यह मेरा मन शुभसकल्पवाला हो।

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके माध्यमसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञानवस्तु मनके द्वारा ही उत्पन्न होता है। सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकारके ज्ञानोंका जनक मन ही है। क्षुधा और पिपासा इत्यादिकी पीड़ासे मन जब अत्यन्त व्यथित हो जाता है तब बुद्धिमें कुछ भी ज्ञान स्फुरित नहीं हो पाता। ज्ञान ही मनुष्यकी विशेषता है। ज्ञानके ही बलसे यह मर्त्यलोकके अन्य जीवोंसे श्रेष्ठ बना उनका सिरमौर बना। ज्ञानकी ही

वृद्धि करके उसने अतुल सुख और सम्पत्ति प्राप्त की। ज्ञानके ही द्वारा उसने पशुओकी अपेक्षा अपने जीवनको मधुर बनाया। मोक्ष भी आत्मज्ञानसे ही प्राप्त किया जाता है। उस ज्ञानका जनक यह मन ही है।

हमारी जीवनयात्रा निष्कण्टक नहीं। अनेक विघ्न-बाधाएँ इसमें उपस्थित होती हैं। अभ्युदय और उत्कर्षका कोई मार्ग अपनाओ, वह निरापद नहीं होगा। कठिनाइयाँ और क्लेश हमारे सामने आयेंगे ही। यदि हम उन कठिनाइयोंको जीतनेमें समर्थ नहीं ता मार्गपर आगे प्रगति नहीं कर सकते। यदि प्रगति अभीष्ट है तो कठिनाइयासे सघर्ष करके उनपर विजय प्राप्त करना होगा। इसके लिये धैर्य चाहिये। थोडी-थोडी कठिनाइयोमें अधीर हो जानेवाले व्यक्ति तो कोई उद्यम नहीं कर सकते। कार्य उद्यम करनेसे सिद्ध होते हैं मनोरथमात्रसे नहीं। अत सफलतारूप प्रासादका एक मुख्य स्तम्भ धैर्य है। धैर्य मनमे ही अभिव्यक्त होता है अत धैर्यका उत्पादक होनेसे जलको जीवन कहनेकी भाँति मनको ही धैर्यरूप कहा गया है। मनके बिना कोई भी लौकिक-वैदिक कर्म सम्पादित नहीं किया जा सकता। अत तीसरी ऋचासे ऋषि कामना करते हैं—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
(शुक्लयजु० ३४। ३)

जो मन प्रज्ञान अर्थात् विशेषरूपसे ज्ञान उत्पन्न करनेवाला है तथा पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला (चेत) सामान्य ज्ञानजनक है, जो धैर्यरूप है सभी प्राणियाम (प्रजासु) स्थित होकर अन्तर्ज्योति अर्थात् इन्द्रियादिको अथवा आभ्यन्तर पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला है एवं जिसकी सहायता और अनुकूलताके बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, मेरा यह मन शुभसंकल्पवाला हो।

चक्षुरादि इन्द्रियाँ केवल उन पदार्थोंको ग्रहण कर सकती हैं जिनसे उनका साक्षात् सम्बन्ध हो पर मन अप्रत्यक्ष पदार्थोंको भी ग्रहण करनेमें समर्थ है। चतुर्थ ऋचासे ऋषि यही भाव व्यक्त करते हैं—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मन शिवसङ्कल्पमस्तु॥
(शुक्लयजु० ३४। ४)

जिस मनके द्वारा यह सब भलीप्रकार जाना जाता है ग्रहण किया जाता है (परिगृहीतम्), भूत, भविष्यत् और वर्तमानसम्बन्धी सभी बातोका परिज्ञान होता है (भूतं भुवनं भविष्यत्), जो मन शाश्वत है—सकल्प-विकल्पसे रहित हुआ आत्मरूप (अमृतेन) ही है, जिस श्रद्धायुक्त और स्वस्थ मनसे सप्त होताओवाला अग्निष्टोम यज्ञ (अग्निष्टोममें सप्त होता होते हैं) किया जाता है (तायते), मेरा वह मन शुभसकल्पवाला हो।

हमारा जितना भी ज्ञान है, वह सब शब्द-राशिमें ओतप्रोत है। शब्दानुगमसे रहित लोकमे कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। जैसे आत्माकी अभिव्यक्ति शरीरमें होती है वैसे ही ज्ञानकी अभिव्यक्ति शब्दरूप कलेवरमें ही हाती है। वे शब्द मनमें ही प्रतिष्ठित होते हैं। मनके स्वस्थ होनेपर उनकी स्फूर्ति हागी और मनके व्यग्र होनेपर वे स्फुरित नहीं होगे। छान्दोग्योपनिषद्में कहा गया है—'अन्नमय हि सोम्य मन '—'हे सोम्य! मन अन्नमय है।' इस सत्यका अनुभव करानेके लिये शिष्यको कुछ दिनातक भोजन नहीं दिया गया। भोजन न मिलनसे जब वह बहुत कृश हो गया, तब उसे पढे हुए वेदको सुनानके लिये कहा गया। वह बोला कि 'इस समय वह पढा हुआ कुछ भी मनमें स्फुरित नहीं हो रहा है।' अनन्तर उसे भाजन कराया गया। भोजनसे तृप्त होनेपर उसक मनमें वह पढ़ा हुआ वेद स्फुरित हो गया। इस अन्वय और व्यतिरेकसे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञानकी प्रतिष्ठा तथा स्फूर्ति मनमें ही होती है। यदि मन प्रसन्न है तो ज्ञान-सम्पादन और विचार-विमर्श सफल हाग। यदि यह व्यग्र एव अधीर हो रहा है तो काई भी कार्य सफल न होगा। अत मनका निर्मल और प्रसन्न होना सबसे अधिक महत्त्वका है। इसीलिये पाँचवीं ऋचामे ऋषि प्रार्थना करते हैं—

यस्मिन्नृच साम यजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा ।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मन शिवसंकल्पमस्तु॥
(शुक्लयजु० ३४। ५)

जिस मनमें ऋक् यजु और सामरूप वेदत्रयी ठीक उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जैसे रथचक्र-नाभिमें चक्र-अरे जिस मनमें प्राणियोका सार्वविषयक ज्ञान (चित्तम्) पटमें तन्तुकी भाँति ओतप्रोत है मेरा यह मन शुभसंकल्पवाला हो।

बुद्धिमान् जन जानते हैं कि मन ही मनुष्यको सब जगह भटकाता रहता है। यही आग्रह करके उन्हें किसी मार्गमें प्रवृत्त करता है अथवा उससे निवृत्त करता है। नयन और नियमन मनके ही अधीन हैं। यदि मन पवित्र संकल्पवाला होगा तो उत्तम स्थानपर ले जायगा और सत्-प्रवृत्तियोंसे इसका नियमन करेगा। यदि मन पाप-संकल्पोंसे आक्रान्त होगा तो मनुष्यको बुरे मार्गमें लगाकर उसके विनाश और दुर्गतिका कारण बन जायगा। छठी ऋचामें ऋषिने यही बात कहकर मनके पवित्र होनेकी प्रार्थना समाप्त की है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
(शुक्लयजु० ३४। ६)

जैसे कुशल सारथि (सुषारथि) चाबुक हाथमें लेकर (अश्वान्) घोड़ोंको जिधर चाहता है ले जाता है (नेनीयते), वैसे ही जो मन मनुष्योंको (मनुष्यान्) जिधर चाहता है ले जाता है तथा जिस प्रकार सुसारथि बागडोर हाथमें लेकर (अभीशुभि) घोड़ोंको अपने मनचाहे स्थानपर ले जाता है (वाजिनः नेनीयते) वैसे ही जो मन मनुष्योंको ले जाता है जो प्राणियोंके हृदयमें प्रतिष्ठित है (हृत्प्रतिष्ठम्), शरीरके वृद्ध होनेपर भी जो वृद्ध नहीं होता, जो अत्यन्त वेगवान् है (जविष्ठम्) मेरा यह मन शुभसंकल्पवाला हो।

दो दृष्टान्त देकर बतलाया कि 'मन शरीरका नयन और नियमन दोनों करता है। शरीरके शिथिल होनेपर भी मनका वेग कम नहीं होता है। अत्यन्त वेगवान् होनेसे जल्दी वशमें नहीं आता है।' बिगड़ उठे तो बलवान् होनेसे व्यक्तिको बुरी तरह झकझोर देता है। यदि मन शुद्ध और पवित्र बन जाय तो हमारे जीवनकी धारा बदल जायगी और हमारी समस्त शक्तियाँ मङ्गलमय कार्योंमें ही लगेंगी।
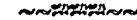
सौमनस्य-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वें मण्डलका यह १९१वाँ सूक्त ऋग्वेदका अन्तिम सूक्त है। इस सूक्तके ऋषि आङ्गिरस पहले मन्त्रके देवता अग्नि तथा शेष तीनों मन्त्रोंके संज्ञान देवता हैं। पहले दूसरे, तथा चौथे मन्त्रोंका छन्द अनुष्टुप् तथा तीसरे मन्त्रका छन्द त्रिष्टुप् है। प्रस्तुत सूक्तमें सबकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले अग्निदेवकी प्रार्थना आपसी मतभेदोंको भुलाकर सुसंगठित होनेके लिये की गयी है। संज्ञानका तात्पर्य समानता तथा मानसिक और बौद्धिक एकता है। समभावकी प्रेरणा देनेवाले इस सूक्तमें सबकी गति, विचार और मन-बुद्धिमें सामञ्जस्यकी प्रेरणा दी गयी है।—]

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ १॥

समस्त सुखोंको प्रदान करनेवाले हे अग्नि! आप सबमें व्यापक अन्तर्यामी ईश्वर हैं। आप यज्ञवेदीपर प्रदीप्त किये जाते हैं। हमें विविध प्रकारके ऐश्वर्योंको प्रदान करें।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ २॥

हे धर्म-विरत विद्वानो! आप परस्पर एक होकर रहें परस्पर मिलकर प्रेमसे वार्तालाप करें। समान मन होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार श्रेष्ठजन एकमत होकर ज्ञानार्जन करते हुए ईश्वरकी उपासना करते हैं उसी प्रकार आप भी एकमत होकर विरोध त्याग करके अपना काम करें।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ३॥

हम सबकी प्रार्थना एक समान हो भेद-भावसे रहित परस्पर मिलकर रहें अन्तःकरण—मन-चित्त-विचार समान हों। मैं सबके हितके लिये समान मन्त्रोंको अभिमन्त्रित करके हवि प्रदान करता हूँ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ४॥

तुम सबके संकल्प एक-समान हों, तुम्हारे हृदय एक-समान हों और मन एक-समान हों जिससे तुम्हारा कार्य परस्पर पूर्णरूपसे संगठित हो।
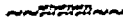
सज्ञान-सूक्त

[यह अथर्ववेदके तीसरे काण्डका तीसवाँ सूक्त है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि अथर्वा तथा देवता चन्द्रमा हैं। यह सूक्त सरस काव्यमय भाषामें सामान्य शिष्टाचार और जीवनके मूल सिद्धान्तोंको निरूपित करता है। सभी लोगोंके बीच समभाव तथा परस्पर सौहार्द उत्पन्न हो यह भावना इसमें व्यक्त की गयी है। समाजके मूल आधार परिवारके सभी सम्बन्धी परस्पर मिल-जुलकर रहें मधुर वाणी बोलें सबके मन एक-समान हों सब एक-दूसरेके प्रति सहानुभूतिपूर्ण हों। ऐसी भावनासे परिपूर्ण प्रेरक इस सूक्तके पाठसे सामाजिक एकता एवं सद्भाव उत्पन्न होता है।—]

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ १॥

आप सबके मध्यमें विद्वेषको हटाकर मैं सहृदयता समनस्कताका प्रचार करता हूँ। जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक-दूसरेसे प्रेम करें।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥ २॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्ति-युक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३॥

भाई-भाई आपसमें द्वेष न करें। बहिन-बहिनके साथ ईर्ष्या न रखें। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदु वाणीका प्रयोग करें।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ ४॥

जिस प्रेमसे देवगण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते और न आपसमें द्वेष करते हैं उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारमें स्थापित करता हूँ। सब पुरुषोंमें परस्पर मेल हो।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ ५॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहो कभी विलग न होओ। एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझको खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनोंसे सदा मिले हुए रहो।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ ६॥

अन्न और जलकी सामग्री समान हो। एक ही बन्धनसे सबको युक्त करता हूँ। अतः उसी प्रकार साथ मिलकर अग्निकी परिचर्या करो जिस प्रकार रथकी नाभिके चारों ओर अर लगे रहते हैं।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥ ७॥

समान गतिवाले आप सबको सममनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान-भावोंके साथ एक अग्रणीका अनुसरण करें। देव जिस प्रकार समान-चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी उत्तम समिति हो।

~~~~~~

नासदीय-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १२९वें सूक्तके १ से ७ तकके मन्त्र 'नासदीय सूक्त'के नामसे सुविदित हैं। इस सूक्तके द्रष्टा ऋषि प्रजापति परमेष्ठी देवता भाववृत्तम् तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस सूक्तमें ऋषिने बताया है कि सृष्टिका निर्माण कब कहाँ और किससे हुआ। यह बड़ा ही रहस्यपूर्ण और देवताओंके लिये भी अगम्य है। सृष्टिके प्रारम्भमें द्वन्द्वात्मकता-विहीन सर्वत्र एक ही तत्त्व व्याप्त था। इसके बाद सलिलने चतुर्दिक् इसे घेर लिया और सृष्टि-निर्माणकी प्रक्रिया हुई। सृष्टिका निर्माण इसी 'मनके रेत' से होता था। सूक्तद्रष्टा ऋषिने अपने हृदयाकाशमें देखा कि सत्‌का सम्बन्ध असत्‌से है। यही सृष्टि निर्माणकी कड़ी सोऽकामयत, तदैक्षत है। इसीके एक अंश 'रेतोधा' और दूसरे अंश 'महिमा' में परस्पर आकर्षण हुआ। इसके बाद स्वाभाविक सृष्टि सुविदित ही है।—]

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ १॥

प्रलयकालमें न सत् था और न असत् था। उस समय न लोक था और आकाशसे दूर जो कुछ है वह भी नहीं था —
~~~~~~

समय सबका आवरण क्या था? कहाँ किसका आश्रय था? अगाध और गम्भीर जल क्या था? अर्थात् यह सब अनिश्चित ही था।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ २॥

उस समय न मृत्यु थी, न अमृत था। सूर्य और चन्द्रके अभावमें रात और दिन भी नहीं थे। वायुसे रहित उस दशामें एक अकेला ब्रह्म ही अपनी शक्तिके साथ अनुप्राणित हो रहा था उससे पर या भिन्न कोई और वस्तु नहीं थी।

तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ ३॥

सृष्टिसे पूर्व प्रलयकालमें अन्धकार व्याप्त था, सब कुछ अन्धकारसे आच्छादित था। अज्ञातावस्थामें यह सब जल ही जल था और जो था वह चारों ओर होनेवाले सत्-असत्-भावमें आच्छादित था। सब अविद्यासे आच्छादित तमसे एकाकार था और वह एक ब्रह्म तपके प्रभावसे हुआ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ४॥

सृष्टिके पहले ईश्वरके मनमें सृष्टिकी रचनाका संकल्प हुआ इच्छा पैदा हुई क्योंकि पुरानी कर्मराशिका संचय जो बीजरूपमें था, सृष्टिका उपादान कारणभूत हुआ। वह बीजरूपी सत्पदार्थ ब्रह्मरूपी असत्से पैदा हुआ।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ ५॥

सूर्यकी किरणोंके समान सृष्टि-बीजको धारण करनेवाले पुरुष (भोक्ता) हुए और भोग्य-वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। इन भोक्ता और भोग्यकी किरण ऊपर-नीचे, आड़ी-तिरछी फैलीं। इनमें चारों तरफ भोग्यशक्ति निकृष्ट थी और भोक्तृशक्ति उत्कृष्ट थी।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव॥ ६॥

यह सृष्टि किस विधिसे और किस उपादानसे प्रकट हुई? यह कौन जानता है? कौन बताये? किसकी दृष्टि वहाँ पहुँच सकती है? क्योंकि सभी इस सृष्टिके बाद ही उत्पन्न हुए हैं इसलिये यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुई? यह कौन जानता है?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ ७॥

इस सृष्टिका अतिशय विस्तार जिससे पैदा हुआ, वह इसे धारण किये है, रखे है या बिना किसी आधारके ही है। हे विद्वन्! यह सब कुछ वही जानता है जो परम आकाशमें रहनेवाला इस सृष्टिका नियन्ता है या शायद परमाकाशमें स्थित वह भी नहीं जानता?

~~~~

हिरण्यगर्भ-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १२१वें सूक्तको 'हिरण्यगर्भ सूक्त' कहते हैं। इसके ऋषि प्रजापतिपुत्र हिरण्यगर्भ देवता 'क' शब्दाभिधेय प्रजापति एवं छन्द त्रिष्टुप् है। ऋग्वेदमें विभिन्न देवताओंके नामोंके अन्तर्गत जो एकात्मभावना व्याप्त है उसीको दार्शनिक शब्दोंमें सृष्टि-उत्पत्तिके प्रसंगमें यह सूक्त व्यक्त करता है। हिरण्यको अग्निका रेत कहते हैं। हिरण्यगर्भ अर्थात् सुवर्णगर्भ सृष्टिके आदिमें स्वयं प्रकट होनेवाला बृहदाकार-अण्डाकार तत्त्व है। यह सृष्टिका आदि अग्नितत्त्व माना गया है। महासलिलमें प्रकट हुए हिरण्यगर्भकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—१-अप् (सलिल)-में ऊर्मियोंके उत्पन्न होनेसे समीपण हुआ। २-आगे बढ़नेकी क्रिया (प्रसर्पन) हुई। ३-उसने तैरते हुए धारों और बढ़ने (परिप्लवन)-की क्रिया की। इसके बाद हिरण्यगर्भ दो भागोंमें विभक्त होकर पृथ्वी और द्युलोक बना—

संवत्सरो हि प्रजापतिरजायत। स इदं हिरण्मयमाण्डं व्यसृजत्।

अतः यह हिरण्यगर्भ ही सृष्टिका मूल है। मन्त्रद्रष्टा ऋषिने सृष्टिके आदिमें स्थित इसी हिरण्यगर्भके प्रति जिज्ञासा प्रकट की है—जो सृष्टिके पहले विद्यमान था।—]

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥

सूर्यके समान तेज जिनके भीतर है ये परमात्मा सृष्टिकी उत्पत्तिमें पहले वर्तमान थे और ये ही परमात्मा उत्पन्नके
~~~~

एकमात्र स्वामी हैं। वे ही परमात्मा जो इस भूमि और द्युलोकके धारणकर्ता हैं, उन्हीं ईश्वरके लिये हम हविका समर्पण करते हैं।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिष यस्य देवा ।
यस्य छायामृत यस्य मृत्यु कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २॥

जिन परमात्माकी महान् सामर्थ्यसे ये बर्फसे ढके पर्वत बने हैं, जिनकी शक्तिसे ये विशाल समुद्र निर्मित हुए हैं और जिनकी सामर्थ्यसे बाहुओंके समान ये दिशाएँ-उपदिशाएँ फैली हुई हैं, उन सुखस्वरूप प्रजाके पालनकर्ता दिव्यगुणोंसे सबल परमात्माके लिये हम हवि समर्पण करते हैं।

य प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

जो परमात्मा अपनी महान् सामर्थ्यसे जगत्‌के समस्त प्राणियों एवं चराचर जगत्‌के एकमात्र स्वामी हुए तथा जो इन दो पैरवाले मनुष्य पक्षी और चार पैरवाले जानवरोंके भी स्वामी हैं उन आनन्द-स्वरूप परमेश्वरके लिये हम भक्तिपूर्वक हवि अर्पित करते हैं।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहु ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

जो परमात्मा आत्मशक्ति और शारीरिक बलके प्रदाता हैं, जिनकी उत्तम शिक्षाओंका देवगण पालन करते हैं जिनके आश्रयसे मोक्षसुख प्राप्त होता है तथा जिसकी भक्ति और आश्रय न करना मृत्युके समान है, उन देवको हम हवि अर्पित करते हैं।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्व स्तभितं येन नाक । ,
यो अन्तरिक्षे रजसो विमान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५॥

जिन्होंने द्युलोकको तेजस्वी तथा पृथ्वीको कठोर बनाया, जिन्होंने प्रकाशको स्थिर किया जिन्होंने सुख और आनन्दको प्रदान किया जो अन्तरिक्षमें लोकोंका निर्माण करते हैं उन आनन्दस्वरूप परमात्माके लिये हम हवि अर्पित करते हैं। उनके स्थानपर अन्य किसीकी पूजा करने योग्य नहीं है।

य क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेता मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ६॥

बलसे स्थिर होते हुए परतु वास्तवमें चलायमान गतिमान्, काँपनेवाले अथवा तेजस्वी, द्युलोक और पृथ्वीलोक मननशक्तिसे जिनको देखते हैं और जिनमें उदित होता हुआ सूर्य विशेषरूपसे प्रकाशित होता है, उन आनन्दमय परमात्माके लिये हम हवि अर्पित करते हैं।

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवाना समवर्ततासुरेक कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ७॥

निश्चय ही गर्भको धारण करके अग्निको प्रकट करता हुआ अपार जलसमूह जब ससारमे प्रकट हुआ तब उस गर्भसे देवताओंका एक प्राणरूप आत्मा प्रकट हुआ। उस जलसे उत्पन्न देवके लिये हम हवि समर्पित करते हैं।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ८॥

जिन परमात्माने सृष्टि-जलका सृजन किया और जिनके द्वारा ही जलमे सर्जन शक्ति पैदा हुई तथा सृष्टिरूपी यज्ञ उत्पन्न हुआ अर्थात् यह यज्ञमय सृष्टि उत्पन्न हुई, उन्हीं एकमात्र सर्वनियन्ताको हम हविद्वारा अपनी अर्चना अर्पित करते हैं।

मा नो हिंसीज्जनिता य पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ९॥

इस पृथ्वी और नभको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर हमें दु ख न दें। जिन परमात्माने आह्लादकारी जलको उत्पन्न किया उन्हीं देवको हम हविद्वारा अपनी पूजा समर्पित करते हैं।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ १०॥

हे प्रजाके पालनकर्ता! आप सभी प्राणियोंमें व्याप्त हैं। दूसरा कोई इनमें व्याप्त नहीं है। अन्य किसीसे अपनी कामनाओंके लिये प्रार्थना करना उपयुक्त नहीं है। जिस कामनासे हम आहुति प्रदान कर रहे हैं वह पूरी हो और हम (दान-निमित्त) प्राप्त धनके स्वामी हो जायँ।

ऋत-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वें मण्डलका १९०वाँ सूक्त 'ऋत-सूक्त' है। इसके ऋषि माधुच्छन्द अघमर्षण, देवता भाववृत तथा छन्द अनुष्टुप् है। यह सूक्त सृष्टि-विषयक है। ऋषिने परमपिता परमेश्वरकी स्तुति करते हुए कहा है कि महान् तपसे सर्वप्रथम ऋत और सत्य प्रकट हुए। परम ब्रह्मकी महिमासे क्रमशः प्रलयरूपी रात्रि समुद्र, संवत्सर, दिन-रात सूर्य चन्द्रमा द्युलोक और पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई। इस सूक्तका प्रयोग नित्य सन्ध्या करते समय किया जाता है।—]

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

परमात्माकी उग्र तपस्यासे (सर्वप्रथम) ऋत और सत्य पैदा हुए। इसके बाद प्रलयरूपी रात्रि और जलसे परिपूर्ण महासमुद्र उत्पन्न हुआ। जलसे भरे समुद्रकी उत्पत्तिके बाद परमपिताने संवत्सरका निर्माण किया फिर निमेषोन्मेषमात्रमें ही जगत्को वशमें करनेवाले परमपिताने दिन और रात बनाया। इसके बाद सबको धारण करनेवाले परमात्माने सूर्य, चन्द्रमा द्युलोक पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष और सुखमय स्वर्ग तथा भूतल एवं आकाशका पहलेके ही समान सृजन किया।

~~~

श्रद्धा-सूक्त

[ऋग्वेदके दशम मण्डलके १५१वें सूक्तको 'श्रद्धा-सूक्त' कहते हैं। इसकी ऋषिका श्रद्धा कामायनी देवता श्रद्धा तथा छन्द अनुष्टुप् है। प्रस्तुत सूक्तमें श्रद्धाकी महिमा वर्णित है। अग्नि इन्द्र, वरुण-जैसे बड़े देवताओं तथा अन्य छोटे देवोंमें भेद नहीं है—यह इस सूक्तमें बतलाया गया है। सभी यज्ञ-कर्म पूजा पाठ आदिमें श्रद्धाकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। ऋषिने इस सूक्तमें श्रद्धाका आवाहन देवीके रूपमें करते हुए कहा है कि 'वह हमारे हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न करें'।—]

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥

श्रद्धासे ही अग्निहोत्रकी अग्नि प्रदीप्त होती है। श्रद्धासे ही हविकी आहुति यज्ञमें दी जाती है। धन-ऐश्वर्यमें सर्वोपरि श्रद्धाकी हम स्तुति करते हैं।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥ २ ॥

हे श्रद्धे! दाताके लिये हितकर अभीष्ट फलको दो। हे श्रद्धे! दान देनेकी जो इच्छा करता है उसका भी प्रिय करो। भोगैश्वर्य प्राप्त करनेके इच्छुकोंके भी प्रार्थित फलको प्रदान करो।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ ३ ॥

जिस प्रकार देवोंने असुरोंको परास्त करनेके लिये यह निश्चय किया कि 'इन असुरोंको नष्ट करना ही चाहिये', उसी प्रकार हमारे श्रद्धालु ये जो याज्ञिक एवं भोगार्थी हैं, इनके लिये भी इच्छित भोगोंको प्रदान करो।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥

बलवान् वायुसे रक्षण प्राप्त करके देव और मनुष्य श्रद्धाकी उपासना करते हैं वे अन्तःकरणमें संकल्पसे ही श्रद्धाकी उपासना करते हैं। श्रद्धासे धन प्राप्त होता है।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ५ ॥

हम प्रातःकालमें श्रद्धाकी प्रार्थना करते हैं। मध्याह्नमें श्रद्धाकी उपासना करते हैं। हे श्रद्धा देवि! इस संसारमें हमें श्रद्धावान् बनाइये।

~~~

लोकोपयोगी-कल्याणकारी सूक्त

दीर्घायुष्य-सूक्त

[अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखाका यह 'दीर्घायुष्य-सूक्त' प्राणिमात्रके लिये समान रूपसे दीर्घायु-प्रदायक है। इसमें मन्त्रद्रष्टा ऋषि पिप्पलादने देवों ऋषियों गन्धर्वों लोकों दिशाओं, ओषधियों तथा नदी समुद्र आदिसे दीर्घ आयुकी कामना की है—]

सं मा सिञ्चन्तु मरुत सं पूषा स बृहस्पति ।
सं मायमग्नि सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ १॥

मरुद्गण पूषा बृहस्पति तथा यह अग्नि मुझे प्रजा एव धनसे सींचें तथा मेरी आयुकी वृद्धि करें।

सं मा सिञ्चन्त्वादित्या सं मा सिञ्चन्त्वग्नय ।
इन्द्र समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ २॥

आदित्य, अग्नि, इन्द्र मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्त्वरुप समर्का ऋषयश्च ये।
पूषा समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ३॥

अग्निकी ज्वालाएँ, प्राण, ऋषिगण और पूषा मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्तु गन्धर्वाप्सरस सं मा सिञ्चन्तु देवता ।
भग समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ४॥

गन्धर्व एव अप्सराएँ, देवता और भग मुझे प्रजा तथा धनसे सींचें और मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चतु पृथिवी सं मा सिञ्चन्तु या दिव ।
अन्तरिक्षं समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ५॥

पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्ष मुझे प्रजा एव धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्तु प्रदिश सं मा सिञ्चन्तु या दिश ।
आशा समस्मान् सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ६॥

दिशा-प्रदिशाएँ एव ऊपर-नीचेके प्रदेश मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्तु कृषय सं मा सिञ्चन्त्वोषधी ।
सोम समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ७॥

कृषिसे उत्पन्न धान्य ओषधियाँ और सोम मुझे प्रजा एव धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्तु नद्य सं मा सिञ्चन्तु सिन्धव ।
समुद्र समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ८॥

नदी, सिन्धु (नद) और समुद्र मुझे प्रजा एवं धनसे सींचें मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्त्वाप सं मा सिञ्चन्तु कृष्टय ।
सत्यं समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायु कृणोतु मे॥ ९॥

जल कृष्ट ओषधियाँ तथा सत्य हम सबको प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

~~~

धनान्नदान-सूक्त

[ऋग्वेदके दशम मण्डलका ११७वाँ सूक्त जो कि 'धनान्नदान-सूक्त'के नामसे प्रसिद्ध है दानकी महत्ता प्रतिपादित करनेवाला एक भव्य सूक्त है। इसके मन्त्र उपदेशपरक एवं नैतिक शिक्षासे युक्त हैं। सूक्तसे यही तथ्य प्राप्त होता है कि लोकमें दान तथा दानीकी अपार महिमा है। धनीके धनकी सार्थकता उसकी कृपणतामें नहीं वरन् दानशीलतामें मानी गयी है। इस सूक्तके मन्त्रद्रष्टा ऋषि 'भिक्षुर्आङ्गिरस' हैं। पहली और दूसरी ऋचाओंमें जगती छन्द एवं अन्तमें त्रिष्टुप् छन्द है।—]

न वा उ देवा क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यव ।
उतो रयि पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते॥ १॥

देवोंने भूख देकर प्राणियोंका (लगभग) वध कर डाला। जो अन्न देकर भूखकी ज्वाला शान्त करे, वही दाता है। भूखेको न देकर जो स्वयं भोजन करता है, एक दिन मृत्यु उसके प्राणोंको हर ले जाता है। दानशीलका धन कभी नहीं घटता, उसे ईश्वर देता है। न देनेवाले कृपणको किसीसे सुख प्राप्त नहीं होता।
~~~

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते॥ २॥

अन्नकी इच्छासे द्वारपर आकर हाथ फैलाये विकल व्यक्तिके प्रति जो अपना मन कठोर बना लेता है और अन्न होते हुए भी देनेके लिये हाथ नहीं बढ़ाता तथा उसके सामने ही उसे तरसाकर खाता है, उस महाक्रूरको कभी सुख प्राप्त नहीं होता।

स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ ३॥

घर आकर माँग रहे अति दुर्बल शरीरके याचकको जो भोजन देता है उस यज्ञका पूर्ण फल प्राप्त होता है तथा वह अपने शत्रुओंको भी मित्र बना लेता है।

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ ४॥

मित्र अपने अङ्गके समान होता है। जो अपने मित्रको माँगनेपर भी नहीं देता, वह उसका मित्र नहीं है। उसे छोड़कर दूर चले जाना चाहिये। वह उसका घर नहीं है। किसी अन्य देनेवालेकी शरण लेनी चाहिये।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥ ५॥

जो याचकको अन्नादिका दान करता है वही धनी है। उसे कल्याणका शुभ मार्ग प्रशस्त दिखायी देता है। वैभव-विलास रथके चक्रकी भाँति आते-जाते रहते हैं। किसी समय एकके पास सम्पदा रहती है तो कभी दूसरेके पास रहती है।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ६॥

जिसका मन उदार न हो वह व्यर्थ ही अन्न पैदा करता है। संचय ही उसकी मृत्युका कारण बनता है। जो न तो देवोंको और न ही मित्रोंको तृप्त करता है वह वास्तवमें पापका ही भक्षण करता है।

कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥ ७॥

हलका उपकारी फाल खेतको जोतकर किसानको अन्न देता है। गमनशील व्यक्ति अपने पैरके चिह्नोंसे मार्गका निर्माण करता है। बोलता हुआ ब्राह्मण न बोलनेवालोंसे श्रेष्ठ होता है।

एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः॥ ८॥

एकांशका धनिक दो अंशके धनीके पीछे चलता है। दो अंशवाला भी तीन अंशवालेके पीछे छूट जाता है। चार अंशवाला पंक्तिमें सबसे आगे चलता हुआ सबको अपनेसे पीछे देखता है। अतः वैभवका मिथ्या-अभिमान न करके दान करना चाहिये।

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः॥ ९॥

दोनों हाथ एक समान होते हुए भी समान कार्य नहीं करते। दो गायें समान होकर भी समान दूध नहीं देतीं। दो जुड़वाँ संतान समान होकर भी पराक्रममें समान नहीं होतीं। उसी प्रकार एक कुलमें उत्पन्न दो व्यक्ति समान होकर भी दान करनेमें समान नहीं होते।
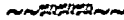
~~~~

कृषि-सूक्त

[अथर्ववेदके तीसरे काण्डका १७वाँ सूक्त 'कृषि-सूक्त' है। इस सूक्तके ऋषि विश्वामित्र तथा देवता 'सीता' हैं। इसमें मन्त्रद्रष्टा ऋषिने कृषिको सौभाग्य बढ़ानेवाला बताया है। कृषि एक उत्तम उद्योग है। कृषिसे ही मानव जातिका कल्याण होता है। प्राणिरक्षक अन्नकी उत्पत्ति कृषिसे ही होती है। ऋतुकी अनुकूलता, भूमिकी अवस्था तथा कठोर श्रम कृषि-कार्यके लिये आवश्यक है। हलसे जोती गयी भूमिको ('इन्द्रः सीतां निगृह्णातु') वृष्टिके देव इन्द्र उत्तम वर्षासे सींचें तथा सूर्य अपनी उत्तम किरणोंसे उसकी रक्षा करें—यही कामना ऋषिने की है।—]

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ १॥

देवोंमें विश्वास करनेवाले विद्वान् विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये (भूमिको) हलोंसे जोतते हैं और (बैलोंके कन्धोंपर रखे जानेवाले) जुओंको अलग करके रखते हैं।

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन्॥ २॥

जुओंको फैलाकर हलोंसे जोतो और (भूमिको)
~~~~

जोतो। अच्छी प्रकार भूमि तैयार करके उसमें बीज बोओ। इससे अन्नकी उपज होगी, खूब धान्य पैदा होगा और पकनेके बाद (अन्न) प्राप्त होगा।

लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु।
उदिद्वपतु गामविं प्रस्थावद्रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम्॥ ३॥

हलमें लोहेका कठोर फाल लगा हो पकड़नेके लिये लकड़ीकी मूठ हो, ताकि हल चलाते समय आराम रहे। यह हल ही गौ-बैल, भेड़-बकरी, घोड़ा-घोड़ी स्त्री-पुरुष आदिको उत्तम घास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है।

इन्द्र सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु।
सा न पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ ४॥

इन्द्र वर्षाके द्वारा हलसे जोती गयी भूमिको सींचें और धान्यके पोषक सूर्य उसकी रक्षा करें। यह भूमि हमें प्रतिवर्ष उत्तम रससे युक्त धान्य देती रहे।

शुनं सुफाला वितुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधी कर्तमस्मै॥ ५॥

हलके सुन्दर फाल भूमिकी खुदाई करें, किसान बैलोंके पीछे चलें। हमारे हवनसे प्रसन्न हुए वायु एवं सूर्य इस कृषिसे उत्तम फलवाली रसयुक्त ओषधियाँ देवें।

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥ ६॥

बैल सुखसे रहें, सब मनुष्य आनन्दित हों, उत्तम हल चलाकर आनन्दसे कृषि की जाय। रस्सियाँ जहाँ जैसी बाँधनी चाहिये, वैसी बाँधी जाय और आवश्यकता होनेपर चाबुक ऊपर उठाया जाय।

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम्॥ ७॥

वायु और सूर्य मेरे हवनको स्वीकार करें और जो जल आकाशमण्डलमें है, उसकी वृष्टिसे इस पृथिवीको सिंचित करें।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः॥ ८॥

भूमि भाग्य देनेवाली है इसलिये हम इसका आदर करते हैं। यह भूमि हमें उत्तम धान्य देती रहे।

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना॥ ९॥

जब भूमि घी और शहदसे योग्य रीतिसे सिंचित होती है और जलवायु आदि देवोंकी अनुकूलता उसको मिलती है तब वह हमें उत्तम मधुर रसयुक्त धान्य और फल देती रहे।

~~~~~

गृह-महिमा-सूक्त

[अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखामें वर्णित इस 'गृह-महिमा-सूक्त'की अतिशय महत्ता एवं लोकोपयोगिता है। इसमें मन्त्रद्रष्टा ऋषिने गृहमें निवास करनेवालोंके लिये सुख ऐश्वर्य तथा समृद्धिसम्पन्नताकी कामना की है—]

गृहानैमि मनसा मोदमान ऊर्जं बिभ्रद् वः सुमतिः सुमेधाः।
अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण गृहाणां पश्यन्पय उत्तरामि॥ १॥

ऊर्ज (शक्ति)-को पुष्ट करता हुआ, मतिमान् और मेधावी मैं मुदित मनसे गृहमें आता हूँ। कल्याणकारी तथा मैत्रीभावसे सम्पन्न चक्षुसे इन गृहोंको देखता हुआ इनमें जो रस है, उसका ग्रहण करता हूँ।

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामस्य तिष्ठन्तस्ते नो जानन्तु जानतः॥ २॥

ये घर सुखके देनेवाले हैं धान्यसे भरपूर हैं, घी-दूधसे सम्पन्न हैं। सब प्रकारके सौन्दर्यसे युक्त ये घर हमारे साथ घनिष्ठता प्राप्त करें और हम इन्हें अच्छी तरह समझें।

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अक्षुध्या अतृष्यासो गृहा मास्मद् बिभीतन॥ ३॥

जिन घरोंमें रहनेवाले परस्पर मधुर और शिष्ट सम्भाषण करते हैं जिनमें सब तरहका सौभाग्य निवास करता है जो प्रीतिभाजोंसे संयुक्त हैं जिनमें सब हँसी-खुशीसे रहते हैं जहाँ कोई न भूखा है न प्यासा है उन घरोंमें यहाँसे भयका सञ्चार न हो।

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः॥ ४॥

प्रवासमें रहते हुए हमें जिनका बराबर ध्यान आया करता है जिनमें सहृदयताकी खान है उन घरोंका हम आवाहन करते हैं वे बाहरसे आये हुए हमको जानें।

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः॥ ५॥
~~~~~

हमारे इन घरोंमें दुधारू गौएँ हैं, इनमें भेड़, बकरी आदि पशु भी प्रचुर संख्यामें हैं। अन्नको अमृत-तुल्य स्वादिष्ट बनानेवाले रस भी यहाँ हैं।

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसन्मुदः ।
अरिष्टाः सर्वपूरुषा गृहा नः सन्तु सर्वदा ॥ ६ ॥

बहुत धनवाले मित्र इन घरोंमें आते हैं, हँसी-खुशीके साथ हमारे साथ स्वादिष्ट भोजनोंमें सम्मिलित होते हैं। हे हमारे गृहो! तुममें बसनेवाले सब प्राणी सदा अरिष्ट अर्थात् रोगरहित और अक्षीण रहें, किसी प्रकार उनका ह्रास न हो ॥ ६ ॥

~~~~

रोगनिवारण-सूक्त

[अथर्ववेदके चतुर्थ काण्डका १३वाँ सूक्त तथा ऋग्वेदके दशम मण्डलका १३७वाँ सूक्त 'रोगनिवारण-सूक्त'के नामसे प्रसिद्ध है। अथर्ववेदमें अनुष्टुप् छन्दके इस सूक्तके ऋषि शंताति तथा देवता चन्द्रमा एवं विश्वेदेवा हैं। जबकि ऋग्वेदमें प्रथम मन्त्रके ऋषि भरद्वाज, द्वितीयके कश्यप, तृतीयके गौतम, चतुर्थके अत्रि, पञ्चमके विश्वामित्र, षष्ठके जमदग्नि तथा सप्तम मन्त्रके ऋषि वसिष्ठजी हैं और देवता विश्वेदेवा हैं। इस सूक्तके जप-पाठसे रोगोंसे मुक्ति अर्थात् आरोग्यता प्राप्त होती है। ऋषिने रोगमुक्तिके लिये ही देवोंसे प्रार्थना की है—]

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥

हे देवो! हे देवो! आप नीचे गिरे हुएको फिर निश्चयपूर्वक ऊपर उठाओ। हे देवो! हे देवो! और पाप करनेवालेको भी फिर जीवित करो, जीवित करो।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद्रपः ॥ २ ॥

ये दो वायु हैं। समुद्रसे आनेवाला वायु एक है और दूर भूमिपरसे आनेवाला दूसरा वायु है। इनमेंसे एक वायु तेरे पास बल ले आवे और दूसरा वायु जो दोष है, उसे दूर करे।

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः ।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

हे वायु! ओषधि यहाँ ले आ। हे वायु! जो दोष है वह दूर कर। हे सम्पूर्ण ओषधियोंको साथ रखनेवाले वायु! निःसंदेह तू देवोंका दूत-जैसा होकर चलता है, जाता है, बहता है।

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः ।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥

हे देवो! इस रोगीकी रक्षा करो। हे मरुतोंके समूहो! रक्षा करो। सब प्राणी रक्षा करें। जिससे यह रोगी रोग-दोषरहित होवे।

आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ५ ॥

आपके पास शान्ति फैलानेवाले तथा अविनाशी करनेवाले साधनोंके साथ आया हूँ। तेरे लिये प्रचण्ड बल भर देता हूँ। तेरे रोगको दूर कर भगा देता हूँ।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः* ॥ ६ ॥

मेरा यह हाथ भाग्यवान् है। मेरा यह हाथ अधिक भाग्यशाली है। मेरा यह हाथ सब औषधियोंसे युक्त है और यह मेरा हाथ शुभ-स्पर्श देनेवाला है।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥

दस शाखावाले दोनों हाथोंके साथ वाणीको आगे प्रेरणा करनेवाली मेरी जीभ है। उन नीरोग करनेवाले दोनों हाथोंसे तुझे हम स्पर्श करते हैं।

~~~~

* ऋग्वेदमें 'अयं मे हस्तो०' के स्थानपर यह दूसरा मन्त्र उपलब्ध है—

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः । आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥

जल ही निःसंदेह औषधि है। जल रोग दूर करनेवाला है। जल सब रोगोंकी औषधि है। यह जल तेरे लिये औषधि बनावे।

वैदिक सूक्तोंकी महत्ताके प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण निबन्ध

'नासदीय' सूक्त—भारतीय प्रज्ञाका अनन्य अवदान

(डॉ० श्रीरामकृष्णजी सराफ)

भारतीय संस्कृतिमें वेदोंका अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। वेद भारतीय वाङ्मयकी अमूल्य निधि हैं। वे मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके प्रातिभ ज्ञानकी अन्यतम उपलब्धि हैं। हमारे ऋषियोंकी अनन्त ज्ञानराशिका दुर्लभ संचय हैं। भारतीय मनीषाके अक्षय भण्डार हैं। वेद केवल भारतके ही नहीं—विश्वके—निखिल मानव-जातिके प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। प्राचीनकालमें हमारे ऋषियोंने अपने गम्भीर चिन्तन-मननद्वारा जो ज्ञान अर्जित किया वह हमें वेदोंमें उपलब्ध होता है।

चारों वेदोंमें ऋग्वेदका स्थान प्रमुख है। ऋग्वेदके वर्णित सूक्तोंमें इन्द्र, विष्णु, रुद्र उषा पर्जन्य प्रभृति देवताओंकी अत्यन्त सुन्दर एवं भावाभिव्यञ्जक प्रार्थनाएँ हैं। वैदिक देवताओंकी स्तुतियोंके साथ ऋग्वेदमें लौकिक एवं धार्मिक विषयोंसे सम्बद्ध तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण अनेक सूक्त हैं। इनमें आध्यात्मिक सूक्त दिव्यज्ञानसे ओतप्रोत हैं। इन्हें दार्शनिक सूक्तके रूपमें भी जाना जाता है। ऋग्वेदके दार्शनिक सूक्तोंमें पुरुषसूक्त (ऋक्० १०।९०) हिरण्यगर्भसूक्त (ऋक्० १०।१२१), वाक्सूक्त (ऋक्० १०।१२५) तथा नासदीयसूक्त (ऋक्० १०।१२९) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेदके ये सूक्त अपनी दार्शनिक गम्भीरता एवं प्रातिभ अनुभूतिके कारण विशेष महिमा-मण्डित हैं। सूक्तोंमें ऋषियोंकी ज्ञान गम्भीरता तथा सर्वथा अभिनव कल्पना परिलक्षित होती है। समस्त दार्शनिक सूक्तोंके बीच नासदीय-सूक्तका अपना विशेष महत्त्व है। प्राञ्जलभावोंसे परिपूर्ण यह सूक्त ऋषिकी आध्यात्मिक चिन्तन-धाराका परिचायक है।

नासदीय-सूक्तमें सृष्टिके मूलतत्त्व गूढ रहस्यका वर्णन किया गया है। सृष्टि-रचना-जैसा महान् गम्भीर विषय ऋषिके चिन्तनमें किस प्रकार प्रस्फुटित होता है यह नासदीय-सूक्तमें देखनेको मिलता है। गहन भावाकाशमें ऋषिकी मेधा किस प्रकार अबाध विचरण करती है यह नासदीय-सूक्तमें उत्तम प्रकारसे प्रदर्शित हुआ है। सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अत्यन्त सूक्ष्मतासे विचार किया गया है। इसीलिये यह सूक्त 'सृष्टिसूक्त' अथवा 'सृष्ट्युत्पत्तिसूक्त'-के नामसे भी जाना जाता है।

नासदीय-सूक्तमें कुल सात मन्त्र हैं। सूक्तमें ऋषि सर्वप्रथम कहते हैं कि सृष्टिके पूर्व प्रलयावस्थामें न तो (नामरूपविहीन) असत् था और न उस अवस्थामें (नामरूपात्मक) सत् ही अस्तित्वमें था। उस समय न तो अन्तरिक्ष था। न कोई लोक था और न व्योम था। न कोई आवरक तत्त्व था अथवा न भोक्ता-भोग्यकी सत्ता थी। उस समय जल-तत्त्वका भी अस्तित्व नहीं था।

उस अवस्थामें न तो मृत्यु थी और न अमरत्व था। न निशा थी और न दिवस था। सृष्टिका अभिव्यञ्जक कोई भी चिह्न उस समय नहीं था। केवल एक तत्त्व था जो बिना वायुके भी अपनी ऊर्जासे श्वास ले रहा था और बस उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

(ऋक्० १०।१२९।२)

सृष्टिसे पूर्व प्रलयावस्थामें तम ही तमसे आच्छन्न था अर्थात् सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। उस अवस्थामें नामरूपादि विशेषताओंसे परे कोई एक दुर्ज्ञेय तत्त्व था जो सृष्टि सर्जनाके संकल्पकी महिमासे स्वयं आविर्भूत हुआ। सृष्टिसे पूर्वकी अवस्थामें उस एकाकीके मनमें सृजनका भाव उत्पन्न हुआ। उसीकी परिणति सृष्टिके जड-चेतनरूप असंख्य आकारोंमें हुई। यही सृष्टि-तन्तुका प्रसार था। सृष्टिका विस्तार था।

ऋषि कहते हैं कि सृष्टिके पूर्व प्रलयावस्थामें जब नाम-रूपात्मक सत्ता ही नहीं थी तब यथार्थरूपमें कौन जानता है कि विविधस्वरूपा यह सृष्टि कहाँसे और किससे उत्पन्न हुई? देवता इस रहस्यको नहीं बतला सकते क्योंकि देवता भी तो सृष्टि-रचनाके अनन्तर ही अस्तित्वमें आये थे।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

(ऋक्० १०।१२९।७)

'गिरिसरित्समुद्रादियुक्त विविधरूपा यह सृष्टि उत्पन्न हुई जिन परमात्मासे उत्पन्न हुई वे इसे धारण करते हैं (अथवा नहीं) अन्यथा कौन इसे धारण करनेमें समर्थ है? अर्थात् परमात्माके अतिरिक्त इस सृष्टिको धारण करनेमें कोई समर्थ

नहीं है। इस सृष्टिके अधिष्ठाता जो परम उत्कृष्ट आकाशवद् निर्मल स्वप्रकाशमें अवस्थित हैं, वे ही इस सृष्टि-रहस्यको जानते हैं (अथवा नहीं जानते हैं) अन्यथा कौन दूसरा इसे जाननेमें समर्थ है। अर्थात् वे सर्वज्ञ ही इस गूढ सृष्टि-रहस्यको जानते हैं उनके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जानता।'

नासदीयके तीन भाग हैं—

प्रथम भागमें सृष्टिके पूर्वकी स्थितिका वर्णन है। उस अवस्थामें सत्-असत्, मृत्यु-अमरत्व अथवा रात्रि-दिवस कुछ भी नहीं था। न अन्तरिक्ष था न आकाश था, न कोई लोक था, न जल था। न कोई भाग्य था, न भोक्ता था। सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। उस समय तो बस केवल एक तत्त्वका ही अस्तित्व था जो वायुके बिना भी श्वास ले रहा था।

द्वितीय भागमें कहा गया है कि जो नाम-रूपादि-विहीन एकमात्र सत्ता थी उसीकी महिमासे संसाररूपी कार्य-प्रपञ्च प्रादुर्भूत हुआ। इस परम सत्तामें सिसृक्षाभाव उत्पन्न हुआ और तब चर-अचररूप निखिल सृष्टिने आकार ग्रहण किया।

तृतीय भागमें सृष्टिकी दुर्ज्ञेयताका निरूपण किया गया है। समस्त ब्रह्माण्डमें ऐसा कोई भी नहीं है जो यह कह सके कि यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई? सामर्थ्यवान् देवता भी नहीं कह सकते क्योंकि वे भी तो सृष्टि-रचनाके बाद ही अस्तित्वमें आये थे। संसार सृष्टिके परम गूढ रहस्यको यदि कोई जानते हैं तो केवल वे जो इस समस्त सृष्टिके अध्यक्ष हैं, अधिष्ठाता हैं। उनके अतिरिक्त इस गूढ तत्त्वको कोई नहीं जानता।

नासदीय-सूक्तमें ऋषिने सृष्टि-सर्जनाके गुह्यतम रहस्यको निरूपित किया है। हमारे लिये यह परम गौरवका विषय है कि दर्शनके इस अतिशय गूढ सिद्धान्तका विवेचन सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य वसिष्ठ जनक, व्यास शंकराचार्य प्रभृति दार्शनिक महाविभूतियोंकी प्रादुर्भाव-भूमि भारतवर्षमें हुआ। ऋग्वेदके नासदीय-सूक्तकी गणना विश्वके शिखर साहित्यमें होती है। जगत्-सर्जनाके रहस्यको उद्घाटित करनेकी भावनासे विश्वके किसी भी मनीषी (कवि)-के द्वारा नासदीय-सूक्तसे अधिक गम्भीर एवं प्रशस्त काव्यकृति आजतक नहीं रची गयी। यह अपने-आपमें इस सूक्तकी उत्कृष्टताका संदेश देता है। दर्शन एवं कविता दोनोंकी उच्चतम कल्पनाकी अभिव्यक्ति इस सूक्तमें मिलती है। सूक्तमें आध्यात्मिक धरातलपर विश्व-ब्रह्माण्डकी एकताकी भावना स्पष्ट रूपसे अभिव्यक्त हुई है। विश्वमें एकमात्र सर्वोपरि सर्जक एवं नियामक सत्ता है, इसका भी सूक्तमें स्पष्ट संकेत मिलता है। नासदीय-सूक्तके इसी विचार बीजका पल्लवन एवं विकास आगे अद्वैतदर्शनमें होता है। भारतीय संस्कृतिमें यह धारणा—मान्यता बद्धमूल है कि विश्व ब्रह्माण्डमें एक ही सर्वोच्च सत्ता है, जिसका नाम-रूप कुछ भी नहीं है। नासदीय-सूक्तमें इसी सत्यकी अभिव्यक्ति है।

ऋग्वेदका 'कितवसूक्त'—कर्मण्य जीवनका सदुपदेश

(डॉ० श्री[illegible] शर्मा)

वेद मानवीय सभ्यता और संस्कृतिके आदिग्रन्थ हैं। ये सबलता दुर्बलता-समन्वित मानवीय व्यक्तित्वके सर्वांग-सम्पूर्ण दर्पण हैं। जहाँ प्रकृतिकी संचालिका शक्तियोंके साक्षात्कारकी उन्हें भी तथा उनके द्वारा सम्पूर्ण विश्वको संचालित करनेवाली आदिशक्ति—परमात्मतत्त्व (पुरुष) के गूढ दार्शनिक विवेचनकी तथा उनसे लाभान्वित होनेके लिये छटपटाहटकी इन्द्रधनुषी झाँकी भी उनमें है वहीं मानवके राग-द्वेष और प्रफुल्ल जीवनका प्रवाह भी उनमें सर्वत्र तरंगित हो रहा है।

सम्भवतः अन्तर्यामी मानवके भीतर सत्प्रवृत्तियोंके साथ साथ असत्प्रवृत्तियोंका और शक्तिके साथ दुर्बलताका सन्निवेश इसलिये किया है कि भौतिक उपलब्धियोंसे गर्वित होकर मानव उसे भुला न बैठे। उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्वको एक झटका लगे तथा उसे वास्तविकताका ज्ञान हो सके इसके लिये ही उसने उसमें जन्मजात दुर्बलताएँ भी भर दी हैं। मानवीय सभ्यताके सर्वांगीण विकासका सर्वप्रथम और समग्र संकलन है 'ऋग्वेद'। उसमें जहाँ भावुक ऋषिकी स्फीत भावधारा अपने सहज सरल रूपमें 'उषा' आदि सूक्तोंके उत्कृष्ट काव्यमें तरंगित हुई है 'अग्नि' आदि सूक्तोंमें वैज्ञानिक गवेषणाकी प्रवृत्ति तथा 'पुरुष' और 'नासदीय सूक्तों'में आध्यात्मिक-दार्शनिक चिन्तन

सहज परिपाक दिखायी देता है, वहाँ 'कितव' जैसे सूक्त उसकी अधोगामिनी सामाजिक प्रवृत्तिको प्रकट करते हैं।

वैदिक युगसे ही जुआ खेलना एक सामाजिक दुर्व्यसन रहा है। 'ऋग्वेद' के दशम मण्डलका ३४वाँ सूक्त है 'कितव'। जिसका अर्थ होता है—द्यूतकर या जुआरी। 'कितव-सूक्त' के अनुष्टुप् और जगती छन्दामें रचित १४ मन्त्रोंमें कवष एलूष ऋषिने स्वगत-कथन या आत्मालापपरक शैलीमें जुआरीकी हीन-दयनीय वैयक्तिक और पारिवारिक दशाका उसके पराजयजन्य पश्चात्तापका, उसकी संकल्प-विकल्पात्मक मनोदशाका और शाश्वत सामाजिक संदेशका बड़ा ही यथार्थ और प्रेरक दृश्य खींचा है। भारतमें वैदिककालसे ही जुएका खेल चौसरद्वारा होता था।

कितव कहता है—'चौसरके फलकपर बार-बार नाचते हुए ये पाशे सोमके पेयकी तरह मेरे मनको स्फूर्ति और मादकतासे भर देते हैं[१]।' फलत यह बार-बार इस दुर्व्यसनके परित्यागका निश्चय करके भी उससे छूट नहीं पाता। पाशेके शब्दोंको सुनकर स्वयको रोक पाना उसके लिये कठिन है। 'वह सब कुछ छोड सकता है, अपनी प्राणवल्लभा पत्नीका परित्याग भी उसे सहज है, किंतु जुएके खेलको वह छोड़ नहीं सकता। जब द्यूतका मद उतर जाता है और वह अपनी सामान्य स्थितिम आता है तो उसे अपनी पति-परायणा पत्नीके अकारण परित्यागके लिये बडा पश्चात्ताप होता है[२]।' इस बुरी आदतके कारण परिवारमें अपनी हेय और तिरस्कृत स्थितिपर उसे अनुताप होता है—'सास मेरी निन्दा करती है पत्नी घरम घुसने नहीं देती। जरूरत पड़नेपर मैं अपने इष्ट-मित्रों या रिश्तेदारोंसे धन माँगता हूँ तो कोई मुझे देता नहीं। मेरी वास्तविक आवश्यकताको भी लोग बहाना समझते हैं। सोचते हैं, यह बहाना बनाकर जुआ खेलनेके लिये ही धन माँग रहा है। बूढा घोडा जैसे बाजारमें किसी कीमतका नहीं रह जाता उसी तरह मैं भी अपना मूल्य खो बैठा हूँ[३]।'

द्यूतमें पराजित कितवकी पत्नीका दूसरे विजेता कितव बलपूर्वक संस्पर्श करत हैं[४]। इस मन्त्रसे यह ज्ञात होता है कि वैदिक युगम भी लोग अपनी पत्नीको दाँवपर लगा देते थे और हार जानेपर उन्हे अपनी आँखोंसे अपनी पत्नीकी बेइज्जतीका दृश्य देखना पडता था।

नवें मन्त्रमें विरोधाभास अलंकारद्वारा पाशोंकी शक्तिमत्ताका बडा ही सजीव और काव्यात्मक चित्र खींचा गया है—'यद्यपि ये पाशे नीचे स्थान (फलक)-पर रहते हैं तथापि ऊपर उछलते या प्रभाव दिखलाते हैं—जुआरियोंके हृदयमें हर्ष-विषाद आदि भावोंकी सृष्टि करते हैं, उनके मस्तकको जीतनेपर ऊँचा कर देते हैं तो हारनेपर झुका भी देते हैं। ये बिना हाथवाले हैं फिर भी हाथवालोंका पराजित कर देते हैं। ऐसा लगता है मानो ये पाशे फलकपर फेंके गये दिव्य अंगारे हैं, जिन्हें बुझाया नहीं जा सकता। ये शीतल होते हुए भी पराजित कितवके हृदयको दग्ध कर देते हैं'—

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ता शीता सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥

दसवें मन्त्रमें जुआरीकी पारिवारिक दीन-दशा और वैयक्तिक अध पतनका बडा ही मार्मिक दृश्य अंकित किया गया है—'धनादि साधनासे वंचित और पतिद्वारा उपेक्षित जुआरीकी पत्नी संतप्त होती रहती है। इधर-उधर भटकनेवाले जुआरी पुत्रकी माँ बेटेकी अपने प्रति उपेक्षा या उसके अध -पतनपर आँसू बहाती रहती है। ऋणके बोझमें दबा हुआ जुआरी आयके अन्य साधनोंसे वंचित हो जाता है और कर्ज चुकानेके लिये रातमें दूसरोंके घरोंमें चोरी करता है'—

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरत क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद् धनमिच्छमानो ऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥

(ऋक्० १०। ३४। १०)

दूसरोंकी सजी-धजी और सुखी-सम्पन्न स्त्रियों तथा

१-ऋग्वेद (१०। ३४। १)।

२-न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥ (ऋक्० १०। ३४। २)

३ द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥ (ऋक्० १०। ३४। ३)

४ ऋग्वेद (१०। ३४। ४)।

सुसज्जित गृहोंको देखकर एवं अपनी दीन-हीन विपन्न पत्नी तथा जीर्ण-शीर्ण विद्रूप घरको देखकर जुआरीका चित्त संतप्त हो उठता है। वह निश्चय करता है—'अब मैं प्रातःकालसे पुरुषार्थका जीवन जिऊँगा। सही रास्तेपर चलकर अपने पारिवारिक जीवनको सुख-समृद्धिसे पूर्ण करूँगा।' किंतु प्रभात होते ही वह पूर्वाभ्यासवश फिर जुआ खेलनेके लिये द्यूतागारका मार्ग पकड़ लेता है।

तेरहवें मन्त्रमें जुआरीको कर्मण्य जीवन जीनेकी प्रेरणा दी गयी है। वास्तवमें जुआ, सट्टा, लाटरी आदिसे धन पानेकी इच्छा मानवकी अकर्मण्य या पुरुषार्थहीन वृत्तिका परिचायक है। वह बिना परिश्रम किये दूसरोंका धन हथिया लेना या पा लेना चाहता है। यह प्रवृत्ति उसे पुरुषार्थहीन या निकम्मा बना देती है और अन्ततः उसके दुर्भाग्य एवं पतनका कारण बनती है। इसलिये ऋषि कहते हैं—जुआ मत खेलो। खेती करो। अपने पौरुष या श्रमसे उपार्जित धनको ही सब कुछ मानो। उसीसे सुख और संतोषका अनुभव करो। पुरुषार्थसे तुम्हें अमृततुल्य दूध देनेवाली गायें मिलेंगी, पतिपरायण सेवामयी पत्नीका साहचर्य मिलेगा। सबके प्रेरक भगवान् सूर्यने मुझे यह संदेश दिया है'—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥
(ऋग्० १०। ३४। १३)

—यही इस सूक्तका सामाजिक संदेश भी है।

ऋग्वेदका 'दानस्तुति-सूक्त'

(सुश्री असकामो मुसम्मन)

'दानमेकं कलौ युगे' यह वचन मनुस्मृति (१। ८६) पद्मपुराण (१। १८। ४४०), पराशर-स्मृति (१। २३) लिङ्गपुराण (१। ३९। ७) भविष्यपुराण (१। २। ११९), बृहत् पराशरस्मृति (१। २२-२३) आदिमें मिलता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—'*जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान*' (रा० च० मा० ७। १०३ ख)। शतपथब्राह्मण एवं 'बृहदारण्यक'में 'द' की आख्यायिकामें भी मनुष्यका धर्म 'दान' ही निर्दिष्ट है। राजनीतिमें भी 'दान' नीति बड़े महत्त्वकी है। महाभारतके अनुशासनपर्वका दूसरा नाम ही 'दानधर्मपर्व' है फिर 'दानसागर', 'दानकल्पतरु' 'हेमाद्रिदानखण्ड'-जैसे सैकड़ों विशाल निबन्ध जो एक स्वरसे आद्योपान्त दानकी ही महिमा गाते हैं। विष्णुधर्म, शिवधर्म, बृहद्धर्म एवं मत्स्यादि पुराण भी दान-महिमासे भरे हैं। स्कन्दपुराणमें दानके २ हेतु, ६ अधिष्ठान, ६ अङ्ग, ६ फल, ४ प्रकार और ३ नाशक बतलाये गये हैं। प्रिय वचन एवं श्रद्धारहित दान दुर्लभ है। वैसे बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई आदि धर्मोंमें भी दानकी अपार महिमा है, पर सबके मूल स्रोत 'ऋग्वेद'के दानसूक्त ही मान्य हैं।

'बृहद्देवता' आदिके अनुसार ऋग्वेदमें (८। ६८। १५—१९, ५। ३८) सैकड़ों दानस्तुतियाँ हैं, पर उसमें दशम मण्डलका ११७ वाँ सूक्त सामान्यतया दानकी स्तुतिका प्रतिपादन करनेवाला एक बड़ा ही भव्य सूक्त है। वस्तुतः यह परमोच्च अर्थोंमें 'दानस्तुति' है। इसमें दाताकी प्रशंसा या सिफारिश नहीं है, वरन् इसके मन्त्र उपदेशात्मक हैं। इसमें महान् नैतिक शिक्षा है जो अन्य दानस्तुतियोंमें भी दुर्लभ है। यह सूक्त 'भिक्षुसूक्त'के नामसे भी प्रसिद्ध है। इसमें १ से ३ तथा ५ से ८ ऋचाओंतक धनवान् व्यक्तियों तथा ऋचा ४ एवं ९ में क्षुधार्त याचकको उपदिष्ट किया गया है। इस सूक्तके ऋषि 'आङ्गिरस भिक्षु' हैं।

सूक्तकी पहली ऋचामें कहा गया है—'देवताओंने केवल क्षुधासे ही तृप्ति नहीं की अपितु मृत्युको भी बनाया है। जो बिना दान दिये हुए ही खाता है, उस खानेवाले पुरुषको भी मृत्युके ही समीप जाना पड़ता है। दाताका धन कभी क्षीण नहीं होता। इधर दान न करनेवाले मनुष्यको कभी सुख नहीं प्राप्त होता[1]। जो भूखेको अन्न-

१ (क) न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते॥ (ऋग्० १०। ११७। १)
(ख) विष्णु[illegible] (३। ११। ७। ७४) में भी कहा है—[illegible]

दानसे शान्त करता है, वह सर्वश्रेष्ठ दाता है। जो दान नहीं करता, जरूरत पडनेपर उसकी भी कभी कोई सहायता नहीं करता अथवा उसके प्रति सहानुभूति नहीं दिखाता तथा जो पुरुष स्वयं अन्नवान् होनेपर भी घर आये हुए दुर्बल एव अन्नकी याचना करनेवाले भिक्षुकके प्रति दान देनेके लिये अपने अन्त करणको स्थिर कर लेता है, उसे कभी सुख नहीं मिलता[1]।

अन्नकी कामनासे घर आये हुए याचकको जो अन्न देता है, वही श्रेष्ठ दाता है। उसे सम्पूर्ण फल मिलता है और सभी उसके मित्र हो जाते हैं[2]।

चौथी ऋचा याचक-पक्षके सदर्भमें है। तदनुसार 'वह पुरुष मित्र नहीं है जो सर्वदा स्नेह रखनेवाले मित्रको अन्नदान नहीं करता। ऐसे पुरुषसे दूर हट जाना ही श्रेयस्कर है। उसका यह गृह गृह नहीं है। अन्न-प्रदान करनेवाले किसी अन्य पुरुषके यहाँ जाना ही उसके लिये श्रेयस्कर है[3]।'

सूक्तकी पाँचवी ऋचामे धनवान् पुरुषको दानके लिये प्रेरित किया गया है। इसम धनकी चञ्चलताका वर्णन करते हुए कहा गया है—'धनवान् पुरुषके द्वारा घर आये हुए याचकको धन अवश्य दिया जाना चाहिये जिससे याचकको दीर्घमार्ग (पुण्य-पथ) प्राप्त होता है। रथके चक्रके समान धन एक स्थानपर स्थिर नहीं रहता। वह अन्य पुरुषका आश्रय लेता रहता है[4]।'

'जो प्रकृष्ट ज्ञानवाला है, अथवा जिसकी दानमें अभिरुचि नहीं है, वह व्यर्थ ही अन्न प्राप्त करता है। वह अन्न उसकी हानिका ही कारण होता है। जो न देवताका हविष-प्रदानादिसे पोषण करता है, न मित्रवर्गको देता है और केवल स्वय ही खाता है वह वास्तवमें केवल पापको ही खाता है'—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥
(ऋक्० १०। ११७। ६)

इस ऋचामें प्रयुक्त 'केवलाघो भवति केवलादी' यह अन्तिम चरण वैदिक संस्कृतिकी उत्कृष्टताका प्रतीक है[5]।

'जिस प्रकार न बोलनेवाले ब्रह्मन् (पुरोहित)-की अपेक्षा बोलनेवाला वाक्पटु पुरोहित श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार दाता सदैव अदातासे श्रेष्ठ होता है[6]।'

सूक्तकी आठवीं ऋचा एक प्रहेलिकाके समान है, जो मानव-मनकी चञ्चलताकी ओर सकेत करती है। इसमें कहा गया है—'जिसके पास एक अंश सम्पत्ति है, वह दो अश धनकी कामना करता है जिसके पास दो अश सम्पत्ति है वह तीन अंश धनवाले पुरुषके पास जाता है और जिसके पास चार अश धन है, वह उससे अधिकवालेके पास जाता है। अल्प धनी अधिक धनीकी कामना करता है[7]।' तात्पर्य यह कि एक-दूसरेकी अपेक्षा सभीको है,

---

१-'य आध्राय चकमानाय पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे। स्थिरं मन कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते'॥(ऋक्० १०। ११७। २)

२-'स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्'॥
(ऋक्० १०। ११७। ३)

३-न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्व।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ (ऋक्० १०। ११७। ४)

ऋक्० (१०। ११७। ४)-में प्रयुक्त 'ओक' ('गृह') शब्दके लिये डॉ० अविनाशचन्द्र लिखते हैं—A home belonging to an inhabitant of the land bound by ties of kingship A home is not meant only for its members but also for others in need of food and shelter (Hymns from the Vedas P 199)

४-'पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्। ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा अन्यमन्यमुप तिष्ठन्त राय'॥
(ऋक्० १०। ११७। ५)

डॉ० अविनाशचन्द्र इस ऋचाके संदर्भमें लिखते हैं—The rich man should take a long view of life and think that he may also one day become poor and would need anothers help (Hymns from the Vedas P 199)

५ मनु० (३। ११८)-का—'अघं स केवलं भुङ्क्ते य पचत्यात्मकारणात्' तथा [illegible] ... भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (३। १३)—श्लोक भी इसी उपर्युक्त मन्त्रकी ओर संकेत करता है।

६ 'वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्'। (ऋक्० १०। ११७। ७)

७-'एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमान'॥
(ऋक्० १०। ११७। ८)

इस ऋचाके लिये विशेष द्रष्टव्य है—वेलंकर, ऋक्सूक्तशती पृ० २११ और ८ [illegible] ८, विल्सन, ऋग्वेद-संहिता, विण्टरनित्ज प्राचीन भारतीय साहित्यका इतिहास पृ० ८१ [illegible]।

अतः स्वयंको ही धनवान् नहीं मानना चाहिये अपितु अतिथि याचकको अपना कल्याणकारी मान करके उसे श्रद्धासे धन-दान करना चाहिये। एक धनीकी महत्ता इसीमें है कि वह याचकको धन दे।

सूक्तकी अन्तिम ऋचामें मानव एवं मानव-स्वभावकी असमानताकी ओर संकेत है। यहाँ कहा गया है—'हमारे दोनों हाथ समान हैं, किंतु उनका कार्य भिन्न है। एक ही मातासे उत्पन्न दो गायें समान दुग्ध नहीं देतीं। दो यमज भ्राता होनेपर भी उनका पराक्रम समान नहीं होता। एक ही कुलमें उत्पन्न होकर भी दो व्यक्ति समान दाता नहीं होते[1]।

अन्ततः सम्पूर्ण सूक्तके पर्यालोचनसे यही तथ्य प्राप्त होता है कि वैदिक आर्योंकी दृष्टिमें दान एवं दानीकी अपार महत्ता थी। धनीके धनकी सार्थकता उसकी कृपणतामें नहीं वरन् दानशीलतामें मानी गयी है। सम्पूर्ण सूक्तमें दानशीलताकी स्तुति है और इसके प्रत्येक मन्त्र उपदेशपरक हैं।
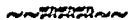
~~~~

वैदिक सूक्ति-सुधा-सिन्धु

[१-वेद-वाणी]

१—ऋग्वेदके उपदेश—

१- न स सखा यो न ददाति सख्ये। (१०। ११७। ४)
'वह मित्र ही क्या, जो अपने मित्रकी सहायता नहीं देता।'

२- सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्॥ (९। ७३। १)
'धर्मात्माको सत्यकी नाव पार लगाती है।'

३- स्वस्ति पन्थामनु चरेम। (५। ५१। १५)
'हे प्रभो! हम कल्याण-मार्गके पथिक बनें।'

४- अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव। (१। ९४। ४)
'परमेश्वर! हम तेरे मित्रभावमें दुःखी और विनष्ट न हों।'

५- शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः। (१०। १८। २)
'शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवनवाले हो।'

६- सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुः। (४। ३३। ६)
'पुरुषोंने सत्यका ही प्रतिपादन किया है और वैसा ही आचरण किया है।'

७- सुगा ऋतस्य पन्था। (८। ३१। १३)
'सत्यका मार्ग सुखसे गमन करने योग्य है सरल है।'

८- ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः। (९। ७३। ६)
'सत्यके मार्गको दुष्कर्मी पार नहीं कर पाते।'

९- दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते। (१। १२५। ६)
'दानी अमर-पद प्राप्त करते हैं।'

१०- समाना हृदयानि वः। (१०। १९१। ४)
'तुम्हारे हृदय (मन) एक-से हों।'

११- सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते। (१०। १७। ७)
'देवपदके अभिलाषी सरस्वतीका आह्वान करते हैं।'

१२- उद्बुध्यध्वं समनसः। (१०। १०१। १)
'एक विचार और एक प्रकारके ज्ञानसे युक्त मित्रजनो, उठो! जागो!!'

१३- इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। (८। २। १८)
'देवता यज्ञकर्ता पुरुषार्थी तथा भक्तको चाहते हैं

---

[1] समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः॥ (ऋक्० १०। ११७। ९)

यहाँ प्रथम तीन पादोंमें तीन दृष्टान्त दिये गये हैं और अंतिम पादमें प्रस्तुत नैतिक वस्तुका निर्देश हुआ है। इस ऋचाके संबंधमें विल्सनने उचित ही लिखा है—

All men should be liberal, but we must not expect all to be equally generous
(The Hymns of the Veda, P 626 note 9)

तथा—

Yet mere greatness is no index on of corresponding charity and so a needy person must be discriminating in his approach to rich man for begging (R. Rsu Kta..u P 291 note 9)
~~~~

आलसीसे प्रेम नहीं करते।'

१४- यच्छा न शर्म सप्रथ । (१।२२।१५)
'भगवन्! तुम हमें अनन्त अखण्डैकरसपरिपूर्ण सुखोंको प्रदान करो।'

१५-सुम्नमस्मे ते अस्तु। (१।११४।१०)
'हे परमात्मन्! हमारे अदर तुम्हारा महान् (कल्याणकारी) सुख प्रकट हो।'

१६-अस्य प्रियास सख्ये स्याम। (४।१७।९)
'हम देवताओंसे प्रीतियुक्त मैत्री करे।'

१७-पुनर्ददताघ्नता जानता स गमेमहि। (५।५१।१५)
'हम दानशील पुरुषसे, विश्वासघातादि न करनेवालेसे और विवेक-विचार-ज्ञानवान्से सत्सग करते रहें।'

१८-जीवा ज्योतिरशीमहि। (७।३२।२६)
'हम जीवगण प्रभुकी कल्याणमयी ज्योतिको प्रतिदिन प्राप्त करे।'

१९-भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्। (१०।२५।१)
'हे परमेश्वर! हम सबको कल्याणकारक मन कल्याणकारक बल और कल्याणकारक कर्म प्रदान करो।'

२—यजुर्वेदके उपदेश—

१- तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा। (३१।१९)
'उस परमात्मामें ही सम्पूर्ण लोक स्थित हैं।'

२- अस्माक॰ सन्त्वाशिष सत्या । (२।१०)
'हमारी कामनाएँ सच्ची हो।'

३- भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनम्। (३०।१७)
'जागना (ज्ञान) ऐश्वर्यप्रद है। सोना (आलस्य) दरिद्रताका मूल है।'

४- सं ज्योतिषाभूम। (२।२५)
'हम ब्रह्मज्ञानसे संयुक्त हो।'

५- अगन्म ज्योतिरमृता अभूम। (८।५२)
'हम तुम्हारी ज्यातिको प्राप्तकर मृत्युके भयसे मुक्त हों।'

६- वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्। (२०।२३)
'मैं परमात्माकी महिमामयी ज्योतिको प्राप्त करूँ।'

७- सुमृडीको भवतु विश्ववेदा । (२०।५१)
'सर्वज्ञ प्रभु हमारे लिये सुखकारी हों।

८- वय देवाना सुमतौ स्याम।
'हम देवताआकी कल्याणकारिणी बुद्धिको प्राप्त करें।'

९- अप न शोशुचदघम्। (३५।६)
'देवगण हमारे पापोको भलीभाँति नष्ट कर दें।'

१०- स्योना पृथिवि न । (३५।२१)
'हे पृथिवी! तुम हमारे लिये सुख देनेवाली हो।'

११- इहैव रातय सन्तु। (३८।१३)
'हमें अपने ही स्थानमे सब प्रकारके ऐश्वर्य प्राप्त हो।'

१२- ब्रह्मणस्तन्वं पाहि। (३८।१९)
'हे भगवन्! तुम ब्राह्मणके शरीरका पालन (रक्षण) करो।'

३—सामवेदके उपदेश—

१- भद्रा उत प्रशस्तय । (१११)
'हमे कल्याणकारिणी स्तुतियाँ प्राप्त हो।'

२- वि रक्षो वि मृधो जहि। (१८६७)
'राक्षसों और हिसक शत्रुआका नाश करो।'

३- जीवा ज्योतिरशीमहि। (२५९)
'हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्योतिको प्राप्त करें।'

४- न सन्तु सनिषन्तु नो धिय ॥ (५५५)
'हमारी देवविषयक स्तुतियाँ देवताआको प्राप्त हों।'

५- विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञम्। (६११)
'सम्पूर्ण देवगण मेरे मान करने योग्य पूजनको स्वीकार कर।'

६- अहं प्रवदिता स्याम्॥ (६११)
'मैं सर्वत्र प्रगल्भतासे बोलनेवाला बनूँ।'

७- य सपर्यति तस्य प्राविता भव। (८४५)
'जो तेरी पूजा करता है उसका तू रक्षक हो।'

८- मनी अधि पवमान राजा मेधाभि अन्तरिक्षेण यातवे ईयते। (८३३)
'मनुष्योंमें शुद्ध होनेवाला अपनी बुद्धिसे उच्च मार्गसे जानकी काशिश करता है।

९- जनाय ऊर्जं वरिव कृधि। (८४२)
लागामें श्रेष्ठ बल पैदा करो।'

१०- पुरन्धिं जनय। (८६१)
'बहुतसे उत्तम कर्म करनमें समर्थ बुद्धिको उत्पन्न करो।'

११- विचर्षणि , अभिष्टिकृत्, इन्द्रियं हिन्वान , ज्याय महित्वं आनश। (८३९)
'विशेष ज्ञानी और इष्टकी सिद्धि करनेवाला अपनी शक्तिको प्रयागमें लाकर श्रेष्ठत्व प्राप्त करता है।'

१२- ऋतावृधौ ऋतस्पृशौ बृहन्तं क्रतुं ऋतेन आशाथे। (८४८)
'सत्य बढानेवाले, सत्यका स्पर्श करनेवाले सत्यसे ही महान् कार्य करते हैं।'

१३- य सखा सुशेव अद्वयु । (६४९)
'जो उत्तम मित्र उत्तम प्रकारसे सेवाके योग्य तथा अच्छा व्यवहार करनेवाला है, वह उत्तम होता है।'

१४- ईडेन्य नमस्य तमांसि तिर दर्शत वृषा अग्नि सं इध्यते। (१५३८)
'जो प्रशंसनीय नमस्कार करने योग्य अन्धकारको दूर करनेवाला दर्शनीय और बलवान् है उसका तेज बढ़ता है।'

४—अथर्ववेदके उपदेश—

१- स एष एक एकवृदेक एव। (१३। ५। ७)
'यह ईश्वर एक और सचमुच एक ही है।'

२- एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्य । (२। २। १)
'एक परमेश्वर ही पूजाके योग्य और प्रजाओंमें स्तुत्य है।'

३- तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो । (१०। ८। ४४)
'उस आत्माका ही ज्ञान लेनेपर मनुष्य मृत्युसे नहीं डरता।'

४- रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्या पापीस्ता अनीनशम्। (७। ११५। ४)
'पुण्यकी कमाई मेरे घरकी शोभा बढ़ाये पापकी कमाईको मैंने नष्ट कर दिया है।'

५- मा जीवेभ्य प्रमद । (८। १। ७)
'प्राणियोंकी ओरसे बेपरवाह मत हो।'

६- वयं सर्वेषु यशस स्याम। (६। ५८। २)
'हम समस्त जीवोंमें यशस्वी होवें।'

७- उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (८। १। ६)
'पुरुष तुम्हें तो लिये ऊपर उठना चाहिये न कि नीचे गिरना।

८- मा नो द्विक्षत कश्चन। (१२। १। २४)
हमसे कोई भी द्वेष करनेवाला न हो।'

९- सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया। (३। ३०। ३)
'समान गति समान कर्म, समान ज्ञान और समान नियमवाले बनकर परस्पर कल्याणयुक्त वाणीसे बोलो।'

१०- मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्यु । (१७। १। २९)
'मुझे पाप और मौत न व्यापे।'

११- अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। (६। ७८। २)
'मनुष्य दुग्धादि पदार्थोंसे बढ़े और राज्यसे बढ़े।'

१२- अरिष्टा स्याम तन्वा सुवीरा । (५। ३। ५)
'हम शरीरसे नीरोग हों और उत्तम वीर बनें।'

१३- सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम। (६। ११७। ३)
'हम लोग ऋणरहित होकर परलोकके सभी मार्गोंपर चलें।'

१४- वाचा वदामि मधुमद्। (१। ३४। ३)
'वाणीसे माधुर्ययुक्त ही बोलता हूँ।'

१५- ज्योगेव दृशेम सूर्यम्। (१। ३१। ४)
'हम सूर्यको बहुत कालतक देखते रहें।'

१६- मा पुरा जरसो मृथा । (५। ३०। १७)
'हे मनुष्य! तू बुढ़ापेसे पहले मत मर।'

१७- शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। (३। २४। ५)
'सैकड़ों हाथोंसे इकट्ठा करो और हजारों हाथोंसे बाँटो।'

१८- शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्। (६। ७१। ३)
'मेरे लिये अन्न कल्याणकारी और स्वादिष्ट हो।'

१९- शिवा न सन्तु वार्षिकी । (१। ६। ४)
'हमें वर्षाद्वारा प्राप्त जल सुख दे।'

२०- पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्। (२। १३। १)
'हे भगवन्! जिस प्रकार पिता अपने अपराधी पुत्रकी रक्षा करता है उसी प्रकार आप भी इस (हमारे) बालककी रक्षा करें।'

२१- विश्वकर्मन्! नमस्ते पाह्यस्मान्। (२। ३५। ४)
'हे विश्वकर्मन्! तुमको नमस्कार है तुम हमारी रक्षा करो।'

२२- शतं जीवेम शरद सर्ववीरा । (३। १२। ६)
'हम सर्वभिर्तविध पुत्र-पौत्रादिसे परिपूर्ण होकर सौ वर्षतक जीवित रहें।'

२३- निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्। (१६। २। १)
'हमारी हानिकारिणी मीठी वाणी कभी भी दुष्प्रभावकारी न हो।

[२-वेदामृत-मन्थन]

१—ऋग्वेदीय सदेश—

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थ श्रुतं मे मा प्रहासी । अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सदधाम्यृत वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्ति । शान्ति !! शान्ति !!!

(ऋग्वेद, शान्तिपाठ)

मेरी वाणी मनमें और मन वाणीमे प्रतिष्ठित हो। हे ईश्वर! आप मेरे समक्ष प्रकट हो। हे मन और वाणी! मुझे वेदविषयक ज्ञान दो। मेरा ज्ञान क्षीण नहीं हो। मैं अनवरत अध्ययनमें लगा रहूँ। मैं श्रेष्ठ शब्द बोलूँगा, सदा सत्य बोलूँगा ईश्वर मेरी रक्षा करे। वक्ताकी रक्षा करे। मेरे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध ताप शान्त हों।

जानन्ति वृष्णो अरुपस्य शेवमुत ब्रध्नस्य शासने रणन्ति।
दिवोरुच सुरुचो रोचमाना इळा येषा गण्या माहिना गी ।

(ऋग्वेद ३। ७। ५)

जिनकी वाणी महिमाके कारण मान्य और प्रशसनीय है, वे ही सुखकी वृष्टि करनेवाले अहिसाके धनको जानते हैं तथा महत्के शासनमें आनन्द प्राप्त करते हैं और दिव्यकान्तिसे देदीप्यमान होते हैं।

जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य अ विदथे वर्धमान ।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्॥

(ऋग्वेद ३। ८। ५)

जिस व्यक्तिने जन्म लिया है वह जीवनको सुन्दर बनानेके लिये उत्पन्न हुआ है। वह जीवन-सग्राममें लक्ष्य-साधनके हेतु अध्यवसाय करता है। धीर व्यक्ति अपनी मननशक्तिसे कर्मोंको पवित्र करते हैं और विप्रजन दिव्यभावनासे वाणीका उच्चारण करते हैं।

स हि सत्यो यं पूर्वे चिद् देवासश्चियमीधिरे।
होतारं मन्द्रजिह्वमित् सुदीतिभिर्विभावसुम्॥

(ऋग्वेद ५। २५। २)

सत्य वही है जो उज्ज्वल है वाणीको प्रसन्न करता है और जिसे पूर्वकालम हुए विद्वान् उज्ज्वल प्रकाशसे प्रकाशित करते हैं।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्य यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

(ऋग्वेद ७। १०४। १२)

उत्तम ज्ञानके अनुसन्धानकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिके सामने सत्य और असत्य दोना प्रकारके वचन परस्पर स्पर्धा करते हुए उपस्थित होते हैं। उनमेंसे जो सत्य है, वह अधिक सरल है। शान्तिकी कामना करनेवाला व्यक्ति उसे चुन लेता है और असत्यका परित्याग करता है।

सा मा सत्योक्ति परि पातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्य ॥

(ऋग्वेद १०। ३७। २)

वह सत्य-कथन सब ओरसे मेरी रक्षा करे जिसके द्वारा दिन और रात्रिका सभी दिशामें विस्तार होता है तथा यह विश्व अन्यमें निविष्ट होता है जिसकी प्रेरणासे सूर्य उदित होता है एव निरन्तर जल बहता है।

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत्॥

(ऋग्वेद ७। ३२। १३)

यज्ञ-भावनासे भावित सदाचारीको भली प्रकारसे विवेचित सुन्दर आकृतिसे युक्त, उच्च विचार (मन्त्र) दो। जो इन्द्रके निमित्त कर्म करता है उसे पूर्वजन्मके बन्धन छोड देते हैं।

त्रिभि पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कं हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत्॥

(ऋग्वेद ३। २६। ८)

मनुष्य या साधक हृदयसे मति और ज्योतिको भली प्रकार जानते हुए तीन पवित्र उपायों (यज्ञ दान और तप अथवा श्रवण मनन और निदिध्यासन)-से आत्माको पवित्र करता है। अपने सामर्थ्यसे सर्वश्रेष्ठ रत्न 'ब्रह्मज्ञान' को प्राप्त कर लेता है और तब वह इस ससारको तुच्छ दृष्टिसे देखता है।

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे॥

(ऋग्वेद १०। १३४। ७)

हे देवो! न तो हम हिंसा करते हैं न विद्वेष उत्पन्न करते हैं अपितु वेदके अनुसार आचरण करते हैं। तिनके-जैसे तुच्छ प्राणियोंके साथ भी मिलकर कार्य करते हैं।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

(ऋग्वेद १०। ७१। ६)

जो मनुष्य सत्य-ज्ञानके उपदेश देनेवाले मित्रका परित्याग कर देता है, उसके वचनोंको कोई नहीं सुनता। वह जो कुछ सुनता है मिथ्या ही सुनता है। वह सत्कार्यके मार्गको नहीं जानता।

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

(ऋग्वेद १०। ११७। ३)

अन्नकी कामना करनेवाले निर्धन याचकको जो अन्न देता है वही वास्तवमें भोजन करता है। ऐसे व्यक्तिके पास पर्याप्त अन्न रहता है और समय पड़नेपर बुलानेसे उसकी सहायताके लिये तत्पर अनेक मित्र उपस्थित हो जाते हैं।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।

(ऋग्वेद १०। ११७। ५)

मनुष्य अपने सम्मुख जीवनका दीर्घ पथ देखे और याचना करनेवालेको दान देकर सुखी करे।

ये अग्ने नेरयन्ति ते वृद्धा उग्रस्य शवसः।
अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिरे॥

(ऋग्वेद ५। २०। २)

तात्पर्य 'वृद्ध' तो वे हैं जो विचलित नहीं होते और अति प्रबल नास्तिककी द्वेषभावनाको एवं उसकी कुटिलताको दूर करते हैं।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥

(ऋग्वेद १०। १५१। १)

श्रद्धासे अग्निको प्रज्वलित किया जाता है श्रद्धासे ही हवनमें आहुति दी जाती है हम सब श्रद्धापूर्ण वचनोंसे श्रद्धाको श्रेष्ठ ऐश्वर्य मानते हैं।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥

(ऋग्वेद १। १। ९)

जिस प्रकार पिता अपने पुत्रके कल्याणकी कामनासे उस सरलतासे प्राप्त होता है उसी प्रकार हे अग्नि! तुम हमें सुखदायक उपायोंसे प्राप्त हो। हमारा कल्याण करनेके लिये हमारा साथ दो।

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप नः शोशुचदघम्॥

(ऋग्वेद १। ९७। २)

सुशोभन क्षेत्रके लिये सन्मार्गके लिये और ऐश्वर्यकी प्राप्ति करनेके लिये हम आपका यजन करते हैं। हमारा पाप विनष्ट हो।

स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम्॥

(ऋग्वेद १। ९७। ८)

जैसे सागरको नौकाके द्वारा पार किया जाता है वैसे ही वह परमेश्वर हमारा कल्याण करनेके लिये हमें संसार-सागरसे पार ले जायँ। हमारा पाप विनष्ट हो।

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः॥

(ऋग्वेद ५। ५१। १२)

हम अपना कल्याण करनेके लिये वायुकी उपासना करते हैं जगत्के स्वामी सोमकी स्तुति करते हैं और अपने कल्याणके लिये हम सभी गणोंसहित बृहस्पतिकी स्तुति करते हैं। आदित्य भी हमारा कल्याण करनेवाले हों।

अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम्।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥

(ऋग्वेद ६। ५१। १६)

हम उस कल्याणकारी और निष्पाप मार्गका अनुसरण करें। जिससे मनुष्य सभी द्वेष भावनाओंका परित्याग कर देता है और सम्पत्तिको प्राप्त करता है।

शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ४)

ज्योति ही जिसका मुख है, वह अग्नि हमारे लिये कल्याणकारक हो, मित्र वरुण और अश्विनीकुमार हमारे लिये कल्याणप्रद हो, पुण्यशाली व्यक्तियोके कर्म हमारे लिये सुख प्रदान करनेवाले हो तथा वायु भी हमें शान्ति प्रदान करनेके लिये बहे।

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्ष दृशये नो अस्तु।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु श नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णु ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ५)

द्युलोक और पृथ्वी हमारे लिये सुखकारक हो अन्तरिक्ष हमारी दृष्टिके लिये कल्याणप्रद हों, ओषधियाँ एवं वृक्ष हमारे लिये कल्याणकारक हों तथा लोकपति इन्द्र भी हमें शान्ति प्रदान करें।

शं न सूर्य उरुचक्षा उदेतु श नश्चतस्र प्रदिशो भवन्तु।
शं न पर्वता ध्रुवयो भवन्तु श न सिन्धव शमु सन्त्वाप ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ८)

विस्तृत तेजसे युक्त सूर्य हम सबका कल्याण करता हुआ उदित हो। चारो दिशाएँ हमारा कल्याण करनेवाली हों। अटल पर्वत हम सबके लिये कल्याणकारक हो। नदियाँ हमारा हित करनेवाली हो और उनका जल भी हमारे लिये कल्याणप्रद हो।

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभि शं नो भवन्तु मरुत स्वर्का ।
शं नो विष्णु शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायु ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ९)

अदिति हमारे लिये कल्याणप्रद हों, मरुद्‌गण हमारा कल्याण करनेवाले हो। विष्णु और पुष्टिदायक देव हमारा कल्याण करें तथा जल एव वायु भी हमारे लिये शान्ति प्रदान करनेवाले हों।

शं नो देव सविता त्रायमाण शं नो भवन्तूषसो विभाती ।
शं नो पर्जन्यो भवन्तु प्रजाभ्य शं न क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भु ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। १०)

रक्षा करनेवाले सविता हमारा कल्याण करें सुशोभित होती हुई उषादेवी हमें सुख प्रदान करें वृष्टि करनेवाले पर्जन्य देव हमारी प्रजाओंके लिये कल्याणकारक हों और क्षेत्रपति शम्भु भी हम सबको शान्ति प्रदान करें।

श नो देवा विश्वेदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।

(ऋग्वेद ७। ३५। ११)

सभी देवता हमारा कल्याण करनेवाले हों, बुद्धि प्रदान करनेवाली देवी सरस्वती भी हम सबका कल्याण करें।

त्वं हि न पिता वसो त्व माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

(ऋग्वेद ८। ९८। ११)

हे आश्रयदाता! तुम ही हमारे पिता हो। हे शतक्रतु! तुम हमारी माता हो। हम तुमसे कल्याणकी कामना करते हैं।

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयु प्रतरं दधाना ॥

(ऋग्वेद १०। १८। ३)

ये जीव मृत व्यक्तियासे घिरे हुए नहीं हैं, इसीलिये आज हमारा कल्याण करनेवाला देवयज्ञ सम्पूर्ण हुआ। नृत्य करनेके लिये आनन्द मनानेके लिये दीर्घ आयुका और अधिक दीर्घ करते हुए हम उन्नति-पथपर अग्रसर हो।

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।

(ऋग्वेद १०। २५। १)

हे परमेश्वर! हमें कल्याणकारक मन कल्याण करनेका सामर्थ्य और कल्याणकारक कार्य करनेकी प्रेरणा दें।

२—यजुर्वेदीय सदेश—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

(यजुर्वेद १। ५)

हे व्रतरक्षक अग्नि! मैं सत्यव्रती होना चाहता हूँ। मैं इस व्रतको कर सकूँ। मेरा व्रत सिद्ध हो। मैं असत्यको त्याग करके सत्यको स्वीकार करता हूँ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(यजुर्वेद १९। ३०)

व्रतसे दीक्षाकी प्राप्ति होती है और दीक्षासे दाक्षिण्य की दाक्षिण्यसे श्रद्धा उपलब्ध होती है और श्रद्धासे सत्यकी उपलब्धि होती है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे॥

(ऋग्वेद १०। १३४। ७)

हे देवो! न तो हम हिंसा करते हैं, न विद्वेष उत्पन्न करते हैं, अपितु वेदके अनुसार आचरण करते हैं। तिनके-जैसे तुच्छ प्राणियोंके साथ भी मिलकर कार्य करते हैं।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

(ऋग्वेद १०। ७१। ६)

जो मनुष्य सत्य-ज्ञानके उपदेश देनेवाले मित्रका परित्याग कर देता है उसके वचनोंको कोई नहीं सुनता। वह जो कुछ सुनता है, मिथ्या ही सुनता है। वह सत्कार्यके मार्गको नहीं जानता।

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

(ऋग्वेद १०। ११७। ३)

अन्नकी कामना करनेवाले निर्धन याचकको जो अन्न देता है वही वास्तवमें भोजन करता है। ऐसे व्यक्तिके पास पर्याप्त अन्न रहता है और समय पड़नेपर बुलानेसे उसकी सहायताके लिये तत्पर अनेक मित्र उपस्थित हो जाते हैं।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।

(ऋग्वेद १०। ११७। ५)

मनुष्य अपने सम्मुख जीवनका दीर्घ पथ देखे और याचना करनेवालेको दान देकर सुखी करे।

ये अग्ने नेरयन्ति ते वृद्धा उग्रस्य शवसः।
अप द्वेषो अप ह्वरो ऽन्यव्रतस्य सश्चिरे॥

(ऋग्वेद ५। २०। २)

वास्तवमें 'वृद्ध' तो वे हैं, जो विचलित नहीं होते और अति प्रबल नास्तिककी द्वेषभावनाको एवं उसकी कुटिलताको दूर करते हैं।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥

(ऋग्वेद १०। १५१। १)

श्रद्धासे अग्निको प्रज्वलित किया जाता है श्रद्धासे ही हवनमें आहुति दी जाती है, हम सब प्रशंसापूर्ण वचनोंसे श्रद्धाको श्रेष्ठ ऐश्वर्य मानते हैं।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥

(ऋग्वेद १। १। ९)

जिस प्रकार पिता अपने पुत्रके कल्याणकी कामनासे उसे सरलतासे प्राप्त होता है उसी प्रकार हे अग्नि! तुम हमें सुखदायक उपायोंसे प्राप्त हो। हमारा कल्याण करनेके लिये हमारा साथ दो।

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप नः शोशुचदघम्॥

(ऋग्वेद १। ९७। २)

सुशोभन क्षेत्रके लिये, सन्मार्गके लिये और ऐश्वर्यको प्राप्त करनेके लिये हम आपका यजन करते हैं। हमारा पाप विनष्ट हो।

स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम्॥

(ऋग्वेद १। ९७। ८)

जैसे सागरको नौकाके द्वारा पार किया जाता है, वैसे ही वह परमेश्वर हमारा कल्याण करनेके लिये हमें संसार-सागरसे पार ले जायँ। हमारा पाप विनष्ट हो।

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः॥

(ऋग्वेद ५। ५१। १२)

हम अपना कल्याण करनेके लिये वायुकी उपासना करते हैं, जगत्के स्वामी सोमकी स्तुति करते हैं और अपने कल्याणके लिये हम सभी गणोंसहित बृहस्पतिकी स्तुति करते हैं। आदित्य भी हमारा कल्याण करनेवाले हों।

अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम्।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥

(ऋग्वेद ६। ५१। १६)

हम उस कल्याणकारी और निष्पाप मार्गका अनुसरण करें। जिससे मनुष्य सभी द्वेष-भावनाओंका परित्याग कर देता है और सम्पत्तिको प्राप्त करता है।

शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ४)

ज्योति ही जिसका मुख है, वह अग्नि हमारे लिये कल्याणकारक हो, मित्र वरुण और अश्विनीकुमार हमारे लिये कल्याणप्रद हों, पुण्यशाली व्यक्तियोंके कर्म हमारे लिये सुख प्रदान करनेवाले हों तथा वायु भी हमें शान्ति प्रदान करनेके लिये बहे।

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ५)

द्युलोक और पृथ्वी हमारे लिये सुखकारक हों अन्तरिक्ष हमारी दृष्टिके लिये कल्याणप्रद हों, ओषधियाँ एवं वृक्ष हमारे लिये कल्याणकारक हों तथा लोकपति इन्द्र भी हमें शान्ति प्रदान करे।

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्त्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ८)

विस्तृत तेजसे युक्त सूर्य हम सबका कल्याण करता हुआ उदित हो। चारों दिशाएँ हमारा कल्याण करनेवाली हों। अटल पर्वत हम सबके लिये कल्याणकारक हों। नदियाँ हमारा हित करनेवाली हों और उनका जल भी हमारे लिये कल्याणप्रद हो।

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ९)

अदिति हमारे लिये कल्याणप्रद हों, मरुद्गण हमारा कल्याण करनेवाले हों। विष्णु और पुष्टिदायक देव हमारा कल्याण करें तथा जल एवं वायु भी हमारे लिये शान्ति प्रदान करनेवाले हों।

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥

(ऋग्वेद ७। ३५। १०)

रक्षा करनेवाले सविता हमारा कल्याण करें सुशोभित होती हुई उषादेवी हमें सुख प्रदान करें, वृष्टि करनेवाले पर्जन्य देव हमारी प्रजाओंके लिये कल्याणकारक हों और क्षेत्रपति शम्भु भी हम सबको शान्ति प्रदान करें।

शं नो देवा विश्वेदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।

(ऋग्वेद ७। ३५। ११)

सभी देवता हमारा कल्याण करनेवाले हों, बुद्धि प्रदान करनेवाली देवी सरस्वती भी हम सबका कल्याण करें।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

(ऋग्वेद ८। ९८। ११)

हे आश्रयदाता! तुम ही हमारे पिता हो। हे शतक्रतु! तुम हमारी माता हो। हम तुमसे कल्याणकी कामना करते हैं।

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥

(ऋग्वेद १०। १८। ३)

ये जीव मृत व्यक्तियोंसे घिरे हुए नहीं हैं, इसीलिये आज हमारा कल्याण करनेवाला देवयज्ञ सम्पूर्ण हुआ। नृत्य करनेके लिये, आनन्द मनानेके लिये दीर्घ आयुको और अधिक दीर्घ करते हुए हम उन्नति-पथपर अग्रसर हों।

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।

(ऋग्वेद १०। २५। १)

हे परमेश्वर! हमें कल्याणकारक मन, कल्याण करनेका सामर्थ्य और कल्याणकारक कार्य करनेकी प्रेरणा दें।

२—यजुर्वेदीय संदेश—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

(यजुर्वेद १। ५)

हे व्रतरक्षक अग्नि! मैं सत्यव्रती होना चाहता हूँ। मैं इस व्रतको कर सकूँ। मेरा व्रत सिद्ध हो। मैं असत्यको त्याग करके सत्यको स्वीकार करता हूँ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(यजुर्वेद १९। ३०)

व्रतसे दीक्षाकी प्राप्ति होती है और दीक्षासे दक्षिणा की दक्षिणासे श्रद्धा उत्पन्न होती है और श्रद्धासे सत्यकी उपलब्धि होती है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥
(यजुर्वेद ५। ३६)

हे अग्नि! हमें आत्मोत्कर्षके लिये सन्मार्गमें प्रवृत्त कीजिये। आप हमारे सभी कर्मोंको जानते हैं। कुटिलतापूर्ण पापाचरणसे हमारी रक्षा कीजिये। हम आपको बार-बार प्रणाम करते हैं।

दृते दृ꣡ꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥
(यजुर्वेद ३६। १८)

मेरी दृष्टिको दृढ कीजिये, सभी प्राणी मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें, मैं भी सभी प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ, हम परस्पर एक-दूसरेको मित्रकी दृष्टिसे देखें।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
(कृष्णयजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

हम दोनों साथ-साथ रक्षा करें, एक साथ मिलकर पालन-पोषण करें, साथ-ही-साथ शक्ति प्राप्त करें। हमारा अध्ययन तेजसे परिपूर्ण हो। हम कभी परस्पर विद्वेष न करें। हे ईश्वर! हमारे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—त्रिविध तापोंकी निवृत्ति हो।

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः। अप नः शोशुचदघम्॥
(यजुर्वेद ३५। २१)

हे पृथ्वी! सुखपूर्वक बैठने योग्य होकर तुम हमारे लिये शुभ हो, हमें कल्याण प्रदान करो। हमारा पाप विनष्ट हो जाय।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥
(यजुर्वेद ३६। २)

जो मेरे चक्षु और हृदयका दोष हो अथवा जो मेरे मनकी बड़ी त्रुटि हो, बृहस्पति उसको दूर करें। जो इस विश्वका स्वामी है, वह हमारे लिये कल्याण-कारक हो।

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥
(यजुर्वेद ३६। ३)

सत्, चित्, आनन्दस्वरूप और जगत्के स्रष्टा ईश्वरके सर्वोत्कृष्ट तेजका हम ध्यान करते हैं। वे हमारी बुद्धिको शुभ प्रेरणा दें।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष꣡ꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व꣡ꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥
(यजुर्वेद ३६। १७)

द्युलोक शान्त हो, अन्तरिक्ष शान्त हो, पृथ्वी शान्त हो, जल शान्त हो, ओषधियाँ शान्त हों, वनस्पतियाँ शान्त हों, समस्त देवता शान्त हों, ब्रह्म शान्त हो, सब कुछ शान्त हो, शान्त-ही-शान्त हो और मेरी यह शान्ति निरन्तर बनी रहे।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥
(यजुर्वेद ३६। २२)

जहाँ-जहाँसे आवश्यक हो, वहाँ-वहाँसे ही हमें अभय प्रदान करो। हमारी प्रजाके लिये कल्याणकारक हो और हमारे पशुओंको भी अभय प्रदान करो।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत꣡ꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥
(यजुर्वेद ३६। २४)

ज्ञानी पुरुषोंका कल्याण करनेवाला तेजस्वी ज्ञान-चक्षु-रूपी सूर्य सामने उदित हो रहा है, उसकी शक्तिसे हम सौ वर्षतक देखें, सौ वर्षका जीवन जियें, सौ वर्षतक सुनते रहें, सौ वर्षतक बोलें, सौ वर्षतक दैन्यरहित होकर रहें और सौ वर्षसे भी अधिक जियें।

३—सामवेदीय संदेश—

शं नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु नः॥
(सामवेद १। ३। १३)

दिव्य-गुण-युक्त जल अभीष्टकी प्राप्ति और पीनेके लिये कल्याण करनेवाला हो तथा सभी ओरसे हमारा मङ्गल करनेवाला हो।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।

स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

(सामवेद २१। ३। ९)

विस्तृत यशवाले इन्द्र हमारा कल्याण करें, सर्वज्ञ पूषा हम सबके लिये कल्याणकारक हों, अनिष्टका निवारण करनेवाले गरुड हम सबका कल्याण करें और बृहस्पति भी हम सबके लिये कल्याणप्रद हों।

४—अथर्ववेदीय संदेश—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

(अथर्ववेद १। ३४। २)

मेरी जिह्वाके अग्रभागमें माधुर्य हो। मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता हो। मेरे कर्ममें माधुर्यका निवास हो और हे माधुर्य! मेरे हृदयतक पहुँचो।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥

(अथर्ववेद १। ३४। ३)

मेरा जाना मधुरतासे युक्त हो। मेरा आना माधुर्यमय हो। मैं मधुर वाणी बोलूँ और मैं मधुर आकृतिवाला हो जाऊँ।

प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्।

(अथर्ववेद ११। ४। ११)

प्राण सत्य बोलनेवालेको श्रेष्ठ लोकमें प्रतिष्ठित करता है।

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम्।

(अथर्ववेद १६। २। ४)

शुभ और शिव-वचन सुननेवाले कानोंसे युक्त मैं केवल कल्याणकारी वचनोंको ही सुनूँ।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

(अथर्ववेद ३। ३०। ५)

वृद्धोंका सम्मान करनेवाले विचारशील एकमतसे कार्यसिद्धिमें संलग्न समान धुरावाले होकर विचरण करते हुए तुम विलग मत होओ। परस्पर मधुर सम्भाषण करते हुए आओ। मैं तुम्हें एकगति और एकमतिवाला करता हूँ।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥

(अथर्ववेद ३। ३०। ७)

समानगति और उत्तम मनस युक्त आप सबको मैं उत्तम भावसे समान खान-पानवाला करता हूँ। अमृतकी रक्षा करनेवाले देवोंके समान आपका प्रातः और सायं कल्याण हो।

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥

(अथर्ववेद ३। २८। ३)

(हे नववधू!) पुरुषोंके लिये, गायोंके लिये और अश्वोंके लिये कल्याणकारी हो। सब स्थानोंके लिये कल्याण करनेवाली हो तथा हमारे लिये भी कल्याणमय होती हुई यहाँ आओ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

(अथर्ववेद ३। ३०। २)

पुत्र पिताके अनुकूल उद्देश्यवाला हो। पत्नी पतिके प्रति मधुर और शान्ति प्रदान करनेवाली वाणी बोले।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

(अथर्ववेद ३। ३०। ३)

भाई-भाईके साथ द्वेष न करे। बहिन-बहिनसे विद्वेष न करे। समान गति और समान नियमवाले होकर कल्याणमयी वाणी बोलो।

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥

(अथर्ववेद १४। १। ४३)

जिस प्रकार समर्थ सागरने नदियोंका साम्राज्य उत्पन्न किया है, उसी प्रकार पतिके घर जाकर तुम भी सम्राज्ञी बनो।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥

(अथर्ववेद १४। १। ४४)

ससुरकी सम्राज्ञी बनो, देवरोंके मध्य भी सम्राज्ञी बनकर रहो, ननद और सासकी भी सम्राज्ञी बनो।

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति।

(अथर्ववेद ९। ३। ९)

जिसके अन्नमें अन्य व्यक्ति भाग नहीं लेते, वह सब पापोंसे मुक्त नहीं होता।

हिरण्यस्त्रगयं मणि श्रद्धां यज्ञं महो दधत्।
गृहे वसतु नोऽतिथि ॥

(अथर्ववेद १०। ६। ४)

स्वर्णकी माला पहननेवाला, मणिस्वरूप यह अतिथि श्रद्धा यज्ञ और महनीयताको धारण करता हुआ हमारे घरमें निवास करे।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्।
श्रेयासमेनमात्मनो मानयेत्——॥

(अथर्ववेद १५। १०। १-२)

ज्ञानी और व्रतशील अतिथि जिस राजाके घर आ जाय, उसे इसको अपना कल्याण समझना चाहिये।

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभि. सचते गोपति सह॥

(अथर्ववेद ४। २१। ३)

मनुष्य जिन वस्तुओसे देवताओंके हेतु यज्ञ करता है अथवा जिन पदार्थोंको दान करता है, वह उनसे संयुक्त ही हो जाता है, क्योंकि न तो वे पदार्थ नष्ट होते हैं, न ही उन्हें चोर चुरा सकता है और न ही कोई शत्रु उन्हें यत्नपूर्वक छीन सकता है।

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्य ।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥

(अथर्ववेद १। ३१। ४)

हमारे माता-पिताका कल्याण हो। गायो सम्पूर्ण ससार और सभी मनुष्योंका कल्याण हो। सभी कुछ सुदृढ सत्ता शुभ ज्ञानसे युक्त हो तथा हम चिरन्तन कालतक सूर्यको देखें।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि स चर गृहेषु गोषु मे मन ।

(अथर्ववेद ६। ४५। १)

हे मेरे मनके पाप-समूह! दूर हो जाओ। अप्रशस्तकी कामना क्या करते हो? दूर हटो मैं तुम्हारी कामना नहीं करता। वृक्षों तथा वनोंके साथ रहो मेरा मन घर और गायोंमें लगे।

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु न ॥

(अथर्ववेद १९। ९। ३)

ब्रह्माद्वारा परिष्कृत यह परमेष्ठीकी वाणी-रूपी सरस्वती-देवी, जिसके द्वारा भयकर कार्य किये जाते हैं, वही हमें शान्ति प्रदान करनेवाली हो।

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु न ॥

(अथर्ववेद १९। ९। ४)

परमेष्ठी ब्रह्माद्वारा तीक्ष्ण किया गया यह आपका मन, जिसके द्वारा घोर पाप किये जाते हैं, वही हमें शान्ति प्रदान करें।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मन षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु न ॥

(अथर्ववेद १९। ९। ५)

ब्रह्माके द्वारा सुसंस्कृत ये जो पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन जिनके द्वारा घोर कर्म किये जाते हैं, उन्हींके द्वारा हमें शान्ति मिले।

शं नो मित्र शं वरुण शं विवस्वांछमन्तकः।
उत्पाता पार्थिवान्तरिक्षा शं नो दिविचरा ग्रहा ॥

(अथर्ववेद १९। ९। ७)

मित्र हमारा कल्याण करें वरुण सूर्य और यम हमारा कल्याण करें पृथ्वी एवं आकाशमें होनेवाले अनिष्ट हमें सुख देनेवाले हों तथा स्वर्गमें विचरण करनेवाले ग्रह भी हमारे लिये शान्ति प्रदान करनेवाले हों।

पश्येम शरद शतम् । जीवेम शरद शतम्।
बुध्येम शरद शतम् । रोहेम शरद शतम्।
पूषेम शरद शतम् । भवेम शरद शतम्।
भूयेम शरद शतम् । भूयसी शरद शतात्॥

(अथर्ववेद १९। ६७। १—८)

हम सौ वर्षतक देखते रहें। सौ वर्षतक जियें, सौ वर्षतक ज्ञान प्राप्त करते रहें, सौ वर्ष तक उन्नति करते रहें सौ वर्षतक हृष्ट-पुष्ट रहें सौ वर्षतक शोभा प्राप्त करते रहें और सौ वर्षसे भी अधिक आयुष्य जीवन जियें।

वैदिक जीवन-दर्शन

[मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है स्वयका कल्याण करना। जीवका यथार्थ कल्याण है जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना अथवा भगवत्प्राप्ति। इसके लिये जीवनका प्रत्येक क्षण परमात्मप्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये इनके आराधनमे परिणत होना चाहिये। यह वेद-निर्दिष्ट मार्गके द्वारा जीवनयापन करनेसे ही सम्भव है। जन्मसे मृत्युपर्यन्त तथा प्रात जागरणसे रात्रि-शयनपर्यन्तके सम्पूर्ण कर्तव्योका निर्देश वेदोमें उपलब्ध है। अत यहाँ अनुकरणीय वैदिक जीवन-चर्याके कुछ प्रेरक अश प्रस्तुत हैं। जिनका अनुपालन परम अभ्युदय-प्राप्तिमें सहायक हो सकेगा।—सं०]

वैदिक संहिताओमे मानव-जीवनका प्रशस्त आदर्श

मानवोका कौटुम्बिक आदर्श

माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी आदिके समुदायका नाम कुटुम्ब है। उनके साथ सर्वत प्रथम हम सब मानवोंका कैसा धर्ममय प्रशस्त आदर्श होना चाहिये इसके लिये वेदभगवान् उपदेश देते हैं—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु।

(अथर्व० १। ३१। ४)

—इसका तात्पर्य यह है कि अपने-अपने माता-पिताके प्रति हम सब मानवोंका स्वस्तिमय सद्भाव एव प्रशस्त आचरण होना चाहिये, जिससे वे स्वगृहावस्थित प्रत्यक्ष देवरूप माता-पिता सदैव सतुष्ट तथा प्रसन्न बने रहें और हमें शुभाशीर्वाद देते रहें। अर्थात् वृद्ध माता-पिताकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये प्रत्युत उनकी अभीष्ट देववत् परिचर्या करते रहना चाहिये। श्रीरामवत् उनकी प्रशस्त आज्ञाका पालन करना हमारा कर्तव्य है। कदापि कहीं भी प्रमादवश या उच्छृखलतावश उनके साथ कष्टजनक अनिष्ट एवं अशिष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिये। वेदभगवान्के इन सदुपदेशमय शब्दोंके द्वारा ऐसी शुभ भावना सदैव स्मृतिमें रखनी चाहिये—

यदापिपेष मातर पुत्र प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया॥

(शु० य० १९। ११)

'जब मैं छोटा-सा सर्वथा असमर्थ शिशु था उस समय जिस विपुल स्नेहमयी माताकी मधुरतामयी गोदमें लेटकर प्रमुदित होकर जिसके अमृतमय स्तन्यका पान करता हुआ पैरोंके आघातद्वारा उसे पीडित करता रहा अब मैं उसके लालन-पालनादिके द्वारा बड़ा हो गया हूँ, और ये मेरे पूजनीय जनक एव जननी वृद्ध तथा अशक्त हो गये हैं। अब मेरे द्वारा मेरे ये वन्दनीय माता-पिता कदापि किसी भी प्रकारसे पीडित (व्यथित) न हों, प्रत्युत मेरी प्रशस्त सेवा-सत्कार आदिके द्वारा वे सदा सतुष्ट ही बने रहें इस प्रकार हे परमात्मन्! मैं उनकी सेवा एव प्रसन्नताद्वारा आनृण्य (ऋण-भार-निवारण) सम्पादन कर रहा हूँ।'

अतएव अतिधन्य वेदभगवान् परिवारके सभी सदस्योंके प्रति ऐसा उपदेश देते हैं कि—

अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु समना।
जाया पत्ये मधुमतीं वाच वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया॥

(अथर्व० ३। ३०। २-३)

'पुत्र पिताके अनुकूल ही कार्य करे, प्रतिकूल कार्य कदापि न करे। माताके साथ भी अच्छे मनवाला बना रहे खराब मनवाला नहीं अर्थात् पिता-माता दोनोंके प्रति सम प्रेम—सद्भाव बनाये रहे। इस प्रकार उपलक्षण-न्यायसे पुत्री भी माता-पिताके अनुकूल ही कार्य करे और भार्या—पत्नी भी अपने स्वामी—पतिके प्रति मधुर—आह्लादक सुखमयी वाणी ही बोले, अर्थात् द्वेष एव कुभावपूर्वक क्षोभप्रद कटु वाणी कदापि न बोले। इस प्रकार पति भी अपनी धर्मपत्नी—भार्याके प्रति भी वैसी ही अच्छी वाणी बोले खराब नहीं। भाई भाईके प्रति भी दायभागादि-निमित्तसे विद्वेष न करे, अपितु श्रीराम एव भरतकी भाँति परस्पर प्रेमसे अपना सर्वस्व त्याग करनेके लिये उद्यत रहे तथा बहिनके प्रति बहिन भी द्वेष न करे बल्कि सदैव प्रेम—सद्भाव बनाये रहे। उपलक्षण-न्यायसे भाई एव बहिन भी परस्पर द्वेष न करें। इस प्रकार परिवारके सभी सदस्य सास-बहू, देवरानी-जिठानी आदि भी अच्छे मनवाले बनकर परस्पर शुभाचरण रखते हुए सुख-सम्मानके भागी ही बनते रहें।

इसलिये वेदभगवान् पुन [illegible]

यही उपदश देते हैं कि—

सहृदय सामनस्यमविद्वेषं कृणामि व।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्स जातमिवाघ्न्या॥
(अथर्व० ३। ३०। १)

'मैं (वदभगवान्) सदुपदेशके द्वारा कुटुम्बके छोटे-बड़े—तुम सब सदस्योंका हृदय सहृदय यानी परस्पर प्रेम-सद्भावयुक्त बनाता हूँ। समान भाववाला हृदय ही सहृदय कहा जाता है। जैसे अपना यह हृदय अपना अनिष्ट न कभी चाहता है न कभी करता है, प्रत्युत सर्वदा अपना इष्ट ही चाहता एव करता रहता है, वैसे ही जो हृदय अन्याका भी अनिष्ट न कभी चाहता है न कभी करता है प्रत्युत इष्ट ही चाहता एवं करता रहता है, वह प्रशस्त समभाववाला हृदय ही सहृदय हो जाता है। इस प्रकार मैं तुम्हे सामनस्यका उपदेश देता हूँ, अर्थात् तुम सब अपने मनको अच्छ सस्कारासे अच्छे विचारोंसे अच्छे सकल्पांसे एवं पवित्र भावनाआसे सदा भरपूर रखा वैमनस्यका निवारण करते हुए ऐसा सामनस्य सदा धारण करते रहो। मैं सहृदय एव सामनस्यक द्वारा विद्वेषाभायसे उपलक्षित प्रेम, सद्भाव सरलता सुशीलता, विनय विवेक आदि गुणोंसे युक्त शरीरादिके सभी व्यवहाराका तुम्हें कर्तव्यरूपसे बोधन कर रहा हूँ। जैस गाय अपने सद्योजात अभिनव वत्सके प्रति अत्यन्त स्नेह रखती है वैसे ही तुम सब परस्पर विशुद्ध स्नेह रखो और निष्कपट विनम्र—सरल स्वभाव बनाये रहो।'

इस प्रकार वेदभगवान् हम मानवोंके गृहोंमे पूर्वोक्त सद्गुणोंके विकासद्वारा स्वर्गीय आनन्दका उपभोग करनेके लिये एसा उपदेश दकर हमारे लिये कौटुम्बिक आदर्श प्रदर्शित कर रह हैं।

सुमति-लाभकी प्रार्थना

मानवोंमें रहा हुआ स्व-पर-हितकर सद्भावनारूप धर्म हा मानवता कहा जाता है, इसाका दूसरा नाम सुमति है। यह सुमति ही मानवको सच्चा मानव बनाकर सद्गुणमयी सुख-सम्पत्तियोंके सदा प्रफुल्लित-सुगन्धित-रमणीय-स्वादु-फलाढ्य आनन्दरूपा भवनमें स्थापित कर धन्य बना देता है और जिसम कुमति बनी रहती है वह मानव मानव ही नहीं रहता अपितु पूरा दानव बन जाता है तथा विविध विपत्तियोंके कुत्सित गर्तमें पड़कर दुखी ही बना रहता है।

यह सुमतिका प्रार्थना प्राचीनतम वैदिक कालसे ही चली आ रही है। अतएव हमारे अतिधन्य वेदोंमें भी सुमति-लाभकी प्रार्थनाएँ इस प्रकार की गयी हैं—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।
(ऋक्० १। १५६। १)

उर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।
(ऋक्० १। २४। ९)

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां
देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
(ऋक्० १। ८९। २, शु० य० २५। १५)

'हे विष्णो! तुझ महान् परमात्माकी सर्वजन-सुखकर-हितकर सुमतिका हम सेवन करते हैं।' सद्गुरु महर्षि आशीर्वाद देता है कि—'हे शिष्य! तुझे उर्वी यानी उदार—विशाल सद्भाववाली एवं गम्भीर सुमति प्राप्त हो।' 'हम सब मानव कुटिलतारहित सौम्य—स्व-परहितकर सरल स्वभावका सम्पादन करना चाहते हैं अत हमें इन महान् देवोंकी कल्याणकारिणी भद्रा-सुमतिका लाभ हो, वे महान् कृपालु देव हमें सुमतिका दान दें।'

भद्रा-सुमतिके द्वारा अभिनय-सर्जित मानव-जीवन अतीव प्रशस्त—भद्रमय हा जाता है इसलिये ऋग्वेदसहिताके 'देवानां भद्रा सुमति' इस मन्त्रपर अध्यात्म-ज्यात्स्नायिवृतिका संस्कृत-व्याख्यान किया गया है जिसका भाव इस प्रकार है—

'देवाके अनुग्रहसे प्राप्त भद्रा-सुमतिके प्रभावसे हम सब मानव सदा सत्यका ही परिशीलन (सेवन) करें सर्वदा सम-शान्त-प्रसन्न प्रेम एवं कृपारूपी अमृतमयी दृष्टिकी पावन वृष्टिसे हम समस्त विश्वका परिसिञ्चन करते रहें प्राणप्रिया सुन्दरीके समान विश्वहितेच्छुता हृदयमें सदा धारण करें मन, वाणी एव क्रियामें समभाव रखनेकी प्रीतिका हम वरण करें सर्वजनक हितकर सत्कार्योंमें अपने मन, वाणी एवं शरीरक कर्मोंको प्रवृत्तियोंको लगात रहें। हम विपत्तियोंमें व्याकुलताका एव सम्पत्तियोंमें उच्छृंखलताका अवलम्बन न करें। अन्योंक सुख-दु ख भी अपन सुख-दु खके समान ही इष्टानिष्ट हैं—अर्थात् जैस हम अपने लिये सुख ही चाहते हैं दु ख नहीं चाहते वैसे ही हमें दूसरोंक लिये भी सुखकी कामना रखनी चाहिये दु खकी नहीं। इस प्रकारके समभावका सम्पादन करनेका आग्रहशाली स्वभाव हम अङ्गीकार करें, कभी भी उद्वेग करनेवाले वचनका उच्चारण न करें अन्यायसे परधनका हरण न करें, कुत्सित दृष्टिसे परायी स्त्रियोंका न देखें। पुरुष-मानव एकपत्नीव्रतका एवं पत्नी-मानव पातिव्रत्यका पालन करें। ब्राह्ममुहूर्तमें उठना,

सन्ध्योपासना-मन्त्रजपादि नित्यकर्म, पथ्यभोजन, व्यायाम स्वाध्याय, सत्सग एवं दानादिका प्रतिदिन अनुष्ठान करते रहें। अपनी सज्जनतासे प्रादुर्भूत यशका उपार्जन करें। परमेश्वरकी भक्तिरूपी सर्वथा सुन्दरतम कल्पवृक्षकी शान्त-सुखप्रद छायाका हम एक क्षणके लिये भी परित्याग न करें। ब्रह्मचर्य, अभय, पराक्रम अहिसा आदि देवगुणोंको धारण करें। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-पूर्ण-अद्वय-अनन्त-आनन्दनिधिरूप आत्माका निरन्तर हम अनुसधान बनाये रहे।'

जैसे तपस्विनी वृद्धकुमारीके प्रति इन्द्र देवताने कहा कि 'तू मुझसे वरदान माँग।' इसपर उसने ऐसा वर माँगा कि 'मेरे पुत्र काँसीके पात्रमें बहुक्षीर एव बहुघृतसे युक्त भात खायें' और इस प्रकार एक ही वाक्यसे उसने पति, पुत्र, गायें चावल आदि सबका सग्रह कर लिया। वैसे ही यहाँ भी सुमतिके ग्रहणसे सभी सद्भाव-सदाचारादि शुभ गुण सगृहीत हो जाते हैं। इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजी रामचरितमानसमें कहते हैं—

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

अर्थात् सुमति ही विविध सद्गुणरूपी सम्पत्तियोंकी जननी है, और कुमति विविध दुर्गुणरूपी विपत्तियोंकी।

स्व-पर-मित्रता-लाभकी प्रार्थना

शुक्लयजुर्वेदसहितामे सर्वभूतसुहृद् भगवान्से मानव इस प्रकार स्व-पर-मित्रता-लाभके लिये प्रार्थना करते हैं—

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥
(शु० य० ३६। १८)

'हे दृते! अर्थात् सर्वजनाके द्वारा आदरणीय-प्रार्थनीय अनन्तानन्दनिधे भगवन्! या निखिलशोक-सताप-विदारक परमात्मन्! तू मेरे दुर्गुणादिका निवारण करके मुझे मैत्र्यादि सद्भावनासे युक्त बना! मनुष्यादि विविध समस्त प्राणिवर्ग मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें शत्रुकी दृष्टिसे नहीं—ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ। मैं सबको मित्रकी सुखकर-हितकर प्रिय दृष्टिसे देखता हूँ, यह मेरी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा है और हम सब मानव मित्रको दृष्टिसे हा एक-दूसरेको देखते हैं यह हम सबकी समष्टि-प्रतिज्ञा है। अर्थात् मैं समस्त मानवादि प्राणिवर्गको आत्मवत् प्रिय मानूँ—केवल प्रिय ही नहीं किंतु उनका हितकर-सुखकर भी बना रहूँ और वे भी मुझ प्रिय मानें मेरे प्रति हितकर-सुखकर हो बने रहे।'

अथर्वसहितामें भी ऐसी ही प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु।
(अथर्व० १९। १५। ६)

असपत्ना प्रदिशो मे भवन्तु
न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु।
(अथर्व० १९। १४। १)

मा नो द्विक्षत कश्चन।
(अथर्व० १२। १। १८)

अर्थात् समस्त दिशाओंमे अवस्थित निखिल मानवादि प्राणी मेरे मित्र—हितकारी हो बन रहें और मैं भी उन सबका हितकर मित्र ही बना रहूँ। समस्त प्रदेशोंमे अवस्थित जन मेरे प्रति सताप एव उपद्रवके बीजभूत शत्रुभावसे रहित हों। तुम्हारे या अन्य किसीके प्रति भी हम द्वेषभाव नहीं रखते प्रत्युत प्रेम—सद्भाव ही रखते हैं, इसलिये हमें परस्पर अभय ही बने रहना चाहिये। कोई भी मानव हमारे प्रति द्वेषभाव न रखे प्रत्युत प्रेम—सद्भाव ही रखे। इस प्रकार परस्पर मित्रभाव रखनेसे ही मानव सच्चा मानव बनकर सर्वत्र सुखपूर्ण स्वर्गीय दृश्यका निर्माण कर सकता है।

मधुरतापूर्ण समग्र जीवनकी प्रार्थना

कैसे जीना और कैसे मरना? ये दो प्रश्न समस्त मानवोंके प्रति प्रतिक्षण उपस्थित रहते हैं। जैसा जीवन वैसा मरण—यह सामान्य नियम है। जिसका जीवन मधुर है उसका मरण भी मधुर ही रहता है। जिसका जीवन कटु है उसका मरण भी कटु ही बन जाता है। जो अपने जीवनको सुधारता है उसका मरण भी स्वत सुधर जाता है जिसका वर्तमान अच्छा है उसका भविष्य भी अच्छा ही रहता है। अत स्वत प्रमाण वेदभगवान् प्रथम हमें अपने इस वर्तमान जीवनको मधुरतापूर्ण ही बनानेके लिये हमारी प्रार्थनाद्वारा इस प्रकार आदेश देते हैं—

ॐ मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥
(अथर्व० १। ३४। ३)

'निक्रमण यानी मेरी समस्त प्रवृत्तियाँ मधुरतापूर्ण—सर्वत्र सदा प्रसन्नता-सम्पादक ही बनी रहें और परायण यानी मेरी निखिल निवृत्तियाँ भी मधुरतासे युक्त ही होनी चाहिये (जैसे अनीतिपूर्वक परद्रव्य-ग्रहणसे निवृत्ति—[illegible] है तथा उच्छृङ्खल विषय-[illegible] निवृत्ति—[illegible] है—इत्यादि निवृत्तियाँ यहाँ समझनी चाहिये)। [illegible] मैं मधुर ही बनता हूँ और मैं [illegible]

करते हुए तुम सब मानव आगे बढ़ो अलग-अलग मत होओ परस्पर विरोध मत करो, प्रत्युत सम्मिलित होकर शान्तिसे रहो।

समभावका सदुपदेश

विषमभाव अशान्ति एवं दुःखका प्रयोजक है तथा समभाव शान्ति और आनन्दका आविर्भावक है। इसका प्रत्यक्षानुभव मानवोंको अपने लौकिक व्यवहारोंमें भी होता रहता है। परमार्थ—कल्याणमार्गमें तो विषमभावका त्याग नितान्त अपेक्षित है, इसके बिना समभावका लाभ कदापि नहीं हो सकता। अतः विषमभावका विषके समान परित्याग करके अमृतके समान समभावको धारण करनेके लिये वेदभगवान् इस प्रकार उपदेश देते हैं—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(ऋक्० १०। १९१। ४)

आप सब मानवोंकी आकूति अर्थात् संकल्प निश्चय प्रयत्न एवं व्यवहार समान—समभाववाले, सरल—कापट्यादि-दोषरहित स्वच्छ रहें एवं आप सब मानवोंके हृदय भी समान—निर्द्वन्द्व हर्ष-शोकरहित समभाववाले रहें तथा आप सब मानवोंका मन भी समान—सुशाल, एक प्रकारके ही सद्भाववाला रहे। जिस प्रकार आप सबका शोभन (अच्छा) साहित्य (सहभाव)—धर्मार्थादिका समुच्चय सम्पादित हो उस प्रकार आपके आकृति—हृदय एवं मन हों।

उपसंहार

इस प्रकार स्वतः प्रमाण अतिधन्य वेदोंकी संहिताओंमें मानवोंके प्रशस्त आदर्शोंका वर्णन बहुत ही प्रचुररूपमें किया गया है। अन्तमें ऋग्वेदसंहिताके निम्नाङ्कित दो प्रार्थनामन्त्रोंको उद्धृत करके इस लेखका हम उपसंहार करते हैं। मानव-जीवनको आदर्शमय (चारित्र्यशाली) बनानेमें भगवत्प्रार्थना एक मुख्य प्रयोजक साधन माना गया है। जो मानव उन अपने अन्तर्यामी सर्वात्मा भगवान्पर दृढ़ विश्वास रखता है, उनके शरणापन्न बना रहता है उनके इष्टानिष्ट सभी विधानोंमें ही संतुष्ट रहता है सभी परिस्थितियोंमें उनकी पावन मधुर ध्रुवा स्मृति बनाये रखता है और विश्वके अभ्युदय एवं निःश्रेयसके लिये हृदयके सद्भावोंके साथ उन सर्वसमर्थ प्रभुकी प्रार्थना करता रहता है, उस मानवमें पशुता एवं दानवताका ह्रास होकर मानवताका विकास हो जाता है। केवल मानवताका ही नहीं, किंतु उन करुणासागर भगवान्की अनुपम कृपासे उसमें क्रमशः देवत्व एवं महादेवत्वका विकास होकर उसका मानव-जीवन धन्य एवं चरितार्थ बन जाता है।

विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये
वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये
स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥
(ऋक्० ५। ५१। १३)

'भगवत्स्वरूप समस्त देव इस समय हम सब मानवोंके स्वस्ति (कल्याण)-लाभके लिये अनुकूल हों। वैश्वानर वसु अग्निदेव भी हमारे मङ्गलके लिये प्रयत्नशील हों। ऋभु यानी स्वर्गनिवासी देव हमारे कल्याणके लिये हमारा रक्षण करें। रुद्रभगवान् भी हमारे कल्याणकी सिद्धिके लिये पशुता एवं दानवतारूप पापसे हम सब मानवोंकी रक्षा करें।'

शं नो देवः सविता त्रायमाणः
शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः
शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः॥
(ऋक्० ७। ३५। १० अथर्व० १९। १०। १०)

'भय एवं संतापोंसे रक्षा करते हुए सवितादेव हम सबके शान्ति-सुखके लिये अनुकूल हों। सूर्यप्रकाशसे प्रथम अपना मधुर एवं शान्त प्रकाश फैलानेवाली एवं अन्धकारको भगा देनेवाली उषा देवियाँ हम सबके कल्याणके लिये प्रयत्नशील हों। पर्जन्य (मेघ) हमारी सब प्रजाके लिये सुखकारी हो। क्षेत्रके पति शम्भुभगवान् हम सबके सुख शान्ति एवं कल्याण हेतु प्रसन्न हों।'

हरिः ॐ तत्सत्, शिवोऽहं शिवं सर्वम्, शिवं भूयात् सर्वेषाम्। [इस उपलम्भका शेष निबन्ध पृष्ठ ४७४ से—]

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार

वैदिक संस्कृतिक शासक भगवत्पाद आचार्य शंकर

वेद मंत्र सिखे स्रोत ऋषिकुल
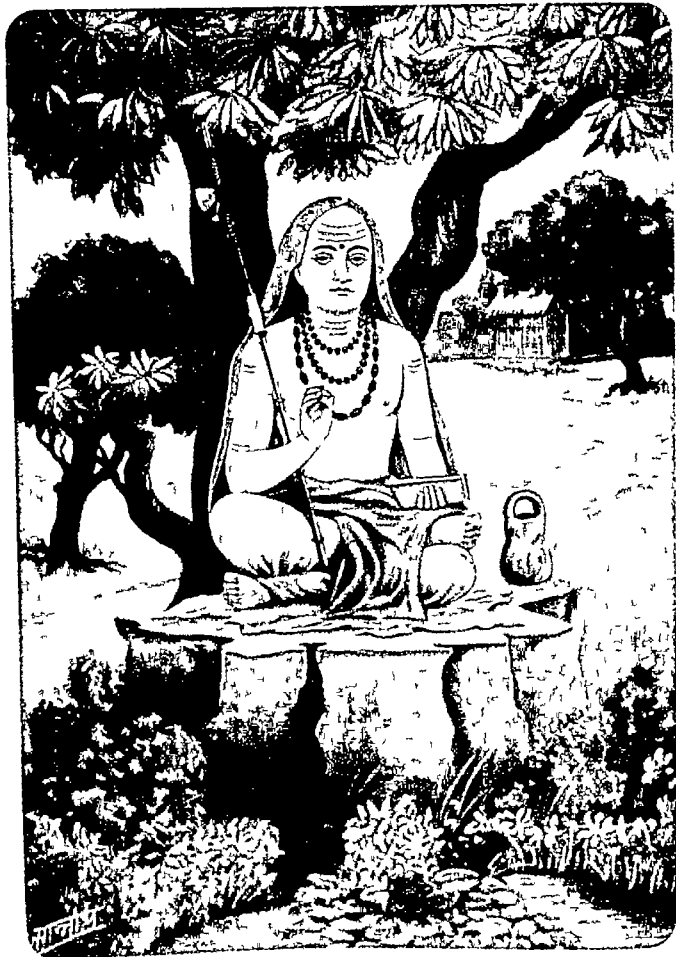
ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
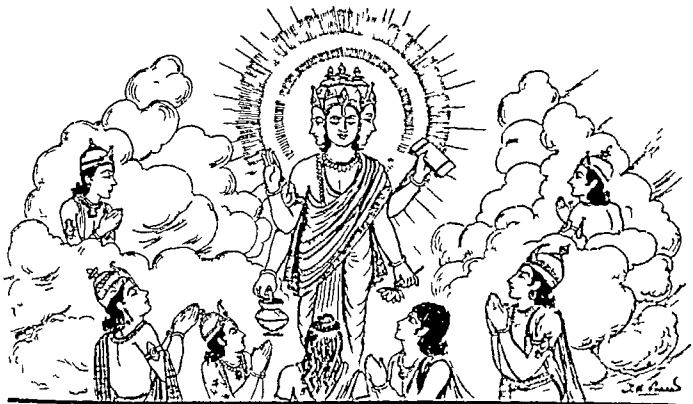
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

वर्ष ७३

गोरखपुर, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०५५ श्रीकृष्ण-सं० ५२२४ फरवरी १९९९ ई०

संख्या २

पूर्ण संख्या ८६७

संसारमें प्राचीन सबसे हैं हमारे वेद ही

हम वेद, वाकोवाक्य-विद्या-ब्रह्मविद्या-विज्ञ थे,
नक्षत्र-विद्या, क्षत्र-विद्या, भूत-विद्याऽभिज्ञ थे।
निधि, नीति-विद्या, राशि-विद्या, पित्र्य-विद्यामें बढ़े,
सर्पादि-विद्या, देव-विद्या, दैत्य-विद्या थे पढ़े॥
जिनकी महत्ताका न कोई पा सका है भेद ही,
संसारमें प्राचीन सबसे हैं हमारे वेद ही।
प्रभुने दिया यह ज्ञान हमको सृष्टिके आरम्भमें,
है मूल चित्र पवित्रताका सभ्यताके स्तम्भमें॥

(भारत-भारती)

वैदिक जीवन-दर्शन

[पृष्ठ ४७२ से आगे]

वैदिक गृह्यसूत्रोमे संस्कारीय सदाचार

(डॉ० श्रीसीतारामजी सहगल शास्त्री एम्० ए० ओ० एम्० पी एच्०डी०)

प्राचीन भारतमें अन्तर्हृदयकी ग्रन्थियोका सुलझान तथा भगवत्प्राप्तिके लिये व्यक्तिका जन्मसे लेकर मृत्युतकका जीवन संस्कारोंसे संस्कृत होता रहता था। इसकी ध्वनि वेदसे ही सुनायी देती है। वेदोंका गृह्यसूत्र-साहित्य अपने-आपमें बड़ा व्यापक है, जिसका कारण हमारे देशके विस्तृत भूभाग, विविध भाषाएँ, विविध धर्म तथा विविध जातियोंकी आचार-धाराएँ रही हैं। आचार-विविधताओंके कारण अनेक गृह्यसूत्रोंकी रचना युक्तिसंगत ही प्रतीत होती है।

ऋग्वेदके तीन गृह्यसूत्र हैं—आश्वलायन शांखायन तथा कौषीतकि। शुक्लयजुर्वेदके दो गृह्यसूत्र हैं—पारस्कर और वैजवाप। कृष्णयजुर्वेदके बौधायन, भारद्वाज आपस्तम्ब हिरण्यकेशीय वैखानस, अग्निवेश्य मानव, काठक तथा वाराह—ये नौ गृह्यसूत्र हैं। सामवेदके—गोभिल, खादिर तथा जैमिनि—ये तीन गृह्यसूत्र हैं। अथर्ववेदका कोई गृह्यसूत्र नहीं है उसका केवल वैतानकल्पसूत्र या कौशिकसूत्र प्रसिद्ध है, जिसमें गृह्यसूत्रादिक सभी कर्म निर्दिष्ट हैं।

हम यहाँ ऋग्वेदीय शांखायन गृह्यसूत्रके प्रधान कर्मोंकी सूची उद्धृत करते हैं, जिससे सब संस्कारोंका परिचय सम्भव हो सकेगा। उदाहरणार्थ—स्वाध्यायविधि (१। ६) इन्द्राणीकर्म (१। ११), विवाहकर्म (१। १२), पाणिग्रहण (१। १३) सप्तपदक्रमण (१। १४) गर्भाधान (१। १९) पुंसवन (१। २०) सीमन्तोन्नयन (१। २२) जातकर्म (१। २४) नामकरण (१। २५) चूडाकरण (१। २८) उपनयन (२। १), वैश्वदेवकर्म (२। १४) समावर्तन (३। १) गृह्यकर्म प्रयराकर्म (२ ३ ४) श्राद्धकर्म (४। १), उपाकरण (४। ५) उपाकर्म (४। ७), सपिण्डीकरण-कर्म (४। ३), आभ्युदयिक श्राद्ध-कर्म (४। ४) उत्सर्गकर्म (४। ६) उपरमकर्म (४। ७) तर्पण (४। ९) और स्नातक-धर्म (४। ११)—ये संस्कार मत्स्यपुराणसे लेकर भगवान् राम कृष्ण एवं हर्षवर्धनके समयतक आवश्यकरूपमें रहे। महाकवि कालिदासने इनमेंसे कुछ संस्कारोंकी चर्चा अपने ग्रन्थोंमें की है, जैसे—पुंसवन (कुमारसम्भव ३। १०), जातकर्म (रघुवंश ३। १८) नामकरण (रघु० ३। २१), चूडाकरण (रघु० ३। २८) उपनयन (कुमार० ३। २९), गोदान (रघु० ३। ३) विवाह (कुमार० ६। ४९), पाणिग्रहण (रघु० ७। २१), दशाह (रघु० ७। ७३)। संस्कारोंके इस वर्णनसे यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि राजासे रंकतक—सबकी परम्परागत इन कर्मोंमें श्रद्धा होती थी। यही कारण है कि भारतमें समय-समयपर होनेवाले आक्रमणकारियोंके बर्बरतापूर्ण आक्रमण निष्फल रहे। ये ही हमारे पूर्वजोंकी अमर योजनाएँ, जिन्होंने देशको अखण्डित तथा हमें स्वाधीन बनाये रखा और जिनके द्वारा संस्कृत होनेके कारण हम सब एकतामें आबद्ध रहे।

गृह्यसूत्रोंमें आश्रमोंकी व्यवस्थाका व्यापकरूपसे वर्णन मिलता है। ब्रह्मचर्य विवाह और वानप्रस्थ—ये तीन आश्रम व्यापकरूपसे समाजमें प्रचलित रहे। 'तैत्तिरीयसंहिता' के एक मन्त्रमें प्रकारान्तरसे इनसे सम्बद्ध तीन ऋण कहे गये हैं—'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी' (६ ३, १० १३) अर्थात् 'जब ब्राह्मण पैदा होता है तो उसपर तीन ऋण लदे रहते हैं। ऋषि-ऋणसे अपाकरणके लिये ब्रह्मचर्यव्रत (शिक्षा), देव ऋण देनेके लिये यज्ञ (समाज) तथा पितृ ऋणसे मुक्तिके लिये वह श्रेष्ठ परिवारमें विवाह करता है।' 'शांखायनगृह्यसूत्र' के उपनयन-संस्कारमें तीनों वर्णोंकी अवधिका उल्लेख है जो इस प्रकार है—'गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत' (२। १) 'गर्भैकादशेषु क्षत्रियम् (२। ४)। 'गर्भद्वादशेषु वैश्यम्' (२। ५) आषोडशाद् वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतकाल' (२। ७), आ द्वाविंशात् क्षत्रियस्य (२। ७) आ चतुर्विंशाद् वैश्यस्य (२। ८)। अर्थात् 'गर्भाधान-संस्कारके बाद आठवें

वर्षमें ब्राह्मणका ग्यारहवे वर्षम क्षत्रियका तथा बारहवें वर्षमें वैश्यका उपनयन-संस्कार करे। विशेष कारणवश इस अवधिमें न होनेपर ब्राह्मणके संस्कार सोलह वर्षतक क्षत्रियके बाईस वर्षतक और वैश्यके चौबीस वर्षतक करनेकी बात कही गयी है। यदि तीनों वर्ण इस अवधिके बीच अपना संस्कार सम्पन्न नहीं कर लेते थे तो वे उपनयन शिक्षा तथा यज्ञके अधिकारोंसे वञ्चित समझे जाते थे।

आजके युगमे भी शिक्षाको राज्यकी ओरसे अनिवार्य बनानेकी योजना उसी प्राचीन महनीय परम्पराका ओर संकेत करती है। उपर्युक्त उद्धरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अर्थात् पचहत्तर प्रतिशत लोग उस युगम शिक्षित ही नहीं होते थे अपितु वे राष्ट्रमें संस्कृत या संस्कारवान् कहलानके अधिकारी भी होते थे। वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतीय जीवनका मेरुदण्ड था। यह हमारे जीवनके उत्कर्षकी ध्वजा समझी जाती थी। कुछ आधुनिक शिक्षाके आलोकमें अपनेको प्रबुद्ध माननेवाले भ्रान्तलोग इस व्यवस्थाको हमारी सात सौ वर्षोंकी गुलामीका कारण बतलानेका साहस करते हैं। किंतु प्राचीन कालम जितने भी शक, हूण आदि विदेशी जातियोंके आक्रमण हुए, उनसे सुरक्षित रखनेकी क्षमता इसी वर्णव्यवस्थामे थी। इस वर्णाश्रमधर्मको माननेवालामे स्वधर्मके प्रति गर्व और गौरवकी भावना इतनी अधिक थी कि वे दूसरोकी अपेक्षा अपनेको श्रेष्ठ समझते थे।

पाश्चात्त्य चिन्तकाने अपने ग्रन्थामे हृदय खोलकर इस उत्कर्षके लिय भारतीयाकी प्रशंसा की है। सिडनीने अपने ग्रन्थ 'भारतीय अन्तर्दृष्टि' म कहा है कि 'हिंदुआने विदेशी आक्रमणों तथा प्राकृतिक प्रकोपाका सामना करनेम जो शक्ति दिखलायी है, उसका कारण उनकी अजस्र अमर और अजर वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था है।' इसी तरह सर लारेन्सने अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन'म लिखा है—'हिंदुओकी जातीय प्रथाने संघका काम किया है, जिससे उसे शक्ति मिली है और उसन विभिन्न वर्णोंका सुसंगत रखा है।' गार्डीनरने भी अपनी पुस्तक 'समाजके स्तम्भ' में लिखा है—'वर्णाश्रमधर्मने भारतीय विश्वास तथा परम्पराओंको जीवन्त रखा है।' पश्चिममे आदर्शोंके स्थानपर धन-दौलतको आधार माना गया है जो बालूकी दीवारकी तरह अस्थिर है।

पर हमारे यहाँ आचार्योका समाजमं ही नहीं, अपितु राष्ट्रभरम आचारसे ही आदर होता था। ये आचरणके क्षेत्रमें उदाहरणीय-अनुकरणीय व्यक्ति समझ जाते थे। ईसासे आठ सौ वर्ष पूर्व भगवान् यास्कन अपने ग्रन्थ 'निरुक्त'म आचार्यका निर्वचन करत हुए लिखा था—'आचार्य कस्माद्? आचिनोत्यथान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा।' (१।४)—अर्थात् 'आचार्य किसे कहत हैं?—जो शिष्यको सदाचरण सिखलाता है अथवा शिष्यको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोंको समझा देता है।' गृह्यसूत्राका तात्पर्य संस्कारोके संनिदेशसे है। इन्हीं संस्कारोके कारण सम्राट् तपस्वियोंके चरण छूकर अपने जीवनका धन्य मानते थे और क्षत्रम ब्राह्म पूज्यतर समझा जाता था।

~~~

परमात्माकी आज्ञामे रहकर कर्म करना चाहिये

देवस्य सवितु सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषा । शं नो भवन्तप ओषधी शिवा ॥

(अथर्व० ६।२३।३)

मन्त्रमें परमात्माकी ओरसे दो आज्ञाएँ हैं—(१) मनुष्य कर्मशील हों निरुद्यमी न हों तथा (२) परमात्माकी आज्ञाके अनुकूल कर्म करें, उसक प्रतिकूल नहीं। जिससे मनुष्य सत्कर्मी हो सक और असत्कर्मोका त्याग कर सकें। इसका नाम कर्मयोग है।

इस प्रकार शुभ कर्मोंके करनेसे जल आदि संसारक सभी पदार्थ हमारे लिये कल्याणकारी हो जायँगे। क्योंकि संसारकी रचना कर्मफल भोगवानेके लिये है अत उत्तम कर्मियोंके लिय संसार अवश्य कल्याणकारी होगा।

कर्तव्य-शास्त्रके दो पहलू हैं—असत्-कर्मोंका त्याग और सत्कर्मोंका अनुष्ठान। असत्-कर्मोंके त्यागमात्रसे ही मनुष्य धर्मात्मा नहीं बनता अपितु इसके लिये शास्त्रोंने सत्कर्म करनेकी आज्ञा दी है।

~~~

वेदोमें गार्हस्थ्य-सूत्र

[गार्हस्थ्य-सम्बन्धी कतिपय प्रमुख महत्वपूर्ण एवं अत्यन्त उपादेय वैदिक सूक्तोंको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।]

ऊर्ध्वा धीतिः प्रत्यस्य प्रयामन्यधायि शस्मन्त्समयन्त आ दिशः ।
स्वदामि घर्मं प्रति यन्त्यूतय आ वामूर्जानी रथमश्विनारुहत्॥

(ऋक्० १।११९।२)

हे विद्वान् स्त्री-पुरुषो! जिस प्रकार रथके उत्तम मार्गको सुविधापूर्वक चलने योग्य बनाया जाता है, जिससे रथपर सवार होकर सुविधापूर्वक दूर देशको पहुँचा जा सके, उसी प्रकार तुम दोनोंकी प्रशंसायुक्त जीवन-यात्रामें—उत्तम मोक्ष-मार्गमें जानेके लिये इस शरीर और आत्माके धारण-पोषणका कार्य प्रतिक्षण चले। हमारी इन क्रियाओंपर नियन्त्रण रखने-हेतु उपदेश करनेवाले गुरुजन हमें भलीभाँति प्राप्त हों। मैं जिज्ञासु पुरुष, गुरुसे प्राप्त अति प्रदीप्त उज्ज्वल ज्ञानरसका मेघसे गिरते जलके समान उत्तम रीतिसे उपयोग करूँ, रमण करने योग्य रथके समान गृहस्थ-आश्रमको सब ओरसे अन्न सम्पत्ति और पराक्रम-शक्ति प्राप्त हो।

कथा ते अग्ने शुचयन्त आयोर्ददाशुर्वाजेभिराशुषाणाः ।
उभे यत् तोके तनये दधाना ऋतस्य सामन् रणयन्त देवाः ॥

(ऋक्० १।१४७।१)

हे ज्ञानी विद्वान्! पुत्रों तथा पौत्रों आदिके विधाननमें दो प्रकारका चरित्र रखनेवाले (अलग-अलग प्रकारका असमान व्यवहार करनेवाले) जो मनुष्य अपने लिये पुत्र-पौत्रादिसे पवित्र व्यवहारकी आशा रखते हैं सामवेदमें सत्य-व्यवहार क्या कहा है? वे इसपर कैसे वाद-विवाद करें (तात्पर्य यह कि जो इतने मूर्ख हैं कि संतानोंके प्रति असमानताका व्यवहार करके उनसे अपने लिये पवित्र व्यवहारकी आशा करते हैं, उनका वेदमें सत्य-व्यवहार क्या है, क्या नहीं—इसपर वाद-विवाद करना व्यर्थकी बकवास ही है)।

अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः ।
गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः ॥

(ऋक्० १।१९०।१)

हे विद्वान् गृहस्थ! धर्मयुक्त कार्योंमें रुचि रखनेवाले धर्मोपदेश करनेवाले वस्त्रवेत्ता, शास्त्रानुकूल आचरण करनेवाले, पैदल धर्म-प्रचार-हेतु घूमनेवाले अतिथियोंकी भलीभाँति भोजनादिकी व्यवस्था करो उनकी सेवा-सत्कार करो।

साध्वपांसि सनता न उक्षिते उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तुं ततं संवयन्ती समीची यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती॥

(ऋक्० २।३।६)

दिन-रात्रि जिस प्रकार मानवको उत्तम कर्म करनेकी प्रेरणा देते हैं, वस्त्र बुननेवाले करघेपर सूत ताने-बानेके रूपमें निरन्तर शब्द करता हुआ चलता है, उसी प्रकार घरमें स्त्री-पुरुष दोनों ही उषाकालके समान कान्तियुक्त तथा रात्रिकी सुखनिद्राके समय विश्रामदायक हों। ये दोनों विनययुक्त कर्म करनेवाले सुखदाता, परस्पर प्रेमसे परिपूर्ण, हृष्ट-पुष्ट तथा किसी भी कामको करनेमें अथवा उसका निषेध करनेमें समर्थ हों। ये दोनों परस्पर रमणीय मनोहर शब्द बोलते हुए एक-दूसरेके प्रति आत्मदानी एवं सुसंगतिजनक गृहस्थ यज्ञके स्वरूपको परस्पर मिलकर भलीभाँति सुन्दर बनाते हैं। व परस्परकी कामनाओंको भलीभाँति पूर्ण करते हुए अन्न-दुग्धादिसे भरपूर होकर रहें।

प्रातर्यावाणा रथ्येव वीरा अजेव यमा वरमा सचेथे।
मेने इव तन्वा शुम्भमाने दंपतीव क्रतुविदा जनेषु॥

(ऋक्० २।३९।२)

हे वर और वधू! तुम दोनों रथमें जुते दो अश्वोंके समान या रथमें लगे दो पहियोंके समान एक साथ मिलकर प्रात से ही कार्योंमें व्याप्त होकर वीर्यवान् वीर होकर, अनुत्पन्न-अनादि दो आत्माओंके समान परस्पर एक दूसरेके ऊपर प्रेमयुक्त होकर, यम-नियमके पालक एवं जितेन्द्रिय होकर श्रेष्ठ कार्य करो और धन प्राप्त करो। तुम दोनों परस्पर सम्मान करनेवाले दो स्त्री-पुरुषोंके समान या दोनों नर-मादा मैना पक्षीके समान शरीरसे शोभायमान और आदर्श पति-पत्नीके समान दाम्पत्य-सम्बन्धका पालन करते हुए सब मनुष्योंके बीच यज्ञ आदि उत्तम कर्म तथा श्रेष्ठ ज्ञानको प्राप्त करके परस्पर मिलकर रहो।

अन्वे हवि. सपने साध्व पान्तु व्यारिष्टन्तु स हेय स्तोभी ।
प्रसर्स्राणो अनु दीर्घाय निर्वृर्षध्ये युवाजारो विरुहा हित. ॥

(ऋक्० ५।४४।२)

हे मनुष्यो! जो दानवीर (हिमित वार्णीवाले—कटुभाषी

नहीं हैं अर्थात् सबको सुख देनेवाले) एव मधुरभाषी हैं, वे चिरकालतक जरारहित यौवनावस्थाको प्राप्त शक्तिमान् होते हैं, जिस भाँति यज्ञमें आहुत सामग्री रोगोंको नष्ट करके वायुमण्डलको सुगन्धित करती है, उसी भाँति वे मानव अपनी मधुर, सर्वहितकारी वाणीसे सर्वत्र प्रेमका सचार करते हुए, जैसे मातासे पुत्रको प्रेम प्राप्त होता है, सबसे प्रेम प्राप्त करते हैं।

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रिय सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते विततावि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती॥

(ऋक्० ६।७५।३)

हे शूरवीर! जैसे धनुषपर प्रत्यञ्चा (अर्थात् धनुषमें लगी ताँत-'डोरी'पर) चढाकर ही शर-सधान किया जाता है, उसी भाँति वीर विदुषी पत्नी अपने प्यारे पतिके साथ हर समय हर प्रकारसे सहयोग करनेके लिये सलग्न रहती है। जैसे धनुषकी प्रत्यञ्चापर शर-सधान करके ही सग्राममे विजय प्राप्त होती है, उसी भाँति (समान-कर्मा) पति-पत्नी समान-कर्म तथा समान-विचारवाले होकर परस्पर सहयोगपूर्वक जीवन-संग्राममें विजयको प्राप्त करते हैं।

य आध्राय चकमानाय पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मन कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितार न विन्दते॥

(ऋक्० १०।११७।२)

जो पालन करने योग्यको, भूखेको, दु खी जनको, भोजनके लिये समीप आये हुएको देखकर अन्न-धनवाला होते हुए भी मनको कठोर कर लेता है (अर्थात् भोजनादि या जो सहायता उसे अपेक्षित है, नहीं देता) तथा उसको देनेके पूर्व ही खा लेता है, वह दयालु परमात्माको नहीं पाता।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता सत्य ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०।११७।६)

अनुदार चित्तवाला व्यक्ति अन्न-धनको व्यर्थ ही पाता है। मैं सत्य कहता हूँ, उसकी यह मृत्यु ही है (सचित धनैश्वर्यके अपहरणका भय ही इस सुख-स्वरूप जीवकी अभयताम सर्वप्रमुख बाधक है कभी-कभी ता धनके कारण शरीर भी छोडना पडता है), क्योंकि वह न तो सत्कर्म, दान तथा उपासनादिद्वारा परमप्रभुको तृप्त करता है, न सहयोग-सहायताद्वारा मित्रोको ही पुष्ट करता है, केवल अपने भोगोकी ही पूर्ति करनेवाला मानव पाप खाता है, साक्षात् पापरूप ही होता है।

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यं ।
यद्दित्ससि स्तुतो मघम्॥

(अथर्ववेद २०।२७।४)

तेरी प्रवृत्ति यदि जगत्के हितार्थ दान देनेकी हो तो तरे ऐश्वर्यको बढानेसे राकनेका सामर्थ्य देव भी नहीं रखते, फिर तो सामान्य मनुष्य तरे ऐश्वर्यवान् होनेमें क्या बाधा बनेगा? [प्रस्तुति—श्रीनाथूरामजी गुप्त]

मित्र और शत्रुके साथ ऐकमत्य

संज्ञानं न स्वेभि संज्ञानमरणेभि । सज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्॥

(अथर्व० ७।५२।१)

—इस मन्त्रमें एक राष्ट्रके लोगोंमें तथा दूसरे राष्ट्रके लोगोंमें पारस्परिक एकमत्यकी प्रार्थना है। एकता, बिना ऐकमत्यके असम्भव है। यदि प्रत्येकके विचार, उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं तो उस समाजमें एकताका होना कठिन है। अत एकताके लिये ऐकमत्य होना आवश्यक है। राष्ट्रोंमें पारस्परिक मैत्रीके प्रस्तावोंके पास हो जानेपर भी एकता नहीं हो सकती यदि उनमें ऐकमत्य नहीं। अतएव इस मन्त्रमें ऐकमत्यपर बल दिया गया है। निरुक्तकारने 'अश्वि पदकी व्याख्यामें 'पुण्यकृतौ राजानौ' ऐसा भी कहा है (निरुक्त० १२।१)। अत सम्भव है कि राष्ट्रके दो राजा यहाँ 'अश्विना' पदसे अभिप्रेत हों। राष्ट्रमें दो राष्ट्रिय संघटन होते हैं—सभा और समिति। अत सभापति तथा समितिपति सम्भवत यहाँ अश्विना पदसे ग्रहण किये गये हों।

इसमें श्रुतिका स्पष्ट मन्तव्य यही है कि विश्वके सर्वविध अभ्युदयके लिये—विकासके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि विश्वके विविध पक्षोंपर परस्पर दो या उससे अधिक शत्रु अथवा मित्र राष्ट्र एक सर्वमान्य सिद्धान्त एवं विचारका पोषण करें। जिससे विश्वके विकासको अपेक्षित गति मिल सके।

वैदिक कालमें सात्त्विक आहार

(श्रीमती ज्ञानकुमारीजी रस्तोगी, एम्० ए०)

मनुष्यके जीवनमें भोजनका अत्यन्त विशिष्ट महत्त्व है। वह जिस प्रकारका भोजन करता है, उससे उसकी प्रकृति एवं आचार-विचारका ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण जीवनका स्वरूप आँका जा सकता है। मनुष्यद्वारा ग्रहण किया हुआ भोजन सूक्ष्म रूपसे मानव-शरीर एवं मस्तिष्कको प्रभावित करता है, जबकि इस ग्रहण किये हुए भोजनका स्थूल भाग मल आदिमें बदलकर शरीरके बाहर प्रेषित हो जाता है।

भोजनमें सात्त्विक आहारके विषयमें वैदिक कालमें ही निर्देश दिया गया है, अर्थात् वैदिक कालमें भोजनसे उसकी मानसिकता (मानसिक प्रभाव)-को प्रभावित बताया गया है। सात्त्विक, शुद्ध एवं पवित्र आहारसे व्यक्ति शारीरिक-मानसिक एवं बौद्धिक रूपोंमें अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र उन्नत-अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। अतः अनेक विद्वानोंने भोजनमें प्रायः सात्त्विक आहार लेनेपर ही अधिक जोर दिया है।

वेदोंमें भोजनकी स्तुति की गयी है[1] तथा बैठकर भोजन करनेका निर्देश दिया गया है[2]। वेदोंके साथ ब्राह्मणग्रन्थोंमें उल्लेख है कि भोजन दो बार दिनमें करना चाहिये[3]। वृक्षका लाल द्रवरस या वृक्ष काटनेपर जो स्राव निकलता है उसे नहीं खाना चाहिये[4]। बच्चा देनेपर गायका दूध १० दिनतक नहीं पीना चाहिये[5]। वैदिक व्रतके लिये दीक्षित व्यक्तिको होमके समय होनेपर ही भोजन करना चाहिये, उसके पूर्व नहीं[6]। इसी प्रकार आरण्यक-ग्रन्थोंमें भी भोजन-सम्बन्धी कतिपय प्रतिबन्धोंका स्पष्ट उल्लेख है[7]।

छान्दोग्योपनिषद्में वर्णित उषस्ति चाक्रायणकी कथासे ज्ञात होता है कि भोजन न मिलनेपर (आपद्धर्ममें) उच्छिष्ट आदि भी खाया जा सकता है—चाहे वह निम्नकोटिके व्यक्तिका जूठा भोजन ही क्यों न हो, ऐसे आपत्तिकालमें प्राणको बचाना कर्तव्य एवं धर्म हो जाता है, क्योंकि यह अमूल्य होता है[8]। आहार शुद्ध होना चाहिये[9] तथा भोजन करनेके पूर्व और पश्चात् दो बार आचमन करना चाहिये[10]। भोजन सात्त्विक होना आवश्यक है[11]। भोजनमें अन्नको देवता मानकर उसके संवर्धनकी कामना की गयी है[12] तथा कहा गया है कि जिसका अन्न दूसरे व्यक्ति खायें वह पुण्यवान् होता है[13]। अन्न सर्वश्रेष्ठ होता है, क्योंकि १० दिनतक उपवास करनेपर जीवित रहते हुए भी व्यक्ति दर्शन-मनन-श्रवण-बोध-अनुष्ठान आदि अनुभव करनेमें असमर्थ रहता है[14]। अतः अन्नकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनी चाहिये[15]। अन्नको देवता बताते हुए कहा गया है कि समस्त प्राणी अन्नको ग्रहण करके ही जीवित रहते हैं[16]। उपनिषद्वर्णित राजा जनश्रुत पौत्रायणके गृहपर अतिथियोंके लिये बहुत सा अन्न पकता था[17]। मनुष्यद्वारा खाये हुए अन्नका परिणाम तीन प्रकारका होता है—स्थूलभाग मल, मध्यभाग मांस तथा सूक्ष्मभाग मन बनता है। इसमें शरीर प्राणके आश्रित है तथा प्राण शरीरके। जो मनुष्य यह जान लेता है कि यह अन्नमें ही प्रतिष्ठित है, वह प्रतिष्ठावान् हो जाता है। अन्नवान्, प्रजावान् एवं पशुवान् हो जाता है[18]। वह ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर महान् बनता है तथा कीर्तिसे सम्पन्न होकर भी महान् हो बनता है। (विहित उपवासको छोड़कर) अन्नका कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिये[19]। अन्नमें अन्न निहित है अन्नवान् अन्नभक्षक होता है। अन्नकी वृद्धि करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य एवं व्रत होना चाहिये[20]। अन्नसे ही इस पृथ्वीपर रहनेवाले समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही समस्त प्राणी जीवित रहते हैं तथा अन्तमें अन्नमें ही विलीन हो जाते हैं और [illegible] होनेके पश्चात् अन्नात्मा एकरूप हो

१ ऋग्वेद १।१८७।१—७ २ वही ६।३०।३ ३।५२।३—६ ३ वही ३।५२।३—६ तैत्तिरीयब्राह्मण १।४।९ [illegible] २।२।२।६ ४ तैत्तिरीय० २।५।१।१ ५ वही २।१।१ ३।१।३ ६ [illegible] ६।१० [illegible] १३।३ ७ [illegible] आरण्यक ५।३।३ ८ छान्दोग्योपनिषद् १।१०।१—७ ९ वही ७।२६।२ १० वही ५।२।२ बृहदारण्यकोपनिषद् ६।१।१४ ११ बृहदारण्यकोपनिषद् ६।४।१ १२ [illegible] ६।१४३ १३-वही १।६।२० १४-छान्दोग्योपनिषद् ७।९।१ १५ वही ७।९।२ १६ वही ५।२।१ १७ वही ४।१।२ १८ [illegible] ३।७ १९-वही ३।८ २० [illegible] ३।९

जाते हैं[१]।

सात्त्विक खाद्य पदार्थके रूपमें व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उडद), अणु (सावाँ), प्रियगु (काँगनी) गोधूम (गेहूँ), मसूर, खाल्व (वाल) और खाल्कुल (कुल्थी)—ये दस ग्रामीण अन्नका स्पष्ट उल्लेख मिलता है[२]। इसके अतिरिक्त दूधके साथ घीमिश्रित चावल (खीर), दहीमें पकाये चावल, जलमें चावल बनाया भोज्य, तिल-चावलकी खिचडी, उडद-चावलकी खिचडी आदि भोजन करनेका वर्णन है[३]। इसके अतिरिक्त आँवला, बेर (कोल) तथा बहेडेका भी वर्णन है[४] तथा आम्र (आम), गूलर एवं पिप्पलफल खानेका विधान भी है[५]।

इस प्रकारसे स्पष्ट है कि सात्त्विक आहार वैदिक कालसे ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है तथा भोजनकी अतिशय शुद्धतापर स्पष्टरूपसे बल दिया गया है। कौन-सा भोजन लाभदायक है तथा कौन-सा हानिकारक है—यह स्पष्ट किया गया है। अतः सात्त्विक आहार एवं उसको किस प्रकार खाया जाय अथवा न खाया जाय इस विषयपर अच्छा ज्ञान वैदिक साहित्यासे जानना चाहिये।

[वेदानुगामी शास्त्रोंमें भी सात्त्विक आहारपर बहुत बल दिया गया है। आज आहारका अशुद्धिसे संसार तमोगुणी और अपावन भावनावाला हो गया है। भक्ष्याभक्ष्यका विचार शिथिल हो गया है। अतएव मानव दानवताकी दिशामें बढ चला है। आवश्यकता है कि विश्वमङ्गलके लिये सात्त्विक आहारका अधिकाधिक प्रचार किया जाय। गीता (१७।८)-में बतलाया गया है कि आयु, ओज बल, आरोग्य सुख और प्रीतिको बढानेवाला रसीला, चिकना स्थिर एवं हृदयके लिये हितकारी भोजन सात्त्विक जनोंको प्रिय होता है। अतः हमें सात्त्विक भोजन कर सात्त्विक बनना चाहिये। तभी हम अपना तथा विश्वका कल्याण कर सकेंगे।]

नारी और वेद

(पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र वेदाचार्य धर्मशास्त्राचार्य मीमांसादर्शन शास्त्री)

विवाहकालमें कन्यादान—पाणिग्रहणके बाद लाजाहोममें कन्या अपने लिये अपने मुखसे 'नारी' शब्दका सबसे पहले प्रयोग करती है (पा० गृ० १।६।२, अ० १४।२।६३) क्योंकि इससे पहले उसका नर-सम्बन्ध नहीं रहा है। 'नारीत्व' को प्राप्त करते ही वह दो प्रधान आदर्श अपने सामने अपने ही वचनमें जीवनके लिये रखती है—१-'आयुष्मानस्तु मे पतिः', २-'एधन्तां ज्ञातयो मम।' मेरा पति पूर्ण आयुसम्पन्न हो और मेरी जाति (समाज)-की अभिवृद्धि हो। नारी होनेके बाद ही इसे 'सौभाग्य' की प्राप्ति होती है (अ० १४।१।३८ पा० गृ० १।८।९)। सौभाग्यका प्रधान अर्थ पतिकी नीरोग स्थिति है (ऋक्० १०।८६।११)। पतिमती स्त्रियाँ अविधवा (सधवा) कहलाती हैं। घरमें सधवा स्त्रियोंका प्रथम स्थान है (ऋक्० १०।१८।७)। इनको सर्वदा नीरोग अञ्जन एवं घृतादि स्निग्ध पदार्थोंसे विभूषित मूल्यवान् धातुओंसे समलंकृत अश्रुविहीन (ऋक्० १०।१८।७), सुरूपिणी, हँसमुखी (३।५८।८), शुद्ध कर्तव्यनिष्ठ पतिप्रिया (१।७६।३) सुवस्त्रा (१०।७१।४) विचारशीला (१।२८।३) पतिपरायणा (१०।८५।४७) एवं पातिव्रत-धर्मनिष्ठ (पा० गृ० १।८।८) होना चाहिये। इन्हें अपने सत्-कर्तव्यासे सास, ससुर, देवर तथा ननदके ऊपर साम्राज्य प्राप्त करना चाहिये। नारी होनेके साथ ही इनको 'पत्नी' पद भी प्राप्त हो जाता है जिसके कारण ये अपने पतिके लिये कर्तव्यका फल प्राप्त कर लेती हैं (पाणिनि० ४।१।३३)। शास्त्रीय विधानसे पुरुष-सम्बन्ध होनेपर ही स्त्री व्यक्ति-पत्नी कहलाती है। पत्नी पुरुषका आधा स्वरूप है (तै० ब्रा० ३।३।५)। इस पत्नीके बिना पुरुष अधूरा रहने (श० ५।२।१।१०)-के कारण सब यज्ञोंका अधिकारी नहीं बनते (तै० २।२।२।६)। पत्नी लक्ष्मीका स्वरूप है (श० १३।२।६।७)। इनका पूजन

१-तैत्तिरीयोपनिषद् २।३ २-बृहदारण्यकोपनिषद् ६।३।१३ ३ बृहदारण्यकोपनिषद् ६।४।१६-१७ ४ छान्दोग्योपनिषद् ७।३।१ ५ बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।३६।

(सत्कार) करना चाहिये (मनु० ३। ५६)। पुरुषोंद्वारा स्त्रियोंकी पूजा उनके कर्तव्योंसे की जाती है। पुरुषको संसारमें फँसा देनेमात्रसे पूजा प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं हो सकती (१। ९२। ३)। पुरुषोंद्वारा सम्मानित होनेके कारण स्त्रियोंका वैदिक नाम 'मना' (निरु० ३। ४। २१) है। पति इसमें गर्भरूपसे उत्पन्न होता है, इसलिये इसे 'जाया' कहते हैं (ऐ० ब्रा० ७। १३)। पुत्र-संततिसे स्त्रीकी प्रशंसा है (ऋक्० १०। ८६। ९)। बीस संतति होनेपर भी जिसके शरीरमें विकृति न आवे वह स्त्री महत्त्वशालिनी है (ऋक्० १०। ८६। २३), साधारण स्त्रीमें दस संततिका आधान होना चाहिये (१०। ८५। ४५)। अधिक संतति होनेसे जीवन कष्टमय हो जाता है (२। ३। २०)। स्त्रीके अङ्गोंमें बाहु अँगुली (२। ३२। ७) भग (१०। ८६। ६)-की शोभनता केशकी पृथुता (१०। ८६। ८) कटिभाग (श० ३। ५। १। ११) जघनकी विशालता (१०।८६।८) मध्यभागकी कृशता (श० १।२।५।१६)-की प्रशंसा वेदोंमें मिलती है। स्त्रीको इस तरह (लज्जापूर्ण) रहना चाहिये कि दूसरा मनुष्य उसका रूप देखता हुआ भी न देख सके वाणी सुनता हुआ भी पूरी न सुन सके (अर्थात् मन्दवाणी बोलनी चाहिये)(१०। ७१। ४)। स्त्रियोंको पुरुषोंके सामने भोजन नहीं करना चाहिये (श०१।९।२। १२), स्त्रियोंको पुरुषोंकी सभामें बैठना उचित नहीं (श०१।३।१।२१), स्त्री-समाजका मुखिया पुरुष होता है (श० १। ३। १। ९)। सूतका कातना, बुनना फैलाना स्त्रियोंका कर्तव्य है (अथर्व० १४। १। ४५)। स्त्रियोंको अपने मस्तकके बालोंको साफ रखना चाहिये। मस्तकपर आभूषण भी पहनना चाहिये तथा 'शयन-विदग्धा'—सोनेमें चतुर भी अवश्य होना चाहिये (यजु० ११। ५६)। स्त्रीके पहने हुए वस्त्र पुरुषको नहीं पहनने चाहिये। इससे अलक्ष्मीका वास होता है (१०। ८५। ३०, ३४)। नारियोंको अपने नेत्रमें शान्ति रखनी चाहिये पशुओं मनुष्यों अर्थात् प्राणिमात्रके लिये हितकारिणी एवं वर्चस्विनी होना चाहिये (१०। ८५। ४४)। किसीकी हिंसाका भाव नहीं रखना चाहिये (श० ६। ३। १। ३९)। स्त्रीके हाव-भाव-विलासोंका प्राकृतिक उदाहरण देकर शिक्षाशास्त्रियोंने उच्चारणका प्रकार भी बतलाया है (या० शि० १। ६९ २। ६३ ६७ ७०)। स्त्रीका पति, श्वशुर, घर एवं समाजकी पुष्टिका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये (अ० १४। २। २७)। पति-पत्नीका सम्बन्ध सुगम एवं कल्याणप्रद है। इस मार्गके आश्रयसे हानि नहीं होती अपितु प्रशंसा एवं धनका लाभ प्राप्त होता है (अ० १४। २। ८)। वैदिक मार्गके अनुकरणसे दम्पति अपने संसारके दुर्गम मार्गको सुगमतासे पार कर सकते हैं (अ० १४। २। ११)।

इस संक्षिप्त लेखमें ऋ०—ऋग्वेद, य०—यजुर्वेद (शुक्ल), सा०—सामवेद अ०—अथर्ववेद, श०—शतपथब्राह्मण, नि०—निरुक्त या० शि०—याज्ञवल्क्य शिक्षा, पा० गृ०—पारस्कर गृह्यसूत्रका संकेत है।

वेदिकयुगीन कृषि-व्यवस्था

(डॉ० [illegible] मिश्र)

वेदोंमें प्राचीन वैदिक आर्योंके आर्थिक जीवनका विशिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। उनको देखनेसे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्योंमें कृषि कर्मका प्रचार तथा प्रसार विशेष रूपसे था। उनकी आजीविकाका प्रधान साधन खेती तथा पशु-पालन था। कृषि एवं कृषकोंके सम्बन्धमें ऋग्वेदमें उल्लेखनीय विचार किया गया है। अतः कृषिको बड़ा महत्त्व दिया था। वैदिक उपदेश है—'जुआ खेलना छोड़ दो और खेती करनेका अभ्यास करो'—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व०।

(ऋक्० १०। ३४। १३)

क्षेत्र (खेत)

ऋग्वेदमें क्षेत्र (खेत) शब्दका प्रयोग इस बातका स्पष्ट संकेत करता है कि अलग-अलग खेतोंका अस्तित्व था (ऋक्० १०। ३३। ६)। कुछ स्थलोंपर यह शब्द कृषि-भूमिका द्योतक है (ऋक्० १। १००। १८)। अथर्ववेदमें और परवर्ती ग्रन्थोंमें भी इस शब्दका पृथक् एक अन्य प्रकारके खेतका अर्थ स्पष्ट है।

खेत दो प्रकारके होते थे—उपजाऊ (अप्नस्वती) तथा ऊसर (आर्तना) (ऋक्० १। १२७। ६)। ऋग्वेदके अनुसार खेत सम्यक्‌रूपेण नपे होते थे। यह तथ्य कृषिके

लिये भूमिपर वैयक्तिक प्रभुत्वका स्पष्ट संकेत करता है। इस निष्कर्षकी पुष्टि ऋग्वेदके एक सूक्त (८। ९१। ५)-द्वारा भी होती है, जिसमें अपालाका अपने पिताकी उर्वरा भूमिपर प्रभुत्व उसी समान माना गया है, जैसे उसके सिरके बाल उसके व्यक्तिगत अधिकारमें थे। भूमि विजित करना (उर्वराजित्) आदि विशेषण भी इसी मतके अनुकूल है, जबकि एक देवताके लिये प्रयुक्त (ऋक्० ८। २१। ३) 'भूमिका स्वामी' सम्भवतः मानवीय विशेषण (उर्वरापति)-का स्थानान्तरण मात्र है। तैत्तिरीय (३। २), काठक (५। २) और मैत्रायणी (४। १२। ३) संहिताओंमें खेतोंकी विजयका भी उल्लेख है। पिशल (वैदिशे स्टूडियन)-का विचार है कि यह अधिक सम्भव है कि कृषि भूमिके चारों ओर घासयुक्त भूमि-सम्पत्ति रही होगी। वैदिक साहित्यमें किसी प्रकारके सम्पूर्ण जातिके प्रभुत्वके आशयमें किसी जातिगत (सामूहिक) सम्पत्तिका कोई संकेत नहीं है और न जातीय कृषिका ही (बेडेन पावेल—इंडियन विलेज कम्युनिटी, १८९९)। छान्दोग्य-उपनिषद् (७। २४। २)-की सम्पत्तिके उदाहरण-स्वरूप दी गयी वस्तुओंके अन्तर्गत खेत और घर (आयतनादि) भी आते हैं। अधिकांश अवस्थाओंमें एक परिवार भूमिके हिस्सोंको बिना बाँटे ही सम्मिलित रूपसे रखता था। भूमि-सम्पत्तिके उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियम सूत्रों (गौतमधर्मसूत्र १८। ५, बोधा०धर्म० २। २। ३ आप०धर्म० ३। ६। १४)-के पहले नहीं मिलते।

गाँवकी सामाजिक अर्थव्यवस्थाके सम्बन्धमें वैदिक साहित्य बहुत कम विवरण प्रस्तुत करता है। इस बातको सिद्ध करनेके लिये कोई सामग्री नहीं है कि लोग भूमिपर सामुदायिक अधिकार रखते थे जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है। भूमिपर व्यक्तिगत अधिकार ही प्रचलित था, किंतु व्यवहारतः इसका आशय भूमिपर एक व्यक्तिकी अपेक्षा एक परिवारके अधिकारसे है। फिर भी 'गाँवकी इच्छा रखनेवाला' (ग्राम-काम)—इससे सम्बन्धित व्याहृति जो बादकी संहिताओं (तैत्ति० २। १। १। २ मैत्रा० २। १। ९ आदि)-में प्रायः मिलती है वह इस प्रचलनका संकेत करती है कि जहाँतक फसली विषयोंका सम्बन्ध था, राजा गाँवोंपरके अपने राजकीय विशेषाधिकार अपने प्रिय पात्रोंको प्रदान कर देता था। बेडेन पावेल (इंडियन विलेज कम्युनिटी)-के अनुसार बादमें यह विचार विकसित हो गया कि राजा भूमिका स्वामी है और इसी विचार समानान्तर यह दृष्टिकोण भी विकसित हुआ कि उ प्रकारसे भूमि प्राप्त करनेवाले लोग जमींदार होते हैं, कि इन दोनोंमेंसे किसी भी विचारको पुष्ट करनेके लिये वैदि साहित्यमें 'ग्राम-काम' शब्दके अतिरिक्त अन्य कोई सक नहीं है।

कृषि-कर्म

वैदिक कालमें कृषि-कर्मके प्रकारोंपर दृष्टिपात करने स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय खेती आजकी भाँति होती थी। इसमें संदेह नहीं कि ईरानियोंसे पृथक् होनेसे पू ही भारतीय कृषिसे परिचित थे। यह ऋग्वेदके 'यवंकृ और 'सस्य' तथा अवेस्ताकी 'यओ करश' और 'हह्य व्याहृतियोंकी समानतासे स्पष्ट होता है जिनसे जोतकर बो हुए बीज और उनसे उपज हुए अन्नका आशय है। कि यह बात भी महत्त्वहीन नहीं कि जोतनेसे सम्बद्ध व्याहृति प्रमुखतः ऋग्वेदके केवल प्रथम तथा दशम मण्डलोंमें ह प्राप्त होती है और तथाकथित पारिवारिक मण्डलों (२। ७)- में अत्यन्त दुर्लभ हैं। अथर्ववेद (८। १०। २४)-में कृ आरम्भ करनेका श्रेय पृथुको दिया गया है। ऋग्वेद (८ २२। ६)-के अनुसार अश्विनीकुमारोंने सर्वप्रथम आ लोगोंको हल (वृक)-के द्वारा बीज बोनेकी कला सिखलाय ('दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः')। बादकी संहिताओं और ब्राह्मणोंमें भी कृषिका बार-बार उल्लेख है

वैदिक युगमें खेत (उर्वर-क्षेत्र)-को हलोंसे जोतक बीज बोनेके योग्य बनाया जाता था। हलका साधारण नाम 'लांगल' या 'सिर' था जिसके अगले नुकीले भागको 'फाल' कहते थे। इसकी मूठ बड़ी कठोर और चिकनी होती थी (सोमसत्सरु अथर्व० ३। १७। ३)। हलमें एक लंबा मोटा बाँस बाँधा जाता था। (ईषा) जिसके ऊपर जुआ (युग) रखा जाता था जिसमें रस्सियोंसे बैलोंको गर्द बाँधा जाता था। हल खींचनेवाले बैलोंकी संख्या छः अठ और बारहतक होती थी जिससे हलके भारी तथा बृहदाकार होनेका अनुमान किया जा सकता है। हलवाहा (कीनाश) अपने बैलों (चाबुक या तोत्र)-से इन बैलोंको हाँकता था।

वैदिक कालमें [illegible] किया करते थे। खेत उपजाऊ होते थे। उनके उपजाऊ न होनेपर खा

शब्द भी आया है। मुईरके अनुसार सम्भवत यह जलाशयमें गिरनेवाली कृत्रिम जल-धाराआका द्योतक है। आज भी पर्वतीय जलको खेतोमें पहुँचानवाली छोटी नहरको कूल्ह (कुल्या) ही कहते हैं।

क्षेत्रपति

वैदिक आर्योंके जीवन-निर्वाहके लिये कृपिका इतना अधिक महत्त्व एव उपयोग था कि उन्होंने 'क्षेत्रपति' नामक एक देवताकी स्वतन्त्र सत्ता मानी है तथा उनसे क्षेत्राके सस्य-सम्पन्न होनेकी प्रार्थना की है। क्षेत्रपतिका वर्णन ऋग्वेद (४। ५७। ८)-में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

शुनं न फाला वि कृपन्तु भूमिं
शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुन पर्जन्यो मधुना पयोभि
शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥

अर्थात् 'हमारे फाल (हलका अग्रभाग) सुखपूर्वक पृथ्वीका कर्पण करें। हलवाहे (कीनाश) सुखपूर्वक बैलासे खेत जोतें। मेघ मधु तथा जलसे हमारे लिये सुख बरसाये तथा शुनासीर हम लोगाम सुख उत्पन्न करे।'

वैदिक युगमे राष्ट्रध्वज

(श्रीयोगेशचन्द्रजी शर्मा)

ध्वजकी परम्परा सभ्यताके आदिकालसे हा रही है। प्रारम्भमे ध्वजका उद्देश्य किसी स्थान-विशेषकी पहचान करवाना मात्र रहा होगा। कालान्तरमे ध्वज स्थान-विशेषके साथ ही वर्ण, वर्ग या विचारधारा-विशेषके भी प्रतीक हो गये। तदनुसार ध्वजके आकार, प्रकार और रगाम भी विभिनताएँ आ गयीं। ये ही ध्वज आगे चलकर राष्ट्रिय ध्वजके रूपमें परिवर्तित हो गये।

हमारे यहाँ राष्ट्रिय ध्वजकी चर्चा वैदिक कालमें भी हुई है। अथर्ववेदके कुछ मन्त्रों (जैसे—५। २१। १२, ११। १२। २ तथा ११। १०। ७)-मे राष्ट्रिय ध्वजके आकार-प्रकारका स्पष्ट उल्लेख है। इन मन्त्रोंके अनुसार उन दिनों राष्ट्रिय ध्वजका रग लाल होता था तथा उसपर श्वेत रगम सूर्यका चिह्न अकित होता था। राष्ट्रिय ध्वजका यह स्वरूप हमारी सस्कृति और प्रवृत्तिका प्रतीक था।

लाल रंग रक्त या हिसाके प्रतीकके रूपम नहीं अपितु प्रेमके प्रतीक-रूपमे था। प्रेम और स्नेहका रंग भी हमारे यहाँ लाल माना गया है। वसुधैव कुटुम्बकम् की विचारधारासे युक्त हमार देशकी सस्कृतिने सदैव अन्ताराष्ट्रिय सद्भावनाका परिचय दिया है तथा प्राणिमात्रक कल्याणकी कामना करत हुए 'सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया' की भावना व्यक्त की है। उसी आपसी प्रम भाईचारा और सम्पूर्ण विश्वके हितकी कामना राष्ट्रिय ध्वजक लाल रगमें समायी हुई थी।

सूर्यका तज हमार लिये सदैव प्रेरणाका स्रोत रहा है और इसलिये ऋग्वेदकी प्रारम्भिक ऋचाओंमें भी हमें सूर्य-उपासनाकी बात पढनेको मिलती है। सूर्य प्रकाश एवं शक्तिका भण्डार है। इस रूपमे वह हमारे लिये प्ररक भी है और राष्ट्रिय क्षमताओका प्रतीक भी। प्रकाशसे अभिप्राय केवल उजालेस ही नहीं, अपितु सत्य तथा ज्ञानकी प्राप्तिसे भी है। असत्य और अज्ञानके अन्धकारको मिटाकर हम सदैव सत्य और ज्ञानको प्राप्त करनके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। परब्रह्म प्रभुसे भी हमारी कामना यही रही है—

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥

प्रकाश-पुञ्ज सूर्यको अपने राष्ट्रिय ध्वजमें स्थान देनेके पीछे भी हमारी भावना उसी सत्य और ज्ञानके प्रकाशको प्राप्त करनेकी रही है। इसी प्रकार सूर्यकी शक्तिको अपनानेका अर्थ किसी भौतिक शक्ति या अत्याचार करनेकी शक्तिको अपनानेमें नहीं है। ऐसा करना तो किसी भी रूपमें हमारी सस्कृतिका अग रहा ही नहीं। शक्तिसे अभिप्राय बौद्धिक नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिसे रहा है। हम अपने वैदिक ऋषियों तथा अन्य मनीषियोंके समान ही अपनी बौद्धिक क्षमताओंका विकास करके प्रतिभासम्पन्न बनें। इस प्रकार शक्तिसम्पन्न सूर्यको अपने ध्वजमें स्थान देकर वैदिक कालमें विद्वानोंने नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिमान सम्पन्न होनेकी कामना व्यक्त की है। हमारी संस्कृति नैतिक एवं आध्यात्मिक विचारोंकी संस्कृति रही

है। भौतिक शक्ति तथा भौतिक विजयको तो हमारे यहाँ सदैव हेय-दृष्टिसे देखा गया।

सूर्यके चिह्नको श्वेत-वर्णमें अंकित करना भी महत्त्वपूर्ण है। श्वेत-वर्ण शान्तिका प्रतीक है। शक्ति-पुञ्ज सूर्यको श्वेत-वर्णमें अंकित करनेका अभिप्राय यह है कि हम शक्ति और शान्ति दोनोंकी उपासना करते हैं। जन-विरोधी कार्योंका दमन करनेके लिये हम शक्तिको अपनाते हैं परंतु जन-हितकारी कार्योंके लिये हम शान्तिके अग्रदूत हैं। वैदिक साहित्यमें केवल आक्रमणकारियों और अत्याचारियोंके विरुद्ध ही युद्ध करनेकी बात कही गयी है अन्यत्र नहीं। साम्राज्य-प्रसारके लिये तो युद्धकी बातका कहीं उल्लेख है ही नहीं। युद्धके बादकी व्यवस्था देते हुए भी कहा गया है कि हमें अपने शत्रु-राष्ट्रको पराजित करनेके उपरान्त उससे मित्रवत् व्यवहार करना चाहिये। युद्धका उद्देश्य केवल आत्मरक्षा है और आत्मरक्षाके उपरान्त युद्ध या अशान्तिका कोई प्रश्न ही नहीं है। अथर्ववेद (१९। १५। ६)-में कहा गया है—

> अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
> अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

अर्थात् हमें मित्र और अमित्रसे अभय प्राप्त हो, परिचितसे तथा अपरिचितसे अभय प्राप्त हो रात्रि एवं दिनमें अभय प्राप्त हो सारी दिशाएँ हमारी मित्र हो जायँ।

युद्धमें विजय प्राप्त करनेके उपरान्त हमें पराजित राष्ट्रको अपने अधीन करनेकी बात सोचनी भी नहीं चाहिये। अथर्ववेद (११। ९। २६)-में ऋषि सैनिकोंको आदेश देते हुए कहते हैं— इस संग्रामको जीतकर अपने-अपने स्थानमें जाकर बैठ जाओ'—

> इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्॥

इस प्रकार वैदिक युगका राष्ट्रिय ध्वज आपसी प्रेम, भाईचारा शान्ति और मित्रताका प्रतीक है। इसी आधारपर वैदिक साहित्यमें विश्वराज्यकी भी कल्पना की गयी है और उसके लिये ध्वजका समर्थन किया गया है।

विवाह-संस्कार अनादि-कालसे प्रचलित है

(महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड़)

'वि' उपसर्गपूर्वक 'वह' धातुसे भावमें घञ् प्रत्यय करनेसे 'विवाह' शब्दकी निष्पत्ति हुई है। 'विवाह' का अर्थ है विशिष्ट वहन। अन्यकी कन्याको आत्मीय बनाते हुए उसमें संस्कारका आधान है विशिष्ट वहन। अन्यकी वस्तुको आत्मीय बनाना प्रतिग्रहके बिना सम्भव नहीं और प्रतिग्रह दानके बिना नहीं बन सकता। अतः सिद्ध हुआ कि कन्याके पिताद्वारा दान करनेपर उसको प्रतिग्रहपूर्वक आत्मीय बनाकर पाणिग्रहण, होम आदि संस्कारोंसे संस्कृत (संस्कार-सम्पन्न) करना ही 'विवाह' है। इस प्रकार विवाहमें दान, प्रतिग्रह (दान स्वीकार), पाणिग्रहण तथा होम—ये चार कर्म प्रधान हैं शेष सब इनके अङ्ग हैं।

विवाह-कृत्य जैसे स्त्रीमें भार्यात्वका सम्पादन करता है, वैसे ही पुरुषमें पतित्वका भी वह सम्पादन है। अतः यह स्त्री और पुरुष दोनोंका संस्कार है केवल स्त्रीका ही या केवल पुरुषका ही संस्कार नहीं है। जैसे उपनयन संस्कार बालकमें अध्ययनकी योग्यताका सम्पादक है वैसे ही विवाह स्त्री पुरुष दोनोंमें आत्मज्ञान अग्निहोत्र, यज्ञ आदि श्रौत और स्मार्त-कर्मानुष्ठानकी योग्यताका सम्पादक है। अविवाहित स्त्री अथवा अविवाहित पुरुषका किसी भी श्रौत या स्मार्त-कर्मके अनुष्ठानमें अधिकार नहीं है। इसलिये विवाह स्त्रीके लिये ही नित्य संस्कार है किंतु पुरुषका यह काम्य यानी ऐच्छिक है—ऐसा मानना निर्मूल है। क्योंकि विवाहके स्त्री-संस्कार होनेमें जो युक्तियाँ हैं वे पुरुष संस्कार होनेमें भी समान हैं। अतएव गौतम आदिने 'अष्टचत्वारिंशता संस्कारैः संस्कृतः' (४८ संस्कारोंसे संस्कृत) इस प्रकार आरम्भ करके उन (संस्कारों)-में विवाहको भी 'सहधर्मचारिणीसंयोगः (धर्मपत्नीका संयोग)— यों पुरुष संस्कारोंमें गणना की है। इसलिये जैसे आत्मज्ञान, अग्निहोत्र आदि नित्य (अवश्य अनुष्ठेय) हैं तथा स्त्री एवं पुरुष दोनोंके संस्कार हैं वैसे ही विवाह भी नित्य एवं स्त्री पुरुष दोनोंका संस्कार है। किंतु द्वितीय आदि विवाह पुरुषका ऐच्छिक है स्त्रीका तो यह होता ही नहीं।

यद्यपि 'रतिपुत्रफला दारा' इसके कथनके अनुसार विवाह रति पुत्र तथा पुत्रोत्पत्तिका साधन है तथापि अनन्द

देशोंकी भाँति हम भारतीयोंको उसके केवल वे ही प्रयोजन अभीष्ट नहीं हैं, किंतु हमारे मतमे उसका मुख्य प्रयोजन धर्म ही है। हमारे मतमे पुत्रोत्पत्ति भी नित्य ही है। जैसे जिस व्यक्तिने यज्ञद्वारा भगवान्‌का अर्चन-पूजन नहीं किया और वह यदि मोक्षकी कामना करे तो श्रुतियोंमें उसके लिये दोष कहा गया है, वैसे ही जिसने पुत्र उत्पन्न नहीं किया, वह यदि मोक्षेच्छा करे तो श्रुति और स्मृति दोनोंने इसे दोष बतलाया है। इसीलिये निम्ननिर्दिष्ट श्रुति अध्ययन, यज्ञ एवं पुत्रोत्पादन नित्य हैं, ऐसा बतलाती है—

'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो य पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी' (तै० स० ६।१।११)।

अर्थात् उत्पन्न होते ही ब्राह्मण तीन ऋणोंसे ऋणवान् होता है, वह ब्रह्मचर्यद्वारा ऋषि-ऋणसे, यज्ञद्वारा देव-ऋणसे और पुत्रोत्पादनद्वारा पितृ-ऋणसे उऋण होता है— जो कि पुत्रवान् हो, यज्ञ कर चुका हो तथा ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुलमें वेदाध्ययन कर चुका हो। यहाँपर पूर्वोक्त श्रुति ही अध्ययन, यज्ञ और पुत्रोत्पादनकी ऋणरूपता तथा अवश्य अपाकरणीयताका सकेत करती है।

अनृणा अस्मिन्ननृणा परस्मिन् तृतीये लोके अनृणा स्याम।
येदेवयाना पितृयाणाश्च लोका सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम॥
(अथर्व० ६।११७।३)

अर्थात् हे अग्निदेव आपके अनुग्रहसे हम इस लोकमे लौकिक और वैदिक दोनो प्रकारके ऋणोंसे उऋण हो देह छूटनेपर स्वर्ग आदि परलोकमें भी हम उऋण हो तथा स्वर्गसे भी उत्कृष्ट तृतीय लोकमें हम उऋण हो। इनसे अतिरिक्त जो देवलोक (जिनमें देवता ही जाते हैं) और पितृलोक (पितरोंकी असाधारण भोग-भूमियाँ) हैं, उन लोकोंको तथा उनकी प्राप्तिके उपायभूत पथों एव भोगोंको हम उऋण होकर प्राप्त हो। ऋण न चुकानेके कारण उन लोकोंके उत्तम भोगोंको भोगनेमें हमारे सामने विघ्न-बाधा उपस्थित न हो।

यह अथर्ववेदकी श्रुति भी पूर्वोक्त तैत्तिरीय प्रतिपादित अर्थका प्रतिपादन (समर्थन) करता है।

इन श्रुतियोंके सहारे ही महर्षि जैमिनिने भी अध्ययन आदिकी नित्यता अपने सूत्रमें दिखलायी है—

ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन सयोगात्।
(जै० सू० ६।२।३१)

यज्ञ अध्ययन और पुत्रोत्पादन—ये नित्य हैं या अनित्य, या सशय कर ऋण-वाक्यसे सयोग होनेसे ये नित्य हैं यह निश्चय किया है। अवश्यकर्तव्य ही ऋण कहे जाते हैं। इसलिये देव-ऋण और पितृ-ऋणसे यदि उऋण होना हो तो विवाह अवश्य करना चाहिये। विवाह करनेपर आनुषङ्गिकरूपसे रतिसुख-लाभ होता है, इसलिये हमारे आचार्योंने उसे मुख्य फल नहीं माना है।

विवाहकी प्रथा कबसे हमारे देशमें प्रचलित हुई? किन्हीं विचारशीलोंके इस प्रश्नका 'यह (विवाह) नित्य ही है' यही उत्तर समुचित है। मीमांसकोंकी तरह हम वैदिकोंके मतमें—

वाचा विरूपनित्यया। (तै० सं० १०)
अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्।
(तै० आ० २।९।१)
'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'।

—इत्यादि श्रुति स्मृति और पुराण आदिसे वेदकी अनादिता ही सिद्ध है, पुरुषकृतत्वरूप पौरुषेयत्वका उसमें गन्ध भी नहीं है। अतएव ऋग्वेद आदि सब वेद बिना किसी क्रमके सनातन ही हैं, यह सिद्ध होता है।

ऋग्वेदके दशम मण्डलमें विवाहका विशद विवेचन हुआ है—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथास।
(ऋक्० १०।८५।३६)

हे वधू, मैं तुम्हारा हाथ सौभाग्यके लिये ग्रहण करता हूँ, तुम मुझ पतिके साथ पूर्ण वार्धक्यको प्राप्त होओ।

तुभ्यमग्रे पर्यवहन् त्सूर्यां वहतुना सह।
पुन पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥
(ऋक्० १०।८५।३८)

हे अग्निदेव पहले गन्धर्वोंने सूर्या (सूर्यसुता) दहेजके साथ तुम्हें दी और तुमने उसे दहेजके साथ सोमको दिया। उसी प्रकार इस समय भी हे अग्निदेव! फिर हमारे (पतियोंके) लिये पत्नीको सततिके साथ दो।

पुन पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या य पतिर्जीवाति शरद शतम्॥
(ऋक्० १०।८५।३९)

फिर स्वगृहीत पत्नीको अग्नि आयु और तेज [illegible] दिया। इस अग्निद्वारा [illegible] (पुरुष) है

चाहते हैं, वे भ्रान्त हैं। उनसे पूछना चाहिये कि महाभारत आदिकी प्रामाणिकता वेद-सापेक्ष है या स्वतन्त्ररूपसे ? यदि वे कहें कि महाभारत आदिकी प्रामाणिकता स्वतन्त्ररूपसे है तब तो वे नमस्करणीय हैं, उनसे कुछ कहना निरर्थक है। क्योंकि हम सब लोग स्मृति, पुराण इतिहास आदिकी प्रामाणिकता वेदमूलक ही मानते हैं। इससे बहिर्भूत उनसे हमारा कोई व्यवहार उचित नहीं। यदि वे कहें कि महाभारतकी प्रामाणिकता वेदमूलक ही है तो वेदसे ही सिद्ध हो रही विवाहकी अनादिताका वेद-सापेक्ष महाभारत कैसे निषेध करेगा? यदि वह प्रतिषेध करे भी तो प्रमाण कैसे हो सकता है? इसलिये यह मानना होगा कि यह उपाख्यान विवाहकी सादिता आदिका प्रतिपादक नहीं है किंतु यह अन्यपरक ही है। यही उचित भी है। वहाँ लिखा है कि महर्षिके शापसे पाण्डु स्त्री-सम्भोग-निवृत्त हो गया था। पाण्डुने पुत्रोत्पत्तिकी अभिलाषासे कुन्तीका अन्यत्र नियोजन किया था। वह राजी नहीं हुई। वहाँ-का प्रसंग यों है—

> न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथंचन।
> धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचन॥
> त्वमेव च महाबाहो मय्यपत्यानि भारत।
> वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि॥
> स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया।
> अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन॥
> न ह्यहं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम्।
> त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानव॥
>
> (महाभारत आदिपर्व १२० । २—५)

[कुन्ती अपने पति कुरुश्रेष्ठ पाण्डुसे कहती है—] 'हे धर्मज्ञ! मैं आपकी धर्मपत्नी आप कमललोचनमें अनुरक्त हूँ, इसलिये आपको मुझसे ऐसा कथमपि नहीं कहना चाहिये। हे वीर! आप ही मुझमें वीर्यवान् पुत्रोंको धर्मतः उत्पन्न करेंगे। हे मनुष्यश्रेष्ठ! इस तरह मैं आपके साथ स्वर्गमें जाऊँगी इसलिये हे कुरुनन्दन! संतानार्थ आप ही मेरे प्रति गमन करें। मैं आपके सिवा किसी अन्य मानवके प्रति गमनकी बात सोच भी नहीं सकती। आपसे अधिक श्रेष्ठ भूलोकमें कौन मनुष्य है ?'

इस प्रकार अनाचरणीय दोषसे अत्यन्त भयभीत हो रही कुन्तीसे पुत्राभिलाषी पाण्डुने उसके भयको दूर करने तथा नियोगमें प्रवृत्तिसिद्धिके लिये श्वेतकेतुका उपाख्यानादि कहा। इसलिये पाण्डु-वचनका उपाख्यानमें तात्पर्य नहीं है, अपितु उसका नियोगमें प्रवृत्त करनेमें तात्पर्य है।

कुमारिलभट्टने तन्त्रवार्तिकमें कहा है—

'एवं भारतादिवाक्यानि व्याख्येयानि। तेषामपि हि श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।' अर्थात् इस प्रकार भारतादि वाक्योंकी व्याख्या करनी चाहिये। उनको भी ब्राह्मणको आगे करके चारों वर्णोंको सुनाना चाहिये। इस विधिके अनुसार पुरुषार्थत्व अन्वेषण होनेके कारण अक्षर आदिके अतिरिक्त धर्म अर्थ काम और मोक्ष-फल हैं। उनमें भी दानधर्म राजधर्म मोक्षधर्म आदिमें कोई परकृति[1] और कोई पुराकल्प[2] रूपसे अर्थवाद है। सब उपाख्यानोंमें तात्पर्य होनेपर 'श्रावयेत्' इस विधिके निरर्थक होनेके कारण कथंचित् प्रतीत हो रहा निन्दा या स्तुतिमें उनका तात्पर्य स्वीकार करना पड़ेगा। स्तुति और निन्दामें तात्पर्य होनेसे उपाख्यानोंमें अत्यन्त प्रामाण्याभिनिवेश (प्रमाणका आग्रह) नहीं करना चाहिये।

इससे और भी जो लोग अन्य अर्थकी स्तुतिके लिये प्रवृत्त उपाख्यानरूप अर्थवादोंके सहारे अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहते हैं उनका भी खण्डन हुआ। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि महाभारत आदिके सब उपाख्यानोंको हम असत्य ही मानते हैं। यदि प्रबल प्रमाणका विरोध न आवे तो हम उन्हें भी प्रमाण मानते ही हैं। किंतु अनन्यपरक अत्यन्त बलवान् वेद-भाष्य सिद्ध हो रहे अर्थको वेदका अवश्य दुर्बल—इस नागक उपाख्यान कथमपि डिगा नहीं सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम भारतवासियोंका यह वैवाहिक धर्म अनादि-कालसे सिद्ध है।

१-प्रशंसा या निन्दापरक अर्थवाद जहाँ परकृतिरूपमें वर्णित होता है वह अर्थवाद 'परकृति' कहलाता है।

२-जहाँ इतिहासके रूपमें स्तुति अथवा निन्दापरक अर्थवाद व्यक्त किया जाता है वह अर्थवाद 'पुराकल्प' कहलाता है।

याचना। परमात्मा पवित्रसे भी पवित्र हैं, इनसे बढकर कोई पवित्र नहीं। अत परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना और उपासनाद्वारा अपने जीवनको पवित्र बनाना यह अन्तिम साधन है। इस प्रकार इस मन्त्रमे पवित्रताके चार साधन-फल माने गये हैं—(१) देवजनाकी सत्सगतिद्वारा दिव्य गुणाका लाभ (२) मननशीलाकी सत्सगतिद्वारा मननका लाभ (३) विश्वभूतहित-चिन्तनका पुण्य-लाभ तथा (४) परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना और उपासना-लाभ—इन चारो साधनोसे एव उनक दिव्य फलासे हमारा जीवन पवित्र हो सकता है।
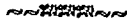
पवित्रताके बिना उत्तम बुद्धि, उत्तम कर्म और उन्नत जीवन तथा अहिसा असम्भव है

पवमान पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।अथो अरिष्टतातये॥

(अथर्व० ६।१९।२)

—इस मन्त्रमे पवित्र परमात्मास पवित्रता माँगी गयी है। विना पवित्रताके बुद्धि-शक्ति एव कर्मयोग, चतुर्मुख-वृद्धि तथा शारीरिक-मानसिक और आत्मिक बल एव उत्तम जीवन—ये नहीं हो सकते। इनकी प्राप्तिके विना अहिंसाभावका विस्तार हम नहीं कर सकते। पवित्रता साधन है क्रतु, दक्ष और पवित्र जीवनमे। क्रतु, दक्ष तथा उत्तम जीवन साधन हैं अरिष्टताति अर्थात् अहिसाभावके विस्तारमें। अत प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह पवित्रताको प्राप्त करके क्रतु, दक्ष तथा उत्तप जीवनको प्राप्त करे और इनका प्राप्त कर ससारमें अहिसाका प्रचार करे। अहिसा-वृत्तिके मूलमें पवित्रताका निवास है। जीवनमें पवित्रताके विना अहिसाका भाव जाग्रत् नहीं हो सकता। एक बात और स्मरण रखनी चाहिये। हिंसकाके प्रति हिसाका व्यवहार न करनेमें दो भाव हैं—(क) कायरता और (ख) अहिंसा-वृत्ति। यदि मनुष्य कायर है तव ता वह हिंसकाके प्रति हिसाका व्यवहार कर ही नहीं सकता। यदि यह प्रत्यपकारक लिये वल रखता हुआ भी हिसा नहीं करता तो यह इसलिये नहीं कि वह कायर है अपितु इसलिये कि वह इस मार्गका अवलम्बन करना ही नहीं चाहता। यही वृति अहिंसा-भावकी है। वल न होनेपर क्षमा कर दना क्षमा नहीं अपितु कायरता है और वलक रहत हुए क्षमा कर दना वास्तवमें क्षमा है। यही अहिसा है। इसीलिये मन्त्रमें दक्ष अर्थात् वलकी प्राप्तिके वाद अरिष्टताति अथात् अहिसाका वर्णन है। अत विना पवित्रताके क्रतु, दक्ष और उत्तम जीवनका पूर्ण विकास नहीं हो सकता तथा विना इनक पूर्ण विकासके अहिसा-धर्मका विस्तार नहीं हो सकता।

पाप-निराकरणके उपाय

१—यज्ञ और सत्य सकल्प

यद्यं यजन्ता मम यानीष्टाकूति सत्या मनसो मे अस्तु।
एनो मा नि गा कतमच्चनाह विश्वे देवा अभि रक्षन्तु मेह॥

(अथर्व० ५।३।४)

—इस मन्त्रद्वारा तीन इच्छाएँ प्रकट की गयी हैं—

(१) मैंने भूतकालमें जो देवपूजन सत्सग तथा दान किया है उसे मैं अव भी करता रहूँ वे कर्म मुझे सर्वदा प्राप्त रहें मैं उन्हे कभी न छोड़ूँ।

(२) मेरा मानसिक सकल्प सत्यस्वरूप हो। मैं कभी असत्य सकल्प न करूँ। जो इच्छाएँ करूँ वे सवदा सत्यरूप ही हों।

(३) मैं किसी भी पापकर्मको न करूँ।

—ऐसी सदिच्छाओंसे प्रवृतियाँ भी सत् होती हैं क्योंकि इच्छा ही प्रवृत्तिका कारण है। देवपूजन सत्सग और दानसे प्रवृत्यात्मक विधिरूप धर्मका निर्देश किया गया है। इनमें प्रवृत्त रहनेसे मनुष्यका चित्त एक ओर लगा रहता है अत वह पापकर्मोंकी ओर नहीं झुकता। देवपूजनमें अभिमान और दानसे स्वार्थका भाव भी शिथिल हो जाता है। अभिमान तथा स्वार्थभाव स्वयं भी पापोंकी ओर ले जानेवाले हैं। इनके हट जानेसे मन पापोंसे भी हट जाता है। [illegible] का सक्रम सत्संग करनेवालेके लिये [illegible] है। इस प्रकार देवपूजन, दान और सत्संग—ये तीनों ही [illegible] हटानेवाले हैं। देवपूजन

कामना दो प्रकारकी है—भद्र और अभद्र

यास्ते शिवास्तन्व काम भद्रा याभि सत्य भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धिय ॥
(अथर्व० ९।२।२५)

—इस मन्त्रमें इच्छाका ही वर्णन है। इच्छाकी तनु अर्थात् देह दो प्रकारकी है। यहाँ तनुका अर्थ है स्वरूप अथवा प्रकार। अत अभिप्राय यह हुआ कि इच्छाके दो स्वरूप हैं या इच्छा दो प्रकारकी है। एक शुभ और दूसरी अशुभ। एक शिव और दूसरी अशिव। एक भद्र और दूसरी अभद्र। इच्छाके इन दो प्रकारोका वर्णन महर्षि व्यासने योगभाष्यमें किया है—'चित्तनदीनामोभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय च वहति पापाय च' (योगदर्शन १।१२)। इसका अभिप्राय यह है कि चित्त एक नदी है, जो दो ओर बहती है—कल्याणकी ओर तथा पापकी ओर। मन्त्रमें भी काम अर्थात् इच्छाके दो रूप दर्शाये गये हैं। एक शिवास्तन्व दूसरा 'पापीर्धिय' इन शब्दोसे शिवका अर्थ होता है कल्याण। 'पाप' पद मन्त्र तथा योगभाष्य—इन दोनोमे समान है।

मन्त्रमें यह भी कहा गया है कि शुभ इच्छाओमे बहुत बल होता है। शुभ इच्छाओवाला मनुष्य जो चाहता है वह पूरा हो जाता है। इसीलिये मन्त्रम 'सत्यं भवति यद् वृणीषे' कहा गया है। पापीजनकी इच्छाओमे वह बल नहीं होता। योगकी आश्चर्यकारी सिद्धियाँ भी इसी शुभ इच्छाके परिणाम हैं। अत शुभ इच्छाओकी प्राप्ति और अशुभ इच्छाओका त्याग नित्य करना चाहिये। इसीमें परम कल्याण सनिहित है।
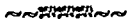
ससार-ग्राहसे बचनेका उपाय—ससारमे लिप्त न होना

इदमह रुशन्त ग्राभं तनूदूषिमपोहामि।
यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि॥
(अथर्व० १४।१।३८)

'ग्राभ' पदमें 'ग्रह' धातु है। वस्तुत यह ग्राह शब्द है। 'ह' को 'भ' हो गया है। ग्राहका अर्थ नाक (मगरमच्छ) होता है। इस मन्त्रमें ससारका ग्राहरूपसे वर्णन है।

यह संसार-ग्राह बडा चमकीला-भडकीला है। वह अपनी चमकसे जनताको अपनी ओर खींच लेता है। जो मनुष्य इस संसार-ग्राहकी ओर खींचे जाते हैं, उनकी देह दूषित हो जाती है। भोगका यह परिणाम स्वाभाविक है और अन्तमें वे भोगी इस ससार-ग्राहके ग्रास बनकर नष्ट हो जाते हैं। 'रुशा' का अर्थ हिंसा भी है। जिससे यह भाव सूचित होता है कि चमकीला ससार-ग्राह हिंसक है। यह हुआ प्रेयमार्गका वर्णन।

श्रेयमार्गका वर्णन इसी मन्त्रके उत्तरार्ध भागमें है। प्रकृतिमे न फँसकर परमात्माकी ओर झुकना यह श्रेयमार्ग है। परमात्मा भद्र है रुचिर है। उसकी प्राप्ति करनेके लिये प्रथम ससार-ग्राहका त्याग करना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य अपने-आपको उत्तम बनाकर उस परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है।

परतु प्रश्न पैदा होता है कि ससारका त्याग क्या वैदिक सिद्धान्तानुकूल है? उत्तर है—नहीं क्योंकि ससार साधन है परमात्माकी प्राप्तिका। संसार और परमात्मा—ये दो विरोधी मार्ग नहीं।

मन, वाणी और कर्ममे मधुरता

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥
(अथर्व० १।३४।२)

—इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि माधुर्यकी प्राप्तिके लिये दृढ इच्छा-शक्ति या दृढ सकल्पका प्रयोग करना चाहिये। यदि मनुष्य दृढ संकल्प कर ले कि मुझे कभी भी कटु वचन नहीं बोलना है सर्वदा मधुर वचन ही बोलना है तो वह मनुष्य कटु वचनोंपर भी अपनी वाणीका अवश्य विजय पा सकेगा।

मन्त्रमें जिह्वा (जिह्वा) क्रतु और चित्त—इन तीनका वर्णन है। परंतु इनका अर्थ-सम्बन्ध क्रम इस प्रकारसे होना चाहिये—चित्त, जिह्वा और क्रतु। जैसा कि कहा गया है—यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा

वेदमे आध्यात्मिक संदेश

(मानस रत्न संत श्रीसीतारामदासजी)

वेद ज्ञान-विज्ञानके सागर हैं। उनका अक्षर-अक्षर सत्य है। वेद ही मानव और पशुके अन्तरको स्पष्ट करते हैं। क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—यह वेदोंसे ही हमें पता चलता है। वेदोके प्रति पूर्ण निष्ठा रखकर उनके बताये गये मार्गपर चलकर ही मानव-जीवनको सार्थक बनाया जा सकता है।

देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीरका प्रयोजन सकल दुःख-निवृत्ति एव परमानन्दकी प्राप्ति है। केनोपनिषद् (२।५)-में कहा गया है—'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।' अर्थात् इस मानव-शरीरमें यदि परम तत्त्वका बोध हो गया तो मानव-शरीर सार्थक हो गया अन्यथा मानो महान् विनाश या सर्वनाश हो गया। अतः हम लोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥

(यजु० ११।२)

अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्प्राप्ति-जनित अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहें।

हम भगवान्का ही एकमात्र आश्रय लेकर उनमें ही तन्मय बनें—यही वेदोंका आध्यात्मिक संदेश है—

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥

(ऋक्० ८।१।१)

'हितकारी उपासको! सब एकाग्र होकर प्रसन्न होनेपर अभीष्टको पूर्ण करनेवाले परमेश्वरकी ही स्तुति करो एवं उनके ही गुणों तथा महिमाका बारम्बार चिन्तन करो—कीर्तन करो। परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी उपासना न करो आत्मश्रेयका नाश न करो।'

वैदिक संस्कृतिकी मूलभित्ति आधृत है। वह नरको नारायण बनाती है—

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः॥

(अथर्व० १९।५१।१)

'मैं परिपूर्ण हूँ, मैं अखण्ड हूँ। मेरी आत्मा अखण्ड है चक्षु-शक्ति अखण्ड है श्रोत्रशक्ति अखण्ड है। मेरे प्राण विश्वात्माके प्राणसे संयुक्त हैं मेरे श्वासोच्छ्वास भी विश्वपुरुषके श्वास-प्रश्वाससे सम्बद्ध हैं। मेरी आत्मा विश्वात्मासे विभक्त नहीं है। मेरी सम्पूर्ण सत्ता उससे अविभिन्न एवं अखण्ड है।'

आत्म-विकासके लिये भगवान्की कृपाको साध्य एवं साधन मानकर उसे ही पथ-प्रदर्शक आत्मबलदायक एवं प्रेरणादायी स्रोत मानते हुए वेद प्रार्थना करते हैं—

न ह्यन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृळय॥

(ऋक्० ८।८०।१)

'विश्वरूप प्रभो! आपसे भिन्न अन्य कोई सुखदाता नहीं है, फिर हम अन्यत्र क्यों भटकें। हे सुखस्वरूप! सत्यतः आप ही सब सुखोंके मूल स्रोत हैं। हम वही सुख चाहिये जो साक्षात् आपसे प्राप्त हुआ हो। उसी सुखसे हमारा चित्त तुष्ट हो।'

वेद चाहते हैं कि व्यक्तिके चित्तवृत्तिरूप [illegible] प्रतिपल पवित्र श्रेष्ठ एवं उर्वर विचार-सरिता बहती रहे जिससे अन्तःकरण दैवी सम्पदाओंका केन्द्र बने—

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ (ऋक्० ३।६२।१०)

'सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! आपके [illegible] विशुद्ध तेजःस्वरूपभूत दिव्य रूपका हम अपने हृदयमें नित्य ध्यान करते हैं। उससे हमारी बुद्धि निरन्तर प्रेरित होती रहे। आप हमारी बुद्धिको असन्मार्गसे हटाकर सदैव [illegible] प्रेरित करें। उस प्रकाशमय [illegible] अनुभव कर हम [illegible] करें [illegible] आपका [illegible] हों। हमारा

इस प्रार्थनाको आप पूर्ण करें क्योंकि आप ही पूर्णकाम हैं, सर्वज्ञ हैं एवं परम शरण्य और वरण्य हैं।'

वेदोंकी भावना है कि हम अनन्य एकाग्रतासे उपासनामें ईश्वरको प्रसन्न करें और वह हमारे योग-क्षेमादिको सर्वदा सम्पन्न करे—

नू अन्यत्रा चिदद्रिवस्त्वन्नो जग्मुराशसः। मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिः॥ (ऋक्० ८। २४। ११)

'संसारको धारण करनेवाले हे भगवन्! हमारी अभिलाषाएँ आपको छोड़कर अन्यत्र कहीं कदापि न गयी हैं न जाती हैं अतः आप अपनी कृपाद्वारा हमें सब प्रकार सामर्थ्यसे सम्पन्न करें।'

ज्ञानकी पराकाष्ठापर भक्तिका उदय होकर भक्तिके सदा परिपूर्ण होनेसे वृत्तिमें मुक्तिकी वासना भी नहीं उठती। ऐसा जीवन ही वैदिक संस्कृतिका आदर्श है—

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ (अथर्व० १।५।२ ऋक्० १०।९।२)

'प्रभो! जो आपका आनन्दमय भक्तिरस है हमें वही प्रदान करें। जैसे शुभकामनामयी माता अपनी संतानको संतुष्ट एवं पुष्ट करती है वैसे ही आप (मुझपर) कृपा करें।

ज्ञान एवं कर्मका अन्तिम परिणामरूप भक्ति और उस भक्तिके अन्तिम परिणामरूप उन विराट् विश्वरूप पुरुषोत्तमकी शरणागतिको ही वेद श्रेयमार्गमें महत्त्वपूर्ण मानते हैं—

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे। मृळा सुक्षत्र मृळय॥ (ऋक्० ७। ८९। ३)

'हे परम तेजोमय! परम पवित्र परमेश्वर! दीनता-दुर्बलताके कारण मैं अपने संकल्पसे प्रज्ञासे कर्तव्यसे उलटा चला जाता हूँ। शुभशक्तिशालिन्! मुझपर कृपा करके मुझे सुखी करें।'

वेद ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि ईश्वर हमें सन्मार्गपर लाये वह हमारे अन्तःकरणको उज्ज्वल कर आत्मश्रेयके सर्वोच्च शिखरको प्राप्त करा दे—

भद्रं मनः कृणुष्व॥ (साम० १५६०)

'हे प्रभु! हमारे मनको कल्याण-मार्गमें प्रेरित करें।'

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥ (ऋक्० ५। ८२। ५)

'हे सारे जगत्के उत्पादक—प्रेरक देव! तू हमारे सारे दुराचरणोंको दूर कर दे और सभी कल्याणकारी गुण हममें भर दे।'

मानव-मनको मोह, क्रोध मत्सर, काम मद और लोभकी दुर्वृत्तियाँ सदैव घेरे रहती हैं। इन छः मानसिक शत्रुओंके निवारणके लिये वैदिक मन्त्रोंमें पशु-पक्षियोंकी उपमासे दमन करनेकी सम्मति दी गयी है, जैसे—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥
(अथर्व० ८। ४। २२ ऋक्० ७। १०४। २२)

उलूकयातुम् (उलूकयातु)—यह अन्धकारप्रिय प्रकाशके शत्रु उल्लूकी वृत्ति है—'संशयीवृत्ति'।

शुशुलूकयातुम् (शुशुलूकयातु)—यह क्रोधी और क्रूर भेड़ियेकी वृत्ति है—'आक्रामकवृत्ति'।

'श्वयातुम् (श्वयातु)—यह दूसरों और अपनोंपर भी गुर्राकर दौड़नेवाले कुत्तेकी वृत्ति है—'चाटुकारवृत्ति'।

कोकयातुम् (कोकयातु)—यह चकवा-चकवीकी वृत्ति है— असामाजिकवृत्ति'।

'सुपर्णयातुम् (सुपर्णयातु)—यह ऊँची उड़ान भरनेवाले गरुड़की वृत्ति है—'अभिमानीवृत्ति'।

गृध्रयातुम् (गृध्रयातु)—यह दूसरोंकी सम्पत्ति छीन लेनेवाले गिद्धकी वृत्ति है— लालुपवृत्ति'।

अतः ओ मनुष्य! तू साहसी बनकर उलूकके समान 'मोह' भेड़ियेके समान 'क्रोध' श्वानके समान 'मत्सर' कोकके समान 'काम', गरुड़के समान 'मद' और 'लोभ'-को गिद्धके समान समझकर मार भगा। अर्थात् तू प्रभुसे बल माँगकर इन छः प्रकारकी राक्षसीय भावनाओंको पत्थरके सदृश कठोर साधनासे मसल दे।

वेदोंकी मान्यता है कि तप पूत जीवनमें ही मोक्षकी उपलब्धि होती है—

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥
(अथर्व० ४। ३५। ६)

'जो प्रभुगुण गानेवालो गायत्रीद्वारा अपने जीवनको

आत्मशुद्धि कर स्वामी बन गया है जिसने सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाले ईश्वरीय ज्ञान वेदको जीवनमें पूर्णत धारण कर लिया है, वही मानव वेदज्ञानरूपी पके हुए ओदनके ग्रहण-सदृश मृत्युको पारकर मोक्षपद प्राप्त करता है, जो मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य है।'

वेद भगवान्‌के सविधान हैं। इनमे ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनसे शिक्षा प्राप्त कर मनुष्य अध्यात्मके सर्वोच्च शिखरपर पहुँच सकता है। जैसे—

ऋतस्य पथा प्रेत॥ (यजु० ७। ४५)

'सत्यके मार्गपर चलो।'

ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृत स्मर॥

(यजु० ४०। १५)

'यज्ञादि कर्मोंको स्मरण रखो। अपनी सामर्थ्य एवं दूसरेके उपकारको स्मरण रखो।'

वेदोंमें इस लोकको सुखमय तथा परलोकको कल्याणमय बनानेकी दृष्टिसे मनुष्यमात्रके लिये आचार-विचारोंके पालनका विधान तो किया ही गया है, साथ ही आध्यात्मिक साधनामें बाधक अनेक निन्दित कर्मोंसे दूर रहनेका निर्देश भी दिया गया है। जैसे—

अक्षैर्मा दीव्य। (ऋक्० १०। ३४। १३)

'जूआ मत खेलो।'

मा गृध कस्य स्विद्धनम्। (यजु० ४०। १)

'पराये धनका लालच न करो।'

मा हिंसी पुरुषान् पशूंश्च।

'मनुष्य और पशुओंको (मन कर्म एवं वाणीसे) कष्ट न दो।'

वैदिक सत्य सुख

जीवनके उदात्त सुखके लिये बल (ब्रह्मचर्य)-की आवश्यकता होती है। उस बलके साधनका एक मात्र उपाय है 'वीर्यरक्षा'। इसी वीर्यरक्षाका नाम है—'ब्रह्मचर्य'।

वेदोंमें ब्रह्मचर्य एव ब्रह्मचारीकी बहुत प्रशसा मिलती है। अथर्ववेदमे एक ही स्थलपर पचीसो मन्त्र ब्रह्मचर्यके महत्त्वको बतलाते हैं। उनमें बतलाया गया है कि—

राजा अपने राष्ट्रकी रक्षा आचार्य अपने ब्रह्मकी रक्षा कन्या अपने लिये तरुण पतिकी प्राप्ति गौ-अश्व आदि पशु घास (तृण) खानेकी सामर्थ्य देवता अपना अमरत्व और इन्द्र अपना स्वर्गाधिपत्य ब्रह्मचर्यद्वारा ही प्राप्त कर सकता है (अथर्व० ११। ५)।

वेदमे मनुष्यमात्रको ही ब्रह्मचर्यका उपदेश नहीं दिया गया है अपितु स्थावर-जगम जड-चेतन-रूप सारे संसारको उसका उपदेश दिया गया है। यथा—

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पति।
संवत्सर सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिण॥
पार्थिवा दिव्या पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षा पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिण॥

(अथर्व० ११। ५। [illegible])

—इन मन्त्रोंमें कहे हुए पशु पक्षी और [illegible] वेदोंके नियमानुसार चलते हैं परंतु मनुष्य उनमे बुद्धिमें वैशिष्ट्य प्राप्त करके भी इस वेदोल्लिखित आवश्यक कर्तव्यकी अवहेलना करता है। इसी अवहेलनाके फलस्वरूप आज समस्त देशमे दु ख-दारिद्र्यकी पताका फहरा रही है और इस पताकाका ध्वस करनेके लिये देश-विदेशके विज्ञान एव संततिशास्त्रके विशेषज्ञ संतति निग्रहकी आवाज उठा रहे हैं तथा उसके लिये अवैध उपायोंका भी निर्देश करते हैं। यदि अब भी मनुष्य-समाज अपने नियम (ब्रह्मचर्य)-पर अटल हो जाय तो उसका परम कल्याण हो सकता है। शतपथ-ब्राह्मण आदि ब्राह्मणोंमें तो यह बतलाया गया है कि ब्रह्मचारीके ऊपर मृत्यु भी अपना असर नहीं कर सकती। यथा—

ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजा प्रायच्छत् तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्।

परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्माने सम्पूर्ण संसारको मृत्युके अधिकारमें कर दिया परंतु ब्रह्मचारीको उसके अधिकारमें नहीं किया। [illegible] एक अद्भुत [illegible] है और [illegible]

[illegible]

तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पति । सोमेन नीतां जुह्व न देवाः॥

(ऋक्० १०। १०९। ५)

समाजमें रहनेवाला ब्रह्मचारी देवताओंका एक अङ्ग होता है। इस ब्रह्मचारीके द्वारा ही बृहस्पतिने सोमसे हरणकी हुई अपनी स्त्रीको प्राप्त किया।

कठोपनिषद्में वाजश्रवाके पुत्र नचिकेताको यमदेवने ब्रह्मविद्याके परिज्ञानमें कठिनता बतलाते हुए अनेक प्रलोभन दिया। यहाँतक कि—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।

(क० उ० १। १। २५)

हे नचिकेता! जो पदार्थ पृथ्वीमें नहीं मिल सकते हैं उन सब पदार्थोंको तुम निःसंकोच इच्छानुसार माँगो। मेरे द्वारा प्रदत्त सुन्दर रथ और गाजे-बाजेसे युक्त मनुष्योंके लिये दुष्प्राप्य इन कमनीय दिव्य अप्सराओंसे अपनी सेवा कराओ।

सबलोकाधिपति यमराजके इतने प्रलोभन देनेपर भी अपने विचारोंमें अटल वीर-धीर नचिकेताका मन जरा भी विचलित नहीं हुआ। उसने झटसे उत्तर दिया कि—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।

(क० उ० १। १। २६-२७)

हे यमदेव! सांसारिक पदार्थ नश्वर हैं और भोगके साधन सम्पूर्ण इन्द्रियोंके वास्तविक बलको हर लेते हैं। प्राणिमात्रका जीवन भी परिमित है। भोगके साधनोंमें भोगतृष्णा शान्त नहीं होती है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

(मनु० २। ९४)

इसलिये थोड़ेसे जीवनके लिये इन नश्वर अशान्तिप्रद नृत्य-गीतरत अप्सरादिकोंको रहने दें। आपके दर्शनसे हम सब कुछ मिल गया। इस तरह यमराजद्वारा दिये गये प्रलोभनोंको नचिकेताने दूषित बतलाकर ठुकरा दिया। इस नचिकेताके आदर्श उपदेशसे सच्चे सुख और सच्ची शान्तिके पुजारियोंको ब्रह्मचर्यका आश्रय लेना अत्यावश्यक है।

ब्रह्मचर्यके लिये आहार (कर्म)—खान-पानका भी विचार रखना परमावश्यक है। प्राणिमात्रके लिये जिस प्रकार सात्त्विक जीवन उपयोगी है उसी प्रकार सात्त्विक भोजन भी लाभकर है। जिसका स्वरूप सूत्ररूपसे भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१७। ८)-में कहा है—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

प्रधानतया घी-दूध ही सात्त्विक पदार्थ हैं। यज्ञोंमें भी भगवती श्रुतिने घृतप्रधान द्रव्यको सात्त्विक आहार मानकर उसे खानेका उपदेश दिया है—

अमृताहुतिराज्याहुतिः। अमृतं वा आज्यम्।
आज्यं वै देवानां सुरभि घृतं मनुष्याणाम्॥

घृत अमृत है। घृत खाना यानी अमृतका पीना है। आज्य (वैदिक विधिसे संस्कृत घृत) देवताओंको प्रिय है। घृत मनुष्योंको प्रिय है।

घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ (शुक्लयजु० १२। ४४)

तुम अपने शरीरको घृतसे बढ़ाओ।

पयसा रेत आभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराꣳसमाम्।

(यजुर्वेद ३८। २८)

दूधमें वीर्य (चरम धातु) संचित है। इसलिये हम लोग सदा-सर्वदा दूधको प्राप्त करते रहें।

पयसा शुक्रममृतं जनित्रꣳ सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः। अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना०॥

(यजुर्वेद १९। ८४)

अश्विनी देवता दूधसे दुर्बुद्धिको नाश करके अमृतस्वरूप शुद्ध जीवन (वीर्य)-को उत्पन्न करते हैं।

वाक्-साधन—सात्त्विक जीवनके लिये वाक्-साधन भी परमावश्यक है। यह दो प्रकारका है—

१-स्ववाक्-साधन—अपनी वाणीको सदा शुद्ध (सत्यप्रिय) रखना।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैषा लक्ष्मीर्निहिताधि
वाचि॥

(ऋक्० १०। ७१। २)

विद्वान् मनुष्य चलनीसे छाने गये सत्तूकी तरह मनसे विचार कर वाणीका प्रयोग करते हैं। जिस वाणीके चलसे अमित्र भी मित्र होते हैं और उनकी वाणीमे भद्रा (कल्याण करनेवाली) लक्ष्मी सदा सनिहित रहती है।

२-परवाक्-साधन—दूसरेकी वाणीका अपने अनुकूल करना।

चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयादा निधातो। न दुरुक्ताय स्पृहयेत्॥' (ऋक्० १। ४१। ९)

चार पासाको हाथमें रखनेवाले जुआरीसे लोग जैसे डरते हैं उसी प्रकार अपनी निन्दासे सर्वदा डरता रहे। कभी भी निन्दाकी चाह न करे।

'निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥'

(गीता २। ३६)

ऊपर सात्त्विक जीवनके लिये मनद्वारा (ब्रह्मचर्य, कर्म आहार और वचन आदि) अनेक साधनोंके उपायोंका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। आशा है पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

वेदमे परलोक

प्राणिमात्रको एक दिन वर्तमान देह छोड़कर अपने-अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार किसी-न-किसी लोकमे अवश्य जाना है, क्योंकि बिना भोगे कर्म नष्ट नहीं होते हैं। लिखा भी है—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

अनेक कल्पकोटिमें भी बिना भोगा हुआ कर्म क्षीण नहीं होता। इस कर्मफलको भोगनेके लिये मानव इस जीवलोकमें या परलोकमे शरीर धारण करता है। जो प्राणी अच्छा कर्म करता है वह 'पुण्यलोक' मे जाता है और जो बुरा कर्म करता है वह 'पापलोक' में जाता है।

यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥

(अ० १८। २। ८)

—इस मन्त्रमे अग्निकी प्रार्थना है कि हे अग्ने! जो आपके सुखप्रद स्वरूप हैं उनसे इस प्रेतको अच्छे कर्म करनेवाले प्राणी जिस लोकमें जाते हैं उस लोकमें ले जाइये।

इस मन्त्रसे यह सिद्ध होता है कि अच्छे कर्म करनेवालोंका लोक अलग है।

यजुर्वेदमें भी अच्छे कर्म करनेवालोंका लोक अलग बतलाया गया है। यथा—

नाकं गृभ्णाना सुकृतस्य लोके। (यु० ० १५। ५०)

अथर्ववेदमें भी परलोकका इस प्रकार निर्देश किया गया है—

यद् यमसादनात्पापलोकान् (अथर्व० १८। ५। ६४)

स्वर्ग या नरकमे जानेके लिये यम देवताकी सम्मति ली जाती है। पापका फल भोगनेके लिये ही प्राणी यमके पास जाते हैं। इसमे उपर्युक्त 'यमसादनात्पापलोकान्' प्रमाण है। स्वर्गमे भी यमकी सम्मति ली जाती है क्योंकि 'यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमं नाके अधिरोहयैनम्'—इस यजुर्वेदीय मन्त्रमें यम और यमीका ऐकत्य प्राप्त कर इसको उत्कृष्ट स्वर्गमे पहुँचाओ—यह कहा गया है।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि इस लोकसे अन्य कोई परलोक अवश्य है जिसका ऋचाओंने अनेकविध महत्त्व प्रतिपादित की है।

वेदमे प्रसिद्ध तीन लोक हैं—पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक। इन लोकोंके एक-एक देवता हैं। पृथ्वीलोकके देवता अग्नि अन्तरिक्षलोकके देवता इन्द्र या वायु और द्युलोकके देवता सूर्य हैं। इन अग्नि इन्द्र तथा सूर्य आदि देवताओंके अलग-अलग कार्य एवं वस्तुएँ हैं। इनमें [illegible] (वसन्त) (चैत्र और वैशाख मास) तथा शरद् (आश्विन तथा कार्तिक मास) ऋतु, गायत्री और अनुष्टुप् छन्द [illegible] और एकविंशस्तोम [illegible] तथा [illegible] स्थानीय अग्निस्थानीय हैं और रश्मियों [illegible] अवगाहन एवं दृष्टि-विषयक [illegible] हैं

एव जातवेदा आदि देवता एवं आग्नायी पृथिवी और इला—इन तीन स्त्रियोंके भागी भी अग्निदेव हैं।

अन्तरिक्षस्थानीय इन्द्रके माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म (ज्येष्ठ तथा आषाढ मास) और हेमन्त (मार्गशीर्ष और पौष मास) ऋतु, त्रिष्टुप् और पंक्ति छन्द पञ्चदश तथा त्रिणवस्तोम बृहत् और शाक्वर साम भागी हैं। वायु आदि देवता तथा राका, अनुमति इन्द्राणी आदि स्त्रियोंके भागी भी इन्द्र हैं। इन्द्रका कर्म है—वृष्टि-रस प्रदान करना मेघोंको हटाना और बलकर्म-सम्पादन।

द्युस्थानीय सूर्यदेवताके भागमें तृतीय सवन वर्षा (श्रावण तथा भाद्रपद मास) और शिशिर (माघ तथा फाल्गुन मास) ऋतु, अतिच्छन्द तथा जगती छन्द सप्तदश और त्रयस्त्रिंशस्तोम वैरूप और रैवत साम अश्विनी आदि देवता तथा सूर्या आदि स्त्रियाँ हैं।

इनका कर्म रसका आकर्षण करना, किरणोंद्वारा रसका धारण करना और वनस्पत्यादि औषधियोंकी वृद्धि तथा पुष्टि करना है।

द्युलोकका अथर्ववेदमें तीन भाग बतलाया गया है। जैसे—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते॥

(१८। २। ४८)

नीचेकी ओर स्थित द्युलोक 'उदन्वती' है। मध्यम द्युलोकका नाम 'पीलुमती' है। इसमें पालन करनेवाले ग्रह-नक्षत्र आदि रहते हैं। तीसरा द्युका भाग 'प्रद्यौ' नामक है। वह प्रकृष्ट फल देनेके कारण 'प्रद्यौ' अच्छे कर्म करनेवालोंको प्राप्त होता है—

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषास्यनपत्यवन्तः।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः॥

(अथर्व० १८। २। ४७)

जो ऊर्ध्वगमन करनेवाले अग्रगामी पितर पुत्ररहित होनेपर भी द्वेष करने योग्य (पापों)-को त्यागते हुए परलोकको प्राप्त हुए हैं वे अन्तरिक्षका अतिक्रमण कर ऊपर जाकर दुःख-सम्पर्शनसे रहित स्वर्गके ऊपरके भागमें देदीप्यमान होते हुए पुण्यफलके भोगके स्थानको प्राप्त करते हैं।

यजुर्वेदमें भी—'नाकस्य पृष्ठे अधिरोचने दिवः' इस मन्त्रसे 'द्यु' के तीन भागका संकेत मिलता है। उपर्युक्त वैदिक प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि इस लोक (पृथ्वी)-से अतिरिक्त कोई अन्य लोक अवश्य है और द्युलोकके तृतीय भाग 'प्रद्यौ' में अच्छे कर्म करनेवालोंका वास होता है।

~~~~~

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'

(श्रीरामनाथजी सुमन)

संसारको दो प्रकारसे देखा जाता है—मित्र दृष्टिसे और द्वेष-दृष्टिसे। ऋषि कहते हैं—

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

(शुक्लयजु॰ ३६।१८)

अर्थात् 'हम लोग मित्रकी दृष्टिसे संसारको देखें।' यह उपदेशकी वाणी नहीं है यह पुरुषोंके अनुभवकी वाणी है। जितना ही तुम दूसरोंसे प्रेम करोगे दूसरोंसे जुड़ते जाओगे उतने ही सुखी होगे और जितना ही दूसरोंको द्वेष-दृष्टिसे देखोगे उनसे कटते जाओगे उतने ही दुःखी होओगे। यह जुड़ना ही प्रेम है यह जुड़ना ही आनन्द है। यहाँ पराया कोई नहीं जो हैं अपने हैं। मित्रताभरी आँखोंसे देखकर तुम मित्रोंकी संख्या बढ़ाओगे—उनकी ओर हाथ बढ़ाओगे तो वे अपने हो जायँगे और न भी हुए तो उनके परायेपनकी धार कुंद पड़ जायगी।

ईसाइयोंमें एक सम्प्रदाय है—वेस्लियन मेथडिस्ट (Wesleyan Methodist) सम्प्रदाय। इसके संस्थापक जॉन वेस्ली (John Wesley)-ने लिखा है—'छटाँकभर प्रेम सेरभर ज्ञानसे कहीं अच्छा है।' प्रेम ज्ञानसे अच्छा तो है ही एक अर्थमें यह स्वयं ज्ञान है तथा सच्चे ज्ञानका उद्गमस्थल है। संत ग्रेगरी (St Gregory)-ने कहा है—'समस्त ज्ञानकी उत्पत्ति प्रेमसे होती है।' गेटे (Goethe)-ने भी कहा है—'परिश्रमसे जो काम सारा उम्रमें कठिनाईसे होता है वह प्रेमके द्वारा एक क्षणमें हो जाता है।'

मित्रताकी आँख—अर्थात् प्रेमकी आँख और अमित्रताकी आँख अर्थात् द्वेषकी आँख—इन दोनोंमें पहलीसे धरती स्वर्ग बनती है और दूसरीसे दुर्व्यवहार, दुर्वचन अहंकार बनता है जिससे नरकका जन्म होता है।
~~~~~

महाभारतके आदिपर्वमे एक छोटी-सी कथा है। पञ्चाल देशके राजा यज्ञसेनका पुत्र द्रुपद पढनेके लिये भरद्वाजके आश्रममे गया। वहाँ वह बहुत दिनोंतक रहा और उसने अनेक प्रकारकी विद्याएँ सीखीं। आश्रममें रहते हुए मुनिपुत्र द्रोणसे उसकी खूब मित्रता और घनिष्ठता हो गयी। आश्रमसे विदा होते समय द्रुपदने द्रोणसे कहा—'यदि तुम कभी हमारे देशमे आओगे तो हम तुम्हारा हर तरहसे सम्मान करेंगे और तुम्हें अपना कुलगुरु बनायेंगे।' कुछ समय बाद यज्ञसेनकी मृत्यु हो गयी तथा द्रुपद राजा हुआ।

उधर उसके सहपाठी द्रोणका भी समयपर गौतम-पुत्री कृपीके साथ विवाह हो गया। इस विवाहसे अश्वत्थामाका जन्म हुआ। इन दिनों द्रोण बडी तंग स्थितिमे थे उनकी आर्थिक अवस्था शोचनीय थी—यहाँतक कि वे अपने पुत्रको दूध भी नहीं दे सकते थे। बालक अश्वत्थामा अपने साथियोंको दूध पीता देखकर स्वयं भी दूधके लिये हठ करता था, किंतु द्रोण अपनी निर्धनताके कारण अपने प्यारे पुत्रकी इच्छा-पूर्ति करनेमे असमर्थ थे। बालकको बहलानेके लिये उसकी माँ कृपी पानीमे घोले हुए आटेको दूध कहकर उसे पिला देती थी। वह अपने साथियोंसे जाकर कहता—'मैं भी दूध पीकर आता हूँ, किंतु साथी बालक उसका उपहास करते हुए कहते—'तुमको दूध कहाँ मिलेगा? पानीमे घुले आटेको तुम दूध कहते हो?' इस अपमानसे क्षुब्ध होकर अश्वत्थामा एक दिन अपने पिताके पास गया और रोते हुए ये सब बातें उसने उन्हे सुनायीं। सुनकर पिताका हृदय उमड आया उनकी आँखें भींग गयीं और उन्होंने सहधर्मिणीसे कहा—'अब मुझसे नहीं सहा जाता अब तो मुझे कोई उपाय करना ही होगा।'

सोचते-सोचते द्रोणको अपने बाल-सखा द्रुपदद्वारा दिये हुए आश्वासनकी याद आयी। वे पञ्चाल देशकी ओर चल पडे। वहाँ पहुँचनेपर जब वे राजा द्रुपदके सामने लाये गये तब उन्होंने अनजान बनकर इनका परिचय पूछा। जब इन्होंने पुरानी बातोंकी याद दिलाकर कहा कि 'आश्रममे तुम हमारे घनिष्ठ मित्र थे और तुमने मुझसे कुछ प्रतिज्ञा भी की थी' तब द्रुपदने कहा—'राजा और याचककी कैसी मित्रता? मैंने तुमसे कोई प्रतिज्ञा नहीं की।' सुनते ही द्रोण उलटे पाँव वहाँसे लौट आये तथा उनसे इस अपमानका बदला लेनेके लिये ही उन्होंने कौरव-पाण्डवोंको धनुर्वेदकी शिक्षा देना आरम्भ किया जिसका परिणाम यह हुआ कि अर्जुनने मुश्क बाँधकर द्रुपदको द्रोणके सामने उपस्थित किया।

प्रतिहिंसाकी जो लहर उठी, वह शान्त नहीं हुई द्रुपदके इस अपमानका बदला उनके बेटे धृष्टद्युम्नने द्रोणका सिर काटकर लिया और फिर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने धृष्टद्युम्नको मारकर पितृ-ऋण चुकाया। सम्पूर्ण महाभारत इसी दुष्ट दृष्टिका परिणाम था।

ठीक इसके विपरीत उदाहरण कृष्ण-सुदामाका है। दोनोंके बीच ठीक वही सम्बन्ध था जो द्रुपद और द्रोणके बीच था किंतु जब सुदामा निर्धनताकी मारसे विकल हो श्रीकृष्णके पास पहुँचे तब श्रीकृष्णने देखते ही दौडकर उन्हें छातीसे लगा लिया। कवि तो कहता है कि अपना अश्रुधारासे ही उन्होंने अपने बाल-सखाके पाँव धोये अपने और मित्रके बीच कहीं वैभवको नहीं आने दिया। वे बराबर नम्रता एवं स्नेह ही उडेलते रहे तथा जो कुछ भी कर सकते थे विना मित्रके कहे ही उन्होंने कर दिया।

इन दोनों दृष्टान्तोंमें प्रकारान्तरसे उसी मित्र-दृष्टि और द्वेष-दृष्टिके परिणामोंका निदर्शन है। मानव मानव होता ही तब है जब वह प्रेमको—मैत्रीकी दृष्टिको ग्रहण करता है। प्रेम ही जीवनका उत्स है प्रेम ही उसका पथ है प्रेम ही उसका गन्तव्य है।

जब ईसाने कहा था—'अपने शत्रुओंसे प्रेम करो', तब संसार उनकी बातपर हँस पडा था। जब बुद्धने कहा—'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्', तब आस्थाहीन लोगोंने उनका उपहास किया। जब गाँधीजीने कहा—'विरोधीके प्रति भी अहिंसक व्यवहार करो', तब लोगोंने सूखी हँसी हँस दी। आज भी प्रेमकी क्षमाकी अहिंसाकी जीव-मैत्रीकी बात करनेपर लोग सिर हिला देते हैं कहते हैं—ये सब हवाई बातें हैं। परंतु प्रेम क्या सचमुच हवाई है? यह ठीक है कि मनुष्यमें पशुताका अंश भी दिखायी पडता है परंतु वह अंश नगण्य है। मनुष्यमें प्रेमका अंश उसमें कहीं अधिक है और यह बात इससे कहीं अधिक सत्य है कि प्रेम किये बिना मनुष्य

जा ही नहीं सकता। जबतक यह प्रेम न करेगा स्वरूपके दर्शन न कर सकेगा। आनन्द और रससे दूर जीवनके नरकमें भटकता ही रहेगा।

तुम किसीको शत्रु-दृष्टिसे देख सकते हो तुम उससे बदला ले सकते हो तुम उसे हानि पहुँचा सकते हो। परंतु ऐसा करके तुम आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते सुखी नहीं हो सकते क्योंकि उसको हानि पहुँचानेके पहले तुम अपनेको हानि पहुँचा चुकते हो आत्मद्रोह कर चुकते हो। इसीलिये जब तुम ऊपरसे क्षणभरके लिए उल्लसित हो उठते हो, तब भी अंदरसे अत्यन्त संतप्त, व्याकुल अतृप्त और प्यासे रह जाते हो। सुख तथा आनन्दके लिये प्यारके सिवा दूसरा रास्ता ही नहीं है। इसलिये जगत्‌में जितने महापुरुष हुए हैं, सब इसी प्रेम-मार्गकी ओर संकेत करते हैं। जिसे नीचेसे ऊपर उठना है जिसे जीवनकी उच्च भूमिकापर पहुँचना है, जिसे सच्चे आनन्द और सुखकी खोज है उसके लिये दूसरा रास्ता नहीं है।

सुकरातसे उसके किसी विरोधीने एक बार कहा था—'यदि मैं तुमसे बदला न ले सकूँ तो मर जाऊँ।' सुकरातने उत्तर दिया—'यदि मैं तुम्हें अपना मित्र न बना सकूँ तो मर जाऊँ।'

आज संसार नरक हो गया है। सारी विद्या-बुद्धि प्रगति और वैज्ञानिक उपलब्धियोंके होते हुए भी जीवन भाररूप हो गया है। ईर्ष्या-द्वेष तथा घृणाका अन्धकार फैलता ही जा रहा है। हमारा बहुत सा दुःख दूसरोंके प्रति हमारे संशय और अविश्वाससे पैदा हुआ है। जिस हम आँखोंकी कोरोंमें जरा-सी मुस्कानकी किरण फैलाकर अपना बना सकते हैं जिसे हम अधरपर फूटे दो प्रेम-वचनोंसे जीत सकते हैं उसे हम अपनी शंकालु दृष्टि चढ़ी हुई भौंहों और व्यंग्यके कटु शब्दोंसे दूर हटाते जा रहे हैं। सहानुभूतिके स्पर्शसे पत्थर द्रवित हो जाता है प्रेमकी एक चितवन दुर्भावनाओंकी काईको काटकर सदाके लिये बहा देती है वह हृदयमें साथ प्रवेश कर वहाँ अपना घर बना लेता है। जब मन रससे भरा होता है तभी हम आनन्दकी भूमिमें प्रवेश करते हैं जब मानस सरसी दान भरता है तभी उसका जीवन सार्थक होता है। इसलिये जो आनन्द चाहता है उसे अपने हृदय-कपाट खोल देने होंगे। क्या यह कठिन है? क्या यह असम्भव है? जरा भी नहीं किंतु इसके लिये हमें दृष्टि बदलनी होगी। निश्चय कर लेना होगा कि आजसे प्रतिदिन हम एक नया मित्र बनायेंगे प्रतिदिन हृदयकी कोई-न-कोई गाँठ खुलेगी और हृदयमें पत्थर बनी वासना एवं कटुताकी अहल्याएँ मानवी बनती जायँगी। कठिनाई यह नहीं कि प्रेम दुर्लभ है अपितु यह तो संसारमें सबसे अधिक सुलभ है प्रत्येक प्राणीमें उसे प्राप्त किया जा सकता है। किंतु कठिनाई यह है कि हम दिलका दरवाजा बंद किये बैठे रहते हैं और पाहुन कुंडी खटखटाकर लौटते जाते हैं।

जरा हृदयके कपाट खोल दीजिये और प्रतिदिन सुबह उठकर निश्चय कीजिये कि आज आप एक नया मित्र बनायेंगे। इसकी खोजमें कहीं दूर जाना नहीं है। राह चलते हुए, अपने प्रतिदिनके सामान्य कामोंको करते हुए आप उसे पा लेंगे। आप चाहे जितने व्यस्त हों आगन्तुकके लिये स्नेहभरी मुस्कान तो आप बिछा ही सकते हैं। चीजें खरीदनेके लिये आनेवाले ग्राहक, यात्राके लिये टिकट पानेको व्याकुल मुसाफिर, अकेली यात्रा करती अरक्षित बहिन रास्ता भूले यात्री आफिसमें आपके पास कामसे आनेवाले आदमी अध्ययनकी गुत्थियोंमें उलझे हुए छात्र दिनभरकी हारी-थकी गृहिणियाँ और द्वारकी ओर उत्सुकताकी दृष्टि बिछाये बच्चे कष्टसे तड़पते रोगी भूख-प्याससे शिथिल मानव—न जाने कितने रूपोंमें तुम्हारे स्नेह तथा सहानुभूतिके प्यासे भक्त बिखरे हुए हैं। केवल देखनेका साहस करो और यह दरवाजे खोल दो। प्राणवायुको अंदर आने दो—प्रेमकी प्राणवायु, स्नेह और मित्रताकी जादूभरी वायु बस तुम्हारा काया-कल्प हो जायगा।

पग-पगपर प्रेम तुम्हें पुकार रहा है और तुम हो कि अपनी आँखें बंद किये अपने कान बंद किये पथपर चले जा रहे हो—निरानन्द थकावटसे भरे प्रभुको उलाहना देते भाग्यको कोसते। जरा आँखें खोलो पाहुन तुम्हारे द्वारपर खड़ा है जरा कान खोलो भगवद्विभूति तुम्हें पुकार रही है। अगणित मित्र तुम्हारा आवाहन कर रहे हैं। केवल देखने-देखनेकी बात है आनन्द तुम्हारा है प्रेम तुम्हारा है स्वर्ग तुम्हारा है प्रभु तुम्हारे हैं।

वेदोमे विद्या-उपासना

(महामहोपाध्याय पण्डित श्रीसकलनारायणजी शर्मा)

ईश्वरप्राप्तिके वैदिक साधन

ईश्वरकी प्राप्ति महान् धर्म है, क्योंकि उससे सुख-शान्तिका लाभ अवश्य ही होता है और वह सर्वदा एकरस एव नित्य होता है। धर्मकी तीन शाखाएँ हैं—यज्ञ अध्ययन और दान। छान्दोग्योपनिषद् (२। २३। १)-मे कहा गया है—'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानम्।' भक्ति और तपस्या यज्ञ हैं, दान कर्म है और अध्ययन ज्ञान है। ज्ञानके बिना कोई काम नहीं होता। जो ज्ञान भक्ति और कर्मका सहायक है, वह कारण है। जो इन दोनोके बलसे उत्पन्न होता है, वह कार्य है। दोनो प्रकारके ज्ञान धर्म हैं। ज्ञानका पर्यायवाची शब्द वेद है। वेदका मुख्य तत्त्व 'ॐ' है। शास्त्रोंमें ज्ञानके अर्थमे 'विवेक' और 'विद्या' शब्दका भी व्यवहार हुआ है। ज्ञानसे मुक्ति निश्चितरूपसे सम्पन्न होती है। इसीलिये विद्यासे अमरताकी प्राप्ति मानी गयी है—'विद्ययामृतमश्नुते।'

उद्गीथविद्या

ज्ञान तो उपासनासे होता है, वह कैसे की जाय? 'ॐ'के द्वारा परमात्माका ध्यान करना—यह भी एक उपासना है। हे ॐस्वरूप परमात्मन्! मुझे स्मरण रखो कहीं मुझे भूल न जाना—'ॐ क्रतो स्मर।' प्रणव अर्थात् 'ॐ' परमात्माका सर्वश्रेष्ठ नाम है क्योंकि इसके द्वारा उन्नत भावपूर्वक परमात्माका गायन होता है। इसीसे प्रणवको उद्गीथ कहते हैं। उपनिषदाम और योगदर्शनमें कहा गया है कि प्रणवका जप करनेसे आत्मज्ञानकी उपलब्धि एव विघ्नोंका नाश हो जाता है। आचार्य लोग इसे अक्षर—अविनाशी मानते हैं। पृथ्वी सब प्राणियोको धारण करती है वही प्राणियोंका आश्रय है उसका सार है जल। जलने ही ओषधियोंमें सार-तत्त्वका दान किया है। उसीसे पुरुष परिपुष्ट होते हैं। पुरुषमे सार वस्तु है वाक् (वाणी)। उसमें ऋक् और साम यथार्थ तत्त्व हैं। उनका सार 'ॐ' है। शक्ति अथवा अर्थके ध्यानसे 'ॐ'से बढकर ईश्वरका दूसरा नाम नहीं है—स एष रसाना॰ रसतम' (छान्दोग्य० १। १। ३)। इसके उच्चारणके समय वाक् और प्राणमे एकता सम्पन्न होती है। इससे जप करनेवालाके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं—'आपयिता ह वै कामाना भवति' (छान्दोग्य० १। १। ७)। प्रणव शब्दका एक अर्थ स्वीकार अर्थात् 'हाँ' भी होता है। जो इसे धारण करनेमे तत्पर है उसके सब कार्य और सभी इच्छाएँ स्वीकृत हो जाती हैं।

सवर्गविद्या

'सवर्ग' शब्दका अर्थ है ग्रहण कर लेना अथवा ग्रास कर लेना। अग्नि बुझनेपर कहाँ जाती है? सूर्य तथा चन्द्रमा अस्त होनेपर कहाँ रहते हैं? इसका उत्तर है कि ये तीनों वायुसे ग्रस्त हो जाते हैं। इनपर वायुका आवरण पड जाता है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति वायुसे है और ये तीनो ही अग्निरूप हैं। प्रकाशमय होनेके कारण सूर्य और चन्द्रके अग्नित्वमे भी सदेह नहीं हो सकता। वेदने इनका आविर्भाव अग्निसे माना है। जल भी वायुमे लीन हो जाता है। सुषुप्तिके समय वाणी आँखे कान तथा मन प्राणमे व्याप्त रहते हैं। उस समय केवल श्वास—प्राणवायु चलता रहता है। दूसरी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ भी लुप्त हो जाती हैं। यह प्राणमे इन्द्रियोका सवर्ग हुआ। प्राण एव वायुका सवर्ग कहाँ होता है? इनका सवर्ग परमात्मा है। यह ज्ञान जिसे हो जाता है वह परमात्माका भक्त बन जाता है।'

एक समय शौनक और काक्षसेनि भोजन कर रहे थे। उसी समय एक ब्रह्मचारीने आकर उनसे भोजनकी भिक्षा माँगी। उन लोगोंके अस्वीकार करनेपर ब्रह्मचारीने कहा—'जो सबका पालन करनेवाला है जिसमें सबका सवर्ग होता है उसे तुम लोग नहीं देखते इसीसे अन्न नहीं दे रहे हो।' इसपर दोनो महर्षियोंने उसे अन्न देकर कहा—'हम जानते हैं कि तुम्हारे वचनका तात्पर्य ब्रह्म है। जो सबका खाता है जिसे कोई नहीं खा सकता जिसमे सब लीन हो जाते हैं और जो किसीमें लीन नहीं होता, वह महामहिमशाली मेधावी ब्रह्म है जो सबको उत्पन्न करता है—

आत्मा देवाना जनिता प्रजाना॰ हिरण्यद॰ष्ट्रो बभसोऽन-सूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमान ।

(छान्दोग्य० ४। ३। ७)

मधुविद्या

ब्रह्माण्डमें कौन ऐसा मनुष्य है जो माधुर्य पसंद नहीं करता। मधुविद्यामें जो मधु शब्द है वह सबसे पदार्थका बोधक है। मनुष्यमात्रका स्वाभाविक प्रेम माना गया ।

परमात्मा उससे भी माधुर्यशाली हैं। उस माधुर्यकी प्राप्ति सूर्यके द्वारा हो सकती है, क्योंकि सूर्य खट्टे फलोंको पकाकर मीठा बना देता है। इसीसे उपनिषद् कहती है कि सूर्य देवताओंके मधु हैं। मधुका छाता किसी लकड़ी आदिमें लगता है। सबसे ऊपरका द्युलोक इसके लिये आश्रय है। अन्तरिक्ष छाता है और सूर्यरश्मियाँ भ्रमरोंकी पङ्क्तियाँ हैं। चारों वेदोंके अनुसार किये हुए कर्म पुष्प-पराग हैं। उनसे अमृतस्वरूप मोक्ष, जो कि मधु है, उत्पन्न होता है। कर्म-प्रवर्तक सूर्य ही मुख्य रूपसे मधु है—यदि उसकी उपासना करें तो परम मधु ब्रह्मकी प्राप्ति सहज हो जाती है।

असौ वा आदित्यो देवमधु ... वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि॥ (छान्दोग्य० ३।१।१, ३।५।४)

पञ्चाग्निविद्या

जो लोग सूर्यके उत्तरायण होनेपर शरीर-त्याग करते हैं वे मुक्त हो जाते हैं, उन्हें फिर लौटना नहीं पड़ता। जो दक्षिणायनमें प्राण-त्याग करते हैं वे संसारमें फिर जन्म ग्रहण करते हैं। उत्तरायणका अर्थ ज्ञानमार्ग है और दक्षिणायनका कर्ममार्ग। ज्ञानमार्गके पथिकको पञ्चाग्निविद्याका पूर्ण परिचय होना चाहिये। श्वेतकेतु पाञ्चालोंकी राजसभामें गया, वहाँ उससे पाँच प्रश्न पूछे गये, परंतु श्वेतकेतु किसीका उत्तर न दे सका। उसने वहाँसे लौटकर अपने पिता गौतम आरुणिसे कहा—'पिताजी! आपने मुझे सब विद्याएँ नहीं सिखायीं। मैं पाञ्चाल-नरपति प्रवाहणके प्रश्नोंका उत्तर नहीं दे सका। आप मुझे उन विद्याओंका उपदेश कीजिये।' इसपर आरुणिने उन विद्याओंके सम्बन्धमें अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। श्वेतकेतुने पुनः राजा प्रवाहणके पास जाकर उन विद्याओंका उपदेश प्राप्त किया। राजाने पञ्चाग्निविद्याका उपदेश किया—

'यह लोक अग्नि है, इसको प्रज्वलित करनेके लिये सूर्य लकड़ी है। उसकी किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गार हैं तथा अवान्तर-दिशाएँ स्फुलिङ्ग हैं। इस अग्निमें देवता लोग श्रद्धारूपी हविका हवन करते हैं। इस हवनसे सोमकी उत्पत्ति होती है। श्रुति कहती है कि यहाँ श्रद्धा जलस्वरूप है। आगे देवता जलसमूह मेघरूप अग्निमें सोम (चन्द्रमा)-को, लोकरूप अग्निमें वृष्टिको और वृष्टिसे उत्पन्न अन्नको पुरुषरूप अग्निमें हवन करते हैं। उससे वीर्य उत्पन्न होता है, उसका हवन स्त्रीरूप अग्निमें होता है। मनुष्योंकी उत्पत्तिमें लोक, मेघ, पुरुष और स्त्री कारण हैं। पुरुष और स्त्रीको क्रमशः अग्नि भस्म करता है। ये ही पाँच अग्नियाँ हैं। इन पाँचोंमें परमात्मा व्याप्त हैं। इनके द्वारा जो परमात्माको जानता है, वह नित्यमुक्त हो जाता है। वेदान्तमें इस पञ्चाग्निविद्याका बड़ा विस्तार है, संक्षेपमें यहाँ उसका उल्लेख किया गया है। इसका ज्ञाता पुनरावृत्तिविहीन मुक्तिको प्राप्त होता है'—

पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥

(बृहदारण्यक० ६।२।१५)

उपकोसलकी आत्मविद्या

उपकोसल जाबाल सत्यकामके पास बहुत दिनोंतक शिष्यभावसे रहा, परंतु महर्षिने उसे ब्रह्मतत्त्वका उपदेश नहीं किया। उनके बाहर चले जानेपर मानसिक व्याधिसे पीड़ित होकर उपकोसलने भोजन और भाषणका परित्याग कर दिया। यह देख सत्यकामकी अग्नियोंने करुणावश होकर उपदेश किया कि 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म।' इसपर यह संदेह होता है कि प्राणवायु जो कि अचेतन है, 'क' अर्थात् सुख जो कि परिमित है और 'ख' अर्थात् आकाश जो कि शून्य है—ये भला ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? उस वचनका यह अभिप्राय नहीं है। जिस परमात्माके बलसे प्राण अपना कर्म करते हैं वही प्राण है। वह आकाशके समान व्यापक और असीम आनन्दस्वरूप है। इस विद्यामें लौकिक प्राण, सुख और आकाशका वर्णन नहीं है। इसके पश्चात् अग्नियोंने पृथक्-पृथक् उपदेश किया तथा जाबाल सत्यकामने लौटकर और भी उपदेश किया। इन्हीं सब विद्याओंका नाम 'उपकोसल-विद्या' है। जो ईश्वरको विद्योक्तरूपमें समझता है, वह उसकी उपासना करता है। यह उपासना मननसे दृढ़ होती है— प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म।

शाण्डिल्यविद्या

महर्षि शाण्डिल्य भक्तिशास्त्रके आचार्य थे। उनका बनाया हुआ शाण्डिल्यसूत्र संस्कृत-साहित्यका आदरणीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें भक्तिका वर्णन करते हुए कहा गया है कि परमात्माका मुख्य गुण करुणा है—'मुख्यं हि तस्य कारुण्यम्' (शाण्डिल्यसूत्र)। महर्षिका कथन है कि सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म है, उपासनार्थ यह भावना रखनी चाहिये। इसका कारण यह है कि परमात्मा 'तज्जलानिति' है। अर्थात् यह संसार उसीसे उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता और उसीसे परिचालित होता है। पुरुष अध्यवसायमय अर्थात् भावनामय है। उसकी जैसी भावना होगी, वैसी ही उसे गति मिलेगी। परमात्मा इच्छामय, प्राणचैतन्यस्वरूप, सत्यसंकल्प

सर्वगत सर्वकर्ता तथा रस-गन्धोका आदि स्थान है। जितनी अच्छी अभिलाषाएँ हैं सब उसीकी प्रेरणासे होती हैं। इन्द्रियोंके बिना जो सब कुछ करता है जो सबसे महान् तथा सबसे सूक्ष्म है, वह दयालु हम लोगोंके हृदयमें ही विराजमान है। यदि हम लोग उसका आश्रय ले तो उसे अवश्य प्राप्त कर सकते है, इसमें संदेह नहीं—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।'
'एतद् ब्रह्मैतमित प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति।'
(छान्दोग्य० ३। १४। १ ४)

दहरविद्या

जैसे इस लोकमें पुरुषार्थसे पैदा की हुई सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही पुण्यबलसे उत्पन्न उत्तमोत्तम पारलौकिक सुख भी नष्ट हो जाता है। जिसे परमात्माका ज्ञान हो गया है, उसके सुख नित्य होते हैं। ये कभी नष्ट नहीं होते। परमात्माका ज्ञान उपासनाके बिना नहीं होता। उपासनाका अर्थ है समीप रहना। जिसका कोई पता-ठिकाना ही नहीं उसके समीप कोई कैसे रहे? श्रुति कहती है कि 'मनुष्यका शरीर ही ब्रह्मपुर है, उसका दहर—हृदयकमल भगवान्का निवासस्थान है, उसीमें परमात्माको खोजो। वहीं उसका साक्षात्कार करो। यह मत सोचो कि सबसे बड़े भगवान् इतने छोटे-से स्थानमें कैसे रहेंगे। जितना बड़ा यह बाहरका आकाश है उतना ही बड़ा—बल्कि उससे भी बड़ा हृदयाकाश है। उसमें अग्नि सूर्य चन्द्रमा वायु आदि सभी हैं। उसमें रहनेवाले परमेश्वर शरीरके धर्मोंका स्पर्श नहीं करते। जरा-मृत्यु, क्षुधा-पिपासा उनका स्पर्श नहीं कर सकतीं। बाहरकी अभिलाषाएँ वहाँ पूर्ण रहती हैं। कोई दु:ख-शोक वहाँ नहीं सताता—

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्। (छान्दोग्य० ८। १। १)

भूमाविद्या

जगत्के प्राणी जो कुछ करते हैं उसका उद्देश्य सुख है। सुखकी जानकारीके बिना सुख नहीं हो सकता। यह सभी जानते हैं कि क्षणस्थायी अल्प वस्तुमें सुख नहीं होता। जगत्में जितने पदार्थ हैं—वे नाशवान् हैं अल्प हैं और किसी-न-किसी रूपमें दु:खमय हैं। सबसे महान्—सबसे बड़ा वस्तु ईश्वर है वही सुख है। उसका स्वरूप आनन्दमय है—'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्'। यहाँ एक बात विचार करने योग्य है कि हम जगत्में बहुत कुछ खाते-पीते देखते-सुनते हैं परंतु तृप्ति नहीं होती। इसका कारण क्या है? जगत्की वस्तुएँ परिमित हैं, अल्प हैं। परमात्मा सबसे बड़े—असीम हैं उनके मिल जानेपर दूसरे किसी पदार्थकी इच्छा नहीं होती और पूर्णता आ जाती है क्योंकि सब वस्तुओंकी स्थिति परमात्माके आश्रयसे ही है। सब वस्तुएँ विनाशशील हैं तथा परमात्मा अमृतस्वरूप भूमा (अनन्त) हैं—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य। (छान्दोग्य० ७। २३। १)

दीर्घायुष्यविद्या

जो मनुष्य चौबीस चौवालीस अथवा अड़तालीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करके यज्ञादि करते हैं वे नीरोग रहते हुए सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी उपासक हैं उनकी मृत्यु उनकी इच्छाके अधीन होती है। महिदास नामके एक उपासक ज्ञानी सोलह सौ वर्षोंतक जीवित रहे—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेय .... स ह षोडश वर्षशतमजीवत्। (छान्दोग्य० ३। १६। ७)

जो बहुत दिनोंतक जीवित रहना चाहते हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञानरूपकी उपासना करनी चाहिये।

मन्थविद्या

सिद्ध अथवा शरण-प्रपन्न हो जानेपर धनकी आवश्यकता नहीं होती परंतु साधनावस्थामें उसकी आवश्यकता होती है। तदर्थ मन्थाख्य कर्म किया जाता है। इससे धन प्राप्त होता है। उस कर्ममें ईश्वरसे प्रार्थना की जाती है कि—'हे अग्निस्वरूप देव भगवन्! सब देवता विपरीत होकर मेरे अभिजयो (सफलताओं)-को नष्ट कर देते हैं। मैं उनकी तृप्तिके लिये आहुति देता हूँ। किसी अच्छे मुहूर्तमें दुग्धपायी रहकर कुशकण्डिका करे और ओषधियों तथा फलोंसे हवन करे। बृहदारण्यकोपनिषद् (६। ३। २)-के 'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा०' इत्यादि मन्त्रोंसे आहुति देनी चाहिये।

जिसको मोक्षप्राप्तिकी इच्छा है उसको किसी कामनासे ईश्वरकी उपासना नहीं करनी चाहिये। सकाम उपासना तो मोक्षमें विघ्नकारक है। भगवान् निष्काम कर्मसे प्रसन्न होते हैं। जबतक हृदयमें कामनाएँ भरी हुई हैं तबतक परमात्माके लिये स्थान कहाँ है? कामना-दूषित हृदयरूप सिंहासनपर परम पवित्र परमात्मा कैसे विराजमान होंगे? इसीसे बृहदारण्यकोपनिषद् (४। ४। ६)-में कहा गया है—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम।

अर्थात् जो अकाम है निष्काम है आप्तकाम है वही भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है।

जीवेम शरदः शतम्

(पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र काव्य० व्या० सां० स्मृ० तीर्थ)

अधिक दिनोंतक जीवित रहनेकी इच्छा प्राणिमात्रको होती है। धर्म-प्रधान भारतवर्षमें इसी उद्देश्यसे सन्ध्योपासनका विधान वेदोंमें किया गया है। सन्ध्योपासनमें बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धिके लिये अनेक मन्त्रोंसे जलको पवित्र करके आचमन करनेका विधान है और बाह्य शुद्धिके लिये मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित जलसे शरीरका अभिषेक करनेको लिखा है। साथ-ही-साथ आयुवृद्धिके लिये प्राणायामका विधान है।

इसके पश्चात् भुवनभास्कर भगवान् सूर्यकी उपासनाका क्रम लिखा है। चन्दन पुष्प आदि अर्घ्यकी वस्तु जलके साथ लेकर सूर्यके लिये अर्घ्य प्रदान करनेकी विधि है। इसके पश्चात् सूर्योपस्थानके चार मन्त्र हैं। उनमें सूर्यकी स्तुतिके साथ उनसे अपने जीवनकी वस्तुओंके लिये प्रार्थना है। चौथा मन्त्र इस प्रकार है, यथा—

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।

(शु० यजु० ३६। २४)

इससे यह प्रतीत होता है कि मनुष्यकी परमायु एक सौ वर्षकी है और वह कर्म करते हुए एक सौ वर्षतक जीवित रहना चाहता है। ईशोपनिषद्के दूसरे मन्त्रमें भी यही बात लिखी है। यथा—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् मनुष्यको कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा रखनी चाहिये। इस तरह विहित कर्म—अग्निहोत्रादि करते रहनेसे मनुष्य कर्मफलसे लिप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि कर्मफलको प्राप्त करनेकी इच्छासे काम्यकर्म भव-बन्धनका कारण होता है, अतएव निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर कर्म करनेसे प्रारब्धका भोग हो जाता है और संचित कर्मोंकी उत्पत्ति होती ही नहीं, इससे परम शान्ति मिल जाती है।

प्राचीन ऋषिगण अपने इन्हीं कर्मोंका पालन करते थे, जिससे उनकी इन्द्रियाँ जीवनभर शिथिल नहीं होतीं और सौ वर्षतक कर्तव्य-पालन करते हुए जीवित रहते थे।

इन लोगोंके नेत्रोंमें जो ज्योति है वह सूर्यकी ज्योति है। सूर्य ही प्रकाशक अधिष्ठाता हैं, अतः आजीवन हमारे नेत्रोंकी ज्योति बनी रहे ऐसी प्रार्थना हम सूर्यसे करते हैं। इसी तरह अन्य इन्द्रियोंमें जो शक्ति प्राप्त है वह सूर्यसे ही प्राप्त है। अतः हमें प्रतिदिन सूर्यकी उपासना करनी चाहिये—'पश्येम शरदः शतम्'—हम सौ वर्षतक देखें हमारे नेत्रोंकी ज्योति कम न हो। 'जीवेम शरदः शतम्'—हम सौ वर्षतक जीवित रहें, हम अपनी पूर्ण आयुको भोगकर कर्तव्य-पालन करके भगवान्‌को प्राप्त करें। 'प्र ब्रवाम शरदः शतम्'—हम सौ वर्षतक बोलें अर्थात् शास्त्रोंका अध्ययन और अध्यापन करें तथा भगवान्‌का भजन करके अन्तमें उन्हींमें लीन हो जायँ। 'शृणुयाम शरदः शतम्'—तात्पर्य यह है कि हम सौ वर्षतक सुनें—अर्थात् सौ वर्षतक सत्संग करें, श्रीभगवान्‌के गुणोंको सुनें और अन्तःकरणको पवित्र करें। 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्'—अर्थात् जबतक हम जीवित रहें दीन न हों, जिससे आश्रममें आये हुए अतिथियोंका सत्कार कर सकें। अतः हमारे पास इतना धन रहे जिससे स्वयं भोजन करें तथा समागत अतिथिको भी भोजन करायें।

इस तरह अपनी आयु और इन्द्रियोंमें शक्तिके लिये सर्वत्र उपनिषदोंमें प्रार्थनाके मन्त्र पाये जाते हैं। प्रश्नोपनिषद्के शान्तिपाठके मन्त्रमें भी ऐसी ही प्रार्थना प्राप्त होती है। यथा—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

'हे देवगण! हम कानोंसे शुभ वचन सुनें। यज्ञादि अनुष्ठान करते हुए नेत्रोंसे माङ्गलिक वस्तुओंको देखें। हम लोगोंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग दृढ़ रहें जिससे हम लोग देवताओंका हित करते हुए अपनी पूर्ण आयुका उपभोग करें।'

ऋषिगण इसी तरह यज्ञादि-अनुष्ठान तथा अपने नित्यकर्म नियमपूर्वक करते हुए पूर्ण आयुका उपभोग करते थे और उनकी इन्द्रियाँ सबल रहती थीं। उनके शरीरके सभी अवयव दृढ़ एवं मजबूत रहते थे। इससे उनका जीवन भारभूत नहीं होता था।

आजकल हम नित्यकर्म भूल गये हैं, जिससे न तो हमारा शरीर सबल रहता है, न मन दृढ़ रहता है, बुद्धिकी शक्ति प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है। पचास वर्षके बाद

ही हमारा जीवन हमे भार मालूम पडने लगता है। इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, नेत्रमे ज्योति नहीं रहती। साठ वर्षकी उम्र होनेपर हम किसी कामको करने योग्य नहीं समझे जाते। हमारी परमायु ६० से ७० के अदर हो गयी है। जबकि वैदिक शास्त्रके अनुसार मनुष्यकी आयु सौ वर्षकी कही गयी है। वहाँ ज्योतिष शास्त्रके अनुसार तो मनुष्यकी आयु १०८ और १२० वर्ष कही गयी है, क्योंकि मनुष्यके जीवनभरम नव ग्रहोंकी दशा एक बार बारी-बारीसे आती है तथा एक राशिपर उनकी स्थिति जितने दिनकी होती है उनको जोडनेसे १२० वर्ष होती है। कुछ ज्योतिर्विदोंके मतके अनुसार १०८ ही वर्षकी परमायु होती है।

इस समय मृत्यु-सख्याको देखनेसे और अल्प अवस्थामे मृत्युकी सख्यासे पता चलता है कि जितना ही हम लोग अपने कर्तव्यसे दूर हट रहे हैं, उतनी ही हमारी इन्द्रियाँ अल्पकालमे ही कार्य करनेके योग्य नहीं रह जातीं। बाह्य कृत्रिम उपकरणोको कामम लाते हैं जिससे लाभके स्थानमे हानि ही प्रतीत होती है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने भी इस बातको स्वीकार किया है कि आध्यात्मिक विज्ञानके समक्ष यह भौतिक विज्ञान अत्यन्त क्षुद्र है, क्योंकि आध्यात्मिक विज्ञानसे जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है, वह अक्षय होती है और भौतिक विज्ञानसे प्राप्त होनेवाली वस्तु नश्वर होती है।

आध्यात्मिक विज्ञानकी सफलताके लिये अन्त करणकी शुद्धि अपेक्षित है जो प्रतिदिन सध्या-वन्दन करनेसे शुद्धताको प्राप्त करती है। अत यदि हम इस ससारमें अपने जन्मको सफल बनाना चाहते हैं और अपनी इन्द्रियोंद्वारा भगवान्‌का भजन करते हुए पूर्णायुको भोगना चाहते हैं तो हमें अपने वर्णोचित सध्या-तर्पण आदिसे चित्तको शुद्ध करके ईश्वरका भजन करते हुए १०० वर्षतक जीनेकी इच्छा रखनी चाहिये। 'शतायुर्वै पुरुष '—इस शास्त्रीय वचनको सत्य बनाना चाहिये।

वैदिक निष्ठा और भूमा

(चक्रवर्ती श्रीरामाधीनजी चतुर्वेदी)

छान्दोग्योपनिषद्के सातवे अध्यायमे देवर्षि नारद तथा आचार्य सनत्कुमारका सवाद है जिसमें परमसुख-स्वरूप—मूलतत्त्व भूमाका निरूपण आधाराधेयभावके क्रमसे हुआ है। उसका प्रसग यह है कि एक समय नारदने सनत्कुमारके समीप जाकर कहा—'भगवन्! मुझे पढाइये' (अधीहि भगव इति)। सनत्कुमारने कहा—'पहले आप यह तो बताइये कि अबतक क्या पढे हैं?' नारदने कहा—'भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्ववेद तथा इतिहासपुराणरूप पाँचवें वेदको भी मैं जानता हूँ। इसके अतिरिक्त मैं वेद-व्याकरण श्राद्ध-कल्प गणित उत्पात-ज्ञान निधिशास्त्र तर्कशास्त्र नीति निरुक्त शिक्षा कल्प छन्द ब्रह्मविद्या नृत्य-गान और विज्ञान आदि भी जानता हूँ, किंतु मैं केवल मन्त्रोंको जानता हूँ, आत्मतत्त्वका अनुभव मुझे नहीं है क्योंकि आप-जैसे महानुभावोंसे मैंने सुन रखा है कि जो आत्माको जान लेता है वह शोकको पार कर जाता है—(तरति शोकमात्मवित्)।' मैं अभी शोक करता हूँ, अत आत्मज्ञ नहीं हूँ। आप मुझे आत्मोपदेश प्रदान कर शोकरूपी सागरसे पार कर दीजिये (शोकस्य पारं तारयतु)। सनत्कुमारने कहा कि अबतक जो कुछ आप पढे हैं वह सब नाम ही है, विकारमात्र है केवल वाणीका विषय है। वास्तविक तत्त्व जो सत्य है वहाँ तो वाणी मौन हो जाती है क्योंकि उस एकको जान लेनेके बाद पुन जिज्ञासा नहीं होती।

इसके बाद नारदकी जिज्ञासाके अनुसार सनत्कुमारने नाम वाक् मन एवं सकल्प आदिके क्रमसे एक दूसरेको पहलेका आधार बताते हुए उस तत्त्वका निर्देश किया। जिसमे उन्होंने बताया कि तत्त्व-जिज्ञासुको निष्ठावान् होना चाहिये क्योंकि निष्ठाशील मनुष्य ही श्रद्धालु होता है। इसीलिये उन्होंने कहा—'यदा वै निस्तिष्ठति अथ श्रद्दधाति' अर्थात् जब मनुष्यको निष्ठा होती है तभी वह श्रद्धा करता है। अत हे नारद! निष्ठाको जानना चाहिये। निष्ठा शब्दका अक्षरार्थ है—दृढ स्थिति। साधककी दृढ स्थिति ही निष्ठा है। शाकराचार्यजीने इसके भाष्यमें लिखा है—निष्ठा गुरुशुश्रूषादिस्तत्परत्वं ब्रह्मविज्ञानाय अर्थात् गुरुसेवा और तथा ब्रह्म-विज्ञानके लिये तत्परता निष्ठा है। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम साधकको दृढ स्थिति गुरुभक्तिमें होती है। उसमें ही वह अपने लक्ष्यको [illegible] [illegible] है। [illegible]

परतत्त्वमें निष्ठा दो प्रकारसे होती है—ज्ञानयोगसे तथा कर्मयोगसे। कर्मसंन्यास करनेवाले ज्ञानीजन नित्य और अनित्य वस्तुओंका विचार कर व्यापक तत्त्वके साथ अभिन्न-भावसे अपनी दृढ़ स्थिति रखते हैं। इसलिये उनके लौकिक कर्म छूट जाते हैं। इस मार्गके अनुयायी वामदेव, जडभरत, शुक आदि ज्ञानी प्रसिद्ध हैं। दूसरे निष्कामकर्म करनेवाले योगी फलकी इच्छाओंको त्याग कर अपने कर्तव्यकर्मसे उसी तत्त्वमें निरत रहते हैं। इस पथके प्रमुख प्रदर्शक राजा जनक हैं। इन दो निष्ठाओंका विस्तृत निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता (३। ३)-में हुआ है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

यद्यपि लोकमें निष्ठाके ये दो पथ विख्यात हैं, फिर भी दोनोंका लक्ष्य एक ही है, क्योंकि परतत्त्वकी अनुभूतिमें ही दोनोंका पर्यवसान है। अतः ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठामें कोई मौलिक भेद नहीं है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट कहा है—

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता ५। ५)

इस प्रकार सिद्धान्तरूपसे एक ही निष्ठाके ये दो पथ हैं। पुनः यहाँ नारदने जिज्ञासा प्रकट की कि निष्ठाका कारण क्या है? सनत्कुमारने कहा कि कृति है। कृतिका अर्थ भाष्यकारने इन्द्रिय-संयम और चित्तकी एकाग्रता किया है—'कृतिरिन्द्रियसंयमश्चित्तैकाग्रताकरणं च'। इससे ही पूर्वोक्त निष्ठा लक्षित होती है। पुनः कृतिके कारणकी जिज्ञासाके समाधानमें सनत्कुमारने कहा कि कृतिका कारण परम सुखकी उपलब्धि है, जो भूमा भावरूप है—'यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति'। अर्थात् जो भूमा है वही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है। अतः उसीको जानना चाहिये। इसके बाद भूमाकी परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' अर्थात् जिस समय मनुष्य न दूसरी वस्तुको देखता है, न सुनता है, न जानता है वही भूमा है। तात्पर्य यह है कि भूमा एक व्यापक भाव है, जिसे प्राप्त कर लेनेपर मनुष्यके मनमें किसी अन्य पदार्थकी सत्ता ही नहीं रहती, इन्द्रियोंका ज्ञान तथा ज्ञाता-ज्ञेयका भेद नष्ट हो जाता है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयका भी भेद मिट जाता है। केवल चित्-प्रकाश ही शेष रह जाता है, जिसके लिये श्रुतिका उद्घोष है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठोपनिषद् २। २। १५)

अर्थात् जहाँ सूर्य, तारागण तथा विद्युत्का प्रकाश काम नहीं करता, वहाँ अग्निके प्रकाशकी बात ही क्या है, बल्कि वस्तुस्थिति तो यह है कि उसके प्रकाशसे ये सब भासित हो रहे हैं। भाव यह है कि जैसे सूर्योदय होनेपर आकाश-मण्डलमें रहते हुए भी तारागण दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार चित्प्रकाशरूप भूमाकी अनुभूतिमें ये छोटे-बड़े सभी प्रकाश तिरोहित हो जाते हैं और यह सारा संसार स्वप्नके समान मिथ्या हो जाता है। तभी—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'-का वास्तविक बोध होता है।

यह भूमा-भाव ही परमपद है, जिसकी उपलब्धि गुरुकृपा, ईश्वरानुग्रह तथा सत्सङ्गसे होती है। जो मानव अपने जीवनमें इस पदकी अनुभूतिसे वञ्चित रह जाते हैं वे ही शोक, मोह तथा भयसे ग्रस्त होकर विषयानन्दके पीछे मृगतृष्णाके समान चक्कर काटते फिरते हैं। सांसारिक विषयोंकी तृष्णा तभी छूटती है, जब कल्याणरूप भूमा-भाव प्राप्त होता है। जैसा कि कहा भी है—

निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति
ब्रह्मा विष्णुपदं हरिः शिवपदं तृष्णावधिं को गतः॥

अर्थात् जिसके पास कुछ भी नहीं है अथवा बहुत गरीब है, वह पहले सौ रुपयेकी इच्छा करता है। किसी प्रकार जब उसके पास सौ रुपये हो जाते हैं तो उसमें संतुष्ट न होकर हजारके लिये उन्मुख होता है। हजारकी सिद्धि होनेपर लाखकी इच्छा कर व्यग्र रहता है। इस प्रकार जब वह लखपति बन जाता है तो पुनः उसमें सम्पूर्ण पृथ्वीका स्वामी बननेकी अभिलाषा जाग उठती है, यों तृष्णा आगे बढ़ती ही जाती है, क्योंकि सार्वभौम राजाके मनमें भी यह तृष्णा होती है कि इन्द्रपदके सामने मेरा पद तुच्छ है, अतः

मुझे स्वर्गका इन्द्रपद प्राप्त हो जाय। इसी प्रकार इन्द्रका ब्रह्माके पदको और ब्रह्माको विष्णुपदकी तथा विष्णुका भी शिवपदकी अभिलाषा रहती ही है। इसलिये तृष्णाकी अवधि पार करना बडा ही कठिन है। इस तृष्णा-समुद्रकी अवधि तो तब मिलती है, जब मनुष्य नित्य-प्रकाश भूमारूप शिवपदकी अनुभूतिमे अपने-आपको समर्पित कर देता है।

निष्कर्ष यह है कि नित्य-सुखकी लालसासे मनुष्यको पहले कर्मयोगम निष्ठा होती है। निष्ठासे श्रद्धाका भाव उदित होता है जिससे अज्ञानरूप आवरणके भग होते ही वह शोक-सागरका पार कर नित्यानन्दरूप भूमा-भावमें मग्न हो जाता है।

वेद और आत्मज्ञानकी कुजी

(श्रीअभयदेवजी शर्मा एम्० ए० पी एच्० डी०)

शुक्लयजुर्वेदसहिताके अन्तिम चालीसवें अध्यायके निम्नलिखित पद्रहवें मन्त्रम एक ओर जहाँ आत्मबोधके उपायका प्रतिपादन है, वहीं वेदाके अभिप्रायको ठीक-ठीक समझनेकी कुजी भी विद्यमान है। 'जीव' और 'परम'—इन दोनो दृष्टियोंस वेदका परम प्रतिपाद्य विषय आत्मा है। वदम जीवात्मा और परमात्माका प्रतिपादन हानेके कारण प्रकारान्तरसे स्वय वेदको समझनेक लिये समीचीन दृष्टिका भी इस मन्त्रमे अनायास प्रतिपादन हो जाना स्वाभाविक है। प्रसंगोपात्त मन्त्र इस प्रकार है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टय॥

'ह सबका भरण-पोषण करनवाले परमेश्वर! सत्यस्वरूप आप सर्वेश्वरका श्रीमुख ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप पात्रस ढका हुआ है आपकी भक्तिरूप सत्यधर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको अपने दर्शन करानेके लिय उस आवरणको आप हटा लीजिये।'

—इस मन्त्रमें साधक स्वयंको 'सत्यधर्मा' कह रहा है। जिसका धर्म सत्य है, उस 'सत्यधर्मा' कहत हैं। धर्म वह होता है, जो धारण करनेवाला है अर्थात् जीवनका जो भी आधार है उसका नाम 'धर्म' है। जीवन निराधार नहीं है उसका कोई-न-कोइ आधार अवश्य है। चालीसवें अध्यायक आदिम मन्त्र (ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्)-में इस आधारको 'जगती' कहा गया प्रतीत होता है। वैदिक कोश 'निघन्टु'के अनुसार 'जगती'का अर्थ है—'गौ'। 'गौ' शब्द पशु-विशेषको सज्ञाके साथ-साथ इन्द्रियवाचक भी है। मनुष्यके जगत्की सीमा उसकी ज्ञानेन्द्रिया कर्मेन्द्रिया और ज्ञानकर्म—उभयात्मक इन्द्रिय—मनद्वारा निर्धारित होती है। जिस मनुष्यका जो और जितना इन्द्रियानुभव है वह और उतना उसका ससार है।

साधक सत्यका अपन जगत्का आधार या धर्म बनाना चाहता है। सत्यस बढकर अन्य काई धर्म नहीं। वस्तुत सत्य ही वह धर्म या धारक तत्त्व है, जिसे ईश्वर कहते हैं। मात्र लाकव्यवहारके लिय ही सत्य आवश्यक नहीं है बल्कि वह स्वत एक नित्य-सनातन शाश्वत-स्वतन्त्र आधार या धर्म भी है। वह चरम और पूर्ण तत्त्व है। आत्मा इसी 'शाश्वतधर्म' का गोप्ता कहा गया है। आत्मा स्वरूपसे सत्यधर्मा है।

सत्यधर्मा आत्माको अपना नाम सार्थक करनेके लिय अर्थात् सत्यको अपना धर्म बना पानेक लिय उसे सत्यका दर्शन हो यह अपेक्षित है। दर्शनके लिये 'दृष्टि' चाहिये। देखनेक लिय आँख सब प्राणियोंको प्राप्त हैं परतु आँखोंस वे केवल अपना भोग देखते हैं। भोगम राग-द्वेष पैदा होते हैं। अत सत्यके दर्शनके लिय एक अलग ही दृष्टि अपेक्षित है। जीवनक प्रति भोगपरक दृष्टिकी अपेक्षा आत्मोन्मुख दृष्टिकोणद्वारा ही आत्म-सत्य अनुभवमें आ सकता है। अत मन्त्रमें सत्यधर्मा साधकद्वारा दर्शनके लिय 'सत्यधर्माय दृष्टय'—ऐसा कहा गया है। जिस किसीको भी [illegible] साक्षात्कार करना हो उसे [illegible] जीवन-पद्धति [illegible] करना होगा ऊपर-ऊपरसे भोगलिप्त जीवन पद्धतिसे आत्म-सत्य प्रत्यक्ष नहीं होता।

आत्मा स्वरूपसे सत्य है ही पर सबको ऐसा अनुभव नहीं होता। अपने अजर-अमर-सनातन [illegible] विस्मृति हो रहती है। ऐसा क्यों होता है? उत्तर मन्त्रमें विद्यमान है कि सत्यपर एक [illegible] [illegible] है। इस आवरणको [illegible] अध्यापक [illegible] [illegible] और [illegible] मन्त्रोंमें पुन-पुन [illegible] [illegible] [illegible]

'अन्धं तम' कहा गया है। इन 'अन्धतम' का स्वरूप भी इसी अध्यायमें यत्र-तत्र संकेतित है। भोगवृत्ति (मन्त्र १), वित्तलोभ (मन्त्र १), कर्मलेप (मन्त्र २) आत्म-हनन (मन्त्र ३), विजुगुप्सा अथवा विचिकित्सा (मन्त्र ६), मोह और शोक (मन्त्र ७) विद्या-अविद्यामें और सम्भूति-असम्भूतिमें पृथक् आत्माकी सत्ताको न समझ पाना (मन्त्र १०, १३)—ये आत्मापर पड़े हुए 'अनृत' या असत्यके आवरण हैं।

चूँकि आत्मा स्वरूपसे सत्य है अतः असत्य उसे अच्छा नहीं लगता। कोई हमसे झूठ बोले या हमें धोखा दे तो हमें विषाद इसी कारण होता है। प्रायः हम असत्यको जानते-पहचानते हैं फिर भी उससे चिपके रहते हैं। कौन नहीं जानता कि संसार अनित्य है। *'जो आया है सो जायगा क्या राजा क्या रंक।'* तथापि 'सुत दारा अरु लक्ष्मी' से आसक्ति होती ही है पुत्र-वित्त लोककी एषणाएँ सताती ही हैं। इतना ही नहीं ये बड़ी आकर्षक सुन्दर और प्रिय लगती हैं। इनके बिना जीवन-यात्रा दुष्कर है ऐसी अनिवार्यता हम इनकी मानते हैं। इसी स्थितिको मन्त्रमें 'हिरण्मय पात्र'—हित-रमणीय या सुन्दर—सुनहरा ढक्कन कहा गया है। ढक्कनसे प्यार है, ढक्कनसे ढके हुए सत्यसे मात्र याचिक औपचारिकता है। मन्त्रके पूर्वार्धको हम अपने जीवनका जीवनके प्रति अपने दृष्टिकोणका अपनी वर्तमान जीवन-पद्धतिका यथार्थ वर्णन मान सकते हैं।

सत्यके चारों ओर जगमगाता आवरण है। उस आवरणकी चकाचौंधसे मनुष्यकी दृष्टि चौंधियाई हुई है। आत्मबोधके लिये इस आवरणका हटना बहुत जरूरी है। इसके हटे बिना सब परिश्रम व्यर्थ है। जप तप, पूजा-पाठ सत्संग व्रत-उपवास, सब कुछ तभी सार्थक हैं यदि इनसे अनृतका अपिधान या ढक्कन हटे। अन्यथा ये सब मनको बहलाना फुसलाना मात्र हैं। मनुष्य पत्तोंको सींचनेमें लगा हुआ है जबकि मूल सूख जा रहे हैं। यह सब हिरण्मय पात्रका सत्यको ओझल हो जाना ही तो है। मनुष्य ज्ञान विज्ञानके क्षेत्रमें बहुत आगे निकल गया है। उसमें कर्मठता और परिश्रम भी खूब है पर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके होते हुए भी वह अन्धेरे पंकमें धँसा हुआ है। आत्माके प्रकाशका उसे स्पर्श भी नहीं हुआ है।

सत्य है मनुष्यका निम्न अहंकार [illegible] विभक्त- शक्तिकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है। अतः मन्त्रमें प्रार्थना है उस पोषकसे जो साधकको वास्तविक पोषण प्रदान कर सकता है। वित्तलोभ (मन्त्र १) मनुष्यको इस कारण ही तो होता है कि वित्तसे पोषणकी आशा होती है, पर पोषकतत्त्व धन नहीं है बल्कि कुछ दूसरा ही है। उसे सुझानेके लिये ईश्वरको पूषा या पोषक कहा गया है। अनृतसे तो समूल परिशोषण ही होता है। जब पूषा अपना दाहिना हाथ हमारे ऊपर परोक्षसे रखेंगे तभी हमारा सतत विनाश रुक पायेगा। तभी तो एक वेदमन्त्रमें साधक ऋषि प्रार्थना करता है—

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु॥

(ऋक्० ६। ५४। १०)

अर्थात् पूषा परोक्षसे दाहिने हाथको धारण करें जिससे हमारा नष्ट-वैभव पुनः आ जाय। सत्यात्माको 'पूषा' कहना यह प्रेम या भक्तिका शब्द है। ज्ञान और कर्मकी पूर्णता भक्तिमें है। भक्तिका अभिप्राय है आत्माके गुणोंको जीवनमें सँजोना। सर्वत्र आत्मदर्शन होना ही घृणा-मोह तथा शोकसे उबरनेका उपाय है। यह जगत् आत्मामें विद्यमान दिखायी पड़े और जगत्में सर्वत्र आत्माकी अनुभूति हो आत्मा ही 'जगत्' हो गया है—यह विज्ञान यह एकत्वानुदर्शन (मन्त्र ६, ७) जीवनमें भक्तिके फलित हो जानेपर ही उभरता है यही आत्मज्ञान है। इसके हो जानेपर कोई पराया नहीं रहता और साधकको प्रत्येक घटा प्रेममय भगवल्लीला हो जाती है।

वेदकी कुंजी

जिस प्रकार मन्त्रमें आत्मज्ञानकी कुंजी है—राग द्वेषके हिरण्मय पात्रका ईश्वर कृपासे दूर होना उसी प्रकार उसमें वेदके तत्त्वको समझनेकी कुंजी भी है।

वेदोंकी शैली देव स्तवनकी है। अग्नि वायु, आदित्य इन्द्र वरुण मित्र मरुत्, पर्जन्य विष्णु, वसु रुद्र ऋभु विश्वेदेव आदि बहुतसे देवोंकी स्तुतियाँ वेदोंमें हैं। ये सब देव 'हिरण्मय पात्र' हैं और आत्मा वह सत्य है जो इन देवोंके अंदर विद्यमान है। ज्ञान और कर्मको परिष्कृत कर देनेपर जगत् और जीवनमें सर्वत्र आत्माके गुणोंका साक्षात्कार हुआ अनुभवमें आयेगा। वेदका स्थूल अभिप्राय यज्ञपरक कर्मकाण्डपरक है। उसका सूक्ष्म अभिप्राय देवतापरक है और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तात्पर्य आत्मपरक है। स्वयं वेदने इस तथ्यको स्पष्टरूपसे वर्णन किया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋक्० १। १६४। ४६)

अर्थात् 'अग्निको इन्द्र, मित्र तथा वरुण भी कहते हैं और वह दिव्य गरुत्मान् सुपर्ण है। 'एक सत्' को ज्ञानीजन अनेक प्रकारसे बोलते हैं और अग्निको यम एवं मातरिश्वा कहते हैं।'

इस मन्त्रमें अग्निदेवताको 'हिरण्मय पात्र' समझें। अग्नि-प्रतीकमें आत्मतत्त्वका दर्शन या ध्यान करना चाहिये। आत्माग्नि वही 'एक सत्' (ॐ तत् सत्) है—जो अन्यत्र इन्द्र, मित्र वरुण सुपर्ण यम, मातरिश्वा-जैसे प्रतीकोंके रूपमें विद्यमान है। ज्ञानी इस तथ्यको जानते हैं कि सत्य सर्वत्र वही है और एक है, हिरण्मय आवरण भले ही विभिन्न प्रकारके हों। उस 'एक सत्' को इस चालीसवें अध्यायमें 'ॐ' नाम दिया गया है। 'ॐ' वेदका वह ढाई अक्षर है, जिसे पढ लेनेपर वैदिक एकेश्वरवादके विषयमें कोई शंका नहीं रहती क्योंकि यही 'ॐकार' वेदज्ञान एवं आत्मज्ञानका मूल है।

आचार्यका दीक्षान्त-उपदेश

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।

वेद-विद्या पढा देनेके पश्चात् आचार्य शिष्यको उपदेश करता है, दीक्षान्त-भाषण देता हुआ कहता है—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥ २॥

ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्॥ ३॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः॥ ४॥

एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्॥ ५॥

एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ६॥

(तैत्तिरीय उपनिषद्)

तुम सत्य बोलना। धर्माचरण करना। स्वाध्यायमें प्रमाद न करना। आचार्यको जो प्रिय हो उसे दक्षिणा-रूपमें देकर गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना और संततिके सूत्रको न तोड़ना। सत्य बोलनेसे प्रमाद न करना। धर्मपालनमें प्रमाद न करना। जिससे तुम्हारा कल्याण होता हो, उसमें प्रमाद न करना। अपना वैभव बढ़ानेमें प्रमाद न करना। स्वाध्याय और प्रवचनद्वारा अपने ज्ञानको बढाते रहना देवों और पितरोंके प्रति तुम्हारा जो कर्तव्य है, उसे सदा ध्यानमें रखना॥ १॥

माताको पिताको आचार्यको और अतिथिको देवस्वरूप मानना उनके प्रति पूज्य-बुद्धि रखना। हमारे जो कर्म अनिन्दित हैं उन्हींका स्मरण रखना दूसरोंका नहीं। जो हमारे सदाचार हैं उन्हींकी उपासना करना दूसरोंकी नहीं॥ २॥

हमसे श्रेष्ठ विद्वान् जहाँ बैठे हों उनके प्रवचनको ध्यानसे सुनना उनका यथेष्ट आदर करना। दूसरोंकी जो भी सहायता करना, वह श्रद्धापूर्वक करना किसीको वस्तु अश्रद्धासे न देना। प्रसन्नताके साथ देना नम्रतापूर्वक देना भयसे भी देना और प्रेमपूर्वक देना॥ ३॥

ऐसा करते हुए भी यदि तुम्हें कर्तव्य और अकर्तव्यमें संशय पैदा हो जाय यह समझमें न आये कि धर्माचार क्या है तो जो विचारवान् तपस्वी कर्तव्यपरायण, [illegible] और सरल स्वभाववाले विद्वान् हों, उनके पास जाकर अपना समाधान कर लेना और जैसा वे बर्ताव करते हों वैसा बर्ताव करना॥ ४॥

यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद और उपनिषद्का सार है॥ ५॥

यही हमारी शिक्षा है। इसके अनुसार ही अपने जीवनमें आचरण करना॥ ६॥

[प्रेषक—श्रीदुर्गाजी पाठक]

ऋचाओमे भगवत्तत्त्वदर्शन एव इसके साथ ही वेदोंमे वर्णित कथाओंका रोचक भाषामे प्रतिपादन तथा वैदिक सस्कृति-सभ्यता और जीवन-चर्याका दिग्दर्शन करानेका प्रयास किया गया है, जिससे सर्वसाधारणको भारतीय सस्कृति एव सभ्यताका वास्तविक परिज्ञान प्राप्त हो सके तथा वेदोमे प्रतिपादित आध्यात्मिक सदेश एव सत्प्रेरणाओंसे वे लाभान्वित हो सकें।

इस वर्ष 'वेद-कथाङ्क'के लिये लेखक महानुभावोने उत्साहपूर्वक जो सहयोग प्रदान किया है, वह अत्यधिक प्रशसनीय है। यद्यपि हमने लेखक महानुभावोंसे सामान्य लेख न भेजकर विशिष्ट लेख भेजनेका अनुरोध किया था हम इस बातकी प्रसन्नता है कि इस बार कुछ विशिष्ट सामग्री भी प्राप्त हुई। फिर भी हम विशेषाङ्कको जिस रूपमें सँजोना चाहते थे, उस प्रकारकी सामग्री अत्यल्प मात्राम ही प्राप्त हो सकी जिस कारण यथासाध्य अधिकाश सामग्री प्राय विभागमें तैयार करनी पडी। 'वेद-कथाङ्क'की सम्पूर्ण सामग्री विशेषाङ्कम समाहित कर पाना सम्भव नहीं हो सका। यद्यपि सामग्रीकी अधिकताके कारण इस अङ्कके साथ दो मासके परिशिष्टाङ्क भी निकाले जा रहे हैं, जिसम फरवरी मासका एक परिशिष्टाङ्क तो साथ ही समायोजित है तथा मार्च मासका दूसरा परिशिष्टाङ्क भी साथ ही प्रेषित किया जा रहा है।

सामग्रीकी अधिकता तथा स्थानाभावक कारण माननीय विद्वान् लेखकोंके विशेषाङ्कके लिये कुछ महत्त्वपूर्ण स्वाकृत लेख नहीं दिये जा सके, जिसके लिये हम अत्यधिक खेदका अनुभव हो रहा है। यद्यपि इसमसे कुछ सामग्री आगेके साधारण अङ्कोंम देनेका प्रयत्न अवश्य करगे परतु विशेष कारणोंसे यदि कुछ लेख प्रकाशित न हो सक तो विद्वान् लेखक हमारी विवशताको ध्यानमें रखकर हमें अवश्य क्षमा करनेकी कृपा करेंगे।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों परम सम्मान्य पवित्र-हृदय सत-महात्माओंके श्रीचरणामें प्रणाम करते हैं जिन्होंने विशेषाङ्ककी पूर्णतामें किञ्चित् भी योगदान किया है। सद्विचारोंके प्रचार-प्रसारमें वे ही निमित्त हैं, क्योंकि उन्हींके सद्भावपूर्ण तथा उच्च विचारयुक्त भावनाओंसे कल्याणको सदा शक्तिस्रोत प्राप्त होता रहता है। हम अपने विभागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी-सहयोगियोको भी प्रणाम करते हैं जिनके स्नेहपूर्ण सहयोगस यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है। हम त्रुटियो एव व्यवहार-दोषके लिये उन सबसे क्षमा-प्रार्थी हैं।

वेद-कथाङ्क'के सम्पादनमें जिन सतो एव विद्वान् लेखकोसे सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हें हम अपने मानसपटलस विस्मृत नहीं कर सकते। सर्वप्रथम मैं वाराणसीके समादरणीय प० श्रीलालबिहारीजी शास्त्रीके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने प्रेरणाप्रद एव रोचक विभिन्न वैदिक कहानियाको तैयार कर निष्कामभावसे अपनी सेवाएँ परमात्म-प्रभुके श्रीचरणाम समर्पित की हैं। तदनन्तर मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके प्राध्यापक सर्वश्री डॉ० श्रीकिशोरजी मिश्र श्रीकैलाशनाथजी दव तथा डॉ० श्रीहृदयरञ्जनजी शर्माके प्रति विशेष अनुगृहीत हूँ, जिन्होंने समय-समयपर मार्गदर्शन करते हुए वेद-सम्बन्धी विशिष्ट सामग्री तैयार करनेमें अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया। गोधनके सम्पादक श्रीशिवकुमारजी गोयलके प्रति भी हम आभार व्यक्त करते हैं जो निरन्तर अपने पूज्य पिता श्रीरामशरणदासजी पिलखुवाके सग्रहालयसे अनेक दुर्लभ सामग्रियाँ हमें उपलब्ध कराते हैं साथ ही कई विशिष्ट महानुभावोंसे भी सामग्री एकत्र करके भेजनेका कष्ट करते हैं।

इस अङ्कके सम्पादनमें अपने सम्पादकीय विभागके वयोवृद्ध विद्वान् प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा एव अन्य महानुभावोंने अत्यधिक हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। इसके सम्पादन सशोधन एव चित्र-निर्माण आदिमें जिन-जिन लोगोंसे हमें सहयोग मिला है वे सभी हमारे अपने हैं उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

वास्तवमें 'कल्याण'का कार्य भगवान्‌का कार्य है अपना कार्य भगवान् स्वयं करते हैं। हम तो केवल निमित्त मात्र हैं। इस बार वेद-कथाङ्कके सम्पादन कार्यके अन्तर्गत अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परमात्म प्रभुके चिन्तन मनन एव स्मरणका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा। हमें आशा है इस विशेषाङ्कके पठन पाठनसे हमारे सहृदय पाठकोंको भी भगवत्प्रसाद [illegible]

विशेष रूपसे समझनेका सुअवसर प्राप्त होगा तथा व भक्ति-भाव-समन्वित आनन्दका अनुभव करेंगे। अन्तमें हम अपनी त्रुटियोके लिये आप सबसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

वेदादि-शास्त्र मनुष्योके अभ्युदय एव कल्याणके लिये ही उपदेश दे रहे हैं इसलिये शास्त्रोमें मनुष्याका ही अधिकार माना जाता है। अत जिसके अनन्त महत्त्वका पावन यश दिव्य सुगन्धकी भाँति समस्त विश्वमें अभिव्याप्त है तथा जिसकी अहैतुकी कृपासे एहिक, पारलौकिक एव पारमार्थिक सभी प्रकारकी हितकर पुष्टियाकी अभिवृद्धि होती रहती है उन तीन नेत्रवाले—त्र्यम्बक भगवान्‌की हम सब मानव श्रद्धा एव एकाग्रताके साथ आराधना करते हैं तथा उन महान् परमेश्वरसे हम सब मानव यह विनम्र प्रार्थना करते हैं कि 'हे भगवन्! जिस प्रकार अत्यन्त पका हुआ बेर या ककडीका फल अपने वृन्तसे सहज ही पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार आप हम कृपापूर्वक बन्धनभूत अविद्या—मिथ्या ज्ञानादिरूप मृत्युसे विमुक्त कर दे और अभ्युदय एव नि श्रेयसरूप अमृत-फलसे कदापि विमुक्त न करें।' श्रीत्र्यम्बक प्रभु अपने ज्ञानरूप प्रदीप्त सूर्यनेत्रसे मानवोके निविड अज्ञानान्धकारका शान्तिरूप आह्लादक चन्द्रनेत्रसे ससारके त्रिविध सतापाका एव निष्काम कर्मयोगरूप वह्निनेत्रसे कामकर्मादिरूप कल्मषाका विध्वस करते रहते हैं। ऐसे सुखकर, हितकर, परमप्रिय सर्वात्मा भगवान्‌की जप-ध्यानादिके द्वारा आराधना करना हम सब मानवाका प्रथम एव प्रधान वेद-निर्दिष्ट प्रशस्त कर्तव्य है। हम बद्धाञ्जलिपूर्वक उन परमात्म-प्रभुके श्रीचरणामे कोटिश प्रणिपात समर्पित करते हैं—

ॐ त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक

कोड		मूल्य	डाकखर्च
	मानसपीयूष		
86	टीकाकार—श्रीअञ्जनीनन्दनशरण (सातों खण्ड)	७०	६५.
75	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—सटीक		
76	दो खण्डोंमें सेट	१५	१६
77	,, ,, केवल भाषा	१	१४
593	,, (मूलमात्रम्)	६५	११
78	,, ,, सुन्दरकाण्ड, मूलमात्रम्	१	३ •
452, 453	,, (अंग्रेजी अनुवादसहित सेट दो खण्डोंमें)	२२ •	२५
74	अध्यात्मरामायण—सटीक सजिल्द	४	५.
845	,, ,, (तेलगु)	५	५.
223	मूल रामायण	१	१
	अन्य तुलसीकृत साहित्य		
105	विनयपत्रिका—सरल भावार्थसहित	१७	३ •
106	गीतावली— ,,	१७	३•
107	दोहावली— ,, ,,	८	२
108	कवितावली— ,, ,,	८.	२
109	रामाज्ञाप्रश्न— ,,	४	१
110	श्रीकृष्णगीतावली— ,,	३ •	१
111	जानकीमंगल— ,,	२•	१
112	हनुमानबाहुक— ,,	२	१
113	पार्वतीमंगल— ,, ,,	२	१
114	वैराग्यसंदीपनी—	१	१
115	बरवै रामायण— ,, ,,	१	१
	सूर साहित्य		
555	श्रीकृष्ण माधुरी	१२	३
61	सूर विनय पत्रिका	१२	३
62	श्रीकृष्ण बाल माधुरी	१३	३
735	सूररामचरितावली	११.	३
547	विरहपदावली	१	३
864	अनुरागपदावली	१२ •	३
	पुराण उपनिषद् आदि		
	श्रीमद्भागवत-सुधासागर—सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका		
28	भाषानुवाद, सचित्र सजिल्द	९	९.
25	शुकसुधासागर बृहदाकार, बड़े टाइपमें	२	२५
26	श्रीमद्भागवत-महापुराण—सटीक—		
27	दो खण्डोंमें सेट	१६	२
564 565	,, अंग्रेजी सेट	१५ •	२•
29	,, मूल मोटा टाइप	५५	७
124	मूल मझला	३५.	६.
	श्रीप्रेम सुधासागर—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धका		
30	भाषानुवाद, सचित्र, सजिल्द	३	५.
31	भागवत एकादश स्कन्ध—सचित्र, सजिल्द	१६.	३
	महाभारत—हिन्दी टीका सहित, सजिल्द, सचित्र		
728	[छः खण्डोंमें] सेट	७२	६५.
38	महाभारत खिलभाग हरिवंशपुराण—हिन्दी टीका	१	११
437	जैमिनीय अश्वमेध पर्व	५	७
	संक्षिप्त महाभारत—केवल भाषा, सचित्र,		
39,511	सजिल्द सेट (दो खण्डोंमें)	१५	१७
44	पद्मपुराण सचित्र सजिल्द	८५.	८.
789	संक्षिप्त महाभारत—शिवपुराण मोटा टाइप	८	९.
539	मार्कण्डेय ब्रह्मपुराणाङ्क	७५.	९.
46	श्रीमद्देवीभागवत केवल भाषा	७	५.•
48	श्रीविष्णुपुराण सानुवाद, सचित्र, सजिल्द	५	६.
640	नारद विष्णु पुराणाङ्क	८	६
279	संक्षिप्त स्कन्दपुराण सचित्र सजिल्द	१	११
631	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	७५.	८.
517	गर्गसंहिता सचित्र, सजिल्द	५५	७•
47	पातञ्जलयोग-प्रदीप पातञ्जलयोग सूत्रोंका वर्णन	६	७
135	पातञ्जलयोगदर्शन	७ •	२
582	छान्दोग्योपनिषद् सानुवाद शांकरभाष्य	५	७
377	बृहदारण्यकोपनिषद् ,,	७•	१
66	ईशादि नौ उपनिषद् अन्वय हिन्दी व्याख्या	३ •	५.
67	ईशावास्योपनिषद् सानुवाद, शांकरभाष्य	२.५	१
846	,, ,, तेलगु	२	१

कोड		मूल्य	डाकखर्च
68	केनोपनिषद् सानुवाद, शांकरभाष्य	७••	२
578	कठोपनिषद्	८•	२.
69	माण्डूक्योपनिषद्	१५.	३••
513	मुण्डकोपनिषद्	३	२•
70	प्रश्नोपनिषद्	६.	२
71	तैत्तिरीयोपनिषद्	१५.	३
72	ऐतरेयोपनिषद्	५.	२
73	श्वेताश्वतरोपनिषद्	१३	३
65	वेदान्त-दर्शन हिन्दी व्याख्या सहित, सजिल्द	२५.	४
698	मार्क्सवाद और रामराज्य स्वामी करपात्रीजी	५	८.•
639	श्रीनारायणीयम् सानुवाद	२५.	४
908	,, मूलम (तेलगु)	१	३
201	मनुस्मृति दूसरा अध्याय सानुवाद		
	भक्तचरित्र		
40	भक्तचरिताङ्क सचित्र सजिल्द	८	९.
51	श्रीतुकाराम चरित जीवनी और उपदेश	२२	४
53	भागवतरत्न प्रह्लाद	११	३
123	चैतन्य चरितावली सम्पूर्ण एक साथ	७	१ •
751	देवर्षि नारद	८.	३
167	भक्त भारती		
168	भक्त नरसिंह मेहता	७	२
613	(गुजराती)	७	२ •
169	भक्त बालक गोविन्द मोहन आदिकी गाथा	३ •	१
685	(तेलगु)	४	१
721	(कन्नड़)	४	१
170	भक्त नारी मीरा शबरी आदिकी गाथा	३ •	१
171	भक्त पञ्चरत्न रघुनाथ दामोदर आदिकी	५.	२
682	(तेलगु)	५.••	२
172	आदर्श भक्त शिबि रन्तिदेव आदिकी गाथा	५.•	२
687	(तेलगु)	५.	२.
849	,, (कन्नड़)	५.•	२•
173	भक्त सप्तरत्न दामा, रघु आदिकी भक्तगाथा	४	१
174	भक्त चन्द्रिका सखू, विट्ठल आदि छः भक्तगाथा	४	१.••
892	,, (गुजराती)	४	१
175	भक्त कुसुम जगन्नाथ आदि छः भक्तगाथा	४	१
176	प्रेमी भक्त बिल्वमंगल, जयदेव आदि पाँच	४	१
177	प्राचीन भक्त मार्कण्डेय उत्तङ्क आदि	७	२
178	भक्त सरोज गङ्गाधरदास, श्रीधर आदि	५.	२•
179	भक्त सुमन नामदेव राँका बाँका आदि भक्तगाथा	५.	२
180	भक्त सौरभ व्यासदास, प्रयागदास आदि	५.	२.
181	भक्त सुधाकर रामचन्द्र, लाखा आदि भक्तगाथा	५. •	२.
875	भक्त सुधाकर ... (गुजराती)	५.•	२
182	भक्त महिलारत्न-रानी रत्नावती हरदेवी आदि	५.	२ •
183	भक्त दिवाकर सुव्रत वैश्वानर आदि आठ भक्तगाथा	३५	१•
184	भक्त रत्नाकर माधवदास, विमलतीर्थ आदि चौदह भक्तगाथा	३५	१•
185	भक्तराज हनुमान् हनुमान्जीका जीवनचरित्र	३	१
608	(तमिल) ५ 767 (तेलगु) ३		
	835 (कन्नड़) ४ 806 (गुजराती) ३		
186	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	२५	१
187	प्रेमी भक्त उद्धव	३	१
642	(तमिल) ४५ 686 (तेलगु) ३		
188	महात्मा विदुर	२५•	१
741	,, (तमिल)	३	१•
189	भक्तराज ध्रुव	३	१
688	(तेलगु)	२.	१
292	नवधा भक्ति भरतजीमें नवधा भक्ति सहित	३	१•
385	नारदभक्तिसूत्र सानुवाद	१	१•
330	(बँगला) २ 499 (तमिल) १		
904	नारद भक्तिसूत्रम् (तेलगु)	९.	३
121	एकनाथ चरित	१	२
	परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा कल्याणकारी प्रकाशन		
683	तत्त्वचिन्तामणि (सभी खण्ड एक साथ)	६	१
814	साधन कल्पतरु	५	१
527	प्रेमयोगका तत्त्व (हिन्दी)	९.	३
242	महत्त्वपूर्ण शिक्षा	९.	३

* अब श्रीरामके चित्र कम-से-कम २५०/१०० प्रति ही भेज जा सकते हैं। फुटकर भजनेमें चित्रोंके खराब होनेकी सम्भावना है।

कोड	मूल्य	डाकखर्च
387 प्रेम सत्संग सुधा माला	९.	२
348 नैवेद्य-	■	२
337 दाम्पत्य जीवनका आदर्श	६.• ▲	२•
336 नारीशिक्षा	७	२
340 श्रीरामचिन्तन	८	२
338 श्रीभगवन्नाम चिन्तन	८	२
345 भवरोगकी रामबाण दवा	७	२
346 सुखी बनो	६	२
341 प्रेमदर्शन-	८	२
353 लोक परलोकका सुधार (कामके पत्र भाग-१)	८	२
358 कल्याण-कुञ्ज (क कुं भाग १)	४५	१
359 भगवान्‌की पूजाके पुष्प (,, भाग २)	६	१
360 भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं (,, भाग-३)	७	२
361 मानव कल्याणके साधन-(,, ,, भाग ४)	१	२•
362 दिव्य सुखकी सरिता (,, भाग-५)	५.•	२
363 सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ (,, भाग ६)	५	२
364 परमार्थकी मन्दाकिनी (,, भाग-७)	४	१
365 गोसेवाके चमत्कार (तमिल)	३५	१•
366 मानव धर्म	५ ▲	१
367 दैनिक कल्याण सूत्र	४	२.
368 प्रार्थना इक्कीस प्रार्थनाओंका संग्रह	२५	१•
865 प्रार्थना (उड़िया)	३	१
777 प्रार्थना पीयूष	२	१
369 गोपीप्रेम-	२	१.
370 श्रीभगवन्नाम	१ •	१•
373 कल्याणकारी आचरण	१	१
374 साधन पथ सचित्र	३	१
375 वर्तमान शिक्षा	२	१•
376 स्त्री धर्म प्रश्नोत्तरी	२५	१
377 मनको वश करनेके कुछ उपाय	१	१
378 आनन्दकी लहरें	१५	१
848 ,, (बँगला)	१५	१
379 गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य-	२	१
380 ब्रह्मचर्य	२	१
381 दीनदुखियोंके प्रति कर्तव्य	१.	१
382 सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन	२	१
344 उपनिषदोंके चौदह रत्न	४	१
371 राधा माधव रससुधा (षोडशगीत) सटीक	१५	१
383 भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा	१	१ •
384 विवाहमें दहेज	१	१
809 दिव्य सन्देश एवं मनुष्य सर्वप्रिय और जीवन कैसे बने	१	१
परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी प्रवचन		
465 साधन-सुधासिन्धु	७०	९.
400 कल्याण पथ	७	२
605 जित देखूँ तित तू—	५	२
406 भगवत्प्राप्ति सहज है	५	२
535 सुन्दर समाजका निर्माण	५	२
401 मानसमें नाम-वन्दना	५	२
403 जीवनका कर्तव्य	५	२
436 कल्याणकारी प्रवचन (हिन्दी)	४	१
404 ,, (गुजराती) ७ 816 (बंगला) ३		
405 नित्ययोगकी प्राप्ति	४ •	१
407 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	४	१
593 ,, (कन्नड़)	५	२
408 भगवान्‌से अपनापन	३	१ •
861 सत्संग मुक्ताहार	३	१
860 मुक्तिमें सबका अधिकार	५ •	२
409 वास्तविक सुख	४	१
411 साधन और साध्य	३	१.
412 तात्त्विक प्रवचन (हिन्दी)	३	१
413 (गुजराती)	४	१
414 तत्त्वज्ञान कैसे हो?	४	१
410 जीवनोपयोगी प्रवचन	४	१
822 अमृत बिन्दु	४	१
415 किसानोंके लिये शिक्षा	१	१
416 जीवनका सत्य	३	१.
417 भगवन्नाम	२	१

कोड	मूल्य	डाकखर्च
418 साधकोंके प्रति	३ •	१ •
419 सत्संगकी विलक्षणता	२	१ •
545 जीवनोपयोगी कल्याणमार्ग	२ ▲	१
420 मातृशक्तिका घोर अपमान	२ •	१. •
805 (तमिल) २ 939 (गुजराती) २ 849 (बंगला) १ •		
421 जिन खोजा तिन पाइयाँ	३	१ •
422 कर्मरहस्य (हिन्दी)	३ •	१
423 (तमिल) २ 325 (कन्नड़) २५ 817 (उड़िया) २		
424 वासुदेवः सर्वम्	२ ▲	१ •
425 अच्छे बनो	३ •	१ •
426 सत्संगका प्रसाद	३ •	१
431 स्वाधीन कैसे बनें	१	१.
702 यह विकास है या विनाश जरा सोचिये	१	१
652 हम कहाँ जा रहे हैं ? विचार करें	५० ▲	१••
589 भगवान् और उनकी भक्ति	४	१
603 गृहस्थोंके लिये	१	१
617 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	२ •	१
625 (बँगला) ३ 831 (कन्नड़) २ 758 (तेलुगु) ३ • 941 (गुजराती) २ 796 (उड़िया) २		
427 गृहस्थमें कैसे रहें ? (हिन्दी)	४	१
428 ,, (बँगला) ३ 429 (मराठी) ५. 128 (कन्नड़) २.७५, 430 (उड़िया) ३ 472 (अंग्रेजी) ३ • 553 (तमिल) ६. 733 (तेलुगु) ४		
432 एकै साधे सब सधै	३	१.
655 ,, (तमिल) ५. 761 (तेलुगु)	५.•	२.
607 सबका कल्याण कैसे हो ? (तमिल)	२ ▲	१
433 सहज साधना	२	१
903 (बँगला)	२	२
434 शरणागति (हिन्दी)	३	१
568 ,, ,, (तमिल) ४ 757 (उड़िया) २ 759 (तेलुगु) ३		
435 आवश्यक शिक्षा	२	१ •
730 संकल्पपत्र	२	१
515 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन	५	१
606 ,, (तमिल)	३ •	१
770 अमरताकी ओर	४	२ •
773 भक्तके उद्गार	५	१
745 भगवत्तत्त्व	१	१
580 नामकी महिमा और उसकी आवश्यकता	५	१
438 दुर्गतिसे बचो (हिन्दी)	१	१ •
449 ,, (बँगला) (गुरुतत्त्व सहित)	२ •	१.•
439 महापापसे बचो (हिन्दी)	१	१
451 (बँगला) १ 549 (उर्दू) १ २५. 731 (तेलुगु) १ 597 (कन्नड़) १		
591 संतानका कर्तव्य (तमिल)	३	१ •
440 सच्चा गुरु कौन ?	१	१.•
732 नित्यस्तुति आदित्य हृदयस्तोत्र (तेलुगु)	१ •	१
736 ,, (कन्नड़)	१	१
781 अलौकिक प्रेम	१	१
442 संतानका कर्तव्य (हिन्दी)	५	१
443 ,, (बँगला) १ 797 (उड़िया) १ 591 (तमिल) ३		
444 नित्य स्तुति और प्रार्थना	१	१
729 सारसंग्रह एवं सत्संगके अमृत कण	१	१
445 हम ईश्वरको क्यों मानें ? (हिन्दी)	१	१
450 ,, (बँगला) १ 554 (नेपाली) २५		
446 आहार शुद्धि (हिन्दी)	५	१
632 सब जग ईश्वररूप है	३	१
551 आहार शुद्धि (तमिल)	१५	१
447 मूर्तिपूजा नाम जपकी महिमा (हिन्दी)	१	१
469 (बँगला) ५ 569 (तमिल) १५		
734 मूर्तिपूजा आहार शुद्धि (तेलुगु)	३	१.
671 ,, ,, (तेलुगु) १ 550 (तमिल) १५		
723 नाम जपकी महिमा आहार शुद्धि (कन्नड़)	३	१ •
नित्यपाठ साधन भजन हेतु		
592 नित्यकर्म पूजाप्रकाश	२४	४
610 व्रत परिचय	१८	३ •
045 एकादशी व्रतका माहात्म्य	४	२
052 स्तोत्ररत्नावली सानुवाद	१५	२

कोड	मूल्य	डाकखर्च
904 पारद भक्ति सूत्रम्	८.	२
905 आदर्श दाम्पत्य जीवनमें	८.	२
906 भगवान्के आश्रयेणु	३	१
907 प्रेम भक्ति प्रकाशिका	१	१
675 सं० रामायणम् रामाज्ञास्तोत्रम्	२ • •	१
677 गजेन्द्रमोक्षम्	१	१
771 गीता तात्पर्यसहित	९.	१
801 श्रीललितासहस्रनाम	२ •	१
772 गीता-पदच्छेद अन्वयसहित	१५.	४
767 भक्तराज हनुमान्	३	६.
887 जय हनुमान चित्रकथा	१२ ••	२
846 ईशावास्योपनिषद्	२	१
766 महाभारतके आदर्श पात्र	४	१
760 महत्वपूर्ण शिक्षा	३ •	६.
768 रामायणके आदर्श पात्र	५.	२
733 गृहस्थमें कैसे रहें ?	६.	२
761 एकै साधे सब सधै	५.	२
759 शरणागत एवं मुकुन्दमाला	३	१
752 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२	१
734 आहारशुद्ध मूर्तिपूजा	२	६.
664 सावित्रि-सत्यवान	१५	१
665 आदर्श नारी सुशीला	३	१
666 अमूल्य समयका सदुपयोग	५.	१
672 सत्यकी शरणसे मुक्ति	१	१

कोड	मूल्य		डाकखर्च
671 नामजपकी महिमा	१	▲	१.००
678 सत्संगकी कुछ सार बातें	१ •		१
731 महापापसे बचो	१.५०		१.००
758 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३		१
689 भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३	▲	१.००
693 बालशिक्षा	३ •	▲	१.००
673 भगवान्का हेतु रहित सौहार्द	१ •	▲	१.००
सत्यस्तय			
739 गीता विष्णु मूल	३	■	१
740 विष्णुसहस्रनाम मूल	१ •		१.००
चित्रसूची			
237 जयश्रीराम भगवान् रामकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण	११	■	
546 जयश्रीकृष्ण भगवान् कृष्णकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण (बंगला एवं गुजरातीमें भी)	१३		
491 हनुमान्जी (भक्तराज हनुमान्)	५.	■	
492 भगवान् विष्णु	५. •		
560 लड्डू गोपाल (भगवान् श्रीकृष्णका बालस्वरूप)	५.	■	
548 मुरलीमनोहर (भगवान् मुरलीमनोहर)	५.		
437 कल्याणचित्रावली (कल्याणमें मुद्रित १५ चित्रोंका संग्रह)		■	
776 सीताराम	५.०		
812 नवदुर्गा (दुर्गाजीके नौ रूप)	५.००		
630 गोसेवा	५.००		
531 बाँकेबिहारी	५.०		

Our English Publications

Code	Title	Price		Postage
457	Shrimad Bhagavadgita—Tattva-Vivechani (By Jayadayal Goyandka) Detailed Commentary	33.00	■	8.00
458	Shrimad Bhagavadgita—Sadhak-Sanjivani (By Swami Ramsukhdas) (English Commentary)	45.00	■	8.00
455	Bhagavadgita (With Sanskrit Text and English Translation) Pocket size	4.00	■	2.00
534	Bound	7.00	■	2.00
470	Bhagavadgita—Roman Gita (With Sanskrit Text and English Translation)	10.00	■	3.00
487	Gita Madhurya—English (By Swami Ramsukhdas)	5.00	▲	2.00
452, 453	Shrimad Valmiki Ramayana (With Sanskrit Text and English Translation) Set of 2 volumes	220.00	■	25.00
456	Shri Ramacharitamanasa (With Hindi Text and English Translation)	70.00	■	8.50
786	(Midum Size)	50.00	■	6.00
564, 565	Shrimad Bhagvat (With Sanskrit Text and English Translation) Set	150.00	■	20.00
	by Jayadayal Goyandka			
477	Gems of T uth [Vol. I]	5.00	▲	2.00
478	[Vol. II]	5.00	▲	2.00
479	Sure Steps to God-Realization	8.00	▲	2.00
481	Why to Devine Bliss	4.00	▲	1.00
482	What is Dharma? What is God?	1.00	▲	1.00
480	Instructive Eleven Stories	4.00	▲	1.00
520	Secret of Jnana Yoga	8.00	▲	2.00
521	Prem Yoga	6.00	▲	2.00
522	Karma Yoga	7.00	▲	2.00
523	The Secret of Bhakti Yoga	7.50	▲	2.00
658	Secrets of Gita	4.00	▲	1.00
	by Hanuman Prasad Poddar			
484	Look Beyond the V il	6.00	▲	2.00
622	How to Attain Eternal Happiness ?	6.00	▲	2.00
483	Turn to God	7.00	▲	2.00
485	Path to Divinity	7.00	▲	2.00
	by Swami Ramsukhdas			
498	In Search of Supreme Abode	4.00	▲	1.00
619	Ease in God-Realization	4.00	▲	1.00
471	Benedictory Discourses	5.00	▲	2.00
473	Art of Living	3.00	▲	1.00
472	How to Lead A Household Lif	3.00	▲	1.00
620	The Divine Name and Its Practice	2.50	▲	1.00
486	Wavelets of Bliss & the Divine Message	1.50	▲	1.00
570	Let us Know the Truth			
638	Sahaj Sadhna	2.50	▲	1.00
634	God is Everything	3.00	▲	1.00
621	Invaluable Advice	2.00	▲	1.00
474	Be Good			
669	The Divine Name	2.50	▲	1.00
497	Truthfulness of Life			
476	How to be Self-Reliant	1.00	▲	1.00
552	Way to Attain the Supreme Bliss	1.00	▲	1.00
562	Ancient Idealism for Modernday Living	1.00	▲	1.00
	Other Publications			
494	The Immanence of God (By Madanmohan Malaviya)	2.00	■	1.00
783	Abortion Right or wrong you Decide	2.00	▲	1.00
808	Nava Durga	6.00	■	2.00
824	Song Bharthary	2.00	■	1.00

विदेशमें पुस्तक-प्रचार

अब आप रुपयोंमे भुगतान देकर अपने विदेशामे रहनेवाले मित्रोंको 'गीताप्रेस-प्रकाशन' डाकद्वारा उपहारस्वरूप भिजवा सकते हैं।

सम्पर्क करें—व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

'कल्याण' (हिन्दी मासिक) एवं 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी मासिक) के उपलब्ध विशेषाङ्क—भारतीय मुद्रामें भी भुगतानकर विदेशमें 'उपहारस्वरूप' भिजवाये जा सकते हैं।

सम्पर्क करें—व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

अधिकार सम्पादकको है। अ

२-'कल्याण'का वार्षिक शुल्क (डाक-व्ययसहित) नेपाल-भूटान तथा भारतवर्षमें ६० रु० (
और विदेश (Foreign)-के लिये US $ 11 डालर (Sea mail) रु० ४५० भारतीय मुद्रा तथा
रु० ९०० भारतीय मुद्रा नियत है।

३-'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरतक रहता है, अत ग्राहक जन
वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, तथापि जनवरीसे उस समयतकके प्रकाशित (
जाते हैं। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते छ या तीन महीनेके लिये

४-ग्राहकोको वार्षिक शुल्क मनीआर्डर अथवा बैंकड्राफ्टद्वारा ही भेजना चाहिये। वी०
ग्राहकोंको वी० पी० डाकशुल्कके रूपमे ५ रु० अधिक देना पडता है एव 'कल्याण' भे

५-'कल्याण'के मासिक अङ्क सामान्यतया ग्राहकोंको सम्बन्धित मासके प्रथम पक्षके अन्ततक
बार जाँच करके भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयसे न मिले तो डाकघरसे पूछताछ

६-पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम ३० दिनोके पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये।
और नया—पूरा पता स्पष्ट एव सुवाच्य अक्षरोंमे लिखना चाहिये। यदि कुछ महीनाके लिये
पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता बदलनेकी सूचना समयसे न मिलनेप
हो सकती है। यदि आपके पतेमें कोई महत्त्वपूर्ण भूल हो या आपका 'कल्याण के प्रपण-सम्बन्ध
तो अपनी स्पष्ट 'ग्राहक-सख्या' लिखकर हमें सूचित करें।

७-रग-विरगे चित्रोंवाला बडा अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) ही वर्षका प्रथम अङ्क होता है
ग्राहकोंको उसी शुल्क-राशिमे वर्षपर्यन्त भेजे जाते हैं। किसी अनिवार्य कारणवश यदि 'कल्याण
जितने अङ्क मिले हों उतनेमें ही सतोष करना चाहिये।

आवश्यक सूचनाएँ

१ ग्राहकोको पत्राचारके समय अपना नाम-पता सुस्पष्ट लिखनेके साथ-साथ पिन-कोड-न
अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें अपनी आवश्यकता और उद्देश्यका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहि

२ एक ही विषयके लिये यदि दोबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रका सदर्भ—दिनाङ्क तथा पत्र

३-'कल्याण'में व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

४ कोई भी विक्रेता-बन्धु विशेषाङ्ककी कम-से-कम २५ प्रतियाँ इस कार्यालयसे एक साथ
सहयोगी बन सकते हैं। ऐसा करनेपर १० रुपये प्रति विशेषाङ्ककी दरसे उन्हें प्रोत्साहन-राशि (
मासका विशेषाङ्क एवं फरवरी मासका साधारण अङ्क ट्रासपोर्ट अथवा रेल-पार्सलसे भेजा जायगा एवं
दिसम्बरतक) डाकद्वारा भेजनेकी व्यवस्था है। रक

'कल्याण